पुस्तक-वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वे दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

॥ श्रीः ॥
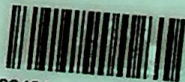
काशी-संस्कृत-ग्रन्थमाला

१५७

श्रीमद्वाग्भटाचार्यकृत-वृद्धवाग्भटापरपर्यायः

# अष्टाङ्गसङ्ग्रहः

'अर्थप्रकाशिका' व्याख्यया समुल्लसितः

व्याख्याकारः—

आयुर्वेदबृहस्पति-भिषक्केसरी-प्राणाचार्य-

वैद्य श्री० गोवर्द्धनशर्मा छाङ्गाणी



भूमिकालेखकः—

आयुर्वेदोद्धारक-आयुर्वेदमार्त्तण्ड-

वैद्य श्री० यादवजी-त्रिकमजी आचार्यः
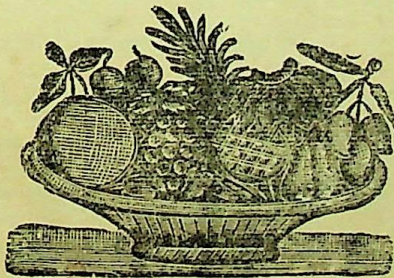
चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज, बनारस-१

[संवत् २०१०] [ई० सन् १९४५

प्रकाशकः—
जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः,
चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज आफिस,
पो॰ बाक्स नं॰ ८, बनारस-१
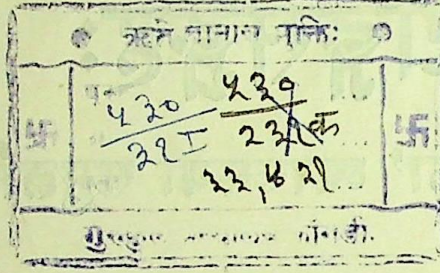
The Chowkhamba Sanskrit Series Office.
P. O. Box 8, Banaras.
1954.

मुद्रकः—
विद्याविलास
बनारस-१

# भूमिका

आजसे पाँच सौसे एक हजार वर्ष पहिलेकी लिखी हुई इन्दु, गयदास, डल्हण, चक्रपाणिदत्त, विजयरक्षित, श्रीकण्ठदत्त, शिवदास सेन, हेमाद्रि, अरुणदत्त आदिकी व्याख्याओंमें भेल, जतुकर्ण, पराशर, हारीत, क्षारपाणि, भोज, काश्यप, भद्रशौनक, वैतरण, निमि, कृष्णात्रेय, आलम्बायन, कराल, जीवक, भालुकि, विदेह ( निमि ), विश्वामित्र, खरनाद, दारुवाह, पौष्कलावत, दारुक, वृद्धकाश्यप, सात्यकि आदि अनेक आर्ष-संहिताओंके वचन प्रमाणतया उद्धृत किये हुए पाये जाते हैं। इससे मालूम होता है कि इन व्याख्याकारोंके समयमें अनेक आर्षसंहितायें उपलब्ध थीं। संभव है कि इनमेंके कुछ वचन पिछले टीकाकारोंने अपनेसे पहिले लिखी गई प्राचीन व्याख्याओंसे भी उद्धृत किये हों। जो कुछ भी हो, वाग्भट इन सब व्याख्याकारोंसे भी अधिक प्राचीन थे। उनके समयमें इनसे अधिक अन्य आर्षतन्त्र भी उपलब्ध होनेकी संभावना है। वर्तमान-समयमें हमारे दैवदुर्विपाकसे आर्षतन्त्रोंमें केवल दो, चरक और सुश्रुतसंहिताएँ सम्पूर्ण तथा भेल और काश्यपसंहिता ( वृद्धजीवकीय तन्त्र ) ये दो खण्डित उपलब्ध होती हैं। हारीतसंहिता भी मुद्रित उपलब्ध होती है परन्तु इसके आर्ष होनेमें विद्वानोंको सन्देह है। स्वयं अष्टाङ्गसंग्रहकारके कहनेसे भी प्रतीत होता है कि उनके समयमें पठन-पाठनमें चरक-सुश्रुतका ही विशेष प्रचार था। संग्रहको देखनेसे यह भी पता लगता है कि अष्टाङ्गसंग्रह अर्थात् वृद्ध-वाग्भटकारने अपने समयमें उपलब्ध होनेवाली प्राचीन संहिताओंका अच्छा आश्रय लिया था। इसलिए कि अनेक महत्त्वके विषय चरक-सुश्रुतसे भी अधिक अष्टाङ्गसंग्रहमें पाये जाते हैं। सारांश यह कि अष्टाङ्गसंग्रहके अध्ययनके बिना केवल चरक-सुश्रुतके अध्ययनसे आयुर्वेदका यथार्थ अध्ययन संपूर्ण नहीं हो सकता।

इधर दस-पन्दरह सालसे यह अनुभव हो रहा है कि लोगोंमें संस्कृत भाषाके प्रचारका क्रमशः ह्रास हो रहा है। इतना ही नहीं, केवल संस्कृतके मूल ग्रंथों और उनकी संस्कृत-व्याख्याओं-द्वारा अध्यापन-अध्ययनमें समर्थ अध्यापकों और छात्रोंकी संख्या भी उत्तरोत्तर घटती ही जा रही है। ऐसे समयमें शास्त्रकी रक्षाके लिए यह आवश्यक हो गया है कि भारतकी प्रान्तीय भाषाओंमें तथा विशेषतः राष्ट्रभाषा हिन्दीमें आयुर्वेदके मौलिकसंहिताग्रन्थोंका अनुवाद किया जावे परन्तु ये अनुवाद ऐसे होने चाहिये कि जिनमें मूलके विशद अनुवादके साथ टीकाकारोंके आशय तथा अन्य ग्रन्थोंमें इस विषयपर आये हुए भावोंके साथ तुलनात्मक दृष्टिसे स्पष्ट विचार प्रदर्शित किये गये हों। प्रसंगवशात् तद्विषयक दर्शनादि शास्त्रान्तरोंके विषयोंका भी सोपपत्तिक वर्णन हो।

ऐसे अनुवाद करनेके लिए अनुवादक भी ऐसे होने चाहिये जिनको आयुर्वेदके अच्छे ज्ञानके साथ शास्त्रान्तरोंका भी आवश्यक ज्ञान हो। इस ग्रन्थके अनुवादक वैद्यभूषण पण्डित गोवर्धन शर्मा छांगाणीजी उपर्युक्त सब गुणोंसे संपन्न होनेके साथ हिन्दीके भी अच्छे लेखक हैं। मेरा विश्वास है कि उनका यह अनुवाद अष्टाङ्गसंग्रहके सम्यग्ज्ञानके लिए वैद्यों और छात्रोंको परम उपादेय होगा। अन्तमें मैं अष्टाङ्गसंग्रहके ऐसे वक्तव्योंसहित विशद हिन्दी अनुवाद करनेके लिए श्रीमान् छांगाणीजीको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ और आयुर्वेदके जिज्ञासुओंसे सविनय निवेदन करता हूँ कि वे इस ग्रन्थके अवलोकनसे लाभ उठावें। साथ ही श्री० छांगाणीजीको मैं प्रार्थना करता हूँ कि वे इस ग्रन्थके अवशिष्ट अंशोंके अनुवादका कार्य भी यथाशक्य शीघ्र ही संपूर्ण करें।

श्रीधन्वन्तरि त्रयोदशी
मुम्बई, सं० २०१०

**यादवजी त्रिकमजी आचार्य**

# प्राक्कथन

वृद्धवाग्भट अपरपर्याय अष्टाङ्गसंग्रहके हिन्दी अनुवादकार्यका श्रीगणेश सन् १९३७।३८ से प्रारम्भ होकर १२।१३ साल चलता रहा और आज भी कुछ चल ही रहा है। इतने लम्बे समयके हिसाबसे देखा जाय तो अष्टाङ्गसंग्रह या सम्पूर्ण वृद्धवाग्भट अर्थप्रकाशिका हिन्दी व्याख्यासहित पाठकोंके सामने शीघ्र ही छपकर आ जाना चाहिये था। सम्पूर्ण तो दूर रहा, आज उसका प्रथम खण्ड केवल सूत्रस्थान ही हम पाठकोंके सामने उपस्थित कर रहे हैं, सो क्यों ? इसके पीछे बड़ी रामकहानी है। उसके बिना जाने इस शंकाका समाधान नहीं हो सकता। इसलिये उसका वर्णन कर देना अनुचित न होगा, अपितु उचित ही होगा। सन् १९३६ या ३७ की बात है, मेरे मित्रोंने आग्रहपूर्वक कहा कि मैं कुछ लिखूं और वह केवल साप्ताहिक-मासिक पत्रोंके लेखों, कविताओंकी तरह नहीं, किन्तु किसी आयुर्वेदिक मौलिक संस्कृत ग्रन्थके विशद हिन्दी अनुवादरूपेण लिखूं। मैं अपनी कमियोंकी ओर निहारकर मित्रोंके आग्रहको टालता ही रहा। किसी भी ऐसे कामको हाथमें नहीं लिया।

ईसवी सन् १९३७ या ३८ की बात है। लाहौरवाले संस्कृत पुस्तकालयाध्यक्ष लाला मेहरचन्द लक्ष्मणदासने जो कि संस्कृत पुस्तकोंके प्रसिद्ध प्रकाशक थे, मेरे उक्त मित्रोंसे इच्छा प्रकट की कि अन्य कई आयुर्वेदिक ग्रन्थोंके अनुवाद होकर छप गये हैं परन्तु वृद्धवाग्भट अर्थात् अष्टाङ्गसंग्रहका अनुवाद आजतक किसीने नहीं किया है। यदि कोई इसका सरल एव विशद हिन्दी अनुवाद कर दें तो मैं उसे छापनेकी या प्रकाशमें लानेकी इच्छा करता हूं। मित्र ने तुरन्त मेरी ओर अङ्गुलिनिर्देशकर उनको लिख दिया। उनका मेरे पास एतदर्थ लिखा हुआ पत्र आया कि इसका श्रीगणेश कर दूँ। परन्तु मैंने उनको स्पष्ट लिख दिया कि मित्रोंकी यह केवल दया है जो मुझे योग्य समझते हैं। मैं अब प्रति दिन बुढ़ापेका अनुभव कर रहा हूँ। मैं सर्वथा असमर्थ हूँ, आप क्षमा करें। फिर भी मित्रोंने अनुवादकार्यकी माला मेरे गलेमें नहीं-नहीं करते डलवा ही दी। मेरी असमर्थताका अनुमान पाठक ग्रन्थारम्भके मङ्गलाचरणके उस अन्तिम पद्यसे कर सकते हैं जिसमें **'वाग्भटस्य वचसां क गौरवं मामकी क च लघीयसी मतिः'** आदि स्पष्ट निर्देश किया गया है।

चिकित्साव्यवसायमें समयका अभाव रहते हुए भी कभी दिनमें कभी रातमें येन केनोपायेन समय निकालकर अनुवादका कार्य करने लगा। फिर भी १०।१२ सालमें अनुवादकार्य सूत्र, शारीर, निदान, चिकित्सा और कल्पस्थानतक ही सम्पन्न हो सका। अन्तिम उत्तरस्थान शेष था। पाण्डुलिपि ज्यों-ज्यों तैयार होती थी, त्यों ही लाहौर भेज दी जाती थी। घरमें रहनेके लिये लिखनेकी डबल मेहनत नहीं की जाती थी। हमारे बारम्बार आग्रह करनेपर भी प्रकाशक इस बातपर अड़े रहे कि 'मुद्रणारम्भ तो तभी होगा जब सम्पूर्ण अनुवादकी प्रतिलिपि हमें मिल जायगी। पूरा ग्रन्थ तड़ाक-फड़ाकसे निकाल देंगे, हमारे पास इलेक्ट्रिक प्रेस है।' अन्ततोगत्वा हमारे विशेष आग्रहपर मुद्रणारम्भ हुआ। बड़े सुन्दर तीन फारम छपकर आ गये। साथमें तीन फारमके प्रूफ भी प्राप्त हुए। वे संशोधनकर भेज दिए गये, इस तकाजेके साथ कि यावच्छक्य प्रूफ जल्दी-जल्दी भेजा करें क्योंकि लाहौर नागपुरसे बहुत दूरपर है। इस जल्दी करनेका फल कुछ भी नहीं हुआ। बीस दिन प्रतीक्षा करनेके बाद लिखा गया कि न तो संशोधन होकर भेजे गये तीन फारम ही छपकर आए और न आगेके प्रूफ ही मिले परन्तु फिर भी कुछ उत्तर न मिला। बड़ी चिन्ता हुई।

## श्रेयांसि बहुविघ्नानि

बीस पचीस दिनके बाद लालाजीका एक पत्र मिला कि पाकिस्तान हो जानेसे लाहौरकी गलियों तथा कूचोंमें हिन्दू-मुस्लिम दङ्गे हो रहे हैं। बड़ी भगदड़ मची हुई है। मारे डरके प्रेसके सब मजदूर जो कि प्रायः बाहिरके थे, सब अपने गांवोंकी ओर चले गये हैं। उनके वापिस आने तथा दङ्गाफसाद शान्त होनेपर ही फिर छपाई शुरू हो सकेगी। यह 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'वाली घटना घटी। इसके बाद कुछ समय ऐसा गया कि उसमें न चिट्ठी ही मिली और न कोई खबर ही प्राप्त हुई। एक दिन प्रतीक्षा करते-करते बम्बईके मित्रका एक पत्र मिला, उसमें लिखा था कि 'बड़े दुःखकी बात है कि आपका १०।१२ वर्षका किया हुआ परिश्रम सब व्यर्थ हो गया। सुनते हैं कि लाहौरमें पाकिस्तान होनेसे बड़ा अत्याचार हो रहा है। कई हिन्दू मारे गये हैं तो कई जान बचानेके लिये भाग गये हैं। उनके कल-कारखाने जला दिये जाकर नष्टभ्रष्ट कर दिए गये हैं। इससे निश्चित है कि आपका कृतपरिश्रम भी भस्मसात् हो गया है। सुनते हैं, लाला मेहरचन्द लक्ष्मणदासवालोंका भी कोई पता नहीं है।'

इस प्रकारके दुःखमय संवादसे हमारी उस समय कैसी दशा हुई, इसका वर्णन करना इस क्षुद्र लेखिनीकी शक्तिसे बाहरकी बात है। **'कीर्तिरक्षरसंबद्धा स्थिरा भवति भूतले'** इस कथनके अनुसार हमने वार्धक्यावस्थामें भी मित्रोंके पवित्र आग्रहसे १०।१२ वर्ष परिश्रम किया कि 'चलो इस कृतिसे अपुन एक प्रकारसे अमर हो जायेंगे परन्तु दैवको यह मंजूर नहीं था। इसीसे यह सारा मामिला चौपट हो गया। बारम्बार यह स्मरण मुझे बड़ी भारी चिन्तामें पटकता रहा परन्तु भावी होकर रहती है, इसका उपाय ही क्या हो सकता है ? इससे फिर शान्त हो जाता। वस्तुतः इस घटनासे मेरे हृदयमें बड़ा धक्कासा लग गया। अन्ततो गत्वा चिन्ता करते-करते एक वर्षके बाद मुझे एक मित्रने दिल्लीसे पत्र लिखा कि—'आप तो समझ बैठे हैं कि लाहौरवाले लाला मेहरचन्द लक्ष्मणदासका कहीं पता नहीं है। आप सच मानिये, मुझे इस परिवारके मुखिया लाला खजानचीरामजी कल यहांके दरियागंज नं० ३ में मिले थे। बड़े सज्जन पुरुष हैं। कहते थे कि 'नुकसानकी तो बात ही को याद मत करो, क्योंकि उस घटनाके स्मरण होते ही दिल दहल जाता है, भयङ्कर दुःख होता है। परमपिता परमात्मा फिर भी बड़े दयालु हैं। उनकी दयालुताने ही हमें हर तरहसे बचाया है। हममेंसे किसीके बालको भी धक्का नहीं लगा। हम सब सानन्द निकलकर दिल्ली पहुँचे तथा लाहौरकी तरह यहाँ दिल्लीके स्थायी निवासी हो गये हैं। आपकी

Kjaulam A's G.M.S 2 IInd year

बात छिड़नेपर मैंने कहा कि 'छांगाणीजी तो कहते थे कि पाकिस्तान क्या हुआ, हमें तो उसने जीते ही मार डाला। हमारा बरसोंका किया हुआ परिश्रम सब मिट्टीमें मिल गया।' इसपर लालाजी बोले कि कुछ अंशोंमें बात ठीक है परन्तु फिर भी छांगाणीजी भाग्यवान् हैं। वे सर्वथा नहीं मरे हैं, अपितु जीवित हैं। इसका प्रमाण मैं उनको मिलनेपर दूँगा। क्या पूज्य छांगाणीजीके दर्शनोंका सौभाग्य हमें किसी प्रकार जल्दी मिल सकता है?' मैंने कहा अवश्य मिलेगा। इसमें विशेष विलम्ब नहीं होगा। दिल्लीमें दो तीन माहमें निखिल भारतीय आयुर्वेदमहासम्मेलन आयुर्वेदमार्तण्ड श्रीयादवजी महाराजकी अध्यक्षतामें होना निश्चित हो चुका है। उसमें छांगाणीजीका पधारना भी निश्चित समझिए क्योंकि वे अध्यक्ष महोदयके अभिन्नहृदय मित्र हैं। लालाजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि बड़ी खुशीकी बात है। आप छांगाणीजीको लिख दें कि चिन्ता न करें 'वे जीवित हैं।' यह खुश खबर दिल्लीवाले मित्रने मुझे दे दी।

ठीक दो तीन महीने बाद दिल्लीमें आयुर्वेद-महासम्मेलन बड़ी शान-शौकतके साथ हुआ। मैं भी पहुँचा और वहां अध्यक्ष महोदय श्रीआचार्यजीके पासमें ही ठहरा। लालाजी उत्सुक थे ही। वे दूसरे दिन सायंकालमें हम लोगोंके पास पहुँचे। मैं आराम कर रहा था, न कभी लालाजीसे मिलनेका मौका ही मिला था। अध्यक्ष महोदय यादवजी महाराज पहिले उनसे लाहौरमें कई बार मिल चुके थे। लालाजीके आते ही मुझे हाक मारकर उन्होंने कहा कि—लो, छांगाणीजी! मेहरचन्द लक्ष्मणदासवाले लालाजी पधार गये हैं। आप इनसे अष्टाङ्ग-संग्रहके विषयमें कुछ बातचीत करना चाहते हों तो कर सकते हैं।' मैंने कपालपर हाथ रखते हुए दुःखसे कहा कि क्या बातचीत करूं? पाकिस्तानने एक प्रकारसे हमें मार डाला है। लालाजी कहते हैं मैं भाग्यवान् हूं और जीवित हूं, कुछ समझ नहीं पड़ता। लालाजी बोले कि सुन लीजिए, आप किस प्रकार भाग्यवान् हैं और जीते हैं। मैं भी समझ बैठा था कि पाकिस्तानने हमें सर्वथा मार डाला है परन्तु परमात्मा बड़े दयालु हैं। वे अवश्य अघटितघटनापटु हैं। वे उस घटनाद्वारा अपने जनोंकी रक्षा करते हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण दृग्गोचर हुआ सो सुनिये। वे बोले कि—

पाकिस्तानी अत्याचार शुरू होनेसे एक दो माह पहिले हमको किसीने तीन चार सौ रुपयेके मौलिक ग्रन्थ वी० पी० रेलवे पारसलद्वारा भेजनेको लिखा। तदनुसार पारसल भेजने पर भी मँगानेवालेने वी० पी० नहीं छुड़ाई। रसीद वापिस आई देखकर हमें बड़ा दुःख हुआ। रेलवेको लिखकर हमें पारसल वापिस मँगा लेना पड़ा। पारसल खोलकर देखते ही हमने परमपिता परमात्माको वी० पी० मँगाकर न लेनेवाले ग्राहकको, भूलसे पारसल बाँधनेवाले अपने नौकरको अनन्त धन्यवाद दिया। इसलिए कि पारसल खोलनेपर नवीन मुद्रित पुस्तकोंके ऊपर और नीचे रद्दीकी जगह नौकरने भूलसे रखी हुई छांगाणीजीके हाथकी लिखी (केवल मुद्रित तीन फारमके शीटोंको छोड़कर) संपूर्ण प्रथम सूत्रस्थानकी कापी निकल आई जो कि अन्दाजन पांच सौ फुलिस्केपसे भी बड़े शीटोंमें लिखी हुई थी। इसके मिलनेपर बड़ा भारी आनन्द इसलिए हुआ कि परमात्माकी दयारूप नौकरकी भूलने इस भागको बचा लिया, अन्यथा अन्य हस्तलिखितोंकी तरह यह भी भस्मीभूत हो जानेवाला था। लालाजी चरणस्पर्श करते हुए बोले कि भगवन् शेषांश नष्ट भ्रष्ट हो जाने पर भी इस प्रकार आप सर्वथा नहीं मरे किन्तु जीवित हैं—भाग्यवान् हैं। मैं कल प्रातः आपको आपका लिखित सम्पूर्ण सूत्रस्थान दिखाऊंगा। तदनुसार दूसरे दिन दिखाकर वे बोले कि हम मुद्रणका श्रीगणेश शीघ्र ही कर देंगे, आप शेष स्थानोंका अनुवाद कार्य निबटानेकी चिन्ता करें। तदनुसार दिल्लीसे वापिस घर आकर मैंने शारीरादिस्थानोंके अनुवाद कार्यको पुनः हाथमें लिया जो कि चल ही रहा है। छपाईकी भरमारके कारण लालाजी मुद्रणारम्भ नहीं कर सके। इधर ८० वर्षके बुढ़ापेमें मेरी उत्सुकता प्रतिदिन बढ़ती ही रही कि मैं मुद्रित सानुवाद अष्टाङ्गसंग्रह ऐसी अवस्थामें देख सकूंगा या नहीं। लालाजी शीघ्रतया मुद्रणारम्भ नहीं कर सके।

## चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस—

चौखम्बा संस्कृत सीरिजवाले कई बार कह चुके थे कि कोई एक कार्य हमें भी दिया जाय। अतः इसबार मैंने वाराणसेय चौखम्बा संस्कृत सीरिजवालोंसे अष्टांगसंग्रहको शीघ्र छापनेके लिये बातचीत शुरू कर दी। वे इस बातपर राजी होगये, अतः मैंने लालाजीसे साग्रह निवेदन किया कि वे केवल सूत्रस्थान जो बच गया है मुझे दे दें तो लिखाईके लिये पेशगीमें जो कुछ पत्र-पुष्प आपसे मुझे मिला है उसे मैं वापिस कर दूंगा। बहुत कुछ अनुनय विनय करनेपर भी उस समय लालाजी नहीं माने परन्तु कुछ दिनोंके बाद लालाजी मान गये। अघटितघटनाके कारण जो कुछ हस्तलिखित मसाला नष्ट हुआ उसमें लालाजीको दोष नहीं दिया जा सकता। भाग्यकी बात है कि उसमेंका लिखित किसी प्रकार संपूर्ण सूत्रस्थान मिल गया और धीरे धीरे चौखम्बा संस्कृत सीरिज बनारसने उसे यावच्छक्य सुन्दररूपमें छापकर प्रगट कर दिया जो कि भला बुरा आज पाठकोंके सामने है। मैं एतदर्थ चौखम्बा संस्कृत सीरिज बनारसको हार्दिक धन्यवाद देता हूं। सीरिजके मालिकोंसे मेरे संबन्ध बहुत अच्छे हैं और रहेंगे अतः आशा ही नहीं, दृढ़ विश्वास है कि अष्टाङ्गसंग्रहका शेष अंश भी यावच्छक्य जल्दी आपके दृग्गोचर हो सकेगा। राजर्षि रामदासस्वामीके **'सत्यसंकल्पाचा दाता भगवान्'** इस कथनपर मेरा दृढ विश्वास है। भगवान मेरे सत्य संकल्पकी पूर्ति अवश्य करके पूरा अष्टाङ्गसंग्रह मेरे हाथोंसे लिखवाकर पाठकोंके संमुख लायगा। एवमेवास्तु

आयुर्वेदोद्धारक आयुर्वेदमार्तण्ड, आयुर्वेदवाचस्पति, परमश्रद्धेय पण्डित श्रीयादवजी त्रिकमजी आचार्य (बम्बई) का मैं नितान्त कृतज्ञ एवं आभारी हूं, इस लिये कि आपने मेरी इस क्षुद्र कृतिपर भूमिका लिखनेकी कृपा करके मुझे परम उत्साह प्रदान किया है। अब अष्टाङ्गसंग्रहादिके कर्ता वाग्भटके विषयमें भी कुछ निवेदन कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा, अपितु उचित ही होगा।

## वाग्भट कौन, कहां और कब थे।

वाग्भट कौन थे अर्थात् वे किस धर्मके माननेवाले अर्थात् वे वैदिक मतावलम्बी थे या जैन, बौद्ध आदि किसी अन्य मतके माननेवाले थे। कुछ दिनतक मैं वाग्भटको उनके किए मङ्गलाचरण श्लोक—

**'रागादिरोगाः सहजाः समूला येनाशु सर्वे जगतोऽप्यपास्ताः । तमेकवैद्यं शिरसा नमामि वैद्यागमज्ञांश्च पितामहादीन् ॥'** से वैदिक मतावलम्बी मानता था। इसमें उनके वर्णित स्वस्थवृत्तको भी मैं अपना सहायक समझता था। ऐसा और भी कुछ वर्णन अष्टाङ्गसंग्रहमें पाया जाता है। इसी लिए मैंने **'तमेकवैद्यं'** का अर्थ अनुवादमें भगवान् धन्वन्तरि किया है परन्तु इन्दुटीकावाले ग्रन्थके अतिरिक्त जब मैंने जनस्थान ( नासिक ) निवासी स्वर्गीय गणेशशास्त्री तर्डे एवं कृष्णशास्त्री देवघर-संपादित मूल मुद्रित अष्टाङ्ग संग्रहके मंगलाचरणके प्रथम पद्य—

**तृष्णादीर्घमसद्विकल्पशिरसं प्रद्वेषचञ्चत्फणं कामक्रोधविषं वितर्कदशनं रागप्रचण्डेक्षणम् ।**
**मोहास्यं स्वशरीरकोटरशयं चित्तोरगं दारुणं प्रज्ञामन्त्रबलेन यः शमितवान् बुद्धाय तस्मै नमः ॥**

**एवमेव—**

**समधिगम्य गुरोरवलोकिताद्गुरुतराच्च पितुः प्रतिभां मया । सुबहुभेषजशास्त्रविलोचनात्सुविहितोऽङ्गविभागविनिर्णयः ॥**

संग्रहसमाप्तिवाले उत्तरतन्त्रके ५० वें अध्यायके इस पद्यको पढ़ा, अष्टाङ्गसंग्रह एवं अष्टाङ्गहृदयकी अन्य भी कई बातें जिनका वर्णन लेखविस्तार भयसे यहां नहीं करना चाहता, देखीं। इनसे मेरा भ्रम दूर होकर दृढ विश्वास हो गया कि वाग्भट बौद्धमतावलम्बी थे।

कुछ महाशय वाग्भटकृत ग्रन्थमें—

**अर्चयेद्देवगोविप्रवृद्धवैद्यनृपातिथीन् । अथर्वविहिता शान्तिः प्रतिकूलग्रहार्चनम् ॥**
**मातरं पितरं देवान् वैद्यान् विप्रान् हरं हरिम् । पूजयेच्छीलयेद्दानदमसत्यदयार्जवान् ॥**

आदि उपदेशोंको प्रबल प्रमाण मानते हुए वाग्भटको वेदमतावलम्बी मानते हैं परन्तु यह ठीक नहीं है। इन उपदेशोंसे वाग्भटका बौद्धत्व नष्ट नहीं हो सकता। वे पक्के बौद्ध थे। उन्हें शङ्का थी कि मेरे द्वारा रचित ग्रन्थोंको आयुर्वेदागमोपदेष्टा महामुनि आत्रेयादिके अनुयायी, वेदादिशास्त्रोंके अभिमानी कदापि नहीं मानेंगे। वस्तुतः सम्पूर्ण आयुर्वेद वेदोंद्वारा ही भूमण्डलपर अवतरित हुआ है। बौद्ध होते हुए भी महामुनियोंद्वारा कथित आयुर्वेदको सुव्यवस्थित रूपेण जनता जनार्दनके सामने रखना ही वाग्भटको अभीष्ट था। वे वेदवेदाङ्गोंके प्रकाण्ड पण्डित थे। अनुमान होता है कि उन्होंने अपनी उत्तरावस्थामें वैदिक मतको छोड़ बौद्ध मतको स्वीकार कर लिया हो। जो कुछ हो, अष्टाङ्गसंग्रहरचनाकालमें वे बौद्ध थे। मेरी कृतिका वैदिक मतावलम्बी कदापि संमान नहीं करेंगे, अपनी इस शंकानुसार वैसा ही वातावरण उनके सामने उपस्थित हो गया। इसीलिए उन्हें इस ग्रन्थमें कहना पड़ा कि—

**'न मात्रामात्रमप्यत्र किञ्चिदागमवर्जितम् ।'**

अर्थात् शब्दविन्यासादि तो दूर रहे इस ग्रन्थमें एक मात्रा भी आगमवर्जित नहीं है। इसी बातको लेकर वाग्भटने इस तन्त्रकी रचना की है। प्रारम्भसे अन्ततक प्रत्यध्यायमें बोले हैं कि अब हम अमुक विषयके अध्यायका व्याख्यान करते हैं जैसे कि **'इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः'** अर्थात् आत्रेयादि महर्षि पहले कह गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि उनके रचित ग्रन्थमें वैदिक मतके अनुकूल **'अर्चयेद्देवगोविप्रादि'** तथा **'अथर्वविहिता शान्तिः'** या **'पूजयेद्विप्रान् हरं हरिम्'** आदि जो कुछ आया है वह सब ग्रन्थकारकी प्रतिज्ञानुसार आत्रेयादि महर्षियोंके वचनोंका अनुवादमात्र है। इसमें वाग्भटका कुछ भी नहीं है। **'न मात्रामात्रमप्यत्र किञ्चिदागमवर्जितम्'** यह प्रतिज्ञा करके भी अपने बौद्धत्वप्रदर्शनके लोभका संवरण वाग्भट नहीं कर सके हैं। इसे मंगलाचरणपद्य एवं **'समधिगम्य गुरोरवलोकितात्'** प्रभृति संग्रहान्तर्गत कई अन्य प्रमाणोंसे ये स्पष्ट कर चुके हैं। इसी लिये उनको ग्रन्थके अन्तमें—

**ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ । भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद्ग्राह्यं सुभाषितम् ॥**

आदि नम्र निवेदन करना पड़ा था। इन सब प्रमाणोंसे निस्सन्देह कह सकते हैं कि वाग्भट बौद्ध थे। भारतीय दाक्षिणात्यों, महाराष्ट्रों, सौराष्ट्रों, गुर्जरों तथा सिन्धुदेशनिवासियोंमें प्राचीन कालसे प्रायः यह परिपाटी प्रचलित है कि वे पौत्रका नाम पितामहके नाम पर इस विश्वासपर रखते हैं कि वह दीर्घायुषी होता है। अष्टाङ्गसंग्रहके अन्तमें अपना परिचय देते हुए ग्रन्थकारने कहा है कि—

**भिषग्वरो वाग्भट इत्यभून्मे पितामहो नामधरोऽस्मि यस्य । सुतोऽभवत्तस्य च सिंहगुप्तस्तस्याप्यहं सिन्धुषु लब्धजन्मा ॥**

अर्थात् सिन्धुदेशोत्पन्न, वैद्योंमें श्रेष्ठ, वाग्भटनामक मेरे पितामह ( दादा ) हुए। उनके पुत्र सिंहगुप्तसे पितामहके नामको धारण करनेवाला मैं ( वाग्भट ) हुआ। इससे स्पष्ट है कि अष्टाङ्गसंग्रहकारका नाम उनके दादाके नामपर वाग्भट था। इनके पिता वाग्भटके पुत्र सिंहगुप्त थे और ये सिन्धके रहनेवाले थे। उपर्युक्त शीर्षकगत 'वाग्भट कौन, कहां और कब थे' इन तीन प्रश्नोंमेंसे दो का उत्तर अब तकके विवेचनमें आ चुका है अर्थात् वाग्भट बौद्धमतावलम्बी, वाग्भटके पौत्र, सिंहगुप्तके पुत्र थे और वे सिन्धुदेशके रहनेवाले थे।

तृतीय प्रश्न है कि कब थे अर्थात् वे किस समयमें थे। अब इस विषयमें कुछ लिखना अप्रासंगिक न होगा। डॉ० रुडाल्फ हॉर्नले प्रथम और द्वितीय ऐसे दो वाग्भट मानते हुए उनका समय क्रमशः ईसवी ६२५ और अष्टम शताब्दी मानते हैं। परन्तु अपने मतके दृढ़ीकरणार्थ प्रमाण कुछ भी नहीं देते हैं। महामहोपाध्याय स्वर्गत गणनाथ सेन सरस्वतीका अनुमान था कि वाग्भट खिस्तीय पञ्चम शताब्दीके आदिमें थे। श्रद्धेय श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य स्वसंपादित चरकसंहिताके उपोद्घातमें लिखते हैं कि अष्टाङ्गसंग्रहके उत्तरतन्त्रीय ४९ वें अध्यायके पलाण्डुरसायन-प्रकरणमें निम्नलिखित पद्यद्वय मिलते हैं—

**रसोनानन्तरं वायोः पलाण्डुः परमौषधम् । साक्षादिव स्थितं यत्र शकाधिपतिजीवितम् ॥ १ ॥**
**यस्योपयोगेन शकाङ्गनानां लावण्यसारादिव निर्मितानाम् । कपोलकान्त्या विजितः शशाङ्को रसातलं गच्छति निर्विदेव ॥२॥**

इन पद्योंसे वाग्भट काशकराज्यशासनकालमें या इसके कुछ अनन्तर अस्तित्व सूचित होता है। भारतवर्षमें शकोंका राज्यकाल

खिस्तीय द्वितीय शताब्दीसे लेकर चतुर्थ शताब्दीतक था। यह लिखकर आप फिर कहते हैं कि वाग्भटके खिस्तीय पञ्चम शताब्दिसंभूत भट्टार हरिचन्द्रके बाद होनेसे तथा सप्तम शताब्दीमें भारतवर्षमें आनेवाले चीनदेशीय परिव्राजक इत्सिङ्गके समयमें अष्टाङ्गसंग्रहका तीव्र प्रचार होनेसे तथैव उसी समयके माधवकरके वाग्भटके पाठग्रहण करनेसे वाग्भटका अस्तित्व इनसे १०० वर्ष पहिले सिद्ध होता है अतः अनुमान होता है कि वाग्भट खिस्तीय छठी शताब्दीमें थे। आचार्य महोदयने चरकके उपोद्घातमें जेज्जटकृत चरककी निरन्तरपदव्याख्यासे प्रमाणित किया है कि यह मदात्यय-चिकित्सिताध्याय भट्टार हरिचन्द्रने टीकाकार सुस्पष्ट किया है। इससे स्पष्ट होता है कि भट्टार हरिचन्द्र वाग्भटके या उनके शिष्य इन्दु तथैव जेज्जटके समकालीन या इनसे कुछ पहिले वर्तमान थे। परन्तु इससे वाग्भटका अस्तित्व छठी शताब्दीमें सिद्ध नहीं होता, अपितु माधवकरादिसे विशेष प्राचीनत्व प्रतीत होता है।

विश्वप्रकाश कोषके कर्ता महेश्वर चरकव्याख्याकार भट्टार हरिचन्द्रके वंशज थे। वे कान्तवर्गके पञ्चम श्लोकमें लिखते हैं कि भट्टार हरिचन्द्र साहसाङ्क नरेशके राजवैद्य थे। यथा—

**श्रीसाहसाङ्कनृपतेरनवद्यवैद्यविद्यातरङ्गपदमद्वयमेव बिभ्रत्।**
**यश्चन्द्रचारुचरितो हरिचन्द्रनामा स्वव्याख्यया चरकतन्त्रमलञ्चकार॥**

इतिहासज्ञों एवं पुरातत्त्वज्ञोंने यह निश्चित निर्णय कर दिया है कि यह साहसाङ्क ही विक्रमादित्याख्य द्वितीय चन्द्रगुप्त था जो कि शकनृपतियोंका समकालीन था। शकोंके साथ निरन्तर युद्ध करके इसने उनको जीतकर भारतसे बाहर निकाल दिया था। यह घटना ई० स० ३९५ की है। इसीलिए इसने 'शकारि' पदवी प्राप्त की थी। वाग्भटकृत वर्णन शकोंकी जाहोजलाली-समयका है। इससे स्पष्ट होता है कि ईसवी प्रथम शताब्दीसे लेकर चतुर्थ शताब्दीके बीचमें अर्थात् अनुमानतः तृतीय शताब्दीमें वाग्भट वर्तमान थे। माधवकरादि और सबसे वे अधिक प्राचीन थे क्योंकि अष्टाङ्गसंग्रह तथैव हृदयमें प्राचीनोंके अतिरिक्त अन्य नामोंका उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। हमारा अनुमान है कि चरकका काल भी ईसवीसे पहिलेका है।

## वाग्भटके शिष्यपुत्रपौत्रादि।

**लम्बश्मश्रुकलापमम्बुजनिभच्छायाद्युतिं वैद्यकानन्तेवासिन इन्दुजेज्जटमुखानध्यापयन्तं सदा।**
**आगुल्फामलकञ्चुकाञ्चितदरालचयोपवीतोज्ज्वलत् कण्ठस्थागरुसारमञ्जितदृशं ध्याये दृढं वाग्भटम्।**

इन्दुकृत शशिलेखा टीका-सह त्रिचुरमें मुद्रित अष्टाङ्गसंग्रहके उपोद्घातमें रुद्रपारशवप्रदर्शित उपर्युक्त पद्यसे सिद्ध होता है कि इन्दु-जेज्जट आदि वाग्भटके शिष्य थे। सुनते हैं अष्टाङ्गसंग्रहकी तरह इन्दुने अष्टाङ्गहृदयपर भी शशिलेखा व्याख्या लिखी है। इसी प्रकार जेज्जटने भी चरक, सुश्रुत, अष्टाङ्गसंग्रह तथा अष्टाङ्गहृदयपर व्याख्या की है किन्तु हमें देखनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है। पिता तथा पितामहकी तरह वाग्भटके पुत्रपौत्रादिका पता नहीं लगता। आफ्रेच सूचीकारने चिकित्साकलिकाके कर्ता तीसटको वाग्भटका पुत्र करके लिखा है परन्तु यह प्रमाणोंसे स्पष्ट नहीं होता।

## वाग्भटरचित ग्रन्थ।

(१) अष्टाङ्गसंग्रह, (२) अष्टाङ्गहृदय, (३) वाग्भटकोश, (४) रसरत्नसमुच्चय, (५) वाग्भटालङ्कार, (६) शृङ्गारतिलक, (७) कविकल्पलता, (८) छन्दोऽनुशासन, (९) काव्यानुशासन, (१०) नेमिनिर्वाणकाव्य, (११) प्राकृतपिङ्गल और (१२) लघुजातक। इस प्रकार इन १२ ग्रन्थोंके कर्ता वाग्भट नामके थे परन्तु वस्तुतः इनमेंसे केवल प्रथम और द्वितीय (अष्टाङ्गसंग्रह तथा अष्टांगहृदय) ग्रन्थके ही कर्ता सिंहगुप्तके पुत्र वाग्भट थे, अन्य ग्रन्थोंके नहीं क्योंकि इन सबकी रचना वाग्भटके समयसे बहुत पीछे भिन्न-भिन्न वाग्भट नामधारियोंसे हुई है। वाग्भट बौद्ध थे और ये प्रायः सबके सब श्वेताम्बरी जैन भिन्न-भिन्न नामवाले पिताके पुत्र थे। इनमेंसे वांग्भटकोशकर्ताका पता नहीं लगता तथापि संभवतः वह कोई दाक्षिणात्य ब्राह्मण था। रसरत्नसमुच्चयके कर्ताका भी कोई पता नहीं है। यद्यपि ग्रन्थके अन्तमें सूनुना सिंहगुप्तस्य लिखा मिलता है परन्तु यह ठीक नहीं है। लेखकप्रमादवशात् संघगुप्तका सिंहगुप्त हो गया प्रतीत होता है। इसका नाम भी वाग्भट था परन्तु यह रसतान्त्रिक शैव था, यह उसके ग्रन्थारम्भके मंगलाचरणसे ही स्पष्ट होता है। यह संग्रहादिकार वाग्भटसे बहुत पीछे हुआ है। प्रफुल्लचन्द्ररायके मतानुसार यह ईशवी १३ वीं शताब्दीमें हुआ है। क्योंकि इसके इस ग्रन्थमें सोमदेव, गोविन्द भगवत्पाद आदिके उद्धरण बहुतायतसे मिलते हैं। वाग्भटालङ्कार तथा शृङ्गारतिलककर्त्ता गुर्जरनरेश जयसिंहका अमात्य वाग्भट श्वेताम्बर जैन था। इसके पिताका नाम सोमदेव था। कविकल्पलताका बनानेवाला वाग्भट मालवनरेश देवेश्वरका अमात्य था। छन्दोऽनुशासन एवं काव्यानुशासनकर्त्ता वाग्भट नेमिकुमारका पुत्र था। नेमिनिर्वाण-काव्यका रचयिता वाग्भट गुर्जरनरेश कुमारपालका दरबारी कवि था। इसी प्रकार प्राकृतपिङ्गलसूत्रकर्ता तथैव लघुजातकरचयिता वाग्भट भी जैन थे, बौद्ध नहीं थे। सारांश, यह है कि वाग्भट (सिंहगुप्तपुत्र) रचित आज अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदय नामके ये दो ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनको लोग क्रमसे वृद्धवाग्भट और वाग्भट नामसे भी जानते हैं।

## क्या अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदयके कर्त्ता भिन्न भिन्न थे?

सबसे प्रथम डॉ० हार्नलेने कुछ भी प्रमाण न देते हुए अपनी पुस्तक मेडीसिन इन इण्डियामें लिख मारा कि 'अष्टाङ्गसंग्रह तथा हृदयके कर्त्ता वाग्भट भिन्न भिन्न हैं। इसी बातको लेकर भेड़ियाधसानकी तरह स्वर्गीय पण्डित हरिप्रपन्नजीने भी अपने रसयोगसागर ग्रन्थके लम्बे उपोद्घातमें लिख दिया कि 'अष्टाङ्गसंग्रहकार वृद्धवाग्भट १४०० वर्ष पुराने थे तथा अष्टाङ्गहृदय कर्त्ता वाग्भट ईसाकी सातवीं या आठवीं शताब्दीमें था और ये दोनों भिन्न भिन्न थे।' इसी प्रकार एक दो अन्य विद्वानोंने भी अपना मत प्रकट किया है।

स्वर्गीय ज्योतिषचन्द्र सरस्वतीने भी अष्टाङ्गहृदय-उत्तरतन्त्र ( शिवदास सेन टीका ) के संपादकीय उपोद्घातमें अष्टाङ्गसंग्रह और हृदयके कर्त्ता भिन्न २ माने हैं। इसमें आधार केवल संग्रहसे हृदयकी कुछ स्थानोंकी मतभिन्नता बताई है। इस भिन्नतामें संग्रहका मत तो दे ही दिया है परन्तु उसमें थोड़ासा सुश्रुतादिके अनुसार आगे और कुछ जोड़ा है जो कि संग्रहके रचनाकालमें छूट गया था। इसी कारणको लेकर अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदयके कर्त्ता भिन्न नहीं हो सकते। अष्टाङ्गसंग्रहकी रचना पहिले की है। उसके अनन्तर लिखे गये अष्टाङ्गहृदयमें वही ग्रन्थकार छूटे हुए विषयको ले सकता है।

महामहोपाध्याय स्वर्गीय गणनाथ सेन सरस्वती एवं श्रद्धेय यादवजी आचार्यने स्पष्ट कर दिया है कि प्रस्तुत ग्रन्थद्वयके सर्वत्र भाषासादृश्य तथा पिता-पितामहका एक नाम आदिसे संग्रह एवं हृदयके भिन्न भिन्न कर्त्ता मानना यह बड़ी भूलकी बात है। सारांश यह है कि अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदयका कर्त्ता वस्तुतः एक है।

## अष्टाङ्गसंग्रहकी अन्वर्थकता

वैद्यसंसारमें प्रकट है कि आयुर्वेद आठ अङ्गोंमें विभक्त है। भगवान् धन्वन्तरिके मतानुसार उक्त आठों अङ्गोंका क्रम शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतन्त्र, रसायन और वाजीकरण है। इनमें शल्यका प्रथम नामनिर्देश कहनेका मुख्य कारण यह बताया गया है कि **'एतद्धि अङ्गं प्रथमं प्रागभिघातव्रणसंरोहात्, यज्ञशिरःसन्धानाच्च'** अर्थात् शारीरिक व्याधियोंकी उत्पत्तिसे भी पहिले देवासुर-संग्राममें अभिघातजन्य-व्रणसंरोह करने तथैव रुद्रद्वारा छिन्न यज्ञके सिरको अश्विनीकुमारोंके जोड़ देनेसे यह ( शल्य ) अङ्ग आद्य माना गया है। वाग्भट इस क्रमको छोड़कर काय, बाल, ग्रह, ऊर्ध्वाङ्ग, शल्य, जरा ( रसायन ) और वृष ( वाजीकरण ) क्रमको अपनाता है। आर्षसंहितावर्णित विषयोंकी व्यवस्थितरीत्या योजना करना ही वाग्भटको अभीष्ट था, यह प्रथम कह दिया गया है। आठों अङ्ग वे ही हैं जो भगवान् धन्वन्तरिने सुश्रुतादिको बताये हैं परन्तु क्रममें आगे पीछेका अन्तर अवश्य है। इस अन्तरके करनेमें वाग्भटके बुद्धिवैभवका स्पष्ट चमत्कार दृग्गोचर हो रहा है। वाग्भटने प्रथमाङ्ग कायको माना है सो ठीक ही प्रतीत होता है क्योंकि शल्य-शालाक्यादि समस्त कर्मोंका अधिष्ठान काय ( शरीर ) ही है। यह भी स्पष्ट है कि शरीरका संभव गर्भाधानादि-संस्कारोंके बाद बालजन्मपर अवलम्बित है। कौमारभृत्यसे ही शरीररक्षाके लिये ग्रह ( भूतविद्याबलि आदि ) का सम्बन्ध आता है, अतः युगसन्दर्भानुरूप वाग्भटने काय-बाल-ग्रहोर्ध्वाङ्ग आदि अष्टाङ्गक्रम बड़े विचारके साथ रखा है। तन्त्रान्तरोंसे अन्य कई विषयोंका भी समावेशकर अष्टाङ्गोंका साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। इससे अष्टाङ्गसंग्रह नामकी अन्वर्थकता स्पष्ट हो रही है।

सुश्रुतकी तरह अष्टाङ्गसंग्रह भी ६ स्थानोंमें विभक्त है। इनमें उपर्युक्त कायचिकित्सादि आयुर्वेदके आठों अङ्गोंका वर्णन किया गया है। कायचिकित्सा ऐसा अंग है जिसका सम्बन्ध सब स्थानोंसे आता है अतः ६ स्थानोंमें कोई भी स्थान ऐसा नहीं है जो कायचिकित्सासे अछूता रहा हो अर्थात् कायचिकित्सा सर्वस्थान-व्यापिनी है। इस तन्त्रमें भिन्न भिन्न छहों स्थानोंके विषय संक्षेपमें निम्न प्रकारसे कहे गये हैं।

१. प्राचीन परिपाटीके अनुसार संहिताओंमें सूत्रस्थान सबसे प्रथम रहता है और उसमें आगे सविस्तर वर्णन किये जानेवाले विषयोंका सूत्ररूपेण संक्षिप्त वर्णन रहता है। तदनुसार इसके ४० अध्यायोंमें आरोग्यरक्षोपाय, ऋतुजनितदोष-वैषम्यशमनार्थ प्रति-ऋतुके आहार-विहार, वेगरोधनिषेध, द्रव्योंके गण और गुण, दोष, धातु और मलोंके विकृता-विकृतलक्षण तथा विकृतिशमोपाय, रोगोंकी उत्पत्ति-भेद और उनका प्रतिषेध, स्नेहन-स्वेदन-वमन-विरेचन-वस्ति-नस्य-धूम-गण्डूष-आश्च्योतनादिविधि, यन्त्रों-शस्त्रोंका निरूपण, सिराव्यध, शल्याहरण, शस्त्र-क्षाराग्निकर्म और इनके योग्य रोगोंका वर्णन है।

२. द्वादश अध्यायात्मक द्वितीय शारीरस्थानमें शुद्धाशुद्धशुक्रार्तवलक्षणोपाय, गर्भोत्पत्ति, गर्भिणीलक्षण, पुत्रकन्यादि-जन्म-लक्षण, मासिकगर्भवृद्धि-गर्भसङ्गलक्षणोपाय, मूढगर्भनिष्कासन, शस्त्रावचारण आदि संपूर्ण सूतिकाशास्त्रका वर्णन करके फिर अङ्ग-प्रत्यङ्गविभाग, अस्थि-सिरा-धमनी-स्रोत, मर्मनामस्थान, इनके आशु या कालान्तरेण प्राणहरलक्षण आदि आदि समस्त चिकित्सोपयोगी शरीरका वर्णन कर दिया है।

३. निदानस्थानके सोलह अध्यायोंमें ज्वरादि समस्त व्याधियोंके निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और संप्राप्तिरूपसे रोगज्ञानके उपायोंको कहा है।

४. चिकित्सास्थानके २४ अध्यायोंमें ज्वरादि रोगोंकी दोषस्थानादिरूपेण चिकित्साका वर्णन किया है तथा शस्त्रक्षाराग्निकर्मके योग्य पक्वशोफोदर, अर्श, भगन्दर, अश्मरी, गुल्मादि रोगोंकी साङ्गोपाङ्ग चिकित्सा बताई गई है।

५. पांचवें कल्पस्थानके आठ अध्यायोंमें वमन-विरेचन-वस्तिके कल्प, वमनादि-व्यापत्तिके शमनोपाय, औषधियोंकी क्वाथादिकल्पना तथा मानका वर्णन किया है।

६. छठे उत्तरस्थानके ५० अध्याय हैं। इसके प्रथम ६ अध्यायोंमें बाल ( कौमारभृत्य ) संज्ञक द्वितीय अङ्गको कहा है। इसके अनन्तर ४ अध्यायोंमें भूतविद्या नामक तृतीय अङ्गको, तदनन्तर १८ अध्यायोंमें चौथे शालाक्य अङ्गको कहा है। इसमें नेत्र-कर्ण-नासा-मुख और शिरोरोग ये सब आ गये हैं। इसके बाद ११ अध्यायोंमें पंचम शल्याङ्ग का वर्णन किया है। इसमें शस्त्रक्रिया साध्य भगन्दरादि व्याधियोंकी चिकित्सा आ गई है। इसके बाद ९ अध्यायोंमें छठे विषतन्त्रनामके अंगका वर्णन स्थावर-जङ्गम-विषभेदसे किया है। तदनन्तर एक अध्यायमें सातवें रसायन अङ्गको कहकर अन्तिम ५० वें एक अध्यायमें आठवें वाजीकरण अङ्गका विशद वर्णन किया है। इस प्रकार उत्तरस्थानके ५० अध्याय हुए हैं। सूत्रादि छहों स्थान मिलकर कुल १५० अध्यायोंमें अष्टाङ्गसंग्रह समाप्त हुआ है।

## कुछ अनुवादके विषयमें

अब अनुवादके विषयमें भी कुछ कह देना उचित समझता हूँ। जो कुछ भला-बुरा अनुवाद बन पड़ा है, वह विचारशील पाठकोंके सामने है। मैं प्रारम्भमें ही सूचित कर चुका हूँ कि 'वाग्भटके वचनोंका गौरव कहाँ और मेरी अल्प मति कहाँ ? इसे जानते हुए भी मैं अष्टाङ्गसंग्रह-सागरको किस बूतेपर तैरकर पार करना चाहता हूँ ? इसके उत्तरमें स्पष्ट कह दिया है कि **'शिष्टदिष्टपथपोत-साश्रितः'** अर्थात् प्राचीन आयुर्वेदिक चरकसुश्रुतादि आदर्श संहिताओंके हमारे सम्माननीय चरकचतुरानन चक्रपाणिदत्त, डल्लन, इन्दु आदि कृत भाष्य ही मेरे पथप्रदर्शक रहेंगे, इनका प्रदर्शित मार्ग ही मेरी नैया रहेगी जिसपर आरूढ़ हो, मैं अवश्य संग्रहाब्धि पार करूंगा। सारांश यह है कि, यह हिन्दी अनुवाद कोई मेरा कपोलकल्पित न समझें। अष्टाङ्गसंग्रहके प्रत्येक विचारणीय विषयकी यथास्थान पुष्टि मैंने उक्त भाष्यकारोंके असली संस्कृत उद्धरण टिप्पणीमें देकर की है। ये उद्धरण उनकी की हुई तत्तद्विषयक भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंकी टीकाओंसे लिए हैं जैसे कि चक्रपाणिदत्तकृत चरककी आयुर्वेददीपिका एवं सुश्रुतकी भानुमती टीकासे, डल्लनकृत सुश्रुतकी निबन्ध-संग्रह-व्याख्यासे, इन्दुकी अष्टाङ्गसंग्रहकी लिखी हुई शशिलेखा व्याख्यासे। इसी प्रकार हेमाद्रि, चन्द्रनन्दन तथा अरुणदत्तकृत अष्टाङ्गहृदयकी क्रमेण आयुर्वेदरसायन, पदार्थचन्द्रिका और सर्वाङ्गसुन्दरा व्याख्याओंसे, गङ्गाधर कविराज एवं योगीन्द्रनाथसेनकी क्रमेण चरकसंहिताकी जल्पकल्पतरु एवं चरकोपस्कार टीकाओंसे लिए गये हैं जो कि उस-उस विषयके ग्रन्थोक्त अध्यायोंकी टीकाओंमें पाठक देख सकते हैं। अनवधानतया उद्धरणोंके सामने स्थान-अध्यायका निर्देश नहीं किया है, वह इस सूत्रस्थानके द्वितीय संस्करणमें ठीक कर दिया जायगा। इसके आगेके शरीर-निदान-चिकित्सा-कल्प और उत्तरस्थानमें उद्धरणोंके सामने स्थान-अध्याय-निर्देश रहेगा।

## भ्रम और उसका निवारण

अष्टाङ्गसंग्रहके इस हिन्दी अनुवादमें एक समस्या सामने आई जो कि काल-मान-विषयक थी। एतदर्थ संग्रहके साथ साथ चरक-सुश्रुतका भी अवलोकन किया कि देखें कालविभागके विषयमें ये क्या कहते हैं। चरकमें जैसा चाहिए वर्णन नहीं मिला। सुश्रुतका पाठ भ्रमपूर्ण होते हुए भी उसमें वाग्भटके पाठसे प्रायः सादृश्य पाया गया। कालमानविषयक वे सुश्रुत और अष्टाङ्गसंग्रहके पाठ निम्नप्रकार हैं।

### सुश्रुतका पाठ

**तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेषेण निमेषकाष्ठाकलामुहूर्ताहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगप्रविभागं करोति। तत्र लघ्वक्षरोच्चारणमात्रोऽक्षिनिमेषः। पञ्चदशाक्षिनिमेषाः काष्ठा, त्रिंशत्काष्ठाः कला, विंशतिकलो मुहूर्त्तः कलादशभागश्च, त्रिंशन्मुहूर्त्तमहोरात्रं, पञ्चदशाहोरात्राणि पक्षः, स च द्विविधः शुक्लः कृष्णश्च, तौ मासः ॥ ९ ॥** ( सुश्रुत सूत्र. अ. ६. )

### अष्टाङ्गसंग्रहका पाठ

**स ( कालः ) मात्राकाष्ठाकलानाडिकामुहूर्तयामाहोरात्रपक्षमासर्त्वयनवर्षभेदेन द्वादशधा विभज्यते। तत्राक्षिनिमेषो मात्रा। ताः पञ्चदश काष्ठा। तास्त्रिंशत्कला। ताः सदशभागा विंशतिर्नाडिका। नाडिकाद्वयं मुहूर्त्तश्च। ते तुल्यरात्रिंदिवे राशिभागे चत्वारः पादोना यामः। यैश्चतुर्भिरहोरात्रश्च। पञ्चदशाहोरात्राः पक्षः। पक्षद्वयं मासः। स शुक्लान्तः।** (अ. सं०. सू. अ. ४.)

सुश्रुतोक्त पाठमें कालविभाग निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर और युग, इस प्रकार एकादशधा बताया है। इसमें निमेषसे लेकर युगतक ११ प्रकार कहे हैं परन्तु वाग्भटने मात्रा या निमेषसे लेकर वर्षतक कालको १२ भागोंमें विभक्त किया है। सुश्रुतके पाठमें वाग्भटोक्त नाड़िका ( घटी ) और याम ( प्रहर ) ये दो छूट गये हैं। इस प्रकार सुश्रुतोक्त संवत्सर अर्थात् वर्षतक कालके वाग्भटोक्त १२ प्रकारकी जगह १० ही होते हैं। परन्तु संवत्सरके आगे युगके कथनसे सुश्रुतोक्त प्रकार ११ होते हैं। इन दो पाठोंमें वाग्भटोक्त पाठसे उतना नहीं, जितना सुश्रुतके पाठसे मनुष्य असमञ्जसमें पड़ता है। हम चाहते हैं कि ये दोनों पाठ ज्योतिश्शास्त्रोक्त प्रचलित प्राचीन कालविभाग-पद्धतिसे तन्तोतन्त ठीक सिद्ध हों। निमेषसे कालतक सुश्रुत और वाग्भटका पाठ समान है और वह ठीक प्रतीत होता है परन्तु कलाके अनन्तर वाग्भटोक्त नाडिकाका परित्याग करके एकदम सुश्रुतमें कह दिया गया है कि **'विंशतिकलो मुहूर्तः कलादशभागश्च'** इस सुश्रुतके पाठसे तो बुद्धि चक्कर काटने लगती है—कुछ समझमें नहीं आता। भारतीय शास्त्रोक्त कालविभागानुसार जिस कलाका मान एक पल भी नहीं, पलका तृतीयांशमात्र ही होता है, ऐसी २० कलाओंसे एक मुहूर्त कैसे हो सकता है ? वस्तुतः मुहूर्त्त द्विघटिकात्मक अर्थात् १२० पलका होता है। यह समस्या कैसे निबटाई जाय ? बड़ी चिन्ता खड़ी हो गई कि अष्टाङ्गसंग्रहके कालमानविषयक मूलका हिन्दी अनुवाद कैसे किया जाय।

अन्ततो गत्वा हमें एक बात स्थिर कर लेनी पड़ी कि अष्टाङ्गसंग्रहके पाठसे ही विचार करना चाहिए क्योंकि हमें आधुनिक मुद्रित पुस्तकोंमें सुश्रुतका यह पाठ भ्रामक प्रतीत होता है। सुश्रुतके टीकाकार डल्लन तथा चक्रपाणिदत्तने इस पाठका स्पष्टीकरण बराबर जैसा चाहिये वैसा नहीं किया है। अपनी सुश्रुतकी भानुमति टीकामें चक्रपाणिने यह संकेत अवश्य किया है कि **'स लिपिदोषात् पाठो वर्णनीयः'** परन्तु दोनोंकी टीकाओंमें मूल पाठ एकसा ही है अतः यह पाठ डल्लनचक्रदत्तके समयसे पहिले ही लिपिदोषयुक्त हो चुका था। प्रायः पाठ-द्वयमें साम्य है अर्थात् वाग्भटके पाठमें कुछ अन्तरसे वे ही शब्द कहे गए हैं। पाठके उद्धरण ऊपर सुश्रुत-अष्टाङ्गसंग्रहसे लेकर ज्योंके त्यों दिये गए हैं। वाग्भटका चरकसुश्रुतानुयायित्व उसके ग्रथितग्रन्थोंसे सिद्ध है। वाग्भट डल्लन और चक्रदत्तसे विशेष प्राचीन थे। इतना ही नहीं, कालविभाग-प्रदर्शक शब्द सुश्रुतमें प्रायः वे ही हैं जो अष्टाङ्गसंग्रहमें हैं, परन्तु लिपिदोषवशात् वे यथास्थान न रहकर भूलमें इधरके उधर पड़कर पाठभ्रष्ट हो गया और वह कई शताब्दियोंसे ज्योंका त्यों चला आ रहा है। पाठकी इस गड़बड़ीके कारण ही टीकाकार सुश्रुतके इस पाठका स्पष्टीकरण नहीं कर सके।

मैंने अपने पत्र 'आयुर्वेद'द्वारा इस पाठके प्रश्नको दो बार उठाया और विद्वद्वैद्यमहोदयोंसे पूछा कि काशी हिन्दूविश्वविद्यालयगत आयुर्वेदिक कालेज एवं कलकत्ता-बम्बईके अष्टाङ्ग आयुर्वेदिक कालेज आदिके छात्रोंको सुश्रुत पढ़ाते समय विद्वान् अध्यापक किस प्रकार इस सुश्रुतोक्त कालविभागका स्पष्टीकरण कर समझाते हैं ? इस प्रामादिक पाठके कारण ही मैं समझता हूँ कि किसीने आगे आकर

समझानेका प्रयत्न नहीं किया। मैं निश्चय कर चुका कि वाग्भटने कालविभागवर्णनमें अक्षिनिमेषसे लेकर मुहूर्ततक सुश्रुतका ही पाठ ज्यों का त्यों लिया है जिसको लिपि-प्रमादकारोंने नष्ट-भ्रष्टकर सुश्रुतमें कुछ का कुछ कर दिया है। प्रतीत होता है कि अष्टाङ्गसंग्रहके पाठमें भी सदशके आगेका दशम शब्द छूट गया है अर्थात् 'सदश दशमभाग' पाठ ही ठीक बैठता है।

अब देखना है कि इस कालविभागविषयमें हमारे प्राचीन प्रामाणिक कोषकारोंकी परिभाषा क्या है। इस परिभाषाके देखनेपर विश्वास है कि हमारे सामने आई हुई समस्या सहजमें सुलझ जायगी। सविनय निवेद है कि पाठक महोदय सावधानतया विचारकर इसका निर्णय करेंगे। नामलिङ्गानुशासनकर्ता अमरसिंह अपने अमरकोषके प्रथम काण्डके कालवर्गमें लिखते हैं कि—

**अष्टादश निमेषास्तु काष्ठा, त्रिंशत्तु ताः कला। तास्तु त्रिंशत्क्षणः, ते तु मुहूर्तोद्वादशास्त्रियाम् ॥ ११ ॥**

अर्थात् १८ निमेषकी १ काष्ठा, ३० काष्ठाकी १ कला, ३० कलाका १ क्षण और १२ क्षणोंका १ मुहूर्त होता है। सर्वत्र प्रसिद्ध है कि ज्योतिश्शास्त्रानुसार १ मुहूर्त २ घड़ी या १२० पलका होता है। बारह क्षण का एक मुहूर्त अतः १२० पलमें १२ का भाग देनेसे एक क्षणका प्रमाण १० पल सिद्ध हुआ। हमें यहां निमेषसे लेकर मुहूर्ततकसे ही मतलब है क्योंकि इसमें निमेष, काष्ठा, कला, पल, घटी और मुहूर्तका प्रमाण हमारी प्राचीन प्रचलित परिपाटीके कालमानानुसार ठीक बैठ जाता है।

हेमचन्द्राचार्यकृत अभिधानचिन्तामणिसे भी अमरकोषोक्त मानकी ही पुष्टि होती है। आयुर्वेदोक्त मानसे अन्तर केवल तीन निमेषका ही है जो कि नगण्य सा है। आयुर्वेदसंहिताकार १५ निमेषकी काष्ठा मानते हैं, वहाँ ये कोपकर्त्ता १८ निमेषकी। हैमकोष (अभिधानचिन्तामणि) के द्वितीय काण्डमें कालविभाग इस प्रकार लिखा है—

**अष्टादश निमेषाः स्युः काष्ठा, काष्ठाद्वयं लवः। कला तः पञ्चदशभिर्लेशस्तद्द्वितयेन च ॥ ५० ॥**
**क्षणस्तैः पञ्चदशभिः क्षणैः षड्भिस्तु नाडिका। सा धारिका घटिका च मुहूर्तस्तद्द्वयेन च ॥ ५१ ॥**

अर्थात् १८ निमेषको १ काष्ठा, २ काष्ठाका १ लव, १५ लव अर्थात् ३० काष्ठाकी १ कला, २ कलाका १ लेश, १५ लेश अर्थात् ३० कलाका १ क्षण, ६ क्षणकी १ नाड़िका, धारिका या घटिका और २ नाड़िका या घटिकाका एक मुहूर्त होता है। यहाँ भी ६ क्षणोंकी घटिका या नाड़िकाके ६० पलों में ६ का भाग देनेसे एक क्षणका प्रमाण दस पल ही सिद्ध हुआ। अष्टाङ्गसंग्रहके वाग्भटोक्त पाठमें सदशके सामनेका दशम शब्द छूट गया प्रतीत होता है, यह पहिले भी लिख चुका हूँ। तदनुसार शुद्ध पाठ इस प्रकार होता है। यथा—

**तत्राक्षिनिमेषो मात्रा, ताः पञ्चदश काष्ठा, तास्त्रिंशत्कला, ताः सदश दशमभागा विंशतिर्नाडिका, नाडिकाद्वयं मुहूर्तश्च ॥**

इसका सरलार्थ निम्न प्रकारसे बिलकुल ठीक बैठ जाता है। जैसे कि—**'तत्राक्षिनिमेषो मात्रा, ताः पञ्चदश (मात्राः) काष्ठा, तास्त्रिंशत् (काष्ठाः) कला, ताः (त्रिंशत्कलाः) दशमभागा दशमभागमितास्त्रिंशत् सदशविंशतिर्नाडिका, नाडिकाद्वयं मुहूर्तश्च।'** अर्थात् अक्षिनिमेषका ही पर्याय मात्रा है। इन १५ मात्राकी १ काष्ठा और ३० काष्ठाकी १ कला, इन ३० कलाओंकी दशमांशप्रमित ३० कला या पल १० और २० सहित अर्थात् ६० पल या कलाकी १ नाडिका या घटी और २ घड़ीका १ मुहूर्त्त होता है। ध्यान रहे कि उपर्युक्त पाठोक्त ३० काष्ठाप्रमित ३० कलाओंको ही कोषकारोंने १ क्षण माना है **(काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला। तास्तु त्रिंशत् क्षणः)** यह एक क्षण १० पलका होता है अतः उक्त ३० कलाओंका दशम भाग भी १ पल आता है। ऐसे ३० पलोंमें दस सहित बीस मिलानेसे साठ (३०+१०+२०=६०) पलकी एक नाड़िका (घटिका) होती है। नाडिकाद्वय अर्थात् दो घड़ीका एक मुहूर्त्त होता है। यह स्पष्टीकरण कोषकारोंकी कालविभागविषयक परिभाषामें पहिले भी हो चुका है।

हमने अपना यह स्पष्टीकरण श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य, पुरी गोवर्धनमठाधीश्वर जगद्गुरु स्वामी श्री १११ भारतीकृष्णतीर्थ महाराजकी सेवामें जाकर निवेदन किया था। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि जगद्गुरु बड़े भारी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र प्रकाण्ड पण्डित एवं गणितज्ञ हैं। आचार्यचरणने मेरे इस कालविभागविषयक स्पष्टीकरणको श्रवणकर परम प्रसन्न होते हुए सानन्द आशीर्वाद प्रदान किया है जो कि इस ग्रन्थमें अन्यत्र प्रकाशित है। एतदर्थ मैं आचार्यचरणोंका नितान्त आभारी हूं।

कालविभागविषयक झमेलेके इस प्रकार निपटनेपर मुझे और मेरे दयालु कई विद्वान् मित्रों को परमानन्द हुआ है परन्तु देशमें ऐसे महानुभावोंकी भी कमी नहीं है जो छोटे मुंह बड़ी बातवाली कहावतको सामने लाते हुए ननु न च करें, नाक-भौंह सिकोड़ें तथा इस कालविभागविषयक मेरे इस स्पष्टीकरणको पक्षपातरहित होकर न देखें। मैं तो उनसे भी सविनय निवेदन करता हूं कि वे भी पाकर सुझाव दें और मुझे सन्तुष्ट करें। अन्यथा मुझे महाकवि भवभूतिके शब्दोंमें कह देना उचित प्रतीत होता है कि—

**'ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्तु ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।**
**उत्पत्स्यते हि मम कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥'**

अन्तमें मैं अपने दयालु प्रिय मित्र, सुहृद्वर, श्रद्धेय पण्डित **आयुर्वेदमार्तण्ड श्रीयादवजी त्रिकमजी आचार्य**को अनन्त धन्यवाद देता हूँ जो मुझे सदैव इस विषयमें परमोत्साह प्रदान करते रहते हैं। इसी प्रकार मैं अपने प्रिय पुत्र चि० शिवकरण तथैव प्रिय शिष्य गुलराज मिश्र तथा जानकीनाथ शर्मा झाडू काश्मीरिकको सानन्द आशीर्वाद देता हूँ जिनने मुझे समय समयपर यथा साध्य लेखन-सहायता दी है। मेरा जिनसे बड़ा अच्छा घरेलू सम्बन्ध है, उन श्रेष्ठिप्रवर गोलोकवासी श्री हरिदासजीके सुपुत्र परम भागवत श्री० जयकृष्णदासजी गुप्त अध्यक्ष चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारसको भी बिना आशीष दिए नहीं रह सकता जिनने बड़ी सुन्दरतासे इस ग्रन्थको छापकर प्रकट किया है। चि० विद्वद्वर भिषग्रत्न श्रीब्रह्मशङ्कर मिश्र भी धन्यवादार्ह हैं जिनने मुझे समय समयपर अपनी सत्संमति प्रदान की है।

सीताबर्डी, नागपुर-१
श्रीधन्वन्तरित्रयोदशी सं० २०१० वि०

विद्वद्वृन्दानुचर—
**वैद्य श्रीगोवर्धनशर्मा छांगाणी**

# विषयानुक्रमणिका

## सूत्रस्थानम्

## त्रयोदशोऽध्यायः



## चतुर्दशोऽध्यायः



## पंचदशोऽध्यायः

# विषयानुक्रमणिका

इति अष्टाङ्गसंग्रहके प्रथमसूत्रस्थानमें वर्णित विषयानुक्रमणिका ।

॥ श्रीः ॥

## 'अर्थप्रकाशिका' व्याख्यामें प्रमाणतयोपन्यस्त—

## ग्रन्थसूची

१ **चरकसंहिता** चक्रपाणिदत्तकृतायुर्वेददीपिकाव्याख्या-संवलिता।

२ **चरकसंहिता** चक्रदत्तव्याख्यासहयथासादितजेज्जट-व्याख्यान्विता।

३ **चरकसंहिता** सचक्रदत्तव्याख्या-गङ्गाधरकविराजकृत-जल्पकल्पतरुव्याख्यासहिता।

४ **चरकसंहिता** योगीन्द्रनाथसेनकृतचरकोपस्कारविभूषिता

५ **सुश्रुतसंहिता** डल्हनकृतनिबन्धसंग्रहसमेता शारीर-स्थानमात्रगयदासटिप्पणेनालंकृता च।

६ **सुश्रुतसंहिता** सूत्रस्थानावधिचक्रपाणिरचितभानुमती-व्याख्यया समुल्लसिता।

७ **सुश्रुतसंहिता** हाराणचन्द्रचक्रवर्तिकृतसुश्रुतसन्दीपन-भाष्ययुता।

८ **सुश्रुतसंहिता** सूत्रस्थानाच्छारीरावधिभास्करगोविन्द-घाणेकररचितहिन्दीभाष्यभूषिता।

९ **भेडसंहिता** ( मध्ये मध्ये खण्डिता )

१० **वृद्धवाग्भटापरपर्यायाष्टाङ्गसंग्रहो** मूलमात्रकृष्ण-शास्त्रिदेवधरसंपादितः।

११ **अष्टाङ्गसंग्रहः,** इन्दुकृतशशिलेखाव्याख्यान्वितः।

१२ **अष्टाङ्गहृदयं** हरिशास्त्रिपराडकरसंपादितमरुणदत्तकृत-सर्वाङ्गसुन्दराहेमाद्रिविरचितायुर्वेदरसायनटीकासंवलितम्।

१३ **अष्टाङ्गहृदयं** सूत्रस्थानमात्रं राजवैद्यरामप्रसादसंपादित-मरुणदत्तकृतसर्वाङ्गसुन्दरा-हेमाद्रिकृतायुर्वेदरसायन-चन्द्र-नन्दनरचितपदार्थचन्द्रिकाव्याख्यात्रयसहितम्।

१४ **शार्ङ्गधरसंहिता** आढमल्लीव्याख्यया काशीरामरचित-टीकया च संवलिता।

१५ **भावप्रकाशः,** भावमिश्ररचितः।

१६ **माधवनिदानं** मधुकोशातङ्कदर्पणटीकाभ्यां सहितम्।

१७ **सिद्धभेषजमणिमाला** कृष्णरामकविकृता लक्ष्मीराम-स्वामिकृतटिप्पणिकान्विता।

१८ **सांख्यकारिका** वाचस्पतिमिश्रकृतसांख्यतत्त्वकौमुदी-टीकान्विता।

१९ **धन्वन्तरिनिघण्टुः।**

२० **राजवल्लभनिघण्टुः।**

२१ **वैद्यनिघण्टुः।**

२२ **वैद्यकशब्दसिन्धुः।**

२३ **अमरकोषः** महेश्वरकृतामरविवेकटीकयान्वितः।

२४ **अमरकोषः** भानुदीक्षितस्य व्याख्यासुधासहितः।

२५ **त्रिकाण्डशेषः** पुरुषोत्तमदेवकृतः।

२६ **हारावलिः** पुरुषोत्तमकृता।

२७ **अभिधानचिन्तामणिः** आचार्य हेमचन्द्रविरचितः।

२८ **मेदिनीकोषः**

२९ **वाचस्पत्यबृहदभिधानम्**

३० **शब्दकल्पद्रुमः**

३१ **शब्दार्थचिन्तामणिः**

३२ **काश्यपसंहिता** ( वृद्धजीवकतन्त्रापरपर्याया ) यादवाचार्यैः संपादिता।

३३ **कुमारसंभवं** महाकविकालिदासकृतम्।

इत्यादि

श्रीमद्वाग्भटाचार्यविरचितः

# अष्टाङ्गसङ्ग्रहः

## अर्थप्रकाशिकाख्यया हिन्दीव्याख्यया संकलितः ।

## सूत्रस्थानम्

### प्रथमोऽध्यायः

#### टीकाकारकृतमङ्गलाचरणम् ।

यस्य दयालवलेशाद्वागीश्वरतामुपैति मूढोऽपि ।
सर्वार्थसिद्धिसदनं वन्दे तमहं गणेशमिभवदनम् ॥१॥
तरणिरिवा[1]मयमकराकुलपारावारपारदस्तर[2]णिः ।
जयति जनानन्दकरः कर-निकर-निरस्त-तिमिरौघः ॥२॥
शूलिप्रिया[3]मपर्णा[4] सुपुण्यलभ्यां नमामि पर्वतजा[5]म् ।
सेवकजनेष्टफलदां महौषधिं सिद्धिदां देवीम् ॥३॥
उभयोरेकाप्रकृतिः प्रत्ययभेदाद्धि भिन्नवद्भाति ।
नितरामवत्वयं मां हरिहरयोरैक्यसद्भावः ॥४॥
काया[6]नायुर्वेदाचार्यान् पितरौ प्रणम्य गुरुवर्यान् ।
श्रीचक्रडल्लनेन्दुहेमा[7]दीनां वचांसि संस्मृत्य ॥५॥
सर्वेषामुपयुक्तां हिन्द्यामष्टाङ्गसंग्रहव्याख्याम् ।
अर्थप्रकाशिकाख्यां वैद्यो गोवर्धनः कुरुते ॥६॥
वाग्भटस्य वचसा क गौरवं मामकी क च लघीयसी मतिः ।
संग्रहाब्धितरणेऽस्मि यत्नवान् शिष्टदिष्टपथपोतमाश्रितः ॥७॥

शास्त्र के आरम्भ और समाप्ति में शिष्यशिक्षार्थ तथा ग्रन्थ की निर्विघ्न-समाप्ति के लिए आचार्य मङ्गलाचरण किया करते हैं। इसी शिष्टाचारानुसार श्रीमद्वाग्भटाचार्य भी इस अष्टाङ्ग-संग्रह ग्रन्थ के आदि में नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण करते हैं। यथाः—

#### ग्रन्थकारकृतमङ्गलम्

रागादिरोगाः[1] सहजाः समूला
येनाशु सर्वे जगतोऽप्यपास्ताः ।
तमेकवैद्यं शिरसा नमामि
वैद्यागमज्ञांश्च पितामहादीन् ॥

राग है आदि में जिनके ऐसे अपने और जगत् के, साथ ही में उत्पन्न होनेवाले संपूर्ण रोग, समूल दूर कर दिए हैं जिसने, उस एक वैद्य को तथा वैद्यागम (आयुर्वेद) के जाननेवाले ब्रह्माजी आदि को नतमस्तक होकर नमस्कार करता हूं।

वक्तव्य—विकृत रजोगुण तथा तमोगुण[2] के कारण, शुद्ध

१. नौरिव। २. सूर्यः। ३. रोगिप्रियाम् पक्षे शिवप्रियाम्। ४. पर्णरहितां सोमाख्यां लताम्, उमां च। ५. पर्वतोत्पन्नामोषधिं पार्वतीं देवीं च। ६. ब्रह्माद्यान्। ७. चक्रदत्तडल्लनेन्दुहेमाद्रिप्रभृतीनाम्।

१. क. संज्ञकपुस्तके प्रथमं—"तृष्णादीर्घमसद्विकल्पशिरसं प्रद्वेषचञ्चत्फणं कामक्रोधविषं वितर्कदशनं रागप्रचण्डेक्षणम्। मोहास्यं स्वशरीरकोटरशयं चित्तोरगं दारुणं प्रज्ञामन्त्रबलेन यः शमितवान् बुद्धाय तस्मै नमः ॥" पद्यमेतदस्ति। तदनु पद्यमिदमप्यस्ति।

२. सत्त्वरजस्तमांसीति त्रयो गुणाः समविषमरूपेणाव्यक्तमहदहङ्कारमनसां प्रकृतिभूतधातवो मनसि वर्तन्ते तेषां दूषकौ यतो रजस्तमोगुणौ विषमावेव भवतो न तु समौ तस्मान्मानसदोषसंज्ञकौ इति गङ्गाधरः।

मनको दूषित करनेवाला राग[1] है आदि में जिनके, ऐसे इच्छा एवं द्वेष से उत्पन्न होनेवाले क्रोध, शोक, भय, हर्ष विषाद, ईर्ष्या, छिद्रान्वेषण कर दूसरे पर दोषारोपण, दीनता, मात्सर्य, क्रूरता, काम, लोभ आदि मानसिक[2] बाह्यहेतुक आगन्तुक तथा वात-पित्त कफ की विषमता से शरीर में होनेवाले ज्वर, कास, श्वास आदि शारीरिक (आभ्यन्तरिक) ये दोनों प्रकार के मन और शरीर को पीडा देनेवाले रोग[3], तथैव सहजाः=साथ ही में उत्पन्न होकर सदैव साथ रहनेवाले अर्थात् संसारी से कदापि अलग न होनेवाले[4] ऐसे असाध्य रोग, केवल अपने ही नहीं, अपितु जगतोऽपि=गज, तुरग, सर्प प्रभृति समस्त जागतिक प्राणियों में पसरनेवाले कुछ रोग ही नहीं किन्तु सर्वे=सभी, उनके मूल अज्ञानसहित जिसने शीघ्र ही दूर[5] कर दिए हैं उस एक वैद्य तथा ब्रह्माजी आदि को शिरसा नमस्कार करता हूं।

इस प्रकार ग्रन्थकार रोगसमूह के दूरीकरण में भगवान् श्रीधन्वन्तरि का अन्य वैद्यों की अपेक्षा अपूर्व वैद्यत्व सिद्ध कर रहे हैं। आयुर्वेद सहजादि व्याधियों को असाध्य कहता है परन्तु यहां ग्रन्थकार "रागादिरोगाः सहजाः समूला येनाशु सर्वे जगतोऽप्यपास्ताः" इस श्लोकार्ध में स्पष्ट कह रहे हैं कि इन सहजादि व्याधियों को भगवान् धन्वन्तरि के अतिरिक्त अन्य कोई भी वैद्य मिटा नहीं सकता, यही अद्भुतशक्तित्व इनका अपूर्वत्व[6] है। भगवान् धन्वन्तरि ही एक ऐसे वैद्य हुए हैं। इसी लिए "तमेकवैद्यं शिरसा नमामि" कहा है। पितामहादीन् इसमें के आदि शब्द से दक्ष प्रजापति, अश्विनीकुमार, इन्द्र, धन्वन्तरि, भारद्वाज, सुश्रुत, आत्रेयादि का ग्रहण है अर्थात् ब्रह्माजी एवं इन आयुर्वेद के जाननेवाले आचार्यों को भी नमस्कार करता हूं।

(प्रश्न) निज अर्थात् शारीरिक तथा आगन्तुक (समानसिक) भेद से रोग दो ही प्रकार के माने गये हैं। इनके अधिष्ठान[7] भी शरीर और मन ये दो ही हैं। रागादि अर्थात् क्रोध-लोभ आदि से उत्पन्न रोग मन में रहते हैं और इसी प्रकार ज्वर अतीसारादि शरीर में। इससे स्पष्ट है कि मानसिक व्याधियां मन को और शारीरिक रोग शरीर को दुःख देनेवाले हैं। ऐसी अवस्था में भी यह कैसे कह दिया कि उक्त रागादि सभी रोग शरीर और मन इन दोनों को दुःख देनेवाले होते हैं। क्या मानसिक रोग केवल मन को और शारीरिक शरीर को दुःखदायी होते हैं, यह कहना ठीक नहीं होगा?

(उत्तर) नहीं, शरीर और मन इन दोनों के आधाराधेय भाव को देखते यह कथन ठीक नहीं हो सकता कि मानसिक व्याधियां केवल मन को और शारीरिक केवल शरीर को ही दुःख देती हैं। आधार और आधेय इन दोनों के सम्बन्ध के कारण इन दोनों के गुण-धर्म भी एक दूसरे में आ ही जाते हैं, जैसे कि लोहे की कड़ाही रूप आधार में आधेय तपाया हुआ लोहे का गोला रख दिया जाय तो उसकी आधार कड़ाही भी तप जायगी। इसी प्रकार आधार रूप तपी हुई कड़ाही में आधेय ठण्डा घृत रक्खा जाने पर आधार (कड़ाही) की तरह वह उष्ण (गरम) हो जायगा। इसी प्रकार शरीर और मन इन दोनों की मानसिक एवं शारीरिक रोगों द्वारा दुःखी होने की बात है क्योंकि मन आधेय है और शरीर उसका आधार[1] है।

(प्रश्न) रागादि रोगों की तरह ज्वरादि सब रोगों को भी सहजाः यह विशेषण दिया गया है जिनका अर्थ है सततानुषक्ताः अर्थात् जन्म से लेकर मरणपर्यन्त सदैव साथ रहनेवाले या कदापि शरीरधारी का साथ न छोड़नेवाले तो क्या यह बात ठीक है?

(उत्तर) हां, यह बात ठीक है। यदि सत्कार्यवाद से देखा जाय तो ज्वरादि समस्त रोग सूक्ष्मरूपेण जन्म से शरीर में रागादि रोगों की तरह बने रहते[2] हैं।

अब आचार्य अपने तन्त्र को आरम्भ करते हुए कहते हैं कि—

**अथात आयुष्कामीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयाद्यो महर्षयः।**

आयुष्कामीय अध्यायारंभ— मङ्गलाचरण एवं नमस्कार करने के अनन्तर अब हम आयुष्कामीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे जैसे कि आत्रेयादि महर्षि पहले कर गये हैं।

वक्तव्य— अथ शब्द यहां मङ्गलार्थवाचक है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गल शब्द का उपादान इस लिए उचित है कि मङ्गलसेवा द्वारा ग्रन्थकार तथा ग्रन्थ के सुननेवालों को निर्विघ्नतया इष्ट-प्राप्ति होती है। इसी लिए अन्य शास्त्रों के प्रारम्भ में भी अथ शब्द दिखाई देता[3] है। ग्रन्थकार कहते हैं कि अतः=नम-

---

१. शुद्धस्य चेतसो रजस्तमोभ्यां रञ्जनं रागः, इति हेमाद्रिः।

२. मानसास्तु क्रोधशोकभयहर्षविषादेर्ष्याभ्यसूयादैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभृतय इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति। इति सुश्रुतः

३. रुजन्तीति रोगा देहमनसी सन्तापयन्ति। इत्यरुणदत्तः

४. सहजाताः सहजाः, जन्मनः प्रभृति शरीरिणा सङ्गताः इतीन्दुः। "सततानुषक्ताः सर्वकालं प्रसृताः सहजाः" इत्यरुणः। "सततानुषक्ता नित्यमनुलग्नाः, न कदाचित्तैर्वियुक्तः संसारी भवति" इति चन्द्रनन्दनः।

५. सर्वे न तु केचिदेव। समूला येनापास्ताः, मूलमेषामज्ञानम्। इतीन्दुः।

६. "अपूर्वत्वं च अद्भुतशक्तित्वम्। एतच्च ज्वरादिविलक्षणानां रोगाणां घातेन। ते च रागादय" इति हेमाद्रिः। "एकश्चासौ वैद्यश्च तं नमामि। एवं गुणयुक्तस्यान्यस्य भिषजोऽभावात्तस्यैकत्वम्। न ह्यन्यो वैद्यस्सहजत्वादसाध्यलक्षणयुक्तान् रोगाञ्जेतुं शक्नोति" इतीन्दुः।

७. निजागन्तुविभागेन तत्र रोगा द्विधाः स्मृताः। तेषां कायमनोभेदादधिष्ठानमपि द्विधा।

---

१. यथाधेयेनायोगोलकेन संतप्तेन तदाधारस्य कटाहादेः संतापः। आधारेण च कटाहादिना संतप्तेनाधेयस्य घृतादेः संतापः। तदेवं रागादयो द्वयं रुजन्तीति न्याय्यमेतत्। इत्यरुणदत्तः।

२. सत्कार्यवादिनां मते ज्वरादयोऽपि सूक्ष्मरूपेणैवमेव (सततानुषक्ताः सर्वकालमात्मना संबद्धाः) इति हेमाद्रिः।

३. ग्रन्थादौ मङ्गलसेवानिरस्तान्तरायाणां ग्रन्थकर्तृश्रोतृणामविघ्नेनेष्टलाभो भवतीति युक्तं मङ्गलोपादानम्। अथ शब्दस्य मङ्गलत्वे स्मृतिः—ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ॥' इति। शास्त्रान्तरे चादौ मङ्गलत्वेन

स्कार के अनन्तर अब हम आयुष्य की कामनावालों के लिए हितकारी अथवा जिसका आरम्भ आयुष्काम शब्द से होता है ऐसे आयुष्कामीय नामक अध्याय ( प्रकरण विशेष ) का व्याख्यान[1] करेंगे। यहां शङ्का हो सकती है कि क्या आप अपनी बुद्धि से ही यह व्याख्यान करेंगे? इसके उत्तर में कहते हैं कि हम अपनी कपोलकल्पना से ही यह व्याख्या नहीं करेंगे किन्तु "इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः" अर्थात् आत्रेय, भारद्वाज, जतुकर्ण, पराशरादि नितान्त ज्ञानी एवं पूज्य महर्षि पहले कर गये हैं वही व्याख्यान[2] हम करेंगे।

उपर्युक्त आत्रेयादि महर्षि क्या कर गये हैं? इसके उत्तर में आयुर्वेदतत्त्वज्ञानार्थ शिष्यगण को प्रोत्साहित करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

आयुःकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः॥

आयुर्वेदोपदेश—धर्म, अर्थ और सुख के साधन स्वरूप जीवन की इच्छावाला आयुर्वेद के उपदेशों में परम आदर (श्रद्धा) रक्खे अर्थात् आयुर्वेद के उपदेशों को मानता रहे।

वक्तव्य—धर्म, अर्थ और सुख[3] (काम और मोक्ष) की प्राप्ति का उपाय आयु अर्थात् यथोक्त नीरोग जीवन ही है अतः नीरोग जीवन की इच्छावाले[4] को चाहिए कि जिनमें नीरोग जीवन के अनेक उपाय बताए गए हैं उन आयुर्वेद के उपदेशों में श्रद्धा करता हुआ, प्रकृतिविज्ञान, रसायनविज्ञान, दूत और अरिष्टविज्ञान आदि के ज्ञान करानेवाले, उपपत्ति सह आयुर्वेदीय विषयों को समझानेवाले आयुर्वेदिक नाना शास्त्रों में प्रविष्ट होकर उनमें वर्णित पाठों को पढ़े और उनके भावों को जानकर तदनुसार व्यवहार करने का उत्कृष्ट प्रयत्न करे क्योंकि आयुर्वेद के अनेक शास्त्रों को देखने से चिकित्सा में वैद्य को किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता[5]।

इसके अतिरिक्त ग्रन्थकार ने इस पद्य में संबन्धादि चतुष्टय ( संबन्ध, प्रयोजन, अभिधान और अभिधेय ) का भी निदर्शन कर दिया है। यहाँ उपाय-उपेयभाव लक्षण संबन्ध है अर्थात् इस शास्त्र का आयुर्वेदोपदेश ही उपाय है और उसके द्वारा आयु की प्राप्ति उपेय है। धर्म, अर्थ, सुख का साधन आयु ही प्रयोजन है। आयुर्वेद यह अभिधेय है और यह तन्त्र (अष्टाङ्गसंग्रह) अभिधान[1] है।

संबन्ध आदि का वर्णन कर अब वाग्भटाचार्य आयुर्वेद का गौरव बढ़ानेवाली आगमशुद्धि का उल्लेख करते हैं। इससे गुरुपरंपरा का भी भली भांति ज्ञान होता है।

आयुर्वेदामृतं सार्वं[2] ब्रह्मा बुध्वा सनातनम्।
ददौ दक्षाय सोऽश्विभ्यां तौ शतक्रतवे ततः॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां विघ्नकारिभिरामयैः।
नरेषु पीड्यमानेषु पुरस्कृत्य पुनर्वसुम्॥
धन्वन्तरिभरद्वाजनिमिकाश्यपकश्यपाः।
महर्षयो[3] महात्मानस्तथा[4] लम्बायनादयः॥
शतक्रतुमुपाजग्मुः शरण्यममरेश्वरम्।
तान् दृष्ट्वैव सहस्राक्षो निजगाद यथागमम्॥
आयुषः पालनं[5] वेदमुपवेदमथर्वणः।
काय-बाल-ग्रहोर्ध्वाङ्ग-शल्य-दंष्ट्रा-जरा-वृषैः॥
गतमष्टाङ्गतां पुण्यं बुबुधे यं पितामहः।
गृहीत्वा ते तमाम्नायं प्रकाश्य च परस्परम्॥
आययुर्मानुषं लोकं मुदिताः परमर्षयः।
स्थित्यर्थमायुर्वेदस्य तेऽथ तन्त्राणि चक्रिरे॥
कृत्वाऽग्निवेशहारीतभेल[6]माण्डव्यसुश्रुतान्।
करालादींश्च तच्छिष्यान् ग्राहयामासुरादृताः॥
स्वं स्वं तन्त्रं ततस्तेऽपि चक्रुस्तानि कृतानि च।
गुरून् संश्रावयामासुः सर्षिसंघान् सुमेधसः॥
तैः प्रशस्तानि तान्येषां प्रतिष्ठां भुवि लेभिरे।

आयुर्वेदपरंपरा और आगमशुद्धि—अमृत की तरह सब रोगों के नाश करनेवाले, सर्वहितकारी, अविनाशी, आयुर्वेदामृत[7] का स्मरण कर ब्रह्माजी ने दक्ष प्रजापति को, दक्ष प्रजापति ने देवताओं

---

दृष्टोऽयमथशब्दः। यथा—"अथ शब्दानुशासनम्, अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः।" इत्यादि चक्रदत्तः।

१. अत इति नमस्कारादानन्तर्यं। आयुष्कामेभ्यो हित आयुष्कामीयः। आयुष्कामशब्दोऽत्रास्त्यध्याय इति वा आयुष्कामीयः अध्याय इति विशिष्टं प्रकरणं नाम। इतीन्दुः।

२. इति ह स्माहुरित्यादिना न स्वमनीषाकारितेति द्योतयति। आत्रेयादयो महर्षयः। आदिशब्देन भरद्वाजादीनां परिग्रहः। महान्तश्च ते ऋषयश्च महर्षयः। महत्त्वं तु ज्ञानायतिशययोगात्पूज्यतेति इन्दुः।

३. सुखं द्विविधम्। तादात्विकमात्यन्तिकं च। तादात्विकं कियत्कालान्तरास्थायित्वात्सुखावभासं न परमार्थतः सुखम्। तथा चोक्तम्—'तादात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते।" इति तदेतत्संज्ञामात्रेण सुखं न त्वत्यन्तमिति प्रदर्शयितुं सुखसंज्ञेष्विति मुनिनोक्तम्। आत्यन्तिकं सुखं मोक्षाख्यं यत्र न दुःखानां श्लेषः। तेषां साधनमुपायो धर्मार्थसुखसाधनम्। इत्यरुणदत्तः।

४. आयुःकामयमानेन यथोचितं जीवितं नीरोगमिच्छता। आयुर्वेदोपदेशेषु यैरुपायैरायुर्वेद उपदिश्यते तेषु इतीन्दुः।

५. आयुर्वेदयति ज्ञापयति प्रकृतिज्ञानरसायनदूतारिष्टाद्युपदेशादित्यायुर्वेदः। तस्योपदेशा आयुर्वेदोपदेशाः। उपदिश्यन्त आयुर्वेदार्था उपपत्तिभिरित्युपदेशा आयुर्वेदतन्त्राणि। तेषु परमादरः पाठावबोधानुष्ठानरूप उत्कृष्टो यत्नः कार्यः। आयुर्वेदोपदेशेष्विति बहुवचननिर्देशादयमर्थो बोध्यते। बहुष्वायुर्वेदतन्त्रेषु यत्नः कार्योऽनेकायुर्वेदावलोकनाच्चिकित्सायां वैद्यस्य न मनागपि सन्देहो जायत इत्यरुणदत्तः।

१. अनेन संबन्धादीन्यप्युक्तानि भवन्ति। अत्रोपायोपेयभावलक्षणः संबन्धः अस्य तन्त्रस्यायुर्वेदोपदेशत्वादुपायत्वम्। तत्साध्यत्वादायुष उपेयत्वम्। अभिधेयमायुर्वेदः। प्रयोजनमायुरितीन्दुः।

२. सार्थं। ३. महर्षयो। ४. तथालम्बायनादयः। ५. पालकं।

६. भेड़ ७. ब्रह्मा पद्मयोनिरायुर्वेदामृतं बुध्वा दक्षाय ददौ। यथामृतेन सकलरोगपरिक्षयस्तथैव आयुर्वेदेनेत्यतः सादृश्यम्। सर्वेभ्यो हितं सार्वम्। सनातनमविनाशि।

के वैद्य अश्विनीकुमारों को और अश्विनीकुमारों ने इन्द्र को दिया। तदनन्तर अर्थात् इन्द्र के आयुर्वेदज्ञान से परिपूर्ण होजाने पर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन में विघ्न करनेवाले रोगों से लोगों के पीडायमान होने पर, सबके[२] रोगों का शमन हो इस हेतु से महाऋद्धिवाले महात्मा धन्वन्तरि, भरद्वाज, निमि, काश्यप, कश्यप, आलम्बायन (लम्बायन) प्रभृति महर्षि आत्रेय को आगे कर, जिसकी शरण[३] में जाना उचित है उस देवाधिराज इन्द्र के पास गये। इन सब धन्वन्तरि आदि महर्षियों को देखते ही, जिससे जीवन की रक्षा होती है, जो अथर्ववेद का उपवेद है, जो कायचिकित्सा[४]-बालचिकित्सा-ग्रहचिकित्सा-ऊर्ध्वाङ्गचिकित्सा-शालाक्यचिकित्सा-शल्यचिकित्सा-सर्पादिदंशचिकित्सा-जराचिकित्सा-वाजीकरणचिकित्सा इन आठ अङ्गोंवाला है और जिसको ब्रह्माजी ने जाना है ऐसे पवित्र आयुर्वेद को यथागम अर्थात् यथाशास्त्र इन्द्र ने कहा। वे धन्वन्तरि आदि महर्षि उस इन्द्र के कहे हुए आयुर्वेद शास्त्र को ग्रहण करके मैंने यह जाना मैंने यह सीखा, इस प्रकार परस्पर बतलाते हुए, कार्य-संपन्न होने से हर्षित होते हुए मनुष्य लोक में आए और उन्होंने आयुर्वेद की स्थिति के लिए अर्थात् जगत् से आयुर्वेद का लोप न हो इसलिए आयुर्वेद-शास्त्रों की रचना[६] की। आदर को प्राप्त हुए उन महर्षियों ने केवल ग्रन्थरचना ही नहीं की किन्तु अपने रचित शास्त्र उन्होंने अग्निवेश, हारीत, भेल, माण्डव्य, और सुश्रुत नामक शिष्यों को ही नहीं, अपितु कराल आदि को भी पढ़ाये। श्री धन्वन्तरि आदि से पढ़ कर उन बुद्धिमान् अग्निवेश आदि ने भी अपने अपने तन्त्रों की रचना की। रचे हुए अपने तन्त्र उन्होंने ऋषि-समूह में बैठे हुए निज गुरुओं को सुनाए और उन गुरुओं द्वारा प्रशंसित उनके रचित शास्त्र मनुष्यलोक में प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए।

---

१. ततोऽनन्तरमायुर्वेदज्ञानपरिपूर्णे शतक्रतौ।

२. सकलजनरोगोपशमहेतोर्महर्षयः शतक्रतुमुपाजग्मुः ३. यत एव शरण्यस्ततः ४. कायचिकित्सा कायशब्देनोच्यते। एवं बालादिष्वपि योज्यम्। बालस्य विशेषवक्तव्यत्वात् पृथक्करणम्। एवमन्येष्वपि। वृषं वाजीकरणम् इत्यादीन्दुः। ५. शल्यं, शालाक्यं, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्यम्, अगदतन्त्रम्, रसायनतन्त्रं वाजीकरणं चेति। तत्र शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपांशुलोहलोष्ठास्थिबालनखपूयास्रावदुष्टव्रणान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थं यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रणविनिश्चयार्थं च शालाक्यं नाम ऊर्ध्वजत्रुगतानां रोगाणां श्रवणनयनवदनघ्राणादिसंश्रितानां व्याधीनामुपशमार्थं शलाकायन्त्रप्रणिधानार्थं च। कायचिकित्सा नाम सर्वाङ्गसंश्रितानां व्याधीनां ज्वररक्तपित्तशोषोन्मादापस्मारकुष्ठमेहातिसारादीनामुपशमार्थम्। भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमार्थम्। कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामुपशमनार्थम्। अगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूतादष्टविषव्यञ्जनार्थं विविधविषसंयोगोपशमनार्थं च। रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थं च। वाजीकरणं नाम अल्पदुष्टक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपचयजननिमित्तं प्रहर्षजननार्थं च। एवमयमायुर्वेदोऽष्टाङ्ग उपदिश्यत इति सुश्रुतः।

६. मयैवमज्ञायि मयैवमज्ञायीतिपरस्परं प्रकाश्य। आयुर्वेदस्य स्थित्यर्थमायुर्वेदो मान्तर्धादितीन्दुः।

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता शल्यतन्त्र है, इसी लिए उस में आयुर्वेद के आठ अङ्गों की गणना शल्य अङ्ग को प्रधान मानकर की गई है। वाग्भट का यह तन्त्र कायचिकित्सा-प्रधान होने से इसमें आठ अङ्गों की गणना कायचिकित्सा-पूर्वक की गई है। तथापि इन आठ अङ्गों की रचना जिस लिए की गई है, उसमें दोनों का मतभेद नहीं है। वाग्भट के क्रमानुसार उक्त आठ अङ्गों का सुश्रुतोक्त संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।—

(१) कायचिकित्सा उस अङ्ग का नाम है जिसमें सारे शरीर में रहनेवाले ज्वर, रक्तपित्त, शोष (क्षय), उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह, अतीसारादि व्याधियों की चिकित्सा का वर्णन किया गया हो।

(२) बाल (कौमारभृत्य) नामक वह अङ्ग है जिसमें बालक के भरण-पोषण, धात्री (दूध पिलानेवाली धाय या माता) के दुष्ट दूध का संशोधन, दुष्ट स्तन्य एवं रेवती-पूतनादि ग्रहों से उत्पन्न होनेवाले रोगों के शमनार्थ वर्णन हो।

(३) ग्रह अर्थात् भूतविद्या नामक अङ्ग वह है जिसमें देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृ, पिशाच, नाग, ग्रह आदि से होनेवाली मानसिक व्याधियों के शमनार्थ शान्तिकर्म, बलिहरण आदि विधान का वर्णन हो।

(४) ऊर्ध्वाङ्ग (शालाक्य) नामक वह अङ्ग है जिसमें ऊर्ध्वजत्रुगत कान, नेत्र, मुख, नाक आदि में होनेवाली व्याधियों के शमनार्थ शलाका यन्त्रादि के प्रयोगों का विधान हो।

(५) शल्य अङ्ग उसका नाम है जिसमें नाना प्रकार के तृण, काष्ठ, पाषाण, मृत्तकारज, लोह, मिट्टी का ढेला, अस्थि, बाल, नख, पीप का बहना, दुष्ट व्रणादि, अन्दर के तथा गर्भ रूप शल्य को निकालने के लिए यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्निकर्म आदि का तथैव व्रण के निश्चय करने का विधान हो।

(६) दंष्ट्रा (अगदतन्त्र) उस अङ्ग का नाम है जिसमें सर्प, कीट, लूता आदि के काटने या दंश करने पर विष की परीक्षा, अनेक प्रकार के विषों के संयोग की परीक्षा और चिकित्सा का वर्णन किया गया हो।

(७) जरा (रसायन) अङ्ग उसे कहते हैं जिसमें, वयःस्थापना (आयु का स्थिर करना) आयु, मेधा, बल को बढ़ानेवाले नाना रोगों को हरनेवाले रसायन-प्रयोगों का वर्णन किया गया हो।

(८) वृष अर्थात् वाजीकरण अङ्ग वह है जिसमें अल्पवीर्य, दुष्ट वीर्य, क्षीण वीर्य और शुष्क वीर्य के रोगियों के लाभार्थ वीर्य की प्राप्ति, शुद्धि, वृद्धि, उसके द्वारा गर्भधारणशक्ति तथा स्त्रीसंभोगानन्द का वर्णन किया गया हो।

## गुरु-परम्परा के विषय में कुछ वक्तव्य।

वाग्भटाचार्य की बताई हुई गुरुपरम्परा ब्रह्मा जी से लेकर इन्द्र तक तो ठीक मिलती है क्योंकि चरक-सुश्रुत में भी यही क्रम बतलाया है परन्तु इन्द्र से आगे कुछ गड़बड़सी दिखाई देती है। यहां वाग्भटाचार्य ने पुनर्वसु (आत्रेय) को लेकर महर्षियों का इन्द्र के पास जाना लिखा है परन्तु चरक के आदि में सब से पहले इन्द्र के पास भरद्वाज का जाना स्पष्ट है।

इतना ही नहीं, आत्रेय को भरद्वाज का शिष्य बताया है परन्तु अष्टाङ्गसंग्रह को देखने से इन्द्र के शिष्य आत्रेय सिद्ध होते हैं। चरक सूत्र-स्थान के प्रथमाध्याय की टीका में चक्रदत्त ने भी इस प्रश्न को उठाया है और वाग्भट की प्रामाणिकता के लिए चिकित्सा—समुत्थानीय पाद के लेख का प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि प्रथम भरद्वाज ही इन्द्र के पास गए थे। उन्होंने आत्रेयादि को पढ़ाया था किन्तु भरद्वाज के बतलाने पर भी आत्रेय आदि को स्पष्ट बोध नहीं हुआ अतः पुनः महर्षियों को पुनर्वसु को साथ ले इन्द्र के पास जाना पड़ा। इससे सिद्ध हुआ कि भारद्वाज इन्द्र के शिष्य थे और पुनर्वसु (आत्रेय) भारद्वाज और इन्द्र इन दोनों के शिष्य थे[1]।

आगमशुद्धि तथा गुरुपरम्परा कथन के अनन्तर अब ग्रन्थकार इस 'अष्टाङ्ग-संग्रह' नामक ग्रन्थ के बनाने के कारण का वर्णन करते हैं। सारांश यह कि आयुर्वेदीय अन्य ग्रन्थों के रहते हुए 'अष्टाङ्ग-संग्रह' के रचने की आवश्यकता क्यों हुई? इसी के स्पष्टीकरणार्थ आचार्य कहते हैं कि—

तेषामेकैकमप्यापि समस्तव्याधिसाधने।
प्रतितन्त्राभियोगे तु पुरुषायुषसंक्षयः॥
भवत्यध्ययनेनैव यस्मात्प्रोक्तः पुनः पुनः।
तन्त्रकारैः स एवार्थः क्वचित्कश्चिद्विशेषतः॥
तेऽर्थप्रत्यायनपरा वचने यच्च नादृताः।

अन्य तन्त्रों की अव्यापकता—पहले जिनका वर्णन कर आये हैं, तेषां = उन अग्निवेशादि ऋषियों के रचित एक एक तन्त्र (शास्त्र) को देखा जाय तो वह समस्त-व्याधिसाधने = सम्पूर्ण रोगों की चिकित्सा करने में अव्यापि = असम्पूर्ण या अपर्याप्त है। इस लिए कि किसी रोग की चिकित्सा सुश्रुत में है तो चरक में नहीं है। इसी प्रकार चरक में कही हुई किसी रोग की चिकित्सा सुश्रुत में नहीं है। ऐसी अवस्था में सभी शास्त्रों के पढ़ने की आवश्यकता होती है परन्तु प्रतितन्त्राभियोगे तु = प्रत्येक शास्त्र के पढ़ने की झंझट में पड़ने से तो पुरुषायुषसंक्षयः—मनुष्य के आयु की समाप्ति भवत्यध्ययनेनैव—अध्ययन करते करते ही हो जाती है यस्मात्स एवार्थस्तन्त्रकारैः पुनः पुनः प्रोक्तः = क्योंकि किसी एक विषय को शास्त्रकारों ने बारंबार कहा है अर्थात् जो बात एक ने कही है वही दूसरे ने कही है। क्वचित्कश्चिद्विशेषतः = किसी ने थोड़े में कही है तो किसी ने उस बात को विशेषरूप से कहा है। उनके इस प्रकार अविचारपूर्वक कहीं थोड़े में तो कहीं विशेषरूपेण कहने से आयुर्वेद का ज्ञान दुर्लभ सा हो गया। यच्च = इस लिए तेऽर्थप्रत्यायनपरा वचने अनादृताः = वे भिन्न भिन्न मुनियों के रचे शास्त्र प्रवचन एवं विवेचन में आदर के योग्य नहीं हैं क्योंकि कहां अल्प कहना और कहां अधिक कहना इस बात की उन्होंने अपेक्षा तक नहीं की। इस लिए उनसे आयुर्वेद के प्रत्येक विषय का सम्यक् बोध नहीं हो सकता।

अन्य तन्त्रों से अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता इस कारण को बताकर अब ग्रन्थकार अपने रचे हुए इस "अष्टाङ्ग-संग्रह" तन्त्र का वैशिष्ट्य बताते हैं—

सर्वतन्त्राण्यतः प्रायः संहृत्याष्टाङ्गसंग्रहः।
अस्थान-विस्तराक्षेप-पुनरुक्तादिवर्जितः॥
हेतुलिङ्गौषधस्कन्धत्रयमात्र – निबन्धनः।
विनिगूढार्थतत्त्वानां प्रदेशानां प्रकाशकः॥
स्वान्यतन्त्रविरोधानां भूयिष्ठ विनिवर्तकः।
युगानुरूपसन्दर्भो विभागेन करिष्यते॥

अष्टाङ्गसंग्रह की विशेषता—इस लिए अर्थात् उपर्युक्त कारणों से प्रायः सभी शास्त्रों को लेकर प्रयोजन के बिना विस्तर-संक्षेप-पुनरुक्ति आदि से वर्जित, केवल निदान, लक्षण और चिकित्सा इन स्कन्धों के लिए रचा हुआ, विशेष गूढ अर्थ के तत्त्ववाले विषयों को प्रकट करनेवाला, स्व और अन्य तन्त्रों में दिखाई देनेवाले विरोधों को भली भांति मिटानेवाला, युगानुरूप अर्थात् इस वर्तमान युग के योग्य ऐसे इस 'अष्टाङ्ग-संग्रह' नामक सन्दर्भ की सुन्दर प्रकरणों द्वारा रचना की जाती है।

वक्तव्य—यहां अष्टाङ्ग-संग्रह का प्रथम विशेषण "अस्थानविस्तराक्षेपपुनरुक्तादिवर्जितः" होने पर भी इस ग्रन्थ में जहां आवश्यकता होगी वहां विस्तार, संक्षेप और पुनरुक्ति भी अवश्य दिखाई देगी जैसे कि स्वस्थ और रोगी के हित के लिए ऋतुस्वरूपवर्णनाध्याय तथा दोषोपक्रमणाध्याय में विस्तारपूर्वक कहना पड़ा है। इसी प्रकार गर्भावक्रान्ति, अङ्ग-विभाग आदि में संक्षेप और अतियोगादि प्रकरण में पुनरुक्ति भी दिखाई देगी। कुछ लोग अस्थान, विस्तर, आक्षेप और पुनरुक्तवर्जित का अर्थ भिन्न प्रकार से करते हैं। उनके मत में अन्य स्थानमें न कहकर जिसका वर्णन जहां करना चाहिए, वहीं करना अस्थानवर्जित है। न अति विस्तर और न अति संक्षेप करना ही विस्तराक्षेपवर्जित है। एक बार कही हुई बात को पुनः न कहना ही पुनरुक्तिवर्जित है।

द्वितीय विशेषण "हेतुलिङ्गौषधस्कन्धत्रयमात्रनिबन्धनः" है। हेतु अर्थात् रोगों के उत्पन्न करनेवाले मिथ्या आहार-विहारादि सभी कारण, लिङ्ग अर्थात् उत्पन्न होनेवाले ज्वरादि रोगों के प्रारम्भ में चरकोक्त आलस्य, अश्रुपूर्णनेत्र, जम्भाई, जड़ता, बेकली आदि होनेवाले सभी लक्षण, औषध अर्थात् रोगों की चिकित्सा के लिए हितकारी आहार, चूर्ण, लेह, क्वाथ, घृत, तैल

---

१. वाग्भटेन तु यदुक्तं "ब्रह्मा स्मृत्वायुषो वेदं प्रजापतिमजिग्रहत्। सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान्मुनीन्॥" इत्यनेनात्रेयस्येन्द्रशिष्यत्वं, तदायुर्वेदसमुत्थानीयरसायनपादे आदिशब्देन वक्ष्यमाणेन्द्रशिष्यतायोगात्समर्थनीयम् (इति चरक सू. अ. १)। यद्यपि ऋषयो भरद्वाजद्वारा इन्द्रादधिगतायुर्वेदाः, तथापि ग्राम्यवासकृतमनोग्लान्या न तथा स्फुटार्थो वर्तत इति शङ्कया पुनरिन्द्रस्तानुपदिशति। इति च. चि. अ. १ पाद ४ श्लो० ४५ व्याख्याने चक्रदत्तः।

१. किं भूतोऽष्टाङ्गसंग्रहः, अस्थानविस्तरादिवर्जितः। उचिते पुनः स्थाने विस्तरादीनि विधीयन्त एव। तथाहि—ऋतुस्वरूपवर्णने दोषोपक्रमणे च स्वस्थातुरहितत्वाद्विस्तरोऽप्युपयुज्यत एव। तथा गर्भावक्रान्त्यङ्गविभागादिष्वाक्षेपोऽपि दृश्यते। तथातियोगादिप्रकरणे पुनरुक्तमपीति। अन्ये पुनराहुः। अन्यत्र वक्तव्यमन्वस्त्वन्यत्रोच्यत इत्यस्थानं तद्वर्जितः। तथा, विस्तराक्षेपाभ्यां वर्जितः नातिविस्तरो नातिसंक्षेप इत्यर्थः। सकृज्ज्ञापितस्य वस्तुनः पुनर्वचनं पुनरुक्तस्तद्वर्जितः। इतीन्दुः।

आदि, इन हेतु-लिङ्ग-औषधरूप तीन स्कन्धों के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना हुई है। यहाँ मात्र शब्द अल्पार्थ में भी लिया गया है। अन्य शास्त्रों में बहुवक्तव्यता है किन्तु इस अष्टाङ्गसंग्रह में केवल तात्पर्य वस्तु का ही ग्रहण किया गया है। संप्राप्ति का अन्तर्भाव यहां हेतुस्कन्धमें और उपशय का लिङ्ग तथा औषध इन दोनों स्कन्धों में अन्तर्भाव किया गया है। इसी प्रकार अन्य सभी शेष विषयों का अन्तर्भाव हेतु, लिङ्ग और औषध इन तीनों स्कन्धों में समझना चाहिए।

तृतीय विशेषण 'विनिगूढार्थतत्त्वानां प्रदेशानां प्रकाशकः' है। इसका अर्थ अन्य तन्त्रों में नितान्त गूढ तत्त्ववाले कई विषयोंका स्पष्टीकरण करनेवाला है जैसे कि चरक के कहे हुए षष्ठिक (साठी चावल) के गुणों में "स्निग्धो गुरुश्च" इस पदसे बोध होता है कि साठी चावल स्निग्ध और गुरु है परन्तु चरक के ही कहे हुए "शालिषष्ठिकादीनि प्रकृतिलघून्यपि मात्रापेक्षीणि भवन्ति" इस वचन से विरोध दिखाई देता है। यहां चरक षष्ठिक को लघु (हल्का) बतला रहे हैं। अकेले चरक ही नहीं सुश्रुत, कृष्णात्रेय, खरनाद और पराशर भी षष्ठिक को लघु मानते हैं; ऐसी अवस्था में चरक षष्ठिक को गुरु कैसे कह सकते हैं? वाग्भट ने "स्निग्धो गुरुश्च" इस वाक्य में अकार गुप्त है कहकर इस विषय को स्पष्ट कर दिया है अर्थात् शुद्ध वाक्य "स्निग्धोऽगुरुश्च" है और इसका अर्थ "षष्ठिक स्निग्ध और लघु है" यही होता है।

चतुर्थ विशेषण—"स्वान्यतन्त्रविरोधानां भूयिष्ठं विनिवर्तकः" अर्थात् स्वतन्त्र तथा परतन्त्रगत विरोधों को भली भांति दूर करनेवाला। एक ही तन्त्र (ग्रन्थ) में एक जगह वर्णित विषय से दूसरी जगह वर्णित विषय का विरुद्ध प्रतीत होना स्वतन्त्र विरोध कहलाता है जैसे कि चरक में "स्नेह की अवचारणा" एक जगह २४ प्रकार की बताकर पुनः दूसरी जगह ६४ प्रकार की बताई गई है। इन दोनों का एकीकरण करते हुए वाग्भट ने "युक्त्यावचारयेत्स्नेहम्" अर्थात् स्नेह की अवचारणा जहां जैसी आवश्यकता हो वैसी युक्ति से करनी चाहिए इस प्रकार कहकर विरोध को दूर कर दिया है। यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ६४ प्रकार की स्नेहावचारणा केवल सन्देहनिवृत्त्यर्थ कही गई है जिससे कि किसी प्रकार का सन्देह न रहने पावे। परतन्त्रविरोधी वह है जो एक तन्त्रकारकी कही हुई बात को दूसरा तन्त्रकार अन्यथा कहता है जैसे कि चरक हिमालय से निकलनेवाली नदियों को पथ्या बताते हैं और उन ही को कृष्णात्रेय एवं सुश्रुत गलगण्डादि रोगों की करनेवाली अपथ्या कहते हैं किन्तु वाग्भट ने यह कहकर विरोध को दूर कर दिया है कि "हिमालय से निकलनेवाली नदियां वे ही पथ्या हैं जिनका जल पत्थरों से टकराने के कारण ऊंचे नीचे भाग की ओर उछलने-गिरने-छिन्नभिन्न होने से खेदित होता है।" सारांश, इससे विपरीत नदियाँ गलगण्ड करनेवाली हैं। इसप्रकार दोनों के कथन को प्रमाणित कर दिया है।

पञ्चम सार्थक विशेषण—"युगानुरूपसन्दर्भः" है अर्थात् जो इस कलियुग में पाठ करने, समझने और धारण करने के योग्य सुगम सम्भार (पद्य, पद, पदार्थ) वाला है। इस प्रकार का 'अष्टाङ्गसंग्रह' ग्रन्थ हम विषयानुसार अलग अलग सुन्दर प्रकरणों द्वारा बना रहे हैं।

अब ग्रन्थकार कहते हैं कि उपर्युक्त समस्त विषयों का संनिवेश करके भी हमने इस ग्रन्थ में विशेषतः कायचिकित्सा का ही संग्रह किया है—

**नित्योपयोगि दुर्बोधं सर्वाङ्गव्यापि भावतः।**
**संगृहीतं विशेषेण यत्र कायचिकित्सितम्॥**

कायचिकित्सा का प्राधान्य—शरीरधारी जिसका नित्य उपयोग करते हैं, जिसका बोध बड़े परिश्रम से होता है और जो (कायचिकित्सा) शल्य, शालाक्य, बालतन्त्र आदि आयुर्वेद के आठों ही अङ्गों में व्याप्त है और इन अङ्गों का वर्णन केवल कायचिकित्सा के लिए है, अतः हमने इस अष्टाङ्गसंग्रह ग्रन्थ में कायचिकित्सा का संग्रह विशेष रूप से किया[4] है।

---

१. हेत्वादिस्कन्धत्रयमात्रनिबन्धनः। हेतू रोगोद्भवकारणं स्कन्धः समूहः हेतुस्कन्धो मिथ्याहारविहारादिः। लिङ्गं भविष्यतस्सतश्च व्याधेश्चिह्नभूतं यथा ज्वरस्यालस्यादिः। औषधस्कन्धो रोगचिकित्सार्थं हिताशनचूर्णलेहकाथादिः। एतन्मात्रमत्र निबध्यत इत्यर्थः। मात्रशब्दः स्तोकपर्यायः। अन्यतन्त्रेषु यथा बहुवक्तव्यता न तथात्र किन्तु केवलं तात्पर्यवस्तुग्रहणमिति मात्रशब्दप्रयोगः। संप्राप्तेर्हेतुस्कन्ध एवान्तर्भावः। उपशयः पुनर्लिङ्गस्कन्धे वा औषधस्कन्धे वानुप्रविशति। एवमन्यदप्यस्मिन्नेव स्कन्धत्रयेऽन्तर्भाव्यम्। इतीन्दुः।

२. अन्यतन्त्रेषु विनिगूढार्थतत्त्वा ये प्रदेशास्तेषां प्रकाशकः। तथा चरकमुनिना षष्ठिकस्य गुणेषु "स्निग्धो गुरुश्चेति' सन्धानके अकारप्रयोगः कृत इति वाग्भटेन दर्शयता लघुशब्दप्रयोगः कृतः। सुश्रुतोऽप्याह—'षष्ठिकः प्रवरस्तेषां कषायमधुरो लघुरिति'। कृष्णात्रेयोऽपि 'षष्ठिकः सुकर' इत्यादि पठित्वा 'लघवः कटुपाकाश्च' इत्याह। खरनादोऽप्याह—'दोषघ्नः षष्ठिको लघु:' इति। पराशरोऽपि 'रक्तो महान् शकुनाहृतः षष्ठिकः' इत्यादि पठित्वा 'लघवः सांग्रहिकाः' इत्याह। चरकेऽपि पठ्यते शालिषष्ठिकादीनि लघून्यपीत्यादि। इतीन्दुः।

१. स्वतन्त्रविरोधो य एकस्मिन्नेव तन्त्रेऽन्यस्थानस्थितो ग्रन्थोऽन्यस्थानस्थितेन विरुध्यते।

यथा चरके—'चतुर्विंशतिरित्येताः स्नेहस्य प्रविचारणा' इत्युक्त्वा पुनरप्याह—'एवमेषां चतुःषष्टिः स्नेहानां प्रविचारणा' इति तद्वाग्भट एकीकुर्वन्नाह—"युक्त्यावचारयेत्स्नेहम्' इत्यादि भक्ष्यादिनोपयुज्यमान एव रसभेदेन त्रिषष्टिधा स्नेहो भवति एकश्च इति चतुःषष्टिः।"

एतच्च संमोहनमात्रनिवृत्तये उक्तम्, न तु वस्तुतो विरोधः संभवति, इतीन्दुः।

२. उपलास्फालनाक्षेपविच्छेदैः खेदितोदकाः। हिमवन्मलयोद्भूताः पथ्यास्ता एव इति।

३. युगानुरूपसन्दर्भः, अस्मिन् कलियुगे पाठावबोधधारणयोग्यग्रन्थसंभारः। विभागेन शोभनैरर्थप्रकरणादिविच्छेदैः। इतीन्दुः

४. नित्योपयोगि सततं शरीरिणा उपयुज्यते। भावतस्तत्त्वतः सर्वाङ्गानां व्यापकम्। कायचिकित्साङ्गमेकं वर्जयित्वा द्रव्यरसादमात्राशितान्नस्वरूपादिपरिज्ञानस्नेहाद्युपयोगासंगिकरोगचिकित्सादि—सप्तानामप्यङ्गानां कायचिकित्सितमेव। इतीन्दुः

अब बताते हैं कि यह ग्रन्थ केवल प्राचीन आयुर्वेद-शास्त्रों का निचोड़ मात्र है।

**न मात्रामात्रमप्यत्र किञ्चिदागमवर्जितम्।**
**तेऽर्थाः स ग्रन्थबन्धश्च संक्षेपाय क्रमोऽन्यथा॥**

आगम की प्रामाणिकता—अधिक तो क्या, इस ग्रन्थ में प्राचीन आयुर्वेदशास्त्र के आशय को छोड़कर एक मात्रा भी अधिक नहीं कही गई है। आयुर्वेदोक्त विषयों का वर्णन करना ही इस ग्रन्थ का विषय है। भिन्न क्रम का आश्रय केवल संक्षेपार्थ लिया गया है। इस लिए कि विशेष विस्तार न करके थोड़े ही में किसी विषय को समझा दिया जाय।

यह तन्त्र कायचिकित्सा प्रधान है। काय (शरीर) यह दोष, धातु और मलों का समूह है। दोष, धातु एवं मल, इन तीनों में भी दोष प्रधान है क्योंकि दोषों के द्वारा ही धातु और मल आदि की प्रवृत्ति है। इसी लिए ग्रन्थ के आदि में दोषों का वर्णन करते हैं—

**वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः।**
**प्रत्येकं ते त्रिधा वृद्धिक्षयसाम्यविभेदतः॥**
**उत्कृष्टमध्याल्पतया त्रिधा वृद्धिक्षयावपि।**
**विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च॥**

दोष और उनकी अवस्था—संक्षेप से वात, पित्त और कफ ये तीन दोष हैं परन्तु वृद्धि, क्षय तथा साम्यभेद से इनमें का एक एक दोष तीन तीन प्रकार का होता है जैसे कि वृद्धिभेद से वृद्ध वायु, वृद्ध पित्त और वृद्ध कफ। क्षयभेद से क्षीण वायु, क्षीण पित्त और क्षीण कफ। इसी प्रकार से साम्यभेद से सम वायु, सम पित्त और सम कफ जानना चाहिए। दोषों की तरह दोषों की वृद्धि तथा क्षीणता भी उत्कृष्ट, मध्यम और अल्पभेद से तीन तीन प्रकार की होती है जैसे कि दोषों की उत्कृष्ट वृद्धि, मध्यम वृद्धि तथा अल्प वृद्धि। इसी प्रकार दोषों की क्षीणता को जानना चाहिए। ये वातादि तीनों दोष विकृताः अर्थात् विकार को प्राप्त होने पर—अपनी साम्यावस्था को छोड़ क्षयवृद्धिरूपेण विषमावस्था में आने पर या अपने स्वरूप से विचलित होने पर शरीर (जीवन) का नाश करते हैं और अविकृताः अर्थात् अपनी साम्यावस्था में प्रकृतिस्थ रहते हुए या अपने स्वरूप से विचलित न होते हुए शरीर (आयु) का रक्षण करते हैं[1]।

वक्तव्य—उपर्युक्त श्लोक में 'वायुः पित्तं कफश्चेति' कहने से ही तीन का बोध हो जाता है[2] परन्तु फिर भी 'त्रयो दोषाः' कहने का तात्पर्य यही है कि दोष वस्तुतः तीन ही हैं। हेमाद्रि का कहना है कि 'कफश्च' इस पद के चकार से आचार्य चौथे दोष रक्त की भी सूचना दे रहे[3] हैं परन्तु हेमाद्रि के इस तर्क को अरुणदत्त निस्सार मानते हुए कहते हैं कि यद्यपि अन्य तन्त्रकार रक्त को चतुर्थ दोष मानते हुए कहते हैं[1] कि वातादि दोषों की तरह रक्त के भी स्थान, लक्षण, कार्य, विकार, चिकित्सादि का उपदेश है जैसे कि सर्वशरीरव्यापि होने पर भी रक्त के प्लीह और यकृत् स्थान हैं। पद्म, इन्द्रगोप, हेमादि लक्षण हैं। देह की उत्पत्ति और स्थिति रक्त का कार्य है। विसर्प, प्लीहादि उसके विकार हैं। सिराव्यध आदि कर्म उसकी चिकित्सा है तथापि रक्त को चतुर्थ दोष मानना निस्सार है। रक्त दूष्य है, वह कैसे वातादि की तरह दोष हो सकता है? प्रधानता तथा नामों की सार्थकता से दोषत्व वातादि का ही सिद्ध होता है। वातादि की दोष संज्ञा इसी लिए प्रवृत्त हुई है कि ये रस-रक्तादि धातुओं को दूषित करते हैं। रस, रक्तादि परतन्त्र होने से अप्रधान हैं—वातादि द्वारा दूषित होने से दूष्य हैं। इससे सिद्ध हुआ कि दोष वात, पित्त और कफ ही हैं, रक्त नहीं।

'विकृता विकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च' इस पद्यार्ध में विकृत दोषों का निर्देश प्रथम इसलिए किया गया है कि इन दोषों को वैद्य कदापि बिगड़ने न दे क्योंकि इनके बिगड़ने पर महान् विघ्न होने का कारण रहता है[2]।

क्या ये वातादि तीनों दोष सर्वशरीरव्यापी हैं या इनके शरीर में कोई स्थान नियत हैं? इसके स्पष्टीकरणार्थ आचार्य कहते हैं कि—

**ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः।**

सर्व शरीरव्यापी होते हुए भी दोषों के विशेष स्थान—वे वात, पित्त और कफ संज्ञक तीनों दोष सर्वशरीरव्यापी होते हुए भी क्रमशः हृदय और नाभि के नीचे, मध्य में तथा ऊपर रहते हैं। सारांश, नाभि के नीचे वायुका, हृदय और नाभि के बीच में पित्तका तथा हृदय के ऊपर कफ का स्थान है[3]।

सर्वशरीरव्यापी होते हुए भी जैसे इन वातादि तीनों दोषों के स्थान नियत हैं, ठीक इसी प्रकार सर्वकालव्यापी होते हुए भी इनके मुख्य काल नियत हैं। इसी बात को अब ग्रन्थकार कहते हैं कि—

**वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्।**

---

१. विकृताः स्वरूपाच्चलिताः शरीरं घ्नन्ति नाशयन्ति। अविकृताः स्वरूपादचलिताः शरीरं वर्तयन्तीतीन्दुः। देहपदमत्र जीवितोपलक्षणार्थम्। जीवितेन विना कुर्वन्तीत्यरुणः।

२. उद्देशादेवाधिगते त्रित्वे पुनस्त्रिग्रहणं नियमार्थम्। त्रय एव दोषा न चतुर्थोऽस्तीतीन्दुः।

३. वायुः पित्तं कफश्चेति—चकाराद्रक्तमपि दोषान्तरं सूचयतीति।

---

१. तन्त्रान्तरीया हि चतुर्थं दोषमाहुस्ते। तेषां त्वयमभिप्रायः। यथा दोषाणां स्थानलक्षणकार्यविकारचिकित्सोपदेशस्तथा रक्तस्यापि। तत्र स्थानं सर्वदेहव्यापित्वेऽपि प्लीहयकृती। लक्षणं च पद्मेन्द्रगोपहेमादि। कार्यं देहस्योत्पत्तिस्थिती। विकारो विसर्पप्लीहादिः। चिकित्सा सिराव्यधादिकर्मेति। तदेतदसारम्। वातादयो ह्यस्य दूष्यस्य सतः कथं दोषत्वं कर्तुं पारयन्ति। यतः प्राधान्यादन्वर्थनामत्वाच्च वातादीनामेव दोषत्वं न रसादीनाम्। वातादयो हि स्वातन्त्र्यात्प्रधानाः। दूषयन्तीति दोषा इति तेषामेव चानुगतार्था संज्ञा प्रवृत्ता। रसादयस्तु पारतन्त्र्यादप्रधानाः। ते च वातादिभिर्दूष्यन्त इति दूष्याः। तस्माद्रक्तस्य दूष्यत्वं न दोषत्वमिति।

२. विकृतानां दोषाणां प्रागुपन्यासस्तेषां प्रकृत्यवस्थाने नित्यं भिषजा यत्नवता भाव्यमिति सूचनार्थम् अन्यथा महान् प्रत्यवायः स्यादित्यरुणः।

३. हृन्नाभ्योरिति। अस्यायमर्थः-नाभेरधो वायोः स्थानम्, हृन्नाभ्योर्मध्ये पित्तस्य, हृदयादूर्ध्वं श्लेष्मणः। इतीन्दुः

दोषों के विशेष काल—सर्वकालव्यापी होते हुए भी वे वात, पित्त और कफ क्रम से आयु, दिन, रात और भोजन इनके अन्त, मध्य और आदि में रहते हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त सरलार्थ का भाव यह है कि मनुष्य के आयु की अन्तिम जरावस्था में वायु कुपित होता है, मध्य (युवावस्था में) पित्त कुपित होता है तथा आदि (बाल्यावस्था) में कफ का कोप होता है। इसी प्रकार अहोरात्र (दिन और रात्रि) के भी अन्त, मध्य और आदि में क्रम से वात-पित्त-कफ का कोप होता है। आहार अर्थात् भोजन के अन्त, मध्य तथा आदि में भी इसी प्रकार क्रम से वातादि तीनों दोषों का कोप होता है। उदाहरणार्थ किए हुए भोजन के अन्त में जठराग्नि के संयोग से रसों की जीर्णावस्था में वायु का, आहार के मध्य की विदाहावस्था में पित्त का एवं आहार की आद्यावस्था में मधुरीभूत कफ का प्रावल्य रहता है।

यद्यपि जठराग्नि के संयोग से आहार की बहुत सी सूक्ष्म अवस्थाएं भी हो सकती हैं तथापि इन तीन अवस्थाओं का ही विशेष उपयोग होने से यहां उनही का निर्देश किया गया है क्योंकि ये अवस्थाएं ही अपनी क्रिया का निदर्शन रती हैं, जैसे कि आदि में षड्रसवाला अन्न होते हुए भी वह कफ द्वारा मधुर तथा फेनीभूत होता है, फिर वही आमाशय में पहुँच कर आगे के मध्यभाग में पित्त के संयोग से अम्लभाव को तथा वहां से पक्वाशय में पहुँच कर अन्त में अग्नि द्वारा शोषित पिण्डीभूत पका हुआ आहार वायु करके कटुभाव को प्राप्त होता है।

अब यह बताते हैं कि इन वात, पित्त और कफ-संज्ञक दोषों के कारण ही प्राणियों (मनुष्यों) की जठराग्नि चार प्रकार की होती है—

**तैर्भवेद्विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्चाग्निः समैः समः।**

जठराग्नि के चार प्रकार—इन वातादि दोषों के कारण ही मनुष्य की अग्नि क्रम से विषम, तीक्ष्ण और मन्द होती है तथा इनकी साम्यावस्था में अग्नि भी सम रहती है।

वक्तव्य—शरीर में इन वातादि में से यदि एक भी कम रहा तो ये शरीर को जन्म देने में असमर्थ रहते हैं। सारांश, इन तीनों के संमिलित रहने पर ही शरीर का जन्म होता है। यहां जो एक-एक का निर्देश किया गया है वह केवल उत्कर्ष-प्रदर्शनार्थ है। सारांश, शरीर में वातादि तीनों दोषों की उपस्थिति सदैव रहा करती है। इनमें से जो प्रबल होता है, जठराग्नि की अवस्था उसी के अनुसार रहती है, जैसे कि वायु की प्रबलता में विषमाग्नि, पित्तकी प्रबलता में तीक्ष्ण और कफकी प्रबलता में मन्दाग्नि होती है। इन तीनों दोषों की साम्यता में अग्नि भी सम रहती है। समाग्नि तभी रहती है जब कि वातादि दोष न्यूनाधिक प्रमाण में नहीं रहते। इन विषमाग्नि आदि के लक्षणों का वर्णन शारीरस्थान में आगे किया जायगा। जहां दो दोषों का प्रावल्य हो वहां, वैद्य को चाहिए कि वह अपनी बुद्धि से कल्पना कर लेवे। यहां तो केवल दिग्दर्शन-मात्र कराया गया है। दो दोषों की प्रबलता जैसे कि वात और पित्त, वात और कफ तथा पित्त और कफ। वहां वायु के योगवाही होने से वात और पित्त तीक्ष्णाग्नि करेंगे, वायु और कफ मिलकर मन्दाग्नि तथा पित्त और कफ मिलकर कभी तीक्ष्ण तो कभी मन्दाग्नि करनेवाले होंगे। प्रकृति तथा विकृति द्वारा भी इसी प्रकार जानना चाहिए।

अब यह बताते हैं कि मनुष्य का चतुर्विध कोष्ठ भी इन वातादि तीन दोषों द्वारा ही होता है—

**कोष्ठः क्रूरो मृदुर्मध्यो मध्यः स्यात्तैः समैरपि।**

चतुर्विध कोष्ठ—पूर्व क्रमानुसार इन वातादि दोषों द्वारा मनुष्य का कोष्ठ (कोठा) क्रूर (कड़ा), मृदु (नरम) और मध्यम होता है। इन दोषों की साम्यावस्था में भी कोष्ठ मध्यम ही रहता है अर्थात् न तो कोठा कड़ा होता है और न नरम। क्रूरादि चारों कोष्ठों के लक्षण आगे कहेंगे। सारांश, प्रकृति के कारण मनुष्य का कोठा वायु की प्रबलता में क्रूर, पित्त की प्रबलता में मृदु, कफ की प्रबलता में मध्य और इन सब की साम्यावस्था में भी मध्य ही रहता है।

मनुष्य की प्रकृतियाँ भी इन तीन दोषों द्वारा बनती हैं। यथा—

**शुक्रार्तवस्थैर्जन्मादौ विषेणेव विषक्रिमेः।**
**तैश्च तिस्रः प्रकृतयो हीनमध्योत्तमाः पृथक्।**
**समधातुः समस्तासु श्रेष्ठा निन्द्या द्विदोषजा॥**

प्रकृतित्रय—जन्मादौ अर्थात् गर्भाधानकाल में पिता और माता के दो दो या तीन तीनबिन्दु परिमित वीर्य और रज में स्थित रहनेवाले वात, पित्त और कफ इन तीन दोषों द्वारा विष से विषक्रिमि के जन्म की तरह शरीरधारी की हीन, मध्यम और उत्तम इस प्रकार तीन प्रकृतियों (शरीर के स्वरूप) का संभव होता है। सारांश, वायु की अधिकता से हीन, पित्त की अधिकता से मध्यम और कफाधिक्य से उत्तम प्रकृति बनती है। केवल एक एक दोष की प्रबलता से बननेवाली तीन प्रकृतियों

---

१. वय इति। अन्तादीनां वातादिभिर्यथासंख्य संबन्धः। वयसः पुरुषायुषः अन्तः पश्चिमो भागो वायोः कोपकालः। मध्यभागः पित्तस्य। पूर्वभागः श्लेष्मणः। अहोऽप्येवं रात्रेश्च। भुक्तं निगीर्ण आहारः। तस्यान्तो जीर्णप्रायावस्था वायोः कोपकालः। मध्यं विदाहावस्था पित्तस्य। पूर्वावस्था भुक्तमात्र एवान्ने श्लेष्मण इतीन्दुः।

२. यद्यपि चाहारस्य जठराग्निसंयोगाद्बह्व्योऽपि सूक्ष्मा अवस्थाः संभाव्यन्ते तथाप्येतासामेव सुतरामुपयोगित्वादिह निर्देशः। तथा एता एव तिस्रोऽवस्थाः स्वकर्म दर्शयन्ति। वक्ष्यति हि "आदौ षड्रसमप्यन्नं मधुरीभूतमीरयेत्। फेनीभूतं कफं यातं विदाहादम्लतां ततः॥ पित्तमामाशयात्कुर्याच्च्यवमानं च्युतं पुनः। अग्निना शोषितं पक्वं पिण्डितं कटु मारुतम्॥ इत्यरुणदत्तः।

१. तैश्च वातादिभिः पुरुषस्याग्निश्चतुर्विधो भवति। न ह्येकेनापि दोषेण हीनाः वातादयः शरीरजनने समर्थाः। अवश्यं च सर्वैरेव भवितव्यम्। यश्चैषामेकव्यपदेशः स उत्कर्षकृतः। वातोत्कर्षेण विषमः, पित्तोत्कर्षेण तीक्ष्णः, कफोत्कर्षेण मन्दः समैर्हान्युत्कर्षवर्जितैः समः। विषमादीनां लक्षणं शारीरे वक्ष्यते। यत्र तु द्वावुत्कृष्टौ तत्र भिषजा स्वबुद्ध्या परिकल्पनीयः। वयं दिशं दर्शयामः। द्वौ दोषौ वातपित्ते वा वातकफौ वा पित्तकफौ वा। तत्र वातस्य योगवाहित्वाद्वातपित्ते तीक्ष्णत्वोत्कर्षः। वातकफे मन्दत्वोत्कर्षः। पित्तकफे त्वाहारविशेषात्कदाचित्तैक्ष्ण्यं कदाचिन्मान्द्यम्। प्रकृत्या विकृत्या चैवमेवेति। इन्दुः।

के लिए ही यहां पृथक शब्द का निर्देश किया गया है। समधातु अर्थात् उक्त तीनो दोषों की साम्यावस्था से बनी हुई प्रकृति सभी प्रकृतियों में श्रेष्ठ होती है। तथा द्विदोषज अर्थात् वातपित्त; वातकफ और पित्तकफ इन दो दो दोषों से बनी हुई प्रकृतियां निन्द्य होती हैं। इस प्रकार प्रकृतियों के भेद ७ होते हैं जैसे कि अलग अलग एक एक दोष से बनी तीन, दो दो दोष मिलकर बनी हुई तीन तथा सब दोषों की साम्यावस्था से एक।

वक्तव्य—यहां यह शङ्का हो सकती है कि बढ़े हुए दोष शुक्रार्तव में रहकर शरीर की उत्पत्ति नहीं कर सकते क्योंकि दोषों के अधिक भाव को ही विकृति कहते हैं इसलिए विकृति या विकार को प्राप्त हुए दोष कदापि प्रकृति के जन्मकारण नहीं हो सकते। इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि "जैसा कारण होता है, उसी के समान कार्य की उत्पत्ति होती है।" जैसे कि "विषेणेव विषक्रिमेः" अर्थात् जीवन के नाश का कारण होते हुए भी विष के द्वारा विष के कीड़े का जन्म प्रकृतिसंभव दिखाई देता है। ठीक इसी प्रकार जन्म के आदि में शुक्रार्तव में रहनेवाले बढ़े हुए दुष्टदोषों द्वारा शरीर की उत्पत्ति[1] होती है।

वातादि दोषों को प्रकृति आदि के कारण बताकर, प्रत्येक वस्तु के साथ दोषों के सादृश्य एवं असादृश्य ज्ञानार्थ अब उन के लक्षणों का वर्णन करते हैं। यथा—

> तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः।
> पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम्॥
> स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः।

वातादि दोषों के लक्षण—उक्त तीनों दोषों में वायु रूखा, हलका, ठण्डा, खरदरा, सूक्ष्म स्रोतोगामी होने से सूक्ष्म और चल है। पित्त कुछ चिकनाई युक्त, बहुत जल्दी कार्य करनेवाला, उष्ण, हलका, दुर्गन्धवाला, व्याप्तिशील अर्थात् शरीर में पसरनेवाला और गीला है। कफ चिकना ठण्डा, भारी, देर से कार्य करनेवाला नरम (मृदु), चमकदार (फिसलनेवाला) और अव्यापनशील (स्थिर रहनेवाला) है।

वक्तव्य—"वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः" इस तत्त्व के अनुसार वातादि दोषों के उक्त लक्षणों या गुणों का वर्णन इसलिए किया गया है कि समान गुणवाले द्रव्यों से इन की वृद्धि होती है और विपरीत गुणवालों से हानि[2]। उक्त

---

१. शुक्रं पितुर्द्वित्रिविन्दुकावस्थं रेतः। ऋतौ भवमार्तवम्। मातुर्द्वित्रिविन्दुकावस्थं शोणितम्। प्रकृतिः शरीरस्वरूपम्। ननु च यदा वातादयोऽधिकाः शुक्रार्तवे तिष्ठन्ति तदा कुतः शरीरस्य निष्पत्तिर्भवतीति। ततश्च यो दोषाणामधिको भावः सैव विकृतिः। तत्कथं दोषा आधिक्यं प्राप्ताः प्रकृतेः कारणत्वमुत्सहन्ते। विकृतत्वान्न हि विकृतिः कदाचित्प्रकृतेः कारणमिति वक्तुं युज्यते। कारणसदृशेन च कार्येण भवितव्यमित्याशंक्य सपरिहारं दृष्टान्तमाह—"विषेणेव विषक्रिमेः" इति। यथा विषेण जीवितनाशहेतुनास्य विषक्रिमेर्जन्म प्रकृतिसंभवो दृश्यते। तथा एतैर्दूषणस्वभावैरपि हि प्रमाणाधिकैर्दोषैः शुक्रार्तवस्थैरेव जन्मादौ शरीरस्य निष्पत्तिर्भवतीति अरुणदत्तः।

२. वृद्धिहानिकारणस्य च दोषाणां वस्तुजातस्य यथास्वं दोषैः सादृश्यमसादृश्यं च ज्ञातं भवति यस्माद्वक्ष्यते—'वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः' इतीन्दुः।

गुणों के अतिरिक्त चरक ने वायु को विशद भी कहा है त्यों चरक और सुश्रुत ने पित्त को अम्ल और कटु भी कहा है। अन्तर इतना ही है कि सुश्रुत विदग्ध पित्त को अम्ल मानते हैं और चरक उसे जल तथा अग्निसंयोग से बनने के कारण अम्ल कहते हैं। वस्तुतः दोनों का अभिप्राय एक ही है। कफ को चरक 'मधुर' लवणरसयुक्त मीठा भी मानते हैं। व्याप्तिशील के सिवा 'सर' का अर्थ ऊंचे नीचे पसरनेवाला—स्थिर न रहनेवाला, शकृद्विस्रंसि अर्थात् मलको[2] ढीला करनेवाला भी बताया जाता है। सब दोषों में प्रबल होने के कारण वायु का निर्देश प्रथम किया गया है।

अब मिले हुए इन दोषों की शास्त्र-व्यवहारार्थ संज्ञाद्वय बताते हुए उनके भेदों का वर्णन करते हैं।

> संसर्गः सन्निपातश्च तद्द्वित्रिक्षयकोपतः।
> तौ षोढा दशधा चोक्तावुत्कर्षादिविकल्पनात्॥

दोषसंसर्ग और सन्निपात—अपने प्रमाण से बढ़े हुए या क्षीण हुए दो दोषों का संयोग संसर्ग कहलाता है और इसी प्रकार बढ़े हुए या क्षीण हुए तीनों दोषों के संयोग का नाम सन्निपात है। उत्कर्षादि अर्थात् बढ़े हुए मध्यम और अल्प[3] इस कल्पना से ये दोनों संसर्ग और सन्निपात क्रम से ६ और १० प्रकार के कहे गए हैं जैसे कि दो दोषों के मिश्रीभूत (१) वृद्ध-अल्प (२) वृद्ध-मध्य (३) मध्य-अल्प (४) वृद्ध-वृद्ध (५) मध्य-मध्य (६) अल्प-अल्प इस प्रकार छः और तीनों दोषों के संयोग अर्थात् सन्निपात के १० संयोग या भेद होते हैं जैसे कि (१) वृद्ध-मध्य-मध्य (२) वृद्ध-अल्प-अल्प (३) मध्य-अल्प-अल्प (४) वृद्ध-मध्य-मध्य (५) वृद्ध-वृद्ध-अल्प (६) मध्य-मध्य-अल्प (७) वृद्ध-वृद्ध-वृद्ध (८) मध्य-मध्य-मध्य (९) अल्प-अल्प-अल्प (१०) वृद्ध-मध्य-अल्प। शरीर दोष, धातु और मलों का समुदाय है। इनमें से दोषों का विवेचन हो चुका है। अब शेष रहे धातुओं और मलों का विवेचन करते हैं। यथा—

> रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः।
> सप्त दूष्या, मला मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपि च॥

सप्त दूष्य धातु और मल—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य ये सात धातु तथा मूत्र, विष्ठा, स्वेद आदि मल भी दूष्य हैं।

वक्तव्य—रस, रक्त, मांस आदि सातों की धातु संज्ञा इस लिए है कि इनसे शरीर की धारणा होती है तथा वातादि दोषों द्वारा ये दूषित होते हैं अतः इनको दूष्य[4] भी कहते हैं।

---

१. अम्लरसता चेह पित्तस्योच्यते। अग्नेजःसमारब्धत्वात्पित्तस्य। सुश्रुते तु कटुत्वमेव पित्तस्योक्तम्। अम्लता च विदग्धस्य पित्तस्योक्ता। यदुक्तं—'विदग्धं चाम्लमेव च' इति। तेजोरूपपित्ताभिप्रायेणैव तन्निरस्तं भवतीति चक्रदत्तः।

२. सरं व्याप्तिशीलं सरणशीलमूर्ध्वाधः प्रवर्तते न स्थिरमास्ते। शकृद्विस्रंसीत्यरुणदत्तः।

३. उत्कर्षादिविकल्पनात्। आदिग्रहणेन मध्यहान्योः परिग्रह इतीन्दुः।

४. रसादयः सप्त धातुसंज्ञाः। शरीरधारणाद्धातवः। ते च दूष्या वातादिभिर्दोषैर्दूषणीया इतीन्दुः।

वातादि दोष इन्हें दूषित करते हैं अतः दोषों को इन रसरक्तादि धातुओं की अवश्य अपेक्षा रहती है क्योंकि कर्म के बिना कर्ता की क्रिया ही असम्भव होती है और न कर्ता के बिना कर्म का कर्मत्व ही सिद्ध होता है। इस प्रकार वातादि दोषों के बिना रसादि धातुओं का दूष्य नाम और रसादि दूष्यों के बिना वातादि का दोष नाम ठीक प्रतीत नहीं होता। अतः दोष और दूष्यों की पारस्परिक अपेक्षा के कारण ही वातादि का दोष और रसादि का दूष्य नाम ठीक प्रतीत होता है। केवल रस रक्तादि सात धातु ही नहीं, अपितु उक्त धातुओं आदि द्वारा दूषित होनेवाला मूत्र, विष्ठा, पसीना, कान का मैल आदि सभी अर्थात् कफ, पित्त, नासिका और कान का मल, पसीना, नख, बाल, आंख-चमड़ी-पुरीष से सम्बन्ध रखनेवाला स्नेह और सर्व धातुओं का तेजोरूप ओज ये क्रम से रस रक्तादि सातों धातुओं के सभी मल भी कफ-पित्त को छोड़कर दूष्य ही हैं किन्तु इनमें का सातवाँ मल ओज चिन्त्य है। "दोष-धातु-मलमूलं हि शरीरम्" इस वचन से दोष, धातु और मल इन तीनों की धातु संज्ञा सिद्ध होती है। परमार्थतः वातादि तीनों दोष और धातु हैं, रस रक्तादि सातों दूष्य और धातु हैं तथा पूर्वोक्त रसरक्तादि के कफ पित्तादि मल धातु, दूष्य एवं मल हैं।

अब आचार्य यह बताते हैं कि बिगड़े हुए वातादि दोष ही रोगों के कारण हैं, न कि धातु और मल। धातु और मलों की रोगहेतुकत्व कल्पना केवल औपचारिकी अर्थात् कहने भर के लिए है। यथा—

**रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः संभवन्ति ये।**
**तज्जानित्युपचारेण तानाहुर्घृतदाहवत्॥**

दोष ही रोगों के कारण—रसादि धातुओं में वातादि दोषों के रहते हुए जो व्याधिएं होती हैं, उनके लिए रसोत्पन्न रक्तोत्पन्नादि आचार्यों का कहना घृतदाहवत् केवल उपचारमात्र है। तपे हुए घृत में स्थित अग्नि से जलने पर लोग कहते हैं कि "यह घी से जल गया" परन्तु वस्तुतः यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि जलाने की शक्ति घृत की नहीं है किन्तु घृत में स्थित सन्ताप या अग्नि की ही है। इसी प्रकार रसरक्तादि द्वारा कहे जानेवाले रोग भी वस्तुतः उनके द्वारा नहीं, अपितु उनमें रहनेवाले वातादि दोषों के ही उत्पन्न किए हुए होते हैं।

अब रस, रक्त आदि सातों धातुओं के कर्मों का क्रम से वर्णन करते हैं।

**प्रीणनं जीवनं लेपः स्नेहो धारणपूरणे।**
**गर्भोत्पादश्च कर्माणि धातूनां क्रमशो विदुः॥**

रसादि धातुओं के कर्म—रसादि धातुओं के क्रमशः प्रीणन (चित्तप्रीति) रस का, जीवन (जीवन का या अष्टबिन्दुक रक्तमय समस्त भावों के ग्रहण—धारण—विवेक—कार्य के करनेवाले ओज का रक्षण करना) रक्त का, लेप (अर्थात् अस्थि आदि पर लेप करना) मांस का, स्नेह (शरीर की स्निग्धता या चिकनाई) मेद का, अन्यथा मांस के लिए कोई आधार ही नहीं रहता अतः धारण (शरीर का धारण करना) अस्थि का, पूरण (अस्थियों का पूरण करना) मज्जा का और गर्भोत्पादन (गर्भ की उत्पत्ति करना) शुक्र अर्थात् वीर्य का कर्म है। यह धातुओं का एक एक मुख्य कर्म ही कहा गया है किन्तु सुश्रुत उक्त धातुओं के कर्मों का विशेष वर्णन करता है। उसके मत से रस तुष्टि, प्रीणन और रक्तपुष्टि करता है। रक्त वर्णप्रसाद, मांसपुष्टि और जीवन का रक्षण करता है। मांस शरीर और मेद की पुष्टि करता है। मेद स्नेह, स्वेद, दृढत्व और अस्थियों को मज़बूत करता है। अस्थि देह-धारण और मज्जा की पुष्टि करता है। मज्जा प्रीति, स्नेह, बल, शुक्रपुष्टि और अस्थियों का पूरण करता है तथा शुक्र धैर्य, च्यवन (शीघ्रता से विस्रंसन), प्रीति, देहबल, हर्ष और गर्भोत्पत्ति करता है। सुश्रुतोक्त धातुओं द्वारा उत्तरोत्तर धातुओं की पुष्टि का समर्थन आचार्य के इस अग्रिम कथन से भी होता है।

**शरीरं धारयन्त्येते धात्वाहाराश्च सर्वदा॥**

धातुसंज्ञा का कारण—ये पूर्वोक्त रसरक्तादि धातु शरीर को धारण करते हैं और धातुओं के आहार हैं। भावार्थ यह है कि जिस प्रकार प्राणियों की वृद्धि का कारण आहार है, ठीक इसी प्रकार धातुओं की वृद्धि का कारण धातु ही हैं। पूर्वपूर्व धातु उत्तरोत्तर धातुओं के आहार हैं, जैसे कि रस धातु रक्त का, रक्त मांस का, मांस मेद का, मेद अस्थि का, अस्थि मज्जा का, मज्जा शुक्र का और शुक्र सर्व धातुओं के सारभूत ओज का आहार है।

वातादि दोषों के वृद्धि और हानि के कारणों की तरह ही अब आचार्य समस्त भावों की वृद्धि और हानि के कारण का वर्णन करते हैं।

**वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः॥**

---

१. दूषयन्तीति दोषाः। अतोऽवश्यं ते दूष्यमपेक्षन्ते। कर्म विना कर्तुः क्रियाया असंभवात्। कर्तारं विना कर्मणो न कर्मत्वम्। एवं दोषैर्विना रसादीनां दूष्यनाम न घटते। तैर्विनापि वातादीनां दोष नाम। तस्मात्परस्परापेक्षत्वादनयोर्दूष्यदोषयोर्दूष्यत्वेन दोषत्वेन च संज्ञालाभ इत्यरुणदत्तः।

२. न केवलं रसादय एव दूष्या यावन्मलास्तेऽपि धात्वादिभिर्दूष्यन्त इत्यरुणः। मूत्रशकृती अन्नमलौ, स्वेदो मेदोमलः, आदिशब्दान्मांसास्थिमज्जशुक्रमलाः। अत्र सप्तमो मलश्चिन्त्यः। वक्ष्यति हि—"कफः पित्तं मलाः खेषु प्रस्वेदो नखरोम च। स्नेहोऽक्षित्वग्विशामोजो धातूनां क्रमशो मलाः॥" इति कफपित्तयोर्दोषत्वान्न दूष्यत्वम्। इति हेमाद्रिः। आदिशब्दात्कर्णमलादीनां ग्रहणम्। चशब्दान्मलानां, धातुसंज्ञापि देहधारकत्वादितीन्दुः।

१. प्रीणनं चित्तप्रीतिः। जीवनं जीवितं प्राणनमिति यावत्। तथा च रक्तमयमष्टबिन्दुकमोजोनाम भावानां ग्रहणधारणविवेककार्यकरम्। लेपनमस्थ्यादीनां लेपः। शरीरस्नेहो मेदसः। शरीरधारणमस्थ्नः। अन्यथा निरवलम्बनं मांसं स्यात्। पूरणमस्थ्नो मज्ज्ञः कर्म इतीन्दुः।

२. रसस्तुष्टिं प्रीणनं रक्तपुष्टिं च करोति। रक्तं वर्णप्रसादं मांसपुष्टिं जीवयति च। मांसं शरीरपुष्टिं मेदसश्च। मेदः स्नेहस्वेदौ दृढत्वं पुष्टिमस्थ्नां च। अस्थि देहधारणं मज्ज्ञः पुष्टिं च। मज्जा प्रीतिं स्नेहं बलं शुक्रपुष्टिं पूरणमस्थ्नां च करोति। शुक्रं धैर्यं च्यवनं प्रीतिं देहबलं हर्षं बीजार्थं चेति।

३. एते चानन्तरोक्ता धातवः शरीरं धारयन्ति। धात्वाहाराश्च। आहारो यथा जन्तूनां वृद्धिकारणं तथैव धातूनां धातव एव वृद्धिकारणम्। पूर्वः पूर्वो धातुरुत्तरस्योत्तरस्याहार इतीन्दुः।

वृद्धि और क्षय—समस्त भावों की समान भावों से वृद्धि और विपरीत भावों से विपर्यय अर्थात् हानि होती है।

वक्तव्य—सामान्य और विपर्यय का निर्देश यहां केवल आयुर्वेदोपयोग के लिए ही किया गया है, न कि "सामान्यं च विशेषं च" इस वैशेषिकोक्त महाविषय को लेकर; क्योंकि उससे व्यवहार-सिद्धि[1] नहीं होती। इसी लक्ष्य को सामने रखकर ग्रन्थकार कहते हैं कि दोष, धातु और मलादि समस्त शारीरिक भावों की वृद्धि इनसे समानता रखनेवाले भावों द्वारा[2] द्रव्य[3] गुणकर्म भेद से होती है और विपरीत भावों से विपर्यय (हानि) होती है परन्तु ध्यान रहे कि जो जो भाव जिस जिस भाव से जितने अंश में समानता रखता है, वृद्धि एवं हानि भी उतने[4] ही प्रमाण में होती है और वह भी उसी अवस्था में होती है जब कि उक्त समान-विपर्यय भावों का अर्थात् सामान्य और विशेष का शरीर के साथ सम्बन्ध होता है[5]। वस्तुतः यह बड़ा भारी मौलिक सूत्र संक्षेप में कहा गया है, इसलिए कि वातादि तीनों दोष तथा रसरक्तादि धातुओं को साम्यावस्था में रखना ही इस आयुर्वेदशास्त्र का मुख्य प्रयोजन है। सारांश, वैद्य को चाहिए कि वह क्षीण हुए किसी धातु को तत्सम औषध, आहारविहारादि कराकर बढ़ावे और बढ़े हुए धातु को तद्विपरीत औषधान्नविहार द्वारा घटावे। यही वैद्य का मुख्य कर्त्तव्य है।

द्रव्य, गुण और क्रिया द्वारा किस प्रकार धातु-मल आदि में वृद्धि और हानि होती है, अब इसे कुछ उदाहरणों द्वारा समझाते हैं जैसे कि द्रव्यस्वभाव से वायु का अन्य वायु समान और वृद्धिकारक है, यह द्रव्य सामान्य हुआ। उसी वायु को लघु और रूक्ष गुण-साधर्म्यात् मरिच बढ़ाती है। चलनादि साधर्म्य से सरणादि क्रिया-सामान्य वृद्धिकारक होता[6] है। इसी प्रकार द्रव्यसामान्यता के कारण रक्त से रक्त, मांस से मांस, मेद से मेद, तरुणास्थि से अस्थि, मज्जा से मज्जा, शुक्र से शुक्र, आमगर्भ (अण्डा आदि) से गर्भ, दूध से कफ, उसी दूध से उत्पन्न घृत से वीर्य की वृद्धि होती हैं[7]। यहां रक्त का रक्त से, कफ का दूध से। दूध से उत्पन्न घृत से वीर्य का बढ़ना जलीय होने के कारण से है। मांस से मांस का बढ़ना, पार्थिव भाव के कारण है। इसी प्रकार जीवन्ती काकोली आदि औषधिद्रव्यों से स्नेह-बल पुरुषत्व और ओज की वृद्धि में इनका पारस्परिक सौम्यभाव सामान्य कारण है। द्रव्यों के सामान्य और विशेष से ही नहीं, किन्तु कहीं द्रव्यों का तथा कर्मों का प्रभाव भी वृद्धि और ह्रास का कारण होता है, जैसे कि मरिच, पञ्चकोल, भल्लातक आदि का बुद्धि मेधा-अग्नि को बढ़ाना इनके प्रभाव के कारण है। इसी प्रकार पित्त और आमला इन दोनों के आम्लसामान्य होते हुए भी आमलकगत शिशिरत्व प्रभाव पित्तगत अम्लत्वादि बढ़ानेवाला न होकर घटानेवाला होता है।

जाति या द्रव्यसामान्य की[1] तरह द्रव्यों का गुणसामान्य भी विशेष व्यापक दिखाई देता है। केला, मोचरस, खर्जूर, ये पार्थिव द्रव्य होते हुए भी अपने स्निग्ध, गुरु, शीतादि-गुणसामान्य के कारण जलीय कफ के बढ़ानेवाले होते हैं। भावार्थ यह है कि गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, सूक्ष्म, स्थूल, सान्द्र (गाढ़ा) और द्रव (पतला) या प्रवाही इन बीस गुणों में जो गुरु हैं, वे गुरु आहार विकार गुणवाले द्रव्यों के सेवन से वृद्धि को प्राप्त होते हैं और उनसे लघुओं का ह्रास होता है। समस्त धातुओं के सामान्य योग से या विपरीत गुणों से इसी प्रकार वृद्धि और क्षय होते हैं।

शरीर, वाणी और मन का क्रियासामान्य तीन प्रकार से वृद्धि का कारण होता है, जैसे कि शरीर से दौड़ना, लांघना, तैरना ये चलत्वसामान्य से तथैव भाषण, अध्ययन, गायन इस वाणी के क्रियासामान्य से और चिन्ता, काम, शोक, भय आदि मानसिक क्षोभसामान्य से वायु की वृद्धि होती है। क्रोध, ईर्ष्यादि संतापकारक होने से पित्त की और सोना, आलस्य आदि स्थैर्यसामान्य से कफ की वृद्धि होती है। इनके विपरीत भाव वात, पित्त और कफ के घटानेवाले होते हैं। विस्तारभय से यहां केवल दिग्दर्शनमात्र ही कराया गया है। अधिक देखना हो तो अष्टाङ्गहृदय में इस विषय पर अरुणदत्त की सर्वाङ्गसुन्दरा व्याख्या का तथैव चरकसंहिता में चक्रदत्त की व्याख्या का अध्ययन करें।

द्रव्यों के वर्णन के अनन्तर अब आचार्य उनके भीतर रहनेवाले रसों का वर्णन इसलिए करते हैं कि पञ्चमहाभूतों का कार्यरूप द्रव्य अपने रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव से ही कार्य करनेवाला होता है।

> रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः ।
> षड्, द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः ॥

रस और उनका आश्रय—द्रव्य में रहनेवाले मधुर, अम्ल,

---

१. एतत्समानमसमानं च सामान्यविशेषरूपं गोत्वादिविषयमपेक्ष्य विज्ञेयम्। न तु द्रव्यत्वसत्तादिमहाविषयं सामान्यम्। ततो व्यवहारासिद्धेरितीन्दुः।

२. सर्वेषां दोषधातुमलादीनां शरीराश्रितानां, समानैस्तुल्यसद्भावैरित्यरुणः।

३. "सर्वेषां सर्वदा वृद्धिस्तुल्यद्रव्यगुणक्रियैः। भावैर्भवति भावानां विपरीतैर्विपर्ययः॥" इति

४. समानैः सदृशैः सर्वेषां वृद्धिः। यो यो येन यावता चांशेन यस्य समानस्तेनैव तावता चांशेन सदृशेन स तस्य वृद्धिकारणम्। एवं सर्वभावानामप्यूह्यम्। इन्दुः

५. प्रवृत्तिरुभयस्य तु इति। कारणमिति शेषः। उभयस्य सामान्यस्य विशेषस्य च, प्रवृत्तिः प्रवर्तनं शरीरेणाभिसंबन्धः, इति यावत्, एवंभूता प्रवृत्तिः धातुसामान्यविशेषयोर्वृद्धिह्रासे कारणमित्यर्थः इति चरकटीकायां चक्रदत्तः।

६. यथा वायोरन्यो वायुर्द्रव्यस्वभावेनैव समानः तस्यैव मरिचं लाघवरौक्ष्यगुणतः तस्यैव सरणादिका क्रिया चलनादिसाधर्म्यादितीन्दुः।

७. मांसमाप्याय्यते मांसेन भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः, तथा लोहितं लोहितेन, मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्था, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्रं शुक्रेण, गर्भस्त्वामगर्भेणेति चरकः।

१. तत्रेमे शरीरधातुगुणाः संख्यासामर्थ्यकराः। तद्यथा—"गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवाः। तेषु ये गुरवस्ते गुरुभिराहारविकारगुणैरभ्यस्यमानैराप्याय्यन्ते, लघवश्च ह्रसन्ति लघवस्तु लघुभिराप्याय्यन्ते, गुरवश्च ह्रसन्ति। एवमेव सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद्वृद्धिः, विपर्ययाद्ध्रास इति चरकः।

लवण, तिक्त, कटु और कषाय ये छः रस हैं तथा इनमें जो रस जिस रस के पूर्व में है वह उससे बलवान् होता है।

वक्तव्य—रसना (जीभ) के ग्रहण करने पर ही इनके स्वाद की पहिचान होती है, इसी लिए इनकी रस संज्ञा है[1]। सीधी बोलचाल में इनका अर्थ मीठा, खट्टा, नमकीन, कड़ुआ, चरपरा और कसैला होता है। उदाहरणार्थ घृत-गुड़ आदि मधुर, इमली-बिजौरा आदि अम्ल, सैन्धव-सौवर्चलादि लवण, चिरायता-कुटकी आदि तिक्त, मरिच-शुण्ठी-पीपल आदि कटु और हरड़-बहेड़ा आदि कषाय रसवाले कहे जा सकते हैं। यथापूर्व बलावह अर्थात् कषाय रस से पहला कटु रस उससे बलवान् है। इसी प्रकार कटु से तिक्त, तिक्त से लवण, लवण से अम्ल और अम्ल से मधुर बलवान् है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि सब रसों में बलवान् मधुर और हीनबल कषाय रस है। यह क्रम प्राणियों के अभीष्टोत्कर्ष के लिए कहा गया है क्योंकि मधुर रस सबको अधिक प्रिय होता है[2]। इससे उत्तरोत्तर अम्ल, लवणादि रस क्रम से कम प्रिय होते हैं। मधुरादि रसों की गणना से ही ६ की उपलब्धि हो जाती है, फिर भी 'षट्' कहने का तात्पर्य यह है कि तरतम तथा संसर्गता आदि से रसों के अनेक भेद होते हुए भी मूल रस ६ ही हैं। आगे इसी सूत्रस्थान में इनका विशेष वर्णन किया जायगा। इसलिए हम यहां इतना कहना ही अलम् समझते हैं।

ये उपर्युक्त ६ रस किन किन वातादि दोषों को शान्त और प्रकुपित करते हैं अब यह बताते हैं।

**तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम्।**
**कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते ॥**

मधुरादि रसों के कार्य—आद्य अर्थात् मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस वायु को शान्त करते हैं और तिक्त, कटु तथा कषाय वायु को बढ़ाते हैं। तिक्त-कटु-कषाय कफ का नाश करते हैं और मधुर-अम्ल-लवण कफ को बढ़ाते हैं। कषाय-तिक्त-मधुर पित्त का नाश करते हैं और अम्ल-लवण-कटु पित्त को बढ़ाते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि मधुर रस वातपित्त को हरनेवाला और कफ को करनेवाला है। अम्ल रस वातहारक और कफपित्तकारक है। लवण वायुहारक तथा कफपित्तकारक है। तिक्त कफपित्तनाशक तथा वायुकारक है। कटु रस कफनाशक और वातपित्तवर्धक है। कषाय रस कफपित्त को हरता और वायु को करता है।

अब आचार्य रसों के आश्रयरूप त्रिविध द्रव्य का वर्णन करते हैं।

**शमनं कोपनं स्वस्थहितं द्रव्यमिति त्रिधा ॥**

त्रिविध द्रव्य—शमन, कोपन और स्वस्थ (नीरोग) के लिए हितकारी ऐसा द्रव्य तीन प्रकार का होता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त तीन प्रकारों के अतिरिक्त 'इति' शब्द से प्रतीत होता है कि द्रव्य के दो अथवा अनेक प्रकार भी हो सकते हैं[1]। अरुणदत्त और चन्द्रनन्दन द्रव्य के शमन, कोपन तथा स्वस्थहितकारी इन तीन भेदों को मानते हैं किन्तु इन्दु और हेमाद्रि इस का खण्डन करते हुए कहते हैं कि ये भेद विशिष्ट प्रभाववाले द्रव्य एवं तदाश्रित रसादि में रहनेवाले उस प्रभाव के हैं जो रसादि की कुछभी अपेक्षा न करता हुआ शमन, कोपन एवं स्वस्थहित को करता है और उसी का यहां द्रव्यशब्द से निर्देश किया गया है[2]।

जो द्रव्य सम और विषम (विपरीत) रसादि से युक्त होते हुए भी वातादि दोषों का शमन करता है, वह शमन है, जैसे कि मधुर और ठण्डी होकर भी जीवन्ती कफ का शमन करती है तथैव कटु-रस-पाकवाला लशुन गुरु-स्निग्ध होते हुए भी कफ और वात को हरण करता है।

जो द्रव्य सम और विपरीत रसादिवाला होते हुए भी वातादि दोषों को कुपित करता है, वह कोपन है, जैसे कि गुरु-उष्ण-स्निग्ध और मधुर होते हुए भी फाणित वायु को कुपित करता है तथा वैसे ही गुणोंवाला उड़द पित्त और कफ को कुपित करता है।

जो द्रव्य वातादि दोषों के क्षयवृद्धि का हेतु होकर भी स्वस्थ के लिए वातादि की क्षयवृद्धि नहीं करता, वह स्वस्थहितकारी है, जैसे कि गुरु, मधुर, रूक्ष और ठण्डा होने पर भी जौ स्वस्थ पुरुष के पित्त का ह्रास (क्षय) नहीं करता और न दूध ही भारी, मधुर, चिकना तथा ठण्डा होते हुए स्वस्थ के कफ को कुपित करता है।

वस्तुतः हेमाद्रि के मत से ये सब रसादिगत प्रभाव के ही उदाहरण हैं, जैसे कि ग्रन्थकार आगे कहेंगे कि "रसादि की साम्यावस्था रखने में जो विशिष्ट कर्म है, उसे प्रभावोत्पन्न समझना चाहिए[3]।"

अब आचार्य द्रव्यगत दो प्रकार के वीर्य का वर्णन करते हैं।

**उष्णशीतगुणोत्कर्षात्तत्र वीर्यं द्विधा स्मृतम् ॥**

द्विविध वीर्य—द्रव्य में उष्ण और शीत गुण की अधिकता से वीर्य दो प्रकार का कहा गया है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य उष्णवीर्य या शीतवीर्यवाला होता है। सारांश यह है कि गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण आदि आयुर्वेदोक्त २० गुणों में प्राधान्य उष्ण और शीत इन दो गुणों का ही है। कायाग्नि के पाक से यद्यपि आठ गुण निष्पन्न होते हैं किन्तु इन में भी मुख्य गुण उष्ण और शीत ही हैं। सभी द्रव्यों के पञ्चमहाभूतात्मक होते हुए भी जगत् अग्निषोमीय गुणवाला माना गया है, अतः प्रत्येक द्रव्य में कार्य करने को शक्तिरूप वीर्य उष्ण और शीत दो ही प्रकार का माना गया है।

---

१. रसनार्थो रस इति चरकः। रस्यत आस्वाद्यत इति रसः। रसनार्थ इति जिह्वाग्राह्य इति चक्रदत्तः।

२. अत्र सर्वप्राणिनामिष्टत्वादादौ मधुर उक्तः। तदनु च प्राण्यभीष्टोत्कर्षक्रमेणैवाम्लादिनिर्देशक्रमो बोद्धव्य इति चक्रदत्तः।

१. इति अनेन प्रकारेण शमनादिभेदेन त्रिधा त्रिप्रकारं द्रव्यम्। अन्येन प्रकारेण द्विधा अथवा अनेकधा इति शब्दः प्रकारार्थेऽभिहितः। इत्यरुणदत्तः।

२. रसानामाश्रयो द्रव्यं यद्रसादीननपेक्ष्य प्रभावादेव किञ्चित् करोति तत् त्रिप्रकारमितीन्दुः। प्रभावभेदानाह—शमनमिति। प्रभावो रसादिष्वन्तरङ्ग इति द्योतयितुं द्रव्यशब्देनोक्तः।'''अन्ये तु द्रव्यभेदानाहुः। तत्त न सम्यगिति हेमाद्रिः।

३. "रसादिसाम्ये यत्कर्म विशिष्टं तत्प्रभावजम्।" इति

द्रव्य के द्विविध वीर्य को कहने के अनन्तर अब उसी के तीन प्रकार के विपाक का वर्णन करते हैं—

**त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वम्लकटुकात्मकः।**

विपाकत्रय—द्रव्य का विपाक मधुर, अम्ल और कटु ऐसे तीन प्रकार का होता है। भावार्थ यह है कि सभी द्रव्यों के रसों का जाठराग्निसंयोग से दूसरे रसरूप में परिणत होना ही विपाक कहलाता है और वह भी निश्चित कर्मनिष्ठानुमित एक रूपवाला ही होता है, न कि अनेक रूपवाला। सारांश, द्रव्यरस का विपाक पहले मधुर, इस के अनन्तर वही जठराग्नि से पककर अम्ल और तत्पश्चात् भली भाँति पककर वही कटु विपाक होता है। मधुर और लवण रस का मधुर, अम्ल रस का अम्ल और कटु-तिक्त-कषाय इन रसों का विपाक कटु होता[1] है।

अब द्रव्य के आश्रय में रहनेवाले गुणों का वर्णन करते हैं—

**गुरुमन्दहिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमृदुस्थिराः।**
**गुणाः ससूक्ष्मविशदा विंशतिः सविपर्ययाः।**
**इन्द्रियार्था व्यवायी च विकाषी चापरे गुणाः।**
**व्यवायी देहमखिलं व्याप्य पाकाय कल्पते॥**
**विकाषी विकषन् धातून्सन्धिबन्धान्विमुञ्चति।**
**सरतीक्ष्णप्रकर्षौ तु कैश्चित्तौ परिकीर्तितौ॥**
**सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रयः प्रोक्ता महागुणाः॥**

द्रव्यों के बीस गुण—इस पद्य में वर्णित गुर्वादि दस और इन के विपरीत दस ये सब मिलकर द्रव्य में बीस गुण होते हैं। यथा—गुरु-लघु, मन्द-तीक्ष्ण, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, श्लक्ष्ण-खर, सान्द्र-द्रव, मृदु-कठिन, स्थिर-सर, सूक्ष्म-स्थूल, विशद और पिच्छिल। इनका अर्थ बोलचाल की भाषा में क्रम से भारी-हल्का, मन्द-तेज, ठण्डा-गरम, चिकना-रूखा, सँवारा-खरदरा, गाढ़ा-पतला द्रव, नरम-कड़ा, स्थिर-चल, सूक्ष्म-मोटा, स्वच्छ-गँदला होता है। ये बीसों गुण कर्मपरत्व अपना वैशिष्ट्य रखते हैं। यथा बृंहण में गुरु, लंघन में लघु, शमन में मन्द, शोधन में तीक्ष्ण, स्तम्भन में शीत, स्वेदन में उष्ण, क्लेदन में स्निग्ध, शोषण में रूक्ष, रोपण में श्लक्ष्ण, लेखन में खर, प्रसादन में सान्द्र, विलोडन में द्रव, श्लथन में मृदु, दृढ़ीकरण में कठिन, धारण में स्थिर, प्रेरण में चल, विवरण में सूक्ष्म, संवरण में स्थूल, क्षालन में विशद, लेपन में पिच्छिल[2]। यद्यपि व्यवायी, विकाषी, आशुकारी, प्रसन्न, सुगन्ध आदि सविपर्यय और भी कई गुण दिखाई देते हैं परन्तु उन सब का अन्तर्भाव उपर्युक्त बीस गुणों में ही हो जाता है। विस्तारभय से हम यहां इतना निर्देश करना ही उचित समझते हैं। वाग्भटाचार्य स्वयं आगे कहते हैं कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये इन्द्रियों के पांच अर्थ तथा व्यवायी-विकाषी ये भी गुण हैं। इन में व्यवायी वह है जो प्रथम संपूर्ण शरीर में व्याप्त होकर फिर पचता है या शान्त होता है। विकाषी गुण वह है जो सब धातुओं की हिंसा करके सन्धि-बन्धन-उपलेपादि का नाश करता[1] है। कोई आचार्य व्यवायी और विकाषी गुण को क्रम से सर और तीक्ष्ण गुण का प्रकर्ष मानते हैं परन्तु एकीय मत होने से यह उन का कथन आदरणीय नहीं है। इन सब गुणों के अतिरिक्त शास्त्र-व्यवहारार्थ सत्त्व, रज और तमोगुणों का भी महागुण नाम से निर्देश किया है।

वातादि दोषों का वैषम्य (चय-वृद्धि) ही रोग का और साम्य आरोग्यता का मूल कारण माना गया है अतः आचार्य अब कहते हैं कि उक्त दोषों का वैषम्य और साम्य किनके द्वारा क्योंकर होता है।

**कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकः।**
**सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम्॥**

रोग और आरोग्य का कारण—काल, अर्थ और कर्म इन के हीन, मिथ्या, अति और सम्यग्योग ही रोग तथा नीरोगता का एकमात्र कारण जानना चाहिए।

वक्तव्य—शीत, उष्ण और वर्षा इन तीन विभागों के कारण काल तीन प्रकार का है, जैसे कि शीतकाल, उष्णकाल एवं वर्षाकाल। पञ्चमहाभूतों के गुण इन्द्रियों के अर्थ पांच हैं और वे हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इसी प्रकार कर्म तीन प्रकार के हैं और वे शरीर, मन तथा वाणी के चेष्टास्वरूप हैं अर्थात् शारीरिक, मानसिक एवं वाणीकृत ये कर्मों के तीन भेद हैं। इन काल, अर्थ और कर्म के हीन, मिथ्या तथा अतियोग ही रोग के कारण हैं और नीरोगता का कारण इन सब का सम्यक् योग है। इन सब का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

काल का हीनयोग उस के स्वरूप की हानि है, मिथ्यायोग उसके स्वरूप की विपरीतता है और अतियोग उसके स्वरूप का आधिक्य है, जैसे कि शीत, उष्ण और वर्षाकाल के होते हुए भी ठण्ड, गर्मी और वर्षा की हीनता अर्थात् शीत, उष्ण, वर्षाकाल में ठण्ड, उष्णता एवं वर्षा का नितान्त कम होना, यह काल का हीन-योग है। इसी प्रकार शीतकाल में उष्णता, उष्णकाल में शीतता तथा वर्षाकाल में वर्षा का न होना, यह काल का मिथ्यायोग है। उक्त शीतोष्णवर्षाकाल में प्रमाण से अधिक अति ठंड, अति गर्मी और अति वर्षा का होना, यह काल का अतियोग कहलाता है। ये तीनों हीन-मिथ्या-अतियोग ही रोग के कारण होते हैं और पूर्वोक्त तीनों कालों का सम्यग्योग अर्थात् जैसा चाहिए वैसा शीतोष्ण वर्षा का योग नीरोगता का मुख्य कारण है।

अपने अपने अर्थ अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ इन्द्रियों का हीनसंयोग हीनयोग है। पुरुष जिस अर्थ को नहीं चाहता उसके साथ इन्द्रियों के संयोग का नाम मिथ्यायोग है और इन्द्रियों के अर्थों के साथ अत्यन्त संयोग

---

१. एवं कर्मनिष्ठानुमित एकरूपावस्थो जाठराग्निसंयोगाद्यो रसानां रसान्तरोद्भवः, स एव विपाकः। न तु यो जठराग्निसंयोगमात्राद्रसानामनेकावस्थः। प्राङ्मधुरोऽनन्तरं स एव पच्यमानोऽम्लस्ततो विपच्यमानः स एव कटुविपाक इत्यरुणः।

२. वाग्भटकृताष्टाङ्गहृदयस्यास्यैव पद्यस्यावलोकनीयं हेमाद्रिकृतमायुर्वेदरसायनव्याख्यानं प्रमाणार्थम्।

१. विकाषी धातून्विकषन् हिंसन् सन्धिबन्धानुपलेपादिकान्मुञ्चति नाशयतीतीन्दुः।

२. "सरतीक्ष्णप्रकर्षौ तु कैश्चित्तौ परिकल्पितौ" इति। तदेकीयमतत्वादनादरणीयम्। तदादरणे यत्तैले व्यवायिबद्धविट्कयोरभिधानं तद्विरुद्धं स्यादित्यादि हेमाद्रिः।

को अतियोग कहते हैं। ये तीनों शब्द स्पर्शादि इन्द्रियों के हीन मिथ्यातियोग रोग के कारण हैं और इन्द्रियों के साथ उन के अर्थों का सम्यक् अर्थात् जितना चाहिए उतना उचित योग आरोग्य का कारण है।

शरीर, वाणी और मन के कर्म की हीन प्रवृत्ति हीनयोग, इन के द्वारा यथासमय किए जानेवाले मलमूत्रादिविसर्जन, भाषण, चिन्तनादि कर्मों के स्थान में अन्य कर्मों की प्रवृत्ति मिथ्यायोग और मन, वचन तथा शारीरिक कर्म की अत्यन्त प्रवृत्ति अतियोग होता है। यही तीन प्रकार का कर्मों का संयोग रोग का कारण है और सम्यक् अर्थात् शरीर, मन, वाणी इनके कर्मों का यथावत् होना आरोग्य का कारण है।

रोग और आरोग्य किसका नाम है अब इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

**रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।**

रोग और नीरोग के कारण—वातादि दोषों की विषमता अर्थात् समुचित प्रमाण से बढ़ना या घटना अथवा अपने स्वरूप से च्युत (विचलित) होना ही रोग है और अपने समुचित प्रमाण में बने रहना (न बढ़ना और न घटना) या अपने स्वरूप में बने रहना आरोग्य या नीरोगता है। यहां दोष शब्द अन्तरङ्ग हेतुमात्र का उपलक्षण है अतः वातादि दोषों तथा रसरक्तादि दूष्यों की विषमता (विकृति) का नाम रोग है और इन दोषदूष्यों की समता या प्रकृति का नाम आरोग्यता[1] है।

अब आचार्य रोगों के दो मुख्य भेदों तथा अधिष्ठानों को कहते हैं—

**निजागन्तुविभागेन तत्र रोगा द्विधाः स्मृताः।**
**तेषां कायमनोभेदादधिष्ठानमपि द्विधा॥**

द्विविध रोग और उनके अधिष्ठान—वातादि दोषों के विषम और सम अवस्था में होनेवाले रोग निज तथा आगन्तु भेद से दो प्रकार के कहे गए हैं। निज अर्थात् शारीरिक रोग वे हैं जो वातादि दोषों की विषमता से उत्पन्न होकर पीड़ा के करनेवाले होते हैं और आगन्तुक रोग वे हैं जो वातादि दोषों की समावस्था में भी शस्त्र लगने, चोट लगने, गिर पड़ने, हिंस्र पशुओं के आघातादि बाह्य हेतुओं (बाहर से घटित होनेवाले कारणों) से प्राप्त[2] होते हैं। वातादि दोषों का कोप इन आगन्तुक रोगों में भी होता है किन्तु इन निज-आगन्तुक दोनों रोगों में भेद इतना ही है कि शरीर में होनेवाले रोगों में वातादि दोषों की प्रवृत्ति पहले होती है और फिर पीड़ा होती है और आगन्तुक रोगों में पहले पीड़ा होकर उसके पश्चात् वातादि दोषों की प्रवृत्ति होती है। सारांश यह कि चाहे शारीरिक हो या आगन्तुक, इन में का कोई भी रोग ऐसा नहीं होता जिस में वातादि दोषों की प्रवृत्ति न होती हो। शारीरिक और आगन्तुक इन दोनों प्रकार के रोगों के अधिष्ठान (स्थान) भी शरीर और मन ये दो हैं परन्तु ध्यान रहे कि इन सब की पीड़ा शरीर और मन इन दोनों को परस्पर होती है तथा वस्तुतः इन सब रोगों का सन्ताप मन को होता है।

रोग जहां पर रहते हैं उस स्थान को अधिष्ठान कहते[1] हैं। रोगों के निज और आगन्तुक भेद से दो प्रकार हैं, वैसे ही उनके अधिष्ठान अर्थात् रहने के स्थान भी शरीर और मन ये दो ही हैं। उदाहरणार्थ ज्वर, रक्तपित्त, कास, अतीसारादि का स्थान शरीर है और मद, मूर्च्छा, सन्न्यास, ग्रह, भूतोन्माद, अपस्मार, राग, द्वेष आदि का अधिष्ठान मन है।

वातादि दोष रोगों के कारण माने गये हैं परन्तु वे शारीरिक रोगों के ही उत्पादक हो सकते हैं, मानसिक व्याधियों के नहीं। तब क्या मानसिक रोग आप ही आप विना दोषों के ही हो जाते हैं? या इन मानसिक रोगों के लिए भी कोई दोष नियत हैं? अब आचार्य इस शङ्का का निवारण करते हैं।

**रजस्तमश्च मनसो द्वौ च दोषावुदाहृतौ॥**

मन के दो दोष—रज और तम ये दो दोष मन के उदाहरणार्थ कहे गये हैं। यहां रजोदोष का प्रथम निर्देश उसकी प्रधानता के कारण किया गया है क्योंकि विना रजोगुण के तमोगुण की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती[2]। ये दोनों दोष अज्ञान से उत्पन्न होकर शुद्ध मन को दूषित करते हैं अतः ये मानसिक दोष कहलाते हैं तथापि इन में वातादि की तरह दोषत्व नहीं है और न आयुर्वेदीय रोग-विज्ञान-चिकित्सा में वातादि की तरह संपूर्णतया इन का वर्णन ही है। इसी लिए ये केवल उदाहरणमात्र के लिए कहे गये[3] हैं। उपर्युक्त पद्य का चकार वातादि दोषों के उपसंग्रहार्थ है इस से यह बात निश्चित होती है कि मानसिक रोगों के साथ ही वातादि दोषों का संबन्ध है। मानसिक दोषों के रहते हुए भी प्रकुपित वातादि दोष साथ में रहते[4] हैं। उदाहरणार्थ उन्माद रोग को ही लीजिए जिस की उत्पत्ति में मानसिक दोषों के साथ वातादि दोषों का भी उल्लेख है कि रजोदोष-तमोदोष से विकृत मनवालों की बुद्धि विचलित होने पर वातादि प्रकुपित दोष हृदय को दूषित कर, मनोवह स्रोतों को ढक कर उन्माद को पैदा करते[5] हैं।

---

१. दोषदूष्याणां यद्वैषम्यं विकृतत्वं तद्रोगः। दोषशब्दोऽन्तरङ्गहेतुमात्रोपलक्षणः। दोषदूष्याणां यत्साम्यमविकृतत्वं तदारोग्यमिति हेमाद्रिः।

२. निजास्त्रिदोषोत्थाः। बाह्यहेतुजास्त्वागन्तवः। अनयोरियान्विशेषः। निजे रोगे वातादयः पूर्वं वैषम्यं गत्वा पश्चाद्व्यथामभिनिवर्तयन्ति। आगन्तवः पुनर्व्यथापूर्वमेवोत्पद्यन्ते, अनन्तरं तत्र वातादयः कुप्यन्तीत्यरुणदत्तः।

१. अधितिष्ठन्त्यस्मिन्नित्यधिष्ठानम्

२. "नारजस्कं तमः प्रवर्त्तते" इति चरकः।

३. मानसः पुनरित्यादि। पुनः शब्दोऽवधारणे, तेन मानस उद्दिष्ट एव परं न शारीरदोषवत्प्रपञ्चितः, मानसदोषाणामस्मिंस्तन्त्रे कायचिकित्सारूपेऽप्रास्ताविकत्वादिति चरकव्याख्याने चक्रदत्तः।

४. च शब्दः पवनादीनामप्युपसंग्रहार्थः। यस्मात्तेऽपि मनः संश्रित्य विकुर्वत इत्यरुणः।

५. भीरूणामुपक्लिष्टसत्त्वानां (रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसाम्) ......बुद्धौ च प्रचलितायामभ्युदीर्णा दोषाः प्रकुपिता हृदयमुपसृत्य मनोवहानि स्रोतांस्यावृत्य जनयन्त्युन्मादमिति चरकः।

अब आचार्य रोगग्रसित रोगी के रोगज्ञानार्थ साधारण तथा विशेष उपायों का निर्देश करते हैं। यथा—

दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेत च रोगिणम्।
रोगं निदानप्राग्रूपलक्षणोपशयाप्तिभिः ॥

रोगी और रोग का परीक्षण—देखकर, स्पर्शकर और पूछताछ करके ( वैद्य को चाहिए कि वह ) रोगी की; तथैव निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और संप्राप्ति से रोग की परीक्षा करे।

वक्तव्य—मूल श्लोक के पूर्वार्ध में दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न करके त्रिविध सामान्य परीक्षा इस लिए कही गई है कि वस्तुतः अमुक मनुष्य रोगी है या नहीं। उदाहरणार्थ हम किसी व्यक्ति को सामने बिठा कर उसके शरीर और मलमूत्रादि के वैवर्ण्य, कृष्ण, पीत, श्वेत आदि रङ्गों से साधारणतया जान सकते हैं कि रोगी अमुक रोग से पीडित है, जैसे कि देखने से शरीर पीला, श्वेत, खरदरा, शुक्लनेत्रता है तो संभवतः रोगी पाण्डु, अम्लपित्त, प्रमेह, इत्यादि से पीडित है। यह दर्शनज्ञान हुआ। स्पर्श करने से यदि संताप है तो ज्वर, काठिन्य तथा ऊंचे उठे हुए भाग से प्लीह, यकृत्, गुल्म, विद्रधि आदि और इसी प्रकार प्रश्न करने से शूल, अरोचक, बुरे भले स्वप्नों का दिखाई देना आदि का ज्ञान हो सकता है। सारांश, इस सामान्य परीक्षा से जाना जा सकता है कि यह अवश्य रोगी है या नीरोग[1]।

उक्त पद्य के उत्तरार्ध में यदि कोई रोगी ही है तो वह किस रोग से पीडित है? इसके निश्चित ज्ञानार्थ विशेष उपायों का वर्णन किया है। वे उपाय निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और संप्राप्ति हैं। इन उपायों को ही निदानपञ्चक कहते हैं और इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार हो सकता है।

निदान—उपर्युक्त तीन सामान्य उपायों से रोग का ज्ञान होने पर उसकी विशेष छानबीन निदानपञ्चक से होती है। इनमें रोग के प्रथम कारण का नाम निदान है जैसे कि कोषकार ने भी "निदानं त्वादिकारणम्" कहा है। अमुकामुक मिथ्या आहारविहारों से अमुकामुक रोग होते हैं। इस प्रकार आदि कारण के ज्ञान को निदान कहते हैं।

पूर्वरूप—होनेवाली व्याधि के दोषपरत्व वे छिपे हुए लक्षण हैं जो आगे चलकर प्रकट होते हैं। जिस दोष के लक्षण प्रकट होने को होते हैं, उसका पता पूर्वरूप से लग जाता है जैसे कि आगे होनेवाले वात-पित्त-कफ ज्वर का पता जम्भाई, आंखों की जलन और अन्न की अरुचि से एवं अन्य शास्त्रोदित रोगों का पता भी पूर्वरूप से लग जाता है।

रूप—उन लक्षणों का नाम है जिनका वर्णन प्रत्येक रोग के प्रकरण में शास्त्रकारों ने किया है। उनसे निश्चय हो जाता है कि यह रोग अमुक नामवाला ही है।

उपशय—सुखदायी औषध, अन्न और विहार के उपयोग का नाम है। इस औषध, अन्न और विहार से रोगजन्य पीडा नहीं हुई और अमुक औषधान्नविहार से पीडा विशेष हुई। इससे भी रोग का तथा तद्गत दोषविशेष का पता लग जाता है।

संप्राप्ति—उसे कहते हैं जिससे पता लगता है कि अमुक स्थान-स्थित कुपित अमुक दोष के, अमुक रीत्या ऊंचे, नीचे, तिर्छे गमन से इस व्याधि का प्रादुर्भाव हुआ है। इन सब का विशेष वर्णन आगे किया जायगा।

उपशयादि प्रसङ्ग से देश और काल का भी उपयोग होता है अतः अब ग्रन्थकार उनका वर्णन करते हैं।—

भूमिदेहप्रभेदेन देशमाहुरिह[1] द्विधा।
जाङ्गलं वातभूयिष्ठमानूपं तु कफोल्बणम्[2] ॥
साधारणं सममलं त्रिधा भूदेशमादिशेत्[3]।
क्षणादिर्व्याध्यवस्था च कालो भैषज्ययोगकृत् ॥

देश के दो भेद—इस आयुर्वेदशास्त्र में भूमि और देहभेद से देश दो प्रकार का कहा गया है। इनमें भूमिदेश तीनप्रकार का जानना चाहिए जैसे कि वायु की अधिकतावाला जाङ्गल, कफकी अधिकतावाला आनूप और वात आदि तीनों दोषों की समतावाला साधारण। औषध के उपयोग में कालक्षणादि और व्याधि की अवस्थाभेद से दो प्रकार का जानना चाहिए।

वक्तव्य—इस आयुर्वेदशास्त्र में अन्य शास्त्रों में न कहने पर भी देह ( शरीर ) को भी देश माना गया है। इसी लिए यहां इह शब्द का निर्देश है। तीन प्रकार के भूमिप्रदेश में वातरोगप्रधान को जाङ्गल, कफरोगप्रधान को आनूप और समदोष अर्थात् आरोग्यताप्रधान को साधारण देश कहा है। भावार्थ यह है कि जो देश जल, वृक्ष एवं पर्वतों की कमी के कारण वातप्रधान औषधि-पशु-पक्षी और पुरुषोंवाला है, वह जाङ्गल है। इसके विपरीत लक्षणोंवाला, कफप्राय औषधिजलवाला अर्थात् श्लीपदादि रोगोंवाला आनूप देश है। इन दोनों लक्षणों का मध्यवर्ती, दोषों की साम्यावस्थावाला साधारण देश कहलाता है किन्तु भगवान् धन्वन्तरि के मत में जाङ्गल देश वात-पित्त-रोग-प्रधान, आनूप देश कफ-वात-रोग-प्रधान और इन दोनों देशों के मिश्र लक्षणोंवाला साधारण देश[3] है।

औषधि के उपयोग के लिए क्षणादिकाल और रोगावस्था-

---

१. स च त्रिधा-दर्शनं, स्पर्शनं, प्रश्नश्चेति। तत्र दर्शनेन वैवर्ण्यादिकं, स्पर्शनेन शैत्यादिकं, प्रश्नेन शूलादिकं निर्धार्य रोग्ययमिति निश्चय इति हेमाद्रिः।

१. इहेत्यायुर्वेदशास्त्रे। शास्त्रान्तरेषु देहस्य देशव्यहाराभावात्। तत्र यो वातभूयिष्ठो वातरोगबहुलस्तं जाङ्गलं, कफोल्बणः कफरोगबहुलस्तमानूपं, यः सममलः समदोषत्वादारोग्यबहुलस्तं साधारणमादिशेदिति हेमाद्रिः।

२. जाङ्गलो नामाल्पोदकतरुपर्वतत्वेन वक्ष्यमाणलक्षणो वातभूयिष्ठः संजातौषधिखगमृगपुरुषादियों वातप्रधानः। आनूपस्तस्माद्विपरीतलक्षणः। साधारण उभयलक्षणमध्यपतितः सममलः समवातादिदोष इतीन्दुः।

३. देशस्त्वानूपो जाङ्गलः साधारण इति। तत्र, बहूदकानिम्नोन्नतनदीवर्षगहनो मृदुशीतानिलो बहुमहापर्वतवृक्षो मृदुसुकुमारोचितमनुष्यशरीरप्रायः कफवातरोगभूयिष्ठश्चानूपः आकाशसमः प्रविरलाल्पकण्टकिवृक्षप्रायोऽल्पवर्षप्रस्रवणोदपानोदकप्राय उष्णदारुणवातः प्रविरलाल्पशैलः स्थिरकृशशरीरमनुष्यप्रायो वातपित्तरोगभूयिष्ठश्च जाङ्गलः, उभयदेशलक्षणः साधारण इति सुश्रुतः।

काल इस प्रकार दो काल माने गये हैं। क्षणादि काल वह है जो लव (क्षण), त्रुटि, घटि, मुहूर्त्त, प्रहर, अहोरात्र (दिनरात), पक्ष, मास, ऋतु, अयन और संवत्सर रूप से प्रसिद्ध है। औषधोपयोग के लिए क्षणादि काल के उदाहरण जैसे कि पूर्वाह्न में वमन, मध्याह्न में विरेचन, कुछ मध्याह्न के बीतने पर वस्तिकर्म आदि[1] हैं। रोग की अवस्था के अनुरूप काल में औषधोपयोग के लिए रोग की साम, निराम, मृदु, मध्य और तीक्ष्ण जैसी अवस्था हो, उसके अनुरूप औषधोपचार करना ये उदाहरण हैं; जैसे कि ज्वर में पेया, कषाय, घृत, दुग्ध और विरेचन का उपयोग, तीसरे या छठे दिन बलाबल देखकर करना इत्यादि[2]।

इन सब औषधिप्रयोगों में "कालो भेषजयोगकृत्" इस बात को कदापि नहीं भूलना चाहिए क्योंकि जो जो क्षणादि और व्याध्यवस्थाकाल शास्त्रानुमोदित हैं, उस उस समय में ही सब औषधियों की उपयुक्तता सिद्ध होती है।

जिन सब औषधियों का उपयोग कालानुरूप किया जाता है अब उन औषधियों के संक्षेप में दो प्रकारों का वर्णन करते हैं।

**शोधनं शमनं चेति समासादौषधं द्विधा ॥**

द्विविध औषध—शोधन और शमन ऐसे दो प्रकार औषध के संक्षेप में कहे गए हैं। द्रव्य हो चाहे अद्रव्य, जैसे कि हरीतकी (द्रव्य) और आतप (अद्रव्य) आदि का सेवन रोग के शमनार्थ किया जाता है उसे औषध कहते हैं। वह औषध दो प्रकार का है, शोधन और शमन। कुपित दोषों को शरीर से बाहर निकालकर रोग को नष्ट करनेवाली औषधि का नाम शोधन है और जिसके सेवन करने से जिस स्थान में स्थित रोग का शमन वहीं हो जाता है, उसे शमन औषधि कहते हैं[3]। इन शोधन-शमन रूप दोनों प्रकारों के बहुत से भेद निरूह, पाचन, क्वाथ, चूर्ण आदि हैं। लंघन और बृंहण इन दोनों प्रकारों का अन्तर्भाव भी इस शमन में जानना चाहिए, जैसे कि ग्रन्थकार इसी स्थान में आगे कहेंगे।

औषधि का संक्षिप्त वर्णन करने के अनन्तर अब शारीरिक और मानसिक दोषों के औषधों को कहते हैं। यथा—

**शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम्।**
**वस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु ॥**
**धीधैर्यात्मादिविज्ञानं मनोदोषौषधं परम् ॥**

शरीर और मानस रोगों में श्रेष्ठ औषधि—शरीर में उत्पन्न होनेवाले वातादि दोषों के क्रम से वस्ति, विरेचन और वमन ये संशोधनार्थ तथैव संशमनार्थ तैल, घृत और मधु (शहद) ये परम (श्रेष्ठ) औषध हैं। मानसिक दोष का श्रेष्ठ औषध बुद्धि, धैर्य और आत्मा आदि का विज्ञान[1] है।

उपर्युक्त संक्षिप्त कथन का स्पष्टीकरण यह है कि शोधनात्मक औषधों में गुदमार्ग से स्नेहकषायादि द्वारा जो वस्ति दी जाती है जिसे आधुनिक डॉक्टर 'एनिमा' कहते हैं, वायु रोग की श्रेष्ठ औषधि है। इसी प्रकार मुख द्वारा सेवित गुद मार्ग से दोष को बाहर निकालनेवाली विरेचन औषधि पित्त रोग की श्रेष्ठ दवा है। तथैव मुखद्वारा सेवित मुख ही से वमन द्वारा दोष को बाहर निकालनेवाली वमनौषधि कफ रोग की परम औषधि है। वात, पित्त और कफ को दूर करनेवाली क्रमसे वस्ति, वमन और विरेचन ये तीन शोधन-क्रिया कही गई हैं। संशोधन न करके औषधि द्वारा शरीर में जहाँ रोग हुआ है वहीं शान्त कर देना शमन कहलाता है। इसमें वायु की परमौषधि तैल, पित्त की घृत और कफ की मधु (शहद) है।

इसी प्रकार रजोगुण, तमोगुण तथा वातादि इन मन के आश्रित दोषों को दूर करने के लिए बुद्धि जो बाह्य और आन्तरिक भावों की अवस्था में अपने हित अनहित को भली भांति जानती हो, धैर्य-चित्त की स्थिरता-अचञ्चलता जिससे अहित न हो और दुःख को सहने की शक्ति हो, आत्मादि (आत्मा, देश और काल) योग तथा धर्माभ्यास द्वारा आत्मा का चिन्तन, देश अर्थात् मैं इस समय कहां कैसी अवस्था में हूं। मुझे ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए इत्यादि बातें मन के आश्रय में रहनेवाले सभी दोषों की श्रेष्ठ औषधि हैं।

अब आचार्य इस अष्टाङ्गसंग्रह नामक ग्रन्थ के अध्यायों का निर्देश इस लिए करते हैं कि सुखेन स्मरण हो सके।

**तन्त्रस्यास्य परं चातो वक्ष्यतेऽध्यायसंग्रहः।**
**आयुष्कामीयशिष्यार्थदिनर्तुव्याध्यसंभवाः ॥**
**द्रवान्नज्ञानसंरक्षाविरुद्धान्नान्नपानिकः ।**
**मात्राशितौषधज्ञानं श्रेष्ठशुद्ध्यादिसंग्रहाः ॥**
**महाकषायविविधद्रव्यादिरसभेदकाः ।**
**दोषादिज्ञानतद्भेदतत्क्रियारोगभेषजम् ॥**
**द्वयोषधस्नेहनस्वेदशुद्ध्यास्थापननावनम् ।**
**धूमगण्डूषदृक्सेकतृप्तियन्त्रजलौकसः ॥**
**सिराविधिः शल्यविधिः शस्त्रक्षाराग्निकर्मकाः।**
**चत्वारिंशदिमेऽध्यायाः सूत्रम् ...........॥**

सूत्रस्थान के अध्याय नाम—(१) आयुष्कामीय (२) शिष्योपनयनीय (३) दिनचर्या (४) ऋतुचर्या (५) रोगानुत्पादनीय (६) द्रवद्रव्यविज्ञानीय (७) अन्नस्वरूपविज्ञानीय (८) अन्नसंरक्षणीय (९) विरुद्धान्नविज्ञानीय (१०) अन्नपानविधि (११) मात्राशितीय (१२) विविधौषधविज्ञानीय (१३) अग्र्यसंग्रह (१४) शोधनादिगणसंग्रह (१५) महाकषायसंग्रह (१६) विविधद्रव्याणसंग्रह (१७) द्रव्यादिविज्ञानीय (१८) रसभेदीय (१९) दोषादिविज्ञानीय (२०) दोषभेदीय (२१) दोषोपक्रमणीय (२२) रोगभेदीय (२३) भेषजावचारणीय (२४) द्विविधोपक्रमणीय (२५) स्नेहविधि

---

१. पूर्वाह्णे वमनं देयं मध्याह्ने तु विरेचनम्। मध्याह्ने किञ्चिदावृत्ते वस्तिं दद्याद्विचक्षणः॥ इति।

२. ज्वरे पेया कषायाश्च सर्पिः क्षीरं विरेचनम्। त्र्यहं वा षडहं युञ्ज्यादीक्ष्य दोषबलाबलम्॥ इति चरकः

३. यद्द्रव्यमद्रव्यं वाऽभयातपादि कुपितदोषविनाशार्थमुपयुज्यते तदौषधमित्युच्यते। शोधनं यत्कुपितान् दोषान्निस्सार्य बहिः रोगोपशमनं करोति। शमनं पुनर्यत्स्वस्थानस्थितानामेव साम्यहेतुरितीन्दुः।

१. धीर्बुद्धिः, यया हिताहितविवेकः। धैर्यं दुःसहत्वं येन हितसेवनमहितत्यागः। आत्मादिविज्ञानं आत्मादयः आत्मदेशकालास्तेषां विज्ञानमीदृशोऽहमीदृशेदेशे, ईदृशे काले व्यवहरामीति ज्ञानम्। तेन हितसेवनस्याविच्छेदः। एतत्सर्वमनोदोषौषधं हृदयाश्रयाणां वातादीनामौषधं परमिति हेमाद्रिः।

(२६) स्वेदविधि (२७) वमनविरेचनविधि (२८) वस्तिविधि (२९) नस्यविधि (३०) धूमपानविधि (३१) गण्डूषादि-विधि (३२) आश्च्योतनांजनविधि (३३) तर्पणपुटपाकविधि (३४) यन्त्रशस्त्रविधि (३५) जलौकावचारणीय (३६) सिरावेधविधि (३७) शल्यापहरणविधि (३८) शस्त्रकर्मविधि (३९) क्षारकर्मविधि और (४०) अग्निकर्मविधि ये चालीस अध्याय सूत्रस्थान के हैं।

शारीरमुच्यते।
पुत्रार्थगर्भावक्रान्तिचर्याव्यापच्छरीरजाः ॥
सिरामर्मप्रकृत्याख्या विकृताङ्गेऽहितामयाः।
सदूता द्वादशाध्यायाः.......................... ॥

शारीरस्थान के अध्याय—(१) पुत्रकामीय (२) गर्भावक्रान्ति (३) गर्भोपचरणीय (४) गर्भव्यापत् (५) अङ्गविभाग (६) सिराविभाग (७) मर्मविभाग (८) प्रकृतिभेदीय (९) विकृतिविज्ञानीय (१०) विकृतेहाविज्ञानीय (११) विकृतव्याधिविज्ञानीय और (१२) दूतादिविज्ञानीय ये बारह अध्याय शारीरस्थान के हैं।

निदानं सार्वरौगिकम्।
ज्वरासृक्श्वासयक्ष्मादिमदाद्यर्शोऽतिसारिणाम् ॥
मूत्राघातप्रमेहाणां विद्रध्याद्युदरस्य च।
पाण्डुकुष्ठानिलार्तानां वातास्रस्य च षोडश ॥

निदानस्थान के अध्याय—(१) सर्वरोग-निदान (२) ज्वर-निदान (३) रक्तपित्तनिदान (४) श्वासहिध्मानिदान (५) राजयक्ष्मादिनिदान (६) मदात्ययादिनिदान (७) अर्शोनिदान (८) अतिसार-ग्रहणी-निदान (९) मूत्राघातनिदान (१०) प्रमेह-निदान (११) विद्रधिवृद्धिगुल्मनिदान (१२) उदरनिदान (१३) पाण्डुरोगकासलाशोफविसर्पनिदान (१४) कुष्ठनिदान (१५) वातव्याधिनिदान और (१६) वातरक्तनिदान ये सोलह अध्याय निदानस्थान के हैं।

चिकित्साज्वरयोरस्रकासयोः श्वासयक्ष्मणोः।
वमौ मदात्ययेऽर्शस्सु विशि द्वौ द्वौ च मूत्रिते ॥
विद्रधौ गुल्म-जठर—पाण्डु-शोफ-विसर्पिषु।
कुष्ठश्वित्रानिलव्याधि-वातास्रेषु चिकित्सितम् ॥
चतुर्विंशतिरध्यायाः............................ ॥

चिकित्सास्थान के अध्याय—(१) ज्वरचिकित्सित (२) जीर्णज्वरचिकित्सित (३) रक्तपित्तचिकित्सा (४) कासचिकित्सा (५) क्षतक्षयकासचिकित्सा (६) श्वासहिध्माचिकित्सा (७) यक्ष्म-चिकित्सा (८) छर्दिहृद्रोगतृष्णाचिकित्सा (९) मदात्ययादि-चिकित्सा (१०) अर्शश्चिकित्सा (११) अतीसारचिकित्सा (१२) ग्रहणीदोषचिकित्सा (१३) मूत्राघातचिकित्सा (१४) प्रमेह-चिकित्सा (१५) विद्रधिवृद्धिचिकित्सा (१६) गुल्मचिकित्सा (१७) उदरचिकित्सा (१८) पाण्डुरोगचिकित्सा (१९) शोफ-चिकित्सा (२०) विसर्पचिकित्सा (२१) कुष्ठचिकित्सा (२२) श्वित्र-कृमिचिकित्सा (२३) वातव्याधिचिकित्सा (२४) और वातरक्त-चिकित्सा ये चौबीस अध्याय चिकित्सास्थान में हैं।

कल्पसिद्धिरतः परम्।
कल्पो वमेर्विरेकस्य तत्सिद्धिर्वस्तिकल्पना ॥
कल्पश्च सिद्धवस्तीनां सिद्धिर्वस्त्यनुवासयोः।
द्रव्यकल्पोऽष्टमः ...... ...... ...... ॥

कल्पस्थान के अध्याय—इसके अनन्तर कल्पस्थान है और जिसके आठ अध्याय हैं, जैसे कि (१) वमनकल्प (२) विरेचन-कल्प (३) वमनविरेचनव्यापत्सिद्धिकल्प (४) वस्तिकल्प (५) सिद्धवस्तिकल्प (६) वस्तिव्यापत्सिद्धिकल्प (७) स्नेहादिव्यापत्सिद्धिकल्प और (८) भेषजकल्पाध्याय।

स्थानमुत उत्तरमुत्तरम्।
बालोपचरणे व्याधिर्ग्रहबाननिषेधने ॥
स्नाने पृथग्ग्रहे भूते ह्युन्मादे स्मृतिसंक्षये।
वर्त्मसन्धिगतौ द्वौ द्वौ दृक्तमोलिङ्गनाशिषु ॥
सर्वदृक्स्यन्ददृक्पाके कर्णनासामुखेषु च।
मूर्ध्नि व्रणे तथा द्वौ द्वौ सद्योभङ्गे भगन्दरे ॥
ग्रन्थ्यादौ क्षुद्ररोगेषु गुह्यरोगे पृथग्द्वयम्।
विषे द्वौ भुजगे कीटे द्वौ च लूतासु मूषिके ॥
विषे विषोपयोगे च तथाध्यायो रसायने।
वाजीकरणमुद्दिश्य पञ्चाशोऽयाङ्गपरगः ॥
पञ्चाशदध्यायशतं षड्भिः स्थानैः समीरितम् ॥

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थाने प्रथमोऽध्यायः।

उत्तरस्थान के अध्याय-इसके अनन्तर उत्तरस्थान है। इसके ५० अध्याय हैं। यथा (१) बालोपचरणीय (२) बालामयप्रतिषेध (३) बालग्रहविज्ञानीय (४) बालग्रहप्रतिषेध (५) स्नानविधि (६) प्रत्येकग्रहप्रतिषेध (७) भूतविज्ञानीय (८) भूतप्रतिषेध (९) उन्मादप्रतिषेध (१०) अपस्मारप्रतिषेध (११) वर्त्मरोग-विज्ञानीय (१२) वर्त्मरोगप्रतिषेध (१३) सन्धिसितासितरोग-विज्ञानीय (१४) सन्धिसितासितरोगप्रतिषेध (१५) तिमिररोग-विज्ञान (१६) तिमिररोगप्रतिषेध (१७) लिङ्गनाशप्रतिषेध (१८) सर्वाक्षिरोग-विज्ञान (१९) नेत्राभिष्यन्दप्रतिषेध (२०) अक्षिपाक-पिल्लप्रतिषेध (२१) कर्णरोगविज्ञान (२२) कर्णरोगप्रतिषेध (२३) नासारोगविज्ञान (२४) नासारोगप्रतिषेध (२५) मुखरोगविज्ञान (२६) मुखरोगप्रतिषेध (२७) शिरोरोगविज्ञान (२८) शिरोरोग-प्रतिषेध (२९) व्रणविभक्तिविज्ञान (३०) व्रणप्रतिषेध (३१) सद्योव्रणप्रतिषेध (३२) भङ्गप्रतिषेध (३३) भगन्दरप्रतिषेध (३४) ग्रन्थ्यादिविज्ञान (३५) ग्रन्थ्यादिप्रतिषेध (३६) क्षुद्ररोग-विज्ञान (३७) क्षुद्ररोगप्रतिषेध (३८) गुह्यरोगविज्ञान (३९) गुह्यरोगप्रतिषेध (४०) विषप्रतिषेध (४१) सर्पविषविज्ञान (४२) सर्पविषप्रतिषेध (४३) कीटविषप्रतिषेध (४४) लूताविषप्रतिषेध (४५) प्रत्येकलूताप्रतिषेध (४६) मूषिकालर्कविषप्रतिषेध (४७) विषोपद्रवप्रतिषेध (४८) विषोपयोगीय (४९) रसायनाध्याय और (५०) वाजीकरणाध्याय।

**इस प्रकार यह ग्रन्थ एक सौ पचास अध्याय का छः स्थानों में विभक्त करके सम्यक्तया वर्णन किया गया है।**

इत्यष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकायां हिन्दीव्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः।

# अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

प्रथम अध्याय में सर्वतन्त्रार्थ का अध्यायग्रन्थन करने के अनन्तर अब आचार्य यह बतलाना चाहते हैं कि किस प्रकार के शिष्य को यह आयुर्वेदशास्त्र पढ़ाना चाहिये ।

**अथातः शिष्योपनयनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।**
**इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।**

शिष्योपनयन—अब प्रथम अध्याय कहने के अनन्तर हम शिष्योपनयनीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षि कर गये हैं ।

वक्तव्य—यहां आयुर्वेदशास्त्र में उपनयन नाम दीक्षा का है और कुछ लोगों के मतमें शिष्यको अपने तुल्य बना देनेका है । कुछ के मतमें शिष्यका गुरु के समीप जाना ही उपनयन का अर्थ है । भावार्थ सबका एक है । गुरु से दीक्षा प्राप्त कर या उसके समीप रहकर कौनसा शिष्य आयुर्वेद पढ़ने का अधिकारी हो सकता है और गुरु भी किन गुणोंवाले शिष्यको अपने तुल्य बना सकते हैं । यही इस अध्यायका मुख्य विषय है । सुश्रुत में उपनयनविधि का वर्णन किया है और उसके टीकाकार डल्लन ने स्पष्टीकरण करके बताया है कि ब्राह्मणादि का उपनयन पहले हो जाने पर भी ऋग्यजुस्सामके पढ़ने पर अथर्व तथा धनुर्वेद के आरम्भ में पुनर्व्रतावतरण करना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार आयुर्वेदारम्भ में भी यह पुनरुपनयन करना पड़ता है । यहां ग्रन्थकार ने उपनयन-विधि का वर्णन न करके केवल उपदेश कर दिया है कि किस प्रकार के शिष्य को पढाना चाहिए । यथा—

**गुरुभक्तोऽभियुक्तोऽतियुक्तो धीस्मृतिपाटवैः ।**
**ऋज्वास्यनासानयनस्तनस्निग्धनखच्छविः ॥**
**ब्रह्मचारी जितद्वन्द्वो धीरः सुचरितः स्थिरः ।**
**षण्मासानुषितः शुक्लो लज्जाशौचकलान्वितः ॥**
**शिष्योऽध्याप्यो गतो यावदन्तं तन्त्रार्थकर्मणाम् ।**

शिष्य के शुभ लक्षण—जो गुरुभक्त हो अर्थात् उपाध्याय की सेवा में तत्पर हो, शास्त्र के समझने में प्रयत्नशील हो, जिसकी ग्रहणशक्ति-स्मरणशक्ति और इन्द्रियाँ ये सब अच्छे हों, जिसके मुख, नाक और नयन ये सब स्पष्ट हों, जिसके नख कटे हुए छोटे और चिकने हों, जो ब्रह्मचारी ( मैथुन-कर्म-रहित ) हो, जो दुःख और सुख में अपने को दुखी और सुखी न माननेवाला हो, जो निर्दोष हो, जो निर्भय, सच्चरित, गम्भीर और अचपल स्वभाववाला हो, छः मास तक अपने पास में रखकर जिसके सच्चरित्रतादि सद्गुणों की पहिचान गुरुने कर ली हो, जो प्रिय बोलनेवाला और बलवान हो, लज्जायुक्त और शौचयुक्त हो अर्थात् बाहर और भीतर से पवित्र हो, जो कुलान्वित अर्थात् सुकुलीन हो, ऐसे शिष्य को जब तक वह तन्त्र के अर्थ और कर्मज्ञान के अन्त तक न पहुँच जाय तब तक पढ़ाने के योग्य है। भावार्थ यह है कि जब तक शास्त्र को कण्ठस्थ न कर ले, कण्ठस्थ शास्त्र का जब तक पूरा अर्थ न जान ले और शास्त्रीय प्रयोगों का प्रत्यक्ष अभ्यास न कर ले तब तक शिष्य को पढ़ावे[१] ।

अब शास्त्रीय उपदेश करते हैं कि निम्नलिखित समय में तथा प्रकार से नहीं पढ़ाना चाहिए । यथा—

**नाकालविद्युत्स्तनिते भूकम्पे राहुदर्शने ।**
**पञ्चदश्याममचन्द्रायां परोक्षे वा गुरोः पठेत् ॥**
**नाविच्छिन्नपदं नातिमन्दं नात्युच्चनीचकैः ॥**

अनध्यायकालादि—वर्षाकाल को छोड़कर अन्य ऋतुओं में बिजली के कड़कने, मेघ के गर्जने, भूकम्प के होने तथा ग्रहण के दिखाई देने पर नहीं पढ़ना चाहिए । इसी प्रकार अमावस्या और गुरु की अनुपस्थिति में भी नहीं पढ़ना चाहिए । न सन्धि-रहित ( बिना पदच्छेद के ) और न अतिमन्द ( अति स्तब्धतया-ठहरते हुए ), न अति उच्च एवं नीच स्वर से ही पढ़ना चाहिए क्योंकि इस प्रकार से पढ़ने पर विद्यार्थी को सन्धि, प्रयत्न एवं स्वर विशेष का ज्ञान नहीं होता[२] ।

अब शिष्य के अन्य कर्तव्य का निर्देश करते हैं ।—

**हीनान्यवेष आचार्यं पर्युपासीत राजवत् ।**
**शयीत सुप्त एवास्मिन्नुत्तिष्ठेतास्य पूर्वतः ।**
**न ब्रूयात्केवलं नाम नासाध्वपि विनाटयेत् ॥**

शिष्य के कर्त्तव्य—शिष्य को चाहिए कि आचार्य की अपेक्षा हीन वेष करे अर्थात् आचार्य के कपड़ों से बढ़िया कपड़े न पहने और न वैसा वेष करे जैसा कि आचार्य का वेष है । ऐसे शिष्य को आचार्य की उपासना ( सेवा ) राजा के समान करनी चाहिए । आचार्य के शयन करने पर फिर आप सोवे और आचार्य से पहले उठे । केवल आचार्य के नाममात्र को न बोले, अपितु संमानवाचकपदसहित अपने गुरु के नाम को ले। असाधु बर्ताव न करे और गुरु की की हुई दुरिच्छा को भी हँसी ठट्ठी में न उड़ावे[३] । सारांश, प्रत्येक अवस्था में गुरु के संमान का ध्यान रक्खे ।

अब ग्रन्थकार बताते हैं कि किस प्रकार का शिष्य गुरु-सेवा कर भिषक् अर्थात् वैद्यपद को प्राप्त कर सकता है ।

**अभेद्योऽनुद्धतः स्तब्धः सूनृतः प्रियदर्शनः ।**
**बहुश्रुतः कालवेदी ज्ञातग्रन्थोऽर्थशास्त्रवित् ॥**

---

१. शिष्योपनयनमिति । उपनयनं दीक्षा, तदधिकृत्य कृतोऽध्यायः । अन्ये तु उपनयनमात्मवत्ताया अर्थीकरणम् । इति

२. यद्यपि ब्राह्मणादयः प्रागुपनीतास्तथापि आयुर्वेदपठनारम्भे पुनरुपनयनम्, यथा ऋग्यजुस्सामानि अधीत्य अथर्वारम्भे पुनर्व्रतावतरणं धनुर्वेदारम्भे च तद्वदत्रापि । इति सुश्रुतव्याख्याने डल्लनः ।

१. आतन्त्रार्थकर्मणामन्तं गत इति । तन्त्रान्तस्तन्त्रपाठनिष्पत्तिः । अर्थान्तस्तन्त्रावबोधः । कर्मान्तो ज्ञातस्य शास्त्रस्य लक्ष्ये नियोगः । शुक्र प्रियंवद इतीन्दुः ।

२. अविच्छिन्नपदं न पठेत् संहितया न पठेत् । तथा हि विसन्ध्यभ्यासो भवति । अतिमन्दमतिस्तब्धं च न पठेदिति प्रयत्नविशेषः । नात्युच्चैर्नातिनीचैश्च इति स्वरविशेष इतीन्दुः ।

३. तस्य गुरोः केवलं पूजावाचकोपपदरहितं नाम न कीर्तयेत् असाध्वपि न विनाटयेत् गुरुकृतां दुरीहामुपहासपूर्वकं नानुकुर्यादित्यर्थ इतीन्दुः ।

अनाथान् रोगिणो यश्च पुत्रवत्समुपाचरेत्।
गुरुणा समनुज्ञातः स भिषक्छब्दमश्नुते ॥

वैद्य के लक्षण—जो धूर्त अपने प्रतिवादी शत्रुओं को भेद न दे, उनके बहकाने में न आवे, जो किसी भी कार्य को बहुत विचार के अनन्तर करे, जो सबको प्रिय, सच्चा, सुडौल-सुन्दर वेषवाला, बहुश्रुत ( अनेक शास्त्रों का श्रवणकर्ता ) हो, जो समय तथा रोगियों आदि की अवस्था-प्रकृति आदि का जाननेवाला, स्वामी-बान्धवादिहीन-निरुपाय-अनाथ-रोगियों की पुत्रवत् चिकित्सा करनेवाला, योग्यता देखकर जिसे गुरु ने चिकित्सार्थ आज्ञा दी हो, वही गुरु का सच्छिष्य वैद्यपद को प्राप्त करता है।

वैद्य की योग्यता को कहकर अब आचार्य अयोग्य वैद्य का निषेध करते हैं।—

यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः।
स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम् ॥
यः पुनः कुरुते कर्म धाष्ट्र्याच्छास्त्रविवर्जितः।
स सत्सु गर्हामाप्नोति वधं चर्च्छति राजतः ॥

अयोग्य वैद्य के लक्षण—जिसने केवल शास्त्र पढ़ा है परन्तु चिकित्साकर्म कहां पर किस प्रकार किया जाय इसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त नहीं किया है, वह युद्ध को प्राप्त हुए डरपोक की तरह रोगी को देख मोह को प्राप्त होता है अर्थात् डरता है किन्तु उसकी चिकित्सा नहीं कर सकता। भावार्थ यह है कि शास्त्र-ज्ञान एवं प्रत्यक्ष कर्माभ्यास की बड़ी आवश्यकता है। शास्त्र का ज्ञान न होते हुए भी जो धृष्टता से चिकित्सा कर्म करता है, वह श्रेष्ठ जनों में निन्दा को प्राप्त होता है और राजा के द्वारा मारा जाता है। वस्तुतः ऐसे वैद्यों को वैद्य नहीं समझना चाहिए किन्तु उसे कृत्रिम बनावटी वैद्य जानना चाहिए। अन्य ग्रन्थ-कारों ने भी उसे राज्यकण्टक कहते हुए कहा है कि उसे राजा प्राणदण्ड देवे।

वैद्य के दुर्गुणों को कहकर अब ग्रन्थकार उसके गुणों का वर्णन करते हैं।

हेतौ लिङ्गे प्रशमने रोगाणामपुनर्भवे।
ज्ञानं चतुर्विधं यस्य स राजार्हो भिषक्तमः ॥

राजवैद्य के लक्षण—रोगों के आदि कारण, रोगों के लक्षण, रोगों की चिकित्सा, तथा रोग पुनः उत्पन्न ही न हो, इन चार बातों का जिसे ज्ञान है, वही राजाओं के योग्य श्रेष्ठ वैद्य है।

शस्त्रं शास्त्राणि सलिलं गुणदोषप्रवृत्तये।
पात्रापेक्षीण्यतः प्रज्ञां बाहुश्रुत्येन बृंहयेत् ॥

शास्त्र के पात्रापात्र—शस्त्र, शास्त्र और जल इन तीनों की गुणदोषप्रवृत्ति पात्र की अपेक्षानुसार होती है। जैसा पात्र मिलता है उसी के अनुरूप शस्त्र, शास्त्र एवं जल की प्रवृत्ति गुण या दोष में होती है। जैसे कि शौर्ययुक्त पात्र ( शूरवीर ) के मिलने से शस्त्रगुणकारी ( विजयप्रद ) होता है किन्तु वही अपात्र ( डरपोक-भीरु ) को प्राप्त होने से दोषप्रद ( हारजाने-वाला ) होता है। यही बात शास्त्र के लिए है। शास्त्र को विद्वान् सज्जन पात्र मिलने से वह जगत् का कल्याण कर सकता है परन्तु इसके विपरीत शास्त्र को मूर्ख पात्र मिलने से वह जगत् का कल्याण नहीं करके अकल्याण ही कर सकता है। यही उदाहरण सलिल (जल) के लिए घट सकता है। जल को स्वच्छ पात्र मिलने से वह अमृतमय रहकर शान्तिदायक होता है, परन्तु मैला-कुचैला कुपात्र मिलने से शान्ति की जगह वह अशा-न्तिकारक होता है। इस लिए वैद्य को चाहिए कि वह अनेक शास्त्रों का श्रवण मनन कर अपनी बुद्धि को बढ़ावे ताकि उस का पढ़ा हुआ शास्त्र सबका कल्याण कर सके। उस सुपात्र वैद्य को प्राप्त कर शास्त्र की भी शोभा बढ़े।

प्रदीपभूतं शास्त्रं हि दर्शनं विपुला मतिः।
ताभ्यां भिषक्सुयुक्ताभ्यां चिकित्सन्नापराध्यति॥

वैद्य को शास्त्राध्ययन की आवश्यकता—शास्त्र दीपक की तरह है और विपुल बुद्धि दृष्टि की तरह। जिस प्रकार दीपक के प्रकाश में दृष्टि आसपास के समस्त पदार्थों का भली भांति अवलोकन कर लेती है, ठीक इसी प्रकार सद्वैद्य को चाहिए कि वह शास्त्रों के प्रकाश द्वारा अपना बुद्धि को प्रशस्त बनावे क्योंकि सच्छास्त्रोपदेश तथा अपनी निर्मल बुद्धि द्वारा चिकित्सा करनेवाला वैद्य कदापि अपराधी नहीं हो सकता।

किस प्रकार का वैद्य सिद्धि को प्राप्त कर सकता है, अब ग्रन्थकार इसका वर्णन करते हैं।

आहूत एव यो याति सुवेषः सुनिमित्ततः।
गत्वाऽऽतुरार्थादन्यत्र न निधत्ते मनः क्वचित् ॥
व्याधीन् परीक्षते सम्यङ् निदानादिविशेषतः।
ह्रेपणीयां च तद्वार्तां न प्रकाशयते बहिः ॥
सहसा न च तस्यापि क्रियाकालमहापयन्।
जानाति-चोपचरितुं स वद्यः सिद्धिमश्नुते ॥

सद्वैद्य के लक्षण—दूतादि विज्ञानीय अध्यायोक्त कुचैलादि वेषरहित सुन्दर वेष का धारणकर, बुरे शकुनों को त्याग अच्छे शकुनों को लेकर जा बुलाने पर ही रोगी के घर जाता है और जाकर भी जो रोगी के निदानादि हितों के अतिरिक्त कहीं भी अपने मन को नहीं लगाता, निदान-पूर्वरूप-रूप-उपशय और संप्राप्ति नामक निदानपञ्चक से रोग की परीक्षा करके उस की योग्य चिकित्सा भी करता है। रोगी जिससे लज्जित हो ऐसी उसकी गुप्त बात को लोगों के सामने प्रकट नहीं करता। कदा-चित् चिकित्सा में हानि न हो जाय, इस डर से न रोगी से ही एकदम कहता कि तेरा रोग इस प्रकार का भयङ्कर है। चिकित्सा के उपयुक्त समय को न छोड़ता हुआ जो ठीक चिकित्सा करना जानता है, वही वैद्य सिद्धि को प्राप्त करता है।

प्रसङ्गवशात् अब आचार्य वैद्य तथा रोगी को उनके कर्तव्या-कर्त्तव्य का ज्ञान कराते हैं।

---

१. य आहूत एवातुरगृहं याति। सुवेषः दूतादिविज्ञानीयोक्तकुचैलादिवेषरहितः। सुनिमित्ततो याति, दुर्निमित्तं दृष्ट्वा न यातीत्यर्थः। निदानादिभिः पञ्चभिर्व्याधिपरीक्षणं तद्योग्या चिकित्सा च। ह्रेपणीयां गोप्यां लज्जावहां चातुरवार्तां बहिर्जनसंसदि न प्रकाशयेत्। आतुरस्यापि झटिति न प्रकाशयेत् ईदृशी तव पीडेति। एवं ह्यातुरस्य व्याधि-स्वरूपं कथयतो भिषजः कदाचित् चिकित्साहानिर्भवतीति इन्दुः।

नाददीतामिषं स्त्रीभ्यस्तदध्यक्षे पराङ्मुखे ।
ताभिश्च रहसि स्थानं परिहासं च वर्जयेत् ॥
आर्तं च नृपसद्वैद्यद्विष्टं तद्द्वेषिणं द्विषम् ।
चण्डं शोकातुरं भीरुं कृतघ्नं वैद्यमानिनम् ॥
हीनोपकरणं व्यग्रमविधेयं गतायुषम् ।
जिजीविषुर्व्याधितोऽपि पूर्वोक्तगुणवर्जितान् ॥
क्रियाविक्रयिणो वैद्यान्मृत्योरग्रेसरा हि ते ॥

वैद्य और रोगी को चेतावनी—वैद्य को चाहिए कि वह परस्त्रियों से उनके पतियों की अनुपस्थिति में धन आदि किसी भी भोग्य वस्तु को ग्रहण न करे[1] और न उनके साथ एकान्त स्थान में रहे, न उनसे हँसी ठट्ठा ही करे।

जिससे राजा-सज्जन पुरुष और सद्वैद्य द्वेष करते हों, जो राजा, सज्जन और सद्वैद्यों से द्वेष करता हो, जो अपना शत्रु हो, अभिमानी-शोकातुर-डरपोक किए हुए उपकारों को न माननेवाला-वैद्य न होते हुए भी अपने को वैद्य माननेवाला-अपने ही मत से अपनी औषधि करनेवाला-चिकित्सा के संभारों से हीन, अनेक कार्यों में व्यस्त, वैद्य की आज्ञा को न माननेवाला-और रिष्टज्ञान से जिसकी आयु शेष न दिखाई देती हो वैद्य को चाहिए कि ऐसे रोगी को त्याग देवे।

इसी प्रकार जीनेकी इच्छावाले रोगी को भी चाहिए कि वह पहले बताए हुए गुणों से वर्जित, द्रव्य के लोभ से चिकित्सा को बेचनेवाले वैद्यों को त्याग दे क्योंकि वे वैद्य नहीं हैं किन्तु यमराज के सिपाही हैं।

जो चिकित्सा के प्रयोजक हैं—जिनके बिना चिकित्सा हो ही नहीं सकती इस लिए आचार्य अब चिकित्सा के पादचतुष्टय का वर्णन करते हैं।

भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम् ।
चिकित्सितस्य निर्दिष्टं प्रत्येकं तच्चतुर्गुणम् ॥
दक्षस्तीर्थात्तशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक् ।
बहुकल्पं बहुगुणं संपन्नं योग्यमौषधम् ॥
अनुरक्तः शुचिर्दक्षो बुद्धिमान् परिचारकः ।
आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो ज्ञापकः सत्त्ववानपि ॥

चिकित्सा के चार पाद और उनके गुण—वैद्य, औषधि, सेवक और रोगी ये चिकित्सा के चार पाद अर्थात् चरण हैं और इनमें से प्रत्येक के भी चार चार गुण बताए गए हैं जैसे कि गुरु से अर्थ सहित शास्त्र का अध्ययन किया हुआ, कई रोगों की चिकित्सा कर अनुभव को प्राप्त किया हुआ, शरीर और मन से शुद्ध और चतुर ये वैद्य के चार गुण हैं। स्वरस-क्वाथ-चूर्णादि करके अनेक प्रकार से जिसकी कल्पना की गई हो, सारक, मन्द आदि गुणों से जो अनेक रोगों का नाशकारी हो, पाक आदि रीति से जो अच्छी तरह तयार किया गया हो, जो प्रशस्त देश में उत्पन्न हुआ-अविपन्न ( कीट, जल आदि से घुन लगा हुआ या सड़ा गला न हो ) और व्याधि, देश, काल, दोष, दूष्य, वय, देह तथा बलाबल के अनुसार रोगी के लिए हितकारी हो ये चार गुण औषध के हैं। सब विषयों में चतुर, रोगी का भक्त या प्रेमी, शरीर और मन से शुद्ध और बुद्धिमान् ये परिचारक या सेवक के चार गुण हैं। धनवान्, वैद्यका आज्ञाकारी, सेवन किए हुए औषध-अन्न-विहार के गुणावगुणों का तथा रोग की अवस्था का अनुभव कर ठीक ठीक बतानेवाला तथा निर्भय ये रोगी के चार गुण बताए गये हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त चिकित्सा के चार पादों तथैव उनमें से प्रत्येक के चार चार गुणों का जो वर्णन किया गया है वह महर्षि आत्रेय के कथन का अनुवादमात्र है किन्तु भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत को इन वैद्य आदि चिकित्सा के चार पादों के विषय में कुछ अधिक कहा है। हम पाठकों के हितार्थ उसे यहां कह देना उचित समझते हैं। भगवान् धन्वन्तरि के मत में—

वैद्य—वह है जिसने यथावत् शास्त्र का अध्ययन कर उसके तत्त्वार्थ को जान लिया है, जो छेदन-भेदन-स्नेहनादि द्वारा कई बार प्रत्यक्ष चिकित्सा कर चुका है, जो स्वयं सब कर्मों का करनेवाला है, छेदनादि क्रियाओं में जिसका हाथ हल्का ( नहीं कांपनेवाला ) है, भीतर और बाहर से शुद्ध, विषाद से रहित और जो समस्त औषधियां यन्त्र-शस्त्रादि अपने पास तयार रखता है, जो प्रत्येक अवस्था में नहीं भूलनेवाला, नहीं कही हुई बात को भी अपनी बुद्धि से जान लेनेवाला, उत्साही, पण्डित तथा सत्य धर्म का आचरण करनेवाला है।

रोगी—वह है जो दीर्घायु, क्लेशको सहन करनेवाला, बलवान् है, जिसका रोग साध्य है, जो धनवान्, निर्लोभी, आस्तिक और वैद्य के कथनानुसार चलनेवाला है।

औषधि—वह है जो श्रेष्ठ भूमि में उत्पन्न, सुमुहूर्त्त में लाई गई, प्रामाणिक, मनको प्रिय, स्वगन्ध-वर्ण और रस से युक्त, वातादि दोषों को शमन करनेवाली, ग्लानि न करनेवाली, न्यूनाधिक मात्रा में देने पर भी अविकारी और जो समयानुसार दी गई हो। और—

सेवक—वह है जो रोगी का प्रेमी, कष्टावस्था में भी रोगी की निन्दा नहीं करनेवाला, क्लेश को सहनेवाला, बलवान्, रोगी की रक्षा करने में योग्य, वैद्य के उपदेश को माननेवाला और जो थकावट को नहीं माननेवाला है।

चिकित्सा के चार पादों का वर्णन करके भी अब ग्रन्थकार इन सब में वैद्य के उत्तरदायित्व एवं प्रधानता का कारण बताते हैं।

यद्वैद्ये विगुणे पादा गुणवन्तोऽप्यनर्थकाः ।
स पादहीनानप्यार्तान् गुणवान् यच्च यापयेत् ।
चिकित्सायास्तमेवातः प्रधानं कारणं विदुः ॥

१. परस्त्रीभ्यो नामिषमर्थादिकमाददीत न गृह्णीयात्। "आमिषं भोग्यवस्तुनि" इति कोषः। मृत्योरग्रेसराः पुरुषाः पदातय इतीन्दुः।

१. तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयंकृती। लघुहस्तः शुचिः शूरः सज्जोपस्करभेषजः ॥ प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारदः सत्यधर्मपरो यश्च स भिषक्पाद उच्यते ॥ आयुष्मान् सत्त्ववान् साध्यो द्रव्यवानात्मवानपि। आस्तिको वैद्यवाक्यस्थो व्याधितः पाद उच्यते ॥ प्रशस्तदेशसंभूतं प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम्। युक्तमात्रं मनस्कान्तं गन्धवर्णरसान्वितम् ॥ दोषघ्नमग्लानिकरमविकारि विपर्यये। समीक्ष्य दत्तं काले च भेषजं पाद उच्यते ॥ स्निग्धोऽजुगुप्सुर्बलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे। वैद्यवाक्यकृदश्रान्तः पादः परिचरः स्मृतः ॥ इति ॥

चतुष्पाद में भी वैद्य की प्रधानता—पूर्वोक्त चिकित्सा के चार चरणों में औषध, सेवक और रोगी इन तीनों के गुणवान् होने पर भी अकेले वैद्य के गुण-रहित रहने पर अर्थात् वैद्य के न होने पर औषध, सेवक और रोगी ये तीनों किसी काम के नहीं रहते। बिना वैद्य के ये तीनों रोगी को रोगमुक्त नहीं कर सकते। सारांश, अकेला भी वैद्य रोगी की मरण से रक्षा कर सकता है अतः चिकित्सा के सुधरने-बिगड़ने का उत्तरदायित्व वैद्य पर ही है। इसीलिए वैद्य को विद्वानों ने मुख्य माना है। चरक और सुश्रुत ने भी अनेक प्रमाणों द्वारा इस बात की पुष्टि की है। इन्होंने स्पष्ट कहा है कि "यद्यपि षोडश गुणवाला पादचतुष्टय चिकित्सा में सिद्धि का कारण है तथापि औषधि का जाननेवाला, परिचारक पर शासन करने वाला, यों करो, त्यों करो, यह मत करो इत्यादि कहनेवाला, रोगी पर प्रयोग करनेवाला अकेला वैद्य ही है अतः चिकित्सा में प्रधान कारण वैद्य ही है।"[1] अध्वर्यु ( उपाध्याय ) के बिना यज्ञ में उद्गाता, होता और ब्रह्मा इन तीनों की तरह चिकित्सा में गुणवान् होते हुए भी वैद्य के बिना उक्त तीनों पाद निरर्थक हैं। जैसे नौका का कर्णधार अन्य खेवटियों के बिना भी नैया को पार लगा सकता है, ठीक इसी प्रकार अकेला गुणवान् वैद्य रोगियों को सदैव तारनेवाला होता[2] है।

चिकित्सा की प्रवृत्ति व्याधि के नाश करने के लिए है अतः आचार्य अब व्याधि के साध्यासाध्य-विषय में कहते हुए उपदेश करते हैं।

**साध्योऽसाध्य इति व्याधिर्द्विधा तौ तु पुनर्द्विधा।**
**सुसाध्यः कृच्छ्रसाध्यश्च याप्यो यश्चानुपक्रमः॥**
**सर्वौषधक्षमे देहे यूनः पुंसो जितात्मनः।**
**अमर्मगोऽल्प-हेत्वग्ररूप-रूपोऽनुपद्रवः॥**
**अतुल्य-दूष्य-देशर्तु-प्रकृतिः पादसंपदि।**
**ग्रहेष्वनुगुणेष्वेकदोषमार्गो नवः सुखः॥**
**सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते।**
**कृच्छ्रैरुपायैः कृच्छ्रस्तु महद्भिश्च चिरेण च॥**
**असाध्यलिङ्गसंकीर्णस्तथा शस्त्रादिसाधनः।**
**शेषत्वादायुषः पथ्यैर्याप्यः प्रायो विपर्यये॥**
**दत्त्वाल्पं सुखमल्पेन हेतुना स प्रतन्यते।**
**याति नाशेषतां रोगः कर्मजो नियतायुषः॥**
**प्रपतन्निव विष्कम्भैर्धार्यतेऽत्रातुरो हितैः।**
**परोऽसाध्यः क्रियाः सर्वाः प्रत्याख्येयोऽतिवर्तते॥**
**तस्मादुपेक्ष्य एवासौ स्थितोऽत्यन्त-विपर्यये।**
**भ्रम-मोहारति-करो दृष्टरिष्टोऽक्ष-नाशनः॥**

व्याधि की साध्यासाध्यता आदि—**रोग के साध्य और असाध्य ऐसे दो प्रकार होते हैं। साध्य और असाध्य व्याधि** के भी दो दो प्रकार हैं जैसे कि सुखसाध्य और कष्टसाध्य ये प्रकार साध्य व्याधि के हैं, इसी प्रकार असाध्य रोग के भी याप्य और प्रत्याख्येय ऐसे दो भेद हैं। अब सुखसाध्य, कृच्छ्र-साध्य, याप्य और प्रत्याख्येय इन चारों के भिन्न भिन्न लक्षणों का वर्णन करते हैं।

(१) सुखसाध्य—वह व्याधि है जो सब प्रकार की औषधियों को सहन करनेवाले जितेन्द्रिय, युवा ( जवान ) पुरुष के शरीर में होती है, जो अमर्मग अर्थात् हृदय-कण्ठ आदि मर्म-स्थानों में न होकर अन्य सुखसाध्य स्थानों में होती है, जिसके निदान-पूर्वरूप और रूप स्वल्प लक्षणोंवाले होते हैं, जिसमें उपद्रवरूप अन्य व्याधि खड़ी नहीं होती, जो अतुल्य ( असमान ) दूष्य-देश-ऋतु और प्रकृति में उत्पन्न होती है। उदाहरण—जैसे कि वात-पित्त-कफ ये तीनों दोष क्रम से शीतोष्ण, उष्ण और शीत हैं। यदि रक्त दूष्य पित्त दोष से दूषित हुआ तो ये दोनों तुल्य दोष और दूष्य हैं क्योंकि ये दोनों उष्ण हैं अतः इन दोनों के संयोग से होने-वाली व्याधि की सुखसाध्यता सिद्ध नहीं होती परन्तु यदि ठण्डे कफ से रक्त दूषित हुआ तो यह अतुल्य दोष-दूष्य व्याधि हुई क्योंकि एक ठण्डा तो दूसरा गरम है। अतुल्य देश व्याधि जैसे कि आनूप देश में पित्त का उत्पन्न होना। यहां आनूप देश कफप्रधान होने से ठण्डा और पित्त उष्ण है। अतुल्य-ऋतुजन्य व्याधि जैसे कि शरद् ऋतु में कफ का कुपित होना है। यहां शरद् ऋतु कफ का कोपकाल नहीं है किन्तु पित्त का कोपकाल है। अतुल्य-प्रकृति व्याधि जैसे कि पित्तप्रकृतिवाले पुरुष के शरीर में कफ का कुपित होना। यहां पित्त उष्ण और कफ शीत है। इस प्रकार जो रोग अतुल्य-दूष्यदेशर्तुप्रकृतिजन्य होता है, वह सुखसाध्य होता है। कुछ रोगों को तुल्यदूष्यादि होते हुए भी सुखसाध्य माना है जैसे कि ज्वर और प्रमेह[1]। इनके अतिरिक्त जो रोग वैद्य-औषधि-सेवक और रोगी इन चारों की परिपूर्णता में होता है, जो अनुकूल राशिस्थित ग्रहों की दशा में उत्पन्न होता है, जो रोग वात, पित्त और कफ इन तीन दोषों में से किसी एक से उत्पन्न हुआ हो, जो भीतर या बाहर के एक मार्ग में ही हुआ हो, जो रोग नया अर्थात् एक साल के भीतर का उत्पन्न हुआ हो और जिस में विशेष कष्ट का अनुभव न हो ऐसे रोग को सुखसाध्य कहते हैं अर्थात् इसका उपाय सुख से हो सकता है और यह स्वल्पकाल में ही शान्त हो जाता है।

(२) कृच्छ्रसाध्य—अर्थात् कष्टसाध्य रोग वह है जो बड़े कष्ट से बड़े बड़े दुष्कर उपायों से बहुत समय के अनन्तर कहीं शान्त होता है और जो उन असाध्य लक्षणों से मिश्रित होता है जिनका वर्णन ग्रन्थकार आगे चलकर यथास्थान करेंगे जिसकी शान्ति शस्त्र-क्षार और अग्निकर्मादि से करनी पड़ती है। सुश्रुत ने स्थूलमान से रोग दो प्रकार का माना है जैसे कि शस्त्रसाध्य और स्नेहादि क्रियाओं से साध्य। शस्त्र-साध्य व्याधियो में स्नेहादि क्रिया भी कर सकते हैं परन्तु

---

१. कारणं षोडशगुणं सिद्धौ पादचतुष्टयम्। विज्ञाता शासिता योक्ता प्रधानं भिषगत्र तु॥ इति चरकः

२. वैद्यहीनास्त्रयः पादा गुणवन्तोऽप्यपार्थकाः। उद्गातृहोतृब्रह्माणो यथाध्वर्युं विनाध्वरे॥ वैद्यस्तु गुणवानेकस्तारयेदातुरान् सदा। प्लवं प्रतितरैर्हीनं कर्णधार इवाम्भसि॥ इति सुश्रुतः

१. "ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता। रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यत्वहेतवः॥" इति

२. यस्माद्वत्सरातीता व्याधयोऽसाध्याः। इत्यरुणः

स्नेहादि क्रियासाध्य रोग में शस्त्रक्रिया नहीं की जाती[१] है।

(३) याप्य—व्याधि उसे कहते हैं जो असाध्य लक्षणों के रहते हुए भी आहार-विहारों के सेवन करने तथा आयु के शेष रहने से प्रायः रोगी को नहीं मारती है, थोड़ी सी चिकित्सा से रोगी को थोड़ा सुख देती है, वैसे ही थोड़े से किसी कारण को लेकर बहुत बढ़ जाती है। सारांश यह कि याप्य व्याधि कर्मों से उत्पन्न होने के कारण उसकी आयु नियत रहती है अतः गिरते हुए घर को जैसे स्तम्भ नहीं गिरने देते वैसे ही यह व्याधि न तो आप शान्त होती है और न रोगी को ही मरने[२] देती है।

(४) प्रत्याख्येय—अर्थात् अनुपक्रम व्याधि वह है जो असाध्य होती है, जो सब प्रकार की चिकित्सा को न मानती हुई उसे निष्फल करती है, जिस में भ्रम अर्थात् चित्त का स्थिर न रहना, चक्कर आना, बेहोशी, किसी भी वस्तु में मन का न लगना, दृष्टि आदि इन्द्रियों के धर्म का नष्ट हो जाना इत्यादि लक्षण होते हैं। सुखसाध्य लक्षणों के अत्यन्त बिगड़ जाने पर इसे त्याग देना ही अच्छा[३] है।

इस प्रकार रोग की पहले परीक्षा करके तदनन्तर चिकित्सा का आरम्भ करना चाहिए, अन्यथा चिकित्सा में प्रवृत्त होने से निश्चय ही वैद्य के स्वार्थ, विद्या और यश की हानि होती है।

अब आचार्य साध्यासाध्यसंयोग की बलवत्ता आदि का वर्णन करते हैं।

**साध्ययोरपि संयोगो बलिनोर्यात्यसाध्यताम् ।**
**विद्यादसाध्यमेवातः साध्यासाध्यसमागमम् ॥**
**नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो यातित्वसाध्यताम्।**
**पादापचाराद्दैवाच्च यान्त्यवस्थान्तरं गदाः ॥**

साध्यासाध्य में भी असाध्य और साध्य का संभव—साध्य-लक्षण-युक्त बलवान् के साथ भी असाध्य-लक्षणसंयोग ऐसा होता है कि वह असाध्यता को प्राप्त हो जाता है। इस लिए साध्य और असाध्य के संयोग को असाध्य ही जानना चाहिए क्योंकि असाध्य व्याधि कभी भी साध्यता को प्राप्त नहीं होती किन्तु साध्य अवश्य असाध्यता को प्राप्त होती है। कभी कभी पादापचार अर्थात् वैद्य, औषधि, परिचारक और रोगी इन चिकित्सा के चार चरणों की अपूर्णता (कमी) या भूल से तथा इन चारों की अपेक्षा न करनेवाले भाग्य (पूर्व जन्मकृत कर्म) के बल से भी रोग अपने स्वरूप को छोड़ विलक्षण रूप को धारण कर[१] लेते हैं।

वैद्य के कर्त्तव्याकर्त्तव्य-प्रसङ्ग में ग्रन्थकार यह भी कहते हैं कि—

**वरमाशीविषविषं क्वथितं ताम्रमग्निमयोऽपि वा ।**
**उपयुञ्जीत न त्वार्त्तादामिषं कृपणाज्जनात् ॥**
**वरो भूतदयाधर्म इत्यार्त्तेषु भिषग्वरः ।**
**वर्तते यस्तु सिद्धार्थः स सर्वमतिवर्तते ॥**

इत्यष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थाने द्वितीयोऽध्यायः।

दयालु वैद्य की आवश्यकता—भयङ्कर सर्प के विष, जलती हुई अग्नि और सन्तप्त लोहे का उपयोग करना अच्छा है परन्तु कृपण (मूंजी) रोगी से प्राप्त भोग्य वस्तुओं का उपयोग नहीं करना चाहिए। प्राणियों पर दया करना श्रेष्ठ धर्म है, यह समझकर जो वैद्य रोगियों से वर्ताव करता है, वह धन आदि सर्व सिद्धियों को प्राप्त कर सर्व सज्जनों पर अपना अधिकार जमा लेता है।

इत्यष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिका-हिन्दीव्याख्यायां द्वितीयोऽध्यायः॥

# अथ तृतीयोऽध्यायः ।

इस शास्त्र का प्रकृत विषय आयुष्य का पालन करना है और वह स्वस्थवृत्त तथा आतुरवृत्त इन दो भागों में विभक्त है। इसी लिए इस शास्त्रका अन्य नाम स्वस्थातुरपरायण शास्त्र है। स्वास्थ्य का समुचित रक्षण किया जाय तो रोग हो ही नहीं सकता अतः आचार्य दिनचर्यापूर्वक अब स्वस्थवृत्त का वर्णन करते हैं।—

## अथ स्वस्थवृत्तम् ।

**अथातो दिनचर्यां नामाध्यायं व्याख्यास्यामः ।**
**इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।**

दिनचर्या का वर्णन—प्रतिदिन किए जानेवाले सदाचरण का नाम दिनचर्या है अतः स्वस्थवृत्त के लिए प्रथम इसका वर्णन करना आवश्यक है। स्वस्थवृत्त वस्तुतः इसीके अन्तर्गत है। इसी लिए आचार्य कहते हैं कि अब हम दिनचर्या नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने की है।

**ब्राह्मे मुहूर्त्त उत्तिष्ठेज्जीर्णाजीर्णं निरूपयन् ।**
**रक्षार्थमायुषः स्वस्थो ......... ... ॥**

ब्राह्ममुहूर्त्त में उठना—अपने आयुष्य की रक्षा के लिए नीरोग मनुष्य अपना किया हुआ आहार पच गया कि नहीं, इसका ठीक विचार करके ब्राह्ममुहूर्त्त में उठे।

वक्तव्य—नीरोग मनुष्य ब्राह्ममुहूर्त्त में उठे। यहां नीरोग

---

१. द्विविधा व्याधयः शस्त्रसाध्याः स्नेहादिक्रियासाध्याश्च। तत्र शस्त्रसाध्येषु स्नेहादिक्रिया न प्रतिषिध्यते; स्नेहादिक्रियासाध्येषु शस्त्र-कर्म न क्रियते। इति

२. बाहुल्येन विपर्यये साध्यलक्षणविपरीतत्वे सत्यायुषो जीवितस्य शेषत्वादक्षीणत्वान्मारयितुमसमर्थः पथ्यैराहारविहारैर्याप्यः। स च व्याधिः चिकित्सितेनाल्पं सुखं दत्वा पुनः सोऽल्पेनैव हेतुना प्रतन्यते विस्तीर्यते। अतश्च दुष्कृतकर्मजो रोगो नियतायुष उत्पन्नो न च नश्यति नापि मारयतीतीन्दुः।

३. असाध्यः प्रत्याख्येयस्सन् सर्वाः क्रियाश्चिकित्सा अतिवर्तते कुण्ठयति। तस्मात्सुखसाध्यलक्षणेभ्योऽत्यन्तविपरीतत्वे स्थित उपेक्ष-णीय एव। भ्रमः चित्तस्य बहुस्वरूपमवस्थानम्। अक्षनाशनो दर्श-नादीन्द्रियनाशन इतीन्दुः।

१. पादापचारो यथोक्तानामङ्गानामपरिपूर्णत्वम्। अथवा सर्व एव व्याधयः पादनिरपेक्षा एव दैवाद्धेतोरवस्थान्तरं स्वरूपादिलक्षणतां यान्ति। दैवमन्यजन्मकृतं कर्मेतीन्दुः।

( स्वस्थ ) शब्द से ध्वनित होता है कि यह नियम रोगी के लिए नहीं[1] है। मुहूर्त्त दो घड़ी का नाम है। ये दो घड़ियाँ उस समय का नाम है जब रात्रि ४ घड़ी शेष रहती है । इस समय में योगी पुरुष ब्रह्म ( परम पिता परमात्मा ) का ध्यान करते हैं। विद्यार्थी इस समय में ब्रह्म अर्थात् ज्ञान के लिए अध्ययन करते हैं अतः इन से सम्बन्धवाले समय का नाम ब्राह्ममुहूर्त्त[2] है। किया हुआ आहार पच गया कि नहीं, यह सोच विचार कर उठे, इसका भावार्थ यह है कि आहार का पाचन जब तक न हो जाय तब तक सोना चाहिए।

ज्योतिश्शास्त्र के मत से २६ वाँ मुहूर्त्त अर्थात् जिससे दूसरा सूर्योदय आठ घड़ी के अनन्तर होता है, ब्राह्ममुहूर्त्त होता है परन्तु इन्दु, अरुणदत्त और चन्द्रनन्दन इस मत को नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि रात्रि की पिछली दो या चार घड़ियों का नाम ब्राह्ममुहूर्त्त है।

ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठने के अनन्तर क्या करे ? अब आचार्य इस का वर्णन करते हैं कि—

जातवेगः समुत्सृजेत् ।
उदङ्मुखो मूत्रशकृद्दक्षिणाभिमुखो निशि ॥
वाचं नियम्य प्रयतः संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ।
प्रवर्तयेत्प्रचलितं न तु यत्नादुदीरयेत् ॥
नामेध्यमार्गमृद्भस्मगोस्थानाकीर्णगोमये ।
पुरान्तकाग्निवल्मीकरम्योत्कृष्टचितिद्रुमे ॥
न नारी पूज्यगोऽर्कन्दुवाय्वब्राग्निजलं प्रति ।
न चातिरस्कृत्य महीं भयाशक्त्योस्तु कामतः ॥
न वेगितोऽन्यकार्यः स्यान्नाजित्वा साध्यमामयम् ॥

शौचविधि—जब मूत्र और मलका वेग प्रतीत हो तब दिन में उत्तर की ओर और रात्रि में दक्षिण की ओर मुख करके, मौन को धारण कर, किसी भी अन्य कार्य में प्रवृत्ति न रखता हुआ, धोती आदि वस्त्र धारण किया हुआ, सिर को वस्त्र से ढककर आते हुए मल और मूत्र को विसर्जन करे परन्तु न आते हुए मूत्र और मलका जबर्दस्ती यत्नकर विसर्जन न करे क्योंकि इस प्रकार जबर्दस्ती करने से वातादि दोषों के कुपित होने का संभव होता है। मलविसर्जन के पहले यह ध्यान रहे कि अत्यन्त अशुद्ध स्थान, मार्ग, मिट्टी और राख के ढेर, गौओं के बैठने की जगह, जहां गोबर बिखरा हुआ हो, जहां जनसमुदाय हो, नगर के छोर, अग्नि के समीप, वल्मीक ( सर्पादि के दीर्घ बिल या बाम्बीपर ), सुन्दर स्थान में, हल द्वारा बोई हुई भूमि में, यज्ञ के लिए जहां अग्निचयन किया गया हो, वृक्ष के नीचे या ऊपर, स्त्री-गुरु आदि पूज्य-गाय-सूर्य-चन्द्र-वायु-अग्नि और जल के सामने, भूमि का अतिरस्कार करता हुआ कदापि मलका या मूत्र का विसर्जन न करे । यदि अपने स्वामी-चौर आदि का भय हो-शरीर अशक्त हो तो वह इच्छापूर्वक मल मूत्र का विसर्जन करे। मल मूत्र का वेग उत्पन्न होने पर अन्य कार्य न करे अपितु प्रथम मल मूत्र का त्याग करे। इसी प्रकार सुखसाध्य रोग के होने पर भी पहले उसको जीते ( शमन करे ) क्योंकि प्रथम उस सुखसाध्य रोग के न जीतने पर वही ( साध्यरोग ) आगे चलकर असाध्य रूप धारण कर सकता है।

मल-मूत्र विसर्जन के अनन्तर क्या करना चाहिए ? अब ग्रन्थकार इस विषय को कहते हैं।

निश्शल्यादुष्टमृत्पिण्डीपरिमृष्टमलायनः[1] ।
अभ्युद्धृताभिः शुचिभिरद्भिर्मृद्भिश्च योजयेत् ॥
लेपगन्धापहं शौचमनुत्पतितबिन्दुभिः ॥

गुदप्रक्षालनविधि—जिसमें कांटे लकड़ी आदि न हो, ऐसी शुद्ध मुट्ठी भर मिट्टी से गुदा को मांजा है जिसने वह नदी में कटीमात्र को डुबाकर शौच न करे अपितु दाहिने शुद्ध हाथ से तथा लोटा आदि से नदी या तालाब से लिए हुए इतने शुद्ध जल एवं मिट्टी से शौच ( गुदप्रक्षालन ) करे जिससे गुदा पर लगा हुआ मलका लेप तथा दुर्गन्धि दूर हो जाय और शौच्यार्थ प्रयोग किए जानेवाले जल के छींटे ऊपर की ओर उड़कर न लगे क्योंकि ऊपर की ओर उड़नेवाले छींटे अस्पृश्य होते हैं।

मलमूत्रविसर्जन शुद्धिके अनन्तर प्रसङ्गवशात् अब आचार्य और भी शुद्धि का उपदेश करते हैं—

स्पृष्ट्वा धातून्मलानश्रुवसाकेशनखांश्च्युतान् ।
स्नात्वा भोक्तुमना भुक्त्वा सुप्त्वा क्षुत्वा सुरार्चने ॥
रथ्यामाक्रम्य चाचामेदुपविष्ट उदङ्मुखः ।
प्राङ्मुखो वा विविक्तस्थो न बहिर्जानु नान्यदृक् ॥
अजल्पन्नुत्तरासङ्गी स्वच्छैरङ्गुष्ठमूलगैः ।
नोद्धृतैर्नानतो नोर्ध्वं नाग्निपक्वैर्न पूतिभिः ॥
न फेनबुद्बुदक्षारैर्नैकहस्तार्पितैर्जलैः ।
नार्द्रैकपाणिर्नामेध्यहस्तपादो न शब्दवत् ॥

प्रत्येकदशा में पवित्रता की आवश्यकता—केवल मलमूत्रविसर्जन के अनन्तर ही नहीं, किन्तु रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य इन समस्त धातुओं, मूत्र, विष्ठा, स्वेद, कान का मैल इन मलों, आंसू, जल के सदृश मेद का या शुद्ध मांस का सचिक्कण भाग[2] वसा, केश और नख इनके शरीर से गिरने के समय स्पर्श होने पर, इसी प्रकार स्नान करने पर, भोजन के आदि में और अन्त में, सोकर उठने पर, छींकने पर, देवता के पूजन के आरम्भ में गलियों में से घूम फिर आने पर उत्तर या पूर्व दिशा की ओर मुख करके, लोगों से अलग बैठ कर, अपने गोड़ों के भीतर दोनों हाथ रख कर,

---

१. स्वस्थो नीरोगः, रोगिणस्त्वनियम इति हेमाद्रिः।

२. मुहूर्त्तो नाडिकाद्वयम्। ब्रह्मणोऽयं ब्राह्मः। ब्रह्मज्ञानं तदर्थमध्ययनाद्यपि ब्रह्म तस्य योग्यो मुहूर्त्तो ब्राह्म इतीन्दुः।

१. निश्शल्यया काष्ठादिशल्यरहितया। अदुष्टया योग्यया। मृत्पिण्ड्या परिमृष्टमलायनः संमार्जितगुदः। अभ्युद्धृताभिरद्भिः नदीतटाकादितः कलशपाण्यादिना उद्गृहीताभिः। न तु कटीमेव नद्यामवगाह्य शौचयेत्। न चाशुचिना करेण मृत्सहिताभिरद्भिः। लेपगन्धापहं मलायने लेपगन्धौ लेपश्च गन्धश्च येन नश्यति। एतेन मृदोऽपां शौचस्य च मानमुक्तं भवति। अनुत्पतितबिन्दुभिरद्भिः यत उत्पतिता बिन्दवोऽस्पृश्या इतीन्दुः।

२. शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता। इति सुश्रुतः।

अन्य किसी ओर न देखता हुआ, मौन होकर, शरीर पर उत्तरीय वस्त्र ( अङ्गौछा ) लेकर, अङ्गुष्ठमूल अर्थात् ब्राह्मतीर्थ से स्पर्श करनेवाले शुद्ध जल से आचमन करे। जिस की धारा टूटती हो, जिसे एक ही हाथ से कोई देता हो ऐसे उष्ण, दुर्गन्धयुक्त जिस में फेन आए हुए हों, जिस में बुदबुदे उठते हों, जो क्षारयुक्त हो ऐसे जल से बिना दोनों हाथ पांव धोए, झुक कर या खड़े खड़े आचमन न करे और न जलपान करते हुए बोले।

अच्छी तरह शौच्यविधि करने के पश्चात् अब दन्तधावन ( दतवन ) करने का उपदेश करते हैं।

**वटासनार्कखदिरकरञ्जकरवीरजम्।**
**सर्जारिमेदापामार्गमालतीककुभोद्भवम्॥**
**कषायतिक्तकटुकं मूलमन्यदपीदृशम्।**
**विज्ञातवृक्षं क्षुण्णाग्रमृज्वग्रन्थिशुभूमिजम्॥**
**कनीन्यग्रसमस्थौल्यं सुकूर्च्चं द्वादशाङ्गुलम्।**
**प्रातर्भुक्त्वा च यतवाग्भक्षयेद्दन्तधावनम्॥**
**वाप्यत्रिवर्गत्रितयतौद्राक्तेन च घर्षयेत्।**
**शनैस्तेन ततो दन्तान् दन्तमांसान्यबाधयन्॥**

दन्तधावनविधि—शुद्ध भूमि में उत्पन्न बड़, विजयसार, आक, खैर, करञ्ज ( पूतिकरञ्ज ), पीला कनेर, पीली सालई, गन्धैल ( विट् खदिर ), औंगा, मालती (जाई), अर्जुन (कहु) इन वृक्षों के काष्ठ और मूल से लिया हुआ या इन ही के समान कषाय-तिक्त-कटु ( कसैले कडुए और चरपरे ) रसवाले, अपने जाने पहिचाने नीम आदि वृक्षों के काष्ठ या मूल से लिए हुए बारह अङ्गुल प्रमाणवाले कनिष्ठिका अङ्गुली के अग्रभाग के समान जाड़े, जिस के अग्रभाग को चबाकर या पत्थरआदि से कूट कर नरम कूँची बनाई गई हो, ऐसे सरल, चिकने और गांठरहित दांतन का सेवन प्रातःकाल और भोजन के अनन्तर मौन होकर इस प्रकार करे कि जिस से दांतों के मसूड़ोंको बाधा न पहुँचने पावे। इस प्रकार दांतुन से मल को दूर कर, इसके पश्चात् कूट, सोंठ, मिरच, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आंवला, इलायची, दालचीनी और पत्रज के शहद मिले हुए चूर्ण से उसी दांतुन की कूची द्वारा धीरे धीरे दांतों को घिसना चाहिए।

वक्तव्य—यहां अर्कादि का निर्देश केवल उदाहरणमात्र के लिए है, इस लिए कि दन्तधावन के लिए कोई गणसंग्रह नहीं किया गया है। हां, दन्तधावनमें कटु-तिक्त-कषायरसवाले वृक्षोंका अवश्य ध्यान रखना चाहिए। इन रसोंको छोड़ अन्य रसोंवाले वृक्षकाष्ठसे कदापि दांतुन न करना चाहिए क्योंकि अरोचकता और कफको दूरकर मुखको विशद करनेवाले ये तीन रस ही हैं। कषाय-तिक्त-कटुरसवाले वृक्षोंमें क्रमशः खैर, नीम और करंज उत्तम माने गये हैं, अतः जहां-तक बने इनसे दांतुन करें। तन्त्रान्तरमें मधुमिश्रित ऊपर कहे गये चूर्णके सिवा सैंधानमक और तैलमिश्रित तेजोवती ( तेजबल या मालकांगनी ) चूर्णके धीरे धीरे नरम कूंची से एक एक दांतको साफ करने ( घिसने ) का भी विधान है। इस प्रकार दांतोंकी शुद्धि करनेसे दांतोंकी दुर्गन्ध, उनपर आया हुआ मैल दूर होता, कफदोष बाहर निकलता, मुख शुद्ध-सुगन्धित होकर अन्न भी रुचिकारक होता अर्थात् अन्नके सेवनमें भी रुचि बढती है। यहां द्वादश ( बारह ) अंगुल प्रमाण दतवनका कहा गया है किन्तु अन्य शास्त्रकारोंने संक्षेपमें कीड़ा न लगा हुआ, नरम, छः, आठ या बारह अंगुल प्रमाणवाला, कनिष्ठिकाके अग्रभागसम ऐसे दांतुनको श्रेष्ठ कहा है।

केवल दन्तधावन ही न करे किन्तु जीभकी भी शुद्धि करे इस लिए कहते हैं कि—

**लिखेदनुसुखं जिह्वां जिह्वानिर्लेखनेन च।**
**तथास्यमलवैरस्यगन्धा जिह्वाऽऽस्यदन्तजाः।**
**रुचिवैशद्यलघुता न भवन्ति भवन्ति च॥**

जिह्वानिर्लेखन—दांतोंको साफ करनेके अनन्तर उसी दांतुन से अथवा लोह आदि से बनाये हुए जिह्वानिर्लेखन ( जीभको साफ करने के लिए बनी हुई सींक ) से धीरे धीरे यथासुख इस प्रकार जीभ को साफ करे कि उससे पुरुष के जीभ, मुख एवं दांतों का मल, मुखवैरस्य ( किसी भी रस का मुख में यथार्थ अनुभव न होना ) मुखकी दुर्गन्धी ये नष्ट हों और रुचि, निर्मलता तथा लघुता ( जड़तानाश ) की प्राप्ति हो।

विशेष विवरण—सुश्रुत इस विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिह्वानिर्लेखन अर्थात् जीभको साफ करनेवाली वह सींक सोने, रूपे या वृक्ष के काष्ठ की बनी हुई चिकनी, नरम और प्रमाण में दस अङ्गुल की हो।

अब यह उपदेश करते हैं कि निम्नलिखित रोगों की अवस्थामें दातुन न करे और यह भी कि आगे वर्णित वृक्षों के काष्ठादि से अवश्य दांतुन न करे।

**नाद्यादजीर्णवमथुश्वासकासज्वरार्दिती।**
**तृष्णास्यपाकहृन्नेत्रशिरःकर्णामयी च तत्॥**

दन्तधावन के अयोग्य प्राणी—अजीर्ण, छर्दि, श्वास, कास, ज्वर, अर्दित, तृष्णा, मुखपाक और हृदय-नेत्र-शिर और कर्णरोगवाले को दांतुन नहीं करना चाहिये।

---

१. अर्कादिग्रहणमुदाहरणार्थं ज्ञेयम्। संक्षेपविवक्षया न दन्तधावनस्य गणसंग्रहः। कषायतिक्तकटुकम्। रसत्रयेण ह्यनेन मुखवैशद्यारोचककफापनयाः सम्यक् सम्पद्यन्त इत्यर्थः।

१. निम्बश्च तिक्तके श्रेष्ठः कषाये खदिरस्तथा। मधूको मधुरे श्रेष्ठः करञ्जः कटुके तथा॥ क्षौद्रव्योषत्रिवर्गाक्तं सतैलं सैंधवेन च। चूर्णेन तेजोवत्याश्च दन्तान्नित्यं विशोधयेत्। एकैकं घर्षयेद्दन्तं मृदुना कूर्चकेन च। दन्तशोधनचूर्णेन दन्तमांसान्यबाधयन्। तद्दौर्गन्ध्योपदेहौ तु श्लेष्माणं चापकर्षति। वैशद्यमन्नाभिरुचिं सौमनस्यं करोति च। अजग्धमनुपक्लिष्टं षडष्टद्वादशाङ्गुलम्। प्रदेशनीसुखसमं मृदु स्याद्दन्तधावनम्॥ इति सुश्रुतः।

२. अनु पश्चात् तेनैव लेखनयोग्यकृतेन दन्तपवनेन। जिह्वानिर्लेखनेन लौहादिकृतेन वा। इतीन्दुः।

३. जिह्वानिर्लेखनं रौप्यं सौवर्णं वार्क्षमेव च। तन्मलापहरं शस्तं मृदु श्लक्ष्णं दशाङ्गुलम्॥ इति।

नैव श्लेष्मातकारिष्टविभीतधवधन्वजान् ।
बिल्ववञ्जुलनिर्गुण्डीशिग्रुतिल्वकतिन्दुकान् ॥
कोविदारशमीपीलुपिप्पलेङ्गुदगुग्गुलून् ।
पारिभद्रकमम्लीका मोचकयो शाल्मलीं शणम् ॥
स्वाद्वम्ललवणं शुष्कं सुषिरं पूति पिच्छिलम् ।
पालाशमासनं दन्तधावनं पादुके त्यजेत् ॥
दन्तान् पूर्वमधो घर्षेत् प्रातः सिञ्चेच्च लोचने ।
तायपूर्णमुखो ग्रीष्मशरदोः शीतवारिणा ॥

दातुननिषिद्ध काष्ठ—लिहसोड़ा, रीठा, बहेड़ा, धव, करीर, वेल, वेत, सम्हालू, सहजना, लोध, तेंदू, कचनार, शमी, पीलु, पीपल, हिंगोट, गूगल, देवदारु, इमली, सेम्हल, कदली और सण इन वृक्षों के काष्ठ का और जिन वृक्षों का रस मधुर, अम्ल तथा नमकीन हो, जो सूखा नीरस हो, जो भीतर से खोखला (पोला) हो, जो नितान्त चिकना और पहिले किसी का किया हुवा हो और जो सड़ा हुवा दुर्गन्धयुक्त हो ऐसा दातुन कदापि न करना चाहिए और न पलाश अर्थात् ढाक का आसन, दातुन और खड़ाऊ बनाना चाहिये। दातुन करते समय पहिले दांतों के नीचे के भाग को घिसना चाहिये। प्रतिदिन प्रातःकाल में मुख को जल से पूर्णकर ग्रीष्म और शरद ऋतु में नेत्रों को शीतल जल से सींचना, छिड़कना या धोना चाहिये। यहां ग्रीष्म तथा शरद में ही ठंडे जल से सींचने का निर्देश है अतः इन ऋतुओं के सिवा अन्य ऋतुओं में सुहाने योग्य कवोष्ण गरम जल से सींचना चाहिये।[1]

प्रणम्य देवान् वृद्धांश्च मंगलाष्टशतं शुभम् ।
शृण्वन् काञ्चनविन्यस्तं सर्पिः पश्येदनन्तरम् ॥

दन्तधावन के पश्चात् देवनमनादि—दातुन करके फिर देवताओं और वृद्धोंको प्रणाम करे और फिर आगे दूतादिविज्ञानीय अध्याय में वर्णित शुभमङ्गलाष्टशत श्रवण करे तथा जिसमें सुवर्ण डाला हुआ हो ऐसे घृत को देखे या सुवर्णपात्र में भरे हुये घी का नीचे को मुखकर अवलोकन करे।[2]

सौवीरमञ्जनं नित्यं हितमक्ष्णोस्ततो भजेत् ।
लोचने तेन भवतो मनोज्ञे सूक्ष्मदर्शने ॥
व्यक्तत्रिवर्णे विमले सुस्निग्धघनपक्ष्मणी ।
चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषाच्छ्लेष्मतो भयम् ॥
योजयेत्सप्तरात्रेऽस्मात् स्रावणार्थं रसाञ्जनम् ॥

सौवीरांजन तथा रसांजनसेवन—उपर्युक्त देवस्मरणादि हो जानेपर आंखोंके लिए सदैव हितकारी है इस लिए नेत्रों में काले सुर्मे का अंजन प्रत्येक आंख में तीन तीन बार सलाई फिराकर[3] करे क्योंकि सुरमे के अंजन से आंखें मनोहर (सुन्दर) होकर सूक्ष्म पदार्थ के देखने में समर्थ होतीं और नेत्रों के लाल, सफेद और काला ये तीनों रंग साफ होते हैं।[1] इतना ही नहीं, आंखों की पलकें चिकनी एवं सघन (गहरी) होती हैं। इसके अतिरिक्त नेत्र तेजोमय अर्थात अग्नि या पित्तमय हैं और उनकी इस तेजस्विता को विशेषतः कफ का भय रहता है क्योंकि कफ जलीय होने से तेजका वैरी है, अतः उसे नेत्रों से स्राव कराकर बाहर निकालने के लिए प्रतिसप्ताह अर्थात् सप्ताह में एकदिन आंखों में रसौंत को आंजना चाहिये।

विशेष विवरण—सुश्रुत इसके विपरीत अर्थात काले सुर्मे की जगह सफेद सुर्मे के अञ्जन का उपदेश करते हुए कहते हैं कि "अंजन-कर्म में समुद्र से उत्पन्न होनेवाला शुद्ध स्रोतोञ्जन श्रेष्ठ माना गया है इसलिए कि वह नेत्रों के दाह, खुजली और मल को दूर करनेवाला तथा क्लेद (गीड़) एवं पीड़ा को हरनेवाला है।[2]

अञ्जनविधि के पश्चात अब आचार्य नस्य, गण्डूषधारणादि का उपदेश करते हैं। यथा—

अणुतैलं ततो नस्यं ततो गण्डूषधारणम् ।
घनोन्नतप्रसन्नत्वक्स्कन्धग्रीवास्यवक्षसः ॥
सुगन्धिवदनाः स्निग्धनिस्वनाः विमलेन्द्रियाः ।
निर्वलीपलितव्यङ्गा भवेयुर्नस्यशीलिनः ॥
ओष्ठस्फुटनपारुष्यमुखशोषद्विजामयाः ।
न स्युः स्वरोपघाताश्च स्नेहगण्डूषधारणात् ॥
खदिरक्षीरिवृक्षाम्बुसिद्धाम्बुकवलग्रहः ।
अरोचकास्यवैरस्यमलपूतिप्रसेकजित् ॥
सुखोष्णोदकगण्डूषैर्जायते वक्त्रलाघवम् ।
प्रायोगिकं ततो धूमं गन्धमाल्यादि चाचरेत् ॥
धूमादस्योर्ध्वजत्रूत्था न स्युर्वातकफामयाः ।
अञ्जनोत्क्लेशितं नस्यैः कवलैर्नावनेरितम् ॥
धूमेन कवलोत्क्लिष्टं क्रमाद्वातकफं जयेत् ।
गन्धमाल्यादिकं वृष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रसाधनम् ॥

नस्य गण्डूषधारणादि—अञ्जनविधि के पश्चात् इसी ग्रन्थ में आगे कहे गए अणुतैल की नस्य ले और इसके अनन्तर मुख में गण्डूष धारण करे। नस्य सेवन करने से त्वचा (चमड़ी) स्वच्छ रहती है और मनुष्य ऊंचे कन्धेवाले, घनग्रीवा (मजबूत गरदन) वाले, मजबूत छाती वाले, स्वच्छकान्तियुक्त मुख वाले, सुगन्धित मुखवाले, मधुर स्वरवाले तथा निर्मल इन्द्रियोंवाले होते हैं। नस्य सेवन से उनकी चमड़ी संकुचित नहीं होती– उसमें वली (झुर्रियां) नहीं पड़तीं, बाल पककर जल्दी श्वेत नहीं होते और न मुख पर काले रंग के व्यंग (चट्टे) ही होते हैं।

स्नेह (घृततैलादि) के गण्डूष मुख में धारण करने से होठों का फटना तथा खरदरे (सूखते) रहना, मुख का सूखना, दांतों के रोग, स्वरभंग ये रोग नहीं होते।

---

१. शीतवारिणा ग्रीष्मशरदोरेव। अन्यस्मिन्नृतौ कवोष्णवारिणेत्यर्थाल्लभ्यते। इतीन्दुः।

२. सौवर्णभाण्डस्थं घृतमवाङ्मुखः पश्येदितीन्दुः।

३. अस्य च मृदुचूर्णाञ्जनत्वात्त्रिसः शलाका मानम्। इति हेमाद्रिः।

१. व्यक्तत्रिवर्णत्वाच्च निर्मले, रक्तशुक्लकृष्णवर्णत्रयम्। इतीन्दुः।

२. मतं स्रोतोञ्जनं श्रेष्ठं विशुद्धं सिन्धुसम्भवम्। दाहकण्डूमलघ्नं च दृष्टेः क्लेदरुजापहम् ॥ इति ॥

खदिर ( खैर ), क्षीरिवृक्ष ( पीपल, गूलर, पाकर, बड़, पारसपीपल, विडखदिर और नागरमोथा इनका कवल ग्रह अरोचक, मुंह का वैरस्य ( फीका रहना ) मल की दुर्गन्ध और मुखसे लारों के टपकने को जीतता अर्थात् नाश करता है। सुखोष्णोदक अर्थात् नीम गरम जलके गण्डूष (कुल्ले) करने से मुख की जड़ता दूर होती है। कवलग्रह और गण्डूष में क्या भेद है यह इसी ग्रन्थ में आगे कहेंगे। उपर्युक्त नस्य-गण्डूषधारणादि के अनन्तर इसी ग्रन्थ में आगे वर्णित प्रायोगिक धूम्रपान का सेवन, सुगन्धि ( इतर आदि ), पुष्पमाला, वस्त्रादि धारण करें क्योंकि धूम्रपान करने से ऊर्ध्वजत्रुगत ( गर्दन से लेकर मुख नेत्र, नाक कान, और सिर में उत्पन्न होनेवाले ) वात-कफ के रोग नहीं होने पाते। यहाँ सुर्मे के अञ्जन तथा रसौत के स्रावणाञ्जनविषय में तन्त्रान्तरों का मतभेद दिखाई देता है। वाग्भटाचार्य अपने इस ग्रन्थ में दन्तधावनादि के पश्चात् रसौत के अंजन का विधान करते हैं परन्तु जतूकर्ण प्रति सातवें दिन रात्रि में रसौत का अञ्जन करना ठीक बतलाते हैं। शालाक्यतन्त्रकार भी रसौत का अञ्जन इस लिए रात्रि में करना अच्छा मानते हैं कि "अंजन के विरेचन द्वारा दुर्बल हुई दृष्टि दिनमें सूर्यको प्राप्तकर दूषित होती है, वही रात्रि में शयननिद्रागुण से अञ्जन से आई हुई कृशता को दूरकर नेत्रों की पुष्टि करती है। इसी प्रकार चरक का कथन है कि "नेत्र तेजोमय हैं। उसे कफ से विशेष भय है। इस लिये नेत्रों को प्रसादन करनेवाला कफहारक कर्म हितकारी है।"[1]

तथापि वह तेज अंजन दिन में नेत्रों को नहीं लगाना चाहिये, क्यों कि विरेक से दुर्बल हुई दृष्टि आदित्य ( सूर्य ) के तापसे दूषित होती है, अतः स्राव्य ( रसौत का ) अंजन अवश्य रात्रि को ही लगाना ठीक है। सातवें दिन की जगह चरक पांचवें, सातवें और आठवें दिन रसौत के अंजन का उपदेश करते हैं। इस विरोध का परिहार एवं वाग्भट के कथन की पुष्टि के अर्थ हेमाद्रि का कहना है कि वस्तुतः यह विरोध नहीं है। कफ की अधिक-मध्यम-हीनबलावस्था के अनुसार क्रमशः यह पांचवें, सातवें और आठवें दिन रसौत आंजने का विधान है और चरक के "निशायां ध्रुवमञ्जनमिष्यते" का भाव इस प्रकार है—"नित्य किये जानेवाले सौवीराञ्जन को त्याग पूर्वाह्ण में यदि रसौत का अञ्जन किया जाय तो वह नित्य किया जानेवाला सुर्मे का अञ्जन रात को किया जाय, अन्यथा प्रातःकालमें[2] ही किया जाय। चक्रपाणिदत्त भी उपर्युक्त विरोध की पुष्टि करते हैं किन्तु विपरीत इसके अन्य टीकाकारों का हवाला देते हुये यह भी कहते हैं कि "नित्य किया जानेवाला सुर्मेका अञ्जन रातमें करे और कफ हरण करनेवाला होने से रसौत का स्रावणाञ्जन तो वमन की तरह पूर्वाह्ण में ही किया जाय। रही हेमाद्रि सम्मत चरक के पाठ से सातवें दिन की जगह पाचवें, सातवें और आठवें दिन की बात, सो कफके अधिक-मध्य-अल्प-बलानुसार जाननी चाहिये। सारांश, चरक का मत है कि यदि कफ अधिक बलवान् हो तो पांचवे दिन, मध्यम बली हो तो सातवें और हीनबल हो तो आठवें दिन स्रावणाञ्जन को प्रयुक्त करना चाहिये। चक्रदत्तसम्मत पाठ में सातवें तथा आठवें दिन का ही उल्लेख मिलता है। जो हो, हमें वाग्भट एवं उसके अनुयायी टीकाकारों की बात को इसलिए मान लेना चाहिये कि "कफ के निर्हरण का समय शास्त्रकारों ने प्रातःकाल ही माना है, अतः रसौत का स्रावणाञ्जन प्रातःकाल ही में किया जाय और केवल उस दिन नित्य किया जानेवाला सुर्मे का अञ्जन प्रातःकाल में न कर रात को कराया जाय। इससे वात और कफ के रोग नहीं होने पाते।

अञ्जन, नस्य, कवलग्रह और धूमपान का उपदेश इस लिए है कि "वैद्य अञ्जन, नस्य और कवलग्रह के करने से नाक से निकलनेवाले वात को एवं धूमपान, कवलग्रह करने से नावनेरित ( नाक के मार्ग से निकलनेवाले ) कफ को क्रम से जीते। शेष गन्ध, माल्यादि धारण इस लिए करे कि ये मनुष्य के लिए वृष्य ( वीर्यवृद्धि करनेवाले ) हैं, दारिद्र्य को दूर करनेवाले और तेज के बढ़ानेवाले हैं। इनके अतिरिक्त और क्या करे अब यह बताते हैं—

वासो न धारयेज्जीर्णं मलिनं रक्तमुल्बणम्।
माल्यं न लम्बं न बहिर्न रक्तं जलजादृते ॥
नैव चान्येन विधृतं वस्त्रं पुष्पमुपानहौ।
रुचिवैशद्यसौगन्ध्यमिच्छन् वक्त्रेण धारयेत् ॥
जातीलवंगकर्पूरकङ्कोलकटुकैः सह।
ताम्बूलीनां किसलयं हृद्यं पूगफलान्वितम् ॥
रक्तपित्तक्षतक्षीणरूक्षोत्कुपितचक्षुषाम्।
विषमूर्च्छामदार्तानामपथ्यं शोषिणां च तत् ॥
पथ्यं सुप्तोत्थिते भुक्ते स्नाते वान्ते च मानवे।
द्विपत्रमेकं पूगं च सचूर्णं खदिरं च तत् ॥

जीर्णवस्त्रधारणनिषेधादि—पुराना, मैला, लाल और फटा हुआ कपड़ा न पहिने। कमल के सिवा अन्य ( दूसरे ) लाल रंगवाले पुष्प एवं माला को धारण न करे और न बाहर ( राजमार्ग में )[2] ही ऐसी माला को धारण कर निकले। न दूसरे के धारण किये हुए कपड़े, पुष्प और पगरखी (जूते) को धारण करे।

---

१. "सप्ताहाद्रसाञ्जनं नक्तम्" इति जतुकर्णः। "विरेकदुर्बला दृष्टिरादित्यं प्राप्य सीदति। रात्रौ स्वप्नागुणाच्चाक्षि पुष्यत्यञ्जनकर्षितम् ॥" इति शालाक्ये। "चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषाच्छ्लेष्मतो भयम् अतः श्लेष्महरं कर्म हितं दृष्टेः प्रसादनम् ॥ दिवा तन्न प्रयोक्तव्यं। नेत्रयोस्तीक्ष्णमञ्जनम्। विरेकदुर्बला दृष्टिरादित्यं प्राप्य सीदति। तस्मात्स्राव्यं निशायां तु ध्रुवमञ्जनमिष्यते"। इति चरकः।

२. 'पञ्चसप्ताष्टरात्रे वा स्रावणार्थं रसाञ्जनम्।' इति चरकवचनम्। इह तु सप्तरात्र इति विरोध, मैवं, पञ्चसप्ताष्टरात्राणां बहुमध्याल्पविषयत्वात्। ननु "निशायां ध्रुवमञ्जनमिष्यते" इति चरकेणाञ्जनस्य रात्रिकाल उक्तः। इह तु दन्तधावनानन्तरमिति विरोधः, मैवं चरकवाक्यस्य एषमर्थः। यदा नित्याञ्जनं बाधित्वा पूर्वाह्णे रसाञ्जनं प्रयुज्यते, तदा ध्रुवं नित्यसेव्यमञ्जनं निशायामिष्यते। अन्यदा तु प्रातरेवेत्यविरोधः। इति हेमाद्रिः।

१. अन्येतु व्याख्यानयन्ति-ध्रुवं नित्यकर्तव्यं सौवीराञ्जनं यत्तन्निशि कर्तव्यं, स्रावणाञ्जनं तु श्लेष्मोद्रेकविषयिवमनवत्पूर्वाह्ण एव कर्तव्यम्। इति चक्रपाणिदत्तः।

२. न बहिः राजमार्गे दृश्यमानं वेतीन्दुः।

रुचि, स्वच्छता एवं सुगन्धि की इच्छा करता हुआ जायपत्री, लवंग, कपूर, कंकोल, लताकस्तूरी के फल और सुपारी सह हृदय को बल देनेवाले मनोहर नागरवेल के पान को मुख में धारण करे परन्तु ध्यान रहे कि यही ( नागरवेल का पान उक्त द्रव्यों सहित ) रक्तपित्त, क्षतक्षीण ( घाव के लगने या उरःक्षत से थका हुआ ), शोष, राजयक्ष्मा, रूक्ष प्रकृति अथवा रूक्षता से उत्पन्न नेत्ररोग, विष, मूर्च्छा और मदात्यय इन रोगों में अपथ्य अर्थात् हानिकारक है तथा विपरीत इसके चूना, कत्था और सुपारीमिश्रित दो पान का एक बीड़ा शयन, भोजन, स्नान और वमन के अनन्तर मनुष्य के लिए पथ्य अर्थात् हितकारी है। इसके पश्चात् उपजीविका के लिए उपदेश करते हैं। यथा—

उत्तिष्ठेत ततोऽर्थार्थमर्थार्थवर्थानुबन्धिषु ।
निन्दितं दीर्घमप्यायुरसन्निहितसाधनम् ॥
कृषिं वाणिज्यां गोरक्षामुपायैर्गुणिनं नृपम् ।
लोकद्वयाविरुद्धां च धनार्थी संश्रयेत्क्रियाम् ॥
मुक्तवेगश्च गमन-स्वप्नाहार-सभा-स्त्रियः ।

धनार्थ प्रयत्न करना—पूर्वोक्त गन्ध-माल्य-ताम्बूलादि कर्म के अनन्तर धन कमाने के हेतुभूत जो जो कार्य हैं, उनमें भलीभांति प्रयत्न करे अर्थात् धन कमाने के लिए सब प्रकार से चेष्टा करे क्योंकि दीर्घ आयु होने पर भी वह असन्निहितसाधन ( दारिद्र्ययुक्त ) निन्दित होती है अतः धनार्थी को चाहिये कि वह नाना उपायों द्वारा खेती, व्यापार, गोरक्षा ( गोपालन ), गुणी राजा और उस क्रिया का आश्रय अर्थात् धनप्राप्ति के अर्थ वह कार्य करे जो इह-पर-लोक ( इस लोक और परलोक ) को बिगाड़नेवाला न हो।

सारांश, वह कार्य उक्त दोनों लोकों के लिए विरुद्ध न हो, जिसको लोग गर्हित ( निन्दित ) न कहते हों अर्थात् सत्कार्य द्वारा ही धनोपार्जन करे। इसी प्रकार मलमूत्रादि के वेग से निवृत्त होकर ही गमन, शयन, भोजन, सभा और स्त्री इनका सेवन करे। महर्षि आत्रेय भी धनेषणा की पूर्ति के विषय में यही उपदेश करते हैं[2]।

पाणिनाऽऽलभ्य निष्क्रामेद्रत्नपूज्याज्यमङ्गलम् ।
सातपत्रपदत्राणो विचरेद्युगमात्रदृक् ॥
निशि चात्ययिके कार्ये दण्डो मौली सहायवान् ।
प्रावृत्य पर्यटेद्रात्रौ न प्रावृत्य शिरोऽहनि ॥
चैत्य-पूज्य-ध्वजाशस्तच्छायाभस्मतुषाशुचीन् ।
नाक्रामेच्छर्करालोष्ठबलिस्नानभुवो न च ॥
मध्याह्ने सन्ध्ययो रात्रावर्धरात्रे चतुष्पथम् ।
न सेवेत न शर्वर्यां वृक्षचैत्यं न चत्वरम् ॥
शूनाटवीशून्यगृहश्मशानानि दिवाऽपि न ।
न हुंकुर्याच्छवं पूज्यं प्रशस्तान् मङ्गलानि च ॥
नापसव्यं परिक्रामेन्नेतराण्यनुदक्षिणम् ।
चतुष्पथं नमस्कुर्यात् प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥
न व्यालवाधिताशस्तैर्नादान्तक्षुत्पिपासितैः ।
न छिन्नपुच्छैर्नैकान्तैर्गोपृष्ठेन न च व्रजेत् ॥
नातिप्रगेऽतिसायं वा न नभोमध्यगे रवौ ।
नासन्निहितपानीयो नातितूर्णं न सन्ततम् ।
न शत्रुणा नाविदितैर्नैको नाधार्मिकैः सह ॥
दद्याद्वर्त्मार्तवृद्धस्त्रीभारिचक्रिद्विजन्मने ।
स्नानभोजनपानानि वाहेभ्यो नाचरेत्पुरः ॥
नदीं तरेन्न बाहुभ्यां नाग्निस्कन्धमभिव्रजेत् ।
नाऽरोहेद्विषमं शैलं नावं संशयितां तरुम् ॥
निपातयेन्न लोष्ठेन न फलेन फलं द्रुमात् ।
न वार्यमाणः प्रविशेन्नाद्वारेण न चासने ॥
स्वयं तिष्ठेत्परगृहे युक्तनिद्रं न बोधयेत् ।
नाऽचरेत्पाणिवाक्पाददृङ्मेढ्रोदरचापलम् ॥
त्रिः पक्षस्य कचश्मश्रुनखरोमाणि वर्धयेत् ।
न स्वहस्तेन दन्तैर्वा स्नानं चानु समाचरेत् ॥

परमहितोपदेश—यदि किसी कार्यार्थ बाहर जाना हो तो मंगलकारी रत्न, पूज्य ( गुरु, पिता, मातादि ) और घृत को हाथ से स्पर्शकर बाहर निकले। पदत्राण ( पगरखी–जूते ) धारणकर, छाता लेकर दो या चार हाथ आगे की भूमि को दोनों नेत्रों से देखता हुआ विचरे ( घूमे ) ता कि क्रिमि, बीट, शंकु या किसी वृक्ष के सूखे ठूंठ के लगने का भय न हो। रात्रि में न विचरे। अत्यावश्यक कार्य ही हो तो रात्रि में दण्ड ( लट्ठी ) ले पगड़ी या साफा धारणकर, किसी सहायक को साथ लेकर विचरे ता कि गिरने, पड़ने और शत्रु आदि का भय न हो और न चौर आदि का। रात्रि में शिर को ढककर और दिन में खुले सिर फिरना चाहिये। किसी देवता के निवासवाले विशिष्ट वृक्ष, यज्ञार्थ निर्मित होमकुण्ड–स्थण्डिल, बौद्धमन्दिर, अपने पूज्य गुरु आदि, ध्वजा, अमंगल वस्तु इन की छाया को न लांघे। इसी प्रकार भस्म, तुष, अशुचि ( विष्ठा–उच्छिष्ट वस्तु आदि ), पत्थर का सूक्ष्म चूर, मिट्टी का ढेला, किसी देवता के लिए किये गये बलिदान और जहाँ किसी ने स्नान किया हो ऐसी भूमि का भी उल्लंघन न करे। मध्याह्न दिन और रात्रि के सन्धिकाल ( सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय ) रात एवं आधीरात में, चतुष्पथ ( चौबाटा–जहां चार रास्ते मिलते हों ) में न बैठे। रात्रि के समय चत्वर ( तिबाटा ) वृक्ष और चैत्य के नीचे न बैठे और न सेवन करे। जहां वध ( हत्यायें ) हुई या होती हों ऐसे जंगल, सूनेघर तथा श्मशान में दिन में भी न रहे। शव ( अर्थात् मृतशरीर ) का हुंकार कर तर्जन या अपमान न करे। पूज्य ( देव, गुरु, माता, पितादि ) श्रेष्ठ

---

१. कद्धकं लताकस्तूरिकाफलम्। इति हेमाद्रिः।

२ प्राणेभ्यो ह्यनन्तरं धनमेव पर्येष्टव्यं भवति। न ह्यतः पापात्पापीयोऽस्ति। यदनुपकरणस्य दीर्घमायुः, तस्मादुपकरणानि पर्येष्टुं यतेत। तत्रोपकरणोपायाननु व्याख्यास्यामः—तद्यथा कृषिपाशुपाल्यवाणिज्यराजोपसेवादीनि, यानि चान्यान्यपि सतामविगर्हितानि कर्माणि, इति चरके।

३. युगो हस्तद्वयम्। अन्ये हस्तचतुष्टयम्। तन्मात्रमग्रतः पश्यन् क्रिमिस्थाण्वादिभयादितीन्दुः।

एवं मंगलमय वस्तुओं को बायें हाथ की ओर कर के और इन के विपरीत अर्थात् अपूज्य, नेष्ट, अमंगल वस्तु इनको दाहिनी ओर कर के गमन न करे। चतुष्पथ, प्रसिद्ध विद्वान् एवं वनस्पतियों को नमस्कार करे। दुष्ट, रोगी, अशुभ नाद करते हुए, भूखे, प्यासे, पूंछ कटे हुए और एक आंखवाले वाहनों पर तथा गाय की पीठ पर सवारी कर गमन न करे। अतिप्रगे अर्थात् प्रातःकाल के पहले रात्रि विशेष हो ऐसे समय, नातिसायं (सन्ध्या काल के अनन्तर विशेष रात हो गई हो ऐसे समय) मध्याह्न में, बिना जल के, जल्दी जल्दी तथा विश्रान्ति-रहित गमन न करे और न शत्रु एवं बिना जाने हुए, अधार्मिक पुरुषों के साथ तथा अकेला ही गमन करे। यदि रोगी, दुखी, वृद्ध, स्त्री, भार को लिया हुआ वेग से चलनेवाला और ब्राह्मण सामने आजाय तो उनके लिए रास्ता दे दे। अपने वाहनों के सामने या पहिले स्नान, भोजन और पान न करे अर्थात् पहिले अपने अश्वादि वाहनों को स्नान-भोजन-पान करावे और तदनन्तर स्वयं स्नान, भोजन और पान करे। बाहुओं से नदी में न तैरे और जलती हुई अग्निराशि के सामने न जावे। अत्यन्त नीचे और ऊंचे पर्वतपर न चढ़े और न ऐसी नाव और वृक्ष पर ही चढ़े जिनमें डूबने-गिरने का भय हो। वृक्ष से फल को मिट्टी-पत्थर के ढेले या फल से मार कर नीचे न गिरावे। मना करने पर तथा बिना द्वार के किसी के घर में प्रवेश न करे। पराये घर में स्वयं अकेला आसन पर न बैठे और न सोते हुवे को जगावे। हाथ, पाँव, मुख, आंख, लिङ्ग, तथा पेट द्वारा ऐसी चेष्टा का आचरण न करे जिसमें निन्दा होती हो। एक पक्ष में तीन बार मस्तक के केश, दाढ़ी के बाल और नखों को कटावे किन्तु स्वयं अपने हाथों तथा दांतों से केशादि को न काटे। यदि काटे तो काटने के अनन्तर स्नान करे।

अब आचार्य ( उपर्युक्त उपदेश के अनन्तर ) अन्नपान करने की इच्छावाले के लिए प्रथम अभ्यंगादि कर्मों का उपदेश करते हैं—

अथ जातान्नपानेच्छो मारुतघ्नैः सुगन्धिभिः ।
यथर्तुसंस्पर्शसुखैस्तैलैरभ्यङ्गमाचरेत् ॥
अभ्यङ्गो वातहा पुष्टिस्वप्नदार्ढ्यबृहत्त्वकृत् ।
दग्धभग्नक्षतरुजाक्लमश्रमजरापहः ॥
रथाक्षचर्मघटवद्भवन्त्यभ्यङ्गतो गुणाः ।
स्पर्शनेऽभ्यधिको वायुः स्पर्शनं च त्वगाश्रयम् ॥
त्वच्यश्च परमभ्यङ्गो यस्मात्तं शीलयेदतः ।
शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत् ॥
स केश्यः शीलितो मूर्ध्नि कपालेन्द्रियतर्पणः ।
हनुमन्याशिरःकर्णशूलघ्नं कर्णपूरणम् ॥
पादाभ्यंगस्तु तत्स्थैर्यनिद्रादृष्टिप्रसादकृत् ।
पादसुप्तिश्रमस्तम्भसंकोचस्फुटनप्रणुत् ॥
वर्ज्योऽभ्यङ्गः कफग्रस्तकृतसंशुद्ध्यजीर्णिभिः ।

अभ्यंगादिसेवन—अन्नपान की इच्छावाले को चाहिये कि वह पहिले वायु को हरनेवाले, प्रत्येक ऋतु में उपदिष्ट सुख देनेवाले अर्थात् उष्णकाल में ठंडे और शीतकाल में गरम ऐसे गरम तैलों का शरीर में अभ्यङ्ग (मर्दन) करे क्योंकि तैल-मर्दन (अभ्यङ्ग) वायु के कोप को दूर करनेवाला, पुष्टिको देनेवाला, अच्छी नींद को लानेवाला, शरीर को बढ़ाने और मज़बूत करनेवाला है। अग्नि से जलने, गिरने से हड्डी आदि के टूटने और शस्त्रादि से घाव हो जाने की पीड़ा को अभ्यङ्ग दूर करनेवाला तथा बेचैनी, थकावट और बुढ़ापे को हरनेवाला है। रथ या गाड़ी के चाक, चमड़े और मिट्टी के घड़े में जिस प्रकार तैल मर्दन करने से मृदुता ( मार्दव ) और मज़बूती आती है, ठीक वैसे ही तैल मर्दनसे शरीर की कान्ति बढ़ती है, चमड़ी मुलायम रहती है और मज़बूत होती है। स्पर्श से वायु बढ़ता है, स्पर्श का आश्रय त्वचा ( चमड़ी ) इन्द्रिय है और त्वचा या चमड़ी के लिए तैल-मर्दन ( अभ्यङ्ग ) जैसा कोई उपकारी नहीं है। इस लिए अभ्यङ्ग अवश्य करना चाहिये। शिर, कान और पांवों में विशेष कर के तैल मर्दन करना चाहिये, क्योंकि सिर में तैलमर्दन करने से केश मुलायम रहते और बढ़ते हैं, कपाल की इन्द्रियां तृप्त होती हैं। कान में तैल डालने से ठोड़ी, गर्दन, सिर और कान की पीड़ा दूर होती है। पांवों में विशेषतः तैलमर्दन करने से पगों में स्थिरता ( मज़बूती ) होती, निद्रा आती और आंखों की ज्योति बढ़ती है। इतना ही नहीं, पांवों का तैलमर्दन पगों की शून्यता, थकावट, अकड़, सिकुड़ना और पैरों का फटना इनको दूर करता है।

ध्यान रहे कि कफप्रकृतिवालों, अजीर्ण के रोगियों तथा जिनने वमन-विरेचनादि संशोधन कर्म कराया हो उन्हें, तैल-मर्दन नहीं करना चाहिये। इसके अनन्तर आचार्य व्यायाम ( कसरत ) करनेका उपदेश करते हैं।

शरीरायासजननं कर्म व्यायाम उच्यते ।
लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः ॥
विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते ।
वातपित्तामयी बालो वृद्धोऽजीर्णी च तं त्यजेत् ॥
अर्धशक्त्या निषेव्यस्तु बलिभिः स्निग्धभोजिभिः ।
शीतकाले वसन्ते च मन्दमेव ततोऽन्यदा ॥

व्यायाम से लाभ—जिससे शरीर में श्रम उत्पन्न हो उस कर्म का नाम व्यायाम है। व्यायाम के करने से शरीर फुर्तीला होता है, काम करने की शक्ति तथा जठराग्नि प्रदीप्त होती, बढ़ा हुआ मेद नाश को प्राप्त होता है और शरीर के प्रत्येक भाग के अवयव मज़बूत होते हैं। परन्तु वातरोगी, पित्तरोगी, वातपित्तरोगी, बाल ( जिसकी अवस्था[1] १६ वर्ष के भीतर हो ), वृद्ध ( जो वय में ७० वर्ष से अधिक हो ) और अजीर्ण रोगी को चाहिये कि व्यायाम न करे। घृत आदि स्निग्ध भोजन करनेवाले बलवानों को चाहिये कि शीत और वसन्तकाल में अर्धशक्तिक अर्थात् हृदय में स्थित वायु कसरत करते करते जबतक मुख में न आजाय, मुँह से श्वासोच्छ्वास न लेने लगजाय तब तक[2] ही व्यायाम करे क्योंकि इसके विपरीत व्यायाम करना

---

१. बाल आषोडशाद्वर्षाद्वृद्धः सप्ततेरूर्ध्वमित्यरुणः ।

२. बलस्यार्धेन कर्तव्यो व्यायामो हन्त्यतोऽन्यथा । इति स्थाने

हानिकारक है । अन्य ऋतुओं में शीत और वसन्त ऋतु से व्यायाम कम करे।

विशेष विवरण—भगवान् आत्रेय या चरक के मत से व्यायाम शरीर की उस इष्ट ( अभीष्ट ) चेष्टा का नाम है जो शरीर को स्थिर रखनेवाली और उस के बल को बढ़ानेवाली है और जो बिना पगरखी के घूमने फिरने अर्थात् चंक्रमण और व्यायाम ( कसरत ) रूप से होती है । यह व्यायाम-क्रिया अवश्य की जाय क्योंकि इससे शरीर हलका ( फुर्त्तीला ), काम करने में समर्थ और स्थिर होता है। इतना ही नहीं, व्यायाम-करनेवाला दुःख या क्लेश को सहन कर सकता है । इससे कफ तथा मेद से बढ़े हुए स्थौल्य ( मोटापा ) आदि दोषों तथा प्रकुपित वातादि तीनों दोषों का नाश होता और उसकी जठराग्नि प्रदीप्त होती है, परन्तु व्यायाम इतना ही करना चाहिए जो कथित मात्राके भीतर हो। संक्षेप में सभी आचार्यों ने व्यायामके गुणों का वर्णन किया है किन्तु भगवान् धन्वन्तरि ने इसको विशेष रूप से कहा है । उनका कथन है कि "शरीर में श्रम पैदा करनेवाले कर्म का नाम व्यायाम है[1]। व्यायाम के करने से शरीर सुखी और सभी ओर से सुडौल होता है। शरीर की वृद्धि होती और कांति बढ़ती है, सभी अङ्गों का सुन्दर विभाग होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती और आलस्य नष्ट हो जाता है। शरीर में स्थिरता और स्फूर्ति प्राप्त होकर सभी दोषों की शुद्धि हो जाती है तथा परिश्रम, थकावट, प्यास, गरमी और सरदी को सहन करने की शक्ति प्राप्त होती है। व्यायाम से नितान्त श्रेष्ठ आरोग्य प्राप्त होता है । इतना ही नहीं, व्यायाम के सिवाय और कोई भी कर्म स्थूलता ( मेदो-वृद्धि ) को मिटानेवाला नहीं है। कसरती मनुष्य से डरते हुए शत्रु उस पर आक्रमणकर उसे दुख नहीं दे सकते । न बुढ़ापा ही यकायक आक्रमणकर उस पर सवार हो सकता है। व्यायाम करनेवाले मनुष्य का मांस भी स्थिर अर्थात् कठोर हो जाता है। व्यायाम से थके मनुष्य के पैरों में उबटन लगाने से सिंह के पास क्षुद्र मृगों की तरह उसके पास रोग नहीं आ सकते। व्यायाम वय, रूप और गुणों से हीन पुरुष को भी सुन्दर बना देता है। नित्य व्यायाम करनेवाला यदि कच्चा या पक्का विरुद्ध भोजन भी कर ले तो वह बिना दोष के पच जाता है अतः स्निग्ध ( घृत दुग्धादि ) भोजन करनेवाले बलवानों के लिए व्यायाम सदैव पथ्य है और शीत एवं वसन्त ऋतु में तो इन के लिए बहुत हितकारी है। इस लिए सभी ऋतुओं में अपना भला चाहनेवालों को नित्यप्रति आधे बल के अनुसार व्यायाम करना चाहिये। इसके विपरीत व्यायाम न करे क्योंकि वह पुरुष का नाश कर देता है।" व्यायाम तथा उसके पश्चात् उद्वर्तन के विषय में आचार्य और भी उपदेश करते हैं।

तं कृत्वानुसुखं देहं मर्दयेच्च समन्ततः ।
तृष्णा क्षयः प्रतमको रक्तपित्तं श्रमः क्लमः ॥
अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते ।
व्यायामजागराध्वस्त्रीहास्यभाष्यादिसाहसम् ॥
गजं सिंह इवाकर्षन् भजन्नति विनश्यति ।
उद्वर्तनं कफहरं मेदसः प्रविलायनम् ॥
स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम् ।

मर्दन के गुण तथा अति व्यायाम के दोष—व्यायाम को करने के पश्चात् जहां तक सुहावे सम्पूर्ण देहमें मर्दन ( मालिश ) करे किन्तु "अति सर्वत्र वर्जयेत्" इस नियम के अनुसार किसी भी कामकी उसकी मात्रा या मर्यादा से अधिक न करे। इसी लिए अर्धबलावधि ही व्यायाम ( कसरत ) करना चाहिये, क्योंकि व्यायाम के अधिक करने से तृष्णा, क्षय, प्रतमक श्वास, रक्तपित्त, थकावट, ग्लानि ( बेचैनी ), खांसी, ज्वर और वमन इन रोगों की उत्पत्ति होती है। आचार्यों ने यहां तक कहा है कि जो पुरुष व्यायाम, जागरण, मार्ग का चलना, स्त्री-सम्भोग, हंसना, बोलना, धनुष्यादि का खींचना, इन में अति-साहस करता है वह बड़े भारी हाथी को खींचनेवाले बलवान् सिंह की तरह नाश को प्राप्त होता है। सारांश यह कि भूलकर भी उक्त व्यायामादिका अधिक सेवन कोई न करे। सुश्रुत ने निषेध करते हुए लिखा है कि रक्तपित्त, दुर्बल शरीर, शोष, श्वास, कास एवं उरःक्षत के रोगी को, स्त्रीसङ्ग से क्षीण और भोजन के अनन्तर व्यायाम नहीं करना चाहिये[1]। कसरत ( व्यायाम ) के पश्चात् अङ्गमर्दन कर के कषाय द्रव्यों द्वारा शरीर में उद्वर्तन करे अर्थात् उबटन लगाये[2]। इसलिए कि उबटन लगाने से शरीरगत कफदोष तथा मेद ( स्थूलता ) का नाश होता है, शरीर के सभी अंग स्थिर मजबूत होते हैं, चमड़ी मुलायम और निर्मल ( साफ ) होती है। सुश्रुत में लिखा है कि पगों में उबटन विशेष किया जाय तो रोगों का भय नहीं रहता।

उबटन करने के अनन्तर आचार्य स्नान का विधान करते हैं—

---

स्थितो वायुर्यदा वक्त्रं प्रपद्यते । व्यायामं कुर्वतो जन्तोस्तद्बलार्धस्य लक्षणम् । इति सुश्रुतः ।

१. शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धिनी । देहव्यायाम-संख्याता मात्रया तां समाचरेत् ॥ लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्यं दुःख-सहिष्णुता । दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ॥ इति चरकः ।

२. शरीरायासजननं कर्म व्यायामसंज्ञितम् । तत्कृत्वा तु सुखं देहं विमृद्नीयात् समन्ततः ॥ शरीरोपचयः कान्तिर्गात्राणां सुविभक्तता । दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरत्वं लाघवं मृजा ॥ श्रमक्लमपिपासोष्णशीता-दीनां सहिष्णुता । आरोग्यं चापि परमं व्यायामादुपजायते ॥ न चास्ति सदृशं तेन किञ्चित्स्थौल्यापकर्षणम् । न च व्यायामिनं मर्त्य-मर्दयन्त्यरयो भयात् ॥ न चैनं सहसाऽऽक्रम्य जरा समधिरोहति । स्थिरीभवति मांसं च व्यायामाभिरतस्य च ॥ व्यायामक्षुण्णगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्तितस्य च । व्याधयो नोपसर्पन्ति सिंहं क्षुद्रमृगा इव ॥ वयोरूपगुणैर्हीनमपि कुर्यात्सुदर्शनम् । व्यायामं कुर्वतो नित्यं विरु-द्धमपि भोजनम् ॥ विदग्धमविदग्धं वा निर्दोषं परिपच्यते । व्यायामो हि सदा पथ्यो बलिनां स्निग्धभोजिनाम् । स च शीते वसन्ते च तेषां पथ्यतमः स्मृतः । सर्वेष्वृतुष्वहरहः पुंभिरात्महितैषिभिः । बलस्या-र्धेन कर्तव्यो व्यायामो हन्त्यतोऽन्यथा ॥ इति सुश्रुतः ।

१. रक्तपित्ती कृशी शोषी श्वासकासक्षतातुरः । भुक्तवान् स्त्रीषु च क्षीणो भ्रमार्तश्च विवर्जयेत् ॥ इति ।

२. अनन्तरं कषायद्रव्यैरुद्वर्तनं कुर्यात् । इतीन्दुः ।

दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जाबलप्रदम् ।
१कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मजित् ॥
उष्णाम्बुनाऽधःकायस्य परिषेको बलावहः ।
तेनैव तूत्तमाङ्गस्य बलहृत्केशचक्षुषाम् ॥
नाऽनाप्लुत्य शिरः स्नायान्न जलेऽल्पे न शीतले ।
स्नानोदकावतरणस्वप्नान्नग्नो न चाचरेत् ॥
पञ्चपिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात् परवारिणि ।
नात्मानमीक्षेत जले न तटस्थो जलाशयम् ॥
न प्रति स्फालयेदप्सु पाणिना चरणेन वा ।
स्नात्वा न मृज्याद्गात्राणि धुनुयान्न शिरोरुहान् ॥
नं वसीताद्र एवाशु सोष्णीषे धौतवाससी ।
न त्वम्बरं पूर्वधृतं न च तैलवसे स्पृशेत् ॥
वासोऽन्यदन्यच्छयने निर्गमे देवतार्चने ।
स्नानमर्दितनेत्रास्यकर्णरोगातिसारिषु ॥
आध्मानपीनसाजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम् ॥

स्नान के गुण और विधि—उद्वर्तन के पश्चात् स्नान करना चाहिये क्योंकि स्नान के करने से जठराग्नि प्रदीप्त होती, वीर्य की तथा आयुष्य की वृद्धि होती है। प्राणी को बल और उत्साह की प्राप्ति होती है। इस के सिवा स्नान से शरीर के खुजली, मैल, थकावट, पसीना, बेहोशी, प्यास, दाह और पाप ये सब दूर होते हैं। सिर को छोड़ शरीर के नीचे के भाग का गरम जल से सींचना बलका देनेवाला है, किन्तु उष्ण जल से मस्तक का सींचना केश और नेत्रों के बल को नष्ट करनेवाला है। इस कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि केश और नेत्रों के बल की इच्छावाले को ठंडे जल से स्नान करना चाहिये और दूसरों को गरम जल से क्योंकि आचार्यों ने सचैल-स्नान को ही शुद्ध माना है। इस में सिर को भिगाना ही पड़ता है। एक ही स्नान-कर्म में शीत और उष्ण इन दोनों का प्रयोग क्रियासङ्करदोषापत्ति होने से ठीक नहीं होता। सिर को जल से सिंचन किए बिना स्नान न करे और न तालाब के ठंडे और थोड़े जल में नहावे। नंगा होकर न जल में तैरे, न नहावे और न सोवे। परवारि अर्थात् दूसरे के खुदाये या बनाये तालाब आदि जलाशय से पांच पिण्ड मृत्तिका के बाहर फेंके विना उस में स्नान न करे, क्योंकि पराये जलाशय में से पांच पिण्ड लेकर बाहर फेंकने से वह जलाशय स्नान के अर्थ अपना ही बनाया हुआ हो जाता है। ऐसा कुछ शास्त्रकारों का मत है। अपने प्रतिबिंब को जल में न देखे और न तट (किनारे) पर खड़ा होकर जलाशय (कुआ बावली आदि) का अवलोकन करे। जल को हाथों तथा पगों से ताड़न न करे या न उछाले। स्नान करने के बाद हाथों से अंगों का मर्दन न करे, न बालों को धुने और न आर्द्र (बिना पोंछे गीले शरीर) ही तुरन्त धोई हुई पगड़ी एवं कपड़े पहनें और स्नान कर के पहिले धारण किए हुए बासी कपड़ों तथा तेल एवं वसा (चर्बी आदि) को ही स्पर्श करे। सोते समय, कहीं बाहर जाते समय और देवता के पूजन के समय में कपड़े बदल दिया करे अर्थात् पहिले धारण किए हुए कपड़ों को त्याग कर दूसरे कपड़े धारण करे। अर्दित, नेत्र, मुख और कान के रोगी, अतीसार, आध्मान (पेट फूलना), पीनस, अजीर्ण तथा भोजन करने के बाद स्नान निन्द्य (वर्जित) है। सुश्रुत तो उक्त रोगों के साथ ज्वर, अरोचक एवं वायु के समस्त रोगों में भी स्नान का निषेध करते हैं।

विशेष विवरण—हेमाद्रि और अरुणदत्तटीकाकार जठराग्नि-प्रदीपन, वृष्य (वीर्यवर्धन) और आयुवर्धन इन स्नान के गुणों को प्रभाव से मानते हैं किन्तु तन्त्रकारों के मतों को उद्धृत कर यह भी कहते हैं कि मधुर, स्निग्ध, बृंहण, बलवर्धन और मनोहर्षण ये सब वृष्य हैं। स्नान से मन को हर्ष होता है और प्रहर्षण से वृष्यत्व (वीर्यवर्धनत्व) प्राप्त होता है। इसीप्रकार जठराग्निप्रदीपन के विषय में कहते हैं कि स्नान जठराग्नि की बाहर निकली हुई रोमकूपाश्रित ज्वालाओं को रोककर पीछे भीतर ले जाता है और उन से अग्नि को प्रबलकर जठराग्नि को प्रदीपन करता है जैसे कि शीतकाल में शीतवायु के स्पर्शसे रुकी हुई जठराग्नि प्रदीप्त होती है। परन्तु बालादित्य का कथन तो यह है कि "स्नान से त्वचा के आश्रय में रहनेवाला भ्राजक पित्त भीतर प्रवेशकर अग्नि को बढ़ाता और उस से दीपन होता है।" इस से स्नान के लिए उष्ण जल ही ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि शीतल जल अग्नि को बुझाता है किन्तु देह के भीतर प्रविष्ट नहीं करता। यह अरुणदत्तका कथन है। हेमाद्रि भी इस से मिलतीजुलती बात युक्ति द्वारा कहते हैं। सुश्रुत अग्निप्रदीपनादि के साथ साथ

---

१. गंगाधरादिटीकाकृत्संमतोऽयं पाठः कसंज्ञकपुस्तकेऽपि मुद्रितः साधुरिति भाति। अस्माभिस्तथैव व्याख्यातः। इन्दुस्तु "निवसीतार्द्र एवाशु सोष्णीषे धौतवाससी" इति पठति। व्याख्याति च "आर्द्र एव धौतोष्णीषं धौतवाससी च परिदध्यात्" इति; किन्तु नैवं तन्त्रान्तरविरोधात्। लेखकानां मूले टीकायां च न वसीतस्थाने निवसीतेति लेखनप्रमादाद्वा।

२. उष्णशीतभेदभिन्नस्य स्नानस्य विषयमाह—उष्णाम्बुनेति। उष्णाम्बुना यः परिषेकः सोऽधःकायस्य बलावहः। स एवोत्तमाङ्गस्योर्ध्वकायस्य केशानां चक्षुषोश्च बलहृत्। तस्मात् केशचक्षुर्बलार्थिभिः शीतेन वारिणा स्नातव्यम् इतरैरुष्णेन इत्यर्थसिद्धम्। न त्वेकस्मिन् स्नाने शीतोष्णयोः प्रयोगः क्रियासंकरदोषोपपत्तेः इति हेमाद्रिः।

१. पञ्चभिः पिण्डैरुद्धृतैरात्मैव स्नानार्थं जलाशयः कृतो भवति। इतीन्दुः।

२. सुश्रुत चिकित्सास्थान अ० २४ श्लोक ६०

१. स्नानस्य प्रभावादायुष्यत्व-वृष्यत्व-दीपनत्वानि बोद्धव्यानि। अथवा स्नानेन प्रहर्षो भवति, प्रहर्षणत्वाच्च वृष्यत्वम्। यथाह वाग्भटः—"यत्किञ्चिन्मधुरं स्निग्धं बृंहणं बलवर्धनम्। मनसो हर्षणं यच्च तत्सर्वं वृष्यमुच्यते॥ इति। तथा च—"स्नानं जठराग्नेर्बहिर्निर्गतानि रोमकूपाश्रितान्यर्चींषि रुध्वाऽन्तर्नयति, ततश्चाग्नेः प्रबलत्वं कुर्वद्दीपनं संपद्यते। यथा शीतकाले शीतानिलसंस्पर्शरुद्धस्य जठराग्नेः प्रबलत्वम्।" बालादित्यस्तु व्याचक्षिष्ट "स्नानेन भ्राजकाख्यं त्वगाश्रितं पित्तमन्तः प्रविशदूष्माणं संवर्धयति तेन तद्दीपनम्"। अत एव परिषेके जलमुष्णमिष्यते। यस्माच्छीतं निर्वापयति तेजो, न देहस्यान्तः प्रवेशयतीत्यरुणः। हेमाद्रिरपि—"स्नानं दीपनत्वादिगुणम्। अतः कुर्यादित्यर्थसिद्धम्। दीपनं प्रभावात् केचिदत्र युक्तिमाहुः

स्नान का गुण रक्त का शुद्ध करना भी बताते[1] हैं।

स्नान-देवार्चनादि करने के अनन्तर अब आचार्य अन्न-पान-विधि से भोजन करने का उपदेश करते हैं—

अन्नपानविधानेन भुञ्जीतान्नं विनात्ययात्।
अभिनन्द्य प्रसन्नात्मा हुत्वा दत्वा च शक्तितः॥
पाकं सजलमेकान्ते यथासुखमविब्रुवन्[2]।
प्रयच्छेत्सर्वमुद्दिश्य पाचयेन्नान्नमात्मने॥
नान्नमद्यान्मुमूर्षणां मृतानां दुःखजीविनाम्।
स्त्री-जित-क्लीब-पतितक्रूर-दुष्कृतकारिणाम्॥
गणाद्गणिकासन्नधूर्तान्नापणिकं च न।
नोत्सङ्गे भक्षयेद् भक्ष्यान् जलं नाञ्जलिना पिबेत्॥
सर्वं च तिलसंबद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ।
न भुक्तमात्र आयस्येन्न निषिद्धं भजेत्सुखम्॥

अन्नपानादिविधि—स्नान-देवार्चन के पश्चात् अग्निमुख में हवन-कर, यथाशक्ति दानकर, पचाये हुए (परिपक्व) जलसहित अन्न का बखान करता हुआ प्रसन्न हृदय से एकान्त में जिस में सुख हो, जो मात्रासे अधिक न हो इस प्रकार अन्नपान-विधिसे कुछ भी न बोलता हुआ (मौन होकर) भोजन करे और सब प्राणियों (गाय, कुत्ता, बिल्ली आदि) को भी प्रदान करे। केवल अपने लिए ही अन्न का पाक न करे। थोड़े समय में मरनेवाला, मृतक, दुःख से जीवन व्यतीत करनेवाला, स्त्री, जिसको लड़ाई में जीत लिया हो, नपुंसक, पापी, क्रूर, दुष्कृत (निन्द्यकर्म) करनेवाला, इनके अन्न को तथा जिसके अनेक मालिक हों, जो भूतप्रेतादि के लिए बलि दिया हुआ हो ऐसे तथा शत्रु, वेश्या, यज्ञ, धूर्त, अन्नविक्रेता वणिक् इनके अन्न को भी नहीं खाना चाहिए। उत्सङ्ग अर्थात् कमर तक ऊंचा पल्ले में लेकर खाने के पदार्थों को न खावे। अंजलि से जल न पीवे। सूर्यास्त समय में भी अन्न का सेवन न करे। तिलसम्बद्ध सभी वस्तुओं को न खावे। भोजन करके तुरन्त ही व्यायाम न करे और न शास्त्रवर्जित सुखों का उपभोग करे।

भोजन के अनन्तर अब आचार्य मध्याह्न के कर्तव्यों को बताकर और भी उपदेश करते हैं—

धर्मोत्तराभिरर्थ्याभिः कथाभिस्त्रिगुणात्मभिः[1]।
मध्यं दिनस्य गमयेदिष्ट-शिष्ट-सहायवान्॥
न लोकभूपविद्विष्टैर्न संगच्छेत नास्तिकैः[2]।
कलिवैररुचिर्न स्याद्धीरः संपद्विपत्तिषु॥
श्रुतादन्यत्र सन्तुष्टस्तत्रैव च कुतूहली[3]।
शान्तिमान् दक्षिणो दक्षः सुसमीक्षितकार्यकृत्॥
ह्रीमान् धीमान् महोत्साहः संविभागी प्रियातिथिः।
अक्षुद्रवृत्तिर्गम्भीरः साधुराश्रितवत्सलः॥
दाता पितृभ्यः पिण्डस्य यष्टा होता कृपात्मकः।
अनुज्ञाता सुवार्तानां दीनानामनुकम्पकः[4]॥
आश्वासकारी भीतानां क्रुद्धानामनुनायकः।
पूर्वाभिभाषी समुखः सुशीलः पूज्यपूज्यकः॥
वित्तबन्धुवयोविद्यावृत्तैः पूज्या यथोत्तरम्।

मध्याह्न के कार्य—दिन का मध्याह्न काल अपनी इच्छा के अनुसार आज्ञाधारक सहायकों के साथ में धर्ममय तथा अर्थमय (जिन में काम की मात्रा कम हो) ऐसी त्रिगुणमयी कथाओं में व्यतीत करे। जिन कथाओं से धर्म की स्थिति, अर्थ की वृद्धि एवं काम का क्षय हो। प्रजा और राजा से द्वेष करनेवाले तथा इहपरलोकादि को न माननेवाले नास्तिकों के साथ न रहे। कलह और वैर में रुचि न रक्खे और सुख-दुःख में धैर्य धारण करे। शास्त्रश्रवण के विना अन्यत्र कहीं सुनी-सुनाई बातों को सुनकर वहीं सन्तुष्ट और प्रसन्न हो। सारांश यह कि शास्त्रीय धर्मवार्ताओं को सुनकर कभी सन्तुष्टि न माने, सदैव सुनकर उनका प्रचार करे किन्तु इसके विपरीत सुनी सुनाई बातों को वहीं सुन लेवे जहां तहां कहता न फिरे। इसके सिवा सब प्राणियों के विषय में मनुष्य को चाहिये कि उसको क्षमावान्, सरल, उदार, चतुर, भलीभांति देखभालकर कार्य करनेवाला, लज्जायुक्त, बुद्धिमान्, बड़ा उत्साही, सबका बराबर हितैषी, अतिथि को देख प्रसन्न होने-वाला, कृपणतारहित, गम्भीर (नम्र), सज्जन, आश्रितों पर प्रेम करनेवाला, पितरों के अर्थ पिण्डदान देनेवाला, पूजन और हवन करनेवाला, दयालु, अच्छी बातों का उपदेष्टा, दीनों पर दया करनेवाला, डरे हुओं को धीरज देनेवाला, कुपितों से विनयवान्, सामने होकर बोलनेवाला, प्रसन्नमुख, सुशील और सेवा करने के योग्य सज्जनों की सेवा करनेवाला रहना चाहिये। ध्यान रहे कि धनवान् से बड़े कुटुम्बवाला, कुटुम्बी से वयोवृद्ध और वयोवृद्ध से विद्यावृद्ध और विद्यावृद्ध से भी सुशील ये अधिकाधिक सेवा के अधिकारी हैं। अतः इन सब की सेवा करे।

इसी प्रकार आचार्य और भी उपदेश करते हैं कि—

आत्मद्रुहममर्यादं मूढमुज्झितसत्पथम्।
[4]सुतरामभ्युपेक्षेत नरकार्चिष्मदिन्धनम्॥
धर्म्यमर्थ्यं प्रियं तथ्यं मितं पथ्यं वदेद्वचः।
नात्मानमवजानीयान्न स्तूयान्न च पीडयेत्॥

---

"बाह्योङ्गसेकैः शीताद्यैरूष्मान्तर्याति पीडितः। नरस्य स्नातमात्रस्य दीप्यते तेन पावकः। इति

१. रक्तप्रसादनं चापि स्नानमग्नेश्च दीपनम्। इति।

२. खसंज्ञकपुस्तकसंमतोऽयं पाठः साधुरिति मत्वा व्याख्यातोऽस्माभिः। इन्दुस्तु "यथासुखमिति ब्रुवन्" इति पठति व्याख्याति च "यथासुखमिति मन्त्रपदमिव ब्रुवन् दद्यात्। सर्वभूतग्राममुद्दिश्य, एकान्ते पाकं सर्वमाहार्यं सोदकमिति"।

१. धर्मप्रधानाभिः, मध्यार्थाभिः, अर्थबलात्स्वल्पकामाभिः। एवं त्रिगुणात्मभिः त्रिगुणो धर्मादीनां स्थानवृद्धिक्षयलक्षणः। इतीन्दुः।

२. अदृष्टं नास्तीति बोद्धारो, नास्तिकाः।

३. शास्त्रश्रवणादन्यत्राशनादिके सन्तुष्टः, श्रुते त्वसन्तुष्टः, तत्रैव च श्रुतशेषविषये कुतूहलवान्॥ इतीन्दुः।

४. सुतरामनुकम्पेत इति पाठान्तरम्।

न हीनानवमन्येत वृत्तार्थाङ्गकुलश्रुतैः ।
नारुन्तुदः स्यान्न क्रूरो न तीक्ष्णो नोपतापवान् ॥
हेतावीर्ष्येन्न तु फले पापं पापेऽपि नाचरेत् ।
परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैनं निपातयेत् ॥
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शासनार्हाद्धिताशयः ।
नृत्यवादित्रगीतादिनोल्वणां नाचरेत् क्रियाम् ॥
प्रसिद्धकेशवाग्वेषशमसान्त्वपरायणः ।
ऊर्ध्वं नाभेः शरीरस्य स्पृशेन्नाधरवाससा ॥
न कुर्यान्मिथुनीभूय शौचं प्रति विलम्बनम् ।
नासंवृतमुखो हास्यक्षवोद्गारविजृम्भणम् ॥
पाणिद्वयेन युगपत्कण्डूयेन्नात्मनः शिरः ।
वहेन्न भारं शिरसा युगपच्चाग्निवारिणी ॥
नासिकां न विकुष्णीयाद्दशनान्न विघट्टयेत् ।
कुर्याद्भिलेखनच्छेदभेदास्फोटनमर्दनम् ॥
( नाकार्यं न च कार्येऽपि सुखाङ्गनखवादनम् ) ।
पादं पादेन नाक्रामेन्न कण्डूयेन्न शोचयेत् ॥
न कांस्यभाजने तौ च नोपविष्टः प्रसारयेत् ।
अभीक्ष्णं निर्मलान् दध्यान्नखपादमलाशयान् ॥
नासमिद्धमुपासीत हुताशं नैव चाशुचिः ।
नानुवातं न विवृतो न क्लान्तो नान्यमानसः ॥
धमेन्नास्येन न स्कन्देन्नाधः कुर्यान्न पादतः ।
संततं न निरीक्षेत चलसूक्ष्माप्रियाणि च ॥
नाप्रशस्तं न विण्मूत्रं न दर्पणममार्जितम् ।
उद्यन्तमस्तमायान्तं तपन्तं प्रतिमागतम् ॥
उपरक्तं च भास्वन्तं वाससा वा तिरोहितम् ।
नान्यदप्यतितेजस्वि न क्रुद्धस्य गुरोर्मुखम् ॥
स्त्रियं स्रवन्तीं नोदक्यां न नग्नां नान्यसङ्गताम् ।
न पत्नीं भोजनस्वप्नक्षुतजृम्भा दुरासने ॥
शयीत नैकशयने न चाश्नीयात्तया सह ।
तामनीर्ष्यश्च गोपायेत्स्वैरिणीं नाधिवासयेत् ॥
नोच्छिष्टस्तारकाराहुतुहिनांशुदिवाकरान् ।
पश्येन्न यायान्न पठेन्न स्वप्यान्न स्पृशेच्छिरः ॥
पाययन्तीं चरन्तीं वा नान्यस्मै गां निवेदयेत् ।
अर्केन्दुपरिवेषोल्काशक्रधनूंषि च ॥
नान्यद् देवार्चने कर्म कुर्यादावेद्य वर्षति ।
तिथिं पक्षस्य न ब्रूयान्नक्षत्राणि न निर्दिशेत् ॥
नैतमनो जन्म लग्नर्क्षधनसारं गृहे मलम् ।
प्रकाशयेच्चावमानं न च निःस्नेहतां प्रभोः ॥

१. प्रसाधयेत् इति पाठान्तरम् ।

२. नाशयेद्गृहम् इत्यपि पाठः ।

३. आत्मा चित्ते धृतौ यत्ने धिषणायां कलेवरे । परमात्मनि जीवेऽर्के हुताशनसमीरयोः । इति मेदिनी

अन्य शुभोपदेश—प्राणियों एवं मनुष्यों से द्रोह करनेवाला, अपने कुल ( जाति ) की मर्यादा से हीन और सन्मार्ग को छोड़ देनेवाला पुरुष, नरकरूपी अग्नि का इन्धन होता है, अतः उस की संगति न करके उपेक्षा ही करे किन्तु इन्दु 'नितरामनुकम्पेत' इस पाठ को मानता हुआ कहता है कि ऐसे पुरुष को दया करके उपदेश कर सत्पथपर लाने का प्रयत्न करे क्यों कि उपेक्षा करने से नरकाग्नि के इन्धन में वृद्धि होकर उसके अधिकाधिक भड़कने का भय होगा । सबको ऐसे वचन कहे जिनसे धर्म और अर्थ की सिद्धि हो, सुनने में प्रिय हो, सत्य, स्वल्प और सब के लिए हितकारी हों । न मनुष्यमात्र का अपमान करे और न अपनी ही अवज्ञा करे, न अपनी प्रशंसा करे और न निन्दा । अपने से बर्ताव, धन, शारीरिक बल तथा शास्त्र से हीनों ( निर्बलों ) का अपमान न करे । किसी का मर्मस्पर्शी शत्रु न बने, न क्रूर, कठोरवक्ता, क्रोधी और पड़ोसियों को दुख देनेवाला हो । किसी की सफलतापर ईर्ष्या न करे । यदि ईर्ष्या ही करना हो तो उस की सफलता के मूल-हेतु ( कारण ) को लेकर करे अर्थात उसे सफलता जिस सद्व्यापार से मिली हो उसी कर्म को वह भी करके सफलता प्राप्त करे । अपना अनिष्ट करनेवाले शत्रु या पापी के लिए भी इष्ट-चिन्तना करे अर्थात् बुराई करनेवाले शत्रु की भी भलाई करे अपि तु शत्रु को भी दण्ड देने की इच्छा न करे और न उसका क्रोधवश होकर निपात करे ।

पुत्र और शिष्य के सिवा जो दण्ड के योग्य हो उसे दण्ड न दे अपितु उसका हित करे ( चाहे पुत्र तथा शिष्य को दण्ड दे परन्तु किसी दूसरे को दण्ड न देता हुआ उसकी भलाई ही करे ) । नाचने, गाने और बजाने की क्रिया में अत्यन्त लिप्त न हो । केशों को नित्य संवारने, वाणी के बोलने, सुवेष धारण करने, शान्ति रखने तथा अत्यन्त मधुर बोलने में परायण अर्थात् चतुर हो । इन्दु इसी की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि "देश और काल से अप्रसिद्ध केश, वाणी, वेष, शान्ति और सान्त्व को धारण न करे" । नाभि के ऊपर के शरीर को निम्न भाग के शरीर के कपड़े से स्पर्श न करे । मैथुन करके शौच करने में विलम्ब न करे । मुँह को फाड़कर न हँसे, न छींके, न डकार ले और न जमुहाई ले । सारांश यह कि इन क्रियाओं को मुख को हाथ से ढककर करे । दोनों हाथों से एकदम अपने सिर को न खुजावे । सिर के द्वारा भार न ढोवे और न एक साथ अग्नि तथा जल लेकर चले । बिना किसी कारण नाक को न सोंके, न दांतों को ही कुचरे और न पृथ्वी को खोदे । पत्थर, ढेला, वृक्ष, तृण, लकड़ी आदि को न तोड़े, फोड़े और मरोड़े । पग से पग पर आक्रमण न करे अर्थात् पगपर पग न चढ़ावे, न पग से पग को घिसे तथा धोवे और न बैठ कर दोनों पग कांसी के पात्र में पसारे या धोवे । नित्य प्रति नखों,

१. आत्मद्रोहादियुतमत्यन्तं कृपया सत्पथयोजनादिना परमनुकम्पेत । इति ।

२. उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेऽप्यरौ । इति ।

३. न भूमिं विलिखेत्, न छिन्द्यात् तृणम्, न लोष्ठमृद्नीयात् इति चरकः

४. तौ पादौ कांस्यमये पात्रे कृत्वा न शौचयेत् । इतीन्दुः ।

पर्गों, नेत्र, मुख, नाक, कान, गुद, लिंगादि मलों[1] के स्थानों को निर्मल ( साफ ) रखे। समिधा के बिना, अपवित्र, उघाड़े शरीर, थका हुआ, एवं मन और जगह लगा हो ऐसी अवस्था में, जिस ओर वायु का जोर हो उस ओर बैठ कर अग्नि की उपासना न करे, न मुँह से फूँककर अग्नि को धर्मे या प्रदीप्त करे। न अग्नि को बिखेरे और न सोते बैठे समय अग्नि को पगों से नीचे के भाग में रखे। एकटक लगाकर नित्यप्रति चलायमान, सूक्ष्म एवं अप्रिय वस्तुओं को न देखे और न अपवित्र मलमूत्र ही को देखे, न मलिन कांच को देखे। उदय एवं अस्त होते हुए, तपते हुए, प्रतिबिम्बित तथा ग्रहण की अवस्था में कपड़े की आड़ करके सूर्य को तथा इसी प्रकार अन्य तेजस्वी ( चमकती ) हुई वस्तु को न देखे और न क्रुद्ध हुए गुरु के मुख को ही देखे। पेशाब करती हुई, रजस्वला, नग्न, अन्य पुरुष के साथ मिथुनीभूत स्त्री को न देखे। भोजन-शयन की अवस्था में, छींक और जम्भाई लेती हुई, अच्छे आसन पर न बैठी हुई अपनी स्त्री को भी न देखे, न अपनी स्त्री के साथ एक ही आसन पर सोवे और न उस के साथ भोजन करे। ईर्ष्या न करता हुआ उस की रक्षा करे। जीवित भर्तार को छोड़ घर से बाहर निकल गई हो ऐसी स्वैरिणी[3] स्त्री को अपने घर में न रहने दे। उच्छिष्ट[4] ( भोजन के बाद जल से मुखादि शुद्धि न करते हुए या बिना कारण ) रहते तारे, चन्द्रमा, सूर्य एवं चन्द्र-सूर्यग्रहण को न देखे, न कहीं जावे, न पढ़े, न सोये और सिर को स्पर्श करे। अपने बछड़े को दूध पिलाती तथा दूसरे के खेत में चरती हुई गाय को किसी और को न बतावे और न दूसरे को सूर्य-चन्द्रमा के मण्डल, उल्का ( अग्नि ज्वाला या बिजली ) तथा इन्द्र-धनुष को भी दिखावे। देवता का पूजन करते हुए और काम न करे और बरसते हुए पानी में न दौड़े। यह किसी को न बतावे कि आज पक्ष की अमावास्या, प्रतिपदा आदि अमुक तिथि है या अमुक नक्षत्र है। अपने जन्म के लग्न तथा नक्षत्र को न बतावे और यह भी प्रकट न करे कि मेरे पास इतना धन है, मुझ में इतना बल है, या मेरे घर में अमुक दोष है। यह भी न बतावे कि अमुक ने मेरा अपमान किया या मेरा मालिक मुझ पर प्रसन्न नहीं है। सारांश यह कि इन बातों के प्रकट होने से शत्रुओं को अवसर ( मौका ) मिलता है और वे उसका बुरा कर सकते हैं।

पुरोवातातपरजस्तुषारपरुषानिलान् ।
अनृजुः क्षवथूद्गारकासस्वप्नान्नमैथुनम् ॥
सशब्दमनिलं हस्तभ्रूनेत्रोत्क्षेपवादिताम् ।
कूलच्छायां नृपद्विष्टं[1] (सुरापानं) व्यालदंष्ट्रिविषाणिनः ।
हीनानार्यातिनिपुणसेवां विग्रहमुत्तमैः ।
संध्यास्वभ्यवहारस्त्रीस्वप्नाध्ययनचिन्तनम् ॥
आरोग्यजीवितैश्वर्यविद्यासुस्थितिमानिताम् ।
तोयाग्निपूज्यमध्येन यानं धूमं शवाश्रयम् ॥
मद्यातिसक्तिं विस्रम्भस्वातन्त्र्ये स्त्रीषु च त्यजेत् ।
नैकाहमप्यधिवसेद्वास्तु तच्छास्त्रगर्हितम् ॥
न देशं व्याधिबहुलं नावैद्यं नाप्यनायकम् ।
नाधर्मिजनभूयिष्ठं नोपसृष्टं न पर्वतम् ॥

पुरोवातादिनिषेध—पूर्व-दिशा की ओर से आनेवाले पवन ( पुरोवात ) तथा अपने मुख के सामने की दिशा से आनेवाले ( धूप-लू ), धूल, हिम ( कुहिरा ), प्रचण्ड वात ( आंधी ) इन पांचों को त्यागे अर्थात् इन से बचे। शरीर की विषमावस्था में ( समावस्था के अतिरिक्त टेढ़े-मेढ़े शरीर से ) छींक, डकार, खाँसी, शयन, भोजन और मैथुन न करे। शब्द-सहित अपान वायु का त्याग न करे और न ऐसी कोई बात करे जिसे लोग हाथ, भौंह और नेत्रों के इशारे से निषेध करते हों अथवा हाथ, भौंह और नेत्रों को ऊंचे उठा उठाकर न बोले। नदी के कूल ( किनारा ) की छाया में न बैठे क्योंकि उस के ऊपर गिरने का भय रहता है। नृपद्विष्टं अर्थात् राजा जिससे द्वेष रखता हो उसे भी छोड़ दे ( यहां इन्दुसम्मत तथैव मूल मुद्रित पाठ 'सुरापानं' ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि आगे मद्यातिसक्ति यह पाठ है अतः अष्टाङ्ग-हृदयसंमत नृपद्विष्टं पाठ ही ठीक प्रतीत होता है। ) व्याल ( दुष्ट हाथी आदि ), दंष्ट्री ( सर्प आदि ) तथा सींगवाले ( गाय बैल ) आदि से भी बचे। ऐसों की सेवा में न रहे जो कुल-शील-धन आदि से हीन, अनार्य ( असाधु-दुर्जन ) हों और जो अतिनिन्दा के पात्र ठहर गये हों। उत्तम ( सज्जन ) पुरुषों से लड़ाई झगड़ा न करे। दिन रात की सन्धियों अर्थात् प्रातः और सायंकाल में भोजन, स्त्रीसंभोग, शयन, अध्ययन ( पढ़ना ) और अध्ययन किए हुए विषय का चिन्तन ( विचार-विमर्श ) न करे। यह अभिमान न करे कि मैं नीरोग, जिन्दा ( जीवित ), धनवान्, विद्वान् और अच्छी स्थिति में हूँ; क्योंकि ये बातें किसी की स्थिर नहीं रहतीं। जल, अग्नि और पूज्यों के बीच में से सवारी कर के न चले और न मृतक के सम्बन्ध का धूम ( धुआँ ) ही ग्रहण करे। मद्य में अधिक आसक्ति ( प्रेम ) न करे, स्त्रियों का विश्वास न करे और न उन्हें स्वतन्त्रता ही दे। उस घर में एक दिन भी न रहे अर्थात् जिसका वास्तुकर्म नहीं हुआ हो अतः शास्त्र से निन्द्य हो। न ऐसे देश में ही रहे जिसमें बहुत रोग फैला हुआ हो, जहां वैद्य न हो और जिसका कोई शासक न हो। ऐसे देश में भी न रहे जिसमें अधर्मियों की अधिकता हो और महामारी आदि

---

१. द्वे अधः, सप्त शिरसि, खानि स्वेदमुखानि च। मलायनानि। इति चरकः।

२. उपरक्तो राहुच्छादितः।

३. भर्तारं जीवन्तं परित्यज्य स्वेच्छया गृहान्निर्गता स्वैरिणी। इतीन्दुः

४. उच्छिष्टः अप्रयतः।

५. न परशस्येषु गां चरन्तीं धावन्तीं वा परस्य ब्रूयात्। इति चरकः।

६. पक्षस्य तिथिं न ब्रूयात्, अद्यामावास्येति न कस्मैचित्कथयेत् इत्यर्थः। पक्षस्य मध्ये सर्वां तिथिं न ब्रूयादिति केचित्। इतीन्दुः।

७. गृहे मलं गृहदोषमितीन्दुः।

८. "पुरोवातः पूर्वदिगागतो वातः"

१. नृपद्विष्टमिति अष्टाङ्गहृदयस्थः पाठ एव साधुः न तु सुरापानम् इतीन्दुसंमतः, मद्यातिसक्तिम् इत्यग्रे पाठदर्शनात्।

२ आरोग्यादीनां स्थिरज्ञानं विश्वासः, अहमरोगः अहं गृहीतविद्य इत्यादिकं त्यजेत् उपेक्षया नाशमयादितीन्दुः।

के कारण जिसको लोगों ने छोड़ दिया हो। पर्वत पर भी न रहे क्यों कि उसमें हिंस्र पशुओं और चोरों का भय रहता है।

अब आचार्य सुखकारी निवासस्थानों का वर्णन करते हैं।—

वसेत्प्राज्यामबुभैषज्यसमित्पुष्पतृणेन्धने ।
सुभिक्षक्षेमरम्यान्ते पण्डितैर्मण्डिते पुरे ॥
नरामराणां सिद्धानां शास्त्राणां चाजुगुप्सकः ।
आराधकस्त्रिवर्गस्य यथायोग्यं जनस्य च ॥
दश कर्मपथान्रक्षन् जयन्नभ्यन्तरानरीन् ।
हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृतम् ॥
संभिन्नालापं व्यापादमभिध्यां दृग्विपर्ययम् ।
पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् ॥
परोपघातक्रियया वर्जयेदर्जनं श्रियः ।
अर्थानां धर्मलब्धानामदाताऽपि ह्यसंभवात् ॥
स्वर्गापवर्गविभवानयत्नेनाधितिष्ठति ।

सुखकरनिवासनिर्देश—ऐसे नगर में रहना चाहिए जिसमें जल, औषधियाँ, समिधा, पुष्प, घास और इंधन ये पर्याप्त हों, जो पण्डितों से मण्डित (शोभायमान) हो अर्थात् जहां अनेक विद्वान् रहते हों और जो चारों ओर से सुकाल, क्षेम (कुशल) और रम्य (सुन्दर) हो। मनुष्य को चाहिए कि वह मनुष्यों, देवताओं, सिद्धों एवं शास्त्रों से द्वेष करनेवाला न हो। किन्तु वह त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) एवं लोगों की यथायोग्य आराधना करनेवाला हो, उसे चाहिए कि वह दश कर्म-मार्गों से अपनी रक्षा करता हुआ काम-क्रोध—लोभ-मोहादि आन्तरिक शत्रुओं को जीते। दस कर्मपथ ये हैं—हिंसा (प्राणियों का वध), चोरी (परद्रव्य का अपहरण), अगम्यागमन, पीठ पीछे छुपकर दूसरे की बुराई, दूसरे की प्रत्यक्ष निन्दा, झूठ बोलना, असत्प्रलाप (दूसरे को दुःख हो ऐसा बकना), जीवधारियों का बुरा चिंतन, परधनहरण की इच्छा और शास्त्रों में अप्रमाण बुद्धि (नास्तिकता), अतः इन दस पापकर्मों का शरीर, वाणी और मन से त्याग करे अर्थात् हिंसा, चोरी और अगम्यागमन को शरीर से त्यागे। छुपकर निन्दा, प्रत्यक्ष कठोर वचन, असत्य भाषण और अण्डबण्ड बकना, वाणी से त्यागे एवं अन्याय से दूसरे के धन हरने की इच्छा, जीव का अनिष्ट चिन्तन तथा शास्त्रों में अविश्वास इन्हें मन से त्याग दे।

दूसरे का अपघात अर्थात् किसी की हिंसा का काम करके धन का कमाना छोड़ दे। (सारांश, ऐसे दुष्कर्मों द्वारा कमाये हुए धन का दान न करनेवाला भी इस और पर लोक के सुख को अनायास ही प्राप्त कर सकता है। इन्दुसंमतपाठ से-जिसे धर्म की रीति से धन की प्राप्ति न हुई हो, वह बिना दान दिए भी अनायास इह और परलोक के सुखों को प्राप्त करता है)

इसी प्रकार अब आचार्य रात्रिचर्याका उपदेश करते हैं।

सायं भुक्त्वा लघु हितं समाहितमनाः शुचिः ।
शास्तारमनुसंस्मृत्य स्वशय्यां चाथ संविशेत् ॥
देशे शुचावनाकीर्णे द्वित्राप्तपरिचारकः ।
युक्तोपधानं स्वास्तीर्णं विस्तीर्णाविषमं सुखम् ॥
जानुतुल्यं मृदु शुभं सेवेत शयनासनम् ।
प्राग्दक्षिणशिराः पादावकुर्वाणो गुरून् प्रति ॥
पूर्वापरनिशाभागे धर्ममेवानुचिन्तयेत् ।

रात्रिचर्या—सायंकाल में हलका, हितकारी भोजन करके, दो तीन सेवकों को साथ लेकर शुद्ध एवं एकाग्रचित्त होकर बारंबार परमात्मा एवं अपने शासक का स्मरण करता हुआ जहां लोगों का गलबला न हो, ऐसी एकान्त शुद्ध जगह पर बिछी हुई अपनी शय्या पर प्रविष्ट होवे। शयन करने का श्रेष्ठ आसन ऐसा होना चाहिए कि जिस पर स्वच्छ कपड़ा बिछा हो, जिस पर योग्य तकिया लगा हो, सोने के लिए जो पर्याप्त हो, ऊँचानीचा न हो, गोड़े की बराबर ऊंचा हो, नरम और सुखदायी हो। ऐसे आसन पर पूर्व और दक्षिण की ओर सिर करके, पगों को गुरुजनों की ओर न करके सोता हुआ रात्रि के पहिले और पिछले भाग में धर्म का ही चिन्तन करे। 'पूर्वापरदिशो भागे' इस पाठ को मानता हुआ यहां इन्दु कहता है कि घर के पूर्व या पश्चिम भाग में सोने का आसन रक्खे और उस पर शयन करे।

आददीत सदा देहादित्थं सारमसारतः ।
बिभ्यत्प्रतिक्षणं मृत्योरयथायथचेष्टितात् ॥
आरोग्यविभवप्रज्ञा वयोधर्मक्रियावतः ।
सुखमायुर्हितं चोक्तं विपरीतं विपर्यये ॥

मृत्यु का कोई नियम नहीं कि वह अमुक समय में ही आयगी अतः उससे प्रतिक्षण (हरदम) डरता हुआ, असार शरीर से इस प्रकार (जैसे कि प्रथम वर्णन किया गया है) नित्य प्रति सार (साधु आचरण) का ग्रहण करे क्योंकि आरोग्य संपत्ति, बुद्धि, वय और धर्म के अनुकूल क्रिया करनेवाले की आयु (जीवन) उसके लिए सुखी और हितकारी होता है और इसके विपरीत चलनेवाले का जीवन विपरीत अर्थात् दुःखी और अहितकारी होता है।

सर्वतेजोनिधानं हि नृप इत्युच्यते भुवि ।
अदूषयन्मनस्तस्माद्भक्तिमांस्तमुपाचरेत् ॥
पर्यस्तिकोपाश्रयकोपहास-
विवादनिष्ठीवनजृम्भणानि ।
सर्वाः प्रकृत्यभ्यधिकाश्च चेष्टा-
स्तत्संनिधाने परिवर्जयेत्तु ॥

---

१. आधारकः इति ख. २. जयेन्नाभ्यन्तरानरीन् ३. बहुनर्थानाम् ४ दशकर्मपथाः कायवाङ्मानसाः। तत्र कायिकास्त्रयः—प्राणातिपातः, परद्रव्यापहारः, अगम्यागमनमिति। वाचिकं चतुर्विधम्—असत्यवचनं, परेषां भेदकृद्वचनं, परुषवचनं, असंबद्धप्रलापश्च। मानसं त्रिविधम्, अभिध्या, व्यापादो, मिथ्यादृष्टिश्च। परस्वस्यान्यायेन स्पृहाऽभिध्या। व्यापादः सत्त्वविद्वेषः। दृग्विपर्ययं, शास्त्रदृष्टिवैपरीत्यं नास्तिकत्वम् इतीन्दुः।

१. इन्दुस्तु "पूर्वापरदिशो" भागे पठति व्याख्याति च "वेश्मनः पूर्वे अपरे वा दिग्भागे शयनासनं सेवेत" इति। २ "एतदेव हि तत्सारं देहे यत्साधुशीलता।"

राजसेवादिकथन—इस भूतल पर राजा को सब तेजों का निधान ( कोष या खजाना ) कहा जाता है अतः निर्मल अन्तःकरण से भक्तिपूर्वक उसकी सेवा करनी चाहिये। उसके सामने वस्त्रादि से अपनी पीठ और गोडों का लपेटना, पलङ्ग पर या भींत आदि से टेका लगाकर बैठना, हँसी ठट्ठा, वादविवाद, थूकना, जम्भाई और इसी प्रकार कोई प्रकृति विपरीत चेष्टा नहीं करनी चाहिये।

सत्त्वाद्यवस्थाविविधाश्च तास्ताः
सम्यक् समीक्ष्यात्महितं विदध्यात्।
अन्योऽपि यः कश्चिदिहास्ति मार्गो
हितोपदेशेषु भजेत तं च॥
इति चरितमुपेतः सर्वजीवोपजीव्यः
प्रथितपृथुगुणौघो रक्षितो देवताभिः।
समधिकशतजीवी निर्वृतः पुण्यकर्मा
व्रजति सुगतिनिम्नो देहभेदेऽपि तुष्टिम्॥

इत्यष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थाने तृतीयोऽध्यायः।

आत्महितोपदेश—सत्त्व, रज और तमोगुण की अथवा मन, बुद्धि और अहंकारादि की उन नानाप्रकार की अवस्थाओं का, जो समय समय पर प्राप्त हुआ करती हैं, भली भांति विचार करता हुआ अपनी आत्मा का हित करे क्योंकि धर्म में विघ्न करनेवाले रजोगुण और तमोगुण के विकारों का जीतना बड़ा ही कठिन होता है। इसी प्रकार मन, बुद्धि आदि प्रणीत हितोपदेश करनेवाले शास्त्रों में और भी कोई मार्ग हो तो उसको भी ग्रहण करे। इस प्रकार करने से मनुष्य सब प्राणियों के लिए हित करनेवाले जीवन को प्राप्त कर बड़े बड़े सद्गुणों के समूह से प्रख्यात होता है, देवता उसकी रक्षा करते हैं, सौ वर्षों से भी अधिक वह जीता है, सुखी और पुण्यकर्मा होकर वह सन्मार्गगामी और नम्र होता है। देह का नाश हो जाने पर वह भी मोक्ष को प्राप्त कर सन्तुष्ट होता है।

इत्यष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी-व्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

# अथ चतुर्थोऽध्यायः।

ऋतुचर्यारम्भ—गत तृतीय अध्याय में स्वस्थवृत्त का वर्णन किया गया है वह ऋतुओं के अनुसार है, अतः ऋतुचर्या का वर्णन करना आवश्यक होने से अब उसका आरम्भ करते हैं।

अथात ऋतुचर्याध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

तृतीय अध्याय के अनन्तर अब आचार्य कहते हैं कि हम ऋतुचर्या नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहिले आत्रेयादि महर्षि कर गये हैं। ऋतु काल के ही विभाग का नाम होने से अब काल का वर्णन करते हैं—

कालो हि नाम भगवाननादिनिधनो यथोपचितकर्मानुसारी यदनुरोधादादित्यादयः खादयश्च महाभूतविशेषास्तथा तथा विपरिणमन्तो जन्मवतां जन्ममरणस्यर्तुरसवीर्यदोषदेहबलव्यापत्संपदां च कारणत्वं प्रत्ययतां प्रतिपद्यन्ते। स मात्राकाष्ठाकलानाडिकामुहूर्तयामाहोरात्रपक्षमासर्त्वयनवर्षभेदेन द्वादशधा विभज्यते। तत्राक्षिनिमेषो मात्रा, ताः पञ्चदश काष्ठा। तास्त्रिंशत्कला। ताः सदशभागा विंशतिर्नाडिका। नाडिकाद्वयं मुहूर्तश्च। ते तुल्यरात्रिंदिवे राशिभागे चत्वारः पादोना यामः। तैश्चतुर्भिरहो रात्रिश्च। पञ्चदशाहोरात्राः पक्षः। पक्षद्वयं मासः। स शुक्लान्तः तैर्मार्गशीर्षादिभिर्द्विसंख्यैः क्रमाद्धेमन्तशिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरदाख्याः षड् ऋतवो भवन्ति। तेषु शिशिरादयस्त्रयो रवेरुदगयनमादानं च। शेषा दक्षिणायनं विसर्गश्च। तावादानविसर्गौ वर्षम्।

कालविभागवर्णन—काल उसे कहते हैं जो ऐश्वर्यवान् है और जो आदिअन्त रहित है अर्थात् न जिसका कभी प्रारम्भ होता और न समाप्ति ही होती है। प्राणिमात्र के जैसे पूर्वसंचित कर्म होते हैं उन्हीं का अनुसरण वे करते हैं, वैसे ही जो पूर्वदेहसंचित कर्मों के अनुसार फल देनेवाला है, जिसके अनुरोध से सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रादि, आकाशादि ( आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ) पञ्चमहाभूतविशेष, प्रमाण, जातिसंस्थान और वर्णादि विशेष करके परिणाम को प्राप्त होते हुए जन्मधारियों के जन्म और मरण के तथा ऋतु, रस, वीर्य, दोष, देह और बल के ह्रास और वृद्धि के कारण होते हैं; वह काल कहलाता है। वही (काल) मात्रा, काष्ठा, कला, नाडिका, मुहूर्त्त, प्रहर, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन और वर्ष के भेद से बारह प्रकारों में विभक्त है। सुश्रुत इस द्वादशधा कालविभाग को याम ( प्रहर ) को छोड़ कर युगान्त मानता है। इनमें लघु अक्षर के उच्चारण में जितना समय लगता है उसे अक्षिनिमेष कहते हैं उसी का पर्याय मात्रा है। पन्द्रह मात्राओं की एक काष्ठा और तीस काष्ठाओं की एक कला अर्थात् एक पल होता है। ये तीस कला, दश सहित बीस के मिलने से ( ३०+१०+२०=६० ) अर्थात् ६० कला या पल की एक नाडिका (घटी) तथा दो घटी का एक मुहूर्त्त होता है। दिन रात्रि के सम प्रमाण में मुहूर्त्त के चतुर्थांश करके हीन ऐसे चार मुहूर्त्तों का अर्थात् ७॥ घटिका का एक प्रहर होता है। दिन-रात के न्यूनाधिक प्रमाण में उनके चार चार प्रहरों का प्रमाण बुद्धि से निश्चय करना चाहिये। सारांश यह कि दिनमान ३२ और रात्रिमान २८ होने से उनके प्रहरों का प्रमाण ७॥ घटी का न रहकर क्रमशः ८ और ७ घटिका का ही माना जायगा। चार प्रहर की रात और चार ही प्रहर का दिन

१. पर्यस्तिका वस्त्रादिना स्वपृष्ठजानुपरिवेष्टनमितीन्दुः। "पल्यङ्को मञ्चपर्यङ्कपर्यस्तिकासु च" इति मेदिनी। २. दुस्तरा हि धर्म-प्रतिबन्धका रजस्तमोविकाराः इतीन्दुः।

१ तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेषेणाक्षिनिमेषकाष्ठाकलामुहूर्त्ताहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगप्रतिभागं करोति लघ्वक्षरोच्चारणमात्रोऽक्षिनिमेषः। इति।

होता है। दिन और रात्रि दोनों मिलकर अहोरात्र कहलाता है तथा १५ अहोरात्र का एक पक्ष, दो पक्ष (कृष्ण और शुक्ल) मिल कर एक मास जिसका अन्त शुक्ल पक्ष से होता है। मार्गशीर्षादि दो दो महीनों का मिलकर एक एक ऋतु होता है जिनके नाम क्रम से हेमन्त (मार्ग–पौष), शिशिर (माघ–फाग), वसन्त (चैत–वैशाख), ग्रीष्म (जेठ–आषाढ), वर्षा (श्रावण–भादों) और शरत् (आश्विन–कार्तिक) हैं। इनमें से शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म इन तीन ऋतुओं में सूर्य का उत्तर की ओर प्रस्थान होता है अतः इस काल का नाम उत्तरायण है। इसी का नाम आदानकाल है। शेष रही वर्षा, शरद और हेमन्त इन तीन ऋतुओं में सूर्य का प्रस्थान दक्षिण की ओर होता है अतः इन ऋतुओं के काल को दक्षिणायन कहते हैं। इसी का दूसरा नाम विसर्ग काल है। ये आदान और विसर्ग दोनों मिलकर एक वर्ष कहलाता है। अब आदान एवं विसर्गकाल का स्पष्टीकरण कहते हैं। यथा—

तयोरादानमाग्नेयम्। तस्मिन् खलु कालस्वभावमार्गपरिगृहीतोऽत्यर्थोष्णगभस्तिजालमण्डलोऽर्कस्तत्सम्पर्काद्वायवश्च तीव्ररूक्षाः सोमजं गुणमुपशोषयन्तो जगतः स्नेहमाददाना ऋतुक्रमेणोपजनितरौक्ष्या रूक्षान् रसांस्तिक्तकषायकटुकानभिप्रबलयन्तो नृणां दौर्बल्यमावहन्ति।

विसर्गस्तु सौम्यः। तस्मिन्नपि कालमार्गमेघवातवर्षाभिहतप्रभावे दक्षिणायनगेऽर्के शशिनि चाव्याहतबले शिशिराभिर्भाभिः शश्वदाप्यायमाने माहेन्द्रसलिलप्रशान्तसंतापे जगत्यरूक्षा रसाः प्रवर्धन्तेऽम्ललवणमधुरा यथाक्रमं बलं चोपचीयते नृणामिति।

आदानविसर्गकालकथन—उक्त आदान और विसर्ग इन दोनों में आदान काल आग्नेय है अर्थात् उष्णताप्रधान है। इसमें आदानकाल के स्वभावानुसार मार्ग ग्रहण करनेवाले, अत्यन्त उष्ण किरणों के समूह तथा मण्डलवाले सूर्य और उसके संपर्क से अत्यन्त रूखे वायु सोम से उत्पन्न हुए गुण को सुखाते हुए, स्थावर जंगम जगत् के स्नेह को ग्रहण करते (अपनी ओर खींच लेते) हैं और वे ऋतुक्रम से उत्तरोत्तर अत्यन्त रूक्षता प्राप्त वायु कटु, तिक्त और कषाय नामक रूखे रसों को प्रबल बनाते हुए मनुष्यों में दुर्बलता पैदा करते हैं।

विसर्गकाल सौम्य (ठंडा) है। इसमें भी सौम्यकाल स्वभाव के अनुसार मेघ के वायु और वर्षासे दक्षिणायन सूर्य का प्रभाव नष्ट होने तथा चन्द्रमा का बल निरन्तर रहने से शीतल प्रभाओं से नित्यप्रति तृप्त, माहेन्द्र सलिल (आकाश से बरसे हुए जल) करके मिट गई है सन्तप्तता जिसकी ऐसे स्थावर जंगम जगत् में अरूक्ष (जो रूखे नहीं हैं ऐसे स्निग्ध) अम्ल, लवण और मधुर रसों की वृद्धि यथाक्रम होती और मनुष्यों के बलकी भी वृद्धि होती है।

भवति चात्र।

हेमन्ते शिशिरे चाग्र्यं विसर्गादानयोर्बलम्।
शरद्वसन्तयोर्मध्यं हीनं वर्षानिदाघयोः ॥

ऋतुमान से विसर्गादानका बलाबल—सारांश उपर्युक्त कथन का एक ही पद्य में यह है कि "विसर्ग और आदान में भी हेमन्त ऋतु में (विसर्ग का परमबल रहने से) तथा शिशिर में (आदान के पूर्ण व्याप्त न होने से) मनुष्यों में अधिक बल रहता है। शरद् और वसन्त में (क्रमशः आदान–विसर्ग की मध्यमता के कारण) मनुष्यों में मध्यम बल रहता है। तथा वर्षा एवं ग्रीष्ममें (क्रमसे विसर्ग की पूरी व्याप्ति न रहने से) और ग्रीष्म में (आदानका परम प्रकर्ष रहने से) मनुष्यों में हीन बल रहता है।

विशेष वक्तव्य—ध्यान रहे कि शास्त्रकारों ने ऋतु का विभाग भिन्न भिन्न विषयों के ज्ञानार्थ चार प्रकार से किया है; जैसे कि दोषों के संचय, प्रकोप और शमनिमित्त से सुश्रुत के (१) भाद्रपदादि दो दो मासों के वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म और प्रावृष। (२) उत्तरायण दक्षिणायन निमित्त से माघमासादि दो दो मास के शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् और हेमन्त। (३) वर्ष के या लक्षण–निमित्त से मार्गशीर्षादि दो दो मास के हेमन्तादि और राशिनिमित्त से मेषवृषादि दो दो संक्रान्तियों को लेकर ग्रीष्मादि।

इन सब का समन्वय करने से ऋतु के प्रकार तीन होते हैं, मास स्वरूप, राशि स्वरूप और लक्षण स्वरूप। मास स्वरूप इन का मार्गशीर्षादि, राशि—स्वरूप, मेषवृषादि और लक्षण स्वरूप हेमन्तादि जानना चाहिए। स्वस्थवृत्त के निर्वाहार्थ एवं हीन, मिथ्या, अति और सम्यक् योग के ज्ञानार्थ ऋतुओं का लक्षण स्वरूप आवश्यक होने से अब आचार्य हेमन्तादि ऋतुओं का लक्षण वर्णन करते हैं।

धूमधूम्ररजोमन्दास्तुषाराविलमण्डलाः।
दिगादित्या मरुच्छैत्याद्युत्तरो रोमहर्षणः ॥
लोध्रप्रियङ्गुपुन्नागलवल्यः कुसुमोज्ज्वलाः।
दृप्ता गजाज–महिष–वाजि–वायस–सूकराः ॥
हिमानी पटलच्छन्ना लीनसीनविहङ्गमाः।
नद्यः सबाष्पाः सोष्माणः कूपापश्च हिमागमे ॥
देहोष्माणो विशन्तोऽन्तःशीते शीतानिलाहताः।
जठरे पिण्डितोष्माणं प्रबलं कुर्वतेऽनलम् ॥
विसर्गे बलिनां प्रायः स्वभावादिगुरुक्षमम्।
बृंहणान्यन्नपानानि योजयेत्तस्य युक्तये ॥
अनिन्धनोऽन्यथा सीदेदत्युदीर्णं तयाऽथवा।
धातूनपि पचेदस्य ततस्तेषां क्षयान्मरुत् ॥
तेजःसहचरः कुप्येच्छीतः शीते विशेषतः।
अतो हिमे भजेत्स्निग्धान्स्वाद्वम्ललवणाञ्रसान् ॥
बिलेशयौदकानूपप्रसाहानां भृतानि च।
मांसानि गुडपिष्टोत्थमद्यान्यभिनवानि च ॥
माषेक्षुक्षीरविकृतिवसातैलनवौदनान्।
व्यायामोद्वर्तनाभ्यङ्गस्वेदधूमाञ्जनातपान् ॥
सुखोदकं शौचविधौ भूमिगर्भगृहाणि च।
साङ्गारयानां शय्यां च कुथकम्बलसंस्कृताम् ॥
कुङ्कुमेनानुलिप्ताङ्गो गुरुणाऽगरुणाऽपि वा।

१. स्निधाङ्गो इ. पा.

लघूष्णैः प्रावृतः स्वप्यात्काले धूपाधिवासितः ॥
पीनाङ्गनाङ्गसंसर्गनिवारितहिमानिलः ।

हेमन्त के लक्षण और कर्त्तव्य—धुँएं की तरह मलिन रज से दसों दिशाओं एवं सूर्य का धुंधला दिखाई देना, इसी प्रकार हिम से आच्छादित होने के कारण दिशाओं तथा सूर्यमण्डल का मैला दिखाई देना, रोमहर्षण (रोम रोम को खड़े कर देनेवाले) उत्तर दिशा की ओर के ठण्डे पवन का चलना; लोध, प्रियङ्गु, देवचम्पक या नागकेशर, हरफा रेवड़ी इन वृक्षों पर सुन्दर पुष्पों का उत्पन्न होना, हाथी, बकरा, भैंसा, घोड़ा, कौआ और सूअर का मदोन्मत्त होना, पाले या बरफ के समूह से नदियों का आच्छादित होना या उनके वेग का रुकना-उन में रहनेवाले पक्षियों एवं मछलियों के संचार का अवरोध और नदियों के जल पर बाष्पों का उठना, कुओं के जल का गरम रहना, ये लक्षण हेमन्त ऋतुके आने पर होते हैं। इस शीत ( हेमन्त और शिशिर ) ऋतु में या विसर्ग काल में शीतल पवन के झकोरों से आहत देह की गरमी भीतर की ओर प्रवेश करती हुई जाठराग्नि से मिश्रित होकर मात्रा, संयोग, संस्कार, परिणामादि स्वभाव से ही गरिष्ठ माषादि द्रव्योंतक को पचानेमें समर्थ, ऐसी प्रायः बलवानों की जठराग्निको प्रदीप्त कर देती है। अतः उस अग्निको ठीक रखने के लिए बृंहण ( देह को पुष्ट करनेवाले ) अन्नपानादि का सेवन करना चाहिए। यदि इस प्रकार बृंहण अन्नपानादि सेवन न किया जायगा तो इस आहाररूपी इन्धन को न पाकर जठराग्नि निरन्धन बाह्याग्नि की तरह या तो बुझ जायगी या अतिवृद्धि को प्राप्त होने के कारण रस, रक्तादि धातुओं को भी पाक करके नाश करेगी और धातुओं के क्षय हो जाने पर शीत काल में शीतगुण वायु भी अग्नि का सहचारी बनकर कुपित हो जायगा। उस वायु का कोप न हो, इस लिए हिमे (शीतकाल में) स्निग्ध ( घृतादि से सिद्ध किए हुए ) मधुर ( मीठे ) लवण ( नमकीन ) रसोंका सेवन करना चाहिए। तथैव बिलोंमें-जल में-अनूप देश में रहनेवाले, एवं प्रयत्नकर पुष्ट बनाए हुए भक्षण करने योग्य पशु-पक्षियों के मांसों का, गुड तथा पिष्ट से बनी गौडी-पैष्टी नवीन मदिरा का सेवन करना चाहिए। उड़द, ईख (शर्करा) और दूध के संयोग से बने अनेक प्रकार के पदार्थ, चर्बी, तेल, नवीन भात आदि अन्न, कसरत (व्यायाम), उबटन, तैलादिमर्दन, स्वेदविधि, धूमपान, अञ्जन, आतप ( धूप में भ्रमण ) शौचविधि में सुखोदक ( कुनकुना जल ), भूगर्भ में बनाए हुए घर-गुफा जिन में सिगडी ( अङ्गारधानी ) नीचे या समीप में रखी हुई हो, ऐसी रूई से पूर्ण या कम्बलमयी शय्यापर, केसर या गहरे अगर से लिप्त, धूप से सुगन्धित शरीर, हृष्ट पुष्ट कामिनी के अंगसङ्ग से दूर कर दी है ठंढी पवन जिस ने उसे चाहिए कि वह हलके और गरम ( रेशम आदि के बने ) वस्त्रों को ओढ़ कर यथासमय शयन करे।

हेमन्त के अनन्तर अब शिशिर ऋतुचर्या का वर्णन करते हैं। यथा—

शिशिरे शीतमधिकं मेघमारुतवर्षजम् ।
रौक्ष्यं चादानजं तस्मात्कार्यः पूर्वोऽधिकं विधिः ॥

शिशिर ऋतु के लक्षण और कर्त्तव्य—शिशिर ऋतु में मेघ, पवन और वर्षा से उत्पन्न हुआ शीत हेमन्त से अधिक होता है और आदान काल की रूक्षता भी होती है। इस लिए पूर्वोक्त ( हेमन्त में कही हुई ) विधि अधिक रूप में करनी चाहिए। सारांश यह है कि शिशिर ऋतु की बाहर की ठण्ढ से देह की उष्मा (गरमी) अत्यन्त रुकती और उस से जठराग्नि नितान्त प्रबल होती है। इधर आदानकाल की रूक्षता भी रहती है। इन दोनों के लिए हेमन्तोक्त विधि का विशेष रूपेण करना ही ठीक होता है—

अब आचार्य वसन्त ऋतु के लक्षण तथा विधि का वर्णन करते हैं।

वसन्ते दक्षिणो वायुराताम्रकिरणो रविः ।
नवप्रवालत्वक्पत्राः पादपाः ककुभोऽमलाः ॥
किंशुकाशोकचूतादिवनराजिविराजिताः ।
कोकिलालिकुलालापकलकोलाहलाकुलाः ॥
शिशिरे संचितः श्लेष्मा दिनकृद्भिरीरितः ।
तदा प्रबाधमानोऽग्निं रोगान् प्रकुरुते बहून् ॥
अतोऽस्मिंस्तीक्ष्णवमनधूमगण्डूषनावनम् ।
व्यायामोद्वर्तनक्षौद्रयवगोधूमजाङ्गलान् ॥
सेवेत सुहृदुद्यानयुवतीश्च मनोरमाः ।
स्नातः स्वलंकृतः स्रग्वी चन्दनागरुरूषितः ॥
विचित्रामत्रविन्यस्तान् सहकारोत्पलाङ्कितान् ।
निर्गदांश्चासवारिष्टशीधुमार्द्वीकमाधवान् ॥
कथितंमुस्तशुण्ठयम्बु साराम्भः क्षौद्रवारि वा ।
गुरुशीतदिवास्वप्नस्निग्धाम्लमधुरांस्त्यजेत् ॥

वसन्त ऋतु के लक्षण और कर्त्तव्य—वसन्त ऋतु में दक्षिण की ओर का पवन, लाल रक्त किरणोंवाला सूर्य और नवीन कोंपल, छाल एवं पत्तेवाले वृक्ष होते हैं। पलाश, अशोक, आम आदि के वनसमूहों से सभी दिशाएं निर्मल एवं सुशोभित तथैव कोयल और भ्रमरकुल के मधुर आलाप के कोलाहल से व्याप्त होती हैं। शिशिर ऋतु में संचित गाढ़ा कफ सूर्य की किरणों से वसन्त में पिघलता है, तब अग्नि को बाधा देता ( मन्द करता ) हुआ बहुतसे रोगों को उत्पन्न करता है।

इस लिए कफ के दोष को दूर करने के लिए वसन्त ऋतु में तेज वमन, धूमपान, गण्डूष ( कुल्ली करने की विधि ) तथा वस्यविधि का सेवन करे। व्यायाम ( दण्ड-कसरत ), उबटन, शहद, यव, गेहूं, जांगल ( जांगल पशुओं का शूल्य मांस ) तथा स्नान करके, चन्दन, अगर से शरीर को लिप्त कर अलंकार-पुष्पमाला धारण कर, अपने मित्रों, बगीचों और सुन्दर युवती स्त्रियों का सेवन करे। आम और कमल से सुशोभित चित्रविचित्र ( सुन्दर ) पात्रों में भरे हुए, नीरोग ( अपायरहित ) देश और काल के अनुकूल आसवों, अरिष्टों तथा शीधु, द्राक्षा और मधु-विर्मित्त मद्यों का अथवा नागरमोथा-सुण्ठी के क्वथित जल का, अनार के शरबत तथा शहदमिश्रित जल का सेवन करे। कफ को कुपित करनेवाले गरिष्ठ, शीतद्रव्य, दिन में शयन, स्निग्ध ( घृत तैलादि ), खट्टे, मधुर इन रसों का सेवन न करे।

अब ग्रीष्म ऋतु के लक्षण और उस में हिताहितचर्या का वर्णन करते हैं—

ग्रीष्मेऽतसीपुष्पनिभस्तीक्ष्णांशुर्दावदीपिताः ।
दिशो ज्वलन्ति भूमिश्च मारुतो नैर्ऋतः सुखः ॥
पवनातपसंस्वेदैर्जन्तवो ज्वरिता इव ।
तापार्ततुङ्गमातङ्गमहिषैः कलुषीकृताः ॥
दिवाकरकराङ्गारनिकरक्षपिताम्भसः ।
प्रवृद्धरोधसो नद्यश्छायाहीना महीरुहाः ॥
विशीर्णजीर्णपर्णाश्च शुष्कवल्कलताङ्किताः ।
आदत्ते जगतः स्नेहांस्तदादित्यो भृशं यतः ॥
व्यायामातपकट्वम्ललवणोष्णं त्यजेदतः ।
मद्यं न सेव्यं स्वल्पं वा सेव्यं सुबहुवारि वा ॥
अन्यथा शोषशैथिल्यदाहमोहान् करोति तत् ।
नवमृद्भाजनस्थानि हृद्यानि सुरभीणि च ॥
पानकानि समन्थानि सिताढ्यानि हिमानि च ।
स्वादुशीतं द्रवं चान्नं जाङ्गलान्मृगपक्षिणः ॥
शालिक्षीरघृतद्राक्षानारिकेराम्बुशर्कराः ।
तालवृन्तानिलान् हारान् स्रजः सकमलोत्पलाः ॥
तन्वीमृणालवलयाः कान्ताश्चन्दनरूषिताः ।
सरांसि वापी सरितः काननानि हिमानि च ॥
सुरभीणि निषेवेत वासांसि सुलघूनि च ।
निष्पतद्यन्त्रसलिले स्वप्याद्धारागृहे दिवा ॥
रात्रौ चाकाशतलके सुगन्धिकुसुमास्तृते ।
कर्पूरचन्दनार्द्राङ्गो विरलानङ्गसंगमः ॥

ग्रीष्म ऋतुके लक्षण और कर्त्तव्य—ग्रीष्म ऋतु का सूर्य तेज किरणोंवाला, अलसी के पुष्प की तरह चारों ओर से नीले रङ्ग का होता है, दिशायें एवं भूमि दावाग्नि से दीपित होकर जलती है अर्थात् नितान्त सन्तप्त रहती है। दक्षिण पश्चिम के बीच की विदिशा ( नैर्ऋत ) की ओर का सुखी पवन चलता है। गरमी, पवन और पसीनों के मारे सब जीव ज्वरित ( सन्तप्त ) से होते हैं। सन्ताप से दुःखी ऊंचे हाथियों और भैंसों द्वारा नदियां मैली कर दी जाती हैं जिनका जल सूर्य के किरणरूप अङ्गारसमूह से घट जाता और तट विस्तृत हो जाता है। पुरानी पत्तियों के झड़ जाने से सूखो छालवाले वृक्ष छाया-विहीन होते हैं। संसार के रसादि शुक्रान्त समस्त धातुओं के स्नेह को उस समय सूर्य ग्रहण कर लेता है, इसलिए ग्रीष्म में व्यायाम, धूप में घूमना, चरपरे, खट्टे, नमकीन और उष्ण पदार्थों का त्याग करना चाहिये। मद्य नहीं पीना चाहिये। यदि पीना ही हो तो बहुत कम और वह भी बहुत से जल के साथ पीना चाहिये। इस प्रकार न किया जाने पर वह मद्य शोष, कमजोरी, दाह और बेहोशी करता है। इसलिए नवीन मिट्टी के वर्तनों में रखे हुए, हृदय को बल देनेवाले, सुगन्धित, शर्करायुक्त शीतल नींबू, दाड़िम आदि के पान कों ( शरवतों, तथा घृतमृदित नाना प्रकार के सत्तुओं ( मंथों ) का ) सेवन करे। इसी प्रकार ठंडे, स्वादु, द्रव ( पतले ) अन्न, जंगली पशुपक्षियों के मांस, चावल, दूध, घी, दाख, नारियल के भीतर का जल, शक्कर, तालपत्र के पंखे की हवा, कमल पुष्पोंसहित नाना प्रकार के पुष्पों के हार तथा मालायें, कमल के कंकण हैं हाथों में जिनके ऐसी चन्दनचर्चिता कृशाङ्गिनी-सुन्दर स्त्रियों, सरोवरों, बावलियों, नदियों, ठण्डे सुगन्धित वनों तथा सूक्ष्म-पतले ( हल्के ) कपड़ों का सेवन करे। जिसमें जलके फव्वारे चलते हों ऐसे धारागृह में दिन को शयन करे और रात को जिसमें सुगन्धित पुष्प बिछे हों ऐसे आकाशतलक ( घरके ऊपर के खुले पृष्ठभाग[१] ) में कपूर-चन्दन से गीले अङ्गवाला तथा बहुत कम मैथुन करनेवाला सोवे।

अब आचार्य क्रमागत वर्षा ऋतु का वर्णन करते हैं—

वर्षासु वारुणो वायुः सर्वसस्यसमुद्गमः ।
भिन्नेन्द्रनीलनीलाभ्रवृन्दमन्दाविलं नभः ॥
दीर्घिका नववार्योघमग्नसोपानपंक्तयः ।
वारिधाराभृशाघातविकाशितसरोरुहाः ॥
सरितः सागराकारा भूरव्यक्तजलस्थला ।
मन्द्रस्तनितजीमूतशिखिदर्दुरनादिता ॥
इन्द्रगोपधनुःखण्ड-विद्युदुद्योतदीपिता ।
परितः श्यामलतृणा शिलीन्ध्रकुटजोज्ज्वला ॥
तदाऽऽदानाबले देहे मन्देऽग्नौ बाधिते पुनः ।
वृष्टिभूबाष्पतोयाम्लपाकदुष्टैश्चलादिभिः ॥
वस्तिकर्म निषेवेत कृतसंशोधनक्रमः ।
पुराणशालिगोधूमयवान् यूषरसैः कृतैः ॥
निर्गदं मदिरारिष्टमार्द्वीकं स्वल्पमम्बु वा ।
दिव्यं क्वथितकूपोत्थं चौण्ड्यं सारसमेव वा ॥
वृष्टिवाताकुले त्वह्नि भोजनं क्लेदवातजित् ।
परिशुष्कं लघु स्निग्धमुष्णाम्ललवणं भजेत् ॥
प्रायोऽन्नपानं सक्षौद्रं संस्कृतं च घनोदये ।
असरीसृपभूबाष्पशीतमारुतशीकरम् ॥
साग्नियानं च भवनं निर्दंशमसकोन्दुरम् ।
प्रघर्षोद्वर्त्तनस्नानधूमगन्धागुरुप्रियः ॥
यायात्करेणुमुख्याभिश्चित्रस्रग्वस्त्रभूषितः ।
नदीजलोदमन्थाहःस्वप्नातिद्रवमैथुनम् ॥
तुषारपादचरणव्यायामार्ककरांस्त्यजेत् ॥

वर्षा ऋतु के लक्षण और कर्त्तव्य—वर्षा ऋतु में पश्चिम दिशा की ओर का पवन चलता और सभी प्रकार के सस्यों ( धान्यों ) का उद्गम ( बढ़ना या उगना ) होता है। टूटे हुए नीलम के समान अधिक नीले रङ्गवाले बादलों के समूह से आकाश निस्तेज एवं मैला होता है। खुदवाये हुए तालाब-तलाइयों के घाटों की पेड़ियां नवीन जल के समूह में डूब जाती हैं, अर्थात् सोपानपंक्तियोंपर जल के भरने से वे दिखाई नहीं देतीं। बारंबार जलधारा के पड़ने से कमल फूलते हैं। नदियाँ सागर ( समुद्र ) के आकार हो जाती हैं। इतना ही नहीं, अधिक वर्षा से जलमयी हो जाने से भूमि अव्यक्तजलस्थला हो जाती है अर्थात् यह पता नहीं लगता कि उसपर के पहिले जलस्थल कहां हैं। उस भूमिपर गंभीर गर्जनावाले मेघ, मोर,

१. आकाश तलकं शरणपृष्ठम्, इतीन्दुः । शरणं गृहरक्षित्रोः इत्यमरः।

और दादुरों का नाद होता है। बीरबहूटी-इन्द्रधनु और बिजली की चमक से भूमि प्रकाशित होती है और वह चारों ओर घास के कारण श्यामला ( हरी ) तथा छत्राक और कुटज ( कुड़ा ) वृत्तों से उज्ज्वल दिखाई देती है। उस समय वर्षा, भूमि की बाष्प तथा अम्लपाकी जल से कुपित वातादि दोषों करके आदानकाल के निर्बल शरीर के नितान्त मन्दाग्नि पीड़ित होने से वमन-विरेचनादि संशोधन कर्म के क्रम से वस्तिकर्म का सेवन करे । पुराने चावल, गेंहू और यवों का सेवन, मूंग आदि के स्नेह, शुण्ठी आदि के साथ पकाये हुए यूष-रसों एवं जांगल पशुपक्षियों के मांस-रसों के साथ करे। वर्षा के अनुकूल ऐसे निर्गद ( दोषरहित विशुद्ध ) द्राक्षाकृत मद्य अथवा अरिष्ट ( द्राक्षासव, द्राक्षारिष्ट ) थोड़े जल के साथ पिये। आकाश से बरसा हुआ जल औटाकर पिये। इसी प्रकार, कूप, चौण्ड्य ( शिलातलों पर बरसे तथा लताओं से ढके हुए ) तथैव सरोवर के जल का पान करे । वर्षा और पवन अधिक हो तो उस दिन सूखा, हलका, स्निग्ध, उष्ण, अम्ल, नमकीन और कफवातहारक भोजन करे । वर्षाकाल में उस काल के योग्य द्रव्यों द्वारा संस्कृत एवं शहद से समन्वित अन्नपान करे। सर्प-विच्छू-कनखजूरा, भूमि से बाफ का निकलना, शीतल हवा और सील ये जिनमें न हो, मच्छड़ और मूसे के दंश का भय न हो, ऐसे सिगड़ी ( अंगारधानिका ) सहित उष्ण घर में रहे । आचार्य के इस क्रम से अभिप्राय यह है कि प्रथम तिक्त घृतपान करावे । इससे पित्त शान्त न हो तो विरेचन ( जुलाब ) देवे। इससे भी यदि पित्त शान्त न होकर रक्त दूषित हो जाय तो फिर रक्तमोक्षण करावे क्योंकि काल-स्वभाव से शरद ऋतु में प्रायः रक्त दूषित होता है । इसके अतिरिक्त वर्षा में प्रघर्ष ( किसी ओषधि आदि से शरीर पर मर्दन करना, वस्त्रादिसे घिसना या पगचप्पी आदि ) उवटन, स्नान, धूमगन्ध ( अगरवत्ती आदिकी सुगन्धि ), प्रिय और सुन्दर पुष्पमाला, तथा वस्त्रसे विभूषित हो कर, हस्तिनी आदि के वाहन पर बाहर निकले किन्तु अग्रिम पद्योक्त उपदेशानुसार पैदल विचरणादि न करे अर्थात् वर्षा ऋतुमें नदीका जल, जलमें घोले हुए घृताक्त सत्तू, दिनमें सोना, अतिद्रव पदार्थ, मैथुन, तुषार ( हिम-वर्फ या जलकण ), पैदल फिरना, व्यायाम ( दण्ड-कसरत ) और सूर्य के किरण, इनका परित्याग करे ।

अब इसके आगे शरद ऋतु के लक्षण तथा चर्या का वर्णन करते हैं—

शरदि व्योम शुभ्राभ्रं किञ्चित् पङ्काङ्किता मही ।
प्रकाशकाशसप्ताह्वकुमुदा शालिशीलिनी ॥
विक्षिप्ततीक्ष्णकिरणो मेघौघविगमाद्रविः ।
बभ्रुवर्णोऽतिविमलाः क्रौञ्चमालाकुला दिशः ॥

१. चौण्ड्यं यत्पर्वते शिलाकूपिकाभवम्, इतीन्दुः ।

२. प्रव्यक्तायां शरदि तिक्तसर्पिःपानं विरेकादि च कार्यम्। क्रमश्चात्राचार्यस्याभिप्रेतस्तेन प्रथमं तिक्तसर्पिष्पानं, तेन पित्ताप्रशान्तौ विरेकः, तेनाप्यशान्तौ शोणित-दुष्टौ च सत्यां रक्तमोक्षणं, रक्तं चात्र कालस्वभावाद्दुष्यत्येव प्रायः । यदाह—"शरत्कालस्वभावाच्च शोणितं संप्रदुष्यति" इति चक्रदत्तः।

कमलान्तरसंलीन-मीनहंसांस(ङ्ग)घट्टनैः ।
तुरङ्गभङ्गतुङ्गानि सरांसि विमलानि च ॥
वर्षाशीतोचिताङ्गानां सहसैवार्करश्मिभिः ।
तप्तानां संचितं पूर्वं तदा पित्तं प्रकुप्यति ॥
शस्तं तिक्तहविः पानं विरेकोऽस्रस्रुतिः सदा।
शीतं लघ्वन्नपानं च कषायं स्वादुतिक्तकम् ॥
शालिषष्टिकगोधूमयवमुद्गसितामधु ।
पटोलामलकं द्राक्षा जाङ्गलं क्षुद्रतां भृशम् ।
दिवा दिवाकरकरैर्निशाकरकरैर्निशि ॥
संतप्तं ह्लादितं तोयमगस्त्येनाविषीकृतम् ।
निर्मलं शुचि कालेन पक्वं पानेऽमृतोपमम् ।
हंसौघपक्षविक्षेपभ्रमद्भ्रमरपंक्तिषु ॥
सुसरोवरसेव्यासु सरसीषु प्लवेत च ।
लघुशुद्धाम्बरस्रग्वी शीतोशीरविलेपनः ॥
सेवेत चन्द्रकिरणान् प्रदोषे सौधमाश्रितः ।
तृप्तितदध्यातपक्षारवसातैलपुरोऽनिलान् ॥
तीक्ष्णमद्यदिवास्वप्नतुषारांश्च विवर्जयेत् ।

शरद् ऋतु के लक्षण और कर्त्तव्य—शरद् ऋतु में आकाश स्वच्छ बादलोंवाला, पृथ्वी किञ्चित् कीचड़वाली काश, सप्ताह्व ( सप्तपर्ण-सतौना ) कुमुद पुष्पों से प्रकाशित और शालि-तन्दुलोंवाली होती है। बादलों का समूह दूर हो जाने से सूर्य तीक्ष्ण किरणोंवाला होता है। क्रौञ्च पक्षियों की मालाओं ( समूहों ) से व्याप्त होने से सभी दिशायें निर्मल होती हैं। कमलों के बीच में लीन मछलियों, हंसो, एवं अङ्ग पक्षियों के समूहोंवाले घाट हैं जिनके, ऊँची तरङ्गें उठ रही हैं जिनमें ऐसे निर्मल सरोवर होते हैं। वर्षा और तज्जनित शीत के अभ्यासी शरीरवाले मनुष्यों का शरीर सहसा ( यकायक ) सूर्यकिरणों से जब संतप्त होता है तब उनका, उस वर्षा-काल का पूर्व-सञ्चित पित्त कुपित होता है। चरक के मत से पित्त प्रायः कुपित होता है अर्थात् सम्यक् आहारविहारी का पित्त कदा-चित् कुपित नहीं भी होता। तदा की जगह चरक में प्रायः पाठ है जिसका अर्थ यह भी होता है कि शरद् ऋतु में प्रायः ( बहुत करके ) पित्त कुपित होता ही है। अतः पित्त की शान्ति के लिए इस ऋतु में महातिक्त, पञ्चतिक्त आदि घृतों का पीना, विरेचन, रक्तमोक्षण कराना ( फस्द खुलवाना ), ठण्डे एवं हल्के अन्न पान करना, कषाय, मधुर और तिक्त रसों का सेवन करना, भोजन की इच्छावालों को साठी चावल-गेहूं-जव-मूंग-शर्करा-शहद-परवल-आंवले-अंगुर और जंगली पशु पक्षियों का मांसरस ये सब शरद् ऋतु में हितकारी होते हैं। दिन में सूर्य की किरणों से सन्तप्त, रात्रि में चन्द्रमा की किरणों से शीतल, शरद् ऋतु के स्वभाव से परिपक्व अर्थात्

१. हंसाङ्गघट्टनैरित्यपि पाठः ।

२. कालेन पक्वम् । वर्षासु वर्षजन्यत्वात् अभिनवं, तत्पुनः शरदि कालस्वभावेन॰ पक्वमतो निर्दोषम् । वर्षासु अभिनवभूमि-संबन्धजनितपैच्छिल्यगुरुत्वाम्लपाकत्वादिदोषरहितम् । अगस्त्येना-

वर्षाकाल में वर्षा हुये नवीन एवं भूमिसंबंध से उत्पन्न पैच्छिल्य, गुरुत्व और अम्लपाकत्वादि दोषोंसे रहित, अगस्त्येना-विषीकृतं अर्थात् अगस्त्युदय के प्रभाव से वर्षाकालीन मेघ-संबंध-सर्प-लूता-तन्तु-विष्ठा-मूत्र-जनित विष दूर हो गया है जिसका ऐसा शरत्कालीन निर्मल एवं शुद्ध जल पीने में अमृत के तुल्य होता है। चरक ने इस निर्मल जल को हंसों के पीने योग्य, हंसों की तरह स्वच्छ एवं हंस ( सूर्य-चन्द्र ) संबंध के कारण हंसोदक कहा है और इससे स्नान, पान, अव-गाहन में अर्थात् चिरकाल जल में रहना प्रशस्त माना है। इसी भाव से वाग्भटाचार्य ने भी पीने में अमृतोपमम् कहकर आगे उपदेश किया है कि हंसों के समूहों के पंखविक्षेप एवं भ्रमण करती हुई भ्रमरों की पंक्तियों कर के सेवा योग्य सरो-वरों में अवगाहन करे और बारीक स्वच्छ वस्त्र एवं पुष्पमाला धारण कर, शीतल खस का लेपन कर प्रदोष (सन्ध्या) कालमें छतपर बैठकर चन्द्रमा की किरणों का सेवन करे। इस के विप-रीत तृप्ति ( पेटभर खाना ), तीक्ष्ण मद्य, दही, धूप में फिरना, क्षार-वसा-चर्बी-तेल-पूर्व दिशा की पवन-दिन में सोना तथा तुषार ( बरफ ) इनका सेवन न करे।

इस प्रकार प्रत्येक ऋतु के लक्षण एवं चर्या का वर्णन कर अब उपसंहार में कहते हैं—

नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ ।
ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसन्धिरिति स्मृतः ॥
तत्र पूर्वो विधिस्त्याज्यः सेवनीयोऽपरः क्रमात् ।
असात्म्यजा हि रोगाः स्युः सहसा त्यागशीलनात् ॥
ऋतुष्वेवं विधिष्वेव विधिः स्वास्थ्ये च देहिनाम् ।
निर्दिश्यतेऽन्यरूपेषु विरुद्धज्ञानिको विधिः ॥
मासराशिस्वरूपाख्यमृतोर्यल्लक्षणत्रयम् ।
यथोत्तरं भजेच्चर्यां तत्र तस्य बलादिति ॥

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थाने ऋतुचर्यानाम चतुर्थोऽध्यायः।

ऋतुचर्योपसंहार—सब ऋतुओं में जिनका वर्णन किया गया है उन सभी रसों का अभ्यास ( सेवन ) नित्यप्रति अधिक रूप से करे। ऋतुओं के अन्त तथा आदि के सात सात दिन अर्थात् जो ऋतु समाप्त होने को है, उसके पिछले सात और जिस ऋतु का आरम्भ होता है उसके आदि के सात, इस प्रकार १४ दिन ऋतुसन्धि कहलाते हैं। इस सन्धिकाल में जो ऋतु समाप्त हो रहा है उसके आहारादि विधि का त्याग और जो ऋतु प्रारम्भ होता है उसके विधि का सेवन सहसा ( एकदम ) नहीं, किन्तु क्रम क्रम से करे। सहसा ( एकदम ) पूर्व-विधि का त्याग न करे क्योंकि एकदम त्याग करने से असात्म्यता के कारण अनेक रोगों के होने का संभव होता है। यह क्रम का निर्वाह पादेनापथ्यमभ्यस्तम्, इत्यादि से जैसे आगे कहा जायगा उस प्रकार से करे, जैसे कि ऋतुसन्धि के प्रथम दिन में पूर्वाहार के तीन भाग और उत्तराहार का एक, दूसरे दिन पूर्वाहार, तीसरे दिन प्रथम दिन की तरह, चतुर्थ दिन आधा पूर्वाहार और आधा उत्तराहार, पांचवे छठे दिन प्रथम दिन-वत्, सातवें दिन चतुर्थ दिन की तरह, आठवें दिन पूर्वाहार का एक भाग और तीन भाग उत्तराहार के, नवें दसवें और ग्यारहवें दिन चतुर्थ दिन की तरह, बारहवें दिन आठवें दिन की तरह, तेरहवें दिन उत्तराहार, चौदहवें दिन आठवें दिन की तरह और इसके आगे उत्तराहार ही करे।[1]

यह बात भी नहीं है कि जिस प्रकार कहा गया है, सर्वथा उसी प्रकार किया जाय। स्वभावसात्म्य एवं जांगल और आनूप देश में विषम धातु में अन्य धातुओं की तरह सात्म्यता लाने के लिए देह और देश के अनुसार अन्य ऋतु का विधि किसी अन्य ऋतु में भी करना चाहिये, क्योंकि यह चर्या रोगियों की भी अपेक्षा करती है। इसी लिए कहा भी है कि व्याधि, काल और बलाबल का विचार करके ही ऋतुचर्या का विधान किया जाय।[2] इसी आशय को आचार्य आगे और भी स्पष्ट करते हैं कि—"मास, राशि और स्वरूप ये जो ऋतु के तीन लक्षण हैं, इनके बलाबलानुसार ही यथोत्तर चर्या का सेवन करे। सारांश यह है, कि "जिस ऋतु का जो विधान निर्दिष्ट किया गया है, उस ऋतु के प्रारंभिक मास में स्वल्प चर्या का सेवन किया जाय यदि यह समय राशि और स्वरूप इन दो लक्षणों से रहित हो। विपरीत इसके यदि मासारंभ में कदाचित् राशि की भी प्राप्ति दृग्गोचर हो तो स्वल्प चर्या के सेवन में और भी कुछ स्वल्प पूर्ति करे परन्तु यदि मास, राशि और स्वरूप इन तीनों लक्षणों की प्राप्ति हो तो चर्या का सेवन परिपूर्ण रूपेण किया जाय।[3]

इत्यष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यायां चतुर्थोऽध्यायः।

# अथ पञ्चमोऽध्यायः।

अथातो रोगानुत्पादनीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

इसके पश्चात् अब रोग उत्पन्न ही न हो ऐसे नामवाले या एतद्विषयक अध्याय की व्याख्या करते हैं जैसे कि पहिले आत्रेयादि महर्षियों ने की है।

---

विषीकृतम्। वर्षासु लूतादितन्तुविण्मूत्रविषदूषितत्वात्सविषं तत्पुनरगस्त्योदयेन निर्विषीकृतम्, एतच्च प्रभावात्। हंसोपभोग्यतया हंसवदतिनैर्मल्याद्वा हंसोदकम्। हंसशब्देन सूर्यचन्द्रमसावभिधीयेते। ताभ्यां शोधितमुदकं हंसोदकमिति चरकव्याख्याने योगीन्द्रनाथश्चक्रदत्तश्च। अवगाहश्चिरं जलावस्थानम्। इति चरकः।

१. ऋतुसन्धेः प्रथमदिने पूर्वस्याहारस्य त्रयः पादाः उत्तरस्यैकः। द्वितीये पूर्व एवाहारः। तृतीये प्रथमदिनवत्। चतुर्थे पूर्वस्य द्वौ पादावुत्तरस्य द्वौ। पञ्चमषष्ठयोः प्रथमवत्। सप्तमे चतुर्थवत्। अष्टमे पूर्वस्यैकः उत्तरस्य त्रयम्। नवमदशमैकादशेषु चतुर्थवत्। द्वादशेऽष्टमवत्। त्रयोदशे उत्तराहार एव। चतुर्दशेऽष्टमवत्। अतःपरमुत्तर एवाहारः। इति हेमाद्रिः।

२. आनूपदेशे जाङ्गले वा विषमधातोरन्यधातुसात्म्योत्पादनार्थं देहदेशानुगुणमन्यर्तुविहितमृतुविधानमन्यस्मिन्नप्यृतावनुष्ठेयम्। न यथोक्तं सर्वं सर्वथाऽनुष्ठेयमिति। इयं च चर्या आर्तानप्यपेक्षते। "तामालोच्य प्रयुञ्जीत व्याधिकालबलाबलम्" भद्रमिति चन्द्रनन्दनः।

३ "अस्य च ऋतोर्मासादिस्वरूपेण यल्लक्षणत्रयं प्रसिद्धं तत्र यथोत्तरं चर्या सेवेत यथोत्तरस्यैव बलवत्वात्" इत्यादि इन्दोर्व्याख्यानमवलोकनीयं पाठकैः।

रोगानुत्पादनीयाध्याय—इससे पहिले के दो अध्यायों में नियतकालिक विहार का वर्णन हुआ है किन्तु इससे आगे के अध्यायों में अनियतकालिक पञ्चविध विहार ( वेगधारण, वेगोदीरण, शोधन, बृंहण और भूतादि-अस्पर्शन ) की व्याख्या की जायगी। यद्यपि हेतुस्कन्ध के सभी अध्याय रोगानुत्पादनीय ही हैं तथापि अतिशय प्रदर्शनार्थ इस अध्याय का ही नामकरण रोगानुत्पादनीय, किया गया है।[1]

वात, मल, मूत्रादि के प्राप्त हुए वेगों को न रोका जाय तो रोगों की उत्पत्ति नहीं हो सकती इस लिए आचार्य उपदेश करते हैं कि—

वेगान्न धारयेद्वातविण्मूत्रक्षवतृट्क्षुधाम् ।
निद्राकासश्रमश्वासजृम्भाश्रुच्छर्दिरेतसाम् ॥

वातादिवेगधारणनिषेध—अधो वात, मल (विट्-पुरीष), मूत्र, छींक, प्यास, भूख, नींद, खाँसी, व्यायामजन्य श्वास, जम्भाई, आनन्द या शोक से उत्पन्न आंसू, वमन और वीर्य के उत्पन्न हुए वेगों को न रोके क्योंकि इन वेगों के रोकने से रोगों की उत्पत्ति होती है[2]। यहां सब से प्रथम वायु के वेग का निर्देश इस लिए किया गया है कि वह सब से प्रबल है। यहां १३ वेग निर्दिष्ट हैं किन्तु चरक के मत से डकार ( उद्गार ) के वेगसह १४ वेग होते हैं। यहां वाग्भट ने इस उद्गारवेग का अन्तर्भाव वात के वेग में ही कर दिया है जो आगे चलकर स्पष्ट होगा।

किस किस वेग के रोकने से कौन कौन से रोगों की उत्पत्ति हो सकती है और उन की सामान्य चिकित्सा क्या होनी चाहिए अब इस विषय का क्रम से वर्णन करते हैं।

अधोवातस्य रोधेन गुल्मोदावर्तरुक्क्लमाः ।
वातमूत्रशकृत्संग-दृष्ट्यग्निवधहृद्गदाः ॥
स्नेहस्वेदविधिस्तत्र वर्तयो भोजनानि च ।
पानानि बस्तयश्चैव शस्तं वातानुलोमनम् ॥

अधोवायु के अवरोध से होनेवाले रोग और उनका शमनोपाय—अधोवायु ( पाद ) के रोकने से गुल्म, उदावर्त, पेट में ( कोठे में ) पीडा या शूल[3], ग्लानि, स्वाभाविक अधोवायु-मूत्र और दस्त का रुकना, नेत्रों से दिखाई न देना या तिमिर ( नेत्रों के सामने अँधियारी का आना )[4], अग्निमांद्य और हृद्रोग ये उत्पन्न होते हैं। वायु दो प्रकार का ( अधोवायु और ऊर्ध्ववायु ) होने पर भी उद्गारस्वरूप ऊर्ध्ववात से होनेवाले अरुचि आदि रोग सुखसाध्य होते हैं किन्तु अधोवात मलमूत्र के समान योग-क्षेमवाला एवं गुल्मादि दुःसाध्य रोगों[5] को करनेवाला होने से यहां उसका निर्देश पहिले किया गया है।

वायु के रोकने से होनेवाले विकारों में स्नेहन-स्वेदनविधि तथा फलवर्तियों से उपचार करना, वायुहारक भोजन, सुखोष्णोदकपान, बस्तियों का देना और जिस किसी से वायु का अनुलोमन हो, उस क्रिया का करना अच्छा है।

शकृतः पिण्डिकोद्वेष्ट-प्रतिश्यायशिरोरुजः ।
ऊर्ध्ववायुः परीकर्तो[1] हृदयस्योपरोधनम् ॥
मुखेन विट्प्रवृत्तिश्च पूर्वोक्ताश्चामयाः स्मृताः ।
अङ्गभङ्गाश्मरीबस्तिमेढ्रवंक्षणवेदनाः ॥
मूत्रस्य रोधात् पूर्वे च प्रायोरोगास्तदौषधम् ॥

मलमूत्रावरोध के रोग और उनकी चिकित्सा—मल ( पुरीष ) के रोकने से पिण्डलियों में ऐंठन की सी पीड़ा, प्रतिश्याय ( जुकाम ) सिर का दुखना, वायु का ऊपर की ओर उठना और उससे मुख से मल का निकलना, पेट भर में काटने की सी पीड़ा का होना, छाती ( हृदय ) का जकड़ जाना और पूर्वोक्त गुल्म, उदावर्तादि रोग होते हैं।

मूत्र के रोकने से अङ्गभङ्ग ( शरीर ) में फूटनी (हाड़फूटन) और पथरी ( अश्मरी ) रोग होता है। वस्ति ( पेड़ू ), लिङ्ग और अण्डकोष में पीड़ा होती है और प्रायः वे रोग भी होते हैं जो पहिले वायु और मल के रोकने में कह आए हैं। अब अधोवायु मल-मूत्र के रोकने से होनेवाले सभी रोगों के औषधोपचार का वर्णन करते हैं—

वर्त्यभ्यङ्गावगाहाश्च स्वेदनं बस्तिकर्म च ।
अन्नपानं च विड्भेदि विड्रोधोत्थेषु यक्ष्मसु ॥
मूत्रजेषु च पाने च प्राग्भक्तं शस्यते घृतम् ।
जीर्णान्तिकं चोत्तमया मात्रया योजनाद्वयम् ॥
अवपीडकमेतच्च संज्ञितं........ ।

अधोवायु, मल और मूत्र के प्राप्त वेगों को रोकने से होनेवाली व्याधियों में मैनफल-वर का धुँआं-नमक आदि से बनाई हुई फलवर्तियों का गुदद्वार में देना, तैलादि से अभ्यङ्ग (मालिश) कराना, अवगाह ( ओषधियों के साथ पकाए जल-तैलादि से पूर्ण द्रोणी ( किसी बड़े पात्र ) में मलमूत्र मार्ग को डुबाकर बैठाना, तापादि भेद से आगे कहे जानेवाले चार प्रकार के स्वेदनकर्म का करना और बस्तिकर्म अर्थात् ओषधिक्वथित तैलादिका गुदमार्ग से अन्दर प्रवेश करना ये सब परमौषध हैं। यह अधोवायु-मल-मूत्र-रोध से उत्पन्न होनेवाले रोगों का साधारण ( सामान्य ) उपचार कहा। अब मलमूत्र के वेगरोध से होनेवाले रोगों का असाधारण उपचार कहते हैं।

मल ( पुरीष ) के रोकने से होनेवाली व्याधियों में विशेषतः विड्भेदि ( बद्धमल को फोड़कर बाहर निकालनेवाले ) अन्नपान अर्थात् कुलथी-बटाना-उड़द-अर्धस्विन्न गेहूं, चने आदि[2]-बथुआ-मेंढा-बकरा-मद्य-सुरा-मस्तु और कांजी आदि

---

१. "यतः पूर्वयोरध्याययोर्नियतकालो विहारो व्याख्यातः। इहानियतकालः; स च पञ्चधा वेगधारणं, वेगोदीरणं, शोधनं, बृंहणं, भूताद्यस्पर्शनं च।" "रोगानुत्पादनीयं च यद्यपि सर्वेषामध्यायानां तथाप्यस्यैव संज्ञाकरणमतिशयद्योतनार्थम्।" इति हेमाद्रिः।

२. एतान् धारयतो जातान्वेगान् रोगा भवन्ति ये। पृथक्पृथक्चिकित्सार्थं तन्मे निगदतः शृणु" इति चरकः। ३. रुक्पीडेत्यरुणः। रुक्-कोष्ठशूलम् इति हेमाद्रिः। ४. दृष्टिवधः-तिमिरम् इति हेमाद्रिः।

५. ऊर्ध्ववातस्य उद्गाररूपस्य रोधात् सुखसाध्या अरुच्यादयः।

अत एवाधोवातरोधाद्ये रोगा अतिप्रत्यवायरूपा गुल्मादयः, तेऽत्र पूर्वं निर्दिष्टा इत्यरुणदत्तः।

१. जठरे समंताच्छेदमिव परिकर्तनमितीन्दुः।

२. अर्धस्विन्नास्तु गोधूमा अन्येऽपि चणकादयः। कुल्माषा गुरवो

का सेवन करावे और पूर्वोक्त फलवर्त्यादि कर्म भी करे।

मूत्रवेग के रोकने से होनेवाले रोगों में भोजन के पहिले अल्पमात्रा में तथा भोजन के पचनकाल में उत्तम मात्रा में ( जो दिनरात में पच सके ) घृतपान कराना चाहिये। भोजन के पहिले और जीर्णकाल में निरन्न घृतपान की दो बार योजना का नाम ही अवपीडक है।

वेगों के धारण करने ( रोकने ) से बहुधा करके वायु का ही कोप होता है और वायु के कोप को जीतने में तैल जितना श्रेष्ठ है उतना घृत नहीं है। इसलिए तैल का ही पान क्यों न कराया जाय? इस शङ्का का उत्तर यह है कि वस्तुतः तैल वातहारक परमौषध है किन्तु बद्धविट्क और अल्पमूत्र-स्वभाववाला होने से उसका मलमूत्रावरोधजन्य रोगों में अवपीडक देना घृत की तरह कदापि उपकारी नहीं। इसलिए यहां घृतपान ही श्रेष्ठ है। अब डकार के वेग को रोकने से होनेवाले रोगों एवं उनके सामान्य उपचार का वर्णन करते हैं—

..........................धारणात्पुनः ।
उद्गारस्यारुचिः कम्पो विबन्धो हृदयोरसोः ॥
आध्मानकासहिध्माश्च हिध्मावत्तत्र भेषजम् ।

डकार के वेग को रोकने से सब अङ्गों का कांपना, हृदय और छाती में रस्सी आदि से जकड़कर बांधने की सी पीड़ा, पेट का फूलना, खाँसी और हिक्का ( हिचकी ) ये रोग होते हैं। हिक्का रोग में कहे हुए उपचार की तरह इनमें औषध दे। यहाँ पुनः शब्द उद्गारवायु का अन्तर्भाव पूर्वोक्त सामान्य ऊर्ध्वाधोवात से करने के लिए ही है। पूर्वोक्त मूल में वातविण्मूत्रादि १३ वेग ही कहे हैं। इसका अन्तर्भाव वायुवेगों में करने से चरकोक्त वेगों की संख्या १४ हो जाती है। अब छींक के वेगरोध से होनेवाले रोगों एवं उनके उपचार का वर्णन करते हैं—

शिरोर्तीन्द्रियदौर्बल्यमन्यास्तम्भार्दितं क्षुतेः ।
तीक्ष्णधूमाञ्जनाघ्राणनावनार्कविलोकनैः ॥
प्रवर्तयेत्क्षुतिं सक्तां स्वेदाभ्यङ्गौ च शीलयेत् ।
योज्यं वातघ्नमन्नं च घृतं चोत्तरभक्तकम् ॥

छींक के रोकने से होनेवाले रोग व उनकी चिकित्सा—छींक के रोकने से सिर में पीड़ा, इन्द्रियदौर्बल्य, ( शब्दस्पर्शरूपादि अपने विषयों के ग्रहण करने में इन्द्रियों की असमर्थता जैसे कि कानों से सुनाई न देना, आंखों से दिखाई न देना इत्यादि ), गर्दन का अकड़ जाना, अर्दित अर्थात् मुँह का एक ओर से टेढ़ा हो जाना ये रोग होते हैं।

रुकी हुई छींक को पुनः लाने के लिए आगे धूमपानविधि में कहे हुए तीक्ष्ण धूमपान का करना अंजन-विधि-कथित आंखों में तीक्ष्ण अंजन का लगाना, नस्यविधि से नाक में तीक्ष्ण नस्य देना और सूर्य की ओर देखना ये उपाय करे तथा स्वेद और अभ्यङ्ग भी करे। इनके अतिरिक्त वायु-हारक अन्न का तथा भोजन के बाद तुरन्त घृत का सेवन करना चाहिये।

शोषाङ्गसादबाधिर्यसंमोहभ्रमहृद्गदाः ।
तृष्णाया निग्रहात्तत्र शीतः सर्वो विधिर्हितः॥

प्यास के रोकने से होनेवाले रोग व उनकी चिकित्सा—पिपासा के रोकने से शोष ( क्षय ), शरीर का उत्साह भङ्ग होकर शिथिल होना, कानों से सुनाई न देना, बेहोशी, चक्कर आना, हृद्रोग ये व्याधियाँ होती हैं। इनकी शान्ति के लिए शीत ( ठण्डे ) स्नान-अन्न-पानादिका सेवन करना हितकारी है।

अङ्गभङ्गारुचिग्लानिकार्श्यशूलभ्रमाः क्षुधः ।
तत्र योज्यं लघु स्निग्धमुष्णमल्पं च भोजनम् ॥

क्षुधावरोधजन्य रोग और उन के उपाय—भूख के रोकने से अङ्ग अङ्ग का फूटना, अरोचक, ग्लानि ( अप्रसन्नता ), दुबलापन, पक्वाशय अर्थात् कोठे में शूल तथा चक्कर आना ये रोग होते हैं। इन की शान्ति के लिए हल्का ( शालि आदि अन्न ) स्निग्ध ( घृत-मांसरस ) आदि से युक्त, उष्ण और थोड़ा मितमात्रावत् भोजन करना चाहिये।

निद्राया मोहमूर्धाक्षिगौरवालस्यजृम्भिकाः ।
अङ्गमर्दश्च तत्रेष्टः स्वप्नः संवाहनानि च ॥

नींद के रोकने से उत्पन्न रोग और चिकित्सा—नींद के वेग को रोकने से बेहोशी, सिर और आंखों में भारीपन ( जड़ता ), आलस, जम्भाइयों का आना, शरीर का टूटना ( पीड़ा ) ये रोग होते हैं। इन में सोना और सुहाने योग्य धीरे धीरे शरीर का दबाना ( मर्दन कराना ) श्रेष्ठ कहा है।

कासस्य रोधात्तद्वृद्धिः श्वासारुचिहृदामयाः ।
शोषो हिध्मा च कार्योऽत्र कासहा सुतरां विधिः ॥

कासावरोध के रोग और उपाय—खांसी के आए हुए वेग को रोकने से खांसी में वृद्धि, श्वास, अरुचि, हृद्रोग, शोष ( राजयक्ष्मा-क्षय ), हिक्का ये रोग होते हैं। इन में कासरोगोक्त खांसी की भलीभांति चिकित्सा करनी चाहिये।

गुल्महृद्रोगसंमोहाः श्रमश्वासाद्विधारितात् ।
हितं विश्रमणं तत्र वातघ्नश्च क्रियाक्रमः ॥

श्रमजन्य श्वास के रोग और चिकित्सा—मार्ग चलने तथा व्यायामादिजन्य परिश्रम से सहसा उठे हुए श्वास के वेग को रोकने से गुल्म अर्थात् बायगोला, हृद्रोग, बेहोशी ये रोग उत्पन्न होते हैं। इन की शान्ति के लिए विश्राम तथा वायुरोग में कही हुई वातशामक चिकित्सा हितकारी होती है।

जृम्भायाः क्षववद्रोगाः सर्वश्चानिलजिद्विधिः ।

जम्भाई के रोकने से होनेवाले रोग और उनकी चिकित्सा—जम्भाई के रोकने से छींक रोकने की तरह ( सिर में पीड़ा,

---

रूक्षा वातला भिन्नवर्चसः ॥ इति भावमिश्राः। च शब्दात्पूर्वोक्तं वर्त्यादि चेत्यरुणः। १. अवपीडो द्विविधः—ह्रस्वया मात्रया प्राग्भक्तप्रयोगः। उत्तमतया अनन्नप्रयोगश्चेति हेमाद्रिः। २. तैलस्य वातजितोऽपि बद्धविट्काल्पमूत्रस्वभावत्वादत्रायोग्यं पानमिति अरुणदत्तः। ३. हृदयोरसोर्विबन्धः रज्ज्वादिभिर्बध्यमानयोरिव दुःखमिति हेमाद्रिः। ४. पुनः शब्दः सामान्यनिर्दिष्टवातप्रकारोक्तशिष्टोद्गाराख्यवातपरामर्शायेतीन्दुः।

इन्द्रिय-दौर्बल्यादि ) रोगों की उत्पत्ति होती है। इनके शमनार्थ सब विधि वायु को जीतनेवाली करनी चाहिए ।

पीनसाक्षिशिरोहृद्रुङ्मन्यास्तम्भारुचिभ्रमाः ।
सगुल्मा बाष्पतस्तत्र स्वप्नो मद्यं प्रियाः कथाः ॥

आंसू रोकने से उत्पन्न रोग और उनकी चिकित्सा—आंसुओं के रोकने से पीनस, आंखों तथा सिर और हृदय में पीड़ा, गर्दन का अकड़ना, अरुचि, चक्कर आना और गुल्म ( बाय-गोला ) ये रोग होते हैं । इन के निवारणार्थ सोना, द्राक्षा से बने हुए मद्य का पान करना या मनोहर धर्म-कथाओं का श्रवण करना परम श्रेष्ठ औषध है ।

विसर्पकोठकुष्ठाक्षिकण्डूपाण्डवामयज्वराः ।
सकासश्वासहृल्लासव्यङ्गश्वयथवो वमेः ॥
गण्डूषधूमानाहारं रूक्षं भुक्त्वा तदुद्वमः ।
व्यायामः स्रुतिरस्रस्य शस्तं चात्र विरेचनम् ॥
सक्षारलवणं तैलमभ्यङ्गार्थं च शस्यते ॥

वमनावरोध के रोग और तदुपाय—वमन के वेग को रोकने से विसर्प, कोठ अर्थात् अंग में शोथ-सहित लाल-काले मंडलों का होना, कोढ़, नेत्रव्याधि, कण्डू ( पामा आदि खुजली के रोग ), पाण्डु रोग, ज्वर, खांसी, श्वास, उबकाई ( वमन का भास ) व्यङ्ग ( मुखपर काले दाग ) और सूजन, इन रोगों की उत्पत्ति होती है । इन को शान्ति के लिए गण्डूष ( ओषधियों द्वारा बने हुए क्वाथ के कुल्ले ) करना , धूमपान, अनाहार ( उपवास ), रूक्ष अन्न खाकर उसकी उल्टी करना क्यों कि इससे कुपित हुआ प्राणवायु अपने मार्गपर आ जाता[१] है। व्यायाम, रक्तमोक्षण ( फस्द खुलवाना ) तथा विरेचन ( जुलाब ) देना, क्षार और नमकयुक्त तेल का मर्दन, ये सब हितकारी होते हैं।

शुक्रात्तत्स्रवणं गुह्यवेदनाश्वयथुज्वराः ।
हृद्व्यथामूत्रसङ्गाङ्गभङ्गवध्मश्मिषण्ढताः ॥
ताम्रचूडसुराशालि वस्त्यभ्यङ्गावगाहनम् ।
वस्तिशुद्धकरैः सिद्धं भजेत्क्षीरं प्रियाः स्त्रियः ॥
तत्र सेवेत ·································॥

वीर्य के रोकने से होनेवाले रोग और उनकी चिकित्सा—वीर्य के अवरोध से वीर्य का स्राव, गुह्यवेदना अर्थात् लिङ्गेन्द्रिय में पीड़ा, सूजन, ज्वर, हृदय या छाती का दुखना, मूत्रसङ्ग ( पेशाब का रुकना ), शरीर का टूटना, वर्ध्म ( अण्डकोष में पीड़ा),अश्मरी (पथरी और नपुंसकता) ये रोग होते हैं। इनकी शान्ति के लिए ताम्रचूड ( कुक्कुट का मांस ), मद्य, चावलों का भोजन, वस्ति, उबटन, अवगाहन ( गहरे जल में बैठना ), बस्ति को शुद्ध करनेवाले खीरा ककड़ी, कूष्माण्ड तथा यवक्षारादि औषधों द्वारा सिद्ध किए हुए दूध का पीना और प्रिय स्त्रियों का सेवन करना चाहिए ।

वक्तव्य—यहां गुह्यवेदना से गुद, अण्डकोष और लिङ्गेन्द्रिय इन तीनों में वेदना अभिप्रेत है । बस्ति शुद्ध करनेवाली औषधि में एक आचार्य कूष्माण्डादि दूसरे त्रपुसादि एवं तीसरे यवक्षारादि कहते हैं ।

१. एतावता हि प्राणो वायुः स्वमार्गं गृह्णातीतीन्दुः ।,, २. गुह्य-

प्राप्त वेगों को रोकनेवाले कैसे रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए, अब आचार्य इस का वर्णन करते हुए और भी उपदेश करते हैं—

·····················सर्वं च वर्जयेद्वेगधारिणम् ।
विड्वामिनं परिक्लिष्टं क्षीणं तृट्शूलपीडितम् ॥

मलावरोधक निषिद्ध रोगी—प्राप्त वेगों को रोकनेवाले समस्त रोगियों की चिकित्सा करनी ही चाहिए, यह बात नहीं है क्यों कि उन में अचिकित्स्य भी होते हैं अर्थात् जो प्राप्तवेगी विष्ठा का वमन करता हो, जो नितान्त क्लिष्ट हो, जो रसरक्तादि धातुओं से क्षीण शरीर हो और जो प्यास और शूल से पीडित हो, ऐसे सब वेगधारियों को त्याग देना चाहिए, क्यों कि उन में वैद्य को यश की प्राप्ति नहीं होती ।

क्या प्राप्त वेगों को रोकनेवालों को ही रोग होते हैं? औरों को नहीं ? अब आचार्य इस का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि—

रोगाः सर्वेऽपि जायन्ते वेगोदीरणधारणैः ।
निर्दिष्टं साधनं तत्र भूयिष्ठं ये तु तान् प्रति ॥
ततश्चानेकधा प्रायः पवनो यत् प्रकुप्यति ।
अन्नपानौषधं तस्य युञ्जीतातोऽनुलोमनम् ॥
( पायु मेहनमुष्केषु शूलं शोषो हृदि व्यथा ।
तेषु तेषु विकारेषु यथास्वं च चिकित्सितम् ॥ )
क्रमादपामपि मणौ पङ्कोऽवश्यं भवत्यतः ।
उत्तिष्ठेत यथाकालं मलानां शोधनं प्रति ॥

वेगोदीरण आदि से भी रोगोत्पत्ति—केवल वेगों के धारण करने अर्थात् रोकने से ही रोग होते हैं, यह बात नहीं है, रोग वेगोदीरण ( अप्राप्त वेगों को जबर्दस्ती प्रवृत्त करने की चेष्टा) करने से भी होते हैं। सरांश यह है कि रोग प्रायः जैसे वेगों को रोकने से होते हैं, वैसे ही वेगों के उदीरण करने से भी होते हैं । इतना ही नहीं, रोगों की उत्पत्ति अन्य कारणों से भी होती है क्यों कि इन में प्रायः अनेक प्रकार से वात कुपित होता है अतः उत्पन्न होनेवाले रोगों के लिये साधन ( चिकित्सा ) भी अनेक प्रकार से कही गई है । एतदर्थ अन्न, पान और औषध की ऐसी योजना करनी चाहिए कि जिस से कुपित हुए वायु का अनुलोमन होकर वह अपने मार्गपर आ जाय । वायु आदि के कोप से गुद, लिङ्गेन्द्रिय तथैव अण्डकोषों में पीड़ा होती है, शोष ( क्षयरोग ) होता है और हृदय ( छाती ) में वेदना होती है अतः उन भिन्न भिन्न रोगों में जिस जिसकी चिकित्सा का आचार्यों ने जैसे वर्णन किया है, उसी प्रकार से उनकी चिकित्सा करनी चाहिए ।

रोगों की उत्पत्ति से बचने के लिए मनुष्य को सचेष्ट रहना चाहिए । भावार्थ यह है कि स्वस्थ मनुष्य को भी ऋतुकालानुसार मलों के निर्हरण करने में आलस्य नहीं करना चाहिए

वेदना—"वायुवृषणमेहनानां शूलम्" इत्यरुणदत्तः । बस्तिशुद्धकरैर्द्रव्यैः कूष्माण्डादिसिद्धमित्यरुणः । त्रपुसादिसिद्धमितीन्दुः । यवक्षारादिसिद्धमिति हेमाद्रिः ।

१. इन्दुकृतटीकापुस्तके पाठोऽयमधिकः किन्तु व्याख्या नास्त्यस्य।

क्यों कि जल के नितान्त निर्मल होनेपर भी उस के नीचे के कीचड़ में पड़ी हुई मणि को निकालनेपर उसपर लगे हुए मल का अवश्य अनुभव होता है जिस को हम सब का कर्त्तव्य होता है कि हम उसे साफ कर के स्वच्छ रक्खें। इस पूरे कथन का भावार्थ यह है कि जब जैसा समय हो, तदनुसार मलों के संशोधन करने में मनुष्य को सचेष्ट (होशियार) रहना चाहिये। जिस ऋतु में जो संशोधन-विधि वर्णन की गई है, तदनुसार वात आदि तीनों मलों के निर्हरण करने में उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह उपेक्षा प्रायः रोगों को उत्पन्न करनेवाली होती है। इसी बात के समर्थन में आचार्यों ने कहा है कि—

चयकाष्ठामुपारुह्य कुर्वते ते ह्युपेक्षिताः ।
प्रायः सुचिरेणापि भेषजद्वेषिणो गदान् ॥
अतिस्थौल्याग्निसदनमेहकुष्ठहृतौजसः ।
स्रोतोरोधाक्षविभ्रंशश्वासश्वयथुपाण्डुताः ॥
आमोरुस्तम्भजठरकृच्छ्रालसकदण्डकान् ॥
( तृप्तिप्रमीलकालस्यग्रहण्यर्शोभगन्दरान् ।
प्लीहविद्रधिवीसर्पमदसंन्यासपीनसान्[2] ॥ )
छर्दिगण्डक्रिमिग्रन्थितन्द्रादुःस्वप्नदर्शनम् ।
कण्ठामयान् मूर्धरुजः प्रणाशं बुद्धिनिद्रयोः ॥
तेजोवर्णबलानां च तृप्यतोऽबृंहणैरपि ।
उचितैरपि चाहारैर्यस्मादस्य वहन्ति न ॥
दोषोपलिप्तवदना रसं रसवहाः सिराः ।
वमनादीनतो युञ्ज्यात्स्वस्थस्यैव यथाविधि ॥
दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः ।
ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः ॥

दोषसंशोधन करने और न करने से हानि-लाभ—वमन विरेचनादि संशोधन-कर्म के द्वेषी अर्थात् न करनेवाले मनुष्यों द्वारा उपेक्षित वात, पित्त और कफ ये संचय की अवस्था को प्राप्त होकर चिरकाल के अनन्तर भी अतिस्थौल्य ( मेदोवृद्धि ), अग्निमान्द्य, प्रमेह, कोढ़, हतौजः ( अभिन्यास नामक सन्निपात ) रसरक्तादि धातुओं के संवहन करनेवाले स्रोतों का अवरोध, इन्द्रियों के शब्द-स्पर्श आदि धर्म का नाश, श्वास, शोथ, पाण्डुरोग, आमवात ( गठिया ), ऊरुस्तम्भ, जठर ( यकृत् प्लीहोदरादि ), मूत्रकृच्छ्र ( मूत्रका कष्ट से उतरना ), अलसक और दण्डक संज्ञक वातव्याधि, छर्दि ( वमन ), गलगण्ड, क्रिमि, ग्रन्थि, तन्द्रा, बुरे बुरे स्वप्नों का दिखाई देना, कण्ठ तथा मस्तक के रोग, बुद्धि-निद्रा-तेज-वर्ण-बल इन सबका नाश, इन रोगों के करनेवाले होते हैं। इस लिए कि दोषसंचय की उपेक्षा कर के उनका विधिवत् निर्हरण न करनेवाले मनुष्यों की रससंवहन करनेवाली सिराओं के मुख दोषलिप्त होने से वे रस धातु का संवहन नहीं करतीं अतः बृंहणाहार करते हुए तृप्त मनुष्य में भी बल आदि का संचार नहीं होता। फलतः वह रोगों का घर बन जाता है। उपर्युक्त रोगों के अतिरिक्त आहार न करते हुए भी तृप्ति, प्रमीलक स्तैमित्य-अम्लपित्त और पित्तविषूचिका नामक रोग होता है यह बड़ा भयंकर रोग है। इसमें मुख का नमकीन-खट्टा रहना, सतत छर्दि ( वमन ), दाह, अतिनिद्रा, कोष्ठबद्धता आदि होते हैं। इसे प्रमीलक[1] कहते हैं। इस के सिवाय आलस्य, ग्रहणी, अर्श ( बवासीर ), भगन्दर, प्लीह, विद्रधि, विसर्प, मद और पीनस रोग होता है। इस लिए ऐसे रोगी के दोषनिर्हरणार्थ यथाविधि वमनादि की योजना करनी चाहिए तथा स्वस्थ के लिए भी संशोधन परम-हितकारी है। सारांश, उपर्युक्त रोगों की संभावना ही नहीं हो सकती। आचार्य कहते हैं कि लंघन-पाचनादि संशमन चिकित्साद्वारा शान्त दोष कदाचित् फिर कुपित हो सकते हैं परन्तु संशोधनद्वारा शुद्ध हुए दोष फिर से उत्पन्न नहीं हो सकते। दोषसंशोधन के बाद क्या करना चाहिए, अब अचार्य इस विषय में कहते हैं—

यथाक्रमं यथायोगमत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् ।
रसायनानि सिद्धानि वृष्ययोगांश्च कालवित् ॥
भेषजक्षपिते पथ्यमाहारैर्बृंहणं क्रमात् ।
शालिषष्ठिकगोधूममांसक्षीरघृतादिभिः[2] ॥
हृद्यदीपनभैषज्यसंयोगाद्रुचिपक्तिदैः ।
साभ्यङ्गोद्वर्तनस्नाननिरूहस्नेहवस्तिभिः ॥
तथा स लभते शर्म सर्वपावकपाटवम् ।
धीवर्णेन्द्रियवैमल्यं वृषतां दैर्घ्यमायुषः ॥

संशोधनोत्तर विधि—दोषसंशोधन के पश्चात् कालवित् अर्थात् केवल कालवित् ही नहीं किन्तु देश-काल-बल-शरीर-आहार-सात्म्य-सत्त्व और प्रकृति[3] इन सबको जाननेवाले तथैव रसायनप्रयोग करने में समर्थ वैद्य को चाहिए कि वह वमन विरेचनादि संशोधन से थके हुए शरीर के लिए यथाक्रम अर्थात् वाजीकरण प्रकरण में जो क्रम कहा गया है, उसे न छोड़ते हुए यथायोग्य ( जो जिसके योग्य है जैसे कि यह वात प्रकृतिवाले के लिए ठीक है आदि ) सोचकर अनेक बार अनुभव किए हुए सिद्ध ब्राह्म, वाशिष्ठ और च्यवनप्राशादि वाजीकर-वृष्य-रसायनों[4] का सेवन करावे। इतना ही नहीं, अभ्यङ्ग ( उबटन ), स्नान, आस्थापन-अनुवासन-वस्तिसह अदरक-

---

१. पाठोऽयं हेमाद्रिसंमतः किन्तु नास्तीन्दुटीकाग्रन्थे।

२. हतौजश्शब्दः पुंल्लिङ्गः सन्निपातज्वरपर्यायः "सन्निपातमभिन्यास तं ब्रूयाच्च हतौजसम्" इतीन्दुटीकायाम्। १. प्रमीलकं स्तैमित्यम्। अम्लपित्तस्यापरनामेत्यन्ये पठन्ति। यथा—पच्यमानं विदाह्यन्नं रक्तादीन् कोपयेद्यदा। पित्तं च कोपयेदाशु कफस्थानानिलेरितम् ॥ तदा भवति हृच्छूलमुखवैरस्यसादनम्। लवणं पित्तमम्लं च सततं छर्दयत्यपि ॥ दाहोऽतिनिद्रां विट्सङ्गो वैवर्ण्यं कार्श्यमेव च। अरोचको ह्युत्सुकिता प्रसेकः श्लेष्मणस्तथा ॥ स्युर्यत्रैतानि लिङ्गानि निर्दिशेत्तत् प्रमीलकम्। पर्यायादम्लपित्तं च तथा पित्तविषूचिका ॥ इतीन्दुटीकायाम्। २. "मुद्गमांसघृतादिभिः" इति पाठान्तरम्। ३. "कालशब्दोऽत्र देशबल शरीराहारसात्म्यसत्वप्रकृतीनामुपलक्षणार्थम्। न हि कालमात्रविद्रसायनप्रयोगं सम्यग्विधापयितुं शक्तः।" इत्यरुणदत्तः। "यथाक्रमं स्वविध्युक्तक्रमानतिक्रमेण" इति हेमाद्रिः। ४. यथायोगं यो यस्य युज्यते दातुमित्यर्थः। यथेदं रसायनं वातप्रकृतियोग्यमिदं, पित्तप्रकृतेरिदं श्लेष्मप्रकृतेरित्यारुणः। रसायनानि सिद्धानि बहुशो दृष्टप्रत्ययानि ब्राह्मवाशिष्ठच्यवनप्राश्यादीनि तथा वृष्यप्रयोगांश्चेति वाजीकरणयोगानिति चन्द्रनन्दनः।

पीपल-मिर्च-तज-तेजपात-इलायची-अनारदाने-बिजौरा-सैंधा नमक आदि हृद्य और दीपन ओषधियों के संयोग से रुचिकर और पाचक ऐसे साठी चावल, गेहूं, मांसरस, दूध और घृतादि आहारों का क्रम से सेवन कराते हुए हितकारी बृंहण प्रयोग करावे, इस लिए कि उक्त त्रिविध बृंहणों[1] से मनुष्य को स्वास्थ्य-लाभ होता और सभी प्रकार की अग्नियों अर्थात् जठराग्नि १ भूताग्नि ५ और धात्वग्नि ७ इस प्रकार १३ तथा अन्यमत से १७ ही प्रकार के अग्नियों[2] की प्रदीप्तता, बुद्धि-वर्ण तथा इन्द्रियों की निर्मलता, पाचनशक्ति, स्त्रीसङ्गसामर्थ्य और आयु की दीर्घता प्राप्त होती है। इस प्रकार शारीरिक रोगों के कारण और परिहार को कहने के अनन्तर अब आचार्य आगन्तु रोगों के कारण और परिहार का वर्णन करते हैं—

ये भूतविषवाय्वग्निक्षतभङ्गादिसम्भवाः ।
कामक्रोधभयाद्याश्च ते स्युरागन्तवो गदाः ॥
त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः ।
देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम् ॥
अथर्व-विहिता शान्तिः प्रतिकूलग्रहार्चनम् ।
भूताद्यस्पर्शनोपायो निर्दिष्टश्च पृथक् पृथक् ॥
अनुत्पत्त्यै समासेन विधिरेषः प्रदर्शितः ।
निजागन्तुविकाराणामुत्पन्नानां च शान्तये ॥

आगंतुक रोग और उनका परिहार—भूत (ग्रहादि) के दर्शन, विष के स्पर्श, वायु (आंधी-झंझावात), अग्नि, शस्त्रादि के क्षत (घाव), गिर पड़ने आदि से अङ्ग का भङ्ग, (टूटना) तथा विशेष परिश्रम एवं शोक से उत्पन्न होनेवाले काम-क्रोध-भय और शोकादि ये सभी आगन्तुक रोग हैं। इनके शमनार्थ प्रज्ञापराधों का त्याग[3] अर्थात् बुद्धि, धैर्य, धारणा और स्मृतिभ्रष्ट होते हुए जो अशुभ कर्म किया जाता है उसका त्याग करना। क्योंकि प्रज्ञापराध समस्त दोषों के प्रकोप का कारण होता है जैसे कि समयासमय का कुछ भी विचार न करते हुए किसी कर्म को कर बैठना, जिन बुरे कर्मों को नहीं करना चाहिये उनका करना, जानते हुए भी अहितकारी शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गंध इन इन्द्रियार्थों का अतिसेवन करना अथवा दिनचर्यादिविधि का उल्लंघन करना, ये सब प्रज्ञापराध हैं, अतः इन प्रज्ञापराधों (अशुभ कर्मों) का त्याग करना, इन्द्रियोपशम (इन्द्रियों की लोलुपता को रोकना), स्मृति (बीती हुई घटनाओं का स्मरण करना), जांगल, आनूप तथा मिश्र देश का, शीत, उष्ण एवं वर्षाकाल का, अपनी वात, पित्त या कफ-प्रकृति एवं ब्रह्मज्ञान, इन सबका ज्ञान रखना। भावार्थ यह है कि इन सबको ध्यान में रखते हुए शुभ आचरण करना चाहिए। मैं कौन हूं, कहां का रहनेवाला हूं, यह समय कैसा है, यह देश कौन-सा है, यहां इस कर्म का करना उचित होगा या अनुचित, मैं कितना धनवान् या शूर हूं इत्यादि सभी बातों का[1] ध्यान करके (विचार कर) कर्मों का करना, क्योंकि मन की शुद्धि देशकालात्मज्ञान[2] से सत्पुरुषों के शुद्ध आचरणों का अनुष्ठान करना, भूतादि ग्रहों का स्पर्श न हो इस लिए अथर्ववेदोक्त शान्ति का करना, प्रतिकूल सूर्यादि ग्रहों का पूजन करना या उन पृथक् पृथक् उपायों का करना जो भूतविद्या तंत्र में कहे गये हैं। केवल शारीरिक एवं मानसिक-आगन्तुक विकारों के न होने के लिए ही नहीं, किन्तु उत्पन्न हुए सभी विकारों की शान्ति के लिए प्रज्ञापराधादि सद्वृत्तानुष्ठान तथा भूतादि-शान्ति का उपाय यह दो प्रकार का विधान संक्षेप करके कहा गया है। इन उपायों में के "अथर्वविहिता शान्तिः" आदि द्वितीय उपायवाले पद्य को कुछ टीकाकार नहीं मानते हैं किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि इनके विना पूर्व श्लोक की सङ्गति ही नहीं बैठ सकती।

संशोधनकर्म का वर्णन करते हुए फलितार्थ कह चुके हैं कि—"ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः" अर्थात् संशोधनकर्मद्वारा निर्हरण किए हुए वातादि दोष फिर से उत्पन्न नहीं हो सकते, अतः संशोधन-कर्म की उपेक्षा कदापि नहीं करनी चाहिए। चाहे रोगी हो चाहे स्वस्थ, संशोधन सब के लिए समान हितकारी है।

अब इस अध्याय के उपसंहार में संशोधन कर्म के समय का निर्देश करते हुए हितकारी मिताहार-विहार के फल का वर्णन करते हैं।

शीतोद्भवं दोषचयं वसन्ते विशोधयन् ग्रीष्मजमभ्रकाले।
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक्प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु॥

बसंतादि ऋतुओं में किए संशोधन से लाभ—शीतकाल अर्थात् हेमन्त और शिशिर इन दोनों ऋतुओं में उत्पन्न हुए वातादि-दोषसंचय का निर्हरण बसंत (चैत्र) में, ग्रीष्मकाल के पैदा हुए दोषसंचय का संशोधन वर्षाकाल (श्रावण) में और वर्षाकालोत्पन्न दोषसंचय का निर्हरण घनात्यय (शरद् ऋतु के अन्त अर्थात् कार्तिक मास) में करता हुआ प्राणी ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले रोगों से कदापि पीडित नहीं होता।

वक्तव्य—यहां शीतकाल से हेमन्त और शिशिर इन दोनों ऋतुओं का ग्रहण[3] किया गया है। "ग्रीष्मजमभ्रकाले" यहां कालके ग्रहण से वर्षाकाल के प्रारम्भ होते ही संशोधन अभिप्रेत है। इसी प्रकार वर्षा, घनात्यय तथा वसन्त के लिए क्रम से श्रावण, कार्तिक और चैत्र मास का ही ग्रहण[4] करना उचित है।

---

१. बृंहणं तत्त्रिविधं रसायनं वाजीकरणमाहारादिप्रयोगश्चेति हेमाद्रिः। २. सर्वे पावका जठराग्निभूताग्निधात्वग्नयः, इति हेमाद्रिः। डल्लनस्तु सुश्रुतगर्भव्याकरणशारीरव्याख्याने 'अग्निरित्यादि'। अग्निरत्र पाचकभ्राजकालोचकरञ्जकसाधकानां पाञ्चभौतिकानां सर्वधात्वनुगानामिति १७ वदति।

३. धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्। प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वदोष-प्रकोपनम्॥ कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्मणाम्। ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम्॥ इति चरकः

१. देशादिविज्ञानेन विषयस्थं मनः स्पष्टतां याति। एवमभिजनोऽहम् तत्र चेदमुचितमिदमनुचितम्। एवमहमर्थवानेवमहं शूरः। इत्यस्मिन्देशे काले चोचितमिदं नेति बहुविधपरिकल्पनं देशकालात्मविज्ञानमितीन्दुः।

२. आत्मा च – वातप्रकृत्यादिरित्यरुणदत्तः। आत्मविज्ञानं द्विविधं शरीर-विज्ञानमेकं प्रियं मे प्रकृतेरिदमित्यादिः। द्वितीयं ब्रह्मस्वरूप-विज्ञानम्, तेन विना रागादीनां रोगाणां नान्यदपहारं कर्तुं समर्थम्। इति चन्द्रनन्दनः।

३. शीतशब्देन हेमन्तशिशिराख्यावृतू द्वावपि गृह्येते। ४. ग्रीष्म-

नित्यं हिताहार-विहारसेवी
समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः ।
दाता समः सत्यपरः क्षमावा-
नाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥
अर्थेष्वलभ्येष्वकृतप्रयत्नं
कृतादरं नित्यमुपायवत्सु ।
जितेन्द्रियं नानुपतन्ति रोगा-
स्तत्कालयुक्तं यदि नास्ति दैवम् ॥
कालोऽनुकूलो विषया मनोज्ञा
धर्म्याः क्रियाः कर्म सुखानुबन्धि ।
सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धि-
र्भवन्ति धीरस्य सदा सुखाय ॥

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थाने रोगानुत्पादनीयः पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥
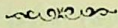
हिताहारविहारादि सदाचार के लाभ—जो नित्य प्रति हितकारी आहार और विहार करता है, बहुत सोच-विचार के बाद जो उचित काम करता है, जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध आदि विषयों में लोलुप नहीं रहता, जो वदान्य (दानी) है, जो सब को समान भाव से देखता है, जो सत्यवादी है, जो बलवान् होकर भी क्षमा करनेवाला है और जो आप्तों का सेवक है अर्थात् जो त्रिकालज्ञों-विद्वानों-जिनका ज्ञान संशयरहित है, ऐसे गुरु आदि साधु-सन्तों की सेवा करता है वह नीरोग (रोगरहित) रहता है। इसके अतिरिक्त जो अलभ्य विषयों के लिए प्रयत्न न करके लभ्य विषयों के अर्थ प्रयत्नशील रहता है और जो जितेन्द्रिय है उसे यदि दैव प्रतिकूल न हो तो रोग नहीं सताते हैं। जिसका काल अनुकूल अर्थात् हीनमिथ्यातियोगरहित होता है, जिसके शब्दादि विषय प्रिय होते हैं, जिसकी सब क्रिया धर्मानुकूल होती है, जिसके सब कर्म इह-परलोक के लिए सुखदायक हैं, जिसका मन विधेय (परवश नहीं) है और जिसकी बुद्धि निर्मल होती है; ऐसे धैर्ययुक्त पुरुष के लिए ये सब पूर्वोक्त विषय सुखके देनेवाले होते हैं।

इत्यष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थाने कापिलस्थलाङ्गाणीत्युपाख्यश्रीगोवर्धनशर्मविरचितायामर्थप्रकाशिकाख्यहिन्दीव्याख्यायां रोगानुत्पादनीयः पञ्चमोऽध्यायः ॥

जमप्रकाल इत्यत्र कालग्रहणेन वर्षाप्रारम्भमात्र एवेति बोध्यम्। तथा च शास्त्रकारो वक्ष्यति—"श्रावणे कार्तिके चैत्रे मासि साधारणे क्रमात्। ग्रीष्मवर्षाहिमचितान् वाय्वादीनाशु निर्हरेत ॥ इत्यरुणदत्तः।

१. 'नानुतपन्ति' इत्यपि पाठः। २. रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ता तपोज्ञानबलेन ये येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा। आप्ताः शिष्टा विबुधास्ते तेषां वाक्यमसंशयम् ॥ इति चरकः

# अथ षष्ठोऽध्यायः।

स्वास्थ्यरक्षा के लिए आहार-विहार का समुचित सेवन ही मुख्य है। इनमें से इनके पहले आये हुए तीन अध्यायों में विहार का वर्णन हो चुका है। आहार का वर्णन करना शेष रहा है अतः आचार्य इस अध्याय से आहारवर्णन का आरम्भ करते हैं। अन्नपान—शब्दसे आहार के दो भेद अन्न और पान ये स्पष्ट दिखाई देते हैं। इनसे आहार के द्रवाहार और अद्रवाहार ऐसे दो भाग[1] हो जाते हैं। अद्रवाहार के साथ ही साथ द्रव-द्रव्यों के आहार का विशेष सम्बन्ध है जैसे कि दूध-दही आदि। इतना ही नहीं, इन द्रव द्रव्यों की आवश्यकता सब से पहले होती है। इसी लिए आचार्य द्रवद्रव्य-विज्ञानीय अर्थात् जिससे द्रवद्रव्यों का भली भांति ज्ञान हो ऐसे अध्याय का प्रारम्भ पहले करते हैं।

अथातो द्रवद्रव्यविज्ञानीयनामाध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अब यहां से द्रव द्रव्यों का भलीभांति ज्ञान हो ऐसे "द्रवद्रव्यविज्ञानीय" नामवाले अध्याय की व्याख्या जैसे आत्रेयादि महर्षियों ने पहले की है, करते हैं।

आचार्य के मत से द्रवद्रव्य जल, दूध, इक्षुरस, तेल और मद्य ऐसे पांच वर्गों में विभक्त[2] हैं। इनमें भी मधुरादि सभी रसोंका उत्पादक, सभी प्राणियोंके लिए सात्म्य तथा जीवनादि गुणयुक्त होने तथैव समस्त प्राणियों के प्राणस्वरूप एवं समस्त जगत् तन्मय होने से पूर्वोक्त पांच वर्गों से जल[3] वर्ग का निर्देश सर्वप्रथम किया गया है।

आकाशीय और भौम इन दो प्रकार के जलों में भी शास्त्रकारों ने आकाश से बरसनेवाले दिव्य गंगाजल को श्रेष्ठ माना है, अतः प्रथम उसी को लेकर जल के वर्णन का आरम्भ करते हैं।

## अथ जलवर्गः।

जीवनं तर्पणं हृद्यं ह्लादि बुद्धिप्रबोधनम् ।
तन्वव्यक्तरसं मृष्टं शीतं शुच्यमृतोपमम् ॥
सूर्योद्धृतप्रमुक्तत्वाल्लघु वातकफापहम् ।
शैत्यजीवनसौम्यत्वैः पित्तरक्तविषार्तिजित् ॥
स्पृष्टं गङ्गाम्बु नभसो भ्रष्टं त्वर्केन्दुमारुतैः ।
हिताहितत्वे तद्भूयो देशकालावपेक्षते ॥

जल के अनेक भेद—आचार्यों ने जल को दिव्य और भौम इन दो भागों में विभक्त किया है। इनमें पहिले के दिव्य, आन्तरिक्ष और गंगांबु ये पर्याय हैं। दिव्य जल के भी चार भेद हैं—जैसे कि धार, कार, तौषार और हैम। इनमें प्रथम धार के भी दो भेद हैं, गाङ्ग-दिव्य और सामुद्र। गाङ्गदिव्य

१. आहारो वक्तव्यः। स च द्विविधः, द्रवोऽद्रवश्चेति हेमाद्रिः।

२. तोयक्षीरेक्षुतैलानां वर्गैर्मद्यस्य च क्रमात्। इति

३. सर्वरसयोनित्वात् सर्वभूतसात्म्याज्जीवनादिगुणयोगाच्च। तथात्रैवाध्येष्ठ "पानीयं प्राणिनां प्राणाः विश्वमेव च तन्मयम्" इत्यरुणदत्तः।

भी दो प्रकार का है, जैसे कि आन्तरिक्ष और भौम। इन सब में दिव्य, आन्तरिक्ष या गंगांबु को सब जलों से श्रेष्ठ माना गया है। अतः आचार्य जल के गुणों का वर्णन उसी (दिव्य) से आरम्भ करते हैं।

दिव्य जल के गुण—दिव्य अर्थात् आकाश से बरसनेवाला जल जीवन अर्थात् प्राणधारक, ओज एवं सौम्यधातु को बढ़ानेवाला, तर्पण (तृप्तिदायक या ग्लानि को दूर करने वाला), हृद्य अर्थात् हृदय के लिए प्रिय एवं हितकारी, ह्लादि-आह्लादकर, बुद्धि को तेज करनेवाला, तनु अर्थात् स्वच्छ या दुग्ध-दधि-आदि समस्त द्रव द्रव्यों से विरल (सूक्ष्म), अव्यक्त रस-जिसमें मधुरादि छहों रस छिपे हुए हैं अर्थात् उसके आस्वाद से पता नहीं लग सकता कि इस प्रकार इसमें मधुर-अम्ल-लवणादि छहों रस हैं। मृष्ट-स्वादुरसवाला या जिह्वा को प्रिय, शीत-स्पर्श और वीर्य में शीतल शुचि-पवित्र, सूर्य की किरणों से उद्धृत हो बरसने के कारण लघु-हल्का या शीघ्र पचनेवाला, अमृतोपम-देवताओं के अमृत की तरह मनुष्यों के प्राण बचानेवाला, वातकफहारक, शैत्य-जीवन और सौम्य गुणों करके पित्त, रक्त और विष की पीड़ा को हरनेवाला है। वस्तुतः ये गुण आकाश से बरसनेवाले उसी जल के हैं जिसे पृथ्वी में न गिरने देकर ऊपर ही से वस्त्रादि द्वारा हरण कर लिया गया हो। भूमि पर गिरने एवं सूर्य, चन्द्र और वायु का स्पर्श होने पर आंतरिक्ष जल की भौम संज्ञा हो जाती है। उसमें वे गुण नहीं रहते जो ऊपर बताये गए हैं। किन्तु हिताहित की दृष्टि से उसमें देश और काल की अपेक्षा होती है। यहां देश शब्द से आश्रय, पात्र या जांगलादि देश का ग्रहण होता है और काल से ऋतु, दिन, रात्रि आदि को लेना चाहिये, जैसे कि आंतरिक्ष जल सुपात्रस्थ हितकारी होता है, वही दुष्पात्रस्थ अहितकारी। इसी प्रकार ऋतु में वर्षा हुआ जल हितकारी होता है, वही अनृतु में वर्षा हुआ अहितकारी होता है। भौम अर्थात् भूमि पर पड़े हुए जल का विचार और भी विशेष किया गया है जैसे कि देश की अपेक्षा से-जांगल देश का जल हितकारी तो आनूप देश का अहितकारी होता है। पवित्र स्थल में पड़ा हुआ जल पथ्य तो अपवित्र स्थल में पड़ा हुआ अपथ्य, कूप आदि का जल हितकारी तो अल्पसरोवर आदि (तालाब-तलैया आदि) का अहितकारी। कुछ शरीरों में हितकारी तो कुछ शरीरों में अहितकारी इत्यादि। ऐसे ही काल (समय) की अपेक्षा से जैसे कि शरद्-ग्रीष्म में हितावह तो अन्य ऋतुओं में अहितावह। इसमें भी दिन में पथ्य तो रात्रि में अपथ्य। इसी प्रकार भोजन के मध्य में जल हितकारी होता है वही भोजन के अन्त में अहितकारी होता है। सारांश-दिव्य जल ही सर्वदा सबके लिए हितकारी होता है।

आकाश से बरसनेवाला जल भी सर्वथा गांग ही नहीं होता। इसलिए अब आचार्य उसकी परीक्षाविधि बतलाते हैं।

> येनाभिवृष्टममलं शाल्यन्नं राजतस्थितम् ॥
> अक्लिन्नमविवर्णं वा तत्पेयं गाङ्गमन्यथा ।
> सामुद्रं तन्न पातव्यं मासादाश्वयुजाद्विना ॥

पेयापेय जल की परीक्षा—जिस बरसते हुए आन्तरिक्ष जल से अभिषिक्त चांदी के पात्र में रखा हुआ शाल्यन्न अर्थात् रांधे हुए चावलों का पिण्ड न तो सड़े और न वर्ण ही बदले तो जानना चाहिये कि गांग जल बरस रहा है। उसे पीना चाहिये और स्नान-अवगाहन भी उससे करना चाहिये। इससे विपरीत अर्थात् बरसते हुए जल में बाहर रजतपात्र में रखा हुआ शाल्यन्नपिण्ड यदि सड़ जाय या वर्ण से विवर्ण (रंग से बदरंग) हो जाय तो उसे समुद्र-जल समझना चाहिये। आश्विन मास के सिवा अन्य महीनों में उसको नहीं पीना चाहिये और न उससे स्नान-अवगाहन ही करना चाहिये।

ध्यान रहे कि इस परीक्षा का समय शास्त्रकारोंने एक मुहूर्त (४८ मिनट) ही कहा है। सारांश—बरसते हुए जल में ४८ मिनट तक चांदी के पात्र में परिपक्व तण्डुल-पिण्ड बहिर्भाग में होने से वह जैसा रखा था वैसा ही बना रहे तो बरसनेवाले जल को गांग एवं पीने योग्य समझना चाहिये। अन्यथा (विवर्ण एवं मोमकी तरह) कीचड़-सा हो जाय तो उसे पेय सामुद्र जल समझना चाहिये।

किस प्रकार के आन्तरिक्ष एवं भौम जल को पीना चाहिये? अब आचार्य इसका स्पष्टीकरण करते हैं।

> खातधौतशिलापृष्ठवस्त्रादिभ्यश्च्युतं जलम् ।
> हेममृण्मयपात्रस्थमविपन्नं सदा पिबेत् ।
> तदभावे च भूमिष्ठमान्तरिक्षानुकारि यत् ॥

पान के योग्य जल—जल के लिये बनाये हुए खात अर्थात् कुण्ड का और धुली हुई स्वच्छशिलापर बरसा हुआ, स्वच्छ वस्त्रादि से छाना हुआ, स्वर्ण या मिट्टी के पात्र का अविकारी जल सदा पीना चाहिये। इस के अभाव में वह भौम जल पीना चाहिये, जो स्वच्छतादि गुणों में आचार्य के वक्ष्यमाण कथनानुसार आन्तरिक्ष जल के समान या अनुकरण करनेवाला हो।

अब आचार्य भूमिष्ठ जल का देशविशेष एवं पञ्चमहाभूतों

---

१. जीवनं प्राणधारणमिति हेमाद्रिः। ओजोवृद्धिकरमित्यरुणः। सौम्यधातुवृद्धिकरमितीन्दुः।

२. तर्पणं तृप्तिकृत् इतीन्दुः। क्लमहृदित्यरुणः।

३. हृद्यं-हृदयस्य प्रियं तत्प्रसादकरत्वादिति हेमाद्रिः। हृदयाय हितं न तु हृदयस्य प्रियमित्यरुणः।

४. तनु स्वच्छमितीन्द्वरुणौ। सर्वेभ्यो विरलमिति हेमाद्रिः।

५. मृष्टम्-आस्वादसुखमित्यरुणः। जिह्वेन्द्रियप्रियमिति हेमाद्रिः।

६. लघु-लघुगुणयुक्तमित्यरुणः। शीघ्रपाकमिति हेमाद्रिः।

७. अमृतोपमं—प्राणधारकत्वादित्यरुणः। देवानाममृतमिवेदं मनुष्याणामिति हेमाद्रिः।

१. शाल्योदनपिण्डीमिति सुश्रुतः।

२. पेयमित्युपलक्षणार्थं स्नानावगाहनयोरपि तत्पथ्यमेवेत्यरुणदत्तः।

३. सः (पिण्डः) मुहुर्तं स्थितः तादृश एव भवति, तदा गाङ्गं पततीत्यवगन्तव्यम्। वर्णान्यत्वे सिक्थप्रक्लेदे च सामुद्रमिति विद्यात्। तन्नोपादेयमिति सुश्रुतः।

४. 'भूयिष्ठम्' इत्यरुणसंमतः पाठोऽसत् सुश्रुतसंग्रहाद्यसम्मतत्वात्।

५. खातो जलग्रहणार्था भूकुण्डिका इतीन्दुः।

की गुणाधिकता कर के उन ( पंचमहाभूतों ) में षड्रसता का विशेष वर्णन करते हैं।

श्वेते कषायं तत्स्वादु कृष्णे तिक्तं च पाण्डुरे ।।
नीले कषायमधुरं देशे लवणमूषरे ।
सक्षारं कपिले मिश्रं मिश्रेऽथाम्बुगुणाधिके ।।
मधुरं लवणाम्लं तु भवेद्भूमिगुणाधिके ।
तेजोऽधिके तिक्तकटु कषायं पवनाधिके ।।
दिव्यानुकारित्वव्यक्तरसत्वात् खगुणाधिके ।
शुचि पृथ्वसितश्वेते देशे चार्कानिलाहतम् ।।

जल में पंचमहाभूतता—श्वेत ( सुफेद ) मिट्टीवाले प्रदेश में स्थित जल कषायरसता को प्राप्त होता है । इसी प्रकार काली मिट्टीवाले प्रदेश में मधुरता, पीली और सुफेद मिली हुई मिट्टीवाले देश में तिक्तता, नीली मिट्टीवाले प्रदेश में कषाय और मधुरता, ऊषर प्रदेश में लवणरसता, कपिल वर्ण के भूमिप्रदेश में सक्षारता और मिश्र भूमिवाले देश में स्थित जल मिश्रता को प्राप्त होता है । इसी प्रकार भूप्रदेश में जल-तत्त्व के गुणाधिक्य से ( जल तत्व का भाग अधिक होने से ) जल मधुर रसवाला होता है, पृथ्वीतत्त्व के अधिक होने से लवण और अम्ल रसवाला, अग्नितत्त्वाधिक्य होने से तिक्तकटुरसवाला, वायुतत्त्व अधिक रहा हो तो कषाय रसवाला होता है तथा आकाशतत्त्व के गुणाधिक्य से अव्यक्त रसवाला ( प्रत्यक्ष महाभूतों की स्वल्पता होने के कारण ) आन्तरिक्ष जल के समान गुणवाला होता है । तथैव पवित्र ( निर्मल ), विस्तीर्ण, काली और सुफेद मिट्टीवाले प्रदेश में स्थित, सूर्य की किरणों एवं पवन से आहत अर्थात् स्पृष्ट तथा आन्दोलित जल भी दिव्य ( गांग-आन्तरिक्ष ) जल के समान होता है।

अब आचार्य पूर्वोक्त भूमिष्ठ जल के आठ प्रकार और उन के गुणों का वर्णन करते हैं।

कौपसारसताटाकचौण्ड्यप्रस्रवणोद्भिदम् ।
वापीनदीतोयमिति तत्पुनः स्मृतमष्टधा ।।
सक्षारं पित्तकृत्कौपं दीपनान्नातिवातलम् ।
सारसं स्वादु लघु च ताटाकं गुरु वातलम् ।।
चौण्ड्यं तु पित्तलं दोषहरं प्रास्रवणोदकम् ।
औद्भिदं स्वादु पित्तघ्नं स्वादु वापीजलं लघु ।।
नादेयं वातलं रूक्षं कटुकं च तदादिशेत् ।
धन्वानूपमहीध्राणां सामीप्याद् गुरुलाघवम् ।।

जल के आठ प्रकार—कौप अर्थात् कुंए से उत्पन्न हुआ, सारस ( सरोवर से पैदा हुआ ), ताटाक ( आकाश से बरस कर भूमि या तालाब में स्थित हुआ ), चौण्ड्य ( पर्वतादि में जो पाषाण के नीचे रहता है ), प्रास्रवण (पर्वत से झरनेवाला), औद्भिद ( भूमि से फव्वारे की तरह आकर वहीं स्थित रहने वाला[1] ), वापी ( बावड़ी ) का और नादेय अर्थात् नदी का इस प्रकार भूमिष्ठ ( भौम ) जल आठ प्रकार का कहा गया है। अब इन का क्रम से गुणवर्णन करते हैं।

कौप आदि अष्टविध जल के गुण—कौप अर्थात् कुएं का जल क्षार गुण युक्त और पित्तकारी होता है। सरोवर का अग्निदीपक होने से स्वल्प वायुकारी मधुर और हल्का, तालाब का भारी और वातकारी, पर्वत-शिलाओं के नीचे का पित्तकारी, पर्वत के झरने का त्रिदोषहर, भूमि में से स्वयं आकर स्थित रहने-वाला मधुर और पित्तहर, बावड़ी ( वापी ) का मधुर और हल्का तथा नदी का जल वातकारी रूक्ष और कटु रसवाला होता है, किन्तु कौपादि इन आठ ही प्रकार के जलों का गुरुत्व तथा लघुत्व-( भारी-और हल्कापन ) जांगलादि देश एवं पर्वतों के सामीप्य से स्वबुद्धि से जानना[2] चाहिये।

इस के अनन्तर आचार्य नदियों तथा समुद्र के जल का विशेष गुण वर्णन करते हैं।

पश्चिमोदधिगाः शीघ्रवहा याश्चामलोदकाः ।
पथ्याः समासात्ता नद्यो विपरीतास्ततोऽन्यथा ।।
उपलास्फालनाक्षेपविच्छेदैः खेदितोदकाः ।
हिमवन्मलयोद्भूताः पथ्यास्ता एव च स्थिताः[3] ।।
क्रिमिश्लीपदहृत्कण्ठशिरोरोगान् प्रकुर्वते ।
प्राच्यावन्त्यपरान्तोत्था दुर्नामानि महेन्द्रजाः ।।
प्रदरश्लीपदातङ्कान् सह्यविन्ध्यस्रवाः पुनः ।
कुष्ठपाण्डुशिरोरोगान् दोषघ्न्यः पारियात्रजाः ।।
बलपौरुषकारिण्यः सागराम्भस्त्रिदोषकृत् ।।

पश्चिमपूर्वोदधिगा नदियों के जल के गुण—समासात् ( संक्षेपतया ) कह सकते हैं कि जो नदियां पश्चिम-समुद्र की ओर जानेवाली ( बहनेवाली ), वेगवती और निर्मल जलवाली हैं वे पथ्या ( हितकारी जलवाली ) हैं, और इनके विपरीत पूर्व-समुद्र की ओर बहनेवाली अवेगवती तथा मलिन जलवाली नदियां अपथ्या ( अहितकारी जलवाली ) हैं। हिमालय तथा मलयपर्वत से उत्पन्न नदियां वे ही हितकारिणी हैं जिनका जल ऊपर से पत्थरों पर गिरने के कारण उछल कर इधर उधर ( इतस्ततः ) उड़ने से हल्का ( लघु ) हो जाता है। अन्यथा हिमालय मलयाचल की जो नदियां ( स्थिर ) रहनेवाली तथा न बहनेवाली हैं वे क्रिमि, श्लीपद ( हाथी पाँव ), हृद्रोग, कण्ठरोग और शिरोरोग करनेवाली हैं।

विशेष वक्तव्य—यहां वाग्भटाचार्य ने चरक तथा सुश्रुत के परस्पर विरोधी मत का, उनके कथन का संमान करते हुए समन्वय किया है। सारांश, चरक हिमालय और मलय पर्वत

१. गुणशब्दश्च भागपर्यायः, संख्यायाः गुणस्य समानेत्यादिना विभागो गुण इतीन्दुः।

२. अव्यक्तरसत्वम्-मूर्तमहाभूतस्वल्पत्वात् इदमपि दिव्यसदृशमितीन्दुः।

१. ताटाकम्-आन्तरिक्षात्पतित्वा भूमौ स्थितम्, पर्वतादौ पाषाणनिम्नस्थितमौद्भिदं भूमावुद्भिद्य तत्रैव तिष्ठतीतीन्दुः।

२. जाङ्गलादिदेशजान् यथायोगं लघून् गुरूंश्च जानीयादित्यर्थः, तत्र जाङ्गलदेशे कूपादीनां सप्तानां बहूदकसम्बन्धाभावाल्लघुत्वं ज्ञेयम्, आनूपे तु बहूदकसम्बन्धाद्गुरुत्वं वेद्यम्, शैले तूदकाल्पतया लघुतरत्वं वेद्यमित्यरुणदत्तः।

३. स्थिराः इत्यपि पाठः।

से निकलनेवाली नदियों को पथ्या एवं अमृतोपम जलवाली मानते हैं, किन्तु सुश्रुत इसके विपरीत हिमालय और मलय-पर्वत से निकलनेवाली नदियों को हृदय-शोथ क्रिमि आदि रोगों को उत्पन्न करनेवाली कहते हैं। इन दोनों मतों का समाधान वाग्भट ने चरक के मतानुसार स्पष्ट कर दिया है कि "हिमालय और मलयाचल से निकलनेवाली नदियां वस्तुतः क्रिमि-शोथ-हृद्रोगादिकारिणी होती हैं यदि उनका जल स्थिर हो अर्थात् न बहता हो। प्रत्युत इसके विपरीत जिनका जल वेग से बहता, ऊपर से पत्थरों पर गिरकर उछलता है वे नितान्त पथ्या ( हितकारिणी ) हैं।

पूर्ववाहिनी आदि नदियों के जल का गुण—प्राच्या ( पूर्व की ओर बहनेवाली ), अवन्ती ( उज्जैन-मालव देश ) तथैव अपरान्त अर्थात् कोंकण देश की नदियों का जल दुर्नाम (अर्शरोग) को करनेवाला होता है। महेन्द्र पर्वत से उत्पन्न नदियों का जल प्रदर और श्लीपदकारक, सह्याचल और विन्ध्याचल की नदियों का जल कुष्ठ, पाण्डु तथा शिरोरोग का करनेवाला होता है। विपरीत इनके पारियात्र पर्वत से निकलनेवाली नदियों का जल सर्व दोषों को दूर करनेवाला, बल और पुरुषार्थ का देनेवाला है। इनके अतिरिक्त समुद्र का जल त्रिदोषकृत् अर्थात् वात-पित्त-कफ इन तीनों दोषों का करनेवाला है।

विशेष वक्तव्य—"प्राच्यावन्त्यपरान्तोत्था[2]" आदि श्लोक का आशय स्पष्ट करते हुए अष्टांगसंग्रह तथा अष्टांगहृदय के व्याख्याता इन्दु और अरुणदत्त कहते हैं कि प्राच्य ( गौड़ ), अवन्ति ( मालव ) और अपरान्त ( कोंकण ) देश की नदियां अर्श ( बवासीर ) कारिणी होती हैं, परन्तु हेमाद्रि इस अर्थ को नहीं मानता। वह सुश्रुत के मतानुसार कहता है कि "अवन्ति देशके पूर्व और पश्चिम की ओर के पर्वतों से निकलने वाली नदियां अर्शरोगकारिणी होती हैं, न कि गौड़-मालव-कोंकण देश की नदियां। इसके अतिरिक्त यहां वाग्भटाचार्य ने सह्याद्रि, विन्ध्याचल व पारियात्र-पर्वतोत्पन्न नदियों के गुण-वर्णन में सुश्रुत का अनुवाद किया है।

तदनुसार पारियात्र पर्वत से उत्पन्न नदियों को त्रिदोष-हारिणी तथा बलवीर्य की बढानेवाली कहा है, परन्तु चरक स्पष्ट कहते हैं कि उक्त पारियात्रज नदियां शिरोरोग, हृद्रोग, कोढ़ और श्लीपद[4] की हेतु हैं। अतः यहां स्पष्ट विरोध[5] दिखाई देता है, किन्तु विश्वामित्र के कथनानुसार हेमाद्रि लिखता है, कि वस्तुतः यह विरोध नहीं है। पारियात्र से निकलनेवाली नदियां दो प्रकार की हैं अर्थात् तालावों और गुफाओं से निकलनेवाली इनमें पहिली तालावों से निकलनेवाली त्रिदोषघ्नी और दूसरी गुफाओं से उत्पन्न शिरोरोगादि करनेवाली हैं। अतः सुश्रुत का कथन यहां तालावों से निकलनेवाली नदियों से और चरक का गुफाओं से निकलनेवाली पारियात्र नामक पर्वत की नदियों से समझना चाहिये। चरक एवं सुश्रुत के टीकाकार चक्रपाणिदत्त तथा डल्लन ने भी उपर्युक्त विरोध का परिहार इसी प्रकार से किया है।

कीटाहिमूत्रविट्कोथतृणजालोत्करान्विलम् ।
पङ्कपङ्कजशैवालहत[1]पर्णादिसंस्तृतम् ॥
सूर्येन्दुपवनादृष्टं जुष्टं च क्षुद्रजन्तुभिः ।
अभिवृष्टं विवर्णं च कलुषं स्थूलफेनिलम् ॥
विरसं गन्धवत्तप्तं दन्तग्राह्यतिशैत्यतः ।
अनार्तवं च यद्दिव्यमार्तवं प्रथमं च यत् ॥
लूतादितन्तुविण्मूत्रविषसंश्लेषदूषितम् ।
तत्कुर्यात्स्नानपानाभ्यां तृष्णाध्मानोदरज्वरान् ॥
कासाग्निसादाभिष्यन्दकण्डूगण्डादिकानतः ।
तद्वर्जयेदभावे वा तोयस्यान्यस्य शस्यते ॥

नहीं पीने योग्य जल—कीट ( अनेक प्रकार के जन्तुओं ) तथा अहि ( सर्प ) के मूत्र से जो मलिन हो, इतना ही नहीं, जिसमें विष्ठा, कोथ[2] (मरे हुए शरीर का क्लेद) पड़ा हो, जिसमें सड़ी हुई घास पड़ी हो और जिसमें झाड़ू या बुहारी से साफ किया हुआ घर का उत्कर[3] ( कूड़ा कर्कट ) पड़ा हो, जो कीचड़ से युक्त हो, जिसमें कमल के पास जमा हुआ प्रचुर शैवाल हो, जिसमें अनेक वृक्षों की पत्तियां सड़ रही हों, अथवा हठ संज्ञक मूलरहिततृण[4]विशेष से व्याप्त हो, जिस पर सूर्य-चन्द्रमा का प्रकाश न पड़ता हो और जो वायु के स्पर्श से रहित हो, जिसमें अनेक क्षुद्र जन्तु ( क्रिमि ) पड़े हों, जो अभिवृष्ट अन्य बरसे हुए जल से मिश्रित तुरन्त का बरसा हुआ हो, विवर्ण अर्थात् जिसमें जल का असली वर्ण न हो, जो कलुष ( विष आदि के संपर्क से दूषित ) हो, जिस पर स्थूल फेन ( फेस ) आए हुए हों, जो विरस ( जल के स्वाद से रहित ) हो, जिसमें दुर्गन्ध हो, जो भौम जल सूर्य की किरणों से संतप्त हो, जो अतिशीतता के कारण दन्तग्राही ( दांतों को जकड़ कर कार्य-क्षम न रहने देनेवाला ) हो, जो दिव्य होते हुए भी वर्षा के सिवाय अन्य ऋतुका बरसा हुआ ( अनार्तव ) हो और जो आर्तव अर्थात् वर्षा ऋतुका बरसा हुआ होने पर भी प्रथम ही बरसा हो। इनके अतिरिक्त जो लूता ( मकड़ी ), तन्तु ( लम्बे कीड़ों ) से तथैव विष्ठा-मूत्र तथा विष के संयोग से

---

१. नद्यः पाषाणविच्छिन्नविक्षुब्धाभिहतोदकाः । हिमवत्प्रभवाः पथ्याः पुण्या देवर्षिसेविताः ॥ नद्यः पाषाणसिकतावाहिन्यो विमलोदकाः । मलयप्रभवा याश्च जलं तास्वमृतोपमम् ॥ इति चरकः । सुश्रुतस्तु–मलयप्रभवाः क्रिमीन् हिमवत्प्रभवा हृद्रोगश्वयथुशिरोरोगश्लीपदगलगण्डान् कुर्वते । इति ।

२. प्राच्यादिजा नद्यो दुर्नामानि–अर्शांसि कुर्वते, प्राच्याः–गौड़ाः। अवन्तयो–मालवाः, अपरान्ताः कोंकणाः । इतीन्द्वरुणौ । ३. प्राच्यावन्त्यपरान्तोत्था इति । उज्जयिन्युपलक्षिता देशा अवन्तयः । प्राच्याश्च ते अवन्तयश्च ते प्राच्यावन्त्यः, अपरे पश्चिमावन्तयः तेषामन्ताः मर्यादापर्वताः तेषु तिष्ठन्तीति तत्स्थाः । न तु प्राच्याः गौड़ा, अवन्तयो मालवाः, अपरान्ताः कोंकणाः, इति सुश्रुते—"प्राच्यावन्त्याः अपरावन्त्याश्चार्शांसि उपनिवर्तयन्ति" इति हेमाद्रिः ।

४. पारियात्रोद्भवाः याश्च याश्च विन्ध्यभवास्तथा शिरोहृद्रोगकुष्ठानां ताः हेतुः श्लीपदस्य च ॥ इति । ५. चरकेण पारियात्रजानां शिरोरोगादिकर्तृत्वमुक्तं, इह तु दोषत्रयहरत्वमिति विरोधः । मैवम् । द्विधा हि पारियात्रजाः, तड़ागजाः, दरीजाश्च तत्राद्या दोषघ्न्यः, अपराः शिरोरोगादिकर्त्र्यः। उक्तं हि विश्वामित्रेण–"तड़ागजं दरीजं च तड़ागाद्यत्सरिज्जलम् बलारोग्यकरं तत्स्यात्, दरीजं दोषलं मतम् । इति ।

१. हठपर्णादि, इतीन्दुसंमतपाठः । २. कोथो मृतशरीरक्लेदः । ३. उत्करो गृहादिमार्जनराशिः । ४. हठो निर्मूलोद्भवस्तृणविशेषः ।

दूषित हो, ऐसे जलको स्नान तथा पान ( पीने ) के काम में नहीं लाना चाहिए।

दूषित जल के पान और स्नान से हानि—उपर्युक्त अनेक प्रकार से दूषित जल का व्यवहार स्नान और पान में इसलिए नहीं करना चाहिए कि वह जल तृष्णा, आध्मान ( पेट का फलना ), प्लीह, यकृत् आदि आठों प्रकार के उदर, ज्वर, खांसी, अग्निमान्द्य, अभिष्यन्द, कण्डू ( खाज ) तथा गलगण्डादि फोड़े फुन्सियों का करनेवाला होता है।

शुद्ध जल के अभाव में शोधित जल का विधान—शुद्ध जल का अभाव ही हो तो "तोयस्यान्यस्य शस्यते" अर्थात् अन्य जल पीना चाहिए। भावार्थ यह है कि पूर्वोक्त दूषित जल को ही शुद्ध करके स्नानपानादिके काम में लाना चाहिए। इसी लिए आगे किस प्रकारके दूषित जल का संशोधन कैसे करना चाहिए यह बताया गया है।

घनवस्त्रपरिस्रावैः क्षुद्रजन्तवभिरक्षणम्।
व्यापन्नस्यास्य तपनमग्न्यर्कायसपिण्डकैः॥
पर्णीमूलविसग्रन्थिमुक्ताकतकशैवलैः ।
वस्त्रगोमेदकाभ्यां वा कारयेत्तत्प्रसादनम्॥
पाटलाकरवीरादिकुसुमैर्गन्धनाशनम् ।

दूषित जल संशोधनविधि—जल में क्षुद्र जन्तु पड़े हों तो उस को घनवस्त्र ( गाढ़े कपड़े ) से कई बार छान कर काममें लाना चाहिए। व्यापन्न ( पैच्छिल्यादि-युक्त ) जल हो तो उसे अग्नि द्वारा, सूर्यद्वारा अथवा लोहे के गोलेको तपाकर जल में बुझाने से तपे हुए जल को काम में लाना चाहिए। यदि जल मलिन हो तो उसे पर्णीमूल ( एरका पित्ती-दण्डेरक-पट्टेरकमूल[2] ) कमलनालकी ग्रन्थि, मोती, निर्मलीबीज, शैवल ( कच्छ या पद्मकाष्ठ[3] ) वस्त्रस्रावण ( वस्त्र से छानकर ) अथवा गोमेदक ( अंकोल[4] या गोमेदनामक रत्न ) इनमें से जो प्राप्त हो, उससे जल को प्रसादन ( साफ ) करके काम में लाना चाहिए। यदि जल में दुर्गन्धि हो तो उसको गुलाब-कनेर आदि पुष्पों से सुगन्धित करके स्नान-पानादि काम में लाना चाहिए।

पानीयं न तु पानीयं पानीयेऽन्यप्रदेशजे।
अजीर्णे क्वथितं चामे पक्वे जीर्णेऽपि नेतरत्॥
शीते विधिरयं तप्ते त्वजीर्णे शिशिरं त्यजेत्।

अजीर्ण में जलपानविधि—अन्य प्रदेशोत्पन्न जल के अजीर्ण में जलपान नहीं करना चाहिए। भावार्थ यह है कि अन्य प्रदेशोत्पन्न जल का जबतक पाचन न हो जाय तबतक विजातीय जल का पान नहीं करना चाहिए। यहां विजातीय या अन्य प्रदेशोत्पन्नका अर्थ जैसे कि कूप और तालाब का जल परस्पर विजातीय है। सारांश यह है कि कूपजल के अजीर्ण में जबतक वह ( कूपजल ) जीर्ण न हो जाय ( पच न जाय ) तबतक तालाब का जल नहीं पीना चाहिए। इसी प्रकार तालाब के जल के अजीर्ण में कौप ( कुंवे का ) जल नहीं पीना चाहिए। आम अर्थात् कच्चे जल के अजीर्ण में क्वथित ( उबाला हुआ ) जल नहीं पीना चाहिए। इसी प्रकार क्वथित जल के अजीर्ण में जबतक वह ( क्वथित जल ) जीर्ण न हो जाय तबतक आम ( कच्चा ) जल नहीं पीना चाहिए। इसमें जबतक भोजन न करले तब तक सजातीय जल भी नहीं पीना चाहिए। तप्त जल के अजीर्ण में जब तक वह जीर्ण न हो जाय तब तक शीतल ( ठंडा ) जल नहीं पीना चाहिए। परन्तु पक्व जल के जीर्ण हो जाने पर शीतल ( ठंडा ) जल पीना चाहिए।

पानीयं प्राणिनां प्राणा विश्वमेव च तन्मयम्।
अतोऽत्यन्तनिषेधेऽपि न क्वचिद्वारि वार्यते॥
आस्यशोषाङ्गसादाद्या[2] मृत्युर्वा तदलाभतः।
न हि तोयाद्विना वृत्तिः स्वस्थस्य व्याधितस्य वा॥

जल की नितान्त आवश्यकता—जल पर प्राणियों के प्राण अवलम्बित हैं क्योंकि जल सब के लिए आह्लादकारक है। इतना ही नहीं, समस्त स्थावर-जंगम जगद् जलमय है अतः अत्यन्त निषेध करनेपर भी कहीं जल का निवारण नहीं हो सकता। सच तो यह है कि जल के न मिलने पर मुखशोष ( मुंह का सूखना ) ही नहीं, शोष[3] ( क्षय ), शरीर का शिथिल होना अथवा जल के न मिलने से प्राणी मृत्यु के मुख में भी पड़ सकता है। इस लिए चाहे कोई स्वस्थ हो, चाहे रोगी, इन सब के लिए जल नितान्त आवश्यक वस्तु है। बिना जल के किसी का काम ही नहीं चल सकता।

केवलं सौषधं पक्वमाममुष्णं हितं च तत्।
समीक्ष्य मात्रया युक्तममृतं विषमन्यथा॥

जल का हिताहितकारित्व—जल केवल औषध के साथ क्वथित ( पक्व ), आम ( कच्चा ) और उष्ण ही क्यों न हो, वह हितकारी ही होता है। सारांश, बड़े विचार के साथ उपयुक्त मात्रा में जल का सेवन अमृत के समान होता है और वही, विना विचार के अनुपयुक्त मात्रा में सेवन कराया हुआ जल विष के समान होता है।

अतियोगेन सलिलं तृष्यतोऽपि प्रयोजितम्।
प्रयाति श्लेष्मपित्तत्वं ज्वरितस्य विशेषतः॥
वर्धयत्यामतृण्निद्रातन्द्राध्मानाङ्गगौरवम् ।
कासाग्निसादहृल्लासप्रसेकश्वासपीनसान् ॥

अधिक जलपान से हानि—यदि मनुष्य प्यासा भी हो, और वह जल अधिक पी जाय तो वह जल कफपित्तता को प्राप्त होता है अर्थात् उस में कफ और पित्त मिलकर कुपित होते हैं और ज्वरित ( ज्वरवाले ) मनुष्य के लिए तो विशेष कुपित होते हैं और वह अधिक पान किया हुआ जल शरीर

१. अन्यजलालाभे कृतसंस्कारं शस्यते। तमेव च संस्कारं दर्शयति घनवस्त्रपरिस्रावैरित्यादिः। २. पर्णीमूलमेरकामूलम्। एरका काश्मीरेषु पित्तीति, अन्यत्र दण्डेरक-पट्टेरकभेदेन प्रसिद्धम्। ३. 'शैवलं कच्छम्, इतीन्दुः, 'शैवलं पद्मकाष्ठम्, इति वैद्यकशब्दसिन्धुः ४. 'गोमेदकमङ्कोलकम्। मणिविशेषश्च, इत्यपीन्दुः।

१. सर्वं पानीयमन्यप्रदेशजे पानीये अजीर्णे न पानीयं न पेयमिति। तेनैतदुक्तं भवति विजातीये पानीये पीते तज्जरणान्तं यावद्विजातीयं पानीयं न पेयमिति। यथा कौपे ताटाकं ताटाके कौपमिति इन्दुः। २. तस्य शोषेत्यादि पाठान्तरम्। ३. तस्यैति पूर्वपाठसत्त्वात्।

में आम की वृद्धि कर के तृष्णा, निद्रा, तन्द्रा, आध्मान (अफारा), शरीर में जड़ता, खांसी, अग्निमान्द्य, उबकाई, लार टपकना, श्वास और पीनस रोग को करता है।

पाके स्वादु हिमं वीर्ये तदुष्णमपि योजितम्।
तस्मादयोगपानेन लाघवान्न वियोजयेत्॥

जल की सर्वथ उपयुक्तता—जल का विपाक मधुर होता है और वह शीतवीर्य है। इतना ही नहीं, उष्ण जल की योजना करने पर भी शीतवीर्यता के कारण जल अन्ततोगत्वा शीतवीर्य ही रहता है। इस लिए अयोगपान (अतिस्वल्पपान) करके भी जल के लाघव से वंचित नहीं रहना चाहिए। भावार्थ यह है कि स्वल्पातिस्वल्प पान ही क्यों न हो, जब तब जल के पान से लाभ उठाना चाहिए।

आमविष्टब्धयोः कोष्णं निष्पिपासोऽप्यपः पिबेत्।
यावन्त्यः क्लेदयन्त्यन्नमतिक्लेदोऽग्निनाशनः॥
विबद्धः कफवाताभ्यां मुक्तामाशयबन्धनः।
पच्यते क्षिप्रमाहारः कोष्णतोयद्रवीकृतः॥

कदुष्ण जल के गुण—आमाजीर्ण तथा विष्टब्धाजीर्ण इन दोनों में प्यास न रहते हुए भी मनुष्य को कोष्ण (नीम गरम) जल पीना चाहिए परन्तु मात्रा में इतना ही कोष्ण जल पीवे जिस से कफ और वायु से आमाशय में बद्ध अन्न का पिण्ड क्लेदित हो जाय। सारांश यह है कि मात्रा से अधिक इतना कदुष्ण जल नहीं पीना चाहिए जिससे अन्न का क्लेदन अधिकाधिक न हो जाय क्योंकि अतिक्लेद जठराग्नि का नाशक होता है। युक्तिपूर्वक पान किए हुए कोष्ण जल से कफवायु से विबद्ध आहार किए हुए अन्न का पिण्ड आमाशय से विमुक्त होता हुआ द्रवीभूत होकर बहुत जल्दी आहार को पचा देता है।

अनवस्थितदोषाग्नेर्व्याधिक्षीणबलस्य च।
नाल्पमप्यामुदकं हितं तद्धि त्रिदोषकृत्॥
तेजसः प्रतिपक्षत्वान्मन्दाग्निर्वर्जयेज्जलम्।
सर्वमेव तथा स्यन्दप्लीहविद्रधिगुल्मिनः॥
पाण्डूदरातिसारार्शोग्रहणीशोषशोफिनः।
काममल्पमशक्तौ तु पेयमौषधसंस्कृतम्॥
ऋते शरन्निदाघाभ्यां पिबेत्स्वस्थोऽपि चाल्पशः॥

कुछ के लिये जलपान का निषेध—जिसके वात-पित्त और कफ ये तीनों दोष तथैव जठराग्नि ये अनवस्थित हैं अर्थात् दोष और अग्नि की परिस्थिति एक सी नहीं है और जो रोग के कारण क्षीणबल हो गया हो तो उसको अल्प आमोदक (कच्चा जल) भी नहीं पीना चाहिए। जल अग्नि का प्रतिपक्षी (वैरी) होने से मन्दाग्निवाले को चाहिए कि वह जल न पीवे क्योंकि उसके लिए आमोदक (कच्चा जल) त्रिदोषकारक होता है। इसी प्रकार चाहे पका हुआ हो चाहे कच्चा जल हो, स्यन्द (नेत्राभिस्यन्द रोग, तिल्ली, विद्रधि, गुल्म, पांडु, उदररोग, अतिसार, अर्श, संग्रहणी, शोष (क्षय का भेद) और शोथ इन सब के रोगियों को नहीं पीना चाहिए। अशक्तावस्था में अधिक नहीं किन्तु स्वल्प जलपान करना चाहिए क्योंकि वैसी अवस्था में जल के न मिलने से प्राणों की धारणा असम्भव हो जाती है। परन्तु यह अल्प जल भी तत्तद्रोगनाशक ओषधियों के साथ परिपक्व (संस्कृत) किया हुआ पीना चाहिए। स्वस्थावस्था में भी शरद् और ग्रीष्म ऋतु को छोड़कर अन्य ऋतुओं में बारम्बार थोड़ा २ जल पीना चाहिए भावार्थ यह कि शरद् और ग्रीष्म इन दो ऋतुओं में जल यथेच्छ (पर्याप्त) पीना चाहिए।

भक्तस्यादौ जलं पीतमग्निसादं कृशाङ्गताम्।
अन्ते करोति स्थूलत्वमूर्ध्वं चामाशयात्कफम्॥
मध्ये मध्याङ्गतां साम्यं धातूनां जरणं सुखम्।

भोजन के आदि मध्यान्त में जलपान का फल—भोजन के आदि में पिया हुआ जल अग्निमान्द्य तथा शरीर में कृशता करनेवाला होता है। पूर्ण भोजन कर लेने के बाद पान किया हुआ जल शरीर में स्थूलता लाता है और आमाशय पर कफ की वृद्धि करता है। भोजन के मध्य का जलपान मध्याङ्गता (शरीर में न स्थूलता व न कृशता हो) करता है। सारांश शरीर को सुडौल रखता है, धातुओं (वात-पित्त-कफादि) में साम्यता लाता है अर्थात् 'रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता' इस वाक्य के अनुसार भोजन के मध्य में पिया हुआ जल शरीर में नीरोगता प्राप्त कराता है तथा किए हुए आहार को सुख से (बहुत जल्दी) पचाता है।

शीतं मदात्ययग्लानिमूर्च्छाच्छर्दिश्रमभ्रमान्।
तृष्णोष्णदाहपित्तास्रग्विषाणि च नियच्छति[1]॥

शीतल जल के गुण—शीतल जल मदात्यय, ग्लानि, मूर्च्छा, छर्दि, श्रम, भ्रम, तृष्णा, उष्णदाह (उष्णकाल से तथा उष्ण आहार आदि से उत्पन्न उष्णदाह), रक्तपित्त और विष की बाधाओं को नष्ट करता है।

क्षीणपादत्रिभागार्धं देशर्तुगुरुलाघवात्।
क्वथितं फेनरहितमवेगममलं हितम्॥
हिध्माध्मानानिलश्लेष्मतृट्कासश्वासपीनसे।
पार्श्वशूलामभेदस्सु सद्यःशुद्धौ नवज्वरे॥
दीपनं पाचनं कंठ्यं लघुवस्तिविशोधनम्॥

कथित जल के गुण—देश तथा ऋतु के अनुसार जल के गुरु-लाघव का विचार करके "क्षीणपादत्रिभागार्ध" जल को औटाना चाहिए अर्थात् औटाते हुए जल का एक भाग जलकर (चतुर्थांश कम होकर) शेष तीन भाग अथवा त्रिभाग तृतीयांश कम करके शेष दो भाग किंवा आधा भाग जलाकर शेष रहा हुआ आधा भाग इस प्रकार औटाया हुआ फेन या फेसरहित, अवेग (उफानरहित) निर्मल जल का सेवन हिचकी, आफरा (पेट का फूलना), वायु तथा कफ का

---

१. सर्वमेवादि पद्यद्वयमेतद्धेमाद्रिसंमतं नास्ति किन्त्वेतेषां स्थाने वक्ष्यमाणमग्रे सार्धं पद्यद्वयमस्ति। यथा—तोयं वह्निगुणभ्रष्टं पाकेऽम्लं सर्वदोषकृत्। भवेत्पर्युषितं तच्च तोयं तु करकोद्भवम्॥ अतिशैत्यगुरुस्थैर्यसंघातैः कफवातकृत्। चन्द्रकान्तभवं रक्षो विषपित्तज्वरापहम्। दृष्टिमेधावपुस्स्थैर्यकरं स्वादु हिमं लघु॥ इति।

१. उष्णेन कालेन उष्णेनाहारादिना च दाहः उष्णदाहः।

प्रकोप, तृष्णा, खांसी, पार्श्वशूल ( पसली की पीड़ा ), आमदोष, मेदोवृद्धि, तुरन्त का शुद्ध हुआ नवज्वर इन सब में हितकारी होता है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार का क्वथित जल जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला, आम को पचानेवाला, कण्ठ के स्वर को शुद्ध करनेवाला, हलका और वस्तिको विशोधन ( विशेषरूपेण शुद्ध करनेवाला ) होता है।

विशेष वक्तव्य – देश-ऋतु के अनुसार जहां जल का स्वल्प गुरुत्व हो वहां चौथाई भाग कम करके अर्थात् सेर का तीन पाव रखकर, जहां जल का अधिक गुरुत्व हो वहां सेर में तीसरा हिस्सा कम करके और जहां जल में अत्यन्त गुरुत्व हो वहां सेर का आधा शेष रखकर जल को काम में लाना चाहिए। क्वथित जल वस्तुतः तब जानना चाहिए जब औटाते हुए वह फेनरहित हो जाय[1]।

पाषाणरूप्यमृद्धेमजतुतापार्कतापितम् ।
पानीयमुष्णं शीतं वा त्रिदोषघ्नं तृडर्तिजित् ॥
लघ्वरूक्षं क्लमघ्नं च तोयं कथितशीतलम् ।
संसर्गे पित्तकफयोः सन्निपाते च शस्यते ॥
तोयं वह्निगुणभ्रष्टं पाकेऽम्लं सर्वदोषकृत् ।
भवेत्पर्युषितं तच्च ............... ॥

पाषाणादितापित जल के गुण—पत्थर, रूप्य ( रजत-चांदी ), मिट्टी, सोना और लाख, इनमें से किसी एक को तपाकर जल में बुझाने से जो उष्ण जल होता है अथवा जो धूप में रखकर सूर्य के ताप से उष्ण होता है, वह जल गरम या ठण्डा पीने से त्रिदोषनाशक तथा तृषा की पीडा को दूर करनेवाला होता है।

कथित शीतल जल के गुण—औटाकर ठण्डा किया हुआ जल हल्का, रूक्षता से रहित, ग्लानि को दूर करनेवाला, पित्त और कफ के संसर्ग में हितकारी तथा सन्निपात का नाश करता है।

कथितोष्णपर्युषित जल के दोष—औटाकर ठण्डा किया हुआ वासी ( जिस पर एक अहोरात्र बीत जाय वह ) जल अग्नि के लघुत्व-दीपनत्व आदि गुणों से रहित, पाक में खट्टा तथा सर्वदोषकृत् अर्थात् वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों को उत्पन्न करनेवाला होता है।

...............तोयं हिमकरोद्भवम् ।
अतिशैत्यगुरुस्थैर्यसंघातैः कफवातकृत् ॥
चन्द्रकान्तभवं रक्षोविषपित्तज्वरापहम् ।
दृष्टिमेधावपुस्स्थैर्यकरं स्वादु हिमं लघु ॥
नारिकेलोदकं स्निग्धं स्वादु वृष्यं हिमं लघु ।
तृष्णापित्तानिलहरं दीपनं वस्तिसाधनम् ॥
दिव्यं वारि वरं वर्षे नादेयमवरं परम् ॥

हिम जल के गुण—हिमकरोद्भव अर्थात् चन्द्रमा की शीतल किरणों से उत्पन्न हिमजल अर्थात् बरफ अतिशीतलता, गुरुता तथा स्थिरता के कारण कफ और वायु का करनेवाला होता है।

चन्द्रकान्त मणि के जल के गुण—चन्द्रकान्त मणि से उत्पन्न जल राक्षस, विष और पित्तज्वर का नाशकारक है। इतना ही नहीं, चन्द्रकान्तमणि का जल दृष्टि, मेधा ( बुद्धि ) तथा शरीर को स्थिर करनेवाला, मधुर, शीतल और हलका होता है।

नारिकेल जल के गुण—नारियल के भीतर का जल स्निग्ध ( सचिक्कण ), मधुर ( मीठा ), पुष्टि कारक, शीतल, हलका, प्यास-पित्त और वातनाशक, अग्निप्रदीपक तथा मूत्र को शुद्ध करता है।

वक्तव्य—कुछ पके हुए गीले नारियल के अन्दर के जल को नारिकेलोदक कहते हैं। कुछ सुश्रुत के अनुयायी नारियल के जल को गुरु कहते हैं। इसका कारण गुरुपाक बताते हैं परन्तु यहां तो गुरु लघुपाक की द्विविधा का अभाव होने से लघु ( हल्का ) मानना ही ठीक है क्योंकि नारिकेल का जल लघुगुणवाला[1] ही है।

वर्षाकालीन दिव्य और नदी-जल के गुण—वर्षाकाल का दिव्य ( आकाश से गिरते समय अधर से ग्रहण किया हुआ ) जल अत्यन्त पथ्य ( हितकारी ) है परन्तु वही नदी से ग्रहण किया हुआ नितान्त अपथ्य होता है। इति जलवर्ग।

जलवर्ग के अनन्तर अब आचार्य क्षीर ( दुग्ध ) वर्ग का उपक्रम करते हैं, इस लिए कि दूध और जल इन दोनों की सामान्य संज्ञा पय है। इतना ही नहीं, जल की तरह दूध भी सब के लिये आजन्म ( जन्म से लेकर मरणपर्यन्त ) सात्म्य है तथा जीवनीय गण और रसायनों में दूध अग्रेसर है, दही आदि का मूल कारण है।

## अथ क्षीरवर्गः।

स्वादुपाकरसं[3] स्निग्धमोजस्यं धातुवर्धनम् ।
वातपित्तहरं वृष्यं श्लेष्मलं गुरुशीतलम् ॥
प्रायः पयः............................ ।

सर्व सामान्य दूध के गुण—प्रायः सब प्रकार का दूध पाक तथा रस में मधुर ( मीठा ) है, स्निग्ध, ओजस्य ( रसरक्तादि समस्त धातुओं के सार ओज के लिए हितकारी ), धातुवर्धन

---

१. तच्चाम्बु हिध्मादिषु कथितं पेयम्। का कथनमात्रेत्यत्रोच्यते। देशर्तुगुरुलाघवं विकल्प्य क्षीणचतुर्भागं वा क्षीणत्रिभागं वा क्षीणार्धं वेति त्रिधा। तेनैतदुक्तं भवति। यत्कचिद्देशर्तौ वा स्वल्पेन गुरुत्वेन युक्तमुदकं तत्कथनेन क्षीणचतुर्भागम्। अधिकगुरौ क्षीणत्रिभागम्। अत्यन्तगुरौ अर्धक्षीणमिति। तच्च जलमग्निसंयोगेऽपि आफेनपरिक्षयादामं भवति। फेनरहितं तु कथितं भवति। उष्णमुदकं दीपनं आमदोषपाचनम्। इत्यादीन्दुः।

१. नारिकेलोदकं केचित् सुश्रुताध्यायिनो गुर्विति पठन्ति गुरुपाकत्वात्। इह तु गुरुलघुपाकद्वैविध्याभावाल्लघ्वित्येव पठनीयम्। इति हेमाद्रिः। २. परिशेषेभ्यो वर्गेभ्यः प्राग्बहुजनोपयोगितयोपकारित्वेनाजन्मसात्म्येन प्राधान्यात्पयः संज्ञासामान्यात्पयस इव जीवनादिगुणयोगाच्च तोयवर्गादनु क्षीरवर्गः प्रक्रम्यते। तत्रापि दध्यादीनां मूलकारणत्वात् क्षीरस्य प्रागुपादानम्। तथा जीवनीयानां रसायनानां चाग्रेसरत्वात्, इत्यरुणः। ३. गव्यं माहिषमाजं च कारभं स्त्रैणमाविकम्। ऐभमैकशफं चेति क्षीरमष्टविधं मतम्॥ पद्यमेतत्केषु प्रत्नपुस्तकेषु वर्तते प्रथमं तदनु 'स्वादुपाकरसमित्यादि।

अर्थात् रसरक्तादि समस्त धातुओं का बढ़ानेवाला, वायु और पित्त को हरनेवाला, वृष्य ( अतिशय वीर्य का बढ़ानेवाला ), कफकारक या कफ का बढानेवाला, भारी तथा शीतल ( ठंडा ) होता है।

विशेष वक्तव्य—यहां प्रायः का ग्रहण इस लिए है कि सभी प्रकार के दूध स्वादुपाकरस ( रस और पाक में मीठे ) नहीं होते, जैसे कि उष्ट्री ( सांडनी का ) दूध कुछ रूखा, उष्ण और नमकीन होता है। बकरी का दूध हलका, भेड़ का दूध उष्ण तथा एक खुरवाली ( घोड़ी गर्दभी आदि ) का दूध गरम, कुछ अम्लतायुक्त नमकीन होता है

·········अत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम्।
क्षतक्षीणहितं मेध्यं बल्यं स्तन्यकरं सरम् ॥
श्रमभ्रममदालक्ष्मीश्वासकासातितृट्क्षुधः ।
जीर्णज्वरं मूत्रकृच्छ्रं रक्तपित्तं च नाशयेत् ॥

गोदुग्ध के गुण—सब प्रकार के दूधों में गाय का दूध सर्वश्रेष्ठ माना गया है अतः सब से प्रथम उसका वर्णन करते हैं। गाय का दूध जीवनीय अर्थात् सौम्य धातु को बढानेवाला, रसायन ( वृद्धावस्था तथा व्याधिका नाशक ), उरःक्षत के रोगी के लिए तथा क्षीणधातुवाले को हितकारी, बुद्धिवर्धक, बल को देनेवाला, स्त्रियों के स्तन्य ( दूध ) को बढ़ानेवाला, समस्त शरीर में व्याप्त होनेवाला, श्रम-भ्रम-मदात्यय—अलक्ष्मी ( दरिद्रता )-श्वास-कास-अतितृषा-क्षुधा-जीर्णज्वर-मूत्रकृच्छ्र-रक्तपित्त, इन सब को नष्ट करनेवाला है।

हितमत्यग्न्यनिद्रेभ्यो गरीयो माहिषं हिमम् ।
अल्पाम्बुपानव्यायामकटुतिक्ताशनैर्लघु ॥
आजं शोषज्वरश्वासरक्तपित्तातिसारजित् ।
ईषद्रूक्षोष्णलवणमौष्ट्रकं दीपनं लघु ॥
शस्तं वातकफानाहकृमिशोफोदरार्शसाम् ।
मानुषं वातपित्तासृगभिघाताक्षिरोगजित् ॥
तर्पणाश्च्योतनैर्नस्यैरहृद्यं तूष्णमाविकम् ।
वातव्याधिहरं हिध्माश्वासपित्तकफप्रदम् ॥
हस्तिन्याः स्थैर्यकृद्गाढमुष्णं त्वैकशफं लघु ।
शाखावातहरं साम्ललवणं जडताकरम् ॥

महिषीदुग्ध के गुण—भैंस का दूध अत्यग्नि अर्थात् जिनकी जठराग्नि अत्यन्त प्रबल है तथा जिन को नींद नहीं आती हो, इन दोनों के लिए हितकारी ( पथ्य ) है और अन्य दूधों से गरीय ( विशेष भारी ) तथा हिम ( अतिशय शीतवीर्य ) है।

विशेष वक्तव्य—महिषीदुग्धविषय में चरक और सुश्रुत में कुछ विरोध दिखाई देता है। चरक के मत में "भैंस का दूध गोदुग्ध की अपेक्षा विशेष गुरु ( भारी ) अतिशीतवीर्य, स्नेह में न्यून, जिन को नींद न आती हो और जिनकी जठराग्नि प्रबल हो, इन दोनों के लिए हितकारी है।" सुश्रुत का कथन है कि—"भैंस का दूध गोदुग्ध की अपेक्षा अतिस्निग्ध, भारी, महाभिष्यन्दि ( अत्यन्त क्लेदक ), मीठा, जठराग्निनाशक तथा नींद लानेवाला है।" यहां चरक के कथनानुसार गोदुग्ध की अपेक्षा भैंस के दूध में स्नेहोनत्व हृद्यादि गुणविषयक है अर्थात् भैंस के दूध से उत्पन्न स्नेह से गाय के दूध से उत्पन्न स्नेह हृद्यादि गुणों में अधिक है। सुश्रुतोक्त स्नेह की अधिकता मात्राविषयक है अर्थात् जितने गाय के दूध से जितनी स्नेहप्राप्ति होती है, उतनी भैंस के दूध से नहीं होती। इसी लिए क्षारणादि ने गाय के दूध को उत्तम बताया है। सारांश, इस प्रकार से चरक-सुश्रुत में विरोध नहीं समझना चाहिए।

अजादुग्ध के गुण—बकरी स्वभाव से ही कम पानी पीनेवाली तथा व्यायाम करनेवाली अर्थात् प्रायः सदैव इधर-उधर घूमनेवाली, कटु और तिक्त ( चरपरा तथा कडुवा ) खानेवाली है, इस लिए बकरी का दूध हलका होता है और वह शोष ( क्षयविशेष ), ज्वर, श्वास, रक्तपित्त तथा अतीसार को जीतनेवाला अर्थात् नष्ट करनेवाला है।

विशेष वक्तव्य—ध्यान रहे कि यहां अल्प जलपान, व्यायाम और कटुतिक्ताशन के कारण बकरी का दूध लघु ( हलका ) होता है परन्तु विपरीत, इसके यदि बकरी देश-कालानुसार अधिक जल पीनेवाली, व्यायाम न करनेवाली एवं कटुतिक्त की जगह मधुरादि पदार्थों को खानेवाली है तो उसका दूध लघु की जगह गुरु भी हो सकता है। यही बात गाय आदि के विषय में समझ लेनी चाहिए। सारांश यह कि गाय आदि भी यदि बकरी की तरह अल्प जल पीनेवाली व्यायाम करनेवाली तथा कटु तिक्त खानेवाली हो तो उनका दूध भी गुरु की जगह लघु ( हल्का ) हो सकता है।

उष्ट्रीदुग्ध के गुण—ऊंटनी या सांडनी का दूध किंचित् रूखा, उष्ण और नमकीन होता है, इतना ही नहीं, उष्ट्री-दुग्ध अग्निप्रदीपक, हलका, वात-कफ-आनाह ( पेटका फूलना ) कृमि-शोथ-उदर ( प्लीहोदरादि ) तथा अर्श ( बवासीर ) में हितकारी औषध है।

स्त्रीदुग्ध के गुण—स्त्री ( मानुषी ) का दूध ( स्तन्य ) इसी स्थान में आगे कहे हुए तर्पण, आश्च्योतन तथा नस्यद्वारा वात, पित्त, रक्त और अभिघात ( चोट आदि ) से होनेवाले नेत्ररोगों का नाशक है।

वक्तव्य—यहां तर्पण का भावार्थ नेत्रों में ओषधि के भरने से

---

१. प्रायोग्रहणात्कदाचित्क्षीरं नैवं भवति। तथा चोष्ट्रीक्षीरमीषद्रूक्षोष्णलवणं पठ्यते। अजाक्षीरं च लघु। आविकमुष्णमैकशफमुष्णं साम्ललवणं चेति अरुणदत्तः।

१. महिषीणां गुरुतरं गव्याच्छीततरं पयः। स्नेहादूनमनिद्राणामत्यग्नीनां हितं च तत्॥, इति चरकः। सुश्रुतस्तु—"महाभिष्यन्दि मधुरं माहिषं वह्निनाशनम्। निद्राकरं शीततरं गव्यात्स्निग्धतरं गुरु॥" इति। तत्र चरकोक्तं—गव्यान्माहिषस्य स्नेहोनत्वं हृद्यादिगुणविषयम्, माहिषक्षीरजाद्गव्यक्षीरजः स्नेहो हृद्यादिभिर्गुणैरधिक इत्यर्थः। सुश्रुतोक्तं स्नेहाधिकत्वं मात्राविषयं यावतो गव्यात् क्षीराद्यावान् स्नेहस्तावतो माहिषान्न ततोऽधिकमित्यर्थः। अत एव क्षारणादिनोत्तमशब्दः प्रयुक्तः—गव्यं स्नेहोत्तमं क्षीरमित्यादि हेमाद्रिः।

२. यदा अजा अप्यव्यायामा गुर्वशनादि कुर्युस्तदा तासामप्यन्यथा क्षीरं भवेत्। एवं च गवादीनामप्याहारादिवशाद्गुरुलघुत्वं चिन्त्यम्, इतीन्दुः।

३. 'शस्तं वातादिषु पथ्यम्, इत्यरुणः। शस्तमौषधं इति हेमाद्रिः।

है। इसी प्रकार आश्च्योतन का नेत्रों में ओषधि ( स्त्रीदुग्ध ) के सेचन ( तरेडा देने ) से तथा नस्य ( नासिकाद्वारा स्त्री दूध के सूंघने ) से है। यहां तर्पण, आश्च्योतन नेत्ररोगों के विनाशार्थ बताए हैं और नस्य शिरोगत रोगों तथा वायु आदि दोषों के शमनार्थ है। इनके अतिरिक्त स्त्री का दूध पुरुष के लिए जीवन, बृंहण, सात्म्य और स्नेहन है, नस्य द्वारा रक्तपित्त को नष्ट करता है तथा तर्पणादि द्वारा नेत्र रोगों को दूर करता है।

भेड़के दूधके गुण—आविक अर्थात् भेड़ी का दूध अहृद्य ( हृदय को न भाने-वाला ), उष्णवीर्य, वातव्याधि को दूर करनेवाला है परन्तु हिचकी, श्वास, पित्त और कफ का करनेवाला है। यहां कुछ विरोधसा प्रतीत होता है। खारणादि का कथन है कि भेड़ का दूध मधुर, अम्लपाकी, स्निग्ध, उष्ण, भारी, पित्त और कफ का करनेवाला, पुष्टिकारक, हिचकी-श्वास और वायु को दूर करनेवाला है। मूल में "हिध्माश्वासपित्तकफप्रदम्" कहा है, यह स्पष्ट विरोध दिखाई दे रहा है। एक कहता है भेड़ी का दूध हिचकी-श्वास-पित्त और कफ को करता है, तो दूसरा हिचकी-श्वास और वायु को हरनेवाला बता रहा है। वस्तुतः यह विरोध नहीं, किन्तु केवल समझ का फेर है। सारांश यह है कि भेड़ी का दूध कफ और पित्त से उत्पन्न हिक्का-श्वास को करता है और वायु से उत्पन्न हिक्का श्वास को हरता है। सुश्रुत ने इस विषय में स्पष्ट कहा है कि—भेड़ी का दूध मधुर ( मीठा ), स्निग्ध, गुरु और कफ को करने वाला, किन्तु वायु से उत्पन्न रोगों में एवं वायुजन्य श्वास में पथ्य ( हितकारी ) है।

हस्तिनीदुग्ध के गुण—हथिनी का दूध स्थैर्यकृत् अर्थात् देह को अतिशय मजबूत ( दृढ करनेवाला ) है।

एकशफदुग्ध के गुण—एकशफ अर्थात् जिनके खुर में विभाग नहीं है, ऐसी घोड़ी-गधी आदि का दूध अतिशय उष्ण, हल्का, शाखा-वातहर ( बाहू-ऊरु आदिगत वात को हरनेवाला ), साम्ल लवण ( कुछ खट्टा तथा कुछ नमकीन ) और शरीर में जडता किं वा बुद्धिहीनता लानेवाला है।

पयोऽभिष्यन्दि गुर्वामं युक्त्या शृतमतोऽन्यथा ॥
( विना तु वनितास्तन्यमाममेव तु तद्धितम् )।
भवेद्गरीयोऽतिशृतं धारोष्णममृतोपमम् ॥

अपक्व-पक्वदुग्धके गुण—कच्चा दूध अभिष्यन्दि ( स्रोतःक्लेदक किंवा कफ को प्रकुपित करनेवाला ) होता है। इससे विपरीत युक्तिपूर्वक औटाया हुआ दूध जैसे कि आधा जल और आधा दूध औटाकर केवल दूध शेष रखा हुआ हल्का होता है। केवल निर्जल दूध को औटाकर दूसरा, तीसरा या चौथा भाग शेष रखा हुआ उत्तरोत्तर बलवान्, भारी किंवा बल्यतम ( अत्यन्त बलवान् ) होता है। स्त्री का दूध कच्चा ही हितकारी होता है। अत्यन्त औटाया हुआ दूध भारी होता है तथा धारोष्ण दूध अमृत के समान होता है।

विशेष वक्तव्य—यहां धारोष्ण दूध का अर्थ उस दूध से है जो गाय आदि को दुहते समय गरम गरम धाराओं से प्राप्त किया जाता है। कहा भी है कि—"धारोष्णमिति-दोहनेनोष्णधारया पतिते दुग्धे" किन्तु एक आचार्य के मत में धारोष्ण दूध वह है जिसके लिए मुख ही पात्र होता है अर्थात् गोस्तनको मुँहमें लेकर गरम गरम खींचकर पिया जाता है। धारोष्ण दूध में और भी अनेक गुण हैं। "अमृतोपमम्" का भावार्थ यह है कि—धारोष्ण दूध अमृत के समान होता है अर्थात् वह भ्रमहर ( चक्कर आते हों तो उनका शमन करता ) है, नींद न आती हो तो सुख की नींद लाता है, कान्तिप्रद ( मनुष्य के तेज को बढ़ानेवाला ) है, पुष्टिकारक, वजन को बढ़ानेवाला, जठराग्नि-प्रदीपक, अति स्वादु ( मीठा ) और त्रिदोष का नाशक है।

पिण्याकाम्लाशिनीनां तु गुर्वभिष्यन्दि तद्भृशम् ।
अचेष्टया च प्रादोषाद्गरीयः स्मृतमौषसम् ॥
व्याख्यातस्तेन लघिमा चेष्टावत्प्रकृतिष्वपि ।
स्वेपु चातिदेहेभ्यो मांसेष्वप्येवमादिशेत् ॥

खली आदि खानेवाली गायप्रभृति दुग्ध के गुण—तिल, अलसी आदि पदार्थों की खली एवं अम्लरसवाले पदार्थों की खाने वाली गाय-भैंस आदिका दूध अति गुरु और अति अभिष्यन्दि ( कफकारक-स्रोतःस्रावक ) होता है। सायंकाल के दूध से प्रातःकाल का दूध गरिष्ठ होता है इस लिए कि रात को दूध देनेवाली गाय, भैंस आदि अचेष्ट ( चलती फिरती नहीं ) अर्थात् बैठी रहती हैं। सायंकाल का दूध प्रातःकाल की अपेक्षा हलका रहता है, इस लिए कि उस समय दूध देनेवाले पशु जंगल से चलते-फिरते आते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि चेष्टावान् हरिण आदि के दूध में लघिमा ( हल्कापन ) होता है तो अचेष्टावाले सूअर आदि के दूध में भारीपन। यही

---

१. स्त्रैणगुणानाह—तर्पणं नेत्रपूरणम्। आश्च्योतनं नेत्रसेचनं ताभ्यामक्षिरोगान् जयति। नस्येन शिरोगतान्वातादींश्च। उक्तं हि चरकेण—"जीवनं बृंहणं सात्म्यं स्नेहनं मानुषं पयः। नावनं रक्तपित्तस्य तर्पणं चाक्षिरोगिणाम्, इति हेमाद्रिः।

२. खारणादिस्त्वाह—स्वाद्वम्लपाकं स्निग्धोष्णं गुरुपित्तकफोल्वणम्। आविकं बृंहणं क्षीरं हिक्काश्वासानिलापहम्॥ इति तत्र हिक्काश्वासौ कफपित्तजौ करोति, वातजौ हरतीत्यविरोधः। उक्तं हि सुश्रुतेन—आविकं मधुरं स्निग्धं गुरुपित्तकफावहम्। पथ्यं केवलवातेषु श्वासे चानिलसम्भवे॥ इति हेमाद्रिः। ३. हस्तिन्या इति—स्थैर्यकृत देहदाढर्यकृत्, बाढं अत्यर्थम्, इति हेमाद्रिः।

४. एकशफा—अविभागखरा वडवागर्दभ्यादयः। शाखा बाह्वो-रोगमार्गः। साम्ललवणं—ईषदम्लमीषल्लवणम्। जडता—प्रज्ञाहीनत्वम्" इति हेमाद्रिः। "शाखासु—बाहूरुप्रभृतिषु यो वातः, तं हरतीति शाखावातहरम्। साम्ललवणं—ईषदम्लमीषल्लवणं च। तथा—जडताकरम्—अङ्गजाड्यकरणहेतुः" इत्यरुणदत्तः। इन्दुस्तु, जाड्यं—स्तैमित्यमिति वदति।

१. कंसान्तर्गतपद्यार्धमेतन्मोहमयीमुद्रितेऽष्टाङ्गसंग्रहमूलग्रन्थे अधिकमस्ति किन्तु नास्तीन्दुटीकापुस्तके।

२. युक्त्याशृतमिति। युक्तिरुक्ता खारणादिना—"अर्धोदकं क्षीरशिष्टमामाल्लघुतरं शृतम्। स्यान्निर्जलं शृतं द्वित्रिचतुरष्टांशशेषितम्। यथा शृततमं सारं गुरु बल्यतमं पयः" इति हेमाद्रिः।

३. 'धारोष्णममृतं पयो भ्रमहरं निद्राकरं कान्तिदं वृष्यं बृंहणमग्निवर्धनमतिस्वादु त्रिदोषापहम्॥" इति राजनिघण्टुः।

बात मोटे शरीरवालों की अपेक्षा छोटे शरीरवाले लघ्वाहारी ( कम खानेवाले ) पशुओं के मांसविषय में भी जानना चाहिये।

अब दूध के अनन्तर दही आदि के गुणों का निरूपण करते हैं, इसलिए कि दध्यादि दूध के ही विकार हैं।

अम्लपाकरसं ग्राहि गुरूष्णं दधि वातजित् ।
मेदःशुक्रबलश्लेष्मपित्तरक्ताग्निशोफकृत् ॥
रोचिष्णु शस्तमरुचौ शीतके विषमज्वरे ।
पीनसे मूत्रकृच्छ्रे च रूक्षं तु ग्रहणीगदे ॥
नैवाद्यान्निशि नैवोष्णं वसन्तोष्णशरत्सु न ।
नामुद्गसूपं नाक्षौद्रं नाघृतं नासितोपलम् ॥
न चानामलकं नापि नित्यं नो मन्दमन्यथा ।
ज्वरासृक्पित्तवीसर्पकुष्ठपाण्डुभ्रमप्रदम् ॥

दही के गुण—सभी प्रकार का दही प्रायः अम्ल-विपाकी, अम्लरसवाला, स्तम्भनकर्ता ग्राही, ( पतले मल को बांधनेवाला ), गुरु, उष्ण, वायु को जीतनेवाला, मेद-वीर्य-बल-कफ-पित्त-रक्त-अग्नि और शोथ को करनेवाला, रुचिकारक ( अरुचि में रुचिप्रद ), शीतपूर्वक विषमज्वर, पीनस तथा मूत्रकृच्छ्र में हितकारी है। रूक्ष अर्थात् जिसमें से घृत निकाल लिया हो ऐसा दही संग्रहणी रोगों में पथ्य है। रात में तपाकर गरम किया हुआ उष्ण दही तो बिलकुल न खावे। इसी प्रकार वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतु में भी दही न खावे।

यदि खाना ही हो तो मूंग की दाल, शहद, घृतमिश्री और आंवले के साथ खावे। दही नित्यप्रति न खावे और न अधजमा हुआ दही भी खावे क्योंकि विधिविहीन दही के खाने से ज्वर, रक्तपित्त, विसर्प, कोढ़, पाण्डु और भ्रमरोग को पैदा करनेवाला होता है।

वक्तव्य—यहां अम्लपाक रस, स्निग्ध, गुरु और उष्ण होने से ही दही को वातजित् कहा है। वातजित् होने से ही दही उसी शीत-विषमज्वर में पथ्य है जो केवल वात से होता है, न कि वातपित्तसंसर्गी वात से। पीनस ४ प्रकार का है किन्तु दही वाताधिक पीनस में ही पथ्य समझना चाहिये, इसलिए कि पीनस की शान्ति परिपाक से होती है और यह परिपाकता दही में उष्णता से ध्वनित होती है अतः रात्रि में ही दही वर्ज्य है, दिन में नहीं। जैसे वायुजन्य रक्तपित्त में तीतर आदि के मांस रस की उष्णता गूलर आदि के रस से शान्त की जाती है, उसी प्रकार मूंग की दाल आदि से दही के खाने से दही का दोष नष्ट होता है। दही जैसे रुचिकारक पदार्थ के लिए कहा गया है कि इसे नित्यप्रति नहीं खाना चाहिये और वसंत ग्रीष्म-शरद् ऋतुओं में तो खाना ही न चाहिये, तथापि मनुष्य दही खाता ही है। इसलिए दही के अवगुणों का नाशक घृतमिश्री का संयोग सदा के लिए थोड़े में कहा गया है और विशेषतः किसी भी ऋतु में दही खाना हो तो वह शहद या मूंग की दाल के साथ खावे क्योंकि ये पदार्थ भी दधिगत अवगुणों के नाशक हैं जैसे कि वात के रक्तपित्त में तीतरमांस रसादि की उष्णता के नाशक गूलर आदि का रस होता है। 'नैवाद्यान्निशि नैवोष्णम्' इसमें के एव शब्द से वस्तुतः दही के चार प्रकार मुख्य माने हैं यथा—अत्यम्ल, अम्ल, मधुर और मन्दक इनमें से प्रथम तीन का आशय तो स्पष्ट दिखाई दे रहा है, चौथा मन्दक दही वह है जिसमें पूरा न जमने से कुछ भी अम्लता नहीं आई हो अथवा दुग्धभाव पूरा नष्ट न हुआ हो। सारांश, जो पूरा नहीं जमा हो।

यहां आचार्य ने शुक्र और बलकारी कहते हुए भी दही को दीपन ( अग्निकृत् ) कहा है सो ठीक प्रतीत नहीं होता इसलिए कि शुक्र एवं बलकारी पदार्थ प्रायः गुरु अर्थात् भारी होते हैं। इसी प्रकार अम्लपाकरस कहकर भी दधि को शुक्रकृत् कहा है सो भी अम्लरस के शुक्रनाशक होने से कैसे हो सकता है ? इन शंकाओं का समाधान यही है कि अम्ल एवं उष्णवीर्य होने से दही अग्निकृत् ( दीपन ) है और अम्लरस होते हुए भी स्निग्ध-बृंहण-वातघ्न और बल्य होने से दही शुक्रकृत् सिद्ध है।

दधि के गुणों के अनन्तर अब आचार्य तक्र ( छाछ ) और मस्तु के गुणों का वर्णन करते हैं। यथा—

तक्रं लघु कषायाम्लं दीपनं कफवातजित् ।
शोफोदरार्शोग्रहणीदोषमूत्रग्रहारुचीः ॥
गुल्मप्लीहघृतव्यापद्गरपाण्ड्वामयान् जयेत् ।
तद्वन्मस्तु सरं स्रोतश्शोधि विष्टम्भजिल्लघु ॥

तक्र के गुण—तक्र लघु हल्का, कसैला, खट्टा, अग्निदीपन-

---

१. "चेष्टास्वभावेषु हरिणादिषु लघु। अचेष्टास्वभावेषु सूकरादिषु गुरु। अतिदेहान्महाभोगशरीरानपेक्ष्य स्वल्पाभोगशरीरेषु लघु पयः। न केवलं पयस्सु यावन्मांसेष्वपि चेष्टास्वल्पत्वबृहत्वविशेषेण गुरुलाघवं विज्ञेयम्" इतीन्दुः। २. "यतो ग्रहण्यां रूक्षं उद्धृतसारमुद्दिष्टम्। नैवोष्णमग्न्यादितापात्तप्तम्"। इत्यरुणदत्तः।

३. "शीतक इति विषमज्वरविशेषणम्। शीतकारित्वं तु वाते श्लेष्मणि तत्संसर्गे च यद्यपि त्रितये सम्भवति, तथापि वातजिद्वातज एव विषमज्वरे 'दधि' प्रयोज्यम्। न संसर्गे वा वातोल्वणे।

४. पीनसे शस्तमिति कथं विशेषेणोक्तम्। यतः चत्वारः पीनसा वातपित्तकफसन्निपातजा इति। तत्र दध्नो वाताधिक एव युक्तत्वं न शेषेषु। अत्र संचक्ष्महे। परिपाकात् पीनस-शान्तिः, परिपाककरं च दध्युष्णत्वात्। अन्यतमेऽप्यन्यतावपि मुद्गसूपादीनामन्यतमेन रहितं न भोज्यम्। तत्र घृतसितोपलयोः समासेनैव तयोरेव पथ्यत्वमिच्छन्ति। मुद्गसूपादीनां तु मिश्री-भावो दध्ना जन्यमानस्य दोषस्य प्रतिवधार्थं कल्प्यते, रक्तपित्तवत् यथा समीरोल्वणेऽस्रपित्ते तित्तिर्यादीनामौष्ण्यमुदुम्बरादिरसेन प्रतिबध्यते। नैवाद्यान्निशि नैवोष्णमित्येवकाराच्चात्यन्तिकनिषेधाद्दिवा भुञ्जीतेत्यर्थादवगम्यते।" इत्याद्यरुणदत्तः।

१. "मन्दम्—अजातम्" इतीन्दुः। "असम्यग्निष्पन्नम् ( दधि )" इति हेमाद्रिः। २. "ननु शुक्रकृत्वबलवर्धनत्वादीपनमनुपपन्नम्। शुक्रकृद्बलवर्धनानि हि द्रव्याणि प्रायेण गुरूणि भवन्ति। अतो दध्येवंगुणं सत्कथमग्निकृत्स्यात्। अत्राचक्ष्महे—अम्लत्वादुष्णवीर्यत्वाच्च युक्तमेव यतो रसविपाकाभ्यामम्लं वीर्योष्णं च दध्यतोऽग्निकृत्वमस्मिन्नुपपन्नमिति। ननु शुक्रकरत्वं दध्नो न युक्तं, यतोऽम्लपाकरसं दधीत्यधीतमाचार्येणाम्लश्च शुक्रनाशनस्तस्माच्छुक्रत्वमयुक्तम्। अत्राचक्ष्महे—स्निग्धत्वबृंहणत्ववातघ्नत्वबल्यत्वैः शुक्रकृत्वमुपपन्नमेव।" इत्यरुणदत्तः।

कर्ता, कफवातजित् अर्थात् कफ और वायु का नाशक है। इसके अतिरिक्त छाछ ( तक्र ) शोथ ( सूजन ), आठों प्रकार के उदर, अर्श, संग्रहणी, सूत्रावरोध, अरुचि, गुल्म ( वायगोला ), प्लीह ( तापतिल्ली ), घृत के अतिसेवन से होने वाले रोग, कृत्रिम विष और पाण्डुरोग इन सबको जीतने वाला है।

विशेष वक्तव्य– मथे हुए दही का नाम तक्र है, सो भी सजल एवं निर्जल भेद से दो प्रकार का है। सजल तक्र के भी सस्नेह ( चिकनाईसहित ) और अस्नेह ( चिकनाईरहित ) ऐसे दो भेद हैं। उपर्युक्त गुण अस्नेह अर्थात् जिस में से चिकनाई निकाल ली गई हो ऐसे तक्र के हैं। इस अस्नेह तक्र की अपेक्षा गुरु होने से सस्नेह ( चिकनाईसहित ) तक्र के गुण न्यून और इससे भी न्यून गुण निर्जल तक्र के समझने चाहिये।

तक्र के समान ही मस्तु अर्थात् जमे हुए दही के ऊपर के जल ( द्रवभाग ) के गुण हैं किन्तु छाछ की अपेक्षा मस्तु दस्तावर, स्रोतों को शुद्ध करनेवाला और विष्टम्भ ( अफारा ) को दूर करनेवाला है। भगवान् श्री धन्वन्तरि तक्र की विशद रूप से व्याख्या करते हुए सुश्रुत से कहते हैं कि 'मधुर-अम्ल, तुवर रसवाला शुद्ध तक्र वही है जिसके दही की चिकनाई मन्थनादि द्वारा दूर करदी गई हो और जिसमें आधा जल हो और जो न अतिगाढ़ा हो और न अति पतला ही हो। ऐसा तक्र ही मधुर, अम्ल, कषायानुरस, उष्णवीर्य, हल्का, रूक्ष, अग्निदीपक, कृत्रिम विष-सूजन-अतीसार-संग्रहणी-पाण्डु--अर्श--प्लीह--गुल्म-अरोचक—विषमज्वर-तृष्णा-छर्दि, प्रसेक ( मुख से लारटपकना ), शूल, मेद, कफ और वात के रोग इन सब का हरण करनेवाला, मधुर-विपाकी, हृदय के लिए हितकारी, मूत्रकृच्छ्र, घृतादि-चिकनाई-जन्यरोगों को नाश करनेवाला तथा अवृष्य अर्थात् वीर्य को उत्पन्न नहीं करनेवाला है।

तक्र के गुणों की तरह मस्तु के गुणों का भी विशेष वर्णन सुश्रुत में पाया जाता है। सुश्रुत के मत से मस्तु (दही का तोड़) तृष्णा, तथा ग्लानि को दूर करनेवाला, लघु, स्रोतों को शुद्ध करनेवाला, अम्ल, कषायानुरस, अवृष्य, कफवात को जीतने वाला, आल्हादकर, तृप्ति कर, शीघ्र ही मल को भेदन करनेवाला, भोजन में रुचिप्रद और शीघ्र ही बल को देनेवाला है।[3]

निघण्टुकारों के मत में द्विगुण जल मिश्रित दही का नाम मस्तु है और वह उष्ण, अम्ल, रुचिकारक, पाचक, क्रिमिघ्न, बलप्रद, कसैला, दस्तावर, भूख को लगानेवाला, तृष्णा-उदर-प्लीह और अर्श इन सब रोगों का नाशक, स्रोतों को शुद्ध करनेवाला, कफवातनाशक, विष्टम्भ ( पेट का फूलना-मल का अवरोध ) और शूल को हरनेवाला, पाण्डु, श्वास, गुल्म, को शमन करनेवाला और लघु है।

तक्र के बाद नवनीत अर्थात् मक्खन की उत्पत्ति होती है इस लिए अब आचार्य नवनीत ( मक्खन ) के गुणों का वर्णन करते हुए उसमें प्रथम ताजा मक्खन के गुणों को कह कर चिरकालज नवनीतज गुणों को भी बताते हैं।

शीतं स्वादु कषायाम्लं नवनीतं नवोद्धृतम् ।
यक्ष्मार्शोऽर्दितपित्तासृग्वातजिद्ग्राहि दीपनम् ।
क्षीरोद्भवं तु संग्राहि, रक्तपित्ताक्षिरोगजित् ॥

ताजा मक्खन के गुण—नवोद्धृत अर्थात् ताजा निकाला हुआ मक्खन शीतवीर्य, मधुर, कसैला और अम्लरसवाला है। नवनीत राजयक्ष्मा ( क्षय ), अर्श, अर्दित, पित्तरक्त (रक्तपित्त) तथा वायुरोगों को जीतनेवाला, ग्राही ( मल को बांधनेवाला) और जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला है। दूध ही से मथकर निकाला हुआ मक्खन मल को बांधता, रक्तपित्त और नेत्ररोगों को दूर करता है।

इन गुणों के अतिरिक्त सुश्रुत के मत से ताजा मक्खन लघु, देहसौकुमार्यकर, मेध्य, हृद्य, वृष्य, दाहशमन, कास-श्वास-व्रण और शोष (क्षय) हर्ता भी है। इसके विपरीत चिरोत्थित ( चिरकाल के बासे मक्खन को वह गुरु, कफ और मेद को बढ़ानेवाला, बलकारी, बृंहण, शोषघ्न तथा बालकों के लिए विशेष हितकारी कहता है। इसी प्रकार दूधसे निकाले हुए मक्खन को उत्कृष्ट स्नेह, माधुर्यसहित, अतिशीत, सौकुमार्यकर और वर्णप्रसादन भी कहता है।

मक्खन से ही तपाकर घी निकाला जाता है। इस लिए आचार्य अब क्रमप्राप्त घृत के गुणों को कहते हैं-यथा—

शस्तं धीस्मृतिमेधाग्निबलायुश्शुक्रचक्षुषाम् ।
बालवृद्धप्रजाकान्तिसौकुमार्यस्वरार्थिनाम् ॥
क्षतक्षीणपरीसर्पशस्त्राग्निग्लपितात्मनाम् ।
वातपित्तविषोन्मादशोषालक्ष्मीज्वरापहम् ॥

---

१. "मथितं दधि तक्रं, तद्विविधं सजलं निर्जलं च। सजलं द्विविधं सस्नेहमस्नेहं च। तत्रास्नेहस्यैते गुणाः। सस्नेहस्य गौरवात्किञ्चिदूनाः। निर्जलस्य ततोऽप्यूनाः। सुजातस्य दध्नो द्रवभागो मस्तु" इति हेमाद्रिः।

२. "मन्थनादिपृथग्भूतस्नेहमर्धोदकं च यत्। नातिसान्द्रद्रवं तक्रं स्वाद्वम्लं तुवरं रसे" इति, "तक्रं तु मधुरमम्लं कषायानुरसमुष्णवीर्यं लघु रूक्षमग्निदीपनं गरशोफातिसारग्रहणीपाण्डुरोगार्शःप्लीहगुल्मारोचकविषमज्वरतृष्णाच्छर्दिप्रसेकशूलमेदःश्लेष्मानिलहरं मधुरविपाकं हृद्यं मूत्रकृच्छ्रस्नेहव्यापत्प्रशमनमवृष्यं चेति।

३. तृष्णाक्लमहरं मस्तु लघु स्रोतोविशोधनम्। अम्लं कषायं मधुरमवृष्यं कफवातनुत् ॥ प्रह्लादनं प्रीणनं च भिनत्त्याशु मलं च तत्। बलमावहते क्षिप्रं भक्तच्छन्दं करोति च ॥ इति।

१. उक्तं दधि द्विगुणवारियुतं तु मस्तु।, तद्गुणाः-उष्णाम्लं रुचिपक्तिदं क्रिमिहरं बल्यं कषायं सरं भुक्तच्छेदकरं तृषोदरगदप्लीहार्शसां नाशनम्। स्रोतश्शुद्धिकरं कफानिलहरं विष्टम्भशूलापहं पाण्डुश्वासविकारगुल्मशमनं मस्तु प्रशस्तं लघु ॥ इति राजनिघण्टुः।

२. 'नवनीतं पुनः सद्यस्कं लघु सुकुमारं मधुरं कषायमीषदम्लं शीतलं मेध्यं दीपनं हृद्यं संग्राहि पित्तानिलहरं वृष्यमविदाहि क्षयकासश्वासव्रणशोषार्शोऽर्दितापहम्, चिरोत्थितं गुरु कफमेदोविवर्धनं बलकरं बृंहणं शोषघ्नं विशेषेण बालानां प्रशस्यते ॥

क्षीरोत्थं पुनर्नवनीतमुत्कृष्टस्नेहमाधुर्ययुक्तमतिशीतं सौकुमार्यकरं चक्षुष्यं संग्राहि रक्तपित्तनेत्ररोगहरं प्रसादनं च ॥ इति।

स्नेहानामुत्तमं शीतं वयसः स्थापनं परम् ।
सहस्रवीर्यं विधिभिर्घृतं कर्मसहस्रकृत ॥

घृत के गुण—ताजा घी बुद्धि ( उपदिष्ट विषय को तत्काल ग्रहण करना ), बीती हुई बात की स्मरण-शक्ति, मेधा, ( उपलब्ध ज्ञान की सदैव उपस्थिति ), जाठराग्नि, बल, आयु, वीर्य, नेत्र, बाल, वृद्ध, सन्तति, कान्ति, सुकुमारता-सुस्वर इन सब में हितकारी तथैव क्षतक्षीण-विसर्प-शस्त्राघात तथा अग्नि से जलने पर ग्लानि, इन सब के लिए भी हितकारी अर्थात् श्रेष्ठ है। इन के अतिरिक्त घृत वात-पित्त-विष-उन्माद-शोष ( क्षय ), दारिद्र्य और जीर्णज्वर को दूर करनेवाला है। सभी प्रकार के घृत-तैल-चर्बी आदि स्नेहों में घृत उत्तम होने से वह शीतल और वय का स्थापन-कर्ता ( बुढ़ापा न आने देकर आयुष्य को सदैव स्थिर रखने वाला ), अनेक प्रकार के द्रव्यों के संयोग से अनेक प्रकार की शक्ति देनेवाला है।

विशेष-वक्तव्य—सुश्रुत के मत से घृत मधुर, सौम्य, मृदु, शीतवीर्य, थोड़ा अभिष्यन्दि, स्नेहन, उदावर्त-उन्माद-अपस्मार-शूल-ज्वर-आनाह और वात-पित्त को शमन करनेवाला, जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला, स्मृति-बुद्धि-मेधा-कान्ति-स्वर-लावण्य-सुकुमारता-ओज-तेज एवं बल का बढ़ानेवाला, आयु-वर्धक-वृष्य, मेध्य, वयःस्थापन-कर्ता, गुरु, चक्षुष्य ( नेत्रों के लिये हितकारी ), कफाभि-वर्धन, पाप और अलक्ष्मीहर, विष तथा राक्षसों के भय को दूर करनेवाला है। इतना ही नहीं, सुश्रुत ने गाय, बकरी, भैंस, उष्ट्री, भेड़, घोड़ी, गधी, स्त्री तथा हस्तिनी आदि के घृत के गुण अलग अलग विशद रूप से बताये हैं। इस लिए देखिये सुश्रुत सूत्रस्थान के अध्याय ४५ श्लोक ९७ से १०६ तक। आधुनिक नव्य मत से घृत में केवल मेद ही रहता है।

अब आगे आचार्य पुराने घृत के विशेष गुणों का कथन करते हैं।

मदापस्मार-मूर्च्छाय-शिरः-कर्णाक्षियोनिजान् ।
पुराणं जयति व्याधीन् व्रणशोधनरोपणम् ॥
पूर्वोक्तांश्चाधिकान् कुर्याद्गुणांस्तदमृतोपमम् ।
तद्वच्च घृतमण्डोऽपि रूक्षस्तीक्ष्णस्तनुश्च सः ॥

पुराने घृत के गुण—घृत के पूर्वोक्त सामान्य गुणों को करता है पुराना घृत उस से भी अधिक गुणकारी है अर्थात् वह मदात्यय, मृगी, मूर्च्छा, शिरो-रोग, कर्ण-रोग, नेत्र और योनिरोगों का नाश करता है तथा दुष्टव्रणों के पैच्छिल्यादि दोषों का शोधनकर उन्हें रोपण करता है और वह अमृत के तुल्य होता है।

विशेष-वक्तव्य—पुराने घृत के विषय में प्राचीन आचार्यों और टीकाकारों के मत भिन्न भिन्न पाये जाते हैं। कोई एक वर्ष के ऊपर के घृत को पुराना कहते हैं तो कोई लाक्षारस के समान लाल पड़े हुए उग्रगन्धवाले दस वर्ष के पुराने घी को टंडा और पुराण घृत कहते हैं। उसी को कोई कौम्भ घृत कहते हैं। इस से अधिक पुराने को प्रपुराण घृत कहते हैं। कोई बहुत काल के रहे हुए या पन्द्रह साल से भी अधिक पुराने को पुराण घृत कहते हैं। भगवान् धन्वन्तरि के मत में १११ वर्ष पुराना घृत कुम्भ-घृत है और रक्षोघ्न अर्थात् राक्षसों का नाशक है। इससे भी पुराने को वे महाघृत कहते हैं। वह वाताधिक्यप्रकृतिवाले प्राणियों के पीने योग्य और कफ-नाशक होता है। हारीत के मत में घृत जितना पुराना हो उतना ही अधिक गुणकारी है।

घृतमण्ड के गुण—घृतमण्ड ( पिघले हुए घृत के ऊपर के घनीभूत भाग ) के गुण भी घृत के ही समान हैं और पुराण घृत की तरह यह भी अपनी तीक्ष्णता-रूक्षता और लघुता कर के अमृतोपम है।

घृत के गुणों के अनन्तर अब आचार्य दूध के कीलाटादि अन्य विकारों आदि के गुणों का भी वर्णन करते हैं।

कीलाटदधिकूर्चीकातक्रपिण्डकमोरटाः ।
सक्षीर-शाक-पीयूषा रोचना वह्निसादनाः ॥
शुक्रनिद्राकफकरा विष्टम्भिगुरुदोषलाः ।
विद्याद्दधिघृतादीनां गुणदोषान् यथा पयः ॥
गव्ये क्षीरघृते श्रेष्ठे निन्दिते चाविसम्भवे ।

कीलाट ( दही या छांछ के साथ पाक किये हुए दूध का अधिक या छाछ के साथ पाक किये हुए अल्प दूध का अलग किया हुआ घन भाग ), दधिकूर्चीका ( दही या छाछ के साथ पाक किये हुए दूध का मिला हुआ घन और द्रव भाग ), तक्रपिण्डक ( गाढ़े वस्त्र में बांधे हुए तक्र का स्वयं द्रवभाग चूकर शेष बचा हुआ पिण्डीभूत भाग ), मोरट या मोरण ( दही या छाछ के साथ पाक करने से दूध के बने हुए घन और द्रव में से अलग किया हुआ द्रवभाग ), क्षीरशाक ( दधि या तक्र के साथ मिलाये हुए दूध का बिना पाक किये निष्पन्न घन और द्रवभाग ), पीयूष ( प्रसूति दिन से ७ वें दिन तक का गोदुग्ध या प्रसूति-दिन से लेकर जब तक मलिन और गाढ़ा बना रहे ऐसा गाय का दूध ) ये सब रुचिकारक,

१. घृतं तु मधुरं सौम्यं मृदु शीतवीर्यमल्पाभिष्यन्दि स्नेहनमुदावर्तोन्मादापस्मारशूलज्वरानाहवातपित्तप्रशमनमग्निदीपनं स्मृतिमतिमेधाकान्तिस्वरलावण्यसौकुमार्य्यौजस्तेजोबलकरमायुष्यं वृष्यं मेध्यं वयस्स्थापनं गुरु चक्षुष्यं श्लेष्माभिवर्धनं पाप्मालक्ष्मीप्रशमनं विषहरं रक्षोघ्नं च ॥ इति।

२. शोधनं दुष्टव्रणानाम्, रोपणं शुद्धानाम्॥ इति हेमाद्रिः।

१. "वर्षादूर्ध्वं भवेदाज्यं पुराणम् इति भावमिश्रः। दशवर्षोषितं पुराणम्। उक्तं च—उग्रगन्धं पुराणं स्याद्दशवर्षस्थितं घृतम्। लाक्षारसनिभं शीतं प्रपुराणमतः परम्॥ इति हेमाद्रिः। 'कौम्भं दशाब्दिकम्, इति चक्रपाणिदत्तः। "पुराणं-अतीवबहुकालं पञ्चदशादिवर्षस्थितम्। इत्यरुणः। एकादश शतं चैव वत्सरानुषितं घृतम्। रक्षोघ्नं कुम्भसर्पिस्यात्परतस्तु महाघृतम्॥ पेयं महाघृतं भूतैः कफघ्नं पवनाधिकैरिति। "यथा यथा जरां याति गुणवत्स्यात्तथातथा" इति हारीतः।

२. दध्ना तक्रेण वा सह पाकात्पृथग्भूतं घनद्रवभागं क्षीरं कूर्चिका सैव पाकाद्विना क्षीरशाकः। तयोर्घनभागः पृथगुद्धृतः—किलाटः द्रवभागो मोरणः॥ इति हेमाद्रिः। "किलाटः अल्पक्षीरेण बहुना तक्रेण कृतः।" इत्यरुणदत्तः। घनवस्त्रबद्धं स्वयं स्रुतद्रवभागं तक्रं तक्रपिण्डकः।

अग्निमांद्य करनेवाले, वीर्य, निद्रा और कफ के कर्ता, मलावरोधक, भारी और दोषकारक ( आम के संचय करनेवाले ) न कि वातपित्त के करनेवाले हैं।

सामान्यतः जो गुण दुग्ध के हैं वे ही दधि और घृतादि के जानने चाहिये। यदि वर्गीकरण से देखा जाय तो गाय का दूध और घी श्रेष्ठ है तथैव भेड़ का दूध और घी निन्दित है। गाय और भेड़ के इस दूध-घृत के श्रेष्ठत्व और अधमत्व से यह स्वतः सिद्ध होता है कि इनके अतिरिक्त अन्य पशु आदि के घृत और दुग्ध मध्यम हैं। इति क्षीरवर्गः।

अथ इक्षुवर्गः।

द्रव-द्रव्य-प्रसङ्गवशात् अब आचार्य इक्षुवर्ग का आरम्भ करते हैं।

इक्षोः सरो गुरुः स्निग्धो बृंहणः कफमूत्रकृत्।
बृष्यः शीतः पवन-जिद्भुक्ते वातप्रकोपनः॥
रक्तपित्तप्रशमनः स्वादुपाकरसो रसः।
सोऽग्रे सलवणो दन्तपीडितः शर्करासमः॥
मूलाग्रजन्तुजग्धादिपीडनान्मलसंकरात्।
किञ्चित्कालविधृत्या च विकृतिं याति यान्त्रिकः॥
विदाही गुरुविष्टम्भी तेनासौ…………॥

ईखरस के गुण—इक्षु (ईख या गन्ने) का रस दस्तावर, भारी, स्निग्ध, पुष्टिकारक, कफ और मूत्र को पैदा करनेवाला, वीर्यवर्द्धक, ठंडा, वायुनाशक किन्तु सेवन करने के बाद वातप्रकोपक, रक्तपित्तशामक तथा मधुररसविपाकी है। वही अग्रभाग अर्थात् ईख के पर्वों के आदि-अन्त भाग का रस कुछ नमकीन होता है। दांतों करके तोड़कर चूसा हुआ ईख रस शर्करा के समान ( दाहादिशामक ) होता है।

पूर्वोक्त गुणवाला होते हुए भी मूल एवं अग्रभागसहित, जन्तुओं करके भक्षित ( दूषित ), कोल्हू आदि यन्त्र के मलसहित, पीड़नकर यन्त्र से निकाला हुआ, निकालने के अनन्तर कुछ काल तक रखा हुआ ईख का रस विकार को प्राप्त होता है, अर्थात् वह गरिष्ठ ( भारी ) हो जाने के कारण जल्दी नहीं पचकर विदाही होता है। इतना ही नहीं, विकार को प्राप्त हुआ गन्ने का रस पूर्वोक्त गुणों के विपरीत गुणोंवाला अर्थात् विदाही, गुरु और विष्टम्भी हो जाता है।

………… …………तत्र पौण्ड्रकः।
शैत्यप्रसादमाधुर्याद्वरस्तमनु-वांशिकः।
शातपर्वककान्तार-नैपालाद्यास्ततः क्रमात्॥
सक्षाराः सकषायाश्च सोष्णाः किञ्चिद्विदाहिनः।

पौण्ड्रकादि ईख के गुण—ईख कई प्रकार का होता है। इन सबमें ठंडा, निर्मल और मधुर रसवाला होने के कारण पौण्ड्रक ( सफेद गन्ना ) श्रेष्ठ है। उसकी अपेक्षा वांशिक ( नीले रंग वाला ) गन्ना कुछ हीन गुणवाला है और शातपर्वक ( जिसमें बहुत से छोटे छोटे पर्व हैं ) कान्तार ( जंगली ) नैपाल आदि नाम के गन्ने कुछ नमकीन, कुछ कसैले और कुछ उष्णता लिए विदाही रहते हैं।

विशेष वक्तव्य सुश्रुत में इससे भी अधिक अर्थात् ईख की १२ जातियां उनके गुणों के साथ वर्णन की हैं परन्तु ग्रन्थविस्तारभय से हम उनका वर्णन यहां नहीं करना चाहते। पाठक सुश्रुत सूत्रस्थान के अध्याय ४५ में देख सकते हैं। ईख-रस के गुणों का वर्णन करने के अनन्तर अब आचार्य उसके पांच विकार फाणित, गुड, मत्स्यण्डी, खांड और शर्करा के गुणों का क्रम से वर्णन करते हैं।

फाणितं गुर्वभिष्यन्दि चयकृन्मूत्रशोधनम्।
नातिश्लेष्मकरो धौतः सृष्टमूत्रशकृद्गुडः॥
प्रभूतकृमिमज्जासृग्मेदोमांसकफोऽपरः।
हृद्यः पुराणः पथ्यश्च, नवः श्लेष्माग्निसादकृत्॥
वृष्याः क्षीणक्षतहिता रक्तपित्तानिलापहाः।
मत्स्यण्डिकाखण्डसिताः क्रमेण गुणवत्तमाः॥

फाणितगुडशर्करादि के गुण—फाणित अर्थात् ईख के रस की राब या मैल को न निकालते हुए औटा कर उसका बनाया हुआ क्षुद्र गुड़ अति गुरु अभिष्यन्दि ( कफवर्धक-क्लेदक ), तीनों दोषों का सञ्चय करनेवाला, मूत्रशोधन अर्थात् मूत्रल होता है।

संस्कार कर के निर्मल तैयार किया हुआ गुड़ कुछ कफकारक, मूत्र और मलको विसर्जन करनेवाला अर्थात् अनुलोमन करनेवाला है। इसके विपरीत मलसहित गुड़ क्रिमि, मज्जा, रक्त, मेद, मांस और कफदोषों को बढ़ानेवाला है।

पुराना गुड़ हृदय के लिए हितकारी और स्वस्थ मनुष्य के लिए पथ्य है। नया ( तुरन्त तैयार किया हुआ ) गुड़ कफकारक एवं अग्निमांद्य करनेवाला है। मत्स्यण्डिका ( सुस्ती या कड़कड़ खांड़ ), खांड ( शर्करा ), सिता ( मिश्री ) ये तीनों वृष्य ( मनको हर्षित करनेवाली या ओज को बढ़ानेवाली ), क्षतक्षीण ( घावके लगने से थके हुए ) को हित कारिणी, रक्तपित्त एवं वायु को हरने वाली हैं। क्रमसे इनके ये गुण अधिकाधिक समझने चाहिये अर्थात् वृष्यत्वादि गुणों में मत्स्य-

---

इति हेमाद्रिः। "पीयूषः सद्यः प्रसूतायाः गोः क्षीरं सताहं यावत्।" इति डल्हनः। "क्षीरं सद्यः प्रसूतायाः पीयूषमिति संज्ञितम्। सप्तरात्रात्परं क्षीरमप्रसन्नं च मोरणम्। इति तन्त्रान्तरे।" "प्रसूतिदिनादारभ्य यावन्मलिनघनं क्षीरं तावत्पीयूषम्।" "दोषलाः-आमसञ्चयकारिणः। दोषशब्देनात्र आमो ग्राह्यः। सदोषशब्दं च शकृद्द्रवं सृजति वेगवत् इत्यादिवत् नतु वातादयः।" इति हेमाद्रिः।

१. "अग्रशब्देनेक्षोस्तत्पर्वणां चाद्यन्तभागौ। सलवणः, ईषल्लवणः" इति हेमाद्रिः। २. "न द्रागेव जरां याति गुरुत्वादथवा वस्तुस्वभावात्, स विदाहगुणयुक्तो भावो भण्यते" इत्यरुणदत्तः।

१. पौण्ड्रकं श्वेतेक्षुः, वंशिको नीलेक्षुः, शतपर्वको ह्रस्वबहुपर्वः। सक्षारा ईषल्लवणा इति हेमाद्रिः। ते च शतपर्वकादयः ईषत्क्षारत्वेन युक्ता ईषत्कषायरसा ईषदुष्णाः किञ्चिद्विदाहिनश्च। इत्यरुणदत्तः।

२. फाणितं क्षुद्रगुडीभूतं इक्षुरसः। गुरु अतिशयेनेत्यर्थाद्धेयम्। गुरुत्वमात्रस्येक्षुरसेऽप्युक्तत्वात्। इत्यरुणः। "चयकृत्-विशेषाग्रहणात् त्रयाणां दोषाणाम्" इति हेमाद्रिः। "मूत्रशोधनं-मूत्रमति वाहयति" इति इन्दुः।

३. 'मनसो हर्षणं यच्च तत्सर्वं वृष्यमुच्यते, इति तन्त्रान्तरे। 'स्वस्थस्यौजस्करं यच्च तद्वृष्यम्, इति चरकः।

ण्डिका से खांड और खांड से भी अधिक गुणवाली मिश्री को समझना चाहिये।

शर्कराप्रसङ्गवशात् अब आचार्य यवासशर्करा, मधु और मधुशर्करा आदि के गुणों का भी कथन कर देते हैं।

तद्गुणा तिक्तमधुरा कषाया यासशर्करा ।
त्रिदोषघ्नी सिता कासेषुदर्भच्छदसम्भवा ॥
दाहतृट्च्छर्दिमूर्च्छासृक्पित्तघ्न्यः सर्वशर्कराः ।
शर्करेक्षुविकाराणां फाणितं च वरावरे ॥
चक्षुष्यं छेदि तृट्श्लेष्मविषहिध्मास्रपित्तनुत् ।
कुष्ठमेहक्रिमिच्छर्दिश्वासकासातिसारजित् ॥
व्रणशोधनसंधानरोपणं वातलं मधु ।
रूक्षं कषायमधुरं तत्तुल्या मधुशर्करा ॥
उष्णमुष्णार्तमुष्णे च युक्तं चोष्णैर्निहन्ति तत् ।
विषान्वयत्वेन विषपुष्पेभ्योऽपि यतो मधु ॥
कुर्वते ते स्वयं यच्च सविषा भ्रमरादयः ।
प्रच्छर्दने निरूहे च मधूष्णं न निवार्यते ॥
अलब्धपाकमाश्वेव तयोर्यस्मान्निवर्तते ।
गुरुरूक्षकषायत्वाच्छैत्याच्चाल्पं हितं मधु ॥
न हि कष्टतमं किञ्चित्तदजीर्णाद्यतो नरम् ।
उपक्रमविरोधित्वात्सद्यो हन्याद्यथा विषम् ॥
नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु ।
वृष्ययोगैरतो युक्तं वृषतामनुवर्तते ॥
भ्रामरं पौत्तिकं क्षौद्रं माक्षिकं च यथोत्तरम् ।
वरं जीर्णं च तेष्वन्त्ये द्वे एव ह्युपयोजयेत् ॥

यवासशर्करा के गुण—शर्करा के समानगुणवाली होते हुए भी यवासशर्करा तिक्त, मधुर और कषाय रसवाली है। राजपूताना में जवासा ( दुरालभा ) का क्षुप बहुतायत से होता है। यह ऊंट का प्रिय चारा है। यवासशर्करा को यूनानीवाले शीरखिस्त कहते हैं। डल्लन, अरुणदत्त एवं हेमाद्रि लिखते हैं कि-कुछ लोग कहते हैं कि यह ईखरस की तरह जवासा के स्वरस को घनीभूत करके बनाई जाती है। परन्तु यह ठीक नहीं है। वस्तुतः यवासशर्करा जवासा का निर्यास ( गोंद ) है। निघण्टुकार इसे अतिमधुरा, पित्त, श्रम, तृष्णा, मूर्च्छा, दाह और भ्रमको दूर करनेवाली, वृष्या और मृदुरेचनी मानते हैं। गर्भवती, बालक, वृद्ध एवं थके हुए को इसे रेचनार्थ देना अच्छा मानते हैं।

काशादिशर्करा के गुण—काश, शर और दर्भपत्रसे तैयार की हुई शर्करा त्रिदोष को हरनेवाली है। इसके अतिरिक्त सभी प्रकार की शर्करा दाह, तृष्णा, वमन, मूर्च्छा और रक्तपित्त को दूर करती हैं।

सिता और फाणित की श्रेष्ठाश्रेष्ठता—ईख रस के फाणित, गुड़, मत्स्यण्डिका, खण्ड, और सिता इन सब विकारों में तारतम्य से देखा जाय तो सिता ( मिश्री ) सबसे श्रेष्ठ तथा फाणित अश्रेष्ठ है।

मधु के और मधुशर्करा के गुण—मधु ( शहद ) नेत्रों के लिए हितकारी, छेदि अर्थात् शरीर के बाहर तथा भीतर के एकत्रित या पिण्डीभूत कफादि भावों को छिन्न भिन्न करनेवाला,[1] तृषा, कफ, विष, हिक्का और रक्तपित्त का नाशक है तथैव कोढ़, प्रमेह, क्रिमि, वमन, श्वास, कास और अतीसार को जीतनेवाला है। व्रणों को शोधन-कर्ता ( व्रणगत दुष्ट पीप आदि का निकालने वाला ), संधान और रोपणकर्ता अर्थात् व्रणगत पीप आदि के निकालने, दो व्रणों को या टूटे भागों को जोड़ने या एक करने तथैव व्रणों को पूरण कर उनमें अंकुर लानेवाला है। इतना ही नहीं, मधु, वात-कारक, रूक्ष, कषाय तथा मधुर रस वाला है और उससे बनी मधुशर्करा भी उसी मधु के समान गुणवाली है।

उपर्युक्त गुण प्राकृतिक शीतल मधु के हैं। ध्यान रहे कि मधु ( शहद ) को गरम करके नहीं सेवन करना चाहिये, क्यों कि उष्णकाल में उष्णता से पीड़ित मनुष्य को उष्ण पदार्थों के साथ दिया हुआ उष्ण मधु मार डालता है। इस लिए कि स्वयं विषैले ऐसे भ्रमरादि विषपुष्पों से भी मधु तैयार करते हैं अतः वह विषान्वयी ( विषवशज ) है। इस प्रकार उष्ण मधु का निषेध कर के अब इस का अपवाद भी कहते हैं कि—

वमन तथा निरुहवस्तिमें उष्ण मधु का निषेध नहीं है अर्थात् वमन एवं निरूह वस्तिमें उष्ण मधु का ही प्रयोग करना चाहिये क्योंकि प्रयुक्त किया हुआ वह मधु पाक न होकर बहुत जल्दी बाहर आ जाता है।

गुरु, रूक्ष, कषाय और ठण्डा होने के कारण शरीर के अर्थ मधु अल्प-हितकारी ( पथ्य ) है। मधु का अजीर्ण नितान्त भयङ्कर होता है, इसी लिए कहते हैं-"नहि कष्टतमं किञ्चित्तदजीर्णात्" उसके अजीर्ण से बढ़ कर और कोई कष्ट देनेवाला नहीं है क्यों कि उपक्रम-विरोधी होने से शहद का अजीर्ण विष की तरह मनुष्य को बहुत जल्दी मार डालता है। अजीर्ण में उष्णोदक पान का विधान है, परन्तु मधु उष्णसंसर्ग से विषकी तरह मारक होता है। अतः मधु के साथ शीत क्रिया ही ठीक होती है परन्तु अजीर्ण में वही ( शीत क्रिया ) अपथ्या होती है। इस प्रकार मधु के अजीर्ण में उपक्रम-विरोध आता है और वह मनुष्य को विष की तरह मार देता है।

मधु नानाद्रव्यात्मक होने से श्रेष्ठ योगवाही है। इसी लिए वृष्ययोगों के साथ प्रयुक्त किया हुआ वह वृषता को देता है।

भ्रामर—( भ्रमरों द्वारा संचित ), पौत्तिक ( अन्नज मक्षिकाओं द्वारा संचित ), क्षौद्र ( छोटी २ पीली मक्खियों द्वारा संचित ) और माक्षिक ( जंगली कपिला स्थूल मक्षिकाओं द्वारा संचित ) इस प्रकार मधु चार जातियो में विभक्त है।

---

१. "अतिमधुरा पित्तघ्नी श्रमघ्नी तृष्णाघ्नी वृष्या सरा मूर्च्छादाहाभ्रमहरा चेति" राजनिघण्टुः। नार्याश्चापन्नसत्त्वायाः दुर्बलस्य तथा शिशोः। रेचनार्थं प्रयोज्येयं क्षीणस्य स्थविरस्य च ॥ इति वैद्यनिघण्टुः।

[1] छेदि–उभयथाश्रोतनव्रणलेपादावुपयुक्तम्, तथाभ्यवहारविषयेऽपि तैक्ष्ण्याद्यो देहे पिण्डितान् भावान् छिनत्ति विभनक्ति। इत्यरुणः। यत्संहतान् कफादीन् विश्लेषयति तच्छेदि। शोधनं–दुष्टपूयादिनिर्हरणम्। सन्धानम्-विच्छिन्नास्थ्यादिसंश्लेषकम्। रोपणं–क्षीणमांसादिवर्धनम्। इति ॥

परन्तु राजनिघण्टुकार तथा सुश्रुत मधु की आठ जाति मानते हैं। इनमें भ्रामर से पौत्तिक, पौत्तिक से क्षौद्र और क्षौद्र से माक्षिक उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। इनमें भी जीर्ण मधु श्रेष्ठ है तथापि इनमें से अन्त के दो अर्थात् क्षौद्र और माक्षिक का ही उपयोग करना चाहिये। इसके आगे हेमाद्रि-संमत पाठ (मण्डः पुराणो विशदस्तीक्ष्णो रूक्षो लघुस्तनुः) में कहा है कि पुराना मण्ड निर्मल, तीक्ष्ण, रूक्ष, हल्का और सूक्ष्म है। "भ्रामरं पौत्तिकं क्षौद्रं माक्षिकं च यथोत्तरम्" इसके आगे हेमाद्रिसंमत पाठ में लिखा है कि "भ्रामर मधु श्वेत, पौत्तिक घृतवत्, क्षौद्र पीले रंग का और माक्षिक तैल की तरह होता है। भ्रामर विशेषतः गुरु, अभिष्यन्दि, स्वादु और तृप्तिकारक है। क्षौद्र कुछ तिक्तता लिए मधुर, हल्का, रूक्ष और विशोधन है। पौत्तिक रूक्ष, उष्ण, रक्तपित्त और दाह-शामक है। माक्षिक सब में श्रेष्ठ, नेत्र रोग नाशक है, कामला-अर्श-उरःक्षत-श्वास-कास-क्षयहर्ता और लघु है।"[२]

विशेष वक्तव्य—यहां नानाद्रव्यात्मक होने से मधु को परम योगवाहि माना है परन्तु योगवाहि द्रव्य के विषय में विद्वानों में बड़ा विवाद है।[१] कुछ लोगों का कहना है कि जो द्रव्य अन्य किसी द्रव्य से मिलने पर अपने स्वभाव को छोड़ देता है और जिस द्रव्य का साथ करता है उसी के स्वभाव वाला हो जाता है वह योगवाही है। यदि इस प्रकार योगवाहित्व का निश्चय किया जाता है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि इसमें तो योगवाही द्रव्य का उपयोग ही निरर्थक हो जाता है जैसे कि योगवाही द्रव्य को छोड़ कर जिस स्वभाव वाला द्रव्य पहिले था वही स्वभाव योगवाही द्रव्य के योग से रहता है। कुछ लोगों का कहना है कि "वह द्रव्य योगवाही है जो दूसरे द्रव्य में युक्त होकर उसकी शक्ति को बढ़ाता है" यह भी ठीक नहीं है क्योंकि समस्वभाववाले ऐसे कई द्रव्य हैं जो दूसरे द्रव्य में समस्वभावता से मिलकर शक्ति को बढ़ाते हैं, वे सबके सब योगवाही हो जायेंगे। कुछ लोगों का मत है कि "वह द्रव्य योगवाही है जो अपने से भिन्न गुणवाले द्रव्य में युक्त होकर उसके गुणों को बढ़ाता है"। उसी के गुणोंवाला बनकर उससे अविरुद्ध ऐसे अपने कार्य को भी कुछ करता है जैसे कि सेवक स्वामी के कार्यों को न छोड़ता हुआ कुछ अपना भी शरीरयात्रादि कार्य कर लेता है। वैसे ही मधु मैनफल से युक्त होकर उसके वमन कार्य को करता है किन्तु अपने वमन-निवारण-कार्य को नहीं करता। इसी प्रकार मधु हरीतकी से युक्त होकर विरेचन कार्य को करता है न कि अपना स्तम्भन रूप कार्य। यह भी ठीक नहीं। देखा जाता है कि योगवाही द्रव्य निशोथ और मैनफल में मिलकर विरेचन और वमन दोनों कार्यों को करता है। यह नहीं, कि विरेचन ही करता है और वमन नहीं करता, अथवा वमन ही करता है, विरेचन नहीं। इससे सिद्ध है कि योगवाहित्व शक्ति जिसे योगवाही कहा है, उसी द्रव्य की है, न कि वह जिनके साथ मिलता है उन द्रव्यों की।

यहां वाग्भट और सुश्रुत का भी मधु के विषय में विरोध दिखाई देता है। वाग्भट इसे वातल कहते हैं और सुश्रुत त्रिदोष-प्रशमन कहते हैं परन्तु विषयभेद से देखा जाय तो यह विरोध नहीं है। अर्थात् जहां मधु और वायु दोनों शुद्ध हैं वहां मधु को वातल समझना चाहिये। जहां वातनाशक द्रव्यों से मिश्रित मधु हो और पित्तादि मिश्रित वायु हो तो वहां दोनों के योगवाही होने से मधु को वातघ्न मानना चाहिये। पित्तश्लेष्मघ्न कहकर त्रिदोष-प्रशमन कहनेवाले सुश्रुत का भाव शुद्ध पित्त और कफ से है और वायु का इनसे मिश्रित होने से क्योंकि मिश्रित वायु को ही मधु नाश करता है। चरक ने मधु को गुरु कहा है और सुश्रुत ने लघु परन्तु

---

१. "पौत्तिकं भ्रामरं क्षौद्रं माक्षिकं छात्रमेव च। आर्घ्यमौद्दालकं दालमित्यष्टौ मधुजातयः॥ इति। एतेषां भावार्थो यथा, पौत्तिकमित्यादि। पिङ्गला महत्यो मक्षिकाः पुत्तिकास्तद्भवं पौत्तिकम्। 'अन्ये मशकोपमा मक्षिकाः कृष्णवर्णाः पुत्तिकाः, इति वदन्ति। भ्रमराः प्रसिद्धाः तद्भवं भ्रामरम्। मक्षिकाः पिङ्गला एव स्वल्पाः क्षुद्राः, तद्भवं क्षौद्रम्। पिङ्गलवर्णा महत्यो मक्षिकास्तद्भवं माक्षिकम्। अन्ये 'अत्यल्पा मक्षिकाः इत्याहुः। पीतकपिङ्गला 'बग' इति लोके यत्कुर्वन्ति छत्रकाकारं हैमवते वने मालववने च तच्छात्रम्। मधूकवृक्षपुष्पेभ्योजरत्कार्वाश्रमोद्भवाः। स्रवन्त्यार्घ्यं मधु प्राहुः श्वेतकं मालवे जनाः॥ तीक्ष्णतुण्डास्तु याः पीतवर्णाः षट्पदसन्निभाः। अर्घा नाम च तद्भूतमार्घ्यमित्यपरे जगुः॥ इत्याद्यवलोकनीया डल्लनटीका सुश्रुते।

२. "वरं स्याद्भ्रामरं शुक्लं घृतवर्णं तु पौत्तिकम्। क्षौद्रं तु कपिलं प्रोक्तं तैलाभं माक्षिकं स्मृतम्॥ विशेषाद्गुर्वभिष्यन्दि भ्रामरं स्वादु तर्पणम्। क्षौद्रं सतिक्तमधुरं लघु रूक्षं विशोधनम्॥ रूक्षमुष्णं रक्तपित्तदाहघ्नं चापि पौत्तिकम्। माक्षिकं मधुषु श्रेष्ठं नेत्रामयहरं लघु। कामलार्शः-क्षतश्वासकासक्षयविनाशनम्॥ इति।

१. "योगवाहित्वे च विवदन्ते बहुविदः। तत्र केचिदेवं समगिरन्त,—"यद्द्रव्यं द्रव्यान्तरेण संयुज्यात्मीयं स्वभावं हित्वा संयुक्तद्रव्यस्वभावमेवानुवर्तते, तद्योगवाहीति,, न चैतद्युक्तम्। यतो यद्येवं योगवाहिता निश्चीयते तदानीं योगवाहिद्रव्योपयोगो निरर्थकः स्यात्। तथा हि—योगवाहिद्रव्यमन्तरेणापि यत्स्वभावं द्रव्यं प्रागासीत् तत्स्वभावमेव योगवाहिद्रव्ययुक्तमपि। तस्मादसदेतद्योगवाहिलक्षणमिति। केचित्वेवं प्रतिजानते,-यद्द्रव्यं द्रव्यान्तरेण युक्तं सत् तस्य द्रव्यस्य शक्त्युत्कर्षमुत्पादयति, तद्योगवाहीति, तदप्यसम्यक्। यस्मादेवमभ्युपगम्यमाने बहूनि द्रव्याणि योगवाहीनि स्युः। तथा च मध्वादेरपि द्रव्यस्य किञ्चिद्द्रव्यं समानगुणं शक्त्युत्कर्षं कुर्वदेव दृष्टम्। तत्कथं मध्वादेरेव योगवाहित्वमुच्यते नापरस्येति। तदेतदपि लक्षणमसच्छुत्वादलक्षणम्। अपरेत्वेवमाहुः,-यद्द्रव्यं द्रव्यान्तरेणाननुगुणेनापि युक्तं सत्तद्गुणाननुवर्तते स्वं च कार्यं तदविरुद्धं किञ्चित्करोति, तद्योगवाहिद्रव्यं भृत्यवत्। यथा भृत्यः स्वामिकार्यमत्यजन् स्वकार्यमपि शरीरयात्रादिकं स्वाम्यविरुद्धं करोति, तथैव मधु मदनफलसंयुक्तं वमनकार्यं करोति, न तु वमननिवारणं मधुकार्यम्। एवं मधुहरीतकीसंयोगाद्विरेचनकार्यमेव करोति, न मधुकार्यं स्तम्भनरूपमिति। ये त्वत्रैवं प्रतिपन्नाः,-मदनफलादेः शक्त्युत्कर्षस्तथाविधोऽस्ति येन मधुसम्बन्धिकार्यमवधूय, स्वं कार्यं करोतीति। ते चैवं चोदयन्तो भवन्तीति वचनीयाः। यतः स्तम्भनद्रव्येणान्येन येन केनचित्संयुक्तस्य सुधाक्षीरस्यापि शक्तिः किंचिदपहीयमाना दृष्टा मधुना तु स्तम्भनस्वभावेनाप्यस्य नापहीयते मनागपि। अतो मध्वादेरेव योगवाहित्वं नान्यस्य। अपि चान्यदा योगवाहि द्रव्यं त्रिवृतादिमदनफलेन युक्तं सद्विरेचनं वमनञ्चोभय-कार्यं कुर्वद्दृष्टम्, न केवलं वमनमेव विरेचनमेव वा। तस्मात् मध्वादेरेव योगवाहित्वमिति स्थितमेतत्। तत्स्येति मधुसमा गुणैर्मधुशर्करा। इति चक्रदत्तः सर्वाङ्गसुन्दरायाम्।

यहां भी विरोध नहीं समझना चाहिये । इसलिए कि चरक का मधु को गुरु बतलाना गुण के कारण है और सुश्रुत का लघुत्व पाक के कारण ।

अब आचार्य तैलवर्ग का आरम्भ करते हैं । यथा—

तैलं स्वयोनिवत्तत्र मुख्यं तीक्ष्णं व्यवायि च ।
त्वग्दोषकृदचक्षुष्यं सूक्ष्मोष्णं कफकृन्न च ॥
कृशानां बृंहणायालं स्थूलानां कर्शनाय च ।
बद्धविट्कं क्रिमिघ्नं च संस्कारात्सर्वरोगजित् ॥
तैलप्रयोगादजरा निर्विकारा जितश्रमाः ।
आसन्नतिबला युद्धे दैत्याधिपतयः पुरा ॥

तैल के गुण—तिल, सरसों, राई आदि जिस किसी द्रव्य से तेल निकाला जायगा वह विशेषतः उस २ द्रव्यगत गुणोंवाला होगा । इन सब में मुख्य तिलों का तेल है । यह तीक्ष्ण, सारे शरीर में व्याप्त होकर फिर पचनेवाला, त्वचा के लिए दोषकारक, नेत्रों के लिए अहितकारी, सूक्ष्म स्रोतोंतक में प्रविष्ट होनेवाला, उष्णस्पर्श, उष्णवीर्य, कफ को न करने वाला ( पित्तकारक ), कृशों को परिपूर्णतया पुष्ट करनेवाला तथा स्थूलों को कृश करनेवाला, मल ( विष्ठा, ) को बांधने वाला, क्रिमिघ्न और भिन्न भिन्न द्रव्यों के साथ संस्कृत ( तैयार किया हुआ ) सर्वरोगों या दोषों को जीतने वाला है। तेल के प्रयोग से ही प्राचीन काल में दैत्यों के अधिपति जरा अवस्था को प्राप्त नहीं होते थे । अपि तु निर्विकार अर्थात् नीरोग रहते थे युद्ध में नहीं थकते हुए बलवान रहते थे ।

विशेष वक्तव्य—तैल शब्द की अन्वर्थकता तो तिलों के तेल में ही ठीक घटती है, जैसे कि "तिलोद्भवं तैलम्' परन्तु यहां तो अलसी, सरसों, राई आदि सभी पदार्थों का तेल तैल ही कहलाता है, सो क्यों ? इस लिए कि तिलों के अतिरिक्त, सरसों आदि सभी द्रव्यों के लिए तैल शब्द केवल स्नेहभाव, ( चिकनाई ) में रूढ है। सारांश, स्नेहत्व के कारण ही ये सब तैल कहलाते हैं । चरक आदि ने कहा भी है कि—"अतैलमपि तैल मेव कृत्वोपदेक्ष्यते, तैलप्राधान्यात्—स्नेहप्राधान्याद्वा इति ।" "रूढिरूपत्वात्तैलशब्दस्य स्नेहविषय एव तैलशब्दो रूढः न पत्रकाण्डादिविषये" तैलशब्दोच्चारणस्य समनन्तरं स्नेहविषयैव धीर्जायते, न पत्रकाण्डादिविषया । कुसुम्भादीनां तिलशब्दस्य च स्नेहार्थवाच्ये विकारे स्नेहे तैलच् प्रत्यये सति कुसुम्भतैलमेरण्डतैलं तिलतैलमिति रूपं भवतीति, अरुणदत्तः । तथापि इन सब में तिलों का तेल ही मुख्य है क्यों कि नाना द्रव्यों करके संस्कृत होने से वह सब रोगों तथा दोषों को जीतनेवाला है । इतना ही नहीं, वह योनि, सिर और कान के शूलको शान्त करता है तथा गर्भाशय की शुद्धि करता है । छिन्न-भिन्न-विद्ध-उत्पिष्ट-च्युत-मथित-क्षत-पिच्चित, भग्न-स्फुटित-क्षार तथा अग्निदग्ध-विश्लिष्ट-दारित-अभिहत-दुर्भग्न-मृगव्यालविदष्टादि अवस्थाओं में परिषेक-अभ्यङ्ग और अवगाहनक्रिया तिलतैल से ही की जाती है तथा वस्तिकर्म, स्नेहपान, नस्य, कान और नेत्र का पूरण, अन्नपानविधि एवं वातशान्तिके अर्थ तिलतैल ही उपयोग में लाया जाता है । देखिये सुश्रुत सूत्रस्थान का अध्याय ४५ वां ।

कृशानां बृंहणायालं स्थूलानां कर्शनाय च अर्थात् तेल कृश मनुष्यों को पुष्ट और स्थूलों ( पुष्टों ) को कृश करने में समर्थ है । यहां शङ्का होती है कि ये दोनों परस्पर विरोधी बातें एक ही द्रव्य कैसे कर सकता है ? इस लिए कि कृश के स्रोत संकुचित होने से एवं स्थूल के पूर्ण होने से वे रस का संवहन ठीक से नहीं कर सकते । तैल के सिवा बृंहण गुण-युक्त द्रव्य भी उन सुकड़े हुए स्रोतों में प्रविष्ट नहीं हो सकते किन्तु तैल अपने सूक्ष्म-तीक्ष्णोष्णादि गुणों के कारण उन संकुचित स्रोतों में प्रवेश कर उन्हें शुद्ध कर देता है । स्रोतों की शुद्धि होने से शरीर पुष्ट होता है । इसी प्रकार सूक्ष्म स्रोतोगामी होने से तैल स्थूलों के स्रोतों में प्रविष्ट होकर अपने तीक्ष्णोष्णादि गुणों से उनके बढ़े हुए मेद को दूर कर देता है। मेद के दूर होने पर स्थूल पुरुष कृश ( पतले ) हो जाते हैं। यही आचार्यों ने कहा है । कृशानां तावत्स्रोतांसि संकोचमायान्ति । संकुचितस्रोतसां च नराणां तैलमन्तरेणान्यानि द्रव्याणि बृंहणगुणयुक्तान्यपि न तथा प्रवेष्टुं समर्थानि भवन्ति । तैल पुनः संकुचितानि स्रोतांसि तीक्ष्णादिभिर्गुणैर्झटित्येव प्रविश्य शोधयति । स्रोतः शुद्ध्या च शरीरपुष्टिः । तथा च वक्ष्यति स्रोतस्सु तक्रशुद्धेषु रसो धातूनुपैति यः । तेन तुष्टिर्बलं वर्णः परं पुष्टिश्च जायते ॥ इति तस्मात् कृशानां बृंहणायालमित्युपपन्नम् । तथा स्थूलानां सूक्ष्मस्रोतोगामित्वात् सर्वस्रोतस्सु तैलं प्रविश्य तीक्ष्णोष्णादिगुणयोगान्मेदः क्षपयति । तत्क्षपणाच्च कर्शनं संपद्यते, इति स्थूलानां कर्शनाय चेत्युपपन्नम् ॥ इत्यरुणदत्तः । तैल के विषय में यहां लिखा है कि, त्वग्दोषकृदचक्षुष्य कफकृन्न च ॥ अर्थात् तेल त्वचा को दूषित करता है, नेत्रों के लिए अहितकारी है और कफ को नहीं करता है, ।

परन्तु सुश्रुत ने इसके विपरीत तेल को त्वक्प्रसादन अर्थात् त्वचा या चमड़ी को निर्मल करनेवाला और नेत्रों को हितकारी कहा है । यह विरोध दिखाई देता है परन्तु वस्तुतः यह विरोध नहीं है । इसलिये कि खानपान में प्रयुक्त होने से त्वचा को दूषित करनेवाला और नेत्रों के लिए अहितकारी है, तथैव मर्दन या अभ्यङ्ग करने से त्वचा को निर्मल करनेवाला तथा नेत्रों के लिए हितकर है । जैसे कि कहा है 'त्वग्दोषकरत्वमचक्षुष्यत्वं चाभ्यवहारे, त्वक्प्रसादनत्वं चक्षुष्यं चाभ्यङ्गे'

तेल के सामान्य गुणों के अनन्तर अब आचार्य एरण्डादि अनेक तैलों के विशेष गुणों का वर्णन करते हैं ।

सतिक्तोषणमैरण्डं तैलं स्वादु सर गुरु ।
वर्ध्मगुल्मानिलकफानुदरं विषमज्वरम् ॥
रुक्शोफौ च कटीगुह्यकोष्ठताप्रष्ठाश्रयौ जयेत् ।
तीक्ष्णोष्णं पिच्छिलं बिस्रं रक्तैरण्डोद्भवं भृशम् ॥

---

१. ननु इह वातलं, सुश्रुतवाक्ये त्रिदोषशमनमिति विरोधः । नैवम् , विषयभेदात् । यत्र शुद्धो वायुः शुद्धं मधु, तत्र वातलत्वम् । यत्र वातघातिभिर्मिश्रं मधु पित्ताद्यैर्वामिश्रो वायुः तत्र वातघ्नत्वम् । उभयोर्योगवाहित्वात् सुश्रुतेन हि पित्तश्लेष्मघ्नत्वं पठित्वा त्रिदोषशमनत्वं पठता पित्तश्लेष्माणौ शुद्धौ वातमिश्रौ वा, वायुं तु मिश्रमेव मधु हन्तीति द्योतितम् । यच्च चरकेण मधुनो गुरुत्वमुक्तं सुश्रुतेन लघुत्वमुक्तम् । तत्र गुरुत्वं गुणेन, लघुत्वं पाकेनेत्यविरोधः । इत्यायुर्वेदरसायने हेमाद्रिः ।

२. "सर्वदोषजित्" इत्यपि पाठः ।

कटूष्णं सार्षपं तीक्ष्णं कफशुक्रानिलापहम् ।
[ लघुपित्तास्रकृत्कोठकुष्ठार्शोव्रणजन्तुजित् ॥ ]
उमाकुसुम्भजं सोष्णं त्वग्दोषकफपित्तकृत् ।
दन्तीमूलकरक्षोघ्नकरञ्जारिष्टशिग्रुजम् ।
सुवर्चलेङ्गुदीपीलुशंखिनीनीपसंभवम् ॥
सरलागुरुदेवाह्वशिंशुपासारजन्म च ।
तुवरारुष्करोत्थं च तीक्ष्णं कट्वस्रपित्तकृत् ॥
अर्शःकुष्ठक्रिमिश्लेष्मशुक्रमेदोऽनिलापहम् ॥
करञ्जनिम्बजे तिक्ते नात्युष्णे तत्र निर्दिशेत् ।
कषायतिक्तकटुकं सारलं व्रणशोधनम् ॥
भृशोष्णतीक्ष्णकटुकतुवरारुष्करोद्भवे ।
विशेषात्क्रिमिकुष्ठघ्ने तथोर्ध्वाधोविरेचने ॥
अक्षातिमुक्तकाक्षोड़नालिकेरमधूकजम् ।
त्रपुषैर्वारुककूष्माण्डश्लेष्मातकपियालजम् ॥
वातपित्तहरं केश्यं श्लेष्मलं गुरु शीतलम् ।
पित्तश्लेष्मप्रशमनं श्रीपर्णीकिंशुकोद्भवम् ॥
तिलतैलं वरं तेषु कौसुम्भमवरं परम् ॥

एरण्डतेल के गुण - एरण्ड का तेल कुछ मधुर-तिक्त और कटु ( चरपरे ) रसवाला, दस्तावर, भारी, अण्डवृद्धि-गुल्म-वात-कफ-उदर-विषमज्वर-कटी ( कमर )-गुद-लिंग इनको तथा हृदय से वस्तिपर्यन्त एवं पीठ में आई हुई सूजन और पीड़ा इन सबको जीतनेवाला है। लाल एरण्ड का तेल पूर्वोक्त श्वेत एरण्डतेल से भी अति तीक्ष्ण, उष्ण, पिच्छिल और सड़ी-सी दुर्गन्धवाला है।

सरसों के तेल के गुण - सरसों का तेल, चरपरा ( कटु ), उष्ण, तीक्ष्ण, कफ-वीर्य और वायु का नाशक, हल्का, पित्तरक्त-कारक, कुष्ठ, अर्श, व्रण एवं कृमिरोग का नाशक है।

अलसी तथा कुसुम्भतैल आदि के गुण—अलसी और कर्र ( कुसुम्भ ) का तेल कुछ उष्ण, त्वग्दोष, पित्त और कफ को करता है। दन्ती, मूली, श्वेत सरसों, करञ्ज, रीठा, सहजना, हुरहुर, हिंगोट, पीलु, शिरीष कदम्ब, सरल ( चीढ़ ), अगर, देवदारु, शीसम, तुवरक ( चालमोग्रा ) और भिलावा इन सबके तेल तीक्ष्ण, कटु, रक्तपित्तकारक, एवं कुष्ठ, कृमि, कफ, वीर्य, मेद और वायु के नाशक हैं। इनमें करञ्ज और निम्ब के तेल तिक्त होते हुए भी अति उष्ण नहीं हैं। सरल ( चीढ़ ) का तेल कसैला, तिक्त, कटु और व्रणशोधन है। तुवरक तथा भिलावा के तेल अत्युष्ण, तीक्ष्ण तथा कटु हैं। इसके अतिरिक्त ये तेल कृमि-कुष्ठ के हरने तथा ऊर्ध्वाधोविरेचन अर्थात वमन विरेचन करने में अपनी विशेषता रखते हैं।

बहेड़ा आदि तेलों के गुण—बहेड़ा, अतिमुक्तक ( माधवी फल ), अखरोट, नारियल, महुआ, खीरा-ककडी, कूष्माण्ड, लिहसोड़ा और चिरौंजीदाना इन सबके तेल वातपित्तनाशक, केशों के लिए हितकारी, कफकारक, भारी तथा ठण्डे हैं। गम्भारी और पलासबीज के तेल पित्त तथा कफ के नाशक हैं। इन सबमें तिल का तेल श्रेष्ठ और कर्र ( कुसुम्भ ) का नेष्ट है।

स्नेहप्रसङ्गवशात् अब आचार्य वसा ( चर्बी ) और मज्जाके गुणों का भी वर्णन करते हैं।

वसा मज्जा च वातघ्नौ बलपित्तकफप्रदौ ।
मांसानुगस्वरूपौ च विद्यान्मेदोऽपि ताविव ॥
भौलुकी[1] शौकरी पाकहंसजा कुक्कुटोद्भवा ।
वसा श्रेष्ठा स्ववर्गेषु कुम्भीरमहिषोद्भवा ॥
काकमद्गुवसा तद्वत्कारण्डोत्था च निन्दिता ।
शाखादमेदसां छागं हास्तिनं च वरावरे ॥

वसा और मज्जा के गुण—वसा अर्थात् शुद्धमांसगत तैलवत् तरल स्नेह और मज्जा अर्थात् अस्थिगत घृतवत् धातु ( वसा तु रूपेण शुद्धमांसस्य स्नेहः। मज्जा धातुरस्थ्यरुणदत्तः ) ये दोनों वातनाशक, बल, पित्त और कफकारक तथा जिस २ की वसा, मज्जा है उस २ पशु पक्षी के मांस के गुणोंवाली होती है। मेद के गुण भी वसा और मज्जा के तुल्य हैं। उल्लू, सुअर, पाचित हंस और कुक्कुट की वसा श्रेष्ठ है परन्तु कुम्भीर मगर ( नक्रस्तु कुम्भीरः इत्यमरः ) महिष ( भैंसा ) और जलकाक की वसा अपने अपने वर्ग में अश्रेष्ठ हैं अर्थात् मत्स्य, ( मछली ), महामृग, जलचर और विष्किर इन सबकी वसा पथ्यरूप से क्रम से श्रेष्ठ है। तद्वत् कुम्भीरादि की वसा अश्रेष्ठ है। ( बौलुक्यादीनां चतुर्णां वसाः स्वस्ववर्गेषु क्रमेण मत्स्यमहामृगाप्चरविष्करेषु पथ्यत्वेन श्रेष्ठाः तद्वत्स्ववर्गेषु मध्ये कुम्भीरादिवसा अश्रेष्ठा इतीन्दुः ) तृण को छोड़ प्रायः वृक्षादि की शाखाओं को खानेवाले बकरा और हाथी के मेद में बकरे का मेद श्रेष्ठ एवं हाथी का निन्द्य है। ( ये शाखा प्रायो भुञ्जन्ते ते शाखादाः न तु भूयिष्ठं तृणादिस्वभावेनैव इतीन्दुः ) आधुनिक काड़लिवर आदि का भी उपयोग होता है।

इति तैलवर्ग।

अब आचार्य मद्यवर्ग के गुणों का वर्णन करते हैं। यथा—

दीपनं रोचनं मद्यं तीक्ष्णोष्णं तुष्टिपुष्टिदम् ।
सस्वादु तिक्तकटुकमम्लपाकरसं सरम् ॥
सकषायं स्वरारोग्यप्रतिभावर्णकृल्लघु ।
नष्टनिद्रातिनिद्रेभ्यो हितं पित्तास्रदूषणम् ॥
कृशस्थूलहितं रूक्षं सूक्ष्मं स्रोतोविशोधनम् ।
वातश्लेष्महरं युक्त्या पीतं विषवदन्यथा ॥
गुरु तद्दोषजननं नवं जीर्णमतोऽन्यथा ।
पेयं नोष्णोपचारेण न विरिक्तक्षुधातुरैः ।
नातितीक्ष्णमृदुस्वच्छघनं व्यापन्नमेव वा ॥

मद्य के गुण—सामान्यतया आगे मदात्यय-चिकित्सा में वर्णित अल्पमात्रादि युक्ति से सेवित सभी प्रकार के मद्य जठराग्निप्रदीपक, रुचिकारक, तीक्ष्ण, उष्ण, चित्त को प्रफुल्लित और शरीर को पुष्ट करनेवाले, सन्तुष्टि ( चित्त को सन्तुष्ट ) करनेवाले तथा शरीर में बलवृद्धिकारक हैं ( तुष्टिः चित्तपरितोषः, पुष्टिः-शरीरपोषः, इत्यरुणः। तुष्टिः-सन्तोषः, पुष्टिः-बलवृद्धिरिति हेमाद्रिः। ) मद्य कुछ मधुर-तिक्त-कटु और कषायानुरस होकर भी विपाक एवं रस में अम्ल, सूक्ष्म होने से शरीर भर में पसरनेवाला या दस्तावर, स्वर-आरोग्य-बुद्धि

१. बौलुकीति न्इदुसंमतपाठः।

और वर्ण को बढ़ानेवाला, लघु ( हलका ), जिस को नींद न आती हो उसको नींद लानेवाला, और जिसे नींद अधिक आती हो उसको कम करनेवाला है। इसी प्रकार कृश और स्थूल इन दोनों के लिए हितकारी अर्थात् कृश को पुष्ट और स्थूल को कृश करनेवाला, पित्तरक्त को दूषित करनेवाला रूखा, सूक्ष्म स्रोतों को शुद्ध करनेवाला तथा वातकफनाशक है। ये सब गुण युक्ति से मद्यपान के हैं। अन्यथा, अतिमात्रादि ( अयुक्ति से सेवित ) मद्य विष की तरह मारक होते हैं। एक वर्ष के भीतर का या कुछ दिनों का तैयार किया हुआ नवीन मद्य त्रिदोषकारक और गुरु होता है और इस के विपरीत जीर्ण ( पुराना ) मद्य त्रिदोषहारी, जल्दी पचनेवाला ( लघु ) होता है। ( नवमनतीतसंवत्सरं कतिपयदिवसपरिवासो नवत्वम्, जीर्णं पुराणमेतद्विपरीतम्, इतीन्दुः। )

उष्णोपचारी अर्थात् गरमपदार्थों के सेवन करनेवाले, गरम मकानादि में रहनेवाले, गरमियों या धूप में से आए हुए उष्णोपचारी, उष्ण-आहार-विहारवाले ऐसे मनुष्यों को चाहिए कि वे मद्यपान न करें। जिसने दोषशमनार्थ विरेचन ( जुलाब ) लिया हो और जो अतिक्षुधा से पीड़ित हो, उसको भी मद्यपान नहीं करना चाहिये। इस प्रकार का मद्य भी नहीं पीना चाहिये जो अति तीक्ष्ण ( तेज ) हो, अल्प द्रव्यों के कारण अतिस्वच्छ अर्थात् जिस में मद न हो, धूल-शर्करा आदि पड़ने से जो अति गाढ़ा हो, देशकालादिवशात् जो बिगड़ गया हो, ऐसा मद्य भी नहीं पीना चाहिये। "उष्णोपचारेण-उष्णमाहारं सूर्यसंतापादिकं वा सेवमानेनेति हेमाद्रिः। "व्यापन्नं-देशकालादुपहतम्" इतीन्दुः।

विशेष वक्तव्य- मद्य पीनेवालों को देखा जाता है कि प्रायः उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और भी कई रोग एवं अवगुण होते हैं। यहां तो उसे "स्वरारोग्यप्रतिभावर्णकृत्" कहा है जिसका भाव यह है कि मद्य स्वर, आरोग्य, बुद्धि और वर्ण को बढ़ानेवाला है सो विरोध प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः यह ठीक है, इस लिए कि युक्तिपूर्वक अल्पमात्रा में सेवित मद्य "स्वरारोग्यप्रतिभावर्णकृत्" है और अयुक्तिपूर्वक अतिमात्रा में पान किया हुआ मद्य ही मदात्ययादि अनेक रोगों का कर्ता एवं बुद्धि को भ्रष्ट करनेवाला है। अल्पमात्रा में युक्तिपूर्वक मद्यपान की विधि इसी ग्रन्थ के मदात्ययचिकित्साध्याय में देखिये। एक ही प्रकार के गुणधर्मवाले मद्य को जिसे नींद न आती हो और जिसे नींद बहुत आती हो इन दोनों को हितकारी कैसे कह दिया और इसी प्रकार कृश और स्थूल इन दोनों को भी हितकारी कह दिया है सो क्यों? इसलिए कि नष्टनिद्र और अतिनिद्र द्वारा पान किया हुआ मद्य उनके आहारों में विपरीतता लाता है, जैसे कि नष्ट-निद्र का छूटा हुआ आहार मद्यपान के कारण पर्याप्त होकर वह निद्रा अच्छी तरह लाता है और अति-निद्र मद्यपान में भी आहार नहीं कर सकता किन्तु मद्य अपनी तीक्ष्ण सूक्ष्मता के कारण उसके स्रोतों में प्रविष्ट होकर उष्णता को बढ़ाता हुआ अतिनिद्रा का नाश करता है। यह बात मद्य के प्रभाव से भी होती है। अन्य प्रकार से भी उपर्युक्त शंका का समाधान किया जाता है कि बढ़ा हुआ वायु ही निद्रानाश का कारण होता है, परन्तु मद्य वातघ्न है अतः निद्रा लाता है। बढ़े हुए कफ से अति निद्रा होती है किन्तु मद्य कफघ्न होने से निद्रा को कम करता है। यही बात कृश और स्थूल के लिए भी समझनी चाहिये, जैसे कि मद्य के वातघ्न होने से कृश को स्थूल और कफहर्ता होने से स्थूल को कृश कर सकता है। कुछ टीकाकारों के मत में इसका समाधान यह भी है कि मद्य की कई जातियां हैं। उनमें कुछ कृश एवं अनिद्र के लिये हितकारी हैं तो कुछ स्थूल एवं अतिनिद्र के लिए। जैसे कि स्निग्ध और सौम्य होने से कफवर्धनी सुरा अनिद्र और कृश को तथैव कफहारिणी माध्वीक स्थूल तथा अतिनिद्र को पथ्य है। ( नष्टनिद्रस्य चातिनिद्रस्य चाहारविशेषाद्वैपरीत्यं करोति, प्रभावाद्वा, एवं कृशस्थूलयोरपीतीन्दुः )। ननु, एकमेव निद्रां करोति हन्ति चेति विरुद्धम्, नैवम्। प्रवृद्धवातो हि नष्टनिद्रो भवति, तस्यामवस्थायां वातघ्नत्वान्निद्रां करोति। प्रवृद्धश्लेष्मा चातिनिद्रः, तस्यामवस्थायां श्लेष्मघ्नत्वान्निद्रां हन्ति। कृशस्थूलहितं तैलोक्त्यायेनेति हेमाद्रिः। "सर्वमेव मद्य-प्रभावादिति केचित्। अन्ये-त्वेवं मन्यन्ते, यथा सुरादि यन्मद्यं, श्लेष्मादिवर्धनं तन्नष्टनिद्रेभ्यो हितम्। यच्च माध्वादि मद्यं श्लेष्मादिहन्तृ, तच्चातिनिद्रेभ्यो हितम्। कृशेभ्यः स्थूलेभ्यश्च हितम्, इति सामान्येऽपि निर्देशेऽत्रायं विशेषो बोध्यः। किञ्चिन्मद्यं कृशाय हितं किञ्चित्स्थूलायेत्यरुणदत्तः।

अब आचार्य मद्य-विशेष के गुणों को कहते हैं। जैसे कि—

गुल्मोदरार्शोग्रहणीशोषहृत्स्नेहनी गुरुः ।
सुरानिलघ्नी मेदोऽसृक्स्तन्यमूत्रकफावहा ॥
तद्गुणा वारुणी हृद्या लघुस्तीक्ष्णा निहन्ति च ।
शूलकासवमिश्वासविबन्धाध्मानपीनसान् ॥
शूलप्रवाहिकाशोफतृष्णाटोपार्शसां हितः ।
जगलः पाचनो ग्राही रूक्षः तद्वच्च मेदकः ॥
बक्कसो हृतसारत्वाद्विष्टम्भी दोषकोपनः ।
नातितीव्रमदा लघ्वी पथ्या वैभीतकी सुरा ॥
व्रणे पाण्डवामये कुष्ठे न चात्यर्थं विरुध्यते ।
विष्टम्भनी यवसुरा गुर्वी रूक्षा त्रिदोषला ॥
कौहली बृंहणी गुर्वी श्लेष्मलस्तु मधूलकः ।
यथाद्रव्यगुणोऽरिष्टः सर्वमद्यगुणाधिकः ॥
ग्रहणी-पाण्डुकुष्ठार्शः-शोथशोफोदरज्वरान् ।
हन्ति गुल्मक्रिमिप्लीहः कषायकटुवातलः ॥
मार्द्वीकं लेखनं हृद्यं नात्युष्णं मधुरं सरम् ।
अल्पपित्तानिलं पाण्डुमेहार्शःक्रिमिनाशनम् ॥
अस्मादल्पान्तरगुणं खार्जूरं वातलं गुरु ।
शार्करः सुरभिः स्वादुर्हृद्यो नातिमदो लघुः ॥
सृष्टमूत्रशकृद्वातो गौडस्तर्पणदीपनः ।
वातपित्तकरः शीधुः स्नेहश्लेष्मविकारहा ॥
मेदःशोफोदरार्शोघ्नस्तत्र पकरसो वरः ।

सुरा[1] के गुण— चावलों के पिष्ट या परिपक्व अन्न के सन्धान से बनाई हुई सुरा गुल्म, उदर, अर्श, संग्रहणी और शोष ( क्षय ) रोग को हरनेवाली, स्निग्ध, गुरु तथा

१. शालिपिष्टकृतं मद्यं सुरा ( हेमाद्रिः ), "परिपक्वान्नसन्धानसमुद्भूता सुरा मता" इति राजनिघण्टुः।

वायुनाशिनी, मेद, रक्त, स्त्रियों के दूध, मूत्र और कफ को बढ़ानेवाली है।

वारुणी के गुण—वारुणी अर्थात् प्रसन्ना जो कि पुनर्नवादिमूलयुक्त शालिपिष्ट से अथवा ताड़ और खजूर के रस के सन्धान से बनती है, वह पूर्वोक्त सुरा ही के समान गुणवाली, हृदय के लिए हितकारिणी, लघु, तीक्ष्ण तथा शूल-कास-वमन-श्वास-विबन्ध ( अपानादि वायु का रुकना या दोषादिवहन करनेवाले स्रोतों का रुकना ) अफारा और पीनस इन सब को नष्ट ( ठीक ) करती है। कई अच्छ ( सुरामण्ड ) को ही वारुणी मानते हैं किन्तु हेमाद्रि को यह बात मान्य नहीं है इसलिए कि सुश्रुत ने प्रसन्ना ( वारुणी ) को कफनाशिनी कहा है।

जगल, मेदक और बक्कस के गुण—वारुणी के नीचे का घन भाग जगल और उसके नीचे का मेदक[4] ये दोनों पाचनकर्ता, ग्राही तथा रूक्ष हैं। तथा शूल प्रवाहिका-शोथ-तृष्णा-अफारा और बवासीरवालों को हितकारी हैं। बक्कस अर्थात् मद्य-कल्क को निचोड़ने से शेष रहा हुआ निस्सार भाग विष्टम्भी ( अफारा पैदा करनेवाला ) और दोषों को कुपित करनेवाला है।

वैभीतकी सुरा के गुण—बहेड़े के वक्कल से तैयार की हुई सुरा अतितीव्र नशा लानेवाली नहीं होती किन्तु वह लघु और पथ्या है। इसीलिए व्रण, पाण्डुरोग तथा कुष्ठ में इसका प्रायः विरोध नहीं किया जाता।

यवसुरा के गुण—यवों से तैयार की हुई सुरा विष्टम्भिनी ( मलावरोधिनी ), गुरु, रूक्ष और त्रिदोष को बढ़ानेवाली है।

कोहली सुरा के गुण—कूष्माण्ड ( कोहला ) से बनाई हुई सुरा अथवा बाल्हीक ( बलख ) देश में जब-चावल-खाजा के सत्तू से बननेवाली सुरा[5] बृंहणी (पुष्टिप्रद) तथा गुरु है।

मधूलक के गुण—जल से उत्पन्न या जल में स्थित ऐसे मधूक ( महुआ ) वृक्ष के पुष्पों का मद्य कफकारक है। किसी भी वस्तु का मद्य पूरी तरह से तैयार न हुआ हो वह भी मधूलक कहलाता है और वह कफकारक है।

अरिष्ट के गुण—अरिष्ट जिस जिस द्रव्य के द्वारा बनाया जायगा, वह उस उस द्रव्य के गुणोंवाला होगा और वह मद्य के सभी दीपनादि गुणों से अधिक गुणोंवाला[1] होगा। इतना ही नहीं, अरिष्ट, कषाय-कटु-रसवाला, वातकारक, संग्रहणी-पाण्डु-कोढ़, बवासीर, शोष, ( क्षय ), सूजन, उदर, ज्वर, गुल्म, क्रिमि और प्लीहा रोग का नाशक है।

मार्द्वीक मद्य के गुण—द्राक्षा ( मुनक्का ) रस से तैयार किया हुआ मार्द्वीक मद्य लेखन ( अतितीक्ष्णतया धातुओं को या चिपटे हुए मलों को कुरच कर उखाड़ने[2] वाला ), हृदय को बल देनेवाला, उष्ण, मधुर-दस्तावर-अन्य मद्यों की अपेक्षा अल्प पित्तवातकर्ता, पाण्डु, प्रमेह, अर्श तथा कृमि रोगका नाशक है।

खार्जूरमद्य के गुण—छुहारों या खजूर से बना हुआ मद्य उपर्युक्त मार्द्वीक मद्य के गुणोंवाला होता हुआ भी उस मद्य की अपेक्षा न्यूनगुणवाला या कुछ विशेष गुणोंवाला[3] वातकारक और गुरु होता है

शार्कर के गुण—शर्करा सम्बन्धी मद्यविशेष मधुर, हृदय के लिए हितकारी, अल्पमदवाला और लघु होता है।

गौड़ के गुण—गुड़ से बना हुआ मद्य, मूत्र-मल और अपानवायु को प्रवृत्त करनेवाला ( खोलनेवाला ), तृप्तिकारक तथा दीपन होता है।

शीधु के गुण—ईख के रस से तैयार किया हुआ मद्य शीधु कहलाता है। इसके दो प्रकार हैं एक ईख के अपक्व रससे बनाया जानेवाला शीतरस और दूसरा पकाये हुए ईख के रस से बना हुआ पक्वरस। इन दोनों में पक्वरस-निर्मित मद्य ही श्रेष्ठ होता है और वह वातपित्तकारक, स्नेह ( घृत तैलादि ) और श्लेष्म ( कफ ) जन्य विकारों को हरनेवाला, मेद-शोथ-उदर एवं अर्शो रोग का नाशक है।

अब आचार्य मद्यविशेष एवं सामान्यतः अरिष्ट के गुणों का कथन करने के अनन्तर आसवविशेष के गुणों का वर्णन करते हैं।

छेदी मध्वासवस्तीक्ष्णो मेहपीनसकासजित् ।
सुरासवस्तीक्ष्णमदः स्वादुस्तीक्ष्णोऽनिलापहः ॥
मैरेयो मधुरो वृष्यः[4] सरः संतर्पणो गुरुः ।
धातक्यभिषुतो जीर्णो रूक्षो रोचनदीपनः ॥
द्राक्षासवो मधुसमः परमं स तु दीपनः ।
मार्द्वीकसदृशः प्रोक्तो मृद्वीकेक्षुरसासवः ॥
समासादासवो हृद्यो वातलः स्वौषधानुगः ।
द्राक्षेक्षुमाक्षिकं शालिरुत्तमा व्रीहिपश्चमाः ॥
मद्याकरा यदेभ्योऽन्यत्तन्मद्यप्रतिरूपकम् ।
गुणैर्यथोल्बणैर्विद्यान्मद्यमाकरसंकरात ॥

१. "वारुणी श्वेतसुरा सा च पुनर्नवादिमूलयुक्तेन शालिपिष्टेन क्रियते" इति हेमाद्रिः। किन्तु सुश्रुतः पृथगेव पठति। शार्ङ्गधरस्तु वदति "यत्तालखर्जूररसैः सन्धिता सा हि वारुणी" इति।

२. "विबन्धो वातरोधः, इति हेमाद्रिः। विबन्धः स्रोतसामुपलेपेन दोषादीनामवहननम्, इतीन्द्वरुणदत्तौ। ३. वारुणी अच्छसुरेति केचित् तन्न, तस्याः कफघ्नत्वात्। उक्तं हि सुश्रुतेन "प्रसन्ना कफवाताशोंविबन्धानाहनाशिनीति हेमाद्रिः।" ४. वारुण्या अधोभागो जगलः, जगलस्याधोभागो मेदकः, पानीयेन मद्यकल्कपीडनेनोत्पन्नो वक्कसः।" इत्यरुणः।

५. कोहलो कूष्माण्डसुरायाम्, इति वैद्यनिघण्टुः। कोहलः यवशक्तुकृतमद्यविशेषः, इति वैद्यकशब्दसिन्धुः। कोहलः शक्तुभिर्देशे बाह्लीके क्रियते यवैरिति वाचस्पतिः। ६. जलजेऽत्र मधूलक इत्यमरः। सर्वं मद्यमसंजातं मधूलकमिति स्मृतम्, इतीन्दुः।

१. अरिष्टो द्रव्यसंयोगसंस्कारादधिको गुणः। इत्यादि सुश्रुतः।

२. "विलिखत्यतितैक्ष्ण्याद्धातूंस्तल्लेखनं मतम्" इत्यरुणः। "लेखनं-विलीनमलोत्खननम्" इति हेमाद्रिः।

३. मार्द्वीकादल्पान्तरगुणम्। अल्पान्तराः किञ्चिद्विशेषा गुणा यस्य तदेवम्" इत्यरुणः। "मार्द्वीकादूनगुणम्" इतीन्दुः।

४. हृष्यः इत्यपि पाठः।

मध्वासव के गुण—मधु ( शहद ) से बना हुआ आसव तीक्ष्ण, जमें हुए कफादि को पिघलानेवाला, प्रमेह-पीनस तथा कास रोग को जीतनेवाला है।

सुरासव के गुण—इसी आसवको यदि मद्य का रूप दे दिया जाय अर्थात् अपक्व द्रवौषधियों के संधान से तयार हुए आसव को फिर मद्य की तरह चुवा लिया जाय तो वह सुरासव कहलाता है। यह अत्यन्त तेज मदकारक, मधुर, तीक्ष्ण और वातनाशक है।

मैरेय—मधुर, वृष्य, हृष्य (हर्षकर), दस्तावर, तृप्तिकारक और गरिष्ट ( पचने में भारी ) है।

विशेष वक्तव्य—इस मैरेय के विषय में कुछ मतभेद है। कुछ टीकाकार इसे कोद्रव ( कोदो धान्य ) से बनाया हुआ मानते हैं तो कोई आचार्य किसी भी द्रव्य से निष्पादित सुरा और आसव इन दोनों को मिलाकर पुनः सन्धान किये हुए को मैरेय कहते हैं। कुछ उसको भी त्रियोन्यात्मक मानते हुए उसके दो प्रकार मानते हैं यथा-पैष्टी, सुरा, गुड़योनि आसव और शहद इन से बना हुआ एक प्रकार और पैष्टी सुरा, मध्वासव और गुड़ से बनाया हुआ दूसरा प्रकार। तन्त्रान्तर में धाय के पुष्प, गुड़ और धान्याम्लद्वारा बने हुए आसव को मैरेय माना है। सुश्रुत उपर्युक्त गुणों से भी अधिक वर्णन करते हैं कि मैरेय तीक्ष्ण, कषाय, मदकारी, अर्श, कफ और गुल्म का नाशक, क्रिमि स्थौल्य-वातनाशक, मधुर और गुरु है।

धातक्यासव के गुण—धाय के पुष्पों द्वारा बना पुराना आसव रूक्ष, रुचिकारक और अग्निप्रदीपक होता है।

द्राक्षासव के गुण—मध्वासव के समान गुणकारी और परम ( अति ) अग्निप्रदीपनकर्ता है।

मृद्वीकेक्षुरसासव के गुण—मुनक्का और ईखरसको मिला। कर बनाया हुआ आसव भी मृद्वीकासव के तुल्य गुणवाला है।

समासादासवो हृद्यो वातलः स्वौषधानुगः।

समस्त आसवों के गुण—संक्षेपतःसभी प्रकार के आसव हृदय को बल देनेवाले या हृदय के लिए हितकारी, वातकारक तथा जैसी ओषधि के साथ बनाया जाय वह उस ओषधि के गुणोंवाला होता है।

आसवारिष्ट विषय में विशेष वक्तव्य—सामान्य परिभाषा देखी जाय तो जो सूखे द्रव्य केवल कच्चे आर्द्र द्रव में डालकर सन्धान किया जाता है वह आसव कहलाता है और द्रव्यों का क्वाथ बनाकर सन्धान किया हुआ अरिष्ट होता है किन्तु कई आचार्यों के मत में आसव शब्द मद्य का ही पर्याय मात्र है। ध्यान रहे कि मद्य और आसव से भी अरिष्ट के गुणविशेष बताये गए हैं। पाठक ग्रन्थों में देखने का प्रयत्न करें।

अब आचार्य मद्य की पांच योनियों का वर्णन करते हैं—

द्राक्षेक्षुमाक्षिकं शालिरुत्तमा व्रीहिपञ्चमाः।
मद्याकरा यदेभ्योऽन्यत्तन्मद्यप्रतिरूपकम् ॥
गुणैर्यथोल्वैर्णैर्विद्यान्मद्यमाकरसंकरात् ।

मद्यकी पांच योनियां—द्राक्षा, ईख, शहद, हेमन्त ऋतुके दश या द्वादश प्रकार के चावल और साठी चावल ये पांच ही मद्य की उत्तम योनियां हैं अर्थात् मुख्यतया मद्य इन पांचोंसे ही तयार होता है। इनके अतिरिक्त जिन द्रव्यों से मद्य बनता है वह वस्तुतः मद्य नहीं, किन्तु मद्य की नकल मात्र या प्रतिरूप है। इन मद्ययोनियोंके साथ जिन द्रव्यों को अधिक मिलाया जाता है वह मद्य उन द्रव्योंके गुणोंवाला होता है।

शुक्त के लक्षण—कन्द, मूल, फलादि, तेल और नमक ये द्रवद्रव्य में डालकर संधान किया जाता है उसे शास्त्रकार शुक्त कहते हैं।

शुक्त के अनेक भेद—यही शुक्त यदि गुड़, ईखरस, मद्य और द्राक्षाके द्रव में बनाया जाता है तब उसे गुड़शुक्त, इक्षुशुक्त, मद्यशुक्त और द्राक्षाशुक्त कहते हैं।

चुक्र का वर्णन—शुक्त ही का एक विशेष भेद चुक्र है, जो मस्तु, गुड़, शहद और कांजी को एक शुद्ध पात्र में डालकर तीन दिन धान्यराशि में रखने से बनता है अब उन्हीं शुक्त आदि के गुणों का वर्णन करते हैं।

रक्तपित्तकफोत्क्लेदि शुक्तं वातानुलोमनम्।
भृशोष्णतीक्ष्णरूक्षाम्लं हृद्यं रुचिकरं सरम्।
दीपनं शिशिरस्पर्शं पाण्डुदृक्क्रिमिनाशनम् ॥

शुक्त के गुण—सामान्यतः सभी प्रकार के शुक्त रक्त-पित्त और कफको उत्क्लेदन ( ढीले या पतले ) करनेवाले, वायुको मार्गान्तरसे अपने ठीक मार्गपर लानेवाले, अति उष्ण, अति तीक्ष्ण, अति रूक्ष और अम्ल (खट्टे), हृदय के लिए हितकारी, अति रुचिकारक, दस्तावर, अग्निप्रदीपक, छूने में ठंडे, पाण्डु, नेत्र और क्रिमिरोगों के नाशक हैं।

गुडेक्षुमद्यमार्द्वीकशुक्तं लघु यथोत्तरम् ।
कन्दमूलफलाद्यं च तद्विद्यात्तदासुतम् ॥
शाण्डाकी चासुतं चान्यत्कालाम्लं रोचनं लघु ।
धान्याम्लं भेदि तीक्ष्णोष्णं पित्तकृत्स्पर्शशीतलम् ॥
श्रमक्लमहरं रुच्यं दीपनं वस्तिशूलजित् ॥

इति मद्यवर्गः।

---

१. छेदी–तीक्ष्ण इत्यरुणदत्तः। छेदी–संहतकफादिविश्लेषीति हेमाद्रिः। २. मैरेयः-कोद्रवैर्जायते, इतीन्दुरुणौ "आसवस्य सुरायाश्च द्वयोरेकत्र भाजने। संधानं तद्विजानीयान्मैरेयमुभयात्मकम् ॥ इति शौनकः। तत्र मैरेयो नाम सुरासवयोः प्रत्येकनिष्पादितयोरेकीकृत्य पुनः सन्धानान्मैरेयः। सुरा पैष्टी, आसवश्च गुडयोनिः, मधु च देयमिति त्रियोनित्वम्। यदि वा पैष्टी मध्वासवो गुडश्चेति सन्धानात्त्रियोनित्वेन मैरेयो द्विविधो भवति। इति सुश्रुत—टीकायां डल्हनः "मैरेयं धातकीपुष्पगुडधान्याम्लसंहितम्।" इति ३. तीक्ष्णः कषायो मदकृद्दुर्नामकफगुल्महृत्। क्रिमिमेदोऽनिलहरो मैरेयो मधुरो गुरुः ॥ इति।

१. यदपक्वौषधाम्बुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः। अरिष्टः क्वाथसिद्धः स्यादिति। २. कन्दमूलफलादीनि सस्नेहलवणानि च। यत्रैकत्राभिषूयन्ते तच्छुक्तमभिधीयते। ३. गुडस्त्विक्षुरसो मद्यं मार्द्वीकं च द्रवं यदा। गुडेक्षुमद्यमार्द्वीकशुक्तानि स्युस्तदा क्रमात्। ४. यन्मस्त्वादि शुचौ भाण्डे सगुडक्षौद्रकाञ्जिकम्। धान्यराशौ त्रिरात्रस्थं शुक्तं चुक्रं तदुच्यते। इत्यादि शार्ङ्गधरादयः।

शुक्तों में यथोत्तर लघुत्व—गुड़, ईख का रस, मद्य और द्राक्षा के द्रव में तयार किए हुए शुक्त (सिरके) यथोत्तर लघु होते हैं जैसे कि गुड़ शुक्त से ईक्षुरसशुक्त, इक्षुरसशुक्त से मद्यशुक्त और मद्यशुक्त से द्राक्षाशुक्त लघु (हल्का) है। कन्द, मूल, फलादि (काण्ड, मूल, पत्रादि) सन्धान से बनते हैं वे शुक्त उन उन द्रव्यों के गुणवाले समझने चाहिये, जिन जिन से वे तयार किये जाते हैं।

शाण्डाकी और कालाम्ल के गुण—अरुणदत्तोक्त शाण्डाकी उसका नाम है जो मूली, सरसों आदि शाकों के क्वाथ को सन्धानकर उसमें स्याह जीरा, राई की भावना दी जाती है, जो अम्ल और तीक्ष्ण होती है। हेमाद्रि एवं अन्य तन्त्रकारों के मत से शाण्डाकी वह है जो शाक, मूंग आदि के बड़ों (बटकों) के साथ या कन्द-मूल और बटकों के साथ या केवल मूली के टुकड़े द्रवद्रव्य में सन्धानितकर बनाई जाती है। इसी प्रकार पिण्याक (तिल्ली की खली) आदि द्रव में डालकर संधान किया जाता है और जो चिरकाल में अम्लता को प्राप्त होता है उसे कालाम्ल (कालेन चिरकालावस्थेनाम्लं कालाम्लं) कहते हैं। शाण्डाकी और कालाम्ल ये दोनों रुचिकारक और लघु हैं।

धान्याम्ल के गुण—धान्याम्ल अर्थात् कांजी दो प्रकार से सन्धानित की जाती है जैसे कि कूटे हुए सतुष (तुषसहित) तण्डुलों द्वारा या सतुष और वितुष (बिना तुष) के जवों द्वारा। यह दस्तावर, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, पित्तकारिणी, छूने में ठंडी, श्रम और क्लम (व्यायाम जन्य और विना व्यायाम की थकावट) को दूर करनेवाली, रुचिकारिका, अग्निप्रदीपनी, बस्ति (पेड़ू) के शूल को हरनेवाली, निरूह बस्ति में श्रेष्ठ, लघु, वात-कफहारिणी है। दूसरे प्रकार से अर्थात् सतुष और निस्तुष जवों के उदक में बनी कांजी में उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त कृमि, हृद्रोग, गुल्म, अर्श और पाण्डुरोग दूर करने के भी गुण हैं। इति मद्यवर्ग समाप्त।

मद्य की तरह द्रव, तीक्ष्ण तथा उष्णादि-गुणयुक्त होने से अब उसके अनन्तर आचार्य मूत्रवर्ग का आरम्भ करते हैं।

### अथ मूत्रवर्गः

मूत्रं गोऽजाविमहिषीगजाश्वोष्ट्रखरोद्भवम् ।
पित्तलं रूक्षतीक्ष्णोष्णं लवणानुरसं कटु ॥
क्रिमिशोफोदरानाहशूलपाण्डुकफानिलान् ।
गुल्मारुचिविषश्वित्रकुष्ठार्शांसि जयेल्लघु ॥
विरेकास्थापनालेपस्वेदादिषु च पूजितम् ।
दीपनं पाचनं भेदि तेषु गोमूत्रमुत्तमम् ॥
श्वासकासहरं छागं पूरणात्कर्णशूलजित् ।
दद्यात्क्षारे किलासे च गजवाजिसमुद्भवम् ॥
हन्त्युन्मादमपस्मारं क्रिमीन्मेहं च रासभम् ।
कषायतिक्तमेतेषां हिध्माश्वासहरं शकृत् ॥
मार्गमोजःक्षयहरं वैष्किरं वातरोगनुत् ।
प्रसहानामपस्मारमुन्मादं च नियच्छति ॥
महामृगसमुद्भूतं कुष्ठहृज्जलचारिणाम् ।
नेत्ररोगहरं पित्तं प्रवृद्धं च नियच्छति ॥
पित्तं तिक्तं क्रमिहरं रोचनं कफवातजित् ।
तिक्तं पामाहरं मूत्रं मानुषं तु विषापहम् ॥

सर्वसामान्य गोमूत्रादिके गुण—सामान्यतः गाय, बकरी, भेड़, भैंस, हाथी, घोड़ा, ऊंट और गधे का मूत्र पित्तकारक, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, पश्चात् कुछ नमकीन, कटु (चरपरे) रसवाला, कृमि, शोथ, उदर, अफारा, शूल, पाण्डु, कफ, वायु, गुल्म, अरुचि, विष, श्वित्रकुष्ठ और अर्शरोग-नाशक, लघु, विरेचन, आस्थापन (निरूह वस्ति), लेपन और स्वेदनकर्म में श्रेष्ठ दीपन, पाचन और दस्तावर है।

गोमूत्र की श्रेष्ठता—उपर्युक्त सब ही मूत्रों में गोमूत्र सबसे उत्तम है।

छागमूत्र के गुण—बकरी का मूत्र श्वास-कास का हरनेवाला और कान में डालनेसे कान की पीड़ा को जीतनेवाला है।

गजाश्वमूत्र के गुण—हाथी और घोड़े का मूत्र किलास कुष्ठ एवं पाच्यक्षार में उपयुक्त होता है।

गर्दभमूत्र के गुण—गधे का मूत्र उन्माद, अपस्मार, कृमि और प्रमेह का नाशक है।

विष्ठा के गुण—गाय, बकरी, हाथी, घोड़े और गर्दभ की विष्ठा कषाय और तिक्त रसवाली और हिक्काश्वासरोग की हरनेवाली है। मृग की विष्ठा ओजःक्षय-रोग की नाशक है। वैष्किर अर्थात् कुक्कुटादि की विष्ठा वायु रोग की हरनेवाली है। प्रसह अर्थात् गाय, गर्दभ, खच्चर, ऊंट, घोड़ा, हाथी, सिंह, रीछ, बन्दर, चीता, व्याघ्र, तरस, नकुल, बिलाव, मूषक, भेड़िया, सियार, श्येन, वाताद, चाष, काक, शशघ्न, भ्रमर, भास, गीध, उलूक, कुलिङ्ग, धूमिको और कुररी की विष्ठा अपस्मार तथा उन्माद को मिटाती है। महामृग (रोज-गवय) की विष्ठा कुष्ठ को दूर करती और मत्स्य, मगर, सारस, हंसादि जलचरों की विष्ठा नेत्ररोग हारिणी और बढ़े हुए पित्त को शान्त करती है।

पित्त के तथैव गोरोचन और मनुष्यमूत्र के गुण—उपर्युक्त इन सब प्राणियों का जठरभागोत्पन्न पित्त, तिक्त, क्रिमिघ्न, तथैव इन सबका नाभिदेशोत्पन्न रोचन जैसे कि गोरोचन होता है वह कफ तथा वायु को जीतनेवाला है। मनुष्यका मूत्र तिक्त, पामाहर और विष को दूर करता है। यहां मूत्रवर्ग समाप्त हुआ।

तोयक्षीरेक्षुतैलानां वर्गेर्मद्यस्य च क्रमात् ।
इति द्रवैकदेशोऽयं यथास्थूलमुदाहृतः ॥

१. मूलकसर्षपशाकानि कथितानि, कालजीरकराजिका-चूर्णभावितान्यम्लतीक्ष्णानि शाण्डाकी शब्देनोच्यत इत्यरुणः। शाकमुद्गादिवटकसंधानं शाण्डाकीति हेमाद्रिः। शाण्डाकी कन्दमूलादि-मुद्गादिवटकैः कृता। अथवा "मूलकच्छेदसंधानं शाण्डाकी स्याद्बहुद्रवा" इति तन्त्रान्तरे। "तच्च पिण्याकादिकृतं कालाम्लम् कालेन चिरकालेन स्थितेनाम्लमिति हेमाद्रिः। २. "व्यायामादिना श्रान्तत्वं श्रमः"। "निर्व्यायामादेरेवोपश्रान्तत्वं क्लमः" इत्यरुणः।

१. "पित्तं जाठरं, रोचना नाभिप्रदेशभवा" इतीन्दुः।

उपसंहार—किसी भी प्रधान वस्तु को न छोड़ते हुए इस प्रकार क्रमसे जल, दुग्ध, इक्षु, तैल और मद्यवर्गों करके द्रव-द्रव्यों का विषय स्थूलरूपेण कहा गया है।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थाने गोवर्धनशर्मरचितार्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यायां द्रवद्रव्यविज्ञानीयः षष्ठोऽध्यायः॥

# अथ सप्तमोऽध्यायः।

द्रव द्रव्य के पान का संस्कार प्रायः अन्न के साथ होने से अब अन्न का वर्णन करते हैं।

अथात अन्नस्वरूपविज्ञानीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

अन्नस्वरूपाध्याय—अब यहां से अन्न के स्वरूप का जिससे विशेष ज्ञान हो ऐसे "अन्नस्वरूपविज्ञानीय" संज्ञक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियोंने कहा है।

विशेष वक्तव्य—अन्न के स्वरूप से यहां अन्न के स्वभाव, रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव, गुण, कर्म आदि का ग्रहण करना चाहिये।[1] जो कुछ खाया जाता है उस धान्य, मांस, शाक, फल और औषध इन सबकी अन्न संज्ञा है।[2] इस अध्याय के नामकरण में द्रव्य शब्द का प्रयोग नहीं किया है तथापि अर्थगमक होने से इस अध्याय का नाम "अन्नद्रव्यस्वरूपविज्ञानीय, जानना चाहिए।[3]

धान्य के दो भेद—इसके पूर्वाध्यायमें द्रवद्रव्यका वर्णन हो चुका है, अब इस अध्यायमें अद्रवद्रव्य अर्थात् अन्नका वर्णन किया जायगा। शूक और शिम्बि इस प्रकार धान्य के दो भेद हैं। इनमें शूकधान्य प्रधान होने से यहां उसीसे आरम्भ करते हैं।

अथ शूकधान्यवर्गः।

रक्तो महान् सकलमस्तूर्णकः शकुनाहृतः।
सारामुखो दीर्घशूको रोध्र-शूकः सुगन्धकः॥
पुण्ड्रः पाण्डुः पुण्डरीकः प्रमोदो गौरशारिवौ।
काञ्चनो महिषः शूको दूषकः कुसुमाण्डकः॥
लाङ्गला लोहवालाख्याः कर्दमाः शीतभीरुकाः।
पतङ्गास्तपनीयाश्च ये चान्ये शालयः शुभाः॥
स्वादुपाकरसाः स्निग्धा वृष्या बद्धाल्पवर्चसः।
कषायानुरसाः पथ्या लघवो मूत्रला हिमाः॥

शूकधान्य के गुण—रक्तशालि, महाशालि, कलम, तूर्णक, शकुनाहृत, सारामुख, दीर्घशूक, रोध्रशूक, सुगन्धक, पुण्ड्र, पाण्डु, पुण्डरीक, प्रमोद, गौर, शारिव, काञ्चन, महिष, दूषक, कुसुमाण्डक, लाङ्गल, लोहवाल, कर्दम, शीतभीरुक, पतङ्ग और तपनीय ये भिन्न भिन्न जाति के जितने चावल कहे गये हैं, ये सब मधुररस-विपाकी, स्निग्ध, वृष्य, अल्प मलवाले तथा मलको बांधनेवाले, पीछे से कषायरसवाले, पथ्य, लघु, मूत्रल और हिम (शीतल) हैं। यहां स्वादुपाकी लिखकर चावलों को लघुपाकी भी कहा है। लघुपाकत्व ही कटुपाकत्व है। यह विरोध दिखाई देता है किन्तु यह विरोध नहीं है क्योंकि रस-विशेष ही पाक है और एक ही द्रव्य में रस अनेक रहते हैं अतः रसों के अनुसार यह अविरोध है।[1]

विशेष वक्तव्य—ऊपर जितने चावलों के नाम बताए हैं ये भिन्न भिन्न देशोत्पन्न चावलों के नाम हैं। यथा-कलम जाति के चावल मगधादि देशों में प्रसिद्ध है और यही काश्मीर में महातण्डुल कहलाता है। तूर्णक-काश्मीर देश में आजव नाम से प्रसिद्ध है। शकुनाहृत—वह चावल है जो बुद्ध के अवतार काल में उत्तर कुरुदेश से हंसों द्वारा मगध देश में लाया गया था और विशाखाने उसे बोया और वृद्धिंगत किया था। इसी लिए इस का नाम शकुनाहृत है। किन्तु वृद्ध वैद्यों का कथन है कि इस चावल को गरुड द्वीपान्तर से लाया है। इसी लिए इस का नाम शकुनाहृत एवं अपर नाम गरुडशालि भी है।[2] सुगन्धिक—जालन्धर, मगधादि देशों में गन्धशालि नाम से और यही मालव तथा गौड़ (बङ्ग) देश में देवधान नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार पतङ्ग आदि चावलों का पता भी उस उस देश के कृषकों से लगाना चाहिए। कुछ चावलों के नाम ही अन्वर्थक हैं जैसे कि सारामुख-(कृष्णशूक), दीर्घशूक (शुभ्र लम्बा चावल), रोध्रशूक (लोधपुष्प के आकारवाला) इत्यादि।[3] इन का विस्तृत वर्णन सुश्रुत-सूत्रस्थान के अ. ४६ में देखें।

शूकोत्पन्न चावलों की श्रेष्ठाश्रेष्ठताको अब बताते हैं कि—

शूकजेषु वरस्तत्र रक्तस्तृष्णात्रिदोषहा।
महांस्तस्यानु[4] कलमस्तं चाप्यनु ततः परे॥

---

१. अन्नस्य स्वरूपं-स्वभावो रसवीर्यविपाकप्रभावगुणकर्मादि तस्य विज्ञानमित्यरुणः। २. अन्नस्वरूपविज्ञानीयस्तत्र सप्तवर्गाः "शूकशिम्बिजपकान्नमांसशाकफलौषधैः।" इत्युक्ता अस्मिन्नेव ग्रन्थे। ३. द्रव्यशब्दश्चाप्रयुक्तोऽप्यर्थस्य गमक इत्यन्नद्रव्यस्वरूपविज्ञानीय इति द्रष्टव्यम्। इत्यरुणः।

१. "ननु इह शालयो मधुरपाका उक्ताः, सुश्रुतेन—'मधुरा वीर्यतः शीता लघुपाका बलावहाः।, इति विरोधः, लघुपाकत्वमेव हि कटुपाकत्वम्। मैवम्। रसवदविरोधः। पाको रसविशेषः। रसास्त्वेकस्मिन् द्रव्ये बहवोऽनुभूयन्ते।" इति हेमाद्रिः

२. "तत्र रक्तशालिमहाशाली—सुप्रथितावेव। कलमो मगधादिषु प्रसिद्धः। स एव महातण्डुल इति काश्मीरेषु। तूर्णकं च—तत्रैव आजव इति प्रसिद्धः। शकुनाहृतो—यो मगधेषु बुद्धोत्पादकाल उत्तरकुरुभ्यो हंसैरानीतो मृणालमात्रा (भृङ्गारपात्रे वा) विशाखाख्यया वापितो विस्तरं गतः। अत एव शकुनिनाऽऽहृतः शकुनाहृत इत्यन्वर्थास्य संज्ञा।" इत्यरुणदत्तः। डल्लनस्तु स्वकृतनिबन्धसंग्रहे सुश्रुतव्याख्याने हंसैरानीत इति प्रतिपाद्य पुनः "वृद्धवैद्यास्तु—द्वीपान्तरात्समानीतो गरुडेन महात्मना। शकुनाहृतः स शालिः स्याद्गरुडापरनामकः "स्वादुः" इति वदति।

३. "सुगन्धिको—गन्धशालिसंज्ञया जालन्धरमगधादिषु ख्यातः, देवशालिरित्यपरनामा मालवदेशे गौडे चापि प्रसिद्धः। एवं पतङ्गादयो नानादेशेषु कार्षकादिभ्योऽवधार्याः। सारामुखः-कृष्णशूकः, शुक्लाकारो-दीर्घशूकः, रोध्रशूको-रोध्रपुष्पाकारशूकः।" इत्यरुणदत्तः। ४. 'महांस्तं चानु, इति पाठान्तरम्।

चावलों की श्रेष्ठाश्रेष्ठता—शूकधान्यों में सब से श्रेष्ठ रक्त शालि है और वह तृष्णा एवं त्रिदोषनाशक है। रक्तशालि के अनन्तर महाशालि, महाशालि के पश्चात् कलम, और कलम के अनन्तर अन्य शालिधान्य ( चावल ) अश्रेष्ठ हैं। सारांश, रक्तशालि से महाशालि, महाशालि से कलम और कलम से अन्य शालिधान्य उत्तरोत्तर कुछ हीन गुणवाले हैं।

तस्मादल्पान्तरगुणाः[१] क्रमशः शालयोऽवराः ।
यवका हायनाः पांशुबाष्पनैषधकादयः ॥
स्वादूष्णा गुरवः स्निग्धाः पाकेऽम्लाः श्लेष्मपित्तलाः।
सृष्टमूत्रपुरीषाश्च पूर्वं पूर्वं च निन्दिताः ॥

उत्तरोत्तर हीनगुण चावल—उपर्युक्त रक्तशालि, महाशालि और कलम इनसे आगे कहे हुए शालि ( चावल ) क्रमसे कुछ न्यून गुणवाले हैं। यवक, हायन, पांशुबाष्प ( कोरक ), नैषधक आदि चावल पूर्वोक्त चावलों से हीन ( अश्रेष्ठ ) हैं। ये मधुर, उष्णवीर्यवाले, भारी, चिकने, अम्लविपाकी, कफपित्त-कारक, दस्तावर और मूत्रल हैं तथा ये पूर्वपूर्व निन्दित हैं। सारांश यह कि इन चावलों में यवक सब से निन्दित है। अर्थात् यवक से हायन, हायन से पांशुबाष्प तथा पांशुबाष्प से नैषधक अच्छे हैं। यहां आदि शब्द से चम्पकपत्रिकादि चावलों का ग्रहण करना चाहिए।

व्रीहिचावल—शालि चावलों के गुणवर्णन करने के अनन्तर अब ग्रन्थकार व्रीहि चावलों के गुणों का वर्णन करते हैं। हेमन्त ऋतु में होनेवाले उन चावलों का नाम शालि है जो बिना कूटने के ही स्वच्छ निकलते हैं। व्रीहि चावल वे हैं जो वर्षा ऋतु में होते हैं और कण्डन ( कूटने ) के बाद श्वेत निकलते हैं और जो चिरकाल में पचते हैं। कृष्णव्रीहि, पाटलक, कुक्कुटाण्डक, शालामुख एवं जतुमुख आदि ये सब व्रीहि के ही भेद हैं। अरुणदत्त के मत में कूटने पर श्वेत निकलनेवाले शालि और लाल रङ्ग के निकलनेवाले[२] व्रीहि हैं। व्रीहि चावलों में षष्टिक ( साठी चावल ) जो साठ दिन में पकते हैं, सब से श्रेष्ठ माने गये हैं अतः उनका वर्णन प्रथम करते हैं।

स्निग्धो ग्राही लघुः स्वादुस्त्रिदोषघ्नः स्थिरो हिमः।
षष्टिको व्रीहिषु श्रेष्ठो गौरश्चासितगौरतः ॥
ततः क्रमान्महाव्रीहिकृष्णव्रीहिजतूमुखाः ।
कुक्कुटाण्डकलावाख्यपारावतकसूकराः ॥
वरकोद्दालकोज्ज्वालचीनशारददर्दुराः ।
गन्धनाः कुरुविन्दाश्च गुणैरल्पान्तराः स्मृताः ॥

साठी चावल आदि के गुण—साठी चावल स्निग्ध, मल को बांधनेवाला, हल्का, मधुर रसवाला, त्रिदोषनाशक, शरीरमें अपने गुण को चिरकालतक स्थिर रखनेवाला अथवा शरीर-स्थैर्यकर, शीतवीर्य एवं श्रम-क्लम-ज्वर को हरनेवाला है। यह षष्टिक चावल सब व्रीहियों में श्रेष्ठ है और यह गौर ( स्वच्छ ) तथा असितगौर ( स्वच्छ किन्तु कुछ श्यामता-युक्त ) भेद से दो प्रकार का है। इन में भी असितगौरसे गौर श्रेष्ठ है। इन के पश्चात् महाव्रीहि, कृष्णव्रीहि, जतुमुख, कुक्कुटाण्डक, लावा, पारावतक, सूकर, वरक, उद्दालक, उज्ज्वालक, चीन, शारद, दर्दुर, गन्धन और कुरुविन्द नाम के चावल क्रम से कुछ न्यून गुणवाले हैं।

स्वादुरम्लविपाकोऽन्यो व्रीहिः पित्तकरो गुरुः।
बहुमूत्रपुरीषोष्मा त्रिदोषस्त्वेव पाटलः ॥

निन्द्य व्रीहि—उपर्युक्त व्रीहियों से अन्य व्रीहि मधुर रस-वाला, अम्लविपाकी, पित्तकारक और गरिष्ठ होता है। पाटल नाम का व्रीहि तो बहुमूत्र, मल तथा उष्णता को लानेवाला अति त्रिदोषकारक है। इसी लिए भोजन में इस का निषेध करने के लिए ही शास्त्रकारने इस का निर्देश नहीं किया[२] है।

कङ्गुकोद्रवजूर्णाह्वगर्दीवरुणपादिकाः[३] ।
श्यामाकतोयश्यामाकहस्तिश्यामाकशिल्बिकाः[४] ॥
शिशिरोद्दाल[५]-नीवार-वरुक[६]-वरकोत्कटाः ।
मधूलिकान्तर्निगुण्डीवेणुपर्णीप्रशान्तिकाः ॥
गवेधुकाण्डलौहित्य-तोयपर्णी-मुकुन्दराः ।
कफपित्तहरा रूक्षाः कषायमधुरा हिमाः ॥
वातला बद्धविण्मूत्रा लघवो लेखनात्मकाः ॥

कुधान्यकथन—कङ्गु ( कांगणी-प्रियंगु ), कोदों, जुआर, गदी या गर्मुटी, वरुणपादिक या चूर्ण-पादिक, श्यामाक ( सावा ), तोयश्यामाक ( जल के समीप उत्पन्न होनेवाला सावा ), हस्तिश्यामाक ( स्थूलाकार सावा ), शिल्बिक या शिम्बिर, शिशिरोद्दालक ( शिशिर ऋतु में होनेवाला कोदों विशेष ), नीवार, वरुक ( वरु ), वरक, उत्कट, मधूलिका, अन्तर्निगण्डी या शान्तनु-शण्डी, वेणुपर्णी, प्रशान्तिका, गवेधुक ( जंगली देवधान ), अण्डलौहित्य, तोयपर्णी और मुकुन्दर ये सब कफपित्तनाशक, रूक्ष, कषायमधुर-रसवाले, ठण्डे, वात-कारक, मल मूत्र को बांधनेवाले, लघु ( हल्के ) तथा लेखन हैं। सुश्रुतकारने ये सब कुधान्य बताए हैं, इस लिए कि ये प्रायः व्यवहार में नहीं आते हैं। अब इन के विशेष गुणों को कहते हैं।

भग्नसंधानकृत्तत्र प्रियङ्गुर्बृंहणी गुरुः ।
कोरदूषः परंग्राही स्पर्शे शीतो विषापहः ॥

१. पथ्यापथ्यविनिश्चयटीकापुस्तके नास्ति।

२. "कण्डनेन विना शुक्ला हैमन्ताः शालयः स्मृताः। वार्षिकाः कण्डिताः शुक्ला व्रीहयश्चिरपाकिनः" तद्भेदा यथा—कृष्णव्रीहिः पाटलश्च कुक्कुटाण्डक इत्यपि। शालामुखो जतुमुख इत्याद्या व्रीहयः स्मृताः॥" इति भावमिश्राः। "चूर्णः सितः स्मृतः शालिः, रक्तो व्रीहिरुदाहृतः।,, इत्यरुणदत्तः।

१. 'स्थिरः-स्थिरगुणः कार्यरूपेण शरीरे चिरकालं तिष्ठतीत्यर्थः इति हेमाद्रिः। 'स्थिरो हिम इति शरीरस्थैर्यकरो ज्वरश्रमक्लमग्लानिहरः, इत्यरुणः।

२. "त्रिदोषस्त्वेवेत्यत्रैवशब्दोऽतिशयख्यापनाय। अतिशयेन त्रिदोषल इत्यर्थः। अतित्रिदोषलत्वेनास्याऽभ्यवहारनिषेधं करोति। अत एव च रसादिमत्त्वं न व्यधादस्य शास्त्रकारः" इत्यरुणदत्तः।

३. गर्मूटीचूर्णपादिकाः ४. शिम्बिराः ५. शिम्बिरोदारु ६. कूबर ७ शान्तनुसण्डी ८ काः, इति पाठान्तराणि।

उद्दालकस्तु वीर्योष्णो नीवारः श्लेष्मवर्धनः ।
शीतवीर्या विशेषेण स्निग्धा वृष्या मधूलिका ॥

प्रियंगुआदिके गुण – प्रियंगु या कङ्गु भग्नसंधानकृत् ( टूटी हुई हड्डी आदि को जोड़नेवाली ), बृंहणी और गुरु ( भारी ) है। सुश्रुतने इसकी लाल, पीली, काली और श्वेत ऐसी चार जातियां लिखी हैं और कहा है कि ये रूक्ष और कफहारक हैं। कोदो धान अतीव मलावरोध करनेवाला, छूने में ठण्डा तथा विषको दूर करनेवाला है। उद्दालक ( कोदोकी ही एक जाति-तृणधान्यविशेष ) उष्णवीर्य है। नीवार कफको बढ़ानेवाला है और मधूलिका विशेषतः स्निग्ध और वृष्य है।

अब जौ ( यव ) और गेहूंके गुणों को कहते हैं।—

रूक्षः शीतो गुरुः स्वादुः सरो विड्वातकृद्यवः ।
वृष्यः स्थैर्यकरो मूत्रमेदःपित्तकफान् जयेत् ॥
पीनसश्वासकासोरुस्तम्भकण्ठत्वगामयान् ।
गुणैर्न्यूनतरा ज्ञेया यवादन्ययवाह्वयाः ॥
उष्णाः सरा वेणुयवाः कषाया वातपित्तलाः ॥
वृष्यः शीतो गुरुः स्निग्धो जीवनो वातपित्तहा ।
संधानकारी मधुरो गोधूमः स्थैर्यकृत्सरः ।
पथ्या नन्दीमुखी शीता कषाया मधुरा लघुः ॥

जव के गुण– जौ ( यव ) रूक्ष, शीतवीर्य ( ठण्डा ), भारी, मधुर रसवाला, दस्तावर, मल ( पुरीष ) और वातकारक, वृष्य, स्थैर्यकर, मूत्ररोग-मेदोरोग-पित्तरोग-कफरोग इन को जीतनेवाला, पीनस-श्वास-कास-ऊरुस्तम्भ-गलगडादि कण्ठरोग तथा कुष्ठ आदि चमड़ी ( त्वचा ) के रोगों को हरनेवाला है। विदेशी अन्ययव यव से कुछ हीन गुणोंवाला है। वेणुयव उष्ण, दस्तावर, कसैला और वात-पित्तकारक है।

गेहूं के गुण—गेहूं वीर्य को बढ़ानेवाला, शीतवीर्य, गुरु, स्निग्ध ( सचिक्कण ), ओज को बढ़ानेवाला, वातपित्त नाशक, ऊरु आदि के टूटने को जोड़नेवाला, मधुर, स्थिर गुणवाला तथा सर ( शरीर में प्रसरणशील या दस्तावर ) है। नन्दीमुखी अर्थात् पतला और लम्बा गेहूं पथ्य, शीतवीर्य, कषामधुर और हलका है।

इति शूकधान्यवर्गः।

अब आचार्य शिम्बी ( सेम या फली ) से उत्पन्न होनेवाले धान्यों का वर्णन करते हैं—

## अथ शिम्बिजधान्यवर्गः

शिम्बिजा मुद्गमङ्गल्यवनमुद्गमकुष्ठकाः ।
मसूरचवलाढक्यश्चणकाश्च पृथग्विधाः ॥
कषायस्वादुलघवो विबन्धाध्मानकारिणः ।
रूक्षा बद्धमलाः शीता विपाके कटुका हिताः ॥
पित्तासृक्कफमेदस्सु सूपालेपादियोजनात् ॥

शिम्बी धान्य—शिम्बी ( फली ) में से निकलनेवाले खेत और जंगल में होनेवाले दोनों प्रकार के मूंग, मङ्गल्या ( पीले रंग की मसूर ) चवला, अरहर, चना आदि नाना प्रकार के धान्य कषाय-मधुर रसवाले, लघु, स्रोतों का विबन्ध और आध्मान ( अफारा ) करनेवाले ( अपान वायु को रोकनेवाले ), रूक्ष, मल ( पुरीष ) को बांधनेवाले, शीतवीर्य, कटुविपाकी और पित्त, रक्त, कफ और मेदवृद्धि में सूप (दाल) के भोजन तथा आलेप ( लेप ), परिषेकयोजना के कारण हितकारी हैं।

विशेष वक्तव्य—यहां विबन्ध का अर्थ स्रोतों का विबन्ध ही समझना चाहिए न कि मलावरोध या मल का बांधना। इस लिए कि आगे "बद्धमलाः" पद भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है। बद्ध मल का दूसरा पर्याय संग्राही है जो कि मल के भेदन करनेवाले द्रव्य से विपरीत होता है। भेदन द्रव्य मल को तोड़ता है और संग्राही मल को बांधता है। इस से पहले पड़े हुए विबन्ध पद का भावार्थ स्रोतों के विबन्ध से ही है न कि मल को बांधने से। अब आचार्य इन में से कुछ के विशेष गुणों का वर्णन करते हैं। यथा—

सूप्यानामुत्तमा मुद्गा लघीयांसोऽल्पमारुताः ।
हरितास्तेष्वपि वरा मकुष्ठाः क्रिमिकारिणः ॥
वर्ण्याः परं प्रलेपाद्यैर्मसूरा ग्राहिणो भृशम् ॥

मूंगआदि सूपधान्यगुण—भोजनोपयोगी सूप ( दाल ) बनाने के काम में आनेवाले सब धान्यों में मूंग श्रेष्ठ हैं लघु ( हलके ) तथा अल्प ( किञ्चित् ) वायुकारक हैं। इन में भी हरे रंग के मूंग श्रेष्ठ हैं, मकुष्ठ ( मौठ ) क्रिमिकारक हैं। मसूर प्रलेपादि द्वारा श्रेष्ठ वर्ण को बढ़ानेवाला और पूर्णतया मल( विष्ठा) को बांधनेवाला है।

राजमाषो गुरुर्भूरिशकृद्रूक्षोऽतिवातलः ।
कषायस्वादुरुक्षोष्णा कुलत्था रक्तपित्तलाः ॥
पीनसश्वासकासार्शोहिध्मानाहकफानिलान् ।
घ्नन्ति शुक्राश्मरीं शुक्रं दृष्टिं शोफं तथोदरम् ॥
ग्राहिणो लघवस्तीक्ष्णा विपाकेऽम्ला विदाहिनः।
निष्पावस्तु सरो रूक्षः कषायमधुरो गुरुः ॥
पाकेऽम्लो वातविष्टम्भी स्तन्यमूत्रास्रपित्तकृत् ।
उष्णो विदाही दृक्शुक्रकफशोफविषापहः ॥

राजमाषादि गुण – राजमाष ( चवला ) गुरु, बहुत मल ( विष्ठा ) को लानेवाला, रूक्ष और अतिवातकारक है। कुलथी– कषाय और मधुर रसवाली, रूक्ष, उष्णवीर्य, रक्त-

---

१. रक्ताः पीताश्च कृष्णाश्च श्वेताश्चैव प्रियङ्गवः। यथोत्तरप्रधानास्यू रूक्षाः कफहराः स्मृताः इति।

२. दीर्घसूक्ष्मो गोधूमो–नन्दीमुखीति हेमाद्रिः।

१. "मुद्गोद्विविधः,–क्षेत्रमुद्गो वनमुद्गश्च।" मसूरो द्विविधः,–कृष्णः पाण्डुश्च इति हेमाद्रिः।

२. "मुद्गादिकं यत् शिंबिधान्यं तद्विबन्धकृत्। केषां विबन्धं करोति? सामर्थ्यात् स्रोतसाम्, न तु पुरीषादीनाम्। तथा च संग्राहीत्यत्रैव पठति शास्त्रकृत्। संग्राहिलक्षणं च तन्त्रान्तरे। यथा—"भेदि तत्पिण्डितान् भावान् शकृदादीन् भिनत्ति यत्। विपरीतमतो ग्राहि इति। तस्माद्विबन्धं स्रोतसामेवेत्यवेहि इत्यरुणदत्तः।
[ अ. हृ. अ. ६ श्लो. १७ टीकायाम् ]

पित्त को करनेवाली, पीनस-श्वास-खांसी-अर्श ( बवासीर ) हिचकी-आनाह-कफ-वात-शुक्राश्मरी-शुक्र ( वीर्य )-दृष्टि-सूजन तथा उदररोग इन सब को नष्ट करनेवाली, ग्राहिणी ( मल को बांधनेवाली ), लघु, तीक्ष्ण, अम्ल विपाकवाली और विदाहिनी है। निष्पाव ( वाल-बालोर या राजशिम्बी )[1] दस्तावर, रूक्ष, कषाय और मधुररसवाला, गुरु ( भारी ), अम्लविपाकी, अपानवायु को रोकनेवाला या अफारा लानेवाला, स्त्रियों के स्तन्य ( दूध ) को बढ़ानेवाला, मूत्र को एवं रक्त पित्त को पैदा करनेवाला, उष्ण तथा विदाही है, दृष्टि-वीर्य-कफ-शोथ और विष इन को नष्ट करनेवाला है।

विशेष वक्तव्य - यहां कुलथी के कषाय, मधुर और मलको बांधना ये गुण शिम्बिधान्यके सामान्य गुणोंकरके जानना चाहिए और उष्णवीर्य तथा रक्तपित्त कारिणी होनेसे इसे दृष्टि-नाशिनी मानना चाहिए।[2] सुश्रुतने कुलथीका कटुविपाक कहा है और यहां वाग्भट इसका अम्लविपाक बताते हैं। यह विरोध दिखाई देता है किन्तु यह विरोध नहीं है। जिस द्रव्यमें अनेक रस होते हैं वहां रसोंके अनुसार विपाक का विरोध नहीं, अपितु अविरोध मानना चाहिए[3]।

अब माष ( उड़द ) आदि शिम्बिधान्यों के गुणों का बखान करते हैं।—

माषः स्निग्धो बलश्लेष्ममलपित्तकरः सरः ।
गुरूष्णोऽनिलहा स्वादुः शुक्रवृद्धिविरेककृत् ॥
फलानि गुणवद्विद्यात्काकाण्डोलात्मगुप्तयोः ।
कुशाम्रशिम्बी मधुरा वातपित्तहरा हिमा ॥
मधुराः शीतला गुर्व्यो बलघ्न्यो रूक्षणात्मिकाः।
स्नेहाढ्या बलिभिर्योज्या विविधाः शिम्बिजातयः॥
स्निग्धोष्णतिक्तकटुकः कषायमधुरस्तिलः ।
मेध्यः केश्यो गुरुर्वर्ण्यः स्पर्शशीतोऽनिलापहः ॥
अल्पमूत्रः कटुः पाके मेधाग्निकफपित्तकृत् ।
कृष्णः प्रशस्तस्तमनु शुक्लस्तमनु चारुणः ॥
स्निग्धोमा स्वादुतिक्तोष्णा कफपित्तकरी गुरुः ।
दृक्शुक्रहृत्कटुः पाके तद्वद्बीजं कुसुम्भजम् ॥

माष के गुण—माष ( उड़द ) स्निग्ध (सुचिक्कण-चिकना), बलकारक, कफकारक, मल अर्थात् पुरीषकारक तथा पित्त कारक, सर ( दस्तावर एवं शरीर में प्रसरणशील ), गुरु, उष्णवीर्य, वातहारक, मधुर रसवाला, वीर्य को बढ़ानेवाला और विरेचक है।

केवाच के गुण—रोम या सूकरहित केवांचके बीज[4] तथैव शूकसहित फलीवाली केवांचके बीज-पूर्वोक्त उड़द के समान गुणवाले जानने चाहिए। कुशाम्रशिम्बी (एक प्रकारका शिम्बि-धान्य ) मधुर रसवाली, वातपित्तको नष्ट करनेवाली तथा छूनेमें शीतल है।

मधुर, शीतल, गुरु, बलका नाश करनेवाली, रूक्ष ऐसी शिम्बिधान्यकी अनेक जातियाँ हैं। जिन शिम्बिधान्यों में स्नेह ( चिकनाई तेल आदि ) विशेष हो, उनका सेवन बलवानों को ही करना चाहिए। अब वैसे स्निग्ध शिम्बिधान्यों के गुणों को कहते हैं।

तिल आदि के गुण— तिल-स्निग्ध, उष्णवीर्य, तिक्त, कटु, कषाय और मधुर रसवाला, बुद्धिको बढ़ानेवाला, केशोंके लिए हितकारी, गुरु, वर्णको बढ़ानेवाला, स्पर्श करनेपर ठण्डा, वात-नाशक, अल्पमूत्र, पाक में कटु, मेधा-जठराग्नि-कफ और पित्तको बढ़ानेवाला है। सब प्रकारके तिलों में काले तिल श्रेष्ठ हैं। श्वेत तिल काले तिलोंसे हीन गुणवाले हैं और इसी प्रकार लाल तिल श्वेत तिलों से न्यून गुणवाले हैं।

अलसी—अर्थात् उमा स्निग्ध, मधुर और तिक्त रसवाली, उष्णवीर्य, कफपित्तकारिणी, गुरु, दृष्टि और वीर्य को हरनेवाली और पाक में कटु है।

कुसुम्भ या करंके बीज—अलसी के समान गुणवाले हैं।

माषोऽत्र सर्वेष्ववरो यवकः शूकजेषु च।
नवधान्यमभिष्यन्दि सेक्यं केदारजं च यत्॥
लघु वर्षोषितं दग्धभूमिजं स्थलसंभवम् ।
शीघ्रजन्म तथा सूप्यं निस्तुषं युक्तिभर्जितम् ॥

शिम्बीधान्यों में श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ—सब प्रकार के शिम्बिधान्यों में माष ( उड़द ) अश्रेष्ठ है। इसी प्रकार शूकधान्यों में यवक ( जौकी एक जाति ) अश्रेष्ठ है। नवीन धान्य अभिष्यन्दि[1] अर्थात् मलिनता से शारीरिक स्रोतों में से कफको चुआनेवाला या दही की तरह अपने पैच्छिल्य और गौरवगुण से रसवाहिनी सिराओं को बन्द कर शरीर में गौरव ( भारीपन ) लानेवाला है। इसी प्रकार बहुत जलवाले केदार में उत्पन्न होनेवाला अन्न भी अभिष्यन्दी है। एक वर्ष तक सुरक्षित रखने के बाद अन्न लघु ( हलका ) होता है अर्थात् वह बहुत जल्दी पचनेवाला होता है। इसी प्रकार भूमि को दग्ध करके उस में बोया हुआ अन्न; बिना जल के केदार में उत्पन्न हुआ अन्न, जल्दी उत्पन्न होनेवाले मूंग आदि सूप्य अन्न और युक्ति से भुने हुए निस्तुष अन्न ये सभी हलके ( लघु ) होते हैं। यहां नवीन अन्न के अभिष्यन्दित्व से पुराने अन्न का अनभिष्यन्दित्व तथैव पुराने अन्न के लघुत्व से नवीन अन्न का गुरुत्व अर्थ ही से स्वयं सिद्ध होता है। इति शिम्बिधान्यवर्गः।

## अथ कृतान्नवर्गः।

धान्य वर्ग के अनन्तर अब कृतान्न (तयार किए हुए विपाचित अन्न) वर्ग का आरम्भ करते हैं। इस में मण्ड, पेया, विलेपी और ओदन ये मुख्य हैं। विपाचित चावल आदि के घनभाग में

१. "निष्पावो वल्ल इति हेमाद्रिः। निष्पावो राजशिम्बीति" इन्दुः।

२. "कषायस्वादुसंग्राहित्वं शिम्बीधान्यसामान्यलक्षणेनैषां वेद्यम्, दृष्टिनाशनत्वं चोष्णवीर्यत्वेन रक्तपित्तकरत्वेन च" इत्यरुणदत्तः।

३. "ननु,-"कृष्णः कुलत्थो रसतः कषायः कटुर्विपाके कफमारुतघ्नः।" इति सुश्रुतेन विपाके कटुत्वमुक्तम्, इह त्वम्लत्वमिति विरोधः। मैवम्। अनेकरसवदविरोधः, इति हेमाद्रिः।

४. "काकाण्डोला-निःशूका कपिकच्छूः।" इति हेमाद्रिः

१. "मालिन्यात् स्रोतसां स्रुतिरूपं श्लेष्माणं करोतीत्यभिष्यन्दि" इत्यरुणः। पैच्छिल्याद्गौरवाद्द्रव्यं रुध्वा रसवहाः शिराः। धत्ते यद्गौरवं तत्स्यादभिष्यन्दि यथा दधि ॥ इति शार्ङ्गधरः।

से छान कर अलग निकाला हुआ द्रवभाग मण्ड कहलाता है। कुछ घन भाग द्रव भाग में मिला हुआ पेया है। जिस द्रवभाग में घनभाग अधिक होता है वह विलेपी कहलाती है। "अन्नं पञ्चगुणे तोये यवागूं षड्गुणे पचेत्" इस प्रमाण से पांच-गुने जल में पकाए चावलों का नाम ओदन है और ६ गुने जल में विपाचित चावलों को यवागू कहते हैं। यह सामान्य परिभाषा है। विशेष देखना हो तो ग्रन्थान्तरों में देख सकते हैं। अब इन मण्डादि के गुणों को कहते हैं।

मण्डपेयाविलेपीनामोदनस्य च लाघवम्।
यथापूर्वं शिवस्तत्र मण्डो वातानुलोमनः॥
तृड्ग्लानिदोषशेषघ्नः पाचनो धातुसाम्यकृत्।
स्रोतोमार्दवकृत्स्वेदी संधुक्षयति चानलम्॥
क्षुत्तृष्णाग्लानिदौर्बल्यकुक्षिरोगज्वरापहा।
मलानुलोमनी पथ्या पेया दीपनपाचनी॥
विलेपी ग्राहिणी हृद्या तृष्णाघ्नी दीपनी हिता।
व्रणाक्षिरोगसंशुद्धदुर्बलस्नेहपायिनाम्॥
सुधौतः प्रस्नुतः स्विन्नोऽत्यक्तोष्मा[2] चौदनो लघुः।
यश्चाग्नेयौषधक्काथसाधितो भ्रष्टतण्डुलः॥
विपरीतो गुरुः क्षीरमांसाद्यैर्यश्च साधितः।
इति संयोगसंस्कारैरन्नान्यन्यानि चादिशेत्॥

मण्ड आदि के गुण—मण्ड, पेया, विलेपी और ओदन ये यथापूर्व लघु ( हलके ) हैं अर्थात् ओदन से विलेपी, विलेपी से पेया और पेया से मण्ड लघु है। सारांश, इन सब में मण्ड श्रेष्ठ ( आरोग्यदाता ) और वायु को अनुलोमनकर्ता—अपने स्थान से च्युत कुपित वायु को यथास्थान पर लानेवाला है। इतना ही नहीं, मण्ड तृष्णा, ग्लानि और शुद्ध होते हुए वातादि दोषों के शेष दोष को दूर करनेवाला है, पाचन है, धातुसाम्यकारी है, स्रोतों में मृदुता लानेवाला है, स्वेदकारक है और जाठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला है।

पेया—भूख, प्यास, ग्लानि, दुर्बलता, कुक्षिरोग और ज्वर को दूर करती, मलानुलोमनी ( प्रकुपित दोषों को शान्त करनेवाली ) पथ्य है तथा दीपन-पाचन करनेवाली है।

विलेपी—मलका अवरोध करनेवाली, हृदय के लिए हित-कारिणी, प्यास को दूर करनेवाली, व्रण, नेत्ररोग इन में तथा स्नेहपान किए हुए संशोधित दुर्बल के लिए पथ्या है।

ओदन—अच्छा धोकर साफ किया हुआ, मण्ड से रहित, स्वेदित, सबाष्प, कुछ गरम ( जो बिलकुल ठण्डा न हुआ हो ) ऐसा चावलों का भात लघु ( हलका ) है। जो मरिच, चित्रक आदि अग्निप्रदीपन औषधियों के क्काथ के साथ पाचित तथा भूने हुए चावलों का ओदन ( भात ) भी लघु है। इस के विपरीत दूध या मांसरस के साथ पका कर तयार किया हुआ ओदन ( भात ) गुरु अर्थात् भारी है। इसी प्रकार नाना प्रकार के द्रव्य संयोगों द्वारा पकाया हुआ अन्न ओदन भी गुरु तथा लघु होता है। सारांश, जैसे गुणवाले द्रव्य के साथ पकाया जायगा वह अन्न वैसे ही गुणवाला लघु और गुरु होगा।

अब आचार्य मांसरस आदि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

शुष्यतां व्याधिमुक्तानां[1] शुद्धानां शुद्धिकांक्षिणाम्।
कृशाक्षामक्षतोरस्कक्षीणधात्विन्द्रियौजसाम्॥
दृष्टिश्रवणवह्न्यायुर्बलवर्णस्वरार्थिनाम्।
भग्नविश्लिष्टसंधीनां व्रणिनां वातरोगिणाम्[2]॥
हृद्यः पथ्यः परं वृष्यो बृंहणः प्रीणनो रसः।
मौद्गस्तु पथ्यः संशुद्धव्रणकण्ठाक्षिरोगिणाम्॥
वातानुलोमी कौलत्थो गुल्मतूनीप्रतूनिजित्।
प्रभूताभ्यन्तरमलो माषयूषः[3] परं स्मृतः॥

मांसरस के गुण—शरीर में मांसवृद्धि न हो कर जो दिन प्रतिदिन सूख रहे हैं, जो व्याधि से मुक्त हुए हैं या जो व्याधि युक्त हैं, जिन का वमन-विरेचन कराने के कारण बल घट गया है, शारीरिक स्रोतों में मार्दव प्राप्तकर जो वमन-विरेच-नादि कराना चाहते हैं, स्थूलता नष्ट होकर जो कृश ( दुबले ) हो गये हैं, जिन का बल हीन हो गया है, जो उरःक्षत के रोगी हैं, जो रसरक्तादि धातुओंसे क्षीण हैं, जिन के वीर्य-इन्द्रियां और ओज क्षीण हैं, जो अच्छी दृष्टि-श्रवणशक्ति-जठ-राग्नि-आयु-बल-वर्ण और स्वर को ठीक रखना चाहते हैं या इन की कामना करते हैं, जिनकी हड्डी टूट गई है—संधियां ढीली पड़ गई हैं और जो व्रणरोगी एवं वातरोगी हैं, इन सब के लिए मांसरस हृद्य ( हृदय को बल देनेवाला ) पथ्य, वीर्य का परम वृद्धिकर्ता, पुष्टिकर्ता और तृप्तिकर्ता है।

मुद्गयूष—मूंगों का रस अर्थात् मांसरहित यूष वमन विरे-चनादि द्वारा संशुद्ध रोगी के लिए तथैव व्रण, कण्ठ और नेत्र-रोगियों के लिए हितकारी ( पथ्य ) है।

कुलत्थयूष—कुलथी का निर्मांस यूष वायु को अनुलोमन करनेवाला तथा गुल्म-तूनी-प्रतूनी इन रोगों को जीतने-वाला है।

माषयूष उड़द का निर्मांस रस या यूष अन्तर्मल ( विष्ठा या पुरीष ) को अति बढ़ानेवाला है।

विशेष वक्तव्य—मांसरस के शास्त्रकारोंने तीन प्रकार बताए हैं जैसे कि कृत, अकृत और दकलावणिक। इन में पहला कृत मांसरस वह है जो सोंठ, मरिच, पीपल नमक, स्नेह अर्थात् घृत तैलादि के साथ पका कर तयार किया जाता है और गाढ़ा होता है। अकृत मांसरस इस के विपरीत पतला होता है अर्थात् मांस के अतिरिक्त उस में शुंठी स्नेहादि नहीं

१. "सिक्थैर्विरहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता। विलेपी बहुसिक्था स्यात्।" इति सुश्रुतः

२. "स्विन्नस्त्यक्तोष्मा" इतीन्दुसंमतपाठस्तत्कृतं केचित्पठन्तीति व्याख्यानं चेत्युभयं हेयमेव चरकसुश्रुतादिविरुद्धत्वात्। तथा च चरकः—'सुधौतः प्रस्नुतः स्विन्नः संतप्तश्चौदनो लघुः', इति। सुश्रुतः—"स्विन्नः सुप्रस्नुतस्तूष्णो विशदस्त्वोदनो लघुः।" इति

१. "व्याधयुक्तानाम्" इत्यपि पाठान्तरम्।

२. "रोगाणां" इति हेमाद्रिसंमतः पाठः।

३. "माषसूपः" इति पा०

रहते। दकलावणिक मांसरस उसे कहते हैं जिस में मांस अल्प होता है और जो जल, स्नेह और नमकयुक्त होता है।

मांसरसविधि—उपर्युक्त मांसरस तयार करने की विधि इस प्रकार बतलाई गई है कि-"बकरे की जंघाका या तीतर का निरस्थि मांस ४ पल सूक्ष्म कूटा हुआ जल से धोकर उस में दो टङ्क पीपल, पीपलामूल, सोंठ, चित्रक और धनियाका चूर्ण मिलावे और उसे डेढ़ आढक जल में पकावे। इस में दो पल कूटा हुआ अनारदाना भी डाले। इस परिपक्व रस को भली भांति मल कर छान ले। उस को हींग, सेंधा नमक तथा जीरा इन से युक्त तथा धूपित करे। यह मांसरस उपरिनिर्दिष्ट रोगियों के लिए परम पथ्य है।

इस के अतिरिक्त रस के यूष, खल और काम्बलिक ऐसे तीन प्रकार और बताए हैं। शुण्ठी स्नेहादि सह मांस से बनाया जानेवाला रस, धान्यों से यूष, फलों द्वारा खल और मूलीतिलकल्क सह बनाया जानेवाला प्रायः खट्टा रस काम्बलिक कहलाता है। इसमें भी तनु-सान्द्र (पतला-गाढ़ा) भेद से तथा अम्ल-मधुर भेद से दो दो प्रकार और होते हैं। हम विस्तारभय से अधिक न कह कर पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वे अष्टाङ्गहृदय की अरुणदत्तकृत टीका को देखें।

अब खल और काम्बलिक के गुणों का वर्णन करते हुए पूर्वोक्त रस आदि की परिभाषा को कहते हैं।

खलकाम्बलिकौ हृद्यौ छेदिनौ स्वौषधानुगौ।
पिशितेन रसस्तत्र यूषो धान्यैः खलः फलैः॥
मूलैश्च तिलकल्काम्लप्रायः काम्बलिकः स्मृतः।
ज्ञेयाः कृताकृतास्ते तु स्नेहादियुतवर्जिताः॥
अल्पमांसादयः स्वच्छा दकलावणिकाः स्मृताः।
विद्याद्यूषे रसे सूपे शाके चैवोत्तरोत्तरम्॥
गौरवं तनुसान्द्राम्लस्वादुष्वेषु पृथक्तथा।
तिलपिण्याकविकृतिः शुष्कशाकं विरूढकम्॥
शाण्डाकीवटकं रूक्षं दोषलं ग्लपनं गुरु।
पर्पटा लघवो रुच्या लघीयान् क्षारपर्पटः॥
हृद्या वृष्या रुचिकरा गुरवो रागखाण्डवाः।
प्रीणना श्रमतृट्छर्दिमदमूर्च्छाश्रमच्छिदः॥
तृट्छर्दिश्रमनुन्मन्थः शीतः सद्योबलप्रदः।
प्रमेहक्षयकुष्ठानि न च स्युर्मन्थपायिनः॥
रसाला बृंहणी वृष्या स्निग्धा बल्या रुचिप्रदा।
श्रमक्षुत्तृट्क्लमहरं पानकं प्रीणनं गुरु।
विष्टम्भि मूत्रलं हृद्यं यथा द्रव्यगुणं च तत्॥

खल-काम्बलिक के गुण—खल और काम्बलिक ये दोनों हृद्य (हृदय के लिए हितकारी या प्रिय), जमे हुए कफादि मलों को ढीले करनेवाले तथा जिन औषधियों के संस्कार से बनेंगे उन्हीं के गुणों को करनेवाले हैं, उन्हीं औषधियों के अनुरूप फल देनेवाले हैं।

मांसरसादिकी परिभाषा—मांस के साथ स्नेह-शुण्ठी आदि करके तयार किया जानेवाला रस है। इसी प्रकार मांसरहित मूंग आदि धान्यों द्वारा बननेवाला रस यूष कहलाता है। बेर आदि फलों द्वारा निर्मित खल होता है और मूली, तिल, तिलकल्क एवं दाडिमादि खट्टे पदार्थों से बननेवाला रस प्रायः काम्बलिक कहलाता है। इन में स्नेहादियुक्त रस, यूष और खल कृत कहलाते हैं। इसी प्रकार स्नेहादिवर्जित अकृत। स्वल्प मांस, स्वल्प स्नेह आदि से बननेवाले स्वच्छ रस आदि को दकलावणिक कहते हैं।

यूषआदिकी गुरु लघुता—लघुता तथा गुरुता की रीति से देखा जाय तो यूष, रस, सूप (मूंग आदि की दाल) और शाक इन को उत्तरोत्तर गुरु जानना चाहिए। सारांश यह कि यूष से मांसरस, मांसरस से सूप और सूप से शाक को गुरु (भारी) समझना चाहिए। यही बात पतले और गाढ़े रस में या अम्ल या मधुर रस में समझ लेनी चाहिये अर्थात् पतले रस से गाढ़े रस को गुरु तथैव अम्ल रस से मधुर रस को गुरु या भारी जानना चाहिए। तिल और तिलकी खली से बने हुए पदार्थ, सूखे शाक, अंकुरित धान्य और कांजी के बड़े ये सब दृष्टिनाशक, त्रिदोषकारक, ग्लानिकारक तथा गुरु हैं। पापड़ लघु और रुचिकारक है। सज्जी आदि क्षारों से बननेवाले पापड़ अत्यन्त लघु हैं। राग (जो शक्कर, मधु आदि से मीठे पानक बनाए जाते हैं) और खाण्डव (खटाईसह शर्करादि से बनाये जानेवाले पानक) हृदय को बल देनेवाले, पुष्टिकारक, रुचिकर, गुरु, मन में प्रसन्नता लानेवाले, श्रम-तृषा-वमन-मद-मूर्छा तथा थकावट को दूर करनेवाले हैं। मन्थ (जल में घोला हुआ घृतसहित सत्तू) प्यास, वमन, थकावट को दूर करनेवाला, ठण्डा और शीघ्र बल को देनेवाला है। मन्थ के पीनेवाले प्रमेह, क्षय और कुष्ठ के रोगी नहीं होते। मरिच, शक्कर, केसर आदि सहित मथे हुए निर्जल

१. "ज्ञेयाः कृताकृतास्ते तु स्नेहादियुतवर्जिताः। अल्पमांसोदकस्नेहा दकलावणिकाः स्मृताः॥" इत्यरुणः। "अकृतं कृतयूषं च तनु सांस्कारिकं रसम्।" इति चरकः। "अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना। विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः संस्कृतं रसम्।" इति। तनुमिति स्वल्पमांसत्वेनाघनं, सांस्कारिकमिति बहुनां सस्नेहादिसंस्कृत-त्वाद् घनम्। इति चक्रः

२. "छागलं सक्थिजं मांसं निरस्थि तैत्तिरं तथा। चतुष्पलोन्मितं सूक्ष्मं कल्पितं क्षालितं जले॥ पिप्पलीपिप्पलीमूलशुण्ठीचित्रकधान्यकैः। द्विशाणैः संयुते तोये क्वाथ्यं सार्धाढकोन्मिते॥ मांसेऽस्मिन्द्विपलं तत्र दाडिमात्कुट्टितात्क्षिपेत्। तं रसं मर्दितं पूतं हिङ्गुसैन्धवजीरकैः॥ युक्तं सुधूपितं पथ्यं शुद्धानां शुद्धिकां क्षिणाम्॥" इत्यारुणदत्तः।

३. 'चाण्डाकी' इति पाठान्तरम्। ४. 'षाडवाः' इति पा०

१. "फलैर्बदरादिभिर्यः क्रियते स खलः। मूलैस्तिलैस्तिलकल्काद्यैश्च कृतो दाडिमाद्यम्लप्रायः काम्बलिकः।" इतीन्दुः।

२. "सितामध्वादिमधुरा रागस्तत्राच्छकान्तयः। ते साम्लाः खाण्डवाः—॥" इति तन्त्रान्त

३. "द्रवालोडिताः ससर्पिष्का सक्तवो मन्थः।" इति

दही की बनी रसाला[1] (शिखरण) देह को बढ़ानेवाली, वीर्य-प्रदा, स्निग्ध, बल को देनेवाली तथा रुचि-कारक है। पानक (जो गुड़, इमली आदि से संस्कृत जल होता है[2]) थकावट, भूख, प्यास, श्रम (ग्लानि) को दूर करनेवाला, तृप्ति-कारक, गुरु, मलावरोधक, मूत्रल (पेशाब को लानेवाला), हृद्य (हृदय के लिए हितकारी या प्रिय) और जैसे द्रव्य के संस्कार से बनता है उसी द्रव्य के अनुरूप गुणों का करनेवाला है।

विशेष वक्तव्य—खल और काम्बलिक के विषय में कुछ टीकाकारों के मत भिन्न भिन्न हैं। डल्हन खल-यूष को दो प्रकार का मानता है जैसे कि एक सतक्र शमीधान्यसे बननेवाला और दूसरा सतक्र शाक से बननेवाला। इन का स्पष्टीकरण करता हुआ डल्हन लिखता है कि तक्र-सह नाना प्रकार के शमी धान्यों द्वारा निर्मित स्निग्ध खल संग्राहक (मल को बांधनेवाले) हैं और सतक्र शाक-खल अर्थात् तक्र-सहित नाना प्रकार के शाक कैथ, खट्टा चूका, मरिच, जीरा, चित्रक इन के साथ परिपक्व यूष खलयूष कहलाता है और काम्बलिक उसे कहते हैं जो दही, अम्ल, लवण, स्नेह, तिल और उड़द समन्वित[3] होता है परन्तु जेजट उस व्यञ्जन को ही खल कहता है जो दही, दाडिम, उड़द, शाक और स्नेह के साथ बनाया जाता है। नल भी जेजट की तरह एक ही प्रकार का खल मानता है परन्तु उस की प्रक्रिया ब से भिन्न है। ग्रन्थ-विस्तार के भय से हम यहां सारी बातें नहीं लिखते हैं। देखनेवाले सुश्रुत-सूत्र-स्थान के अध्याय ४६ में डल्हन की निबन्ध-संग्रह टीका में देख सकते हैं।

तन्त्रान्तर में सत्तू को रूक्ष और वायु-कारक कहा है परन्तु यहां यह बात नहीं कही है। यहां आगे सत्तूको लघु कहा है। जहां लघुत्व होता है, वहां रूक्षत्व और वातलत्व स्वयं सिद्ध है। ऐसी अवस्था में सत्तूको संतर्पण करनेवाला तथा शीघ्र बलप्रद कहना युक्तिसंगत नहीं क्यों कि भुक्त आहार का परिणाम रस हो कर ही धातुओं की पुष्टि के लिए होता है, अन्यथा नहीं। इस का समाधान टीकाकार इस प्रकार करते हैं कि "सत्तू में तृप्तिप्रदत्व और सद्यो-बलप्रदत्व ये दोनों बातें उस के प्रभाव के कारण ही कही गई हैं। वाजीकरण और मद्य के इस में उदाहरण लेने चाहिए। मद्य एवं वाजीकरण की तरह सत्तूमें भी सद्योबलप्रदत्व एवं संतर्पणत्व उस के अचिन्त्य और प्रत्यक्ष प्रभाव से ही समझना चाहिए[4]।

अथ आचार्य क्रमप्राप्त लाजा आदि के गुणों को कहते हैं।

लाजास्तृट्छर्द्यतीसारमेहमेदःकफच्छिदः।
कासपित्तोपशमना दीपना लघवो हिताः॥
पृथुका गुरवो बल्याः कफविष्टम्भकारिणः।
धाना विष्टम्भिनी रूक्षा तर्पणी लेखनी गुरुः॥
कण्ठनेत्रामयक्षुत्तृट्श्रमच्छर्दिव्रणापहा।
सक्तवो लघवः पानात्सद्य एव बलप्रदाः॥
निचयात्कठिना गुर्वी प्रोक्ता, पिण्डी मृदुर्लघुः।
सक्तूनां द्रवतायोगाल्लघीयस्यवलेहिका॥
शष्कुलीमोदकादीनां व्याख्यातैवं च कल्पना।
नोदकान्तरितान्न द्विर्न निशायां न केवलान्॥
न भुक्त्वा न द्विजैश्छित्त्वा सक्तूनद्यान्न वा बहून्।
कर्कन्धुबदरादीनां श्रमतृष्णाक्लमच्छिदः॥
सक्तवोऽम्लरसा हृद्या यथा द्रव्यगुणाश्च ते।

लाजा आदि के गुण—लाजा, पृथुका आदि के गुण निम्न लिखित क्रम से जानने चाहिये।

लाजा—तृषा, वमन, अतीसार, प्रमेह, मेदोरोग, कफ, कास और पित्तरोग को शमन करनेवाले, जाठराग्निको बढ़ाने वाले और ठण्डे (शीतवीर्य) हैं।

पृथुका गुरु, बल के देनेवाले, कफ और मलावरोध करनेवाले हैं।

धाना—धान की लाही, मलको बांधनेवाली, रूक्ष, तृप्ति-कारक, लेखन और गुण से गुरु है। धान (चावल) का लावा कण्ठरोग, नेत्ररोग, क्षुधा, तृषा, थकावट, वमन और व्रणरोग को हरनेवाला है।

सक्तू—सामान्यतया सत्तू लघु (हल्के) और जल के साथ सेवन (पान) करते ही तुरन्त बल के देनेवाले हैं। सत्तुओं के दो प्रकार होते हैं। जो कठिन है वह पिण्डी तथा पतली अवलेहिका है।

इन के भिन्न भिन्न गुणों का वर्णन करते हैं। जैसे कि—

पिण्डी—सत्तुओं के संचय से कठिन होने के कारण गुरु होती है और यही मृदु होती है तब पचने में लघु (हल्की) होती है।

अवलेहिका—सत्तुओं द्वारा द्रवयोग से बनी हुई अवलेहिका पचने में अत्यन्त लघु होती है अर्थात् जल्दी पचनेवाली होती है।

शष्कुली—अर्थात् पूरणपोली, पूरी, कचौरी तथा मोदक

---

१. रसालाप्रकारास्तु बहवो वर्णिताः किन्तु बहुलप्रचाराररसालाविधानमेवास्माभिः प्रदर्श्यते—"किञ्चित्कुङ्कुमसंमिश्रं विमस्तुदधिगालितम्। सशर्करं भवेत्पीता पक्वाम्ररससंनिभा॥" इति क्षेमकुतूहलात्। अरुणस्तु—"करमथितेन मरिचशर्करादियुक्तेन दध्ना कृता रसाला।" इति पठति।

२. "गुडाम्लिकादिसंस्कृतमुदकादिद्रवं पानकम्" इति हेमाद्रिः।

३. "सतक्राणि शमीधान्यानि स्निग्धानि संग्राहकाणि खलानि। सतक्रशाकस्तु कपित्थतक्रचाङ्गेरीमरिचाजाजिचित्रकैः। सुपक्वः खडयूषोऽयमथ काम्बलिकोऽपरः। दध्यम्ललवणस्नेहतिलमाषसमन्वितः॥" इति

४. "तन्त्रान्तरे चोक्तं रूक्षवातलत्वं सक्तूनामिह नोक्तं लघुत्वादिनैवावगतत्वात्। ननु रूक्षवातलत्वं चेदभ्युपगम्यते सक्तूनां ततः संतर्पणा इत्यनुपपन्नम्, सद्य एव बलप्रदा इत्येतदप्ययुक्तम्। भुक्तो ह्याहारः परिणमन् रसधातुगतो धातुपुष्ट्यै नान्यथा। अत्राचक्ष्महे—प्रभावादुभयमप्येतदुक्तम्। सक्तूनां ह्ययमचिन्त्यः प्रत्यक्षवेद्यः प्रभावः यत्पीताः सन्तः सद्यः संतर्पयन्ति सद्य एव च बलं प्रयच्छन्ति। वाजीकरणं हि अपरिणतमेव स्वकार्यं जनयति तथा च मद्यं, अपरिणतमेव मदं जनयति तस्मात्संतर्पणत्वं बलप्रदत्वं चैषामुपपन्नमेव।" इत्यरुणदत्तोऽष्टाङ्गहृदयसर्वाङ्गसुन्दराटीकायाम्।

आदि की गुरु और लघु गुणकल्पना उन की कठिनता और मृदुतापर पिण्डी एवं अवलेहिका की तरह कर लेनी चाहिए।

सत्तुसेवन में विशेषता—ध्यान रहे कि सत्तुओं का सेवन उदकान्तरित रीति से नहीं करना चाहिए अर्थात् भोजन की तरह इन के सेवन करते हुए बीच बीच में जलपान न करे, न दो बार सत्तूका सेवन करे, न रात्रि में सत्तुपान करे और न जलादिद्रवरहित अकेले सत्तूका सेवन करे, न भोजन के बाद और न हाथ में लीहुई सत्तूकी पिण्डी को दांतों से किचरता हुआ सत्तूका सेवन करे तथा न प्रचुर प्रमाण में ही सत्तू खावे। कर्कन्धु ( जंगली बेर ), पेमजी बेर आदि से तयार किए हुए अम्ल रसवाले सत्तू हृदय को बल देनेवाले होते हैं और जिस जिस द्रव्य के संस्कार से बने हुए सक्तुक उस उस द्रव्य के गुणों को करनेवाले, श्रम, तृष्णा एवं ग्लानि को दूर करनेवाले होते हैं।

विशेष वक्तव्य—अब लाजा आदि का स्पष्टीकरण इस लिए करते हैं कि पाठकों को समझने में सुविधा हो। भुने हुए सतुष चावलों की लाही या खील को लाजा कहते हैं[1]। कच्चे और गीले, तुषसहित कुछ भुने, मुसलादि के आघात (चोट) से चिपटे या चपटे बनाए हुए चावल पृथुक[2] कहाते हैं। महाराष्ट्र में इन को पोहे कहते हैं और वहां इन का प्रचार भी प्रचुर है। भूने हुए जौ, गेहूं, बाजराआदि धान्य को धाना[3] कहते हैं। इसी को भाषा में धानी नाम से पुकारा जाता है। तुषरहित भुने जौ आदि के चून या पिष्ट को सत्तू[4] या सत्तू कहते हैं। शष्कुली भाषा में उस पूरी को कहते हैं जो चावलों के पिष्ट में तिलमिश्रित करके तेल में तलकर बनाई जाती है परन्तु निघण्टुकार "चावलों के सूक्ष्म चूर्ण को बराबर के जल के साथ थोड़ा थोड़ा डालता जाय। इस प्रकार पका कर गाढ़ा बनावे। उस का पापड़सा बेल कर उस में मिश्री-नारियल की गिरी का चूर्ण पूर करके तिकोनी या अर्धचन्द्राकार बनावे और फिर स्वेदनयन्त्र में पकावे। इसे शष्कुली कहते हैं[5]। और मोदक प्रख्यात ही हैं।

पिण्याको ग्लपनो रूक्षो विष्टम्भी दृष्टिदूषणः।
वेसवारो गुरुः स्निग्धो बलोपचयवर्धनः ॥
मुद्गादिजास्तु गुरवो यथाद्रव्यगुणानुगाः ॥

पिण्याक और वेसवार के गुण—तिल की खली ग्लानिकारक, रूक्ष, मलावरोधक तथा दृष्टि को हानि पहुँचानेवाली है। वेसवार अर्थात् सोंठ, धनियाँ, जीरा, हींग आदि घृतादि स्नेह से संस्कृत कूटा हुआ मांस या केवल घृतादि संस्कृत सुंठी आदि गुरु, स्निग्ध, शरीर और बल को बढानेवाला है। सोंठ, धनियाँ आदि यही वेसवार मांस से संस्कृत न करके मूँग आदि अन्न से संस्कृत किया जाय तो भी गुरु है और जैसे द्रव्य के साथ संस्कृत होता है तो वह ( वेसवार ) उसी ( द्रव्य ) के गुणों का करनेवाला है।

विशेष वक्तव्य—यहां मांससंस्कृत वेसवार से तात्पर्य उस पूरण का है जो मुद्ग-शालि आदि अन्नपिष्ट के बीच में पूरण कर घृतादिसे पकाया या तला जाता है। केवल अन्न-संस्कृत सोंठ आदि वेसवार वह है जो पूरी, कचौरी आदि में भर कर घृतादि में तला जाता है। यहां आदि शब्द से माष ( उड़द ) तुवरी ( अरहर ), चने, जौ आदि का ग्रहण किया गया है। सुश्रुत के मत से वेसवार वह है जो निरस्थि मांस को स्वेदित कर पत्थरपर पीसा जाकर उस में सोंठ, मिरच, पीपल, गुड़ आदि मिला कर घृत आदि में एक साथ पकाया जाता है[1]।

अब कुकूलादिपाचित अन्न के गुणों को कहते हैं:—

कुकूलखर्परभ्राष्ट्रकन्द्वङ्गारविपाचितान्[2][3] ।
एकयोनींल्लघून्विद्यादपूपानुत्तरोत्तरम् ॥
( धारीकेण्डरिकाद्याश्च गुरवश्च यथोत्तरम्[4] )

कुकूलादिपाचित अन्न के गुण—एक ही जाति के ( चावल, गेहूं आदि ) अन्न से बने पूप, रोटी आदि कुकूल ( खड्ड में तुषाग्नि द्वारा ) खर्पर (मिट्टी का तवा) भ्राष्ट्र (भाड़ या भट्ठी) और कन्दु ( तन्दूर ) या अङ्गार में पकाए हुए उत्तरोत्तर लघु ( हलके ) जानने चाहिए। सारांश यह कि कुकूल से खर्पर, खर्पर से भ्राष्ट्र, भ्राष्ट्र से कन्दू और कन्दू से अंगारपर पकाए हुए पूप-रोटी आदि लघु ( हलके ) हैं। इसी प्रकार इन पर पकाए हुए धारिका-इण्डिरिका आदि उत्तरोत्तर गुरु (भारी) हैं।

विशेष वक्तव्य—कुकूलका अर्थ इन्दु और अरुणदत्त बाष्पस्वेद मानते हैं किन्तु हेमाद्रि इसे मिट्टीका गर्ताकार तवा मानता है तथा और गोबर के उपले मानते हैं। हमारे मत से यह मिट्टी का तवा ही उचित प्रतीत होता है। यही मिट्टी का तवा औंधा ( उलटा ) करने से खर्पर कहलाता है। यही छिद्र वाला भाड़ होता है। लोहेके औंधे तवेका नाम कन्दु है और काष्ठजन्य अग्नि को अङ्गार कहते हैं। हेमाद्रि अङ्गार, अङ्गारधानिका या अग्निपूर्ण सिगड़ी को कहता है[5]।

---

१. "सतुषधान्यानि भृष्टस्फुटितानि लाजानाहुः," इति भावमिश्रः।

२. "आर्द्रशालिधान्यं मृदुभृष्टं मुसलाघातचिप्पटीभूतावयवं पृथुका इत्युच्यते,, इति डल्हनः।

३. "यवादयश्च ये भृष्टा धानास्ते परिकीर्तिताः।,, इति राजनिघण्टुः

४. "भृष्टानां निस्तुषयवानां चूर्णं सक्तवः,, इति हेमाद्रिः।

५. "शष्कुल्यः शालिपिष्टैः सतिलैस्तैलपकाः क्रियन्ते।,, इति चक्रपाणिदत्तः। "सुधौतानां तण्डुलानां पिष्टं सूक्ष्मं विधाय च। तत्प्रमाणं तत्र जलं स्थाप्यं चुल्यां तु तत्पचेत्॥ अल्पमल्पं विकीर्णाञ्च मेलयित्वा घनं पचेत्। घनीभूते तु उत्तार्य तत्पर्पट्यां सुयुक्तितः॥ पूरणं च निधायाथ सिता श्रीफलकं तथा। त्रिवृत्प्रान्तामर्द्धचन्द्रसमानां कारयेत्सुधीः॥ एवं शष्कुल्यः कार्याः पाच्याः स्वेदनयन्त्रके।,, इति वैद्यनिघण्टुः

१. "मांसं निरस्थि सुस्विन्नं पुनर्दृषदि पेषितम्। पिप्पलीशुण्ठीमरिचगुडसर्पिस्समन्वितम्। एकध्यं पाचयेत्सम्यक् वेसवार इति स्मृतः॥ इति

२. "कर्पर,, इति पाठान्तरम्। ३. कट्वङ्गार इति पा०। ४. पद्यार्धोऽयमिन्दुटीकाग्रन्थे नास्ति।

५. "कुकूलो-बाष्पस्वेदः" इतीन्दुः। "क्षारपाकः" इत्यन्ये। "अपां बाष्पस्वेदः" इत्यरुणः "गोशकृदादिचूर्णसन्तापः" इत्यन्ये। "कुकूलं श्वभ्रमिति मृण्मयमुत्तानमपूपपचनपात्रं श्वभ्राकारम्" इति हेमाद्रिः। तदेव ( कुकूलं ) न्युब्जं खर्परम्। तदेव सच्छिद्रं भ्राष्ट्रम्।

अथ मांस वर्ग—अब यहां से आचार्य मांसवर्ग का आरम्भ करते हैं।

हरिणैणकुरङ्गर्ष्य[१]गोकर्णमृगमातृकाः ।
कालपुच्छकचारुष्कवरपोतशशोरणाः ॥
श्वदंष्ट्रारामशरभकोहकारक[२]शम्बराः ।
करालकृतमालौ च पृषतश्च मृगाः स्मृताः ॥

मृगजातियाँ— हरिण, एण, कुरङ्ग, ऋष्य, गोकर्ण, मृगमातृक, कालपुच्छक, चारुष्क, वरपोत, शश, उरण, श्वदंष्ट्र, राम, शरभ, कोहकारक ( कोट्टकारक या क्रोष्टुकारक, शम्बर, कराल, कृतमाल और पृषत ये १९ मृग जातियाँ हैं।

विशेष वक्तव्य—यहां जिसका ताम्र या गौरवर्ण होता है वह हरिण है, कृष्णवर्णवाला एण कहलाता है, जो न काला हो और न ताम्रवर्ण हो वह कुरङ्ग है। नीलवर्ण के अण्डकोषवाला हरिण ऋष्य या ऋक्ष कहलाता है जिसका प्रसिद्ध नाम रोरुमृग भी है। गाय के कानों की तरह कर्णवाला तथा गधे के आकारवाला गोकर्ण है। मृगमातृक हरिण छोटा किन्तु शशक के सदृश और बड़े पेटवाला होता है। काली पूंछवाला कूलचर मृग कालपुच्छ कहलाता है। चारुष्क मृग वह है जो छोटा एवं सुन्दर होता है। वरपोत भी एक मृग की जाति है। शश बिल में रहनेवाले खरगोश को कहते हैं। उरण भी शशकका ही एक भेद है। श्वदंष्ट्र चार दाढ़ोंवाला अति दुष्ट कर्कटक नामसे कार्तिकपुर में प्रसिद्ध है। राम हिमालय के बड़े मृग को कहते हैं। शरभ उस मृग को कहते हैं जो ऊंट के समान, आठ पग और बड़े सींगवाला होता है और जिसके चार पग पीठपर रहते हैं, यह काश्मीर में प्रसिद्ध है। कोहकार ( इसे हेमाद्रि क्रोष्टुकार मानता है और इसी को चरक कोट्टकारक कहते हैं ) यह मृगजाति का भेद सियार ही हो सकता है। शम्बर जिसे लोग सांभर या बारहसिंगा कहते हैं। कराल उस हिमालय के कस्तूरीमृग का नाम है जिसके दांत नीचे की ओर होते हैं। पृषत चित्र-विचित्र बिन्दुओंवाले मृग को कहते हैं।

**मृग जाति की तरह ही अब मांसोपयोगी विष्किर जाति का वर्णन करते हैं।**

लाववर्तीक[१]वार्तीररक्तवर्त्मककुक्कुभाः[२] ।
कपिञ्जलोपचक्राख्यचकोरकुरुबाहवः[३] ॥
वर्तको वर्तिका चैव[४] तित्तिरिः[५] क्रकरः[६] शिखी ।
ताम्रचूडाख्यवरकगोनर्दगिरिवर्तिकाः ॥
तथा सारपदेन्द्राभ[७]वरटाश्चेति विष्किराः[८] ।

विष्किर जातियां - लावा ( काला तीतर ), बटेर, तिलियर, रक्तवर्त्मक ( ग्रामचटक ), कक्कुभ ( जल और स्थल में रहनेवाले दोनों प्रकार के जंगली कुक्कुट ), गोरा तीतर, उपचक्र (एक प्रकार का चकोर), चकोर (लाल आंखोंवाला विषसूचक), कुरुवाहु ( कुरकुरा पक्षी जिसकी नील ग्रीवा, लाल शिखा और पंख सुफेद होते हैं ), छोटा बटेर, उससे भी छोटी बटेरी, तीतर, क्रकर ( कयापक्षी जिसका गला पीला और काला, चोंच और पग काले, पीठ लाल होती है और जो तीतर से बड़ा होता है, लावा को मारता है। इसका शब्द क्रकच के समान होता है। ) मोर, ताम्रचूड़ ( कुक्कुट ), बगुला, गोनर्द ( घोड़ा कङ्क ), वरट ( हंस ), गिरिवर्तिका ( गेरी ), पर्वत पर रहनेवाली बतख, सारपद, इन्द्राभ ( मल्लकङ्क ) ये विष्किर जाति के पक्षी हैं जो बिखेरकर खानेवाले हैं।

अब प्रतुद[९] अर्थात् चोंच से चावल आदि को तोड़कर खाने वाले पक्षियों का वर्णन करते हैं।

शतपत्रो भृङ्गराजः कोय[१०]ष्टिर्जीवजीवकः ।
खञ्जरीटकहारीतदुर्नामारिकशार्ङ्ग[११]हाः ॥
लट्वा लट्टूषो वटहा गोदवेडो डिण्डिमाणवः ।
जटी दुन्दुभिपाकारलोहपृष्ठकुलिङ्गकाः ॥ ॥
सारिकाशुकशाङ्गख्यिचिरीटीककुयष्टिकाः ।

---

लोहमयं न्युब्जं कन्दुः। अङ्गारशब्देन अङ्गारपूर्णं पात्रं हसन्तीत्यादि।" इति हेमाद्रिः।

१. "ऋक्ष" इति सुश्रुतहेमाद्रिसंमतः पाठः। २ "कोट्टकारक" "क्रोष्टुकारक" इति वा पाठान्तरम्।

३. "एणः कृष्णस्तयोर्ज्ञेयो हरिणस्ताम्र उच्यते।
न कृष्णो न च ताम्रश्च कुरङ्गः सोऽभिधीयते॥" इति सुश्रुतः।

"ऋक्षो नीलाण्डः, रोरु इति प्रसिद्धः" इति डल्लनः। नीलाण्ड इति हेमाद्रिः। मृगमातृका–"लघुपृथूदरा शशाभा" इति हेमाद्रिः। "चारुष्कः–चारुशरीरः स्वल्पतनुः मृगभेदः" इति डल्लनः। "शशो विलेशयः," इति हेमाद्रिः।" उरणः—शशकविशेषः, इति जल्पकल्पतरुकारो गङ्गाधरः। "श्वदंष्ट्रश्चतुर्दंष्ट्रोऽतिदुष्टः ( कर्कटक ) इति कार्तिकपुरे, इति चक्रडल्लनौ। "रामो हिमालये महामृगः" इति चक्रदत्तः। शरभः–अष्टापदः, उष्ट्रप्रमाणो महाशृङ्गः पृष्ठगतचतुष्पादः काश्मीरे प्रसिद्धः, इति डल्लनचक्रदत्तौ।" करालः—अधोनिष्क्रान्तदन्तः हिमवदादिपर्वतेषु कस्तूरीमृग इति लोके, "पृषतः—बिन्दुचित्रितः" इति डल्लनः।

१. 'लाववातिकवर्तीर, इति पाठान्तरम्।' लाववार्तीकवर्तीर इति अष्टाङ्गहृदये पाठः।

२. 'कुक्कुभाः' इत्यष्टाङ्गहृदयम्। 'कर्करा, इतीन्दुसंमतः पाठः। ३. 'रुरुवाहवः' इतीन्दुटीका-पुस्तके पाठः। ४. "चेति तित्तिरिः" इति हृदयसंमतः पाठः। ५. "तित्तिरिः" इतीन्दुः। ६. "वकरः" इति हेमाद्रिसंमतपाठः। ७. "सारपदेन्द्राह्ववारटाश्चेति, इन्दु-पाठः।"

८. "लावः–प्रसिद्धः" 'वार्तीकश्चटकभेदः, 'वर्तीरः–कपिञ्जलभेदः' 'रक्तवर्त्मकः कुक्कुभविशेषणम्' 'कुक्कुभः प्रसिद्धः' 'कपिञ्जलो गौरतित्तिरिः' 'उपचक्रश्चकोरभेदः' इत्यादिः चक्रदत्तः।" चकोरो रक्ताक्षो विषसूचकः, इति डल्लनः। "कुरुवाहुः—नीलग्रीवो, रक्तशिखः, श्वेतपक्षः" "वर्तको वर्तीकादल्पः" "तत्सदृशा वर्तिका ततोऽप्यल्पा" "क्रकरः–क्रकचशब्दकारी पीतकृष्णगलः कृष्णचञ्चुचरणो रक्तपृष्ठः" इति हेमाद्रिः। "क्रकरो–लावान्तकः कपिञ्जलात्स्थूलः" इति डल्लनः। "गोनर्दो घोड़ा कङ्कः" इतिचक्रदत्तः। "गिरिवर्तिका–गिरिकाख्या वर्तिकाभेदः पर्वतचरीति, हेमाद्रिः।" इन्द्राभो मल्लकङ्कः, इति चक्रदत्तः। "वरटावरटी हंस्योस्तत्पतौ वरटः स्मृतः, इति तारपालः।" विकीर्य भक्षयन्तीति ते विष्किराः, इति हेमाद्रिः।

९. "ये प्रतुद्य निष्कृष्य भक्षयन्तीति प्रतुदसंज्ञां प्राप्तास्ते प्रतुदाः।

१०. 'कोयष्टी, इति पा०। ११. 'ग्रहा' इति पा०, 'दुर्नामागिरिशागृहाः' इति हेमाद्रिटीकासंमतः पाठः।

मञ्जूलीयकदात्यूहगोपापुत्रप्रियात्मजाः ॥
कलविङ्कः परभृतः कपोतोऽङ्गारचूडकः ।
पारावतः पाणविक इत्युक्ताः प्रतुदा द्विजाः ॥

प्रतुदजातियाँ— शतपत्र ( खाती चिड़ा-कँठेफोड़ा ), भृङ्गराज ( काले रंग का एक चिड़ा जिसके सिरपर कलँगी होती है ), कोयष्टि ( जल कुक्कुट-कोरुक-को ा ), जीवजीवक ( वह पक्षी जो विष को देखते ही मर जाता है और जिसके स्वरूप को बतलाते हुए हेमाद्रि कहते हैं कि "यह एक पेट और दो सिर वाला" होता है। महेश्वर के मत से इसके दर्शन से जीवों को जीवन प्राप्त होता है और यह विष-नाशक है। खञ्जरीटक ( जिसे भाषा में खञ्जन पक्षी कहते हैं तथा इसके नेत्रों की चंचल नेत्रों को उपमा दी जाती है। ) हारीत ( हरियाल जो हरा और पीला होता है ), उल्लूक या उल्लू ( दुर्नामारि ), गिरिशागृह ( पर्वतशायी प्रतुद पक्षि विशेष ), लटवा ( ग्राम्य चिड़ा ), लट्ठूषक, वटहा, सारस, उत्कट ध्वनिवाला डिण्डिमानक, जटी ( जटायु ), दुन्दुभिवाकार, लोहपृष्ठ ( कुलिङ्ग का एक भेद ), कुलिङ्गक ( बैया या बया ), सारिका ( मैना ), शुक ( तोता ), शार्ङ्ग ( चातक ), चिरिटी ( चिटाई ), कङ्कु, यष्टिका या कङ्कुयष्टिका, मञ्जुलीयक, दात्यूह ( नीलकण्ठ ), गोपापुत्र या गोधापुत्र, प्रियात्मज ( लोटन कबूतर ), कलविङ्क (काले रंग की चिड़िया ), कोयल ( परभृत ), कबूतर, बुलबुल ( अङ्गारचूड़क ), पारेवा कबूतर ( पारावत ), पाणविक ( कबूतर का ही एक भेद ) ये सब प्रतुद पक्षी कहाते हैं।

अब बिलेशयों अर्थात् बिल में रहनेवालों का वर्णन करते हैं।

श्वेतः श्यामश्चित्रपृष्ठः कालकः काकुली मृगः ।
भेकचिल्लटकूचीकागोधाशल्लकशण्डकाः ॥
वृषाहिकदलीश्वाविन्नकुलाद्या बिलेशयाः ॥

बिलेशय जाति—श्वेत-श्याम-चित्र विचित्र तथा काले रंग की पीठवाले ऐसे चार प्रकार के काकुली मृग अर्थात् बिल में रहनेवाले जलसर्प होते हैं। भेक ( मेण्ढक ), चिल्लट, कूचीका ( अपने अङ्ग को संकुचित करनेवाला-काटनेवाला सेहला ), गोधा ( गोह या गोहिरा ), शल्लक ( बड़ी गोह का अनुकरण करनेवाला गोधा जो साला नाम से प्रसिद्ध है ), शण्डकः बिल में रहनेवाला सांडा ), वृष (जंगली मार्जार-वन बिलाव), सर्प, कदली ( बड़े बिलाव के समान व्याघ्र के आकारवाला कदलीहण्ड, नाम से पौण्ड्र देश में प्रसिद्ध है। कई इसे सर्प विशेष मानते हैं। ), श्वावित् ( सेह जिसके रोम शूलाकार होते है ) और नकुल ( न्यौला ) आदि बिलेशय कहलाते हैं।

अब आचार्य छीनकर या बलात् मारकर खानेवाले प्रसहों का वर्णन करते हैं।

गोखराश्वतरोष्ट्राश्वद्वीपिसिंहर्क्षवानराः ।
मार्जारमूषकव्याघ्रवृकबभ्रुतरक्षवः ॥
लोपाकजम्बुकश्येनचाषोलूकश्वबायसाः ।
शशघ्नीभासकुररगृध्रवेश्यकुलिङ्गकाः ।
धूमिका मधुहा चेति प्रसहा मृगपक्षिणः ॥

प्रसह जाति—गाय, गर्दभ, खच्चर, ऊंट, घोड़ा, चीता, सिंह, रीछ, बन्दर, बिलाव, मूसा, बाघ, भेड़िया, बभ्रु ( बड़ा नकुल या श्वेत बालोंवाला भालू अथवा अति-बालोंवाला पर्वत में रहनेवाला कुत्ता ), तरक्षु ( व्याघ्र का एक भेद ), लोपाक ( क्षुद्र सियार या लोमड़ी ), सियार, सिकरा पक्षी, चाष ( जंगली चिड़ा ), उल्लू, कुत्ता, कौआ, शशघ्नी ( शशारि चील्ह के समान महाचरणवाली जो झपट कर खरगोश को ले जाती है। ) भास ( श्वेत शिखावाला गीध विशेष ), कुरर (चेल-लाल रङ्ग श्वेत मस्तकवाला मछलियों को पकड़नेवाला) गृध्र ( गीध ), वेश्य, कुलिङ्ग ( काले रङ्गवाला घरका चिड़ा ) धूमिका ( एक प्रकार की चिड़िया ), मधुहा ( एक प्रकार का पक्षी ), ये गाय से जम्बुक तक पशु और श्येन से मधुहा तक पक्षी प्रसह कहलाते हैं।

अब महामृग अर्थात् महापशुओंको कहते हैं—

महिषन्यङ्कुरोहीतवराहरुरुवारणाः ।
सृमरश्चमरः खड्गो गवयश्च महामृगाः ॥

महामृग जाति—भैंसा, न्यंकु ( हरिण के सदृश विकट बहुशृङ्गवाला ), रोहीत ( लाल रंग का मृग ), वराह ( सूअर ), रुरु ( सांभर के आकार शरीरवाला, बहुत से विकट सींगोंवाला, जल के तटपर विचरनेवाला, शरद् ऋतु में सींगों को त्यागनेवाला, बड़ी जाति का मृग जो प्रायः चेदिदेश में होता है ), वारण ( हाथी ), सृमर (जंगली घोड़ा या महाशूकर ),

१. 'मञ्जरीयक' इति पा०। २. 'गोधापुत्र' इति पा०। ३. 'कलपिङ्क, इति पाठान्तरम्।

४. 'शतपत्रः—काष्ठकुट्टकः' इति चरकटीकायां चक्रपाणिदत्तः।

५ 'भृङ्गराजः—कृष्णवर्णश्चटकसदृशः शिखावान्' इति हेमाद्रिः।

६. 'कोयष्टिः—कोडा, इति चक्रदत्तः।

७. 'जीवंजीवकः—विषदर्शनमृत्युः' इति चक्रडल्हनौ। 'एकोदरो द्विशिरा, इति हेमाद्रिः। जीवं जीवयतीति जीवंजीवः, तद्दर्शनेन विषनाशनात्, इति महेश्वरः।

८. 'काकुलीमृगो—मालुया सर्प इति ख्यातः, तस्य श्वेत इत्यादयश्चत्वारो भेदाः' इति चक्रदत्तः।

१. "मूषिक" इति पाठान्तरम्।

२. "चाषवान्तादवायसाः" इत्यष्टाङ्गहृदयपाठः।

३. "गृध्रोलूककुलिङ्गकाः" इत्यष्टाङ्गहृदयपाठः। ४. "बभ्रुर्वैश्वानरे शूलपाणौ च गरुडध्वजे। विशाले नकुले पुंसि" इति मेदिनी। "बभ्रुः-अच्छभल्लः" इति हेमाद्रिः। "बभ्रुः-अतिलोमशः कुक्कुरः पर्वतकण्ठे भवति" केचिद्वृहन्नकुलमाहुः" इति चक्रदत्तः।

५. "शशघ्नी—शशघाती चिल्हाकारः महाचरणनखः प्रहारेण शशाहरणशीलः" इति योगीन्द्रनाथः। ६. भासः-श्वेतशिखावान् गृध्रसदृशो गोष्ठचारी। "कुलिङ्गो गृहचटकः" इति हेमाद्रिः। "कुलिङ्गः-कालचटकः" इति चक्रपाणिः। ७. न्यङ्कुः-कुरङ्गसदृशो विकटबहुविषाणः इति हेमाद्रिः।

८. "रुरुः-विकटबहुविषाणः शम्बराकारदेहः सलिलतटचरत्वाच्चान्यम्बरेभ्यो विचित्रः। त्यजति शरदि शृङ्गं रौर्यतोऽसौ रुरुः स्यात् प्रचुरमृगविशेषः प्रायशश्चेदिदेशे ॥" इति डल्हनः।

९. "समरो-महाशूकरः" इति चक्रः। समरो वनतुरगः, इति

चमर ( चामर गाय ), खड्ग ( गैण्डा ) और गवय ( रोज ) ये महामृग हैं।

अब जलचर पक्षियों का वर्णन करते हैं—

हंससारसकादम्बबककारण्डवप्लवाः ।
मृणालकण्ठचक्राह्वबलाकारक्तशीर्षकाः ॥
उत्क्रोशपुण्डरीकाक्षशरारिर्मणितुण्डिकाः ।
काकतुण्डघनारावमद्गुक्रौञ्चाम्बुकुक्कुटाः ॥
नन्द्यास्यमल्लिकाद्याश्च पक्षिणो जलचारिणः ॥

जलचर पक्षी—हंस, सारस, कादम्ब ( कलहंस ), बगुला, कारण्डव ( श्वेत हंस के समान छोटा हंस या कौवा के समान मुखवाला, बड़े पैरवाला काले रङ्ग का पक्षी ), प्लव (लमढ़ीक), मृणाल-कण्ठ ( बकका एक भेद ), चक्राह्व ( चकवा-चकवी ), बलाका ( बेला-पंक्ति बांधकर उड़नेवाले एक प्रकार के बगुले ), रक्तशीर्षक ( लाल सिरवाला सारस विशेष ), उत्क्रोश ( एक प्रकार का कुरर ), पुण्डरीकाक्ष ( कमलनयन बक ), शरारि ( आटी-आड ), मणितुण्डक, काकतुण्ड ( श्वेत कारण्डव ), मेघनाद, मद्गु ( जलकाक ), क्रौञ्च ( कौंचबक ), अम्बुकुक्कुट ( काले रंग का जलकुक्कुट ), नन्दीमुख ( पत्राटी-आडीका एक भेद ), मल्लिक ( हंस विशेष ) इत्यादि जलचारी पक्षी हैं।

जलचारी पक्षियों के अनन्तर अब जल में रहनेवाले मत्स्यादिकों का वर्णन करते हैं।

मत्स्या रोहितपाठीनकूर्मकुम्भीरकर्कटाः ।
शुक्तिशंखोद्रशम्बूकशफरीवर्मिचन्द्रिकाः ॥
चुल्लकीनक्रमकरशिशुमारतिमिङ्गिलाः ।
राजीवचिलिचिमाद्याश्च मांसमित्याहुरष्टधा ॥

जलचर मत्स्यादि—रोहित ( रोहू मछली ), पाठीन ( बड़ी और निर्मल मछली ), कूर्म ( कछुआ ), कुम्भीर ( घड़ियाल ), कर्कट ( खेंकड़ा या केंकड़ा ), शुक्ति ( सीपका कीड़ा ), शंख ( शंख का कीड़ा ), उद्र ( ऊद बिलाव ), शम्बूक ( घोंघा शंख का कीड़ा ), शफरी ( छोटी मछली ), वर्मी ( सर्पाकार मछली जिसे लोग बाम कहते हैं ), चन्द्रिका ( पार्श्व भाग में बहुत कांटोंवाली मछली ), चुल्लकी ( शिशुमार मगर का भेद ), नक्र ( मगर विशेष ), मकर ( मगरमच्छ ), तिमिङ्गिल ( बहुत बड़ी मछली जिसे अंगरेजी में व्हेल कहते हैं ), राजीव ( कमल के पास रहनेवाली मछली ) और चिलिचिम आदि ये सब मत्स्यों के भेद बताए हैं। सुश्रुत के मतानुसार इनमें के कुछ मत्स्य नदियों में और कुछ समुद्र में रहनेवाले हैं।

इस प्रकार शास्त्रों के कथनानुसार ( मृग, विष्किर, प्रतुद, बिलेशय, प्रसह, महामृग, जलचर और मत्स्य भेद से ) मांस के आठ प्रकार कहे गये हैं।

अब इन पूर्वोक्त मृग, विष्किरादि आठों जातियों की निवासभूमि का निर्देश करते हैं। यथा—

योनिष्वजावी व्यामिश्रगोचरत्वादनिश्रिते ।
आद्यान्त्या जाङ्गलानूपा मध्यौ साधारणौ स्मृतौ ॥
विकीर्यादिक्रियायोगैर्भक्षणाद्विष्किरादयः ।

मृगादिकी निवासभूमि- उपर्युक्त मृग, विष्किरादि आठ मांस-योनियों में से बकरा और भेड़ के व्यामिश्र गोचरत्व के कारण न इन्हें जाङ्गल कह सकते हैं और न आनूप ही। इस लिए कि बकरा और भेड़ ये दोनों जाङ्गल देश में पाए जाते हैं त्यों अनूप देश में भी मिलते हैं अतः इन दोनों का देश या निवासस्थान अनिश्चित है। इन आठों योनियों में से आद्य और अन्त्य की तीन तीन योनियां क्रम से जाङ्गल और आनूप हैं। भावार्थ यह है कि आदि के तीन अर्थात् मृग, विष्किर और प्रतुद ये जांगल हैं और अन्त्य के तीन अर्थात् महामृग, जलचारी और मत्स्य ये आनूप हैं। मध्य के दो अर्थात् बिलेशय और प्रसह ये साधारण देशज हैं।

विष्किरादि नाम के कारण—इनकी विष्किर आदि संज्ञा इनके विकीर्यादि क्रियायोग के कारण हैं। जैसे कि—

विष्किर— चोंच और चरण से प्रथम बिखेर कर फिर खाने वाले। लावा, बतख आदि,

प्रसह— जबर्दस्ती बल से छीन कर खाने वाले जैसे कि गायगर्दभादि।

प्रतुद—चोंच या पंजेसे चोट लगा कर या तोड़ कर खानेवाले शतपत्र अर्थात् खाती चिडा-कठफोड़ा आदि।

मृगमहामृग—जङ्गल में विचरनेवाले हाथी, चीता, शरभ आदि।

बिलेशय—बिल में रहनेवाले काकुली मृग, सांडा आदि।

जलचर- जल में विचरनेवाले हंस, सारस आदि।

मत्स्य—जल में रहनेवाले मगर, मत्स्य आदि।

इसी प्रकार अनूप देश में रहनेवाले आनूप, जाङ्गल देश के जाङ्गल आदि कहलाते हैं।

अब इन सबके गुणों का वर्णन करते हैं।

तत्र बद्धमला रुच्या मांसानामुत्तमा हिमाः ।
कषायस्वादुविशदा लघवो जाङ्गला हिताः ॥
पित्तोत्तरे वातमध्ये सन्निपाते कफानुगे ।

हेमाद्रिः। १. "गण्डके खड्गखड्गिनौ" इत्यमरः। २. तुण्डका इति पा०। ३. सद्यास्यो इति पा०। ४. 'कारण्डवः शुक्लो हंससदृशः' ( हेमाद्रिः ) "कारण्डवः शुक्लहंसभेदोऽल्पः। अन्ये करहवं काकवक्त्रमाहुः। उक्तं च-"कारण्डवः काकवक्त्रो दीर्घाङ्घ्रिः कृष्णवर्णभाक्।" इति डल्लनः। ५. "रक्तशीर्षकः-रक्तशिराः सारसभेदः।" इति चरकोपस्कारे योगीन्द्रनाथः।

१. "मृग्यं वैष्किरिकं किञ्च प्रातुदं च बिलेशयम्। प्रासहं च महामृग्यमप्चरं मात्स्यमष्टधा" इति तन्त्रान्तरे।

२. "प्रसह्य भक्षयन्तीति प्रसहास्तेन संज्ञिताः ॥ ५३ ॥ भूशया बिलवासित्वादानूपानूपसंश्रयात्। जले निवासाज्जलजा जले चर्याज्जलेचराः ॥ ५४ ॥ स्थलजा जाङ्गलाः प्रोक्ता मृगा जङ्गलचारिणः। विकीर्य विष्किराश्चेति प्रतुद्य प्रतुदाः स्मृताः ॥ ५५ ॥ योनिरष्टविधा त्वेषां मांसानां परिकीर्तिता ॥" इति चरकः ( सूत्रस्थान अ. २७ श्लो. ९३-५६ )

ताम्रोऽत्र हरिणः कृष्णस्त्वेणो हृद्यस्त्रिदोषजित् ।
लघीयान् षड्रसश्चासौ ग्राही रूक्षो हिमः शशः ।
कटुपाकोऽग्निकृत्पथ्यः सन्निपातेऽनिलावरे ॥
तद्वल्लावोऽप्यरूक्षस्तु किञ्चिद्रूक्षः कपिञ्जलः ।
पारावताः कपोताश्च तद्वद्वन्याः सुपूजिताः ।
ईषदुष्णगुरुस्निग्धा बृंहणा वर्तकादयः ।
तित्तिरिस्तेष्वपि वरो मेधाग्निबलशुक्रकृत् ॥
ग्राही वर्ण्योऽनिलोद्रिक्तसन्निपातहरः परम् ।
धन्वानूपविचारित्वात्स्निग्धोष्णगुरुबृंहणः ॥
नातिपथ्यः शिखी पथ्यः श्रोत्रस्वरवयोदृशाम् ।
तद्वच्च कुक्कुटो वृष्यो ग्राम्यस्तु श्लेष्मलो गुरुः ॥
मेधानिलकरा हृद्या क्रकराः सोपचक्रकाः ।
गुरुः सलवणः काणकपोतः सर्वदोषकृत् ॥
गुरूष्णस्निग्धमधुरा वर्गाश्चातो यथोत्तरम् ।
मूत्रशुक्रकृतो बल्या वातघ्नाः कफपित्तलाः ॥
शीता महामृगास्तेषु क्रव्यादाः प्रसहाः पुनः ।
चक्षुष्याः सृष्टविण्मूत्रा मांसलाः कटुपाकिनः ॥
जीर्णार्शोग्रहणीदोषशोषार्तानां परं हिताः ।
गोधा नियच्छति विषं मूषकः शुक्रवर्धनः ॥
शुष्ककासश्रमात्यग्निविषमज्वरपीनसान् ।
कार्श्यं केवलवातांश्च गोमांसं सन्नियच्छति ॥
चटकाः श्लेष्मलाः स्निग्धा वातघ्नाः शुक्रलाः परम् ।
गुरूष्णो महिषः स्निग्धः स्वप्नदार्ढ्यबृहत्वकृत् ॥
तद्वद्वराहः श्रमहा रुचिशुक्रबलप्रदः ।
हंसः स्वरकरः पित्तरक्तजिन्मधुरो हिमः ॥
कफपित्तकरा मत्स्याः परं पवननाशनाः ।
प्रतिस्रोतोविचारित्वादाकाशप्लवनेन च ॥
रोहितः प्रवरस्तेषां परं चिलिचिमोऽवरः ।
अगोचरविचारित्वात्सर्वदोषकरो हि सः ॥
कुलीरः परमं वृष्यो बृंहणः प्रीणनो गुरुः ।
नातिशीतगुरुस्निग्धं मांसमाजमदोषलम् ॥
शरीरधातुसामान्यादनभिष्यन्दि बृंहणम् ।
विपरीतमतो ज्ञेयमाविकं बृंहणं तु तत् ॥
अतिमेधं त्यजेन्मांसं हतं व्याधिविषोदकैः ।
स्वयं मृतं धूमपूर्णमगोचरमृतं कृशम् ॥
सद्योहतं वयस्थं च शुद्धं सुरभि शस्यते ।
एणः कुरङ्गो हरिणः शशो लावः कपिञ्जलः ॥
तित्तिरिः क्रकरो गोधा श्वाविद्गृध्रो मृगाधिपः ।
बर्हिणः सारिका न्यङ्कुर्हंसो रोहितकच्छपौ ॥
वर्मी चाग्र्यः स्ववर्गेषु प्रवरास्तेष्वपि स्मृताः ।
लावैणगोधाः सिंहश्च निन्दितौ गौः सदर्दुरः ॥

१. "मेदुर" इति पाठान्तरम्।
२. "अतिमेध्यं" इति पाठान्तरम्।

ऋष्यः काणकपोतश्च शेषमुक्तं यथायथम् ।
गुरूण्यण्डानि बालानां कषायलवणं पलम् ॥
वृद्धानां स्नायुभूयिष्ठमबल्यं गुरु दोषलम् ।
पुंस्त्रियोः पूर्वपश्चार्धे गुरुणी गर्भिणी गुरुः ॥
लघुर्योषिच्चतुष्पात्सु विहङ्गेषु पुनः पुमान् ।
शिरःस्कन्धोरुपृष्ठस्य कट्याः सक्थ्नोश्च गौरवम् ॥
तथाऽऽमपक्वाशययोर्यथापूर्वं विनिर्दिशेत् ।
शोणितप्रभृतीनां तु धातूनामुत्तरोत्तरम् ।
मांसाद्गरीयो वृषणमेढ्वृक्कयकृद्गुदम् ॥

मांसों के गुण—ऊपर जाङ्गल, आनूप और मिश्र देशों के मृग, प्रसह, प्रतुद आदि मांसोपयोगी आठ जातियों का वर्णन किया गया। अब इनके मांस के गुणों का वर्णन करते हैं। जाङ्गल, मिश्र और आनूप इन सब में जाङ्गल मांस का प्रथम निर्देश किया गया है। तदनुसार उसी क्रम से वर्णन किया जाता है।

जाङ्गल मांस के गुण—जङ्गल में रहनेवाले जीव जाङ्गल कहलाते हैं। जाङ्गल मांस मल ( पुरीष ) को बांधनेवाले, रुचिकारक, सब मांसों में उत्तम, शीतवीर्य, कषाय-मधुर-रसवाले, विशद, लघु और उस सन्निपात में पथ्य हैं जिसमें प्रधान पित्त हो अर्थात् पित्त प्रबल हो, वात मध्य हो तथा कफानुग ( कफ इनका अनुगामी-हीन ) हो।

हरिण मांस के गुण—हरिण और एणकी आकृति समान होती है। भेद इतना ही है कि ताम्रवर्णवाला हरिण कहलाता है और कृष्ण वर्णवाले की एण संज्ञा है। इन दोनों प्रकार के हरिण का मांस हृदय के लिये हितकारी ( पथ्य ), त्रिदोष को दूर करनेवाला, अति लघु तथा छहों रसोंवाला है।

शशक मांस के गुण—शशक अर्थात् खरगोश का मांस मल का अवरोध करता है, रूक्ष, शीतवीर्य, कटुपाकी, जठराग्नि-प्रदीपक और हीन-वायुवाले सन्निपातों में पथ्य ( हितकारी ) है।

लवा मांस के गुण—लवा का मांस भी तद्वत् अर्थात् खरगोश के मांस के गुणोंवाला है परन्तु यह उसकी तरह रूक्ष नहीं है।

तीतर और पारेवा आदि मांस के गुण—तीतर का मांस कुछ रूक्ष है और पारेवा ( कबूतर ) का मांस भी तद्वत् ( उस तीतर मांस के गुणोंवाला ) है परन्तु तीतर और पारेवा ये दोनों जङ्गली हों तो श्रेष्ठ हैं। विपरीत इसके घरों में रहनेवाले तीतर-पारेवा अपथ्य ( हानिकारक ) हैं।

बटेर और तीतर की विशेषता—बटेर आदि जितने जाङ्गल पक्षी हैं वे सब कुछ उष्ण, गुरु, स्निग्ध और बृंहण ( शरीर को पुष्ट करनेवाले ) हैं। इन सब में तीतर श्रेष्ठ है। इस लिये कि तीतर मेधा ( बुद्धि ), जाठराग्नि, बल और वीर्य को बढ़ानेवाला, ग्राही, वर्ण को बढ़ानेवाला और वाताधिक सन्निपात का नाशक है। तीतर, जाङ्गल और आनूप दोनों प्रकार का होता है इस लिए वह स्निग्ध, उष्ण, गुरु और बृंहण है।

मयूर मांस के गुण—मोर का मांस अति पथ्य नहीं है तथापि श्रोत्र ( कान ), स्वर, वय और नेत्रों के लिये हितकारी है। सुश्रुत के मत से मोर का मांस कषाय-मधुर-रसवाला, नमकीन, त्वचा तथा केशों के लिए पथ्य है, अरुचिका नाशक है, स्वर, मेधा, जाठराग्नि, नेत्र, कान एवं इन्द्रियों को दृढ करनेवाला, स्निग्ध, उष्ण, तथा वायु-नाशक है, स्वेद-स्वर और बल को लानेवाला है।[1]

कुक्कुट मांस के गुण—इसी प्रकार कुक्कुट ( मुर्गे ) का मांस वृष्य ( वीर्यवर्धक ) है परन्तु गांव में रहनेवाले मुर्गे का मांस कफकारक और गुरु है। इसके अतिरिक्त सुश्रुत इसे वातरोग, क्षय, वमन और विषमज्वर को हरनेवाला भी कहते हैं।[2]

क्रकर और उपचक्र के मांस के गुण—क्रकर वह पक्षी है जो लावा को मारता है, गोरे तीतर से बड़ा होता है तथा भाषा में जिसका नाम कय है।[3] उपचक्र इसी का एक भेद है। क्रकर और उपचक्र इन दोनों के मांस मेधा तथा जठराग्नि को बढ़ानेवाले हैं।

काणकपोत मांस के गुण—पीले या लाल रंग के जङ्गली कबूतर ( काणकपोत[4] ) का मांस किञ्चित् लवण रसवाला तथा त्रिदोषकारक है।

बिलेशयादि वर्गों का उत्तरोत्तर गुरुत्वादिकथन—जाङ्गल वर्ग के अनन्तर बिलेशयादि वर्ग उत्तरोत्तर गुरुत्व, उष्णत्व, स्निग्धत्व एवं मधुरत्व में अधिक हैं। इसी प्रकार ये बिलेशयादि वर्ग उत्तरोत्तर बलवान् , मूत्रशुक्रकारक, बलवर्धक, वातहारक और कफपित्तकारक हैं। भावार्थ यह है कि बिलेशयों से प्रसह, प्रसहों से महामृग, महामृगों से जलचर और जलचरों से मत्स्य अधिक गुरु, उष्ण, स्निग्ध, मधुर, शुक्रमूत्रल, बलवर्धक, वायुनाशक और कफपित्तकारक है।

बिलेशयादि में महामृग और मांस-भक्षक प्रसह के विशेष गुण—महामृग शीतवीर्यवाले हैं। मांस-भक्षक प्रसह चक्षुष्य ( नेत्रों के लिए पथ्य ), मलमूत्र को लानेवाले, मांस को बढ़ानेवाले पाक में कटु, जीर्ण, अर्श-संग्रहणी-दोष और शोष ( क्षय ) रोगियों के लिये परम हितकारी हैं।

गोधा और मूषकमांस के गुण—गोधा का मांस विषनाशक है और चूहे का मांस वीर्य को बढ़ानेवाला है।

गोमांस के गुण—गोमांस सूखी खांसी, श्रम, अत्यग्नि, विषमज्वर, कृशता एवं केवल वायु का हरनेवाला है।

चटक मांस के गुण—चिड़े तथा चिड़ियाओं का मांस कफकारक, स्निग्ध, वायुनाशक और वीर्य की अच्छी वृद्धि करनेवाला है।

महिष-मांस के गुण—महिष ( भैंस-भैंसा ) का मांस गुरु, उष्ण, स्निग्ध, अच्छी निद्रा लानेवाला और पुष्टिकारक है।

शूकर-मांस के गुण—सूअर का मांस महिष-मांस के गुणों-वाला होकर भी थकावट को दूर करनेवाला, रुचिकारक, वीर्य और बल को बढ़ानेवाला है।

हंस के मांस के गुण—हंस का मांस स्वर को बढ़ानेवाला और पित्त रक्त को जीतनेवाला होने पर भी मेद को बढ़ानेवाला शीतवीर्य है। चरक के अनुरोध से कुछ लोग इसे अहिम ( उष्ण ) भी कहते हैं।

मत्स्यमांस के सामान्य गुण—सामान्यतः सब प्रकार के मत्स्य कफपित्तकारक और वायु के परमहारक हैं। सब मछलियों में रोहित मछली इस लिए श्रेष्ठ है कि वह जल के स्रोत या प्रवाह के सम्मुख विचरती है और जल से ऊपर को उछलती है। इसी प्रकार चिलिचिम जाति की मछली सब मछलियों से नेष्ट है क्योंकि वह अगोचर विषय ( कीचड़-शैवाल ) आदि में रहती है इसलिए त्रिदोषकारक है।

कुलीरमांस के गुण—कुलीर ( कर्कट या केंकड़ा ) का मांस परम वृष्य, रुचिकारक और गुरु है।

बकरे और भेड़ के मांस के गुण—बकरे का मांस इस लिए श्रेष्ठ है कि वह वातादि दोषों की साम्यावस्था को नष्ट नहीं करता, वह अतिशीत, अतिस्निग्ध और अति गुरु भी नहीं है किन्तु वह शरीर धातु सामान्य के कारण अनभिष्यन्दि और बृंहण ( पुष्टिकारक ) है। भेड़ का मांस इससे विपरीत गुण-वाला होते हुए भी अपनी विशेषता के कारण बृंहण अर्थात् पुष्टिकारक है।

त्याज्य मांस—ऐसे प्राणी के मांस का परित्याग करना चाहिए जो अतिमेद्य अर्थात् स्थूल हो, जिसकी मौत रोग से, विष से या जल में हुई हो, जो स्वयं मर गया हो, धुआँ से घुटकर मरा हो या जिसके मरने का पता न हो कि क्यों कर मरा है अथवा जो बहुत दुबला ( कृश ) हो।

ग्राह्य मांस—वह मांस ग्रहण करने योग्य है जो ताजे मरे हुए पशु का हो, जो सर्वाङ्गपूर्ण जवान का हो, तृण-विष आदि से युक्त न हो और जिसमें दुर्गन्धि न आती हो।

मांसोपयोगी वर्गों में श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ प्राणी—एण ( काले रंग का मृग ), कुरङ्ग ( वह मृग जो न काला हो और न ताम्र वर्ण का हो ), हरिण ( ताम्र वर्ण का मृग ), शश ( खरगोश ), लावा, कपिञ्जल ( गोरा तीतर ), क्रकर, गोधा, श्वाविद् , गीध, सिंह, शारिका, न्यङ्कु, हंस, रोहित ( मत्स्य-भेद ), कछुआ और वर्मी ( बाम ) ये अपने वर्गों में श्रेष्ठ हैं। भावार्थ यह है कि एण, कुरङ्ग, हरिण और शश ( खरगोश ) ये मृगों में श्रेष्ठ हैं। इसी प्रकार लावा, कपिञ्जल, तीतर और क्रकर ये विष्किरों में, शारिका प्रतुदों में, न्यङ्कु महामृगों में, हंस जलचारियों में, रोहित, कछुआ और बाम ये जलज मत्स्यों में श्रेष्ठ हैं। इनमें भी लावा, एण, गोधा तथा सिंह श्रेष्ठ हैं। इसी प्रकार गाय, मेंढक, रीछ, पीला या लाल कबूतर ये अपने वर्गों में त्याज्य हैं क्योंकि ये अश्रेष्ठ हैं।

---

१. "कषायस्वादुलवणस्त्वच्यः केश्योऽरुचौ हितः। मयूरः स्वर-मेधाग्निदृक्श्रोत्रेन्द्रियदार्ढ्यकृत्। स्निग्धोष्णोऽनिलहा वृष्यः स्वेद-स्वरबलावहः॥" इति।

२. 'बृंहणः कुक्कुटो वन्यस्तद्वद् ग्राम्यो गुरुस्तु सः। वातरोग-क्षयवमीविषमज्वरनाशनः॥ इति।

३. क्रकरः लावान्तकः कपिञ्जलात्स्थूलः, 'कय, इति लोके, उपचक्रः क्रकरभेदः, इति डल्लनः।

४. 'काणकपोतो—वनवासी पाण्डुकपोतः, अन्ये अरुणवर्णकमपि कपोतमाहुः, इति डल्लनः।

शेष प्राणियों के मांस के गुण यथायथ अर्थात् जैसे वर्णन हो चुका है उसी प्रकार जानने चाहिए।

पक्षियों के अण्डे और बालवृद्ध पक्षी-मांस के गुण—पक्षियों के अण्डे गुरु अर्थात् भारी हैं तथा बालपक्षियों का मांस कषाय-मधुर रसवाला है। वृद्ध पक्षियों का मांस स्नायुओं के अधिक रहने से बलहीन, गरिष्ठ और त्रिदोष कारक है।

विशेष वक्तव्य-यहां वाग्भटने "गुरूण्यण्डानि" अर्थात् अण्डे गुरु या भारी हैं इतना ही कहकर छोड़ दिया है परन्तु चरक ने इसका विशेष वर्णन करते हुए लिखा है कि "हंस, चकोर, कुक्कुट, मोर और चिड़िया के अण्डे मधुर, अविपाकी (कठिनता से पचनेवाले) या अविदाही, तुरन्त बल के देनेवाले और वीर्यक्षीण-कास-हृद्रोग और क्षत (उरःक्षत) रोगियों के लिये पथ्य हैं।" यहाँ अविदाहीनि, पाठ, अविपाकीनि की जगह कुछ प्रतियों मे है किन्तु अण्डे के मधुर गुरुत्व के कारण अविपाकीनि पाठ ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है। जो द्रव्य मधुर और गुरु है उसका देर से पचना स्वयं सिद्ध है परन्तु आधुनिक विज्ञान में अण्डे के समान जल्दी पचनेवाली बहुत कम वस्तुएं हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि कार्बोहाइड्रेट के अतिरिक्त अण्डे में आहार के सभी सामान प्रस्तुत हैं। सारांश यह कि अण्डे में लोह-पोटाशियम-कलशियम-चर्बी-प्रोटीन-फास्फरस आदि खनिज पर्याप्त प्रमाण में रहते हैं जिनसे इसका पाचन सहज में होता है। यह निश्चित हो चुका है कि अण्डे के ९८ प्रतिशत भाग का शोषण होता है इत्यादि इत्यादि।"

मृगादि नर-मादी के मांस के गुण—मृग आदि नर और मादीका पूर्व और पश्चार्ध भाग का मांस गुरु है अर्थात् नर का पूर्वार्ध (नाभि से मस्तक तक का) और मादी का पश्चार्ध (नाभि से नीचे के भाग का) मांस गुरु है। गर्भिणी का मांस सर्वथा गुरु है।

पशु-पक्षियों के मांस का गुण—चतुष्पाद (चौपाए) पशुओं में स्त्री (मादी) का और पक्षियों में नर का मांस लघु है।

अङ्गपरत्व मांस के गुण—सिर, स्कन्ध (कन्धा), जंघा और पीठ का मांस यथापूर्व गुरु है अर्थात् सिर से कन्धा, कन्धे से जंघा और जंघा से पीठ का मांस लघु है। इसी प्रमाण से जंघा से कटि, कटि से पीठ का मांस गुरु है। आमाशय से पक्वाशय का मांस यथापूर्व गुरु है अर्थात् आमाशय का मांस गुरु है और आमाशय से पक्वाशय का मांस कम गुरु (हल्का या लघु) है।

रक्तादि धातुओं का गुरुलघुत्वकथन—रक्तादि धातुओं में उत्तरोत्तर गुरुत्व जानना चाहिए जैसे कि रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र (वीर्य) गुरु है।

अण्डकोषलिङ्गवृक्कयकृदादिमांस के गुण—मांस से अण्डकोष का, अण्डकोष से लिङ्ग का लिङ्ग से वृक्क का, वृक्क से यकृत् का और यकृत् से गुदा का मांस गुरु है।

इति मांसवर्गः।

१. "धार्तराष्ट्रचकोराणां दक्षाणां शिखिनामपि। चटकानां च यानि स्युरण्डानि च हितानि च॥ रेतःक्षीणेषु कासेषु हृद्रोगेषु क्षतेषु च। मधुराण्यविपाकीनि सद्योबलकराणि च॥" इति (चरक सूत्रस्थानाध्यायः २७)

अथ शाकवर्गः।

शाकं पाठाशठीसूषा[1]सुनिषण्ण[2]सतीनजम्।
त्रिदोषघ्नं लघु ग्राहि सराजक्षववास्तुकम्॥
सुनिषण्णोऽग्निकृद् वृष्यस्तेषु राजक्षवः परम्।
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नो वर्चोभेदि तु वास्तुकम्[3]॥
हन्ति दोषत्रयं कुष्ठं वृष्या सोष्णा रसायनी।
काकमाची सरा स्वर्या चाङ्गेर्यम्लाग्निदीपनी॥
ग्रहण्यर्शोऽनिलश्लेष्महितोष्णा ग्राहिणी लघुः।
पटोलसप्तलारिष्टशार्ङ्गेष्टा[4]वल्गुजामृताः॥
वेत्राग्रबृहतीवासाकुन्तली[5]तिलपर्णिकाः।
मण्डूकपर्णी कर्कोटकारवेल्लकपर्पटाः॥
नाडी कलायगोजिह्वावार्ताकं वनतिक्तकम्।
करीरं कुलकं[6] नन्दी कुचैला[7] शकुलादनी॥
कठिल्लं केम्बुकं[8] शीतं सकोशातककर्कशम्।
तिक्तं पाके कटु ग्राहि वातलं कफपित्तजित्॥

पाठादिशाकों के गुण—अब प्रथम सामान्यतः शाकों के गुणों को कहते हैं, जैसे कि पाठा (पाढ़), कचूर, सूषा (कसौंदी का भेद), सुनिषण्ण (जल में होनेवाली चौपतिया), विष्णुक्रान्ता (कोयल), दूधी और बथुवे का शाक त्रिदोषनाशक, हल्का और ग्राही है। इनमें भी चौपतिया अग्नि को प्रदीप्त करनेवाली तथा वृष्य है। दुद्धी मल को बांधनेवाली है और विशेषतः बवासीर के विकार को दूर करती है। बथुआ मल को ढीला करनेवाला या फोडनेवाला है।

मकोय के गुण—मकोय का शाक त्रिदोषनाशक, कोढ़ को दूर करनेवाला, वृष्य, कुछ उष्ण, रसायन (जरा-व्याधिको दूर करनेवाला), दस्तावर और स्वर के लिए हितकारी है।

चाङ्गेरी के गुण—खट्टे चूके का शाक अम्ल (खट्टा), अग्निप्रदीपन, ग्रहणी, अर्श, वातकफरोग में पथ्य, उष्णवीर्य, मल को बांधनेवाला और लघु है।

पटोलादि शीतवीर्य शाकों के सामान्य गुण—पटोल, सातला, नीम, अंगारवल्ली, बाबची, गिलोय, बेतका अग्रभाग, दोनों छोटी-बड़ी कटेरी, अडूसा, अजमोदा या जंगली तिल, तिलपर्णी (ब्रह्मदण्डी-तिलकण्टक), ब्राह्मी, ककोड़ा, करेला, पित्तपापड़ा, मछेछी, गोभी (जङ्गली गोभी) बैंगन, चिरायता, कैर, कुलक, नन्दी, काली पाढ़, कुटकी, लाल पुनर्नवा (साटी-इटसिट), केम्बुक, तुरई, कमीला ये सब शीतवीर्य, पाक में कटु, तिक्त, मल को बांधनेवाले, वायुकारक और कफपित्त को जीतनेवाले हैं। यह इनके सामान्य गुणों का वर्णन हुआ। अब इन्हीं के विशेष गुणों को कहते हैं।

हृद्यं पटोलं कृमिनुत्स्वादुपाकं रुचिप्रदम्।
पित्तलं दीपनं भेदि वातघ्नं बृहतीद्वयम्॥

१. श्रूषा. २. सुनिषण्ड ३. वर्चोभेदी तु वास्तुकः ४. शार्ङ्गेष्ठा ५. वाशाकुतली ६. कूलकं ७. कुवेला ८. केबुकं इति पाठान्तराणि।

वृषं तु वमिकासघ्नं रक्तपित्तहरं परम् ।
कारवेल्लं सकटुकं दीपनं कफजित्परम्[1] ॥
वार्ताकं कटुतिक्तोष्णं मधुरं कफवातजित् ।
सक्षारमग्निजननं हृद्यं रुच्यमपित्तलम् ॥
करीरमाध्मानकरं कषायं स्वादुतिक्तकम् ।
कोषातकावल्गुजकौ भेदनावग्निदीपनौ ॥
श्यामाशाल्मलिकाशमर्यफञ्जीकर्णकयूथिकाः ।
वृक्षादनीक्षोरिवृक्षबिम्बीतनिकवृक्षकाः ॥
लोध्रः शणः कर्बुदारः[2] ससेलुर्विषमुष्टिका ।
भल्लातकः कोविदारः कमलोत्पलकिंशुकम् ॥
पटोलादिगुणं स्वादु कषायं पित्तजित्परम् ॥

पटोलके गुण—पटोल का शाक हृदय के लिए हितकारी, कृमिनाशक, पाक में मधुर और रुचिकारक है। तन्त्रान्तर में लिखा है कि "परवल के पत्ते पित्तनाशक हैं, इसकी बेल (वल्ली) कफनाशक है, फल इसके त्रिदोष को हरनेवाले हैं और इस (परवल) का मूल विरेचक अर्थात् दस्तावर है।[3]

दोनों प्रकार की कटेरी के गुण—छोटी और बड़ी इन दोनों कटेरियों का शाक पित्तकारक, जठराग्निप्रदीपक, दस्तावर और वायु को हरनेवाला है।

अडूसे के गुण—अडूसे का शाक वमन और खांसी को दूर करनेवाला तथा रक्तपित्त के शमन करने में परम श्रेष्ठ है।

करेला के गुण—करेला रस में कुछ कटु, जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला तथा परम कफनाशक है।

बैंगन के गुण—वार्ताक अर्थात् बैंगन का शाक कटु तथा तिक्त रसवाला, उष्णवीर्य, मधुर, कफवातनाशक, किञ्चित् क्षारयुक्त, जठराग्निप्रदीपक, हृदय को हितकारी, रुचिकारक है और पित्त को बढ़ानेवाला नहीं है।

करीर के गुण—कैर या टेंटीका शाक अफारा करनेवाला, कषाय-मधुर और तिक्त रसवाला है।

जङ्गली तोरई और बावची के गुण—कोशातकी (तोरई) और बावची ये दोनों मल को भेदन करनेवाली तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाली हैं।

श्यामाशाल्मलि आदि के सामान्य गुण—श्यामा (निशोत), सेंम्हल, गम्भारी, फञ्जी (भारङ्गी), कर्णक, मेथी, बन्दाक, कसेरू, कुन्दरु (बिम्बी), तनिकवृक्ष (तिनिश), लोध, सण, कचनार, लिहसौड़ा, विषमूषिका, भिलावा, कांचनार, कमलोत्पल और ढाक के पुष्प इन सब का शाक पूर्वोक्त पटोलादिगण के गुणोंवाला, मधुर, कषाय और विशेषतः पित्तको जीतने वाला है।

अब पूर्वोक्त इन शाकों में से कुछ के विशेष गुणों को कहते हैं।

बद्धमूत्रा सरा फञ्जी करीरं स्यादभोरुजम्।
सतिक्तं लघु चक्षुष्यं वृष्यं दोषत्रयप्रणुत् ॥

कुछ शाकों के विशेष गुण—फञ्जी (भारंगी-फांज) बहुमूत्र को शमन करनेवाली और दस्तावर है। अभीरुजं करीरम् (सतावरी के अङ्कुर) ये कुछ तिक्त, लघु, नेत्रों के लिए पथ्य, वृष्य तथा त्रिदोषनाशक हैं।

तन्दुलीयो हिमो रूक्षः स्वादुपाकरसो लघुः ।
मदपित्तविषास्रघ्नो[1] मुञ्जातं वातपित्तजित् ॥
स्निग्धं शीतं गुरु स्वादु बृंहणं शुक्रकृत्परम् ।
पालंक्या पिच्छिला गुर्वी श्लेष्मला भेदिनी हिमा ॥
मदघ्न्युपोदका चञ्चुर्ग्राही तौ पूर्ववत्तथा ।
विदारी वातपित्तघ्नी मूत्रला स्वादुशीतला ॥
जीवनी बृंहणी कण्ठ्या गुर्वी वृष्या[2] रसायनी ।
चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती मधुरा हिमा ॥
शाकानां प्रवरा न्यूना द्वितीया किञ्चिदेव तु ।
वातपित्तहरा भण्डी पर्वणी पर्वपुष्पिका ॥

चौलाईशाक के गुण—चौलाईका शाक शीतवीर्य, रूक्ष, पाक और रस में मधुर, लघु (हल्का), मद-पित्त और विषविकार का शमन करनेवाला है।

मुञ्जातकन्द के गुण—मुञ्जात कन्द (जो कि काश्मीर देश में प्रसिद्ध है[3]) का शाक वात पित्त को जीतनेवाला, स्निग्ध, शीतवीर्य, गरिष्ठ, मधुर, बृंहण और विशेषतः वीर्यवर्धक है।

पालक का शाक—पिच्छिल, गुरु, कफकारक, दस्तावर और शीतल है।

पोईका शाक—मद (नशा) को दूर करनेवाला है

चञ्चुका शाक—मल को बांधनेवाला है। पोई और चञ्चु ये दोनों पूर्ववत् अर्थात् पालक के समान गुणवाले (पिच्छिल, गुरु, कफकारक, दस्तावर और शीतल भी) हैं किन्तु पालक दस्तावर है और चञ्चु मलावरोधक। यही पालक और चञ्चु में भेद है। शेष गुण समान हैं।

विदारी शाक के गुण-विदारीकन्द का शाक वातपित्तनाशक, मूत्र को लानेवाला, मधुर, शीतल, जीवनप्रद, पुष्टिकारक, कण्ठ के लिए पथ्य, गुरु, वीर्यवर्धक और रसायन (बुढ़ापा और रोग से बचानेवाला-पुरुष को वार्धक्य और रोग से मुक्त करने वाला) तथा बल्या इस पाठ से बलका देनेवाला है।

जीवन्ती शाक के गुण—जीवन्ती अर्थात् डोडी का शाक नेत्रों के लिए हितकारी, त्रिदोषको दूर करनेवाला, मधुर और शीतल है। इतना ही नहीं, जीवन्ती सब शाकों में श्रेष्ठ है। दूसरी जीवन्ती मधुर नहीं होती है, वह इससे गुणों में कुछ न्यून है।

भिण्डीका शाक-वातपित्तहारक है (इस लिए कि यह मधुर और शीतल होती है)। इन्दु भण्डी का अर्थ मञ्जिष्ठा

१. 'कफपित्तजित्' इति पाठान्तरम्। २. 'कच्छुदार, इति पाठान्तरम्। ३. 'पटोलपत्रं पित्तघ्नं वल्ली चास्य कफापहा। फलं त्रिदोषशमनं मूलं चास्य विरेचनम्॥" इति।

१. 'विषाक्षघ्न, इति पा० २. 'बल्या, इति पाठान्तरम् ३. "मुञ्जातक औत्तरापथिककन्दः" इति चक्रदत्तः। "कन्दविशेषः काश्मीरे प्रसिद्धः" इति हेमाद्रिः।

और पर्वपुष्पी का नागदन्ती (हस्तिशुण्डी) करता है परन्तु हमें तो भण्डी का अर्थ भिण्डी ही समुचित प्रतीत होता है।

पर्वणी-पर्वपुष्पिका शाक के गुण—पर्वणी और हाथीशुण्डी शाक के गुण भी भिण्डी शाक के तुल्य ही जानना चाहिए। पर्वणी हस्तिशुण्डी ही का एक भेद है।

कूष्माण्डतुम्बकालिङ्गकर्कारुर्वारुतिण्डिशम्[3] ।
तथा त्रपुसचीनाकचिर्भिटं[4] कफवातकृत् ॥
भेदि विष्टम्भ्यभिष्यन्दि स्वादुपाकरसं गुरु ।
वल्लीफलानां प्रवरं कूष्माण्डं वातपित्तजित् ॥
बस्तिशुद्धिकरं वृष्यं त्रपुसं त्वतिमूत्रलम् ।
तुम्बं रूक्षतरं ग्राहि कालिङ्गोर्वारुचिर्भिटम्[5] ॥
बालं पित्तहरं शीतं विद्यात्पक्वमतोऽन्यथा ।
शीर्णवृन्तं तु सक्षारं पित्तलं कफवातजित् ॥
रोचनं दीपनं हृद्यमष्ठीलानाहनुल्लघु ।

कूष्माण्ड आदि शाकों के गुण—कूष्माण्ड (कुम्हड़ा या कोहला), तुम्ब (मीठी तुम्बी-दूधिया), कालिङ्ग (तरबूज), कर्कारु (बहुत छोटा कुम्हड़ा), एर्वारु (खीरा ककड़ी), तिण्डिसी, चीना ककड़ी, खरबुजा, चिभड़ी (ककड़ी का एक भेद), ये सब कफ-वात-कारक, दस्तावर, अफारा लानेवाले, अभिष्यन्दि, पाक और रस में मधुर तथा गुरु हैं। इस प्रकार इनका सामान्य वर्णन करके अब विशेष वर्णन करते हैं कि "वल्लीफलानां" अर्थात् बेल में लगनेवाले फलों में कूष्माण्ड सब से श्रेष्ठ है। कूष्माण्ड वातपित्त को जीतनेवाला, बस्ति (मूत्राशय) का शोधन करनेवाला और वृष्य (वीर्य को बढ़ानेवाला) है।

खीरा ककड़ी के गुण—खीरा ककड़ी अति मूत्रल (मूत्र को अधिक लानेवाली) है।

तुम्बी के गुण - मीठा अलाबू-दूधिया विशेष रूक्ष एवं मल को बांधनेवाला है।

तरबूज-खीरा ककड़ी और चिभड़ी—ये तीनों कच्चे पित्तनाशक और शीतल हैं। परन्तु ये ही पके हुए विपरीत गुणवाले अर्थात् पित्तकारक एवं उष्णवीर्य होते हैं।

शीर्णवृन्त कालिङ्ग आदि के गुण—पक जाने के कारण शीर्ण वृन्त (बेल से आपो आप दूर हो जानेवाले) कालिङ्ग, उर्वारुक, कूष्माण्ड तथा चिभड़ी ये किञ्चित् क्षारसहित, पित्त कारक, कफवातहारक, रुचिकारक, जठराग्निप्रदीपक, हृदय को बल देनेवाले, अष्ठीला और आनाह रोग को दूर करनेवाले तथा लघु हैं। अरुणदत्त ने शीर्णवृन्त की व्याख्या कर्चरशाक की है और वह छोटी कचरी हो सकती है परन्तु हमने इसकी व्याख्या इन्दु और हेमाद्रि के कथनानुसार की है।

मृणालबिसशालूकशृङ्गाटककशेरुकाः[1] ।
नन्दीमाषककेलूटकौञ्चादनकलोड्यकम्[2] ॥
सुतरुढं कदम्बं च रूक्षं ग्राहि हिमं गुरु ।
कदम्बनालिकामार्षकुटिञ्जरकतुम्बकम् ॥
चिल्लीनिष्पावलट्वाककुरुढकगवेधुकाः ।
जातुका[3]सालकल्याणी त्रिपर्णी[4] पीलुपर्णिका ॥
कुमार[5]जीवलोणीका यवशाकं सुवर्चला ।
कुकुण्डनलिनीमुष्टवृकधूमकलक्ष्मणाम्[6] ॥
आलुकानि च सर्वाणि तथा सूप्यानि रालकः ।
जीवन्तकश्चञ्चुपर्णी प्रपुन्नाटकुठेरकम् ॥
स्वादु रूक्षं सलवणं वातश्लेष्मकरं गुरु ।
शीतलं सृष्टविण्मूत्रं प्रायो विष्टभ्य जीर्यति ।
स्विन्नं निष्पीडितरसं स्नेहाढ्यं नातिदोषलम् ॥

कमल-नाल आदि के गुण—कमल की नाल और मूल, सिंघाड़ा, कसेरु, नन्दी, माषक, केम्बुक का कन्द, कमलगट्टा, जंगली चौलाई, कमलकन्द, कदम्ब इनके शाक, रूक्ष, ग्राही (मलको बांधनेवाले), शीतल और गुरु हैं।

कदम्बादि शाक के गुण—श्वेत कमल और उसकी नाल, माठ, जंगली बथुवा, गूमा (द्रोणपुष्पी), श्वेत बथुआ, सेम (राज माष-चवला), लट्वाक (करञ्जपत्र), कुरुढक, गवेधुक (गुर्च-पत्र का शाक), जातुका (हिङ्गपत्र), त्रिपर्णी, हंसपदी (कन्द-शाक विशेष), शालकल्याणी, पीलुपर्णी (मोरटक-मूर्वा), कुमारजीव (पुत्रजीव-जियापोता), लोणी (नोनिया), यव-शाक, हुलहुल, कुकुण्ड (ककरौंधा), कमलपत्र, राजसर्षप (राई-सरसों), मजीठ, पाकर (पर्कटी), सब प्रकार के आलु (आलू-रतालु-पिण्डालु), मूँग, मौठ और अरहर आदि की पत्तियाँ, सालई के पत्र, जीवन्तक, चञ्चुपर्णी, पँवाड़, श्वेत तुलसी, इन सबके शाक मधुर, रूक्ष, किञ्चित् नमकीन, वात-कफकारक, गुरु, शीतवीर्य, मलमूत्र को लानेवाले तथा प्रायः विष्टम्भी (अफारा करके फिर पचनेवाले) हैं परन्तु इनको स्वेदन कर (उबाल कर) पानी या रस निचोड़ लिया जाय और फिर घृत तेल आदि स्नेह से संयुक्त कर छौंके जावें या भून लिए जावें तो ये किसी प्रकार के दोषविशेष के करनेवाले नहीं होते हैं।

लघुपत्रा तु या चिल्ली सा वास्तुकसमा मता ।
तर्कारीवरुणं स्वादु सतिक्तं कफवातजित् ॥
वर्षाभ्वौ कालशाकं च सक्षारं कटुतिक्तकम् ।
दीपनं भेदनं हन्ति गरशोफकफानिलान् ॥
दीपनाः कफवातघ्नाश्चिरिबिल्वाङ्कुराः सराः ।

१. "भण्डी मञ्जिष्ठा" इतीन्दुः। "भण्डी स्वनामख्याता" इति चक्रः।
२. "पर्वणी-हस्तिशुण्डीति लोके" "पर्वपुष्पिका हस्तिशुण्ड्याम्" इति वैद्यकशब्दसिन्धुः।
३. "कर्कारुर्वारुतिन्दिशम्" इति पाठान्तरम् "तिन्दिशम्" इति पा०
४. "चिर्भटं" इति पा० ५. 'कालिङ्गोर्वारुचिर्भटम्।

१. कलम्बु। २. माष। ३. यातुका। ४. श्रीपर्णी।
५. कुमारी। ६. कुरमाण्डनीलि नीस्वर्चावृकधूमकलक्ष्मणाः।
७. लक्ष्मणा। ८. कुबेरकम्, ९. तकारी। १०. चिरिबिल्वांकुरा इत्यादीनि पाठान्तराणि।

लघुरुष्णा सरा तिक्ता सोरुवूका च लाङ्गली ॥
वातलौ कटुतिक्ताम्लौ भेदिनौ तिलवेतसौ ।
तद्वत्पञ्चाङ्गुलो वंशकरीरास्तु विदाहिनः ॥
वातपित्तकरा रूक्षाः कटुपाकाः कफापहाः ।
बिल्वरास्नाबलाशाकं वातघ्नमतिसारजित् ॥
वायुं वत्सादनी हन्यात्कफं कञ्जीरचित्रकौ ।
पत्तूरो दीपनस्तिक्तः प्लीहार्शः कफवातजित् ।
क्रमिकासकफोत्क्लेदान् कासमर्दो जयेत्सरः ।
रूक्षोष्णमम्लं कौसुम्भं गुरु पित्तकरं सरम् ॥
सक्षारमधुरं स्निग्धमुष्णं गुरु च सार्षपम् ।
शाकानामवरं बद्धविण्मूत्रं सर्वदोषकृत् ॥
यद्बालमव्यक्तरसं किञ्चित्क्षारं सतिक्तकम् ।
तन्मूलकं दोषहरं लघु सोष्णं नियच्छति ॥
गुल्मकासक्षयश्वासव्रणनेत्रगलामयान् ।
स्वराग्निसादोदावर्तपीनसांश्च महत्पुनः ॥
रूक्षोष्णं कटुकं स्वादु विपाके सर्वदोषकृत् ।
गुर्वभिष्यन्दि च स्निग्धसिद्धं तदपि वातजित् ॥
वातश्लेष्महरं शुष्कं सर्वमामं तु दोषलम् ।
कटूष्णो वातकफहा पिण्डालुः पित्तवर्धनः ॥

श्वेत बथुवे के गुण—श्वेत बथुआ ( चिल्ली ) बथुवे के समान गुणवाला है ।

अग्निमन्थ के गुण—तर्कारी, अरणी, अगेथु या अग्निमन्थ मधुर रसवाला, कुछ तिक्त और कफवात का हरनेवाला है ।

वरना के गुण—वरुण वृक्ष या वरना अग्निमन्थ के समान गुणवाला है ।

पुनर्नवा और कालशाक के गुण—श्वेत और रक्त दोनों प्रकार का पुनर्नवा ( साटी-इटसिट ) तथा कालशाक ( नरिचा Asort of Pothorb ) कुछ क्षारयुक्त, रस में कटु और तिक्त, अग्निप्रदीपक, दस्तावर, गर ( कृत्रिम विष ) शोथ-कफ-वायु के रोग इनको नष्ट करनेवाले हैं ।

लताकरञ्ज के गुण—लता-करञ्ज ( करञ्जुआ ) के अंकुर जठराग्नि को बढ़ानेवाले, कफ-वात-नाशक और दस्तावर हैं ।

एरण्ड और लांगली के गुण—एरण्ड और लाङ्गलकी ( गज-पीपल-वृषपर्णी या केवांच ) के पत्र का शाक हल्का, उष्ण, दस्तावर तथा तिक्त रसवाला है ।

तिल और अम्लबेतपत्र के गुण - जङ्गली या खेत में बोए हुए तिल के पत्ते तथा अम्लबेत के पत्ते वायुकारक, कटु और तिक्त, दस्तावर एवं अम्ल हैं ।

लाल एरण्डपत्र के गुण—उपर्युक्त तिल और अम्लबेतपत्र के जो गुण हैं वे ही गुण लाल एरण्ड के पत्रों के शाक के हैं ।

बांस के अङ्कुरों का गुण—बांस के अंकुरों का शाक विदाही, वातपित्तकारक, रूक्ष, पाक के समय कटु एवं कफ को दूर करनेवाला है ।

बेल, रास्ना और खिरेटी के पत्तों का गुण—बेल, रास्ना तथा खिरेटी के पत्र वायु और अतिसार के हरनेवाले हैं ।

गुडूची और बन्दाक के गुण—नीमगिलोय के पत्र या किसी वृक्ष का बांदा वायुका नाशक है ।

थूहर और चित्रक के गुण—थूहर और चित्रक का शाक कफ को हरता है ।

पत्तूर के गुण—पत्तूर ( शालिञ्च या जलपीपल ) का शाक जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला, तिक्त, तिल्ली-अर्श-कफ और वायु को शमन करता है ।

कसौन्दी के गुण—कासमर्द या कसौन्दी का शाक क्रिमि-रोग-खांसी-कफ का प्रकोप इनको जीतनेवाला है तथा दस्तावर है ।

करड़ या कौसुम्भ का शाक—रूक्ष, उष्ण, अम्ल, भारी, पित्त-कारक और सर ( दस्तावर ) है ।

सरसों का शाक—कुछ क्षारयुक्त, मधुर, स्निग्ध, उष्ण एवं भारी है । इतना ही नहीं, सरसों के पत्तों का शाक सब शाकों से अवर ( नेष्ट ) है, मल-मूत्र को रोकनेवाला और त्रिदोष-कारक है ।

मूली के शाक के गुण—जो सूक्ष्म अर्थात् पतली हो, जिसमें कटु-मधुरादि रसों का ज्ञान न हो और जो कुछ क्षार और कुछ तिक्त रसवाली हो, ऐसी मूली त्रिदोषनाशक, लघु, कुछ उष्ण, गुल्म-खांसी-क्षय-श्वास-व्रण-नेत्र-कण्ठरोग-स्वरभङ्ग-अग्निमान्द्य-उदावर्त और पीनस रोग को दूर करनेवाली है । स्थूल अर्थात् बड़ी मूली रूक्ष, उष्ण, कटु, विपाक में मधुर, त्रिदोषकारक, गुरु और अभिष्यन्दी है परन्तु यही मूली यदि घृत-मांस आदि स्निग्ध पदार्थों के साथ सिद्ध की हुई है तो वायु को हरनेवाली होती है । सब प्रकार की सूखी मूली वात और कफ को हरनेवाली है और कच्ची मूली त्रिदोषकारक है ।

पिण्डालुशाक के गुण—पिण्डी जो ऊपर से पीली दिखाई देती है उसका शाक कटु, उष्ण, वात और कफ को दूर करने-वाला है और इसी प्रकार पित्त को बढ़ानेवाला है । हेमाद्रि पिण्डालु वाराहीकन्द को कहता है ।

कुठेरशिग्रुसुरससुमुखासुरिभूस्तृणाः ।
धान्यतुम्बुरुशैलेययवानीशृङ्गवेरकाः ॥
पर्णाशो गृञ्जनोऽजाजी कण्डीरो जलपिप्पली ।
फणिज्झार्जकजम्बीरखराश्वाकालमालिकाः ॥
दीप्यकक्षवकद्वीपीबस्तगन्धादि बद्धविट् ।
रसे पाके च कटुकं दोषोत्क्लेदकरं लघु ॥
विदाहि रूक्षं तीक्ष्णोष्णं दृक्शुक्रक्रमिनाशनम् ।
वर्गो हरितकाख्योऽयमुपदंशेषु युज्यते ॥
वासनो व्यञ्जनानां च हृद्यो दीपनरोचनः ।

१. सोरुपूका । २. गण्डीरचित्रकौ. इति पाठान्तराणि ।

१. 'पिण्डालुः—वाराहीकन्दः । स हि वक्त्रालुरुच्यते । उक्तं स्वायुर्वेदप्रकाशे पण्डितकेशवेन 'वाराहीकन्दः पिण्डालुस्तथा शबरकन्द-कः । प्रोक्तो मूलकमूलाभो वक्त्रालुस्त्वक्छदस्तथा ॥'' इत्यादि २. जीरकं गजपिप्पली ३. खराह्वा ४. दोषोत्क्लेशकरं इति पाठान्तराणि ।

हरितक-गण और उसके गुण—श्वेत तुलसी, सहंजना, कृष्ण तुलसी, सुमुख ( तुलसी का ही एक भेद ), राई, भूस्तृण (एक प्रकार का सुगन्धित तृण), धनियां, तुम्बुरु, छारछरीला, अजवायन, अदरक, पर्णाश, गाजर, जीरा, स्याहजीरा, कण्डीर, जलपीपल, फणिज्जक, ( लाल मिर्चा–मरुवा ), आर्जक ( खर-पत्र–पोदीना ), जम्मीरी नींबू, खराश्वा ( अजमोदा ), कालमाला ( कृष्णार्जक–पुदीने का एक भेद या वन–तुलसी ), यवानी ( अजवायन विशेष ) क्षवक ( राई का एक भेद ), द्वीपी ( चित्रक ) और अजगन्धा आदि ये सब मल ( पुरीष ) को बांधनेवाले, रस और पाक में कटु, दोषोत्क्लेदकर (वातादि दोषों को कुपित कर स्थान से विचलित करनेवाले ), लघु, विदाही, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण, दृष्टि–वीर्य–कृमिरोग इनको नष्ट करनेवाले हैं। कुठेर से लेकर बस्तगन्धा तक द्रव्यों का यह हरितक वर्ग कहलाता है। इस वर्ग का उपयोग भोजन के साथ के चटनी आदि शालनों के रूप में किया जाता है क्योंकि चटनी आदि में सब संभार हरे ही लिए जाते हैं। इसी लिए इसका नाम हरितक वर्ग है। यह हरितक वर्ग भोजनोपयोगी सब व्यञ्जनों के लिए वासन ( सब व्यञ्जनों को सुवासित करने वाला ), हृदय को बल देनेवाला, अग्निप्रदीपक तथा रोचन ( रुचिकारक ) है।

सर्व सामान्य गुणों को कहने के अनन्तर अब इनमें से कुछ के विशेष गुणों को कहते हैं।

हिध्माकासविषश्वासपार्श्वरुक्पूतिगन्धहा ।
सुरसः सुमुखः शोफगरहा धानका पुनः ॥
कषायतिक्तमधुरा मूत्रला न च पित्तकृत् ।
खराश्वा बस्तिशूलघ्नी चित्रको दीपनः परः ॥
पत्रे सक्षारमधुरो मध्ये मधुरपिच्छिलः ।
तीक्ष्णोष्णो लशुनः कन्दे कटुपाकरसः सरः ॥
हृद्यः केश्यो गुरुर्वृष्यः स्निग्धो दीपनपाचनः ।
भग्नसंधानकृद्बल्यो रक्तपित्तप्रदूषणः ॥
किलासकुष्ठगुल्मार्शोमेहक्रिमिकफानिलान् ।
सहिध्मापीनसश्वासकासान् हन्ति रसायनम् ॥
पलाण्डुस्तद्गुणैर्न्यूनो विपाके मधुरस्तु सः ।
कफं करोति नो पित्तं केवलानिलनाशनः ॥
दीपनः सूरणो रुच्यः कफघ्नो विशदो लघुः ।
विशेषादर्शसां पथ्यो भूकन्दस्त्वतिदोषलः ॥
पुष्पे पत्रे फले नाले कन्दे च गुरुता क्रमात् ।
वरा शाकेषु जीवन्ती सार्षपं त्ववरं परम् ॥

तुलसी और वनतुलसी के गुण—तुलसी और वनतुलसी ये दोनों हिचकी, कास, विष, गर ( कृत्रिम विष ), श्वास, पसली की पीड़ा, सड़ियल दुर्गन्ध, सूजन इनको दूर करनेवाली हैं।

धनियाँ के गुण—हरी धनियाँ कषाय, तिक्त और मधुर, मूत्र को खोलनेवाली है और पित्तकारक नहीं है।

कलौंजी–अजमोद–अजवायन के गुण—अजवायन, अजमोदा और कलौंजी बस्ति ( पेडू ) के शूल को हरनेवाले हैं।

चित्रक के गुण—चित्रक जठराग्नि को प्रदीप्त करने में सबसे श्रेष्ठ है।

लहसुन के गुण—लहसुन के पत्ते कुछ क्षारयुक्त और मधुर हैं, पत्तों के कठिन मध्यभाग मधुर एवं पिच्छिल है तथा मूल या कन्द तीक्ष्ण और उष्ण है। लहसुन पाक और रस में कटु, सर ( सर्वस्रोतों में प्रसरणशील और दस्तावर ), हृदय के लिए हितकारी, केशों के लिए पथ्य ( केशों को बढ़ाने एवं सुरक्षित रखनेवाला ), गुरु, वृष्य ( वीर्यप्रद ), स्निग्ध, रुचिकारक, अग्निप्रदीपक, टूटी हुई अस्थियों को जोड़नेवाला, बलदायक, रक्तपित्त को दूषित करनेवाला, किलास–श्वित्र ( कुष्ठ के भेद ), वातगुल्म–अर्श–प्रमेह–कृमि–कफ–वात–हिचकी–पीनस–श्वास और कास रोग को नष्ट करनेवाला तथा रसायन की तरह शरीर के लिए हितकारी है। सारांश, लहसुन न जल्दी बुढ़ापा आने देता और न रोगों को ही होने देता है।

पलाण्डु के गुण—प्याज अर्थात् कांदा लहसुन के समान गुणवाला है अर्थात् उन्हीं गुणों को कुछ न्यून प्रमाण में करता है। प्याज विपाक में मधुर, कफकारक है परन्तु पित्तकारक नहीं है। सारांश, केवल वायु को नष्ट करता है किन्तु पित्त को नष्ट नहीं करता है।

सूरणकन्द के गुण—सूरण जठराग्नि को प्रदीप्त करता, रुचिकारक, कफनाशक, विशद, लघु और अर्श ( बवासीर ) रोग के लिए अति हितकारी ( पथ्य ) है।

भूकन्द के गुण—जो पृथ्वी को फाड़कर वर्षाकाल में छत्राकार सफेद उगता है, वह भूकन्द केवल त्रिदोष को बढ़ाने वाला है।

पुष्प–पत्र–फलादि में उत्तरोत्तर गुरुता—शाकवर्ग में शाकोपयोगी पदार्थ पुष्प, पत्र, फल, नाल और कन्द कहे गये हैं। इनमें पुष्प से पत्र, पत्रों से फल, फल से नाल और नाल से कन्द में उत्तरोत्तर गुरुता होती है। भावार्थ यह है कि कन्द से नाल, नाल से फल, फल से पत्र और पत्र से पुष्प लघु ( हल्का ) होता है।

समस्त शाकों में श्रेष्ठाश्रेष्ठत्व—सब शाकों में जीवन्ती अर्थात् डोडी का शाक उत्तम है और सबमें नेष्ट ( हीन ) शाक सरसों का है। सारांश, जीवन्ती सर्वथा पथ्य तथा सरसों का शाक कुपथ्यकारक है।

इति शाकवर्गः।

## अथ फलवर्गः।

अब यहाँ से आचार्य फलवर्ग का आरम्भ करते हैं। फलों में भी सर्व श्रेष्ठ का निर्देश प्रथम करते हुए कहते हैं कि—

द्राक्षा फलोत्तमा वृष्या चक्षुष्या सृष्टमूत्रविट् ।
स्वादुपाकरसा स्निग्धा सकषाया हिमा गुरुः ॥
निहन्त्यनिलपित्तास्रतिक्तास्यत्वमदात्ययान् ।
तृष्णाकासज्वरश्वासस्वरभेदक्षतक्षयान् ॥
उद्रिक्तपित्तान् जयति त्रिदोषान् स्वादु दाडिमम् ।
पित्ताविरोधि नात्युष्णमम्लं वातकफापहम् ॥

१. "अयं च कुठेरादिर्यो हरितकाख्यो वर्ग उपदंशेषु युज्यते। उपदंशो येन सहान्नं भोक्तुं युज्यते।" इतीन्दुः। २. शोफगन्धहा ३. खराह्वा ४. परम् ५. रोचनदीपनः ६. पलण्डुः ७. पत्रे पुष्पे इति पाठान्तराणि।

सर्वं हृद्यं लघु स्निग्धं ग्राहि रोचनदीपनम् ।

दाख के गुण—द्राक्षा ( अंगूर ) सब फलों में उत्तम, वृष्य, नेत्रों के लिए हितकारी, मल-मूत्र-प्रवर्तक, रस तथा पाक में मधुर, स्निग्ध, कुछ कषायरसवाली, शीतल, गुरु, वात-पित्त-रक्त-मुंह का तिक्त ( कडुआ ) रहना-मदात्यय-तृष्णा-खाँसी-ज्वर-श्वास-स्वरभेद-उरःक्षत और क्षय इन रोगों को दूर करती है।

विशेष वक्तव्य—यहां द्राक्षा को फलों में उत्तम कहा है परन्तु सुश्रुत के कथनानुसार उत्तम फलों में अर्थात् दाडिम, आंवला, द्राक्षा, खजूर, फालसा, चिरौञ्जी और बिजौरा में इसकी गणना होने से भावार्थ निकलता है कि उक्त उत्तम फलों में से यह भी एक है। हेमाद्रि सब फलों में द्राक्षा को उत्तमोत्तम मानते हैं। महर्षि चरक ने इसे उदावर्त, मुखशोष आदि हरनेवाली कहा है, वही भाव वाग्भट के द्राक्षा को स्निग्ध, वृष्य, मलमूल प्रवर्तिनी कहने में आजाता है। उपर्युक्त गुण उत्तम द्राक्षाके हैं। हीन गुणवाली द्राक्षाकी कल्पना देश भेदसे कर लेनी चाहिए।

अनारके गुण दाडिम अर्थात् अनार पित्ताधिकसमस्त दोषों को जीतनेवाला, मधुर ( मीठा ) तथा पित्तका अविरोधी ( न तो पित्तकारक और न पित्तका नाशक ) है। खट्टा अनार कुछ उष्ण और वातकफका नाश करनेवाला है। सब प्रकारके अनार हृदयको बल देनेवाले, लघु, स्निग्ध, मलको बांधनेवाले, रुचिकारक तथा जठराग्निको प्रदीप्त करनेवाले हैं।

मोचखर्जूरपनसनारिकेलपरूषकम् ।
आम्रातकतालकाश्मर्यराजादनमधूकजम् ॥
सौवीरबदराङ्कोल्लफल्गुश्लेष्मातकोद्भवम् ।
वाताममभिषुकाक्षोडमुकूलकनिकोचकम् ॥
ऊरुमाणं प्रियालं च बृंहणं गुरु शीतलम् ।
दाहक्षतक्षयहरं रक्तपित्तप्रसादनम् ॥
स्वादुपाकरसं स्निग्धं विष्टम्भि कफशुक्रलम्[3] ।

कदली आदि के सामान्य गुण—केला, खजूर या खारिक, पनस, नारियल, फालसा, अम्रातक या आम, ताल के फल, खम्भारी,, खिरनी, महुआ के फल, सौवीर देश के बेर, बेल, अञ्जीर, लिहसौडा, बादाम, अभिषुक ( न्योजा ), अखरोट, पिस्ता, निकोचक ( पिस्ता का ही एक भेद ), उरुमाण या ऊरुमाण ( मायीफल ), चिरौञ्जीदाना ये सब सामान्यतः बृंहण ( पुष्टिकारक ) गुरु, शीतवीर्य, दाह-क्षत ( उरःक्षत )-क्षय इन रोगों के नाश करनेवाले, रक्त-पित्त-प्रसादन ( रक्त पित्त को निर्मल करनेवाले ) पाक और रस में मधुर, स्निग्ध, विष्टम्भकारक, कफ और वीर्य को बढ़ानेवाले हैं।

विशेष गुणकथन - सामान्य गुणों को कहने के अनन्तर अब इनमें से कुछ के विशेष गुणों को कहते हैं।

नारिकेलं गुरु स्निग्धं पित्तघ्नं स्वादु शीतलम् ।
बलमांसकरं हृद्यं बृंहणं बस्तिशोधनम् ॥
मोचं स्वादुरसं प्रोक्तं कषायं नातिशीतलम् ।
रक्तपित्तहरं वृष्यं रुच्यं श्लेष्मकरं गुरु ॥
स्निग्धं स्वादु कषायं च राजादनफलं गुरु ।
फलं तु पित्तलं तालं सरं काश्मर्यजं हिमम् ॥
शकृन्मूत्रविबन्धघ्नं केश्यं मेध्यं रसायनम् ।
मधूकजमहृद्यं तु बदरं सरगात्मकम् ॥
वातामाद्युष्णवीर्यं तु कफपित्तकरं सरम् ।
परं वातहरं स्निग्धमनुष्णं च पियालजम् ॥
पियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः ।
कोलमज्जा गुणैस्तद्वच्छर्दितृट्कासजिच्च सः ॥

नारियल के गुण—नारिकेल गुरु, स्निग्ध, पित्तघ्न, मधुर, शीतवीर्य, बल और मांस को बढ़ानेवाला, हृदय के लिए हितकारी, बृंहण और बस्ति-शोधन ( मूत्राशय को शुद्ध करने वाला ) है।

कदली-फल के गुण—केले के फल रस में मधुर, कषाय और कुछ शीतल, रक्तपित्तनाशक, वीर्यवर्धक, रुचिकारक, कफकारक और गुरु हैं।

खिरनी के गुण—राजादन के फल स्निग्ध, मधुर, कषाय और गुरु हैं।

ताड़ के फलों के गुण—तालफल पित्तकारक हैं।

खम्भारी-फलों के गुण—काश्मरी अर्थात् खम्भारी के फल सर ( दस्तावर ), शीतवीर्य, मल-मूत्र के अवरोधको दूर करने वाले, केशों के लिए हितकारी, मेधावर्धक ( बुद्धि को बढ़ाने वाले ) तथा रसायन ( जरावस्था और व्याधि को दूर करने वाले ) हैं।

महुआ और बेर के गुण - महुए के फल हृदय के लिए अहृद्य ( अप्रिय ) हैं और बदरीफल ( बेर ) दस्तावर हैं।

बादाम आदि के गुण—बादाम आदि ( बादाम, न्योजा, अखरोट, पिस्ता आदि ) उष्ण वीर्य, कफपित्तकारक और सर ( दस्तावर ) हैं परन्तु इनमें पियाल अर्थात् चिरौञ्जीदाना वातनाशक, स्निग्ध और अनुष्ण ( शीतवीर्य ) है। पियाल के बीज मधुर, वृष्य, पित्त और वात को हरनेवाले हैं।

बेर की गुठली के गुण- यद्यपि बेर की मज्जा पियालमज्जा के समान गुणकारी है तथापि यह वमन, प्यास और कास को जीतनेवाली है।

पक्वापक्व बादाम आदि में भेद - बादाम आदि को पहले सामान्यतया शीतवीर्य कहे हैं और यहाँ उष्णवीर्य कह दिया है सो विरोध नहीं है। क्यों कि ऐसा बादाम आदि की पक्व

१. द्राक्षेति—"उत्तमेति सिद्धे फलग्रहणमुत्तमेभ्योऽप्युत्तमार्थम्। उत्तमान्युक्तानि सुश्रुतेन-दाडिमामलकं द्राक्षा खर्जूरं सपरूषकम्। राजादनं मातुलुङ्गं फलवर्गे प्रशस्यते ॥" इति

२. "उदावर्तहरत्वं चरकमुनिनाऽस्या उक्तम्। तच्च स्निग्धत्व-वृष्यत्वसृष्टविण्मूत्रत्वेनेहोक्तप्रायम्। अन्यासां च द्राक्षाणां गुणहीनत्वं देशाद्यनुरोधात्कल्प्यम्" इत्यरुणदत्तः।

३. 'कफशुक्रकृत्' इति पाठान्तरम्।

और अपक्व अवस्था को लेकर कहा है अर्थात् बादाम आदि कच्चे शीतल हैं और पके हुए उष्ण हैं।

अब तैन्दू आदि फलों के सामान्य गुणों को कहते हैं।

तिन्दुकाश्मन्तकासीनफलिनीबिम्बतोदनम् ॥
टङ्काश्वकर्णबकुलगाङ्गेरुधवधन्वनम् ।
श्वेतपाककपित्थानि सिञ्चती भव्यजाम्बवम् ॥
क्षीरिवृक्षफलं बीजं पौष्करं कफपित्तजित् ।
कषायमधुरं रूक्षं शीतलं गुरु लेखनम् ॥
विबन्धाध्मानजननं स्तम्भनं वातकोपनम् ।

तिन्दुकादि के गुण—तैन्दुआ, अश्मन्तक ( अम्लोट ), आसीन, प्रियङ्गु, बिम्ब ( कुन्दू ), तोदन ( काश्मीर देश की एक इमली की जाति या शहतूत ), टङ्क ( नील कपित्थ ), अश्वकर्ण ( साल का फल Shored robuster ), बकुल, गङ्गेरन, धव ( धामन ), धन्वन ( धामन का ही एक भेद ), श्वेतपाक, कैथ, सिञ्चती ( पेमजी बेर ), भव्य ( कमरख ), जाम्बव ( जामुन ), क्षीरिवृक्ष अर्थात् बड़, गूलर, पीपल, प्लक्ष और बेतस के फल, पौष्कर ( कमल गट्टे ) ये सब कफ और पित्त को जीतनेवाले, कषाय और मधुर, रूक्ष, शीतवीर्य, गुरु, लेखन, मलावरोध और अफारा को करनेवाले, स्तम्भन और वायु को कुपित करनेवाले हैं।

गुण विशेष—सामान्य गुणों के अनन्तर अब इनमें से कुछ के विशेष गुणों को कहते हैं।

कपित्थमामं कण्ठघ्नं कषायाम्लं त्रिदोषकृत् ॥
पक्वं रुच्यं कषायाम्लं स्वादु हिध्मावमिप्रणुत् ।
दोषघ्नं खाडवारिष्टरागयुक्तिषु पूजितम् ॥
विषघ्नमुभयं ग्राहि कपित्थाद्येवमादिशेत् ।
बृंहणं वातपित्तघ्नं स्निग्धं सिञ्चितिकाफलम् ॥
भव्यं विशदमम्लं च जाम्बवं त्वतिवातलम् ।
विष्टम्भकृदकण्ठ्यं च साम्लं तु क्षीरिवृक्षजम् ॥
पित्तश्लेष्मघ्नमम्लं च वातलं चाक्षकीफलम् ।

कपित्थ के गुण—कच्चा कैथ कण्ठघ्न ( स्वरभेद कर्ता–कण्ठ के लिये अपथ्य ) कषाय, अम्ल और त्रिदोषकारक है। पका हुआ कैथ रुचिकारक, कषाय, अम्ल, मधुर, हिचकी और वमन को दूर करनेवाला, त्रिदोषशामक, खाडव–अरिष्ट और राग की योजनाओं में श्रेष्ठ है। कच्चे और पक्के कपित्थादि फलों को सामान्यतया विषनाशक और ग्राही ( मल को बाँधने वाले ) समझना चाहिए।

पेमजी बेर के गुण—पेमजी तथैव उन्नाव नामक मीठा बेर बृंहण, वातपित्तनाशक और स्निग्ध है।

कमरख के गुण— भव्य अर्थात् कमरख के फल विशद तथा अम्ल हैं।

जामुन के गुण – जामुन के फल अति वातकारक, मलमूत्र का अवरोध करनेवाले और कण्ठ के लिये अपथ्य अर्थात् हितकारी नहीं हैं।

क्षीरिवृक्ष–फलों के गुण—बड़, गूलर, पीपल, पाखर आदि क्षीरि वृक्षों के फल कुछ अम्ल रसवाले हैं और इनके गुण पूर्वोक्त समझने चाहिये।

बहेड़े के फल के गुण—बहेड़े के फल पित्त और कफ के नाशक अम्ल और वायुकारक हैं।

बालं कषायकट्वम्लं रूक्षं वातास्रपित्तकृत् ॥
संपूर्णमाम्रमम्लं तु रक्तपित्तकफप्रदम् ।
स्वादु साम्लं गुरु स्निग्धं मारुतघ्नमपित्तलम् ॥
हृद्यं पर्यागतं श्लेष्ममांसशुक्रबलप्रदम् ।
सहकाररसो हृद्यः सुरभिस्निग्धरोचनः ॥
दीपनः पित्तवातघ्नः शुक्रशोणितशुद्धिकृत् ।

कच्चे आम के गुण—कच्चा आम कषाय, कटु, अम्ल, रूक्ष, वातरक्त और पित्तकारक है। सभी प्रकार के आम अम्ल, रक्तपित्त तथा कफ के करनेवाले हैं। मधुर अर्थात् मीठे आम कुछ अम्ल, गुरु, स्निग्ध, वात और पित्त के शमन करनेवाले हैं। इतना ही नहीं, मधुर ( मीठे ) आम हृद्य हैं, वीर्य को तथा बल को देनेवाले हैं।

आमरस के गुण—आम का रस हृदय को हितकारी, सुगन्धित, स्निग्ध, रुचिकारक, जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला, पित्त और वात को शमन करनेवाला, वीर्य तथैव रक्त की शुद्धि करनेवाला है।

कषायं रोचनं हृद्यं वातलं लवलीफलम् ॥
गुर्वग्निसादकृद्बिल्वं दोषलं पूतिमारुतम् ।
पक्वं बालं पुनस्तीक्ष्णं पित्तलं लघु दीपनम् ॥
वातश्लेष्मघ्नमुष्णं च स्निग्धं ग्राह्युभयं परम् ।
वृक्षाम्लं ग्राहि रूक्षोष्णं लघु रोचनदीपनम् ॥
वातश्लेष्महरं किञ्चिदूनं कोशाम्रजं ततः ।
फलं करञ्जं विष्टम्भि पित्तश्लेष्माविरोधि च ॥
गुरूष्णमधुरं रूक्षं केशघ्नं च शमीफलम् ।
कटुपाकरसं पीलु तीक्ष्णोष्णं भेदि पित्तलम् ॥
कृमिगुल्मोदरगरप्लीहार्शःकफवातजित् ।
सतिक्तं स्वादु यत्पीलु नात्युष्णं तत्त्रिदोषजित् ॥

हरफारेवड़ी के गुण—लवलीका फल रुचिकारक, हृदय के लिए हितकारी और वातकारक है।

बिल्वफलके गुण—पका हुआ बेलका फल गुरु, अग्निमन्द-कर्ता, त्रिदोषकारक और पूतिमारुतको करनेवाला अर्थात् दुर्गन्धयुक्त डकार और अपान·वायु को लानेवाला है परन्तु बेल का कच्चा फल तीक्ष्ण, पित्तकारक, लघु, दीपन ( जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला ) और वात तथा कफ को हरनेवाला है।

१. 'क्षीरिवृक्षभवं, २. 'षाडवारिष्टरागयुक्तिषु, ३. 'कपित्थान्येवमादिशेत्, इति पाठान्तराणि।

१. 'दीपनरोचनम्, इति पाठान्तरम्।

२. 'पूतिमारुतम्–पूतिगुणं दुर्गन्धकरं च मारुतमुद्गारादौ, इतीन्दुः। 'पूतिमारुतम्—दुर्गन्ध्यधोवातप्रवर्त्तकम्, इति हेमाद्रिः।

कच्चा और पका ये दोनों प्रकार के बेल के फल स्निग्ध एवं परमग्राही ( अतिमलावरोधक ) हैं।

वृक्षाम्ल के गुण—तिन्तिडीक या कोकम के फल मल को बाँधनेवाले, रूक्ष, उष्ण, लघु, रुचिकारक और जठराग्नि-प्रदीपक हैं।

आम की गुठली के गुण—कोशाम्र वृक्षाम्ल से कुछ हीनगुण, और वायु-कफ का नाशक है।

करञ्जफल के गुण—करञ्ज का फल अफाराकारक, पित्त और कफ का अविरोधी अर्थात् पित्त और कफ को नष्ट नहीं करता है।

शमीफल के गुण—शमी के फल ( सांगर या सांगरी ) गुरु, उष्ण, मधुर, रूक्ष एवं केशघ्न ( केशों का नाशकारी ) है।

पीलु के फल के गुण—पीलु का फल पाक और रस में कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, दस्तावर, पित्तकारक, कृमि-गुल्म-उदर-विष-प्लीह-अर्श-कफ और वातरोग का नाशक है परन्तु जो पीलु, कुछ तिक्त और मधुर है वह त्रिदोषनाशक है और अत्युष्ण भी नहीं है।

नीपं शताह्विकं प्राचीनामलं तृणशूल्यकम् ।
अस्मादल्पान्तरगुणमैङ्गुदं सविकङ्कतम् ॥
त्वक्तिक्ता कटुका स्निग्धा मातुलुङ्गस्य वातजित् ।
बृंहणं मधुरं मांसं वातपित्तहरं गुरु ॥
लघु तत्केसरं कासश्वासहिध्मामदात्ययान् ।
आस्यशोषानिलश्लेष्मविबन्धच्छर्द्यरोचकान् ॥
गुल्मोदरार्शःशूलानि मन्दाग्नित्वं च नाशयेत् ।
भल्लातकस्य त्वङ्मांसं बृंहणं स्वादु शीतलम् ॥
तदस्थ्यग्निसमं मेध्यं कफवातहरं परम् ।
स्वाद्वम्लं शीतमुष्णं च द्विधा पालेवतं[1] गुरु ॥
रुच्यमत्यग्निशमनं रुच्यं मधुरमारुकम् ।
पक्वमाशु जरां याति नात्युष्णं गुरु दोषलम् ॥

कदम्ब आदि के गुण—कदम्ब, शतावरी, प्राचीन आमलक या पानीय आमलक और केतकी इनके फल पीलु से थोड़े अन्तरवाले हैं अर्थात् इनके गुण प्रायः पीलु से ही जानने चाहिये। इसी प्रकार के गुणवाले इङ्गुदी ( हिंगोट ) और विकङ्कत के फल हैं।

बिजौरे के गुण—बिजौरे की त्वचा ( फल की त्वक् ) कटु, तिक्त, स्निग्ध और वायु को जीतनेवाली है। बिजौरे के फल का गूदा बृंहण, मधुर, गुरु और वातपित्त को हरनेवाला है। बिजौरे की केसर लघु है तथा कास-श्वास-हिचकी-मदात्यय-मुखशोष-वायु-कफ-विबन्ध ( अफारा-मलावरोध )-छर्दि-अरोचक-गुल्म-उदर-अर्श-शूल और मन्दाग्नि इन सब को हरनेवाली है।

भिलावा के गुण—भिलावे के फल की त्वचा और उसका गूदा बृंहण, मधुर और शीतल है। उसकी गुठली अग्नि के समान उष्ण, मेधा को बढ़ानेवाली, कफ और वात को शमन करने में परम श्रेष्ठ है।

दोनों प्रकार के आड़ू—मधुर, अम्ल, शीत, उष्ण और गुरु हैं। बड़ा आड़ू छोटे की अपेक्षा रुचिकारक, अत्यग्निशामक और मधुर है। हमारी एवं हमारे कई मित्रों की सम्मति में पालेवत ही आड़ू है। बड़े और छोटे के भेद से इसकी दो जातियां आज वर्तमान हैं। हमने यही समझ कर यहां व्याख्या की है, परन्तु एक निघण्टुकार कहते हैं कि पालेवत द्वीपान्तरीय खजूर है। इन्दु अपनी व्याख्या में आरुक, वीरसेन, वीराची और नारुक नाम से आड़ू की चार जातियाँ मानते हैं।

पका हुआ आड़ू—बहुत जल्दी पचता है और अति उष्ण, गुरु और दोषकारक नहीं होता है। भावार्थ यह है कि किञ्चित् उष्ण, गुरु और दोषकारक होता है।

द्राक्षापरूषकं चार्द्रमम्लं पित्तकफप्रदम् ।
गुरूष्णवीर्यं वातघ्नं सरं सकरमर्दकम् ॥
तथाम्लं कोलकर्कन्धुलिकुचाम्रातकारुकम् ।
ऐरावतं दन्तशठं सतूदं मृगलिण्डिकम् ॥
नातिपित्तकरं पक्वं शुष्कं च करमर्दकम् ।
दीपनं भेदनं शुष्कमम्लिकाकोलयोः[2] फलम् ॥
तृष्णाश्रमक्लमच्छेदि लघ्विष्टं कफवातयोः ।

आर्द्र द्राक्षादि के गुण—आर्द्र अर्थात् गीले या कच्चे द्राक्षा, फालसा और करौंदा अम्ल, गुरु, उष्णवीर्य, दस्तावर, पित्त-कफकारक तथा वात के नाशक हैं। इसी प्रकार कोलकर्कन्धु ( बड़े और छोटे बेर ), लिकुच ( बड़हर ), अम्वाड़ा, आड़ू, नारङ्गी, नींबू, शहतूत और मृगलिण्डिक ( अम्ल फल विशेष ) ये भी आर्द्र ( कच्चे ) हों तो द्राक्षापरूषकादि की तरह गुणोंवाले हैं।

पके और सूखे करौन्दा, बेर और इमली के गुण—पका और सूखा करौंदा कुछ पित्तकारक है। सूखी इमली और बेर अग्नि-प्रदीपन, दस्तावर, तृष्णाश्रमग्लानिनाशक, लघु, कफ और वात में इष्ट अर्थात् कफवात को शमन करनेवाले हैं या कफ-वात रोगी के लिये पथ्य हैं।

अब त्याज्य फल, धान्य और शाक का वर्णन करते हैं—

फलानामवरं तत्र लिकुचं सर्वदोषकृत् ॥
हिमानलोष्णदुर्वातव्याललालादिदूषितम् ।
जन्तुजुष्टं जले मग्नमभूमिजमनार्तवम् ॥
अन्यधान्ययुतं हीनवीर्यं जीर्णतयापि[3] च ।
धान्यं त्यजेत्तथा शाकं रूक्षसिद्धमकोमलम् ॥
असंजातरसं तद्वच्छुष्कं चान्यत्र मूलकात् ।
प्रायेण फलमप्येवं तथाऽऽमं बिल्ववर्जितम् ॥

---

१. 'पारावतम्' इति पाठान्तरम्।

१. पालेवतः—द्वीपान्तरीयखर्जूरी वृक्षे, इति वैद्यनिघण्टुकारः। "आरुकं वीरसेनं च वीराची नारुकं तथा। विभाज्जातिविशेषेण तच्चतुर्विधमारुकम् ॥" इतीन्दुः

२. 'अम्लिकाक्षोडयोः फलम्' इति पाठान्तरम्।

३. 'जीर्णतयापि च, इति पाठान्तरम्।

त्याज्य फलादि—जैसे पहले फलों में सबसे श्रेष्ठ द्राक्षा को कह आए हैं, उसी प्रकार सब फलों में हीन या नेष्ट बड़हर (लिकुच) का फल है क्योंकि वह सर्वदोषकृत् (वात-पित्त और कफ इन तीनों दोषों को करनेवाला) है।

जो धान्य हिम (कुहिरा या पाला) से, अनल (अङ्गार के लगने या दावाग्नि) से, उष्ण (अतिआतप) से, दुर्वात (पुरोवातादि) से, व्याल (सर्प) आदि की लार के लगने से दूषित हो, जिसमें जन्तु (घुण-कीड़े) लग गये हों, जो जल में डूबकर सड़ गया हो, और जो अभूमि अर्थात् विपरीत स्मशानादि दुष्ट भूमि में पैदा हुआ हो, जो बिना ऋतु का अर्थात् जिस ऋतु में प्रकृति से पैदा होता है उस ऋतु में न होकर अन्य ऋतु में उत्पन्न हुआ हो, जो अन्य (विजातीय धान्य) से युक्त हो (जैसे कि रक्तशालि यवक के साथ या मूंग उड़द के साथ) जो बहुत पुराना होने से हीन वीर्य हो गया हो ऐसे धान्य का कदापि सेवन नहीं करना चाहिए अर्थात् उसे त्याग देना चाहिए।

इसी प्रकार उस शाक को भी त्याग देना चाहिए जो रूक्ष सिद्ध (घृतादि स्निग्ध पदार्थों के साथ सिद्ध न करके रूक्ष ही पकाया गया हो), जो अकोमल (कच्चा रह जाने से कठोर या अधिक पका हुआ हो), असंजातरस (जिसमें रस न हो अथवा अपरिपूर्ण स्वरूप जैसे कि नमक है तो मिर्ची नहीं है—मिर्ची है तो नमक-हल्दी धनियाँ आदि नहीं हैं) ऐसे तथा मूली के अतिरिक्त अन्य सूखे शाक को त्याग देना चाहिए। क्योंकि मूली सूखी भी गुणकारी है।

इसी प्रकार केवल कच्चे बेल को छोड़कर अन्य समस्त कच्चे फलों का प्रायः त्याग करना चाहिए। केवल बिल्वफल को कच्चा लेना चाहिए क्योंकि वह कच्चा ही त्रिदोष का नाशक है। यहाँ प्रायः शब्द का प्रयोग इस लिए किया है कि धान्य शाकादिका संबन्ध रहता है, गूलर का फल सदैव जन्तुजुष्ट ही रहता है, कमलनाल सदा जल में निमग्न (डूबी) ही रहती है, कुसुम्भ और गोधूम साथ में ही होते हैं परन्तु ये सब काम में आते हैं। ये सब पूर्वोक्त कथन के अपवादरूप हैं, इसी लिए यहाँ प्रायः शब्द का प्रयोग किया गया है।

इति फलवर्गः।

अब इस अध्याय का उपसंहार करते हुए मात्रादि प्रकरण को कहते हैं।

शूकशिम्बिजपक्वान्नमांसशाकफलाश्रयैः ।
वर्गैरन्नैकदेशोऽयं भूयिष्ठमुपयोगवान् ॥
निर्दिष्टो रसवीर्याद्यैर्यथास्वं कर्मसाधने ।
न शक्यं विस्तरेणापि वक्तुं सर्वं तु सर्वथा ॥
हिताहितत्वेऽप्येकान्तनियमोऽस्मादनिश्चितः ।
मात्रायोगक्रियादेशकालावस्थादिभेदतः ॥
ततस्ततो यतो दृष्टास्ते ते भावास्तथा तथा ।

अथ मात्रादिप्रकरण— रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव एवं संस्कारादि द्वारा क्रियासाधन (अपने काम करने में जिसका जिस जिस प्रकार से उपयोग हो सकता है) ऐसे परमोपयोगी केवल अन्न के एक देश (आहार) का वर्णन यहाँ शूक धान्य, शिम्बि धान्य, पक्वान्न, मांस, शाक और फलों के आश्रय से ६ वर्गों करके किया गया है। केवल थोड़े में एक देश का वर्णन इस लिए किया गया है कि-विस्तार करके भी कोई किसी संपूर्ण विषय का वर्णन कदापि नहीं कर सकता क्योंकि हिताहितत्व अर्थात् पथ्यापथ्यत्व में भी कोई एक ही नियम निश्चित नहीं है। सारांश वे भिन्न भिन्न भाव वैसे ही देखने में आते हैं जैसे कि उनका मात्रा, संयोग, क्रिया, देश, काल स्वभाव और विषयावस्थादि भेद से उपयोग होता है। मात्रादि विशेषवशात् पथ्य भी अपथ्य में और अपथ्य भी पथ्य में परिणत हो जाता है। इसी लिए हिताहितत्व-विषय में कोई भी एकान्त निश्चित नियम नहीं है, यह कहा गया है।

मात्रया सेवितं मद्यं हन्ति रोगांस्तदुद्भवान् ।
निषेव्यमाणं तिलशो विषमप्यमृतायते ॥
हीनातिमात्रमशनं मरुन्निचयकोपनम् ।
भजतो विषरूपत्वं तुल्यांशे मधुसर्पिषी ॥
क्षारोऽम्लरससंयोगे मधुरीभवति क्षणात् ।
उत्तुण्डक्यास्तिन्दुकेन तिक्तता मधुरायते ॥
हिङ्गुगैरिकसिन्धूत्थं गन्धवर्णरसाधिकम् ।
पूगताम्बूलशङ्खेभ्यो वर्णगन्धरसोद्भवः ॥
कोद्रवो हन्त्यसृक्पित्तं करोत्येव विदाहिभिः ।
कुष्ठं तत्कार्यपि तिलो हन्ति भल्लातकैः सह ॥
गुडः कर्ताग्निसादस्य स हिनस्त्यभयादिभिः ।
तृष्यत्यग्नेः समदनं सर्पिरप्युपदिश्यते ॥
जीवनीयमपि क्षीरं विषलेशेन मृत्यवे ।
तुल्ये अपि हतोऽन्योऽन्यं विषे स्थावरजङ्गमे ।
सक्तवो वातला रूक्षाः पीतास्ते तर्पयन्ति तु ॥

उपयुक्त मात्रा के गुण—उपयुक्त मात्रा में सेवन किया हुआ विष भी अमृत का काम करता है और अनुपयुक्त या अति मात्रा में प्रयुक्त किया हुआ अमृत भी विष हो जाता है। इस लिए मात्रा, संयोग आदि का विचार करना नितान्त आवश्यक है अतः अब इस विषय को विस्तारपूर्वक तथा उदाहरण सहित कहते हैं।

विज्ञों से छिपा नहीं है कि मद्य मादक है परन्तु यही मद्य उपयुक्त मात्रा से सेवन किए जाने पर उसी से होनेवाले मदात्ययादि रोगों को दूर कर देता है। विष मारक है परन्तु यही एक एक तिल की मात्रा के क्रम से सेवन किये जाने पर अमृत का काम करता है। आहार ही मनुष्य के लिए या प्राणीमात्र के लिए स्वास्थ्यकर (स्वाथ्य को ठीक रखनेवाला) है। हीनाधिक मात्रा के दोष—उचित मात्रा को छोड़कर यदि इसी का हीनाधिक मात्रा में सेवन किया जाता है तो वायु के संचय और प्रकोप को करता है। हीन मात्रा में सेवन किया जाता है तो वायु को कुपित करनेवाला होता है और यदि अधिक मात्रा में सेवन किया जाता है तो यह तीनों दोषों को कुपित कर देता है। मधु और घृत ये दोनों समान मात्रा में विष के रूप में परिणत होते हैं। ये मात्रा विशेष के उदाहरण हैं।

और कुछ उदाहरण—क्षार अम्लरस के मिलाने से क्षण भर में मधुर रस के भाव को प्राप्त हो जाता है। उत्तुण्डकी[1] (करञ्ज) तिन्दुक (तेन्दू) के संयोग से तिक्तता को छोड़ देती है अर्थात् मीठी हो जाती है। हींग, गेरू और सैन्धव नमक इन तीनों के मिलने से गन्ध, वर्ण और रस में अधिकता आ जाती है। हींग से गन्ध में, गेरू से वर्ण में तथा सैन्धव से रस में अधिक भाव प्राप्त होता है। सुपारी, कत्था, चूना तथा पान के संयोग से वर्ण, गन्ध और रस की उत्पत्ति हो जाती है। कोद्रव (कोदो धान्य) रक्तपित्तनाशक होते हुए भी विदाही पदार्थों के साथ रक्तपित्तकारक होते हैं। तिल कुष्ठ रोग को करनेवाले होने पर भी भिलावे के साथ कुष्ठ को दूर करनेवाले होते हैं। गुड़ अग्निमन्द करता है परन्तु हरीतकी आदि के साथ प्रयुक्त करने से अग्निप्रदीपक होता है। तृषा-रोग में अति अग्निप्रदीपन होते हुए भी घृत, मोम (मधूच्छिष्ट) के साथ पथ्यकारक होते हैं। दूध जीवनदान देनेवाला होता हुआ भी विष के साथ मृत्यु का कारण होता है। स्थावर और जङ्गम ये दोनों प्रकार के विष मारक हैं परन्तु दोनों सम मात्रा में साथ होने से तारक हो जाते हैं। सारांश, स्थावर विष का रोगी जंगम विष के संयोग से और जंगम विषवाला स्थावर विष का संयोग पाते ही विष से मुक्त होकर बच जाता है। सत्तू वातकारक और रूक्ष होता हुआ भी जल के साथ पिया जाय तो बड़ा तृप्तिकारक होता है। ये सब संयोग-विशेष के उदाहरण हैं।

विनापि चोपयोगेन मणिमन्त्रादि कार्यकृत् ।
आर्द्रकाज्जायते शुण्ठी संस्कारेण लघीयसी ॥
लघुभ्योऽपि हि सक्तुभ्यो गुरवः सिद्धपिण्डिकाः ।
भृष्टः क्षुण्णोऽपि पृथुको रक्तशालेर्लघोर्गुरुः ॥
शालिः पिष्टो गरीयस्त्वं गोधूमादपि गच्छति ।
लघुपित्तहरा लाजा व्रीहितो गुरुपित्तलात् ॥
संग्राहिणो लघोर्मुद्गात्कुल्माषो भेदनो गुरुः ।

स्वभावविशेष—गुडूची आदि औषधियों की तरह उपयोग न करके भी मणिमन्त्रादि ज्वरादि रोगों को शमन करने का कार्य करते हैं। यह स्वभावविशेष का उदाहरण है।

संस्कारविशेष—अदरख से ही सोंठ बनती है परन्तु वह उसकी अपेक्षा बहुत हल्की होती है। इसी प्रकार हल्के सत्तुओं से सिद्ध की हुई पिण्डी गुरु (भारी) होती है। लघु रक्तशालि (साठी चावल) से भूना एवं कूटा हुआ पृथुक अर्थात् पोहा गुरु होता है। हल्का चावल पीसा जाने पर गेहूं से भी अधिक गुरु हो जाता है। गुरु और पित्तकारक धान से लाजा लघु तथा पित्तहारक होता है। संग्राही और लघु मूंग से बना हुआ कुल्माष (कांजी या अर्धस्विन्न मूंग) गुरु और दस्तावर होता है। ये सब संस्कारविशेष के उदाहरण हैं।

आमं ग्राहितरं तक्रं तत्खलीकृतमन्यथा[2] ।
गुडात्तोयाच्च सुतरां मूत्रलं गुरुपानकम् ॥
गरीयो गुडदध्युत्थं[3] रसाला चातिशुक्रला ।

१. 'उत्तुण्डकी करञ्जके' इति वैद्यनिघण्डुः।
२. 'नागरीकृतमार्द्रकम्' इति पा०। ३. 'गुडदध्युत्था' इति पा०।

दण्डाभिमथनाद्दध्नो गुरुणश्चातिशोफदात् ॥
अनुद्धृतस्नेहमपि तक्रं शोफहरं लघु ।
सर्पिः स्निग्धतरं हन्ति नार्दितं नवनीतवत् ॥
चक्षुष्योऽपि हि गोधूमस्तैलपक्वस्तु दृष्टिहा ।
मूलकं दोषजननं स्निग्धसिद्धं[1] त्वदोषलम् ॥
उष्णं विषीभवत्येव विषघ्नमपि माक्षिकम् ।
दुर्भाजनस्था द्राक्षाम्ला दोषला च प्रजायते ॥
श्लक्ष्णशुष्कघनो लेपश्चन्दनस्यापि दाहकृत् ।
त्वग्गतस्योष्मणो रोधाच्छीतकृत्त्वन्यथागुरोः ॥
मेध्यस्तिलः स्पर्शशीतो ऽमेध्यं[2] तैलं खलो[3] ऽहिमः ॥
तस्यैव श्लेष्मकारित्वं न तैलस्य खलस्य वा ।
दध्नि श्वयथुकारित्वं न तक्रनवनीतयोः ॥

क्रिया एवं स्वभावविशेष—कच्ची मही (छाछ-तक्र) अति ग्राही होने पर भी वह खलीकृत (पकाया हुआ) ग्राही नहीं रहता। अदरक शुण्ठी के रूप में परिणत हो जाने पर अति संग्रहण होता है। ये संस्कारविशेष के उदाहरण हैं। गुड़ और जल ये दोनों मूत्रल हैं परन्तु इन दोनों से दधियुक्त बनाया हुआ पानक अतिमूत्रल होता है। यह संस्कार-संयोगविशेष का उदाहरण है। गुड़दधियुक्त पानक अतिमूत्रल होता है। परन्तु गुड दधि से बनी रसाला गुरु एवं अतिवीर्यकारी होती है। दही शोथकारक तथा अति गुरु है परन्तु उसी की दण्ड-मन्थानकद्वारा मथकर बनाई हुई छाछ चिकनाई न निकाली हुई शोथ को दूर करनेवाली तथा लघु होती है। घृत अति स्निग्ध होते हुए भी अर्दित रोग को नहीं मिटाता जैसे कि नवनीत (नौनी या मक्खन) मिटा सकता है। ये क्रियाविशेष एवं स्वभावविशेष के उदाहरण हैं।

गोधूम (गेहूं) चक्षुष्य अर्थात् नेत्रों के लिए हितकारी है परन्तु यही तेल के साथ पका हुआ होने से दृष्टि को नाश करनेवाला होता है। मूली का शाक दोषों को कुपित करने वाला है परन्तु वही स्नेह-सिद्ध (घृतादि के साथ पकाया हुआ) दोषों को कुपित न करके त्रिदोषशामक होता है। इसी प्रकार मधु (शहद) विष का नाशक होने पर भी उष्ण करने पर विष हो जाता है। ये संस्कारविशेष के उदाहरण हैं। दोषों को हरनेवाली द्राक्षा दुर्भाजन (लोह आदि के बने हुए बर्तन) में रखने से खट्टी और दोषों को कुपित करनेवाली बन जाती है। चन्दन दाहशामक है परन्तु उसी का श्लक्ष्ण (बारीक) सूखा हुआ गाढ़ा लेप दाह को करनेवाला होता है। इस लिए कि वह त्वचागत दाह को अपने परिशुष्क घनत्व से रोकनेवाला हो जाता है। इसके विपरीत उष्णवीर्य होकर भी अगर का अश्लक्ष्ण-गीला और पतला लेप शीतकृत् अर्थात् दाहशामक होता है। तिल मेध्य (पुष्टिकर) और स्पर्शशीत है परन्तु उसी से निकला हुआ तेल तथा खल अमेध्य (अपुष्टिकर) और अहिम (उष्ण) होता है क्योंकि श्लेष्मकारित्व तिल में ही रहता है न कि तेल और खली में।

१. 'सिद्धन्तु' इति पा०। २. 'मध्यम्' इति पा०।
३. 'हिमः' इति पा०।

इसी प्रकार जैसे कि शोथकारित्व दही में रहता है वैसे तक्र और नवनीत में नहीं रहता। यह भी क्रिया-स्वभावविशेष का उदाहरण है।

अब देशसात्म्यादि के उदाहरणों को कहते हैं—

भूमिसात्म्यं दधिक्षीरकरीरं मरुवासिषु ।
क्षारः प्राच्येषु मत्स्यास्तु सैन्धवेष्वश्मकेषु तु ॥
तैलाम्लं कन्दमूलादि मलये कोङ्कणे पुनः ।
पेया मंथ उदीच्येषु गोधूमोऽवन्तिभूमिषु ॥
बाल्हीका बालवाश्चीनाः शूलीका यवनाः शकाः ।
मांसगोधूममार्द्वीकशस्त्रवैश्वानरोचिताः ॥
देहसात्म्यं घृतं क्षीरं मद्यं मांसं च कस्यचित् ।
पेया यूषो रसोऽन्यस्य गोधूमोऽन्यस्य शालयः ॥
अहितैरपि तेषां च तैरेवोपहितं हितम् ।

देश और देहसात्म्यकथन—अपथ्य होते हुए भी दही, दूध और करीर ( कैर ) मारवाड़ में रहनेवालों के लिए पथ्य हैं सात्म्य हैं। इसी प्रकार प्राच्य ( पूर्व ) देश में रहनेवालों के लिए क्षार, सिन्धुदेशवासियों के लिए मछली, अश्मकदेशवासियों को तेल और खटाई, मलयपर्वतपर रहनेवालों के अर्थ कन्द, मूल आदि, कोङ्कणदेशवासियों को पेया, उत्तरदेशवासियों को मन्थ, अवन्ति ( उज्जयिनी या मालवा ) देशवासियों को गेहूं पथ्य हैं और इसी प्रकार बाल्हीक ( बलख ), बाल्हव ( बलूच ), चीन, शूलीक, यवन और शक इनको मांस, गेहूं, दाख ( अंगूर ) ये सब अपनी अपनी जठराग्नि के अनुसार उचित पथ्य हैं। ये सब भूमि या देशसात्म्य के उदाहरण हैं। किसी को घृत, किसी को दूध, किसी को मद्य, किसी को पेया तो किसी को यूषरस पथ्य होता है। किसी को गेहूं पथ्य है तो किसी को चावल हितकारी है। अहितकारी तथा अपथ्य पदार्थ भी सात्म्य होने से पथ्य हो जाते हैं। ये देहसात्म्य के उदाहरण बताए गये हैं।

अन्नपानौषधं दोषमात्राकालाद्यपेक्षया ॥
सात्म्यं ह्याशुबलं धत्ते नातिदोषं च बह्वपि।
स्रंसनं सत्पयो गव्यं भवति ग्राहि कस्यचित्॥
मन्दोऽग्निर्भवति प्रायः कफवातोत्तरे हिमे।
विषघ्नेनापि पयसा देहेऽहेर्वर्धते विषम्॥
स्थूलस्थविरबालादौ वमनादिनिषिध्यते ।
तक्रमामं कफं कोष्ठे हन्ति कण्ठे करोति तु॥
वातहृत्त्वेऽपि मृद्वीकाखर्जूरं कोष्ठवातकृत्।
नातिपथ्यः शिखी पथ्यः श्रोत्रस्वरवयोदृशाम्॥
दृष्टेः स्पर्शहिमं द्रव्यं श्रोत्रयोरुष्णं तु पूजितम्।
पयः स्वादु सरं शीतं विपरीतं ततो दधि॥
कालेन जायते तस्मात्क्षीरवच्च पुनर्घृतम् ।
वयो दधि च वातघ्नमजातं वातलं तु तत्॥
तक्रं ग्राहि कषायाम्लमम्लमेव तु भेदनम्।
धातकीगुडतोयानि कारणं मद्यसुक्तयोः ॥
शीते न तु तदाद्यन्ते स्निग्धाम्ललवणा हिताः।

उदमन्थदिवास्वप्नौ ग्रीष्मादन्यत्र गर्हितौ ॥
समयोगेऽपि घर्माद्या वातादिचयहेतवः ।
आश्च्योतनमभिष्यन्दे युञ्जीतोर्ध्वं दिनत्रयात्॥

सात्म्यासात्म्यकथन—दोष ( वात, पित्त, कफ ), मात्रा और काल ( शीत-उष्ण-वर्षा ) की अपेक्षा करके अन्न, पान और औषध ये सात्म्य होते हुए बल को बढ़ानेवाले होते हैं। सारांश यह कि दोष-काल आदि में असात्म्य माने हुए अन्नपान और औषध सात्म्य हो जानेपर ( ओकससात्म्यतया ) सात्म्य ही होते हैं। सात्म्य हो जाने से अधिक मात्रा में सेवित भी अन्न-पान-औषध अतिदोषकारक नहीं होते अपितु किञ्चित् दोषकारक ही रहते हैं। स्रंसन ( सारक ) होते हुए भी किसी के लिए गाय का दूध मलावरोध करनेवाला होता है। शीतकाल अग्निप्रदीपक होते हुए भी कफ औरवायु की अधिकता होने से अग्निमान्द्य करता है। दूध विषको दूर करनेवाला होते हुए भी सर्प के देह में गया हुआ विषको बढ़ानेवाला होता है। वमनविरेचनादि समस्त दोषों के शमनकारक होते हुए भी स्थूल, वृद्ध और बालक आदि के लिए वर्जित हैं। कच्ची मही ( तक्र ) कोष्ठगत कफ को दूर करता है परन्तु वही कण्ठ में कफ को करता है। द्राक्षा और खजूर वातहारक होने पर भी वह कोष्ठ ( पेट ) में वायु को करती है। ये स्वभावविशेष के उदाहरण हैं।

अपथ्य भी पथ्य— मयूर ( मोर ) स्वास्थ्यविषय में अतिपथ्य नहीं है परन्तु वही कान, स्वर, वय और नेत्रों के लिये पथ्य है। यह विषयविशेष ( स्थानविशेष ) का उदाहरण है। हिम द्रव्य तेज का विपरीतार्थकारी होने पर भी तेजोभव दृष्टि के लिये उसका स्पर्श पथ्य है। उष्ण वायु का नाशक है परन्तु वायव्य कानों के लिये वह पथ्य है। यह स्वभावविशेष का उदाहरण है। दूध, मधुर, दस्तावर और शीत है परन्तु उसी से बना हुआ दही इससे विपरीत अम्ल, ग्राही और उष्ण होता है। कालान्तर से उसी दही से बना हुआ घृत पुनः दूध के समान गुणवाला होता है। ये अवस्थाविशेष के उदाहरण हैं। दूध और दही ये दोनों वातघ्न हैं परन्तु उसी दही से अजात अर्थात् फटा हुआ दूध या दही वातकारक होता है। यह भी अवस्थाविशेषवश होता है। तक्र कषाय, अम्ल और ग्राही ( मलावरोधक ) है परन्तु वही केवल अम्ल होने से भेदन ( दस्तावर-मल को फोड़नेवाला ) होता है। यह भी अवस्थाविशेष की बात है। धातकी, गुड़ और जल ये मद्य और सुक्त के कारण होते हैं। वस्तुतः मद्य और सुक्त भिन्न हैं परन्तु इनके कारण धातकी आदि एक ही हैं। यह संस्कारकालविशेष के कारण होता है। शीतकाल में स्निग्ध, अम्ल और लवण पथ्यकारक होते हुए भी ये शीतकाल के आदि और अन्त में अपथ्य होते हैं। यह कालविशेष का उदाहरण है। इसी कालविशेष के कारण बहुद्रव सत्तू और दिन में शयन ये ग्रीष्म ऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में गर्हित ( वर्जित या अपथ्य ) हैं। ग्रीष्म आदि ऋतु समयोग में भी क्रम से वात-पित्त-कफ के संचय की कारण बनती हैं। यह सब कालस्वभावविशेष से होता है।

ऋतुष्वन्यो रसेष्वन्यो रौक्ष्ये स्नेहे बले क्रमः ॥

रसायनं काकमाची सद्यः पर्युषिता विषम् ।
मूलकं दोषजिद्बालं विपरीतं तु कन्दवत् ॥
ज्वरे पेया कषायाश्च सर्पिः क्षीरं विरेचनम् ।
षडहं षडहं युञ्ज्याद्वीक्ष्य दोषबलाबलम्[१] ॥
छर्दिहृद्रोगगुल्मार्ते वमनं च चिकित्सिते ।
निषिद्धमपि निर्दिष्टं बस्तिरर्शःसकुष्ठिनोः ॥
ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता ।
रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यत्वहेतवः ॥

ऋतु और रसपरत्व रौक्ष्य, स्नेह और बल का क्रम—हेमन्त आदि ऋतुओं तथा मधुरादि रसों में रौक्ष्य, स्नेह और बल का क्रम भिन्न २ रहता है। यथा—

रौक्ष्य का क्रम—शिशिर ऋतु का रौक्ष्य किञ्चित् रहता है, वही वसन्त में उससे अधिक और ग्रीष्म में उससे भी अधिक होता है। वही रौक्ष्य वर्षा में कुछ कम, शरद् में उससे कम और हेमन्त में इससे भी कम हो जाता है। यह रौक्ष्य-क्रम हुआ।

स्नेह का क्रम—वर्षा ऋतु में किञ्चित् स्नेह रहता है, वही शरद में उससे अधिक और हेमन्त में उससे भी अधिक हो जाता है। वही शिशिर में कुछ कम, वसन्त में उससे कम और ग्रीष्म में उससे भी कम हो जाता है। यह स्नेह अर्थात् स्निग्ध का क्रम हुआ।

बल का क्रम—शिशिर में अधिक बल रहता है, वसन्त में उससे कम अर्थात् मध्यम और वही ग्रीष्म में उससे कम अर्थात् हीनबल होता है। वही वर्षा में न्यून बल होता है, शरद् में मध्यम बल अर्थात् वर्षा से कुछ अधिक और वही हेमन्त में अधिक बल हो जाता है।

इस प्रकार ऋतुपरत्व रौक्ष्य, स्नेह और बल के क्रम को कहकर अब मधुरादि रसपरत्व रौक्ष्य, स्नेह और बल के क्रम को कहते हैं। यथा—

रसपरत्व रूक्षक्रम—तिक्त, कटु और कषाय ये उत्तरोत्तर रूक्ष हैं अर्थात् तिक्त किञ्चित् रूक्ष है, कटु उससे कुछ अधिक रूक्ष और कषाय इस कटु रस से भी अधिक रूक्ष है। यह रस-परत्व रूक्षक्रम हुआ।

रसपरत्व स्नेहक्रम—पूर्वोक्त तिक्त, कटु और कषाय जैसे उत्तरोत्तर रूक्ष हैं इसी प्रकार मधुर, अम्ल और लवण ये यथापूर्व स्निग्ध हैं अर्थात् लवण किञ्चित् स्निग्ध है, अम्ल इससे अधिक स्निग्ध है और मधुर इससे भी अधिक स्निग्ध है। यह रसपरत्व स्निग्धक्रम हुआ।

रसपरत्व बलक्रम—मधुर अति बल्य है तो अम्ल इससे न्यून बल्य है और लवण इससे भी न्यून। लवण से तिक्त, तिक्त से कटु और कटु से कषाय न्यून बल्य है। सारांश, मधुरादि रस उत्तरोत्तर हीनबल हैं अर्थात् रसों में सबसे अधिक बलवान मधुर रस है और कषाय रस सब रसों से हीन बलवाला है।

रौक्ष्यस्नेहादि में ऋतुकारण—यह सब कुछ स्वभावविशेष से होता है। निष्कर्ष यह है कि ऋतुविशेष के आश्रय से ही रसों का रौक्ष्य-स्नेहसंपादन होता है। इसी को कालस्व-भावविशेष कहते हैं। हेमन्त ऋतुमें मधुर जितना स्निग्ध होता है उतना स्निग्ध वह अन्य ऋतुओं में नहीं रहता। अम्ल रस स्निग्ध है परन्तु वही वर्षा ऋतु में अति-स्निग्ध हो जाता है। लवण स्निग्ध होते हुए भी शरद् ऋतु में अति स्निग्ध होता है। तिक्त रूक्ष है वही शिशिर में अतिरूक्ष हो जाता है। कटु की रूक्षता ग्रीष्म में अधिक बलवान् हो जाती है इसी प्रकार कषाय रस वसन्त में बलवान् हो जाता है। इस प्रकार यह रसों का ऋतुपरत्व स्नेहरूक्ष को लेकर वैशिष्ट्य बताया गया।

बल के क्रम में भी ऋतुपरत्व इसी प्रकार व्यभिचार होता है। यथा अम्लादि से बलवान् मधुर वसन्त में अतिबलवान् होता है। अम्ल और मधुर से न्यून बल होते हुए भी लवण रस शरद् में अधिक बलवाला हो जाता है। मधुर, अम्ल और लवण इनसे न्यून बलवाला होकर भी तिक्त रस शिशिर में अधिक बलवान् होता है। मधुरादि से हीन बलवाला कटु रस ग्रीष्म में तथा मधुरादि से हीन बलवाला कषाय वसन्त ऋतु में अधिक बलवान् हो जाता है।

अवस्थाविशेष—काकमाची (मकोय) तुरन्त सिद्ध की हुई रसायन (जराव्याधि की दूर करनेवाली) होती है परन्तु वही एक दिन की बासी (पर्युषिता) होने से विष के तुल्य हो जाती है। यह अवस्थाविशेष का उदाहरण है।

जातिविशेष—बाल मूली त्रिदोषहारिणी है परन्तु वही कन्दवत् होने से त्रिदोषकारिणी होती है। यह जातिविशेष का उदाहरण है।

बलाबलविशेष—ज्वरों में दोषों के बलाबल को देख छठे के छठे दिन पेया, कषाय, घृत, दूध और विरेचन की व्यवस्था का आदेश है। यह व्याधि की अवस्थाविशेष के कारण कहा गया है परन्तु इससे यह भी ध्वनित होता है कि कहीं व्याधि के न्यूनाधिक बल के अनुसार छः दिन से अधिक या न्यून अवधि में भी यह व्यवस्था कर सकते हैं। छः दिन का कथन तो केवल सर्वसामान्यतया किया गया है। अथवा यह कथन प्रयोगप्रतिषेधार्थ है।

विधि और निषेध—छर्दि, हृद्रोग, गुल्म इनकी चिकित्सा में वमन का निषेध होते हुए भी वह निर्दिष्ट किया गया है। इसी प्रकार बस्ति निषिद्ध होते हुए भी अर्श और कुष्ठ में निर्दिष्ट भी किया है। भावार्थ यह है कि ऊर्ध्वगामी दोष में वमन अपथ्य है परन्तु त्रिदोष की छर्दि तथा सतत वमन के रोग में वमन को ही पथ्य कहा है। हृद्रोग और गुल्म में वाताधिक्य के भय से वमन का निषेध है कि कहीं वात न बढ़ जाय परन्तु कफ से वायु के रुक जाने पर वमन ही उस समय हितकारी होता है। इसी प्रकार अर्श एवं कुष्ठ में बस्ति वर्जित होने पर भी अतिदोष तथा ओषधियों से क्षयित होने और वायु के बढ़ जाने पर अर्श में बस्ति ही उस समय पथ्य होती है। कुष्ठ-रोगी के दोष क्लेदित होने पर अति रूक्षावस्था में बस्ति का देना ही पथ्य होता है। ये रोगावस्थाविशेष के उदाहरण हैं।

१ 'रोगबलाबलम्' इति पा०।

तुल्यर्त्वादिविशेष—सब व्याधियों में ऋतु और दोषों की समानता असाध्यता का कारण होती है परन्तु यही ज्वर की अवस्था में अतिसुखसाध्यता का हेतु मानी गई है इस लिये कि ज्वर में ऋतु और दोषों के सादृश्य रहने से एक ही मार्ग की क्रिया की जाती है और ज्वर का शमन बहुत जल्दी हो जाता है। यह बात अन्य रोगों में नहीं है। यह संप्राप्तिविशेषवशात् जानना चाहिये। भावार्थ यह है कि ज्वर में तुल्यर्तुदोषत्व, प्रमेह में तुल्यदूष्यता और रक्तगुल्म में पुराणत्व ये सुखसाध्यता के लक्षण माने गये हैं।

नेत्राभिष्यन्द में आश्चोतन पथ्य होते हुए भी तीन दिन तक उसका निषेध किया गया है। यह अवस्थाविशेष का उदाहरण है।

अञ्जनं पक्वदोषस्य प्रतिश्याये च नावनम् ।
नातिप्रवृद्धे तिमिरे सिरामोक्षो विधीयते ॥
दुष्टास्रसंभवेऽपीष्टो नास्रपित्ते सिराव्यधः ।
अपथ्यं पथ्यमप्यन्नं निशायां नेत्ररोगिणाम् ॥
अहिताः सक्तवः शुष्का हितास्ते तु प्रमेहिणः ।
गुल्मिनः क्षीरदध्यादि हपुषाद्यैर्हितं युतम्[1] ॥
वातलं वातकोपेऽपि वर्षासु मधु शस्यते ।
तदेव मद्यं मद्यस्य विषस्य तु विषान्तरम् ॥
घृतमानूपदेशोत्थं हेमन्ते च बलाधिकम् ।
आलस्यगौरवे रूपं वातजेऽपि ज्वरे पुरः ॥
स्वेदैर्याति शमं दाहः प्रायो लशुनपानजः[2] ।
दिवा स्वप्नाज्जरां याति भुक्तमन्येद्युरद्य न ॥

अवस्थाविशेष में अंजनादि—दोषों की पक्वावस्था में अञ्जन करना, प्रतिश्याय में नस्य देना तथा तिमिररोग अधिक न बढ़ा हो तब सिरामोक्ष कराना चाहिए। ये अवस्थाविशेष के कारण विधान या उदाहरण हैं।

रोगविशेष—यद्यपि सिरामोक्ष कराना या सिराव्यध दूषित रक्त के संभव में इष्ट है तथापि रक्तपित्त में सिराव्यध इष्ट नहीं होता। यह रोगविशेष के स्वभाव का उदाहरण है।

रोगस्वभावविशेष—अन्न सबके लिए सर्वदा पथ्य है किन्तु वही रात्रि में नेत्ररोगियों के लिए अपथ्य होता है। यह प्रदेश एवं रोगस्वभावविशेष का उदाहरण है।

कारणविशेष—शुष्क सत्तू अपथ्य है किन्तु वही प्रमेहरोगियों के लिए पथ्य या हितकारी है। यह कारणविशेष का उदाहरण है।

द्रव्यशक्तिविशेष—गुल्मरोगियों के लिए दूध और दही अपथ्य हैं किन्तु ये ही हपुषा ( हाऊबेर ) आदि से युक्त पथ्य होते हैं। यह द्रव्यशक्तिविशेष का उदाहरण है।

वस्तुस्वभावविशेष—मधु ( शहद ) वातकारक होते हुए भी वर्षाऋतु के वातप्रकोप में पथ्य ( हितकारी ) होता है। जिस मद्य से मदात्यय रोग होता है उसी (मद्य) से मदात्यय-

१. 'हपुषाद्यैर्युतं 'हितम्' इति पा०।
२. 'पाकजः' इति पाठान्तरम्।

का शमन होता है। विष से विषान्तर ( अन्य विष ) का शमन होता है। सारांश यह कि यथा मद्य ही मद्य का नाश करता है तथा विष भी विष का शमन करता है। यह उपयोग या वस्तु स्वभावविशेष का उदाहरण है।

कालवस्तुस्वभाव—अनूप देश का घृत हेमन्त में अधिक बलवान् होता है। वायु के लघु ( हल्का ) होने पर भी उसी वातज्वर के पूर्वरूप में आलस्य और गौरव ये लक्षण होते हैं। लहसुन के पाक या उपयोग से उत्पन्न होनेवाला दाह प्रायः उसी के समान उष्ण स्वेद से शान्त होता है। दिन के सोने से पहले दिन का किया हुआ आहार पच जाता है परन्तु उसी दिन का किया हुआ आहार उस दिन के सोने से दूसरे दिन नहीं पचता। ये कालवस्तुस्वभाव के उदाहरण हैं।

कोष्ठे रुद्धोऽग्निकृद्वायुर्मेदसार्शोभिरग्निहृत् ।
दुष्पानं दुर्जरं सर्पिर्दीपनं च पयोऽन्यथा ॥
सर्पादिशवकोथेभ्यो वृश्चिकानां समुद्भवः ।
ते तैरेव पुनर्दष्टाः सद्यो जहति[1] जीवितम् ॥
स्वयमेव विषं तीव्रं तान् पुनर्नातिबाधते ।
सर्वाङ्गव्यापि तेषां च शुक्रवत्संसृतं विषम् ॥
तन्मांसमुपयोगाय मांसवर्गे च पठ्यते ।
छर्दिघ्नी मक्षिकाविट् च मक्षिकैव तु वामयेत् ॥

स्थानरोगावस्थाविशेष—कोष्ठ ( पेट ) में अवरुद्ध वायु अग्निकृत् ( अग्नि को प्रदीप्त करनेवाला ) होता है परन्तु वही मेद और अर्श रोग की अवस्था में अग्निहृत् ( जठराग्नि को मन्द करनेवाला ) होता है। यह स्थान और रोगावस्थाविशेष का उदाहरण है।

द्रव्यस्वभाव-अवस्थाविशेष—घी का पान करना दुर्जर ( कठिनाई से पचने या न पचने ) के कारण दुष्पान कहलाता है परन्तु उसी घृत का जनक दूध घृत के विपरीत जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। यह द्रव्यस्वभाव एवं द्रव्य की अवस्थाविशेष का उदाहरण है।

स्वभावविशेष—सर्पादि के शव के सड़ने से विच्छुओं की उत्पत्ति होती है परन्तु जिनसे उत्पत्ति होती है वे ही सर्प आदि विच्छुओं के दंश ( काटने ) से प्राणों का त्याग करते अर्थात् मर जाते हैं। यह स्वभावविशेष से होता है। विष स्वयं ही तीव्र या तेज है परन्तु वह उन सर्पादिकों में रहते हुए भी उनको बाधा नहीं देता। शुक्र ( वीर्य ) प्राणीमात्र के समस्त शरीर में रहता है, उसी प्रकार सर्प आदि के शरीर में विष व्याप्त रहता है परन्तु देहोपयोग के लिए इन सर्पादि के मांस का उपयोग करना मांसवर्ग में कहा गया है। यह अवस्थाविशेष है। मक्खी की विष्ठा छर्दि ( वमन ) रोग का नाश करती है परन्तु स्वयं मक्षिका वमन कराती है। यह स्वभावविशेष है।

कफे लङ्घनसाध्येऽपि कर्तरि ज्वरगुल्मयोः ।
तुल्येऽपि देशकालादौ लङ्घनं न समंजसम्[2] ॥
सर्वथा दोषजित्तक्रं ग्रहण्यां दोषकृद् व्रणे ।

१. 'मुञ्चति' इति पा०। २. 'समं मतम्' इति पाठः।

पीनसश्वासकासादौ सिद्धमेव प्रशस्यते ॥
इत्येतेऽन्ये च बहवः सूक्ष्मा दुर्लभहेतुकाः ।
कर्मवैचित्र्यभावेषु किञ्चित्तेषां निदर्शितम् ॥
दिशानया शेषमपि स्वयमूहेत बुद्धिमान् ।
न शास्त्रमात्रशरणो न चानालोचितागमः ॥

इति मात्रादिप्रकरणम्।

संप्राप्ति आदि विशेष—कफमात्र के लंघन साध्य होने पर भी ज्वर और गुल्म के कारणीभूत कफ के लिए देशकालादि की तुल्यता में भी लंघन ठीक नहीं है। केवल ज्वर के लिए लंघन अतिपथ्य होने पर भी कफोत्पन्न ज्वर एवं गुल्म में लंघन पथ्य नहीं है। यह संप्राप्तिविशेष है। ग्रहणीरोग में तक्र सर्वथा दोषों को जीतनेवाला होने पर भी वह पूयादि करनेवाला होने से व्रणरोग में हितकारी नहीं है किन्तु विपरीत त्रिदोषकारक है। यह रोगस्वभावविशेष है। पीनस, श्वास, कास आदि में सिद्ध ( परिपक्व ) किया हुआ तक्र ही अच्छा होता है न कि कच्चा। यह संस्कारस्वभावविशेष है।

शास्त्र और गुरूपदेश की आवश्यकता—इस प्रकार जो बतलाए गये सो तथा और भी ऐसे कई भावविशेष हैं जो नितान्त सूक्ष्म हैं और जिनका मूलकारण बड़ी दुर्लभता से मिलता है। इसलिए इन विचित्र कर्म एवं धर्मवाले भावों के विषयों में कुछ थोड़ासा संक्षेप में कहा गया है। बुद्धिमान् वैद्य को चाहिए कि वह इस दिखाई हुई दिशा या मार्ग से शेष भावों का विचार स्वयं कर ले। केवल शास्त्रमात्र के भरोसे पर ही न रहे और न शास्त्रों की समालोचना किए बिना ही कुछ करे। भावार्थ यह है कि समस्त वस्तुओं या भावों का विचार शास्त्रावलोकन, गुरुजनों के उपदेश तथा स्वयं अपनी बुद्धि से छान बीन के साथ किया करे।

इत्यष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

## अथ अष्टमोऽध्यायः

अथातोऽन्नरक्षाविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अन्नरक्षाविधि—अब इससे आगे अन्नरक्षाविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि आत्रेयादि महर्षियों ने पहले किया है।

ईश्वराणां वसुमतां विशेषेण तु भूभुजां प्रायेण मित्रेभ्योऽप्यमित्रा भूयांसो भवन्ति। ततस्तत्प्रयुक्ताः समासन्नवर्तिनोऽन्नपानादिषु विषं प्रयच्छन्ति। स्त्रियश्च तत्प्रणिधिप्रयुक्ताः सौभाग्यलोभेन। तस्माद्राजा कुलीनं स्निग्धमाप्तमास्तिकमार्यमार्यपरिग्रहं दक्षं दक्षिणं निभृतं शुचिमनुद्धतमनलसमव्यसनिनमनहंकृतमकोपनमसाहसिकं वाक्यार्थावबोधकुशलं निष्णातमष्टाङ्गे यथाऽऽम्नायमायुर्वेदे सुविहितयोगक्षेमं सन्निहितागदादियोगं सात्म्यज्ञं च प्राणाचार्यं परिगृह्णीत।[1] तमर्थमानाभ्यां यथाकालं गुरुमिव शिष्यः पितरमिव पुत्रः पूजयेत्। प्रतिकूलमपि तद्वचः सांप्रतं मतमिति प्रतिमन्येत। न हि भद्रोऽपि गजपतिर्निरङ्कुशः श्लाघनीयो जनस्य। तस्मात्तदायत्तमाहारविहारं प्रति चात्मानं कुर्यात्। उपात्तमपि खलु जीवितमुपायबलेन स्वसमयमधितिष्ठति। अपि च—

राजा का उत्तरदायित्व—इसके पहले अन्न और पान का स्वरूप बताया गया। अन्नपान सर्वथा पथ्य होते हुए भी विष आदि के योग से नाना व्याधियों एवं मृत्यु तक क। कारण हो जाता है। इसी बात को सामने रखकर अन्नरक्षाविधि अध्याय का आरम्भ किया गया है। अन्नरक्षा का संबन्ध जितना राजा से है उतना औरों से नहीं है। इसी लिए कहते हैं कि—राजा की रक्षा हो नाना प्रकार के ऐश्वर्यवाले धनवान् तथा विशेष करके राजा लोग इनके मित्र बहुत रहते हैं, परन्तु मित्रों से भी अमित्र (शत्रु) बहुत रहते हैं। इन शत्रुओं के कहने-सिखाने या बहकाने से सदैव राजा के पास रहनेवाले (दास, दासी, स्त्रियाँ आदि) राजा के अन्नपान आदि में विष मिला देते हैं। इतना ही नहीं, शत्रुओं के नियुक्त किए हुए गुप्तचरों (जासूसों) के कहने से स्त्रियाँ-रानियाँ भी सुहाग के लोभ से कि "इस वस्तु को राजा को अन्नपानादि में खिला दी जायगी तो तुम्हारा सुहाग बहुत समय तक बना रहेगा-राजा का प्रेम तुमसे ही विशेष रहेगा" राजा के अन्नपान में विष डाल देती है। इसलिए राजा को चाहिए कि वह ऐसे प्राणाचार्य (वैद्यराज) को सदैव अपने पास में रक्खे जो कुलीन (अच्छे कुल का जन्मा हुआ), अपना सच्चा प्रेमी, यथार्थ बोलनेवाला, आस्तिक (धर्म में विश्वास रखनेवाला), सदाचारी, सदाचारयुक्त कुटुम्बवाला, चतुर, राजा और प्रजा इन दोनों को चाहनेवाला, राजकाज में दृढ निश्चयवाला, शुद्धान्तःकरण, नम्र, आलस्यरहित (आज्ञा पाते ही उठकर तैयार होनेवाला), अव्यसनी (सब प्रकार से सुखी या भांग-गांजा-मद्यादि दुर्व्यसनों से रहित), अहंकार से रहित, शान्त प्रकृतिवाला, किसी काम को बिना विचारे एकदम न करनेवाला, कही हुई बात को बहुत जल्दी समझनेवाला, यथाशास्त्र आयुर्वेद के आठों अङ्गों में प्रवीण, योगक्षेमवाला (अलब्ध को प्राप्त और लब्ध को रक्षण करनेवाला), नाना प्रकार के औषध पास में रखनेवाला तथा देश-काल-बलाबल के अनुसार औषध, अन्न और विहार के सुखावह उपयोग को जाननेवाला हो।

राजा द्वारा वैद्य का सम्मान—राजा को चाहिये कि वह समय समय पर उस वैद्यराज की धन एवं संमान से इस प्रकार सेवा करे जैसे कि शिष्य गुरु की तथैव पुत्र पिता की सेवा करता है। वैद्यराज के समय पर कहे हुए प्रतिकूल (उलटे या चुभनेवाले) वचन को भी अपने लिए उस समय अनुकूल समझे। इस लिए कि हाथी का श्रेष्ठ महावत (गज-

१. 'धर्मा विचित्रा 'भावेषु' इति पाठान्तरम्।

१. "परिगृह्णीयात्" इति पा. २. 'स्वयमधितिष्ठति' इति पा.।
३. 'स्त्रियस्तत्प्रणिधिप्रयुक्ता अमित्रचारचोदिताः' इतीन्दुः।

पति ) भी निरंकुश ( अंकुशरहित ) शोभा को प्राप्त नहीं होता—वह हाथी को अपने वश में नहीं रख सकता और बिना अंकुशवाले महावत का हाथी अनेक विघ्न कर सकता है अतः महावत के लिए अंकुश रखने की नितान्त आवश्यकता है। उदाहरणार्थ यहाँ गजपति वैद्य को और हाथी राजा को समझना चाहिये। राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने आप को तथैव अपने आहार-विहारों को उस वैद्य के आधीन कर दे। सारांश, कर्मसंयोग से दुःखी होनेवाला शारीरिक जीवन उपाय के बल से सदैव सुखी जीवन के रूप में रह सकता है। यह महान् उपायबल वैद्य के ही आधीन समझना चाहिए।

अपने आहार-विहारों को वैद्य के ही अधीन क्यों कर देना चाहिए ? इसके समाधानार्थ स्पष्टीकरण करते हैं कि—

अपि च बहुपरिग्रहा नरपतयः। सन्ति चाशुकारिणः शूलसंन्यासादयः प्रतिक्षणं प्रत्यवेक्षणीयावस्थाश्च रोगिणो विशेषेण राजानः। ते हि प्रमादपरिगता दुःखासहिष्णवश्च स्वयमप्यपथ्यरुचयः सन्निहिताहितप्रियवचनप्रायपरिवाराश्च। तस्माद्भिषजो राजा राजगृहासन्ने निवेशनं कारयेत्। तथाहि—सर्वोपकरणेषु नृपतिशरीरोपयोगिष्वपरोक्षवृत्तिर्भवति। स सम्यक् सम्पन्नमन्नं सुपरीक्षितं विशुद्धमग्न्यादिषु प्रागुपनीतं शिखिना दृष्टमभिप्रोक्षितं प्रोक्षणैः पुरस्थितो राजानं हस्तबद्धौषधिरत्नं भोजयेत्। भुञ्जानस्यास्य दुन्दुभीनगदप्रलिप्तान्वादयेत्।

वैद्य के अधीन राजा के आहार-विहार राजा लोग बहुपरिवारवाले होते हैं। शूल, संन्यासादि तुरन्त अपना प्रभाव दिखानेवाले रोग भी ऐसे हैं जो तुरन्त ही मनुष्य को मार डालते हैं। इस लिए प्रतिक्षण रोगियों एवं विशेषतः राजाओं की अवस्था को देखते रहना चाहिए क्यों कि ये रोगी और राजा लोग स्वतन्त्र रहने के कारण प्रमाद करनेवाले, दुख को नहीं सहनेवाले और स्वयं अपथ्य में रुचि रखनेवाले होते हैं और वैसे ही उनके पास रहनेवाले सेवक आदि भी ठकुरसोहाती कहनेवाले अर्थात् उनकी हाँ में हाँ मिलाकर मीठे बोलनेवाले होते हैं। इस लिए राजा को चाहिए कि वह अपने राजगृह के समीप ही वैद्य का सन्निवेशन ( निवासस्थान ) बनवा दे ताकि वह ( वैद्य ) राजा के शरीरोपयोगी समस्त उपकरणों ( सामग्रियों ) को प्रत्यक्ष देखा करे या देखता रहे। भावार्थ यह है कि वैद्य के इस प्रकार सावधान रहने से ही अन्न की रक्षा भली भाँति हो सकती है। अब राजा के लिए सिद्ध किए हुए अन्न के विषय में वैद्य के कर्त्तव्य को कहते हैं—

नृपतिभोजनविधि—सम्यक् सम्पन्न अर्थात् साध्वी स्त्रियों द्वारा बनाया हुआ, अच्छी तरह से वक्ष्यमाण प्रकार से परीक्षण किया हुआ, विशुद्ध, प्रथम अग्निमक्षिकादि को प्रदान कर देखा हुआ, मयूर करके अवलोकन किया हुआ तथा सुपर्ण मन्त्र से अभिमन्त्रित जल से प्रोक्षण किया हुआ वह अन्न, वैद्य को चाहिए कि वह सामने उपस्थित रहकर हाथ में ओषधि और रत्न बांधे हुए राजा को सेवन करावे। भोजन करते समय राजा के सामने अगदप्रलिप्त ( विषनाशक ओषधियों से प्रलिप्त ) नगारे बजाये जावें ताकि उनके शब्द से विष का नाश हो।

विशेष वक्तव्य सम्यक् सम्पन्न अन्न वह होता है जो भली भाँति पाचित और स्रावण वाष्पोद्गमनादि क्रियाओं द्वारा विशुद्ध कर लिया जाता है। भोजन करने पर ऐसा अन्न विकारकारी नहीं होता। अग्नि, मक्षिका तथा मोर पक्षी की दृष्टि द्वारा सुपरीक्षित होने से अन्न के सविषत्व और निर्विषत्व का पता लग जाता है। सुपर्णमन्त्रादि प्रोक्षणों द्वारा प्रोक्षित ( सिक्त ) होने से सविष अन्न भी निर्विष हो जाता है। विषनाशक अगद से प्रलिप्त नगारों के शब्द से सर्पविष तक नष्ट हो जाता है अतः ऐसे नाना प्रकार के अगदों के प्रयोग देखना हो तो देखें सुश्रुतसंहिता के कल्पस्थान का अध्याय ५ वाँ।

सुपरीक्षित अन्न ही राजा आदि को सेवन कराना चाहिए यह पहले कह चुके हैं अतः अब अन्नपरीक्षा विधि बताते हैं।

तत्र सविषमन्नं स्राव्यमानमविस्राव्यं भवति चिरेण पच्यते, पक्वं च सद्यः पर्युषितमिव निरूष्म स्तब्धं च जायते, यथास्ववर्णगन्धरसैर्व्यापद्यते प्रक्लिद्यते, चन्द्रिकाचितं च भवति।

सविष-अन्नपरीक्षा—विषमिश्रित अन्न चुवाया जाय तो उसका स्राव अशक्य होता है, बड़ी देर से पचता है। पकने पर या पककर तयार होते ही वह बासी अन्न ( एक अहोरात्र के बासी अन्न ) की तरह ठण्डा और कठिन दिखाई देता है। उस अन्न का अपना असली वर्ण, गन्ध और रस ( मधुर-अम्ल-लवणादि ) नष्ट हो जाता है, सड़ा हुआ सा ( क्लेदितसा ) दिखाई देने लगता है तथा उसमें चन्द्रिका अर्थात् मोरपंख की चन्द्रिका के आकारवाले नीले मण्डल दिखाई देने लगते हैं।

अन्नपरीक्षा के अनन्तर अब व्यंजन ( पान ) की परीक्षा बताते हैं।

व्यञ्जनानामाशुशुष्कत्वं भवति क्वाथस्य श्यामता हीनातिरिक्तविकृतानां चात्र छायानां दर्शनमदर्शनमेव वा फेनपटलसीमन्तकोर्ध्वविविधराजितन्तुबुद्बुदप्रादुर्भावः। विशेषेण लवणोल्बणे फेनमाला। रसस्य मध्ये नीला राजी। पयसस्ताम्रा। मद्यतोययोः काली। दध्नः श्यावा। तक्रस्याऽऽनीलपीता। मस्तुनः कपोताभा। धान्याम्लस्य कृष्णा। द्रवौषधस्य कपिला। घृतस्य सलिलाभा। क्षौद्रस्य हरिता। तैलस्यारुणा वसागन्धश्च।

व्यञ्जनपरीक्षा—विषसहित व्यञ्जन ( वृन्ताक आदि दही

---

१. "राजानमन्नं भोजयेत्। किं भूतमन्नम् ? सम्यक्साध्वीभिः स्रवणबाष्पोद्गमनादिक्रियाभिः संपन्नम्। सुपरीक्षितं वक्ष्यमाणेन विधिना, प्रथमं चाग्निमक्षिकादिभ्यो दत्तं, तथा सविषं निर्विषं चेति परिज्ञातं भवति। शिखिना मयूरेण दृष्टं, प्रोक्षणैः सुपर्णमन्त्रोदकादिभिः प्रोक्षितं सिक्तं, तथा हि सविषमपि निर्विषी भवति।" इतीन्दुः।

तक्र दाडिम आदि से संस्कृत द्रव पदार्थ) सूप आदि जल्दी सूख जाते हैं और सविष व्यञ्जन का क्वाथ मलिन तथा कृष्ण-वर्ण होता है, उस काढ़े में देखने से देखनेवाले को अपनी छाया हीन (भुजा आदि से हीन), विकृत (सिर आदि से हीन) दिखाई देती है या छाया ही नहीं दिखाई देती। दूसरे आचार्यों के मत से हीन (अपने बिम्ब-प्रमाण से न्यून), अतिरिक्त (अपने बिम्बप्रमाण से अधिक), विकृत (तुल्य प्रमाण में दिखाई देने पर भी वह अन्य जाति की) दिखाई देती है वह सविष व्यञ्जन का क्वाथ फेनवाला होता है, उसमें सीमन्त अर्थात् बीच में से दो विभाग दिखानेवाली रेखा बन जाती है, ऊपर अनेक रंग की रेखाएं दिखाई देती हैं, तन्तु-तन्तु और बुद्बुदे से दिखाई देने लगते हैं। विशेष नमकीन व्यञ्जन में फेनपटल विशेष होते हैं। रस (मांसरस) में नीले रङ्ग की, दूध में ताम्रवर्ण की, मद्य और जल में काले रंग की, दही में कपिश रंग की, तक्र में नीली और पीली, मस्तु में कपोत वर्ण, कांजी में काले रंग की, द्रव ओषधि में और घृत में कपिलवर्ण की, शहद में हरे रंग की और सविष तेल में लाल रंग की रेखाएं दिखाई देतीं और उस तेल की गन्ध वसा (चर्बी) की आती है।

अब सविष फल आदि की परीक्षा का वर्णन करते हैं।

फलानामामानां पाकः, पक्वानां प्रकोथः। द्रव्याणामार्द्राणां सहसाम्लानत्वमन्यत्वभावः, शुष्काणां श्यावता वैवर्ण्यं च, कठिनानां म्रदिमा, मृदूनां कठिनत्वम् माल्यस्य म्लानता गन्धनाशः स्फुटिताग्रत्वम्। आस्तरणप्रावरणानां श्याममण्डलता तन्तुरोमपक्ष्मसदनं च। लोहमणिमयानां पङ्कमलोपदेहः स्नेहरागगौरवप्रभावर्णस्पर्शनाशश्च।

सविषफलादिपरीक्षा—विष के संयोग से कच्चे फल पकने जैसे हो जाते हैं और पके हुए फल सड़ने लगते हैं। कमलनाल मूली आदि गीले द्रव्य विष के संयोग से मैले दिखाई देते हैं उनका असली रूप विरूप में परिणत होता है और वे पके हुए की तरह नरम हो जाते हैं। सोंठ आदि सूखे द्रव्य सविष होने से काले पड़कर बदरंग होते हैं। कठिन द्रव्यों में मृदुता और मृदु द्रव्यों में काठिन्य आ जाता है। सविष पुष्प मलिन होकर उसकी सुगन्ध नष्ट होती, कलियाँ बिखरने लगती हैं। बिछाने और ओढ़ने के वस्त्र विषाक्त होने से उनमें काले धब्बे पड़ते और उनके तन्तु उखड़ने या झड़ने लगते हैं। मणिमय सुवर्ण-रजत आदि धातु विष के कारण गीले मलिन होते हैं और उनकी स्निग्धता-रंग-गौरव-प्रभा-वर्णस्पर्शादि नष्ट होते हैं।

अब आचार्य विष देनेवाले की परीक्षा के विषय में कहते हैं कि—

विषदस्तु स्वदोषशङ्कया त्रस्तो भीतः स्वेदवेपथुमान् शुष्कश्यावक्त्रः समन्तात्सोद्वेगं विलक्षोऽभिवीक्षते। यत्र चानेन विषं प्रयुक्तं तद्विशेषेण। तथा स्रस्तोत्तरीयः स्तम्भकुड्यादिभिरात्मानमन्तर्धत्ते स्खलितगतिर्दीनो लज्जावानस्थानगामी पृष्टोऽसंबद्धमुत्तरं ददाति नैव वा, विवक्षुर्मुह्यत्यङ्गुलीः स्फोटयति ग्रीवामालभते शिरः कण्डूयत्योष्ठौ परिलेढि जृम्भते भुवं लिखति क्रियासु त्वरते विपरीतमाचरति स्वभूमौ च नावतिष्ठते।

विष देनेवाले की परीक्षा—विष का देनेवाला अपने दोष की शङ्का के मारे त्रस्त (सताए हुए की तरह दुःखी) रहता है, डरपोक की तरह डरता है, उसके शरीर में पसीना तथा कम्प होता है, उसका मुँह सूखा हुआ मलिन (उतरा हुआ) रहता है, वह चारों ओर उद्वेग से अस्पष्ट दृष्टि से देखता है, जिसमें या जिसके द्वारा विषप्रयोग किया गया है वह उसी वस्तु को विशेषतः देखा करता है, उसका उत्तरीय वस्त्र (अंगोछा) कन्धे से नीचे गिरता है, वह (विष देनेवाला) अपने को किसी स्तम्भ (खम्भा) या भींत की आड़ में छिपाता है अर्थात् वह स्तम्भ भींत आदि के पीछे छुपता रहता है, चलने में ठोकरें खाता, लुढ़कता या गिरने जैसी चेष्टा करता है, वह दीन-लज्जित (शर्मिन्दा) होता है, बिना कारण हँसता और पूछने पर कुछ का कुछ असम्बद्ध अण्ट का सण्ट उत्तर देता है या कुछ उत्तर ही नहीं देता है, जो कहना चाहता है उसका उसे स्मरण नहीं रहता और कुछ का कुछ कहता है अर्थात् बनावटी बात बनाता है, वह अपनी अंगुलियाँ मोड़ता, ग्रीवा (गर्दन) को छूता, सिर को खुजलाता, होठों को चाटता, जम्भाइयां लेता, भूमि को कुचरता, काम में जल्दी करता है, विपरीत आचरण करता और एक जगह पर स्थिर होकर नहीं बैठता है।

इस प्रकार विष देनेवाले की परीक्षा करके सविष अन्न की अग्नि आदि में भी परीक्षा करने का विधान बताते हैं।

नृपाज्ञया त्वरयापि केचिदपराधान्तरादानवस्थितसत्त्वाः समाचरन्त्येवं तस्मादग्न्यादिष्वपि परीक्षेत। वह्निस्तु सविषमन्नं प्राप्यैकावर्तो रूक्षमन्दार्चिरिन्द्रायुधवदनेकवर्णज्वालो भृशं चटचटायते। कुणपगन्धी धूमश्चास्य मूर्च्छाप्रसेकरोमहर्षशिरोवेदनापीनसदृष्ट्याकुलताः जनयति।

तत्र नलदकुष्ठलामज्जकैः क्षौद्रप्लुतैर्नस्यमञ्जनं च कुर्यात्। धूममेवापामार्गविडङ्गबलाद्वयचित्रकमेषशृङ्गीपुष्पसुमनःक्षारकद्राक्षाघृतगुडकृतं पिबेत्।

सविष अन्न की अग्निद्वारा परीक्षा—राजा की आज्ञा से जल्दी घबड़ानेवाले तथा अन्य अपराधों से भी जिनका चित्त

१. "व्यञ्जनानि वार्ताकादीनि दधितक्रदाडिमादिसंस्कृतानि" इत्यरुणदत्तः।

२. "हीना भुजादिहीना, अधिका विकृता-शिरोविरहलक्षणविकारोपेता" इत्यरुणः। हीना-बिम्बप्रमाणन्यूना। अतिरिक्ता-अधिका। विकृता-तुल्यप्रमाणाप्यन्यजातीया" इति हेमाद्रिः।

३. "म्लानत्वमुत्पक्वत्वभावः" इति पा०। ४. 'वैवर्ण्यं वा' इति पा०। ५. 'मृदुता' इति पा०। ६. "पक्ष्मसातनं च" इति पाठान्तरम्।

१. 'अस्थानहासी, २. 'नृपाज्ञात्वरयापि, ३. दृष्ट्याकुलतां, ४. 'क्षौद्रद्रुतैः, ५. 'धूममेव वा, इति पाठान्तराणि इन्दुटीकापुस्तके।

ठिकाने नहीं रहता है वे भी पूर्वोक्त आचरण अर्थात् विष-प्रयोग करनेवाले के लक्षण जैसे कहे हैं वैसे ही करते हैं। केवल विष देनेवाला ही वैसा नहीं करता है। इस लिए अग्नि आदि में भी सविष अन्न की परीक्षा कर लेनी चाहिए। वह इस प्रकार है कि—विषमिले हुए अन्न के अग्नि में डालने से अग्नि एकावर्त अर्थात् बाईं या दाहिनी ओर के एक ही आवर्त वाली ज्वालावाला, रूक्ष-मन्द ज्वालावाला तथा इन्द्रधनुष की तरह नीली-पीली-लाल आदि अनेक वर्ण की ज्वालावाला होते हुए पूर्णरूप से चट-चट शब्द करता है। इतना ही नहीं, वह अग्नि कुणपगन्धी ( शव के जलने की सी गन्धवाला ) होता है और उस अग्नि के धुंवें से मूर्च्छा, प्रसेक ( मुँह से लारों का टपकना ), रोमहर्ष, सिर में पीडा, पीनस और दृष्टि की आकुलता ( दृष्टि का कम हो जाना ) ये रोग हो जाते हैं। और इन विकारों की शान्ति के लिए जटामांसी, कूट और सुगन्धवाला इन तीनों को सम भाग लेकर शहद में मिलाकर नस्य दे या अञ्जन करावे य। अपामार्ग, वायविडङ्ग, कंवी, खिरेटी, चित्रक, मेंढासिंगी, लवङ्ग और चमेली के कोमल पत्तों का दाख, घृत और गुड़ से तयार किया हुआ धूमपान करावे अर्थात् हुक्का पिलावे।

स्नेहलवणयोगादपि चाग्निरित्थं स्यात्। अतो वयोभिः परीक्षेत। तत्र विषजुष्टाहाराभ्यवहारात्काकाः क्षामस्वरा भवन्ति। मक्षिकाः सविषान्ने न निलीयन्ते, निलीना[1] वा विपद्यन्ते। दृष्ट एव चास्मिंश्चकोरस्याक्षिणी[2] विरज्येते। कोकिलस्य स्वरो विकृतिमेति। हंसस्य गतिः स्खलति। कूजति भृङ्गराजः। माद्यति क्रौञ्चः। विरौति कृकवाकुः[1]। विक्रोशति शुकः[3] सारिका च। छर्दयति चामीकरोऽन्यतो याति कारण्डवो म्रियते जीवंजीवको ग्लायति वा। हृष्टरोमा भवति नकुलः। शकृद्विसृजति[4] वानरो, रोदिति पृषतो, हृष्यति मयूरो दर्शनादेव चास्य विषं मन्दतामुपैति। विषदूषितस्य पुनराहारस्योष्मा मयूरकण्ठाभोऽभ्युदेति। तद्बाष्पेण धूमवन्मूर्च्छादयः। तेषां तद्वदेव साधनम्। हस्तेन स्पृष्टमन्नं विषवद्दाहशोफस्वापनखशातान्करोति। तस्य श्यामेन्द्रगोपसोमोत्पलैर्लेपः।

पक्षियों से सविष अन्नपरीक्षा—अग्नि पर डालने से सविष अन्न जैसे चटचट शब्द करता है, ठीक इसी प्रकार तेल और नमक के संयोगवाला अन्न भी अग्नि पर डालते ही चट-चट शब्द करता है। इस लिए आहारोपयोगी अन्न की परीक्षा वयोभिः अर्थात् पक्षियों के द्वारा भी करनी चाहिए। विषयुक्त अन्न के खाने से कौआ क्षाम ( दबा हुआ सा ) स्वरवाला हो जाता है। सविष अन्न पर मक्खियाँ नहीं बैठतीं और बैठ ही गई तो मर जाती हैं। विषमय अन्न के देखते ही चकोर की आंखें लाल होती हैं। कोयल का स्वर विगड़ जाता है। हंस की गति में स्खलन होता है अर्थात् उसकी चाल जैसी है, वैसी नहीं रहती। भ्रमर गुंजार करने लगता है। क्रौञ्च पक्षी मदमस्त होता है। कृकवाकु ( कुक्कुट ) रोने लगता है। शुक सारिका ( तोता-मैना ) चिल्लाने लगती हैं। चामीकर वमन करता है। कारण्डव विष के पास नहीं ठहरता अपितु अन्यत्र चला जाता है। जीवंजीवक विष को देखते ही मर जाता है या ग्लानि को प्राप्त होता है। नकुल ( न्यौलिया ) के बाल खड़े हो जाते हैं। बन्दर मलविसर्जन करने लगता है। पृषत रोने लगता है। मोर हर्षायमान होता है और उसके देखने से विष मन्द पड़ जाता है।

और भी विषदूषित आहार की परीक्षा—विषदूषित आहार ( अन्न ) का वाष्प मोर के कण्ठ के समान नीले रङ्ग का निकलता है। उस वाष्प से भी धूमवत् अर्थात् विष के धुँवें की तरह मूर्च्छा, रक्तपित्त, अर्दित आदि विकार होते हैं। इन विकारों की शान्ति के लिए भी धूम से होनेवाले विकारों की चिकित्सा ही करनी चाहिए जिसका वर्णन पहले कर आए हैं।

विषदूषित आहार को हाथ से छूने पर वैसे ही दाह, शोथ, स्वाप ( सो जाना ), नखशातन ( नखों का गिरना ) आदि विकार होते हैं जैसे कि विष के छूने से होते हैं। इसलिए इसकी चिकित्सा भी विषस्पर्श से होनेवाले विकारों की तरह करनी चाहिए अर्थात् इन दाह आदि के शमनार्थ श्यामा ( प्रियङ्गु ), इन्द्रगोप ( बीरबहूटी ) और सोम ( कायफल या ब्राह्मी[2] ) और कूट का लेप करना चाहिए।

अभ्यवह्रियमाणं त्वोष्ठचिमिचिमान्तर्वक्त्रदाहजिह्वामूलगौरवहनुस्तम्भदन्तहर्षलालाः करोति रसापरिज्ञानं च। तत्र धूमोक्तं दन्तकाष्ठोक्तं कर्म।

आमाशयगतं स्वेदमदमूर्च्छाच्छर्दिवैवर्ण्याध्मानरोमहर्षदाहारुचिदृष्टिहृदयोपरोधान्। बिन्दुभिश्चाचयमङ्गानां करोति। तत्र मदनफलालाबुबिम्बीकोशातकीफलैर्दधिमधुयुक्तमाशु वमनं दद्यान्निष्पावाम्बुभिर्वा। ततः स्निग्धशरीरं विरेचयेत्। त्रिफलात्रिकटुनागपुष्पमधुकबर्हिणपर्णीबृहतीद्वयचूर्णं सिंहव्याघ्रवृकतरक्षु[3]द्वीपिमार्जारशृगालमृगगोधानामन्यतमपित्तयुक्तं[4] सक्षौद्रं पानमेष जीवनो नामागदः परं सर्वविषौषधम्। तस्मिन् जीर्णे व्योषातिविषासिद्धां[5] पयसा घृतेनचोपस्तम्भितां[6] यवागूं पाययेत्। परिणतायां च तस्यां त्रिकटुकसिद्धेन मुद्गयूषेण किञ्चिल्लवणेन ससर्पिष्केण मृदुमोदनं[7] भोजयेत्। मधुकशिरीषचन्दनैश्चैनमालिम्पेत्।

विषमिश्रित आहार से होनेवाले विकारों की चिकित्सा—विष-

१. निलीना च, इति पा०। २. चास्मिंस्तु चकोरा, इति पा०। ३. शुकः सारिका चेत्यारभ्य जीवंजीवको ग्लायतिपर्यन्तः पाठो मुद्रिते मूलपुस्तके भ्रमतः पूर्णविरामलेखादशुद्ध इव भाति, अष्टाङ्गहृदयस्य शुद्धपाठस्य दर्शनात्। ४. शकृद्विसर्जति, इति पाठान्तरम्।

१. "कृकवाकुस्ताम्रचूडः कुक्कुटश्चरणायुधः" इत्यमरकोशः। २. 'सोमः—सोमवल्कः कटफलः इति हेमाद्रिः। 'सोमो ब्राह्मी' इतीन्दुः। ३. 'तरक्षुद्वीपि, इति पाठान्तरम्। ४. 'पित्तरसयुक्तम्' इति पा०। ५. 'श्यामान्योषातिविषासिद्धेन,' इति पा०। ६. 'वोपस्तम्भिताम्, इति पा०। ७. 'मृद्वोदनम्' इति पाठान्तरम्।

मिश्रित आहार के मुख में पहुंचने से होठों में चिमचिमाहट, मुख में दाह, जीह्वामूल में जड़त्व, हनुस्तम्भ, दन्तहर्ष, लार का टपकना और रस का ज्ञान न होना, ये विकार होते हैं। इनकी शान्ति के लिए जैसे धूमविधि एवं दन्तकाष्ठोक्त उपचार कहे हैं वे ही उपाय करने चाहिए जैसे कि आगे कहे गये हैं।

आमाशयगत विषदूषित अन्न के विकार तथा उनकी चिकित्सा—विषमिश्रित अन्न के आमाशय में पहुंचने से स्वेद, मद, मूर्च्छा, वमन, विवर्णता, आध्मान ( पेट का फूलना ), रोमहर्ष, दाह, अरुचि, नेत्र और मन की क्रिया में प्रतिबन्ध[1] ( रुकावट ), शरीर में जलबिन्दु के आकारवाले फोड़ों का उठना ये विकार होते हैं। इनकी शान्ति के लिए मैनफल, कडवी तुम्बी, बिम्बी, जंगली कडु तोरई इनके फलों से शहद और दही से युक्तकर तुरन्त वमन कराना चाहिए। अथवा–निष्पाव ( वाल–वल्ल ) के जल को पिलाकर वमन कराना चाहिए। इसके अनन्तर स्नेहनद्वारा शरीर को स्निग्ध करके विरेचन ( जुलाब ) देना चाहिए। हरड़, बहेड़ा, आंवला, सोंठ, मिरच, पीपल, नागकेशर, मुलेठी, मोरशिखा, छोटी और बड़ी दोनों कटेली इनके चूर्ण को सिंह, व्याघ्र, चीता, तरस, बब्बर शेर, बिलाव, सियार, हरिण और गोधा (गोह) इनमें से किसी एक के पित्त या पित्त के रस और शहद में मिलाकर सेवन कराना चाहिए। यह जीवन नाम का अगद सब प्रकार के विषों को नष्ट करने में श्रेष्ठ औषध है। इस अगद के पच जाने पर प्रियंगु, सोंठ, मिरच, पीपल तथा अतीस से सिद्ध किए हुए दूध या घृत से संयुक्त यवागू पिलानी चाहिए। [ पाठान्तर से प्रियंगु, आदि से सिद्ध की हुई यवागू दूध या घृत से संयुक्त कर पिलानी चाहिए। ] इस यवागू के पच जाने पर सोंठ, मिरच और पीपल से पकाया हुआ किंचित् नमक और घृत से युक्त मूंगों का यूष नरम भात के साथ देना चाहिए। उस विषाक्त रोगी के शरीर में मुलेठी, सिरस के बीज और चन्दन का लेप करना चाहिए।

पक्वाशयगतं तृड्दाहमदमूर्च्छा[2]तीसाराटोपतन्द्रेन्द्रियविकृतिबलभ्रंशकार्श्यपाण्डुत्वोदराणि जनयति। तत्र नीलिनीफलयुक्तेन सर्पिषा विरेचनं समाक्षिकं च दूषीविषारिं दध्ना पाययेत्। दन्तकाष्ठप्रयुक्ते तु विषे कूर्चकविशरणमौषधगन्धो रूक्षता जिह्वादन्तौष्ठमांसशोफश्च[3]। तत्र प्रच्छाय धातकीपुष्पजाम्बवास्थिहरीतकीचूर्णैः सक्षौद्रैः सप्तच्छदकल्केन वा प्रतिसारणं कुर्यात् दाडिमकरमर्दभव्याम्राम्रातक[4]कोलवदररसं[5] क्षौद्रयुतं गण्डूषम्। अनेन जिह्वानिर्लेखनकवलगण्डूषा व्याख्याताः।

पक्वाशयगत विषदूषित अन्न के विकार और उनकी शान्ति के उपाय—विषमिश्रित अन्न के पक्वाशय में जाने से तृष्णा, दाह, मद, मूर्च्छा, अतिसार, आटोप ( अफारा ), तन्द्रा, इन्द्रियविकृति (मनोविकृति तथा इन्द्रियों में विकार), बल का नाश, कृशता, पाण्डुता और उदररोगों की उत्पत्ति होती है। इनकी शान्ति के लिए नीलिनीफल ( हब्बुल् नील–जयपाल ) युक्त घृत से विरेचन करावे और दूषीविष–चिकित्सा में कहे हुए दूषी–विषारि नामक अगद का दही के साथ सेवन करावे।

दन्तकाष्ठ ( दतौन ) में विष के विकार एवं उनकी शान्ति—दन्तकाष्ठ में विषप्रयुक्त करने से कूर्चकविशरण ( दतौन की कूँची का बिखरना ), उस में लगाई हुई विष ओषधि की गन्ध, रूक्षता, तालु–दाँत–जीभ और होंठों के मांस में सूजन ये विकार होते हैं। इनकी शान्ति करने के लिए विषाक्त मांस को पछने से छीलकर धाय के फूल, जामुन की गुठली और हरड़ के चूर्ण में शहद मिलाकर या सप्तच्छद (सप्तपर्ण–सतौना) के कल्क से प्रतिसारण करे अर्थात् इन ओषधियों को मुख में धारण कर लार टपकावे। अनार, करौन्दा, निम्ब, आम, अम्बाड़ा तथा छोटे बेरों का रस शहद में मिलाकर कुल्ली करावे। इस प्रकार यह जिह्वानिर्लेखन, कवलग्रह और गण्डूष करने का विधान बताया गया है।

अञ्जनप्रयुक्तेऽश्रुदूषिकोपदेहदाहरागवेदना[1]दृष्टिविभ्रमा भवन्त्यान्ध्यं च। तत्र सर्पिःपानं योज्यम्। शृतेन पयसा सप्तकृत्वः पिप्पलीर्भावयेत्। ततस्तत्कल्केन सर्पिर्विपक्वं नेत्रतर्पणम्। कपित्थमेषशृङ्गीभल्लातकानां पुष्पैर्वरणनिर्यासेन चाञ्जनम्[2]। बृहतीशिरीषबीजप्रपौण्डरीकनागबलाचूर्णं सप्तकृत्वो मधुना भावयेत्। तच्च स्रोतोऽञ्जनसुवर्णचूर्णयुक्तमञ्जनम्[3]।

नस्यधूमप्रयुक्ते शिरोरुक्कफास्रावः खेभ्यो रुधिरागमनमिन्द्रियवैकृतं च। तत्रातिविषाश्वेताकाकमाचीमदयन्तिकाकल्कक्षीरसिद्धं सर्पिर्नस्ये पाने च विदध्यात्।

विषदूषित अञ्जन के विकार और उनकी शान्ति—अंजन अर्थात् सुर्मे में विष प्रयुक्त करने से नेत्रों से आंसू गिरना, नेत्रमल ( गीड ) का जमना, प्रलेप होकर नेत्रों का चिपक जाना, नेत्रों का वर्ण लाल हो जाना, वेदना, दृष्टिविभ्रम ( देखने में भ्रान्ति या असत्य दर्शन ) और अन्धत्व ( अन्धा हो जाना ) ये विकार होते हैं। इन विकारों की शान्ति के लिए रोगी को घृत पिलाना चाहिए अथवा सात बार औटाये हुए दूध की पिप्पली को प्रत्येक बार सुखा सुखाकर भावना देना और फिर उन पिप्पलियों के कल्क को घृत में पकाकर उस घृत का नेत्रों पर तर्पण करना ( तरेड़ा देना ) चाहिए अथवा कैथ, मेढासिंगी और भिलावे के पुष्पों से संयुक्त ( विभावित ) वरुण वृक्ष के गोंद का अञ्जन देना तथा बड़ी कटेली, सिरस के बीज, प्रपौण्डरीक और गङ्गेरन के चूर्ण को शहद की सात भावना देकर उसे श्वेत सुर्मा और सुवर्णचूर्ण में मिलाकर अञ्जन कराना चाहिए।

नस्य और धूमपान में विष के विकार और उनकी चिकित्सा—नस्य तथा धूमपान ( हुक्का की तमाखू आदि ) में विष मिश्रित

१. "चक्षुर्हृदयरोधनं—नेत्रयोर्मनसश्च क्रियाप्रतिबन्धः। बिन्दुभिरङ्गानामाचयः—जलबिन्द्वाकारस्फोटव्याप्ताङ्गत्वम्" इति हेमाद्रिः।
२. 'तृड्दाहमूर्च्छा, इति पा०। ३. "तालुदन्तजिह्वोष्ठमांसशोफश्च" इति पा०। ४. "भव्याम्रातकं, इति पा०।
५. "वदररसक्षौद्रयुक्तं, इति पा०।

१. "देहरागवेदना" इतिपाठान्तरम्।
२. "चाञ्जनम्" इति पा०। ३. अस्याग्रे 'देयम्' इत्यधिकः पाठः।

होने से सिर में पीडा, कफ या लारों का गिरना, नाक–कान–मुख–नेत्र आदि स्रोतों से रक्त का आना, इन्द्रिय–विकृति अर्थात् मन आदि इन्द्रियों में विकार पैदा होना ये रोग होते हैं। इनकी शान्ति के लिए अतीस, श्वेता (अपराजिता–कोयल), मकोय और नवीन कोमल मोगरे के पान इन सबके कल्क में सिद्ध किए हुए घृत का पान करावे और इस घृत का नस्य देवे।

अभ्यङ्गप्रयुक्ते त्वग्दाहस्वेदपाकस्फोटावदरणानि। तत्र शीताम्बुपरिषिक्तस्य चन्दनतगरोशीरकुष्ठवेणुपत्रिकामृतासोमवल्लीश्वेतापद्मकालेयकैरनुलेपनम्। एतान्येव च सकपित्थरसगोमूत्राणि पानम्। गिरिकर्णिकाश्वेतमूलप्रियङ्गुसारिवामधुकसर्पसुगन्धामृगैर्वारुमूलानि शेलुकाथपिष्टानि प्रलेपः। अनेनोद्वर्त्तनोद्धर्षणपरिषेकानुलेपनभूषणयानशय्याऽऽस्तरणवस्त्रकवचरथपादुकोपानत्पादपीठा व्याख्याताः।

अभ्यङ्ग में मिश्रित विष के विकार तथा शान्ति- उबटनादि में विष के मिश्रित होने से त्वचा में दाह, पसीना, चमड़ी का पकना, फोड़े–फुन्सियों का होना, शरीर का अवदारण (खण्डशः फटना), ये विकार होते हैं। इनको शमन करने के लिए शरीर पर शीतल जल छिड़कने के अनन्तर चन्दन, तगर, खस, कूट, वेणुपत्रिका (हिङ्गुपत्री), गिलोय, सोमवल्ली (ब्राह्मी) श्वेता (अपराजिता–गिरिकर्णिका–कोयल), कमल और कालेयक (काला अगर) का लेप करे अथवा इन ही ओषधियों को कैथ के रस और गोमूत्र में मिलाकर पान करावे अथवा गिरिकर्णिका (कोयल), पुनर्नवा, प्रियंगु, अनन्तमूल, मुलेठी, सर्पगन्धा, इन्द्रायन और कतकमूल (निर्मली की जड़) इन सबको लिहसौड़े के काढे में पीसकर लेप करावे। इस प्रकार से यह उद्वर्त्तन, घर्षण, परिषेक, अनुलेपन, भूषण (अलङ्कार), वाहन, शय्या, आस्तरण, कवच, पादुका (खड़ाऊ), उपानत् (जूते), पादपीठ आदि में प्रयुक्त विष का शमनोपाय बताया गया। सारांश, इन सब में से किसी में भी विष का प्रयोग किया गया हो तो उपर्युक्त उपाय ही करने चाहिए।

विशेषतस्त्वाभरणकृते विकारेऽश्वगन्धापामार्गकिणिहीखदिरशिरीषकल्कैर्गोपित्तप्रयुक्तैः प्रदेहः। पादपीठकृते श्लेष्मातकसर्पसुगन्धाकल्को मधुयुक्तः। छत्रप्रयुक्ते स्फोटानां क्षिप्रपाकानां पक्वजाम्बवप्रकाशानां प्रादुर्भावः! तत्र मधुकपाटलाकसेरुकरोध्राञ्जनकुष्ठसर्पसुगन्धाखदिरशिरीषकल्कैः सर्वगात्रप्रदेहः। अनेन चामरव्यजने व्याख्याते।

आभरण, पादपीठ और छत्र में प्रयुक्त विष की सामान्य चिकित्सा ऊपर कह चुके हैं। अब इनकी विशेष चिकित्सा को कहते हैं। यथा—

आभरण विषशमन—आभरण में विष प्रयोग हुआ हो तो उसकी विशेष चिकित्सा के लिए असगन्ध, अपामार्ग, अपराजिता, खदिर और सिरीसबीज का कल्क गोरोचनयुक्त कर लेप करे।

पादपीठविषशान्ति—पादपीठ में विषप्रयुक्त किया हो तो उसके विकारों की शान्ति के लिए लिहसौड़ा, सर्पगन्धा, आम और आम्रातक की छाल के कल्क को शहद में मिलाकर लेप करे।

छत्र में प्रयुक्त विष के विकार और उनकी शान्ति—छत्र में विष के प्रयोग करने से जल्दी पकने वाले फोड़े–फुन्सी और उनकी वेदना होती है। ये फोड़े पके हुए जामुन के आकारवाले होते हैं। इनकी शान्ति के लिए मुलेठी, पाटला, कसेरू, लोध, सुर्मा तथा अंजन (अर्जुन) कूट, सर्पगन्धा, खैर और सिरीस के बीजों का कल्क बनाकर सारे शरीर में लेप करना चाहिए। इसी प्रकार से चामर (चँवर) और पंखे में विष प्रयुक्त किया हो तो चिकित्सा करे।

शिरोऽभ्यङ्गप्रयुक्ते वेदना[1] ग्रन्थिजन्म केशच्यवनं च। तत्र श्यामापालिन्दीतन्दुलीयकचूर्णघृतर्क्षपित्तैः सुभावितकृष्णमृत्प्रलेपः।[2] गोमयमालतीमूषिककर्ण्यन्यतमकल्को[3] रसो वाऽऽगारधूमो वा। श्लेष्मातकत्वक्पाटलाशिरीषमधुकहरिद्राद्वयैरजाक्षीरालोडितैः परिषेकः। अनेन शिरःस्नान[4]-स्नपनोदक-कङ्कतक-स्रगुष्णीषा व्याख्याताः।

कर्णपूरणप्रयुक्ते शोफशूलपाकाः श्रोत्रवैगुण्यं च। तत्र बहुपत्रास्वरसो घृतक्षौद्रयुक्तैः[5] प्रतिपूरणं सोमवल्करसो वा सुशीतः।

मुखालेपप्रयुक्ते मुखस्य श्यावता पद्मकण्डका भवन्त्यभ्यङ्गजाश्च विकाराः। तत्र मधुकपयस्याबन्धुजीवककङ्गीपुनर्नवा चन्दनैः सघृतैर्लेपः सपिषः पानं च।[6]

सविषपुष्पाघ्राणाच्छिरोऽव्यथा साश्रुनेत्रत्वं गन्धाज्ञानं च। तत्रानन्तरोक्तो विधिर्बाष्पोदितश्चेति।

शिरोऽभ्यङ्ग में प्रयुक्त विषके विकार तथा उनकी शान्ति—शिरोऽभ्यङ्ग में विष के प्रयोग करने से सिर में पीड़ा, गांठों का उठना और केशों का गिरना ये विकार होते हैं। इनकी शान्ति के लिए अनन्तमूल, पालिन्दी (काली निशोत) और चौलाई इनके चूर्ण, घृत तथा रीछ के पित्तकी भावना दी हुई काली मिट्टी का लेप करे। अथवा—गोबर, मालती और मूषाकर्णी इन में से किसी एक के रस में घरका धुँवा मिलाकर

१ मृगोर्वारुकतकमूलानि, इति पा०।
२. 'अनेनोद्वर्त्तनघर्षण, इति पाठः।
३. कवचपादुकोपानत् इति पा०।
४. 'सुगन्धाम्रकल्कः, इति पाठा०।
५. 'वेदना स्फोटानाम्' इतिपाठा०।

१. शिरोवेदना, इति पा०। २. "सुभावितया कृष्णमृदा लेपः" इति पा०। ३. "मूषिककर्ण्यन्यतमरसो वागारधूमो वा" इति पा०
४. "शिरःस्नानोदक" इति पा०। ५. "घृतक्षौद्रसंयुक्तः" इति पा०।
६. "सघृतैर्लेपो मधुसर्पिषी पानम्" इति पा०।

लेप करे। अथवा—लिहसौड़ा की छाल, पाटला, सिरीस के बीज, मुलेठी, हल्दी, दारुहल्दी, इन सबके चूर्ण को बकरी के दूध में मिलाकर परिषेक ( तरेड़ा ) करे। इसी प्रकार सिर धोने एवं स्नान करने के जल, कङ्कतक[1] ( कंघी या कंघा ), माला और पगड़ी में प्रयुक्त किए हुए विष की चिकित्सा करनी चाहिए।

कर्णपूरण में प्रयुक्त विष के विकार और उनकी चिकित्सा—सुगन्धित तेल, इत्र आदि कान में डालने योग्य द्रव्यों में विष का प्रयोग करने से कान का सूजना, कान में शूल और पकना ये विकार होते हैं—श्रोत्रवैगुण्य—सुनाई न देना या विपरीत सुनाई देना होता है। इनको शमन करने के लिए बड़ी कटेली ( बहुपत्रा ) का स्वरस घी और शहद में मिलाकर कान में डालना चाहिए।

मुख के लेप में प्रयुक्त विषविकार एवं उनकी शान्ति—मुखलेप में विषमिश्रित होने से मुँह का काला पड़ जाना, पद्मकण्टक (क्षुद्ररोगों में कहा हुआ एक रोग), और अभ्यङ्ग मिश्रित विषके विकार चमड़ी का जलना ( त्वग्दाह ) और स्वेद आदि होते हैं। इनके शमनार्थ मुलेठी, क्षीरकाकोली, विदारीकन्द या दुद्धी, जियापोता, भारङ्गी, पुनर्नवा तथा चन्दन का लेप घृत में मिलाकर करे और शहद-घी को मिलाकर पिलावे।

विषदूषित फूलों के सूँघने से होनेवाले विकार तथा उनकी चिकित्सा—विष से दूषित पुष्पों के सूंघने से सिरमें पीड़ा, नेत्रों से आंसू बहना और सुगन्ध-दुर्गन्ध का ज्ञान न होना ये विकार होते हैं। इनकी शान्ति के लिए अनन्तरोक्त ( सब से पीछे कही हुई ) मुखप्रलेप में विषमिश्रित से होने वाले विकारों की चिकित्साविधि करनी चाहिए। अथवा वाष्पोदित विधि ( सविष अन्न की बाफ से होनेवाले विकारों की शमन-विधि ) करनी चाहिए। इसका वर्णन पहले हो चुका है।

भवन्ति चात्र।

फलमूलच्छदादीनां द्रव्यात्प्रक्षालनोदकम् ।
भाजनव्यञ्जनानां च तथा कुर्यादतन्द्रितः ॥
घ्रेयाणि घ्रापयित्वा तु स्पृश्यान्संस्पृश्यतानपि ।
प्रतीवापं ततो दत्त्वा प्रतीक्ष्येवैकनाडिकाम् ॥
ततो विज्ञाय शुद्धिं च भाजनस्योदकस्य च ।
आहारमुपयुञ्जीत यथावद्वसुधाधिपः ॥
मन्दं तीक्ष्णविषाभ्यासाद्विषमुत्क्षीयते[2] भृशम् ।
तस्मात्तीक्ष्णविषं हस्ते बध्नीयात्कुशलो भिषक् ॥
विषसंधारणं धन्यं रक्षोघ्नं प्रीतिवर्धनम् ।

वैद्यद्वारा विषों से रक्षा - वैद्य को चाहिए कि वह सावधान-तया फल, मूल, पत्र, वर्तन, जल आदि भोजन समयोपयोगी समस्त समान को प्रथम शुद्ध कर ले। जल से भली भांति प्रक्षालन कर के अथवा फल, मूल और इसी प्रकार विषनाशक ओषधियों के पत्रों के प्रक्षालनोदक से व्यञ्जनादि के पात्रों को प्रक्षालन करे। उनमें से सूंघने योग्यों को सूंघकर, स्पर्श करने योग्यों का स्पर्श करके फिर उन प्रक्षालित पात्रों तथा व्यंजनों में विषनाशक ओषधियों का प्रतीवाप देकर एक घड़ी तक प्रतीक्षा करे। इस के अनन्तर पात्रों-व्यञ्जनों की सम्यक् शुद्धि का निश्चय कर यथावत् आहार की योजना राजा करे। ध्यान रहे कि तीक्ष्ण विषके अभ्यास एवं पास में रखने से मन्द विष का सर्वथा नाश होता है अतः वैद्य का कर्त्तव्य है कि वह हाथ में विष को बँधावे या बांधे क्यों कि विष का संधारण करना धन्य, राक्षसों का नाशक और प्रीतिवर्धक है।

इसी प्रकार कुशल वैद्य को चाहिए कि वह अपना औषधालय सदा सुसज्जित रक्खा करे। वह औषधालय कैसा होना चाहिए अब इसको कहते हैं। साथ ही में उसी के पास भोजनागार कैसा चाहिए इसका भी वर्णन करते हैं—

सापिधानघटीमूर्षाफलकस्थापितौषधम्[1] ।
प्रागुदीच्योर्दिशोर्गुप्तं भैषज्यागारमिष्यते ॥
उच्चैः प्रशस्तदिग्देशं बहुवातायनं महत् ।
महानसं सुसंमृष्टं विश्वास्यजनसेवितम् ॥
सद्वाःस्थाधिष्ठितद्वारं[2] कक्ष्यावत्सुवितानकम्[3] ।
सुधौतदृढकुम्भादि परिशुद्धजलेन्धनम् ॥
स्वकर्मकुशला दक्षाः सूदास्तत्राप्रमादिनः ।
कृत्तकेशनखाः पित्र्या राज्ञः कृत्यैरसंगताः ॥
तेषामधिपतिर्विप्रः कुलजः सुपरीक्षितः ।
संविभक्तश्च भक्तश्च शुचिर्वैद्यवशानुगः ॥
सर्वेऽपि भूभृदासन्नाः शस्ताः संततमीदृशाः ।
मिथोविग्रहसंघातरहिता भूभृते हिताः ॥
तान्वैद्यो गुणवानेको मनसा प्रतिजागृयात् ।
भूभृद्देहोपकरणसंरक्षणसमुद्यतः ॥

औषधालय का वर्णन—वैद्यराज का औषधालय ऐसा चाहिए कि जो पूर्व या उत्तर दिशा में सुरक्षित स्थान में हो और जिसमें यथास्थान घड़ियों, थैलों तथा बहु कोष्ठकवाले काष्ठ-फल कों में ओषधियाँ रक्खी हुइ हों।

रसोई घर का वर्णन—भोजनागार अर्थात् रसोई घर ऐसा चाहिए कि जो प्रशस्त दिशा एवं अच्छे उच्च स्थान में हो, जिसमें वायुसंचार के लिए बड़े बड़े बहुत से झरोखे ( गवाक्ष ) बने हुए हों, जो अच्छी तरह से लिपा-पोता हो, जिसमें विश्वास करने के योग्य सब जन ( सेवक या नौकर ) हों, जिसके द्वार पर द्वारपाल ( पहरेदार ) स्थित हो, जिसके अलग-अलग कोठों या विभागों के ऊपर के भागों में वितान ( चांदनी ) तनी हुई हो, जिसमें शुद्ध जलसे धुये हुए कलश ( घड़े ) आदि सब वर्तन हों, विशुद्ध जल एवं इंधन ( जलाने के काष्ठ ) हों, रसोई बनानेवाले सूद ( पाचक-रसोइये ) अपने कर्म में कुशल-चतुर और अप्रमादी ( फुर्तीवाले ) हों तथा उन रसोई बनानेवाले पाचकों के केश और नख कटे हुए हों, वे राजा से पिता की तरह प्रेम करनेवाले हों, वे 'राज्ञः कृत्यैरसंगताः, हों अर्थात् राजा के साथ क्रोध-लोभ और भय से कुटिलता करनेवालों के साथी न हों क्यों कि कुटिलों के साथी बन जाने से वे राजा के विपरीत

१. "कङ्कतकं तु प्रसाधनम्" इत्यमरमाला।
२. 'विषाभ्यासात्, इति पा०।

१. मूटफलक, इति पा०। २. 'सद्द्वाःस्था, इति पा०।
३. 'कक्ष्या गृह प्रकोष्ठे स्यात्, इति कोशः।

बर्ताव करके उसे क्षति पहुंचा सकते हैं। इन सब का अध्यक्ष अच्छी तरह परखा हुआ, कुलवान्, अलग रहते हुए भी राजा का भक्त, निर्मल और वैद्य की आज्ञानुसार काम करने वाला ब्राह्मण हो। राजा के पास रहनेवाले भी सब सज्जन हों, परस्पर में लड़ाई-झगड़ा करनेवाले न हों और राजा के निरन्तर भक्त हों-हितचिन्तक हों। इन सब को राजा के शरीर के लिए सब उपकरण (सामग्री) की रक्षा करने में तैयार ऐसा अकेला गुणवान् वैद्य मन से (सावधानतया) निरीक्षण करनेवाला-अपने बश में रखनेवाला हो।

वैद्य केवल राजा का ही रक्षण न करे अपितु उसके लिए लड़नेवाले योद्धाओं का भी चिकित्सादि करके संरक्षण करे। इसी लिए अब आचार्य उपदेश करते हैं कि—

अर्थाभ्यमित्र्यं[1] व्रजतो जिगीषो-
वैद्यः सुसज्जौषधशस्त्रयन्त्रः।
तुङ्गध्वजाख्यातनिवासभूमि-
र्युद्धागतं योधजनं चिकित्सेत्॥

वैद्य योद्धाओं की भी चिकित्सा करे—ऊंची ध्वजा कर के जिसकी निवासभूमि (घर) प्रख्यात है और जो अच्छी अच्छी ओषधियों एवं शस्त्रक्रिया के उपयोगी शल्यतन्त्रोक्त शस्त्रों तथा यन्त्रों से सुसज्जित है उस वैद्यराज को चाहिए कि वह राजा के विजय की कामना से उस के शत्रुओं के सामने जानेवाले युद्धागत अपने योधाओं की भी चिकित्सा करे। इतना ही नहीं, शत्रुओं के सामने जानेवाले राजा तथा उसकी सेना का निम्नलिखित विषयों में भी अपने चिकित्सा कौशल्य द्वारा रक्षण करे। यथा—

पन्थानमुदकं छायां भक्तं यवसमिन्धनम्।
दूषयन्त्यरयो यस्मात्तान्विद्याच्छोधयेत च॥
प्रस्थानं वा निवेशं वा नाविज्ञाय प्रयोजयेत्।
भूवारितृणकाष्ठाश्ममार्गोन्मार्गवनस्पतीन्[2][3]॥
विषेणोपहता भूमिः क्वचिद्दग्धेव लक्ष्यते।
प्रम्लानतृणगुल्मादि-मृतकीटसरी-सृपाः॥
विशीर्यन्ते खुरनखा दाहकण्डूरुजान्विताः।
छर्दिर्मूर्च्छा ज्वरो मोहः शिरोदुःखं च जायते॥
तत्र शोभाञ्जनान्मूलं सोमवल्लीमुशीरकम्।
मातुलुङ्गरसं हिङ्गु पाययेद्दधिमात्रया॥
मूत्राण्यजाविहस्तिभ्यो मांसानि रुधिराणि च।
सर्वगन्धैः समायोज्य पचेत्पक्वे च निक्षिपेत्॥
सोमराजीं सुनन्दाख्यां सरलां[4] गन्धनाकुलीम्।
चारटीं त्रायमाणां च प्रोक्षयेत्तेन तां भुवम्॥

विषदूषित मार्गादि से रक्षा—शत्रु पर चढ़ाई कर जानेवाले राजा और उसकी सेना के लिए उसके शत्रु राजा जिस मार्ग से जाना चाहता है वह मार्ग, उस मार्ग में आनेवाले जलाशय, गहरी वृक्षों की छाया, भोजन की चावल आदि सामग्री, घास, इन्धन इन सब को विषप्रयोग कर दूषित कर देते हैं, इस लिए भूमि, जल, घास, काष्ठ, पत्थर, मार्ग (जिस से राजा और उसकी सेना जाना चाहती है), उन्मार्ग (कपट से और कोई मार्ग स्थिर किया हो), वनस्पति इन सब की जांच न करते हुए वैद्य को चाहिए कि वह ऐसे मार्ग से राजा को न प्रस्थान करने दे और न कहीं वैसी जगह तम्बू या डेरा डालकर ठहरने दे।

विषदूषित भूमि की परीक्षा—विष से दूषित भूमि कहीं कहीं जली हुई सी दिखाई देती है, उस पर के तृण-गुल्म आदि कुम्हला जाते हैं, कीड़े, मकोड़े, सर्प, विच्छू आदि मरे हुए पड़े दिखाई देते हैं, उस भूमि पर चलने से प्राणियों के खुर, नख गिर पड़ते हैं और वे दाह, खाज, वमन, मूर्च्छा, ज्वर, बेहोशी से दुःखित होते हैं और उन के सिर में पीड़ा होती है।

विषदूषित भूमि के रोगों की चिकित्सा—विषदूषित भूमि से होनेवाले रोगों की शुद्धि के लिए सहँजन की जड़, गिलोय या वावची, खस, विजोरे का रस और हींग को पीस कर दही के साथ पिलावें।

विषदूषित भूमि की शुद्धि—पूर्वोक्त लक्षणोंवाली भूमि हो तो बकरी, भेड़ और हाथी का मूत्र, इनके मांस और रक्त इन सब में सुगन्धित द्रव्य सम मात्रा में मिलाकर पकावे और पक जाने पर उस में वावची, रास्ना, देवदारु, गन्धनाकुली (सर्पाक्षी-सर्प-गन्धा), पद्मचारिणी और त्रायमाण के चूर्ण को मिलाकर उस से भूमि का भली भांति प्रोक्षण करे। इस प्रकार विषदूषित भूमि की परीक्षा और उस के शमनोपाय को कहने के अनन्तर अब आचार्य विषदूषित जल की परीक्षा और उसकी शुद्धि का उपाय बताते हैं।

सविषं विरसं तोयं कवोष्णं राजिभिश्चितम्।
फेनिलं गुरु विच्छिन्नं खगैरनभिनन्दितम्॥
मृताकुलितमत्स्यं च स्पर्शाद्धृकशोफकण्डुकृत्[1]।
ओदनः साधितस्तेन भुक्तमात्रो विदह्यते[2]॥
पिदग्धः पच्यते कृच्छ्रात्पक्वो मूर्च्छा ज्वरप्रदः॥
दर्शयेत्सर्वतो नीलपीतलोहितकर्बुरम्[3]॥
तत्र शिग्र्वादिमगदं भूमिदोषोदितं पिबेत्॥
अजशृङ्गीं विशालाख्यां विषघ्नीमुत्तमारणीम्।
फणिज्जकं प्रतिविषां दग्ध्वा तद्भस्म गालयेत्॥
बहुशो गालितं तच्च पाचयेत्तत्र च क्षिपेत्।
कल्कयित्वा प्रतीवापं सरलां[4] रजनीद्वयम्॥
एलामुदीच्यं मञ्जिष्ठां सुनन्दां बाकुचीमपि।
पात्यन्ते बिन्दवस्तस्माद्यत्र तन्निर्विषी भवेत्॥
पाटलापारिभद्राश्च कर्णशम्याकशिग्रुकान्[5]।
कलशान्तर्गतान् दग्ध्वा प्रक्षिपेत्सविषेऽम्भसि॥

---

१. "यो गच्छत्यलं विद्विषतः प्रति। सोऽभ्यमित्र्योऽभ्यमित्रीयोऽप्यम्यमित्रीण इत्यपि॥" इत्यमरः
२. 'तद्विद्यात्' ३. 'मार्गान्मार्गं' ४. 'सरलं' इति च पाठान्तरम्।

१. कण्डुमत, २. 'भुक्तमात्रोऽपि' ३. कर्बुरलोहितम्, ४. सरलं। ५. सिध्रकान्, सिध्रकः सिन्दुवारः।

विषदूषित जल के लक्षण—विष से दूषित किया हुआ जल विरस ( स्वादरहित ), कवोष्ण ( कुछ उष्णताको लिए ), नाना रंग की लहरोंवाला, फेनयुक्त, भारी, विच्छिन्न, पक्षियों से त्याज्य, जिसमें मछलियाँ तलफती हों या मरी हुई हों, छूने पर पीडाकारक-सूजन और कण्डुकारक इन लक्षणों वाला होता है और उस जलसे तयार किए हुए भोजन के सेवन से दाह उत्पन्न होता है। वह विदग्ध अन्न बड़ी देर से पचता है तथा पचने पर मूर्च्छा और ज्वर को करता है। उस विषदूषित जलका रङ्ग चारों ओर से नीला, पीला, कबरा और लाल होता है।

विषदूषित जलका शोधन—विषदूषित जल की शुद्धि के लिए पहिले भूमिशुद्धि के लिए बताया हुआ शिग्रु आदि अगद पिलाना चाहिए या जलाशय में डालना चाहिए। इसके अतिरिक्त मेंढासिंगी, इन्द्रायन, गिलोय, उत्तमारणी ( उत्तरण ), सहुआ और अतीस को जलाकर राख करे। इस भस्म को जल में मिलाकर कई बार कपड़े से छानकर फिर इस प्रकार पकावे कि वह गाढ़ा हो जाय किन्तु आधा पकने के बाद इसमें देवदारु, हल्दी, इलायची, खस, मजीठ, सुनन्दा ( रास्ना ) और बावची को पीसकर मिलावे। इस बने हुए औषध को जल में मिलाकर इसकी बूंदें जहां भी टपकाई जावेंगी वह जगह, जल या जलाशय निर्विष होंगे। अथवा जल को शुद्ध करने के लिए पाटला, नीम, अश्वकर्ण, पलास, अमलतास और सहँजन ( इन्दुके पाठानुसार निर्गुण्डी-सम्हालू ) इन सब के पञ्चाङ्ग को एक बड़े में डालकर जलावे और इनकी बनी हुई राख को जल में डालना चाहिए। इससे जल शुद्ध होकर विषरहित हो जाता है।

अब विषदूषित वृक्षों की छाया के लक्षणों को और उनके शमनोपाय बताते हैं—

शीते घर्मो हिमश्चोष्णे मारुतो विषसंयुतः ।
भ्रममूर्च्छादिकारी च शिग्रवादिस्तत्र चेष्यते ॥
देवदारुनतानन्तामधुकाञ्जनगैरिकम् ।
वज्रकन्दं लतां लोध्रं विकिरेत् श्लक्ष्णचूर्णितम् ॥
वृक्षाग्रेषु पताकासु दूष्येषु सुमहत्सु च ।
सर्वतश्चूर्णसंपर्कान्निर्विषो जायतेऽनिलः ॥
विकृता भवति च्छाया पादपे विषदूषिते ।
निर्गन्धमतिगन्धं वा तत्पुष्पं हृच्छिरोरुजम् ॥
कुर्यात्फलपलाशादि कण्डूपाकातिसारकृत् ।
भूमिमुद्दिश्य यत्प्रोक्तं तत्सर्वं तत्र चेष्यते ॥

विषदूषित वायु के लक्षण और शान्ति—मार्ग, वृक्ष और पत्थर आदि में विष के प्रयोग करने से उस विष से युक्त होकर वायु दूषित हो जाता है। वह विषाक्त वायु शीतकाल में उष्ण और उष्णकाल में शीतस्पर्शवाला होता है अर्थात् वायु का स्पर्श विपरीत होता है। उस विषैले वायु से चक्कर आना, वेहोशी आदि अनेक रोग होते हैं। इनकी शान्ति के लिए जो पहले सहँजन का मूल आदि भूमिशोधनार्थ विधान कहा है वही करना चाहिए। इसके अतिरिक्त देवदारु, तगर, सारिवा, मुलेठी, अर्जुन वृक्ष, इन सब की छाल, गेरू, थूहर, प्रियंगु और लोध इन सबको समभाग में लेकर चूर्ण बनाकर विषदूषित बड़े बड़े वृक्षों, ध्वजाओं एवं सर्वत्र छिड़कने पर उस चूर्ण का संपर्क होते ही वायु निर्विष ( शुद्ध ) हो जाता है।

वृक्ष के विषदूषित होने से उसकी छाया में विकृति पैदा होती है, उसके पुष्प गन्धरहित या बहुत गन्धवाले होते हैं और उनके सूंघने से छाती ( हृदय ) और सिर में पीड़ा होती है। उस वृक्ष के फल और पत्र कण्डूपाक ( खुजली सूजन ) और अतीसार के करनेवाले होते हैं। इन सब की शान्ति के लिए जो उपाय भूमि के संशोधनार्थ कहे हैं, वे ही करने चाहिए।

शत्रु को मारने के लिए लोग कई दिन तक विष का अभ्यास कराकर विषकन्या तयार करते हैं। राजा को चाहिए कि वह उस प्रकार कन्याओं से भी बचता रहे। इस लिए कहते हैं कि—

न च कन्यामविदितां संस्पृशेदपरीक्षिताम् ।
विविधान्कुर्वते योगान् कुशलाः खलु मानवाः ॥
आजन्म विषसंयोगात्कन्या विषमयी कृता ।
स्पर्शोच्छ्वासादिभिर्हन्ति तस्यास्त्वेतत्परीक्षणम् ॥
तन्मस्तकस्य संस्पर्शान्म्लायेते पुष्पपल्लवौ ।
शय्यायां मत्कुणैर्वस्त्रे यूकाभिः स्नानवारिणा ॥
जन्तुभिर्म्रियते ज्ञात्वा तामेवं दूरतस्त्यजेत् ।

विषकन्या की परीक्षा—शत्रु पर चढ़ाई कर जानेवाले राजा को चाहिए कि वह विना जानी हुई और विना परीक्षा की हुई किसी कन्या से स्पर्शतक न करे क्यों कि चतुर लोग अनेक प्रकार के प्रयोग करके राजा को छलते हैं। उसी में का एक विषकन्यावाला प्रयोग है। जन्म से लेकर विष के संयोग कराने से कन्या विषमयी अर्थात् विषकन्या हो जाती है। उस कन्या के छूने से, श्वासोच्छ्वास से मनुष्य मर जाता है। उस विषकन्या की परीक्षा यह है कि उसके मस्तक, केश और हाथ से स्पर्श होते ही पुष्प और पत्र कुम्हला जाते हैं। उसकी शय्या में मत्कुण ( खटमल ) मर जाते हैं। उसके कपड़ों में जुंए मर जाती हैं और उस के स्नान किए हुए जल में मक्खियाँ आदि जीव मर जाते हैं। इस प्रकार से परीक्षा कर उस विषकन्या का दूर ही से त्याग करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त और भी उपदेश करते हैं कि—

नाप्रोक्षितं नाविदितं भिषजा नानवेक्षितम् ॥
नाप्राशितं च सूदाद्यैः कश्चिदप्याहरेन्नृपः ॥

राजा के लिए अप्रोक्षितादि अन्न का निषेध—राजा को चाहिए कि वह ऐसे अन्न का सेवन कदापि न करे जो मन्त्र या अगद के जल से प्रोक्षण न किया गया हो, जिसे वैद्य ने न देखा हो

---

१. तथाजश्शृङ्ग्यादीन् दग्ध्वा भस्मोदकेन संमिश्र्य गालयेत्, प[...] स्रावयेत्। बहुशश्च गालितं पचेदाघनीभावात्। ······प्रतीवापमर्धपक्वे देयम्, इतीन्दुः।

१. 'तद्धस्तकेशसंस्पर्शात्' इति च पाठान्तरम्।
२. 'स्नानवारिणि' इति पाठान्तरम्।

और जो पाचक ( रसोइया ) ने प्राशन न किया हो अर्थात् जिसे रसोइया ने न खाया हो।

"रसोइया के बिना खाए उस अन्न को राजा सेवन न करे" इस नियम का कारण यही प्रतीत होता है कि मित्र, बांधव आदि पाचक के संकटभय से भी विषदाता कदाचित् उस अन्न में विष प्रयुक्त नहीं कर सकता। सारांश, राजा की मृत्यु न होकर हमारे मित्र या बन्धु पाचक ( रसोइया ) की ही मृत्यु हो जायगी इस भय से विषदाता विष का प्रयोग नहीं करता।

अब आचार्य विषादिसर्वदोषघ्न सर्वार्थसिद्ध नामक अञ्जन का वर्णन करते हैं—

धन्यं सर्वार्थसिद्धाख्यं पापरक्षोविषापहम्।
परं चक्षुष्यमायुष्यं शत्रुघ्नं वक्ष्यतेऽञ्जनम्॥

अथ शुक्लपक्षे पुण्येऽहनि पुष्यपुनर्वसुहस्तचित्रा-मृगशिरःश्रवणरेवतीशतभिषक्प्राजापत्योत्तराणामन्यतमेन नक्षत्रेण योगमुपगते भगवत्यौषधिपतौ प्रशस्ते मुहूर्त्ते सिन्धुस्रोतःसमुत्थं स्निग्धं सप्रभं गन्धवर्णच्छेदैर्नीलोत्पलाभमञ्जनमाहरेत्। तस्याष्टौ भागाः। कनकरजतोम्दुंबराणामेकैको भागस्तत्सर्वं मूषायां प्रक्षिप्य बलिमङ्गलपूर्वकमग्निमुपसमाधाय खदिरकदरधवस्यन्दनानामन्यतमदारुभिर्गोमयैर्वा प्रज्वालयेत्। ततश्चार्यावलोकितेश्वरमार्यतारां ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रादित्यसोमवरुणवैश्वानरवायुविष्णुजनकभरद्वाजधन्वन्तरिसुश्रुतभव्यमुकन्या-स्कन्दच्यवनवैनतेयानन्याँश्च यथा विध्युक्तदेवताः सुमनोऽक्षतलाजस्वस्तिकसंयावनिरतुषयवसंस्कृतगुडघृतमिश्रपायसैरर्चयित्वा वृद्धवैद्यब्राह्मणांश्च शुक्लवाससो महतीभिर्दक्षिणाभिः पूजयित्वा तस्मिन्नग्नौ तदञ्जनं ध्मातं ध्मातमावर्त्य पृथक् पृथङ्निषेचयेद्गोशकृद्रसमूत्रघृतदधिक्षौद्रवसामज्जतैलमद्यसर्वगन्धाम्बुशर्करोदकेक्षुरसेषु तथा हरीतक्यामलकबिभीतककाश्मर्यमृद्वीकाशृङ्गाटककसेरुकोत्पलनलिनसौगन्धिकमृणालिकाक्वाथेषु तथा लावकपिञ्जलैणशशहरिणकुलीररसेषु तथा मधुकचन्दनकालानुसार्यनलदपद्मकोशीरमञ्जिष्ठानन्तागैरिककुङ्कुमोदकेषु। ततः शुक्लवाससि बध्वा द्वादशरात्रमान्तरिक्षेऽम्भसि वासयेत्। ततश्छायायां विशोष्य स्फटिकमुक्ताप्रवालकालानुसार्यप्रतीवापं पुनरपि बलिमङ्गलपूर्वकं महद्वाससा कन्यया दृषदि पेषयित्वा सुवर्णरजतताम्रशंखशैलद्विरदरदनगवलवैदूर्यस्फटिकमेषशृङ्गासनसारान्यतमघटितायामञ्जनिकायां निधापयेत्। अथ पुनरपि पूर्ववत्कृतस्वस्त्ययनं सावित्रेण कर्मणा सर्वविद्द्विजन्मा विधिवत्तदभिसंस्कुर्यात्। ततो गजस्कन्धमारोप्य पाण्डुरच्छत्रचामरबालव्यजनैरनुगतं तथा शंखदुन्दुभिस्वनैर्द्विजातिवरप्रयुक्तैश्च वेदवादमिश्रैः पुण्याहघोषैः कृतपुष्पोपहारं वैद्यगृहान्नायकगृहमनुप्रवेशयेत्। अनन्तरं च तेन विदेहाधिपोपदिष्टेन सर्वार्थेषु सिद्धेनाञ्जनेन यथोक्तानामेवाञ्जनभाजनद्रव्याणामन्यतमया शलाकया गोत्राह्मणपूजापूर्वकं शुचिः सनियमो भूत्वा धारणीमिमां विद्यामधीयानः पूतः पूर्वमक्षिदक्षिणमञ्जयेत्। नमश्चक्षुःपरिशोधनराजाय तथागतायार्हते सम्यक् संबुद्धाय। तद्यथा—ॐ चक्षुः प्रज्ञाचक्षुर्ज्ञानचक्षुर्विज्ञानचक्षुर्विशोधय स्वाहा। ततः परं तामेव धारणीमनुसंस्मरन् सायं प्रातः प्रत्यहमेतत्परमं पवित्रमारोग्यकरमूर्जस्करं सर्वविघ्नहरमञ्जनमश्विभ्यामिन्द्रस्य वृत्रबधाभ्युदितस्य प्राक् प्रकल्पितम्। तस्मादेतद्राज्ञां राजमहामात्राणां च महीं विजिगीषमाणानां ब्राह्मणानां च वेदाध्ययनमन्यद्वा महच्छास्त्रमवगाहमानानां प्रसन्नमना भिषक् प्रकल्पयेदिति।

सर्वार्थसिद्धाञ्जन की विधि—अब धन, सर्वसिद्धि और आयुष्य के बढ़ानेवाले, नेत्रों के लिए हित करनेवाले, पाप-राक्षस और विष के हरनेवाले, शत्रु का नाश करनेवाले ऐसे परम श्रेष्ठ सर्वार्थसिद्ध नामक अञ्जन को कहते हैं। शुक्ल पक्ष की द्वादशी, नवमी आदि किसी श्रेष्ठ तिथि में, पुष्य-पुनर्वसु-हस्त-चित्रा-मृगशीर्ष-श्रवण-रेवती-शततारका-रोहिणी-उत्तराफाल्गुनी-उत्तराषाढ़ा और उत्तराभाद्रपदा इन में से किसी भी शुभ नक्षत्र का योग भगवान् चन्द्रमा के साथ होने पर शुभ मुहूर्त्त में समुद्र के स्रोतों से उत्पन्न चिकना, चमकदार, गन्ध-वर्ण और पत्रों ( पत्तों ) से युक्त तथा नील कमल के रंगवाले अञ्जन अर्थात् सुर्मे को ग्रहण करे। इस सुर्मे के ८ भाग लेवे और सुवर्ण, रजत ( चांदी-रूपा ) तथा तांबा का एक एक भाग ले कर इन सब को एक मूषा ( घड़िया ) में डाल कर बलि-मङ्गल-पूर्वक अग्नि को लाकर खैर, कदर ( खदिरविशेष ), धव और तिनिश इन में से किसी एक के काष्ठ या गोमय अर्थात् गाय के गोबर के सूखे कण्डों से प्रज्वलित करे। इस के अनन्तर आर्यावलोकितेश्वर-आर्यतारा-ब्रह्मा-दक्ष-अश्विनीकुमार-रुद्र-इन्द्र आदित्य-सोम वरुण-अग्नि-वायु-विष्णु-जनक-भरद्वाज-धन्वन्तरि-सुश्रुत-भव्य सुकन्या ( सुन्दर कुमारिका ), स्कन्द-च्यवन-गरुड और अन्य देवताओं का पुष्प, अक्षत, लाजा-स्वस्तिक, संयाव ( हलुआ ), तुषरहित यवों से संस्कृत गुड और घृतमिश्रित दूध से यथाविधि पूजन कर, वृद्धों-ब्राह्मणों और वैद्यों को शुभ्र वस्त्र और महती दक्षिणा देकर उस पूर्वस्थापित एवं प्रज्वलित अग्नि में उस सुर्मे की मूस को रख धमा-धमाकर गलावे-द्रवित करे और गाय के गोबर का निचोड़ कर निकाला हुआ

१. 'सूदादीनां प्राशननियमो मित्रबान्धवादिव्यापत्तिभयात्कदाचिन्न ददाति विषम्' इतीन्दुः।
२. "शुल्वमौदुम्बरं रक्तं म्लेच्छास्यं ताम्रकंविदुः" इति हारावली।
३. 'स्यन्दनानामन्यतम' इति पा०। ४. 'चवन'
५. 'मावृत्य' ६. 'गवयशृङ्ग'

१. 'विषहर' २. 'भ्युद्यतस्य' इति पाठान्तराणि।

रस, गोमूत्र, गाय का घी और दही, शहद इन पञ्चामृत के द्रव्यों में अलग, अलग बुझावे-भावना दे। इसी प्रकार वसा, मज्जा, तेल, मद्य, सब प्रकार की सुगन्धित ओषधियों का जल, शर्करोदक (शरबत), ईख का रस इन में तपा तपा कर गला गला कर अलग अलग बुझावे तथा इसी प्रकार हरड़, बहेड़ा, आंवला, खम्भारी, द्राक्षा, सिंवाड़ा, कसेरू, कमोदिनी, कमल, सौगन्धिक (कमलविशेष) या तज-पत्रज-इलायची और कमल की नाल इन सब के काढ़ों में अलग अलग तपा तपा कर गला गला कर उस मूषा में के सुर्मा-सोना-चांदी-तांबा को बुझावे। इसी प्रकार लावा-तीतर-कृष्णमृग-खरगोश-लाल मृग-खेकड़ा इन सब के मांसरस में अलग अलग बुझावे। इसी प्रकार मुलेठी, चन्दन, तगर, जटामांसी, पद्माख, खस, मजीठ, सारिवा, गेरू, केसर इन सब के जलों में उस सुर्मे आदि को तपा तपा कर गला गला कर अलग अलग बुझावे। इस के अनन्तर शुद्ध श्वेत कपड़े में बांध कर बारह दिन तक आन्तरिक्ष जल (ऊपर से बरसते हुए अधर ग्रहण किए हुए जल या आकाश से बरसे हुए जल) में रक्खे। इसके अनन्तर उस सुर्मे या अञ्जन को छाया में सुखा कर उस में स्फटिक-मोती-मूंगा और तगर का प्रतीवाप दे अर्थात् ये द्रव्य उस में डाले। इस के बाद पुनः बलि-मङ्गल-पूर्वक जिस के वस्त्र अविच्छिन्न (फटे हुए नहीं) हों ऐसी कुमारिका कन्या के द्वारा खरल में पिसवाकर सुवर्ण, रजत, ताम्र, शंख, शिला, हाथीदांत, भैंसे का सींग, मूँगा, स्फटिक, मेंढे का शृङ्ग, विजयसार इन में से किसी एक से तयार की हुई अञ्जनिका (सुर्मादानी) में उस कन्याद्वारा वैद्य को चाहिए कि उस सुर्मे को रखावे। इस के अनन्तर फिर पूर्ववत् अथर्ववेद के अनुसार गायत्री जपनेवाले ब्राह्मण से स्वस्ति-वाचन कराकर उस सुर्मादानी को सुसंस्कृत करे। तत्पश्चात् उस सुर्मादानी को हाथी के स्कन्ध पर रख कर स्वच्छ छत्र किए हुए, चँवर-वालव्यजन डुलाते हुए, शंख-नगारे बजाते हुए, श्रेष्ठ द्विजातिकृत वेदमन्त्रों से पुण्याहवाचन का घोष करते हुए जिस पर पुष्पोपहार चढ़ा हुआ है उस सुर्मादानी को वैद्य के घर से नायक अर्थात् राजा या जिसने वह अञ्जन तयार करवाया है, उस के घर में प्रविष्ट करे। इस के बाद अञ्जन के लिए जिन जिन धातुओंद्वारा बनाई जाती है उनमें से किसी एक धातु से बनी हुई सलाई-द्वारा इस सर्वार्थसिद्ध करनेवाले अञ्जन को नियम एवं गो-ब्राह्मणपूजन-पूर्वक शुद्ध हो कर आगे कही हुई धारणी विद्या के "नमश्चक्षुः परिशोधनराजाय तथागतायार्हते सम्यक् संबुद्धाय ॐ चक्षुःप्रज्ञाचक्षुर्ज्ञानचक्षुर्विज्ञानचक्षुर्विशोधय स्वाहा" इस मन्त्र से जप करता हुआ पवित्र वैद्य प्रथम दाहिनी आंख में लगावे।

इसी प्रकार नित्यप्रति सायं, प्रातः धारणी विद्या को स्मरण करता हुआ इस परम पवित्र आरोग्य कर-ऊर्जस्कर-सर्वविष-विघ्ननाशक अंजन का सेवन करे। वृत्रासुरवध के लिए समुद्यत इन्द्र के अर्थ पहले ही अश्विनीकुमारों ने इस अञ्जन की कल्पना की है। इस लिए पृथ्वी को विजय करने की इच्छावाले राजाओं, राजाओं के अमात्यों, वेदाध्ययन एवं किसी महत् शास्त्र का अवगाहन करनेवाले ब्राह्मणों के लिए वैद्य को चाहिए कि वह प्रसन्न मन से इस अञ्जन की योजना करे।

भवन्ति चात्र[1]।

अथ योगाः प्रवक्ष्यन्ते बृहस्पतिकृताः शिवाः ।
यान् सेवमानो नृपतिः शत्रुभ्यो नैति वञ्चनाम्[2] ॥
बिल्वाढकीयवक्षारपाटलीबाह्लिकोषणाः ।
श्रीपर्णीशाल्मलीयुक्ता निःक्वाथप्रोक्षणं परम् ॥
सविषं प्रोक्षयेत्तेन सद्यो भवति निर्विषम् ।
यवसेन्धनपानीयवस्त्रशय्यासनोदनम् ॥
कवचाभरणच्छत्रवालव्यजनवेश्म च ।
सेलुपाटल्यतिविषाशिग्रुगोपीपुनर्नवम् ॥
समङ्गा विषमूलत्वक्कपित्थवृषशोणितम् ।
सहदन्तशठं तद्वत्प्रोक्षणं विषनाशनम् ॥
लाक्षा प्रियङ्गु मञ्जिष्ठासमङ्गालहरेणुकाः ।
सयष्ट्याह्वामधुयुता[3] बभ्रुपित्तेन कल्किताः ॥
निखनेद्गोविषाणस्थाः सप्तरात्रं महीतले ।
ततः कृत्वा मणिं हेम्ना बद्धं हस्तेन धारयेत् ॥
संस्पृष्टं सविषं तेन सद्यो भवति निर्विषम् ।
मनोह्वालशमीपुष्पत्वङ्निशाश्वेतसर्षपाः ॥
कपित्थकुष्ठमञ्जिष्ठाः पित्तेन श्लक्ष्णकल्किताः ।
शुनो गोः कपिलायाश्च सौमाख्योऽयं वरोऽगदः ॥
विषजित्परमं कार्यो मणिरत्र च[4] पूर्ववत् ।
मूषकाजरुहा वापि हस्ते बद्धा विषापहा ॥
हरेणुमांसीमञ्जिष्ठारजनीमधुकं मधु ।
अक्षत्वक् सुरसं लाक्षा श्वपित्तं पूर्ववन्मणिः ॥
वादित्राणि पताकाश्च पिष्टैरेभिश्च लेपितैः[5] ।
श्रुत्वा दृष्ट्वा समाघ्राय सद्योभवति निर्विषः ॥
त्र्यूषणं पञ्चलवणं मञ्जिष्ठां रजनीद्वयम् ।
सूक्ष्मैलां त्रिवृतां पत्रं विडङ्गानीन्द्रवारुणीम् ॥
मधुकं चेति सक्षौद्रं गोविषाणे निधापयेत् ।
तस्मादुष्णाम्बुना मात्रां प्राग्भक्तं योजयेत्तथा[6] ॥
विषं भुक्तं जरां याति निर्विषेऽपि न दोषकृत् ।
जतुसर्जरसोशीरसर्षपापत्रवालकैः ॥
सवेल्लारुष्करपुरैः कुसुमैरर्जुनस्य च ।
धूपो वासगृहे हन्ति विषं स्थावरजङ्गमम् ॥
न कीटाः सविषास्तत्र नोन्दुरा न सरीसृपाः ।
न कृत्याः कार्मणाद्याश्च[7] धूपोऽयं यत्र दह्यते ॥
शिखिपिच्छं बलाकास्थि सर्षपाश्चन्दनं घृतम् ।

१. 'चात्र श्लोकाः' इति च पाठः। २. 'पञ्चताम्' इति पाठान्तरम्।
३. 'यष्ट्याह्वमधुसंयुक्ता' इति पा०  ४. 'मणिरत्नं च' इति पा०
५. 'लेखिताः' इति पा०  ६. 'विनियोजयेत्' इति पा०
७. 'कर्षणाद्याश्च' इति पा०

धूपो विषघ्नः शयनवसनासनगेहगः ॥
विशालाव्योषमञ्जिष्ठायष्टीलवणपञ्चकम् ।
द्विनिशापत्रवेल्लैलात्रिवृच्चूर्णं समाक्षिकम् ॥
पूर्वोक्तं त्र्यूषणादिं च स्नानीये[1]ऽम्भसि योजयेत् ।
क्वाथोऽथवार्ककुसुमश्वेतापामार्गसर्षपैः ॥
सदध्याज्यः कृतो युक्तैः समाचीनाकुलीयकैः[2] ।
कल्को वा चन्दनक्षीरिपलाशद्रुमवल्कलैः ॥
मूर्वैलवालुसुरसनाकुलीतन्दुलीयकैः ।
क्वाथः सवेदि कार्येषु काकमाचीयुतैर्हितः[3] ॥
रोचनापत्रनेपालीकुङ्कुमैस्तिलकान्बहून् ।
विषैर्न बाध्यते स्याच्च नारी नरः नृपप्रियः ॥
चूर्णैर्हरिद्रामञ्जिष्ठाकिणिहीकणनिम्बजैः ।
दिग्धं निर्विषतामेति गात्रमित्याह गौतमः ॥

बृहस्पतिप्रोक्त विषनाशक प्रयोग—अब आचार्य बृहस्पति के निर्माण किए हुए ऐसे कुछ प्रयोगों का वर्णन करते हैं, जिनके सेवन करने से राजा आदि कोई भी शत्रुओं की ठगाई में नहीं आ सकता। अथवा वह शत्रुओंद्वारा नहीं मारा जा सकता।

विषनाशकप्रोक्षण—बेल, अरहर, जवाखार, पाटली, बाल्हीक[4] ( केसर या हींग ) काली मिरच, कायफल और सेम्हल इन सबको समभाग में लेकर काढ़ा बनावे और फिर उस काढ़े का निकाढ़ा ( निःक्वाथ ) तयार करे यह काढ़ा या निकाढ़ा विष का नाश करने में श्रेष्ठ प्रोक्षण है । विषयुक्त पदार्थ पर इसके छिड़कने से वह तुरन्त निर्विष हो जाता है। घास, इन्धन, वस्त्र, जल बिछौना, आसन, अन्न (भात आदि) कवच, आभरण ( अलंकार ) छत्र, चँवर, पंखा तथा घर इनके सविष होने पर छिड़काव करने से ये सब तुरन्त निर्विष हो जाते हैं। जिन वस्तुओं का काढ़ा बनाकर वस्त्र से छान लिया जाता है, परन्तु कषाय बनाने के बाद उन वस्तुओं को न फेक कर पुनरपि जल डाल कर काढ़ा बनाया जाता है । इसका नाम निकाढा ( निःक्वाथ ) कहते हैं। निकाढ़े का प्रयोग दक्षिण में विशेष किया जाता है।

ल्हिसौड़ा, पाडल, अतीस, सहँजन, अनन्तमूल, पुनर्नवा, मजीठ, विषमूलत्वक् ( वत्सनाभादि किसी जंगम विषके मूल की छाल ), कैथ, वृषशोणित ( बैल का रक्त या अडूसा, हिंगुल परन्तु यहां वृषभरक्त ही उचित प्रतीत होता है इसलिए कि अन्यान्य विषनाशक प्रयोगों में भी भिन्न भिन्न प्राणियों के पित्त आदि का उल्लेख दिखाई देता है। ) और जम्भीरी नींबू का प्रोक्षण भी विष का नाशक है ।

विषनाशक मणि का विधान—पीपल की लाख, प्रियंगु, मजीठ, समङ्गा ( लज्जालु-हाथाजोड़ी, ), हरताल, रेणुकाबीज, मुलेठी, इन सबको पीस शहद में मिलाकर नकुल (न्यौलिया-बभ्रु ) के पित्त से मर्दन करे और कल्क बनावे। इस कल्क को गाय के सींग में भरकर पृथ्वी में सात दिन तक गाड़ दे। इसके पश्चात् बाहर निकाल कर इसका मणि ( गोलाकार मणिवत् ) बनाकर उसे सोने में मँढ़ावे । इसके हाथ में धारण करने से विष नष्ट होता है। इतना ही नहीं, विषसहित वस्तु को इस मणिसहित हाथ का स्पर्श होते ही वह निर्विष हो जाती है ।

विषनाशक मणि की द्वितीय विधि—मैनसिल, हरताल, शमी के पुष्प और छाल, हल्दी, सफेद सरसों, कैथ, कूट और मजीठ इन सबको समान भाग में लेकर कुत्ते और कपिला गाय के पित्त ( गोरोचन ) के साथ मर्दन कर कल्क तयार करे। इस कल्क से भी पूर्ववत् मणि तयार करे । भावार्थ यह कि इस कल्क को भी पूर्ववत् गाय के सींग में भर कर पृथ्वी में सात दिन तक गाड़ देवे । फिर निकाल कर मणि तयार करे और सोने में मँढ़ाकर अपने हाथ में धारण करे तो उस हाथसे स्पर्श करनेवाला सब प्रकार के विष का नाशक होता है। इसका नाम सौम्य अगद है । यह विशेषतः विष का नाशक माना गया है ।

विषनाशिनी मूषिकाजरुहा बूटी का वर्णन—मूषिका अथवा अजरुहा इन दोनों बूटियों में से किसी एक को हाथ में बांधने से वह विषको दूर करती है। इन्दु का कथन है कि मूषिका नामक एक ओषधि है और कुछ लोगों के मतानुसार वह द्रावन्ती है। अजरुहा प्लक्षरुहा ( पाकर वृक्ष पर उगनेवाली एक बूटी) है। सुश्रुत के कल्पस्थान में भी इन बूटियों का वर्णन आया है परन्तु टीकाकार डल्हण महर्षि उशना के वचनों को उद्धृत कर कहते हैं कि "अजरुहा वह बूटी है जिसका कन्द श्वेतवर्णयुक्त, पिडिकावाला, तोड़ने पर सुर्मे की तरह काले रंग का होता है तथा ओषधि सूंघने, पीने और लेप करने से विष का नाश करती है। इसी के तुल्य गुणोंवाली मूषिका बूटी है और वह काले रंग की तथा लोमशा (रोमवाली) होती है।[1]

विषनाशक और भी मणिविधान—रेणुकाबीज, जटामांसी, मजीठ, हल्दी, मुलेठी, शहद, बहेड़े की छाल, तुलसी, लाख इन सबको कुत्ते के पित्त में मर्दन कर के, गाय के सींग में भर, भूमि में सात दिन तक गाड़कर निकाले और पूर्ववत् मणि बनाकर सोने में मँढावे और हाथ में धारण करे तो विष का नाश होता है। इन ओषधियों को पीस कर यदि वादित्रों ( नगारे आदि बाजों ) ध्वजा-पताकाओं पर लेप कर दे तो उन बाजों-ध्वजा-पताकाओं के सुनने, देखने और सूंघने आदि से भी तुरन्त विष का नाश हो जाता है।

विष को पचानेवाला चूर्ण- सौंठ, मिरच, पीपल, पांचों नमक ( सौवर्चल, सैन्धव, बिड़, औद्भिद और सामुद्र ), मजीठ हल्दी, दारुहल्दी, छोटी इलायची, निशोत, तेजपात, वायवि-

---

१. 'योऽयं स्नानीयेऽम्भसि भूपतेः' इति पा० २. 'कतकानाकुलीद्वयैः' इति पा० ३. 'बहून्' इति पा० ४. 'बाल्हीकं कुङ्कुमम्' इतीन्दुः । 'वाल्हीकं हिङ्गुरामठम्, इत्यमरः ।

१. 'मूषिका नामौषधिः । द्रवन्तीति केचित् । अजरुहा प्लक्षरुहा' इतीन्दुः, "मूषिकाजरुहा वापि हस्ते बद्धा तु भूपतेः । करोति निर्विषं सर्वमन्नं विषसमायुतम् । इति सुश्रुतकल्पस्थान अ० १) मूषिकेत्यादि-अजरुहालक्षणमुशनसा प्रोक्तम्-कन्दः श्वेतः सपिडिको भेदे चाञ्जनसन्निभः । गन्धलेपनपानैस्तु विषं जरयते नृणाम् ॥ दष्टानां विषपीतानां ये चान्ये विषमोहिताः । विषं जरयते तेषां तस्मादजरुहा स्मृता ॥ मूषिका लोमशा कृष्णा भवेत्सापि च तद्गुणा ॥" इति टीकाकारो डल्हणः ।

ढङ्ग, इन्द्रायन, मुलेटी इन सब के समान भाग चूर्ण को शहद में मिलाकर गाय के सींग में रक्खे। इसमें से चूर्ण की मात्रा उष्णोदक से भोजन के पहले सेवन करावे। इससे बाद में खाया जानेवाला अन्नसह विष भी पच जाता है। विष न खाया हुआ हो तो भी इस चूर्ण की मात्रा से किसी प्रकार की हानि नहीं होती।

विषनाशक धूपविधि - लाख, राल, खस, सरसों, पत्रज, नेत्रवाला, वायविडङ्ग, भिलावा, गूगल ( मतान्तर से बेल, भिलावा और यव ) और अर्जुन वृक्ष के पुष्प इनका धूप जिस घर में जलाया जाता है, वहां के स्थावर-जङ्गमादि सब विषों का नाश हो जाता है, उस घर में विषैले कीड़ों, मूषकों और सर्प, बिच्छू आदि का उपद्रव नहीं होता और न किसी का किया मन्त्र-यन्त्र-टोनाटोटका ही चल सकता है। इसी प्रकार मोरके पंख, बला का ( बगुले का एक भेद ) की अस्थि, सरसों, चन्दन और घृत का धूप जलाने से भी वह धूप शयन, वस्त्र, आसन और घर के विष का नाश करता है।

विषनाशक स्नान, जल-विधि—इन्द्रायन, सौंठ, मिरच, पीपल, मजीठ, मुलेठी, लवण पञ्चक ( सोंचर-सैंधा-विड़-खारी और समुद्र नमक ), दारुहल्दी, हल्दी, तेज-पात, वायविडङ्ग, इलायची और निशोत इन सब को पीस कपड़छान करे, फिर शहद के साथ मिला कर पहले कहा हुआ त्र्यूषणादि चूर्ण मिलावे फिर इस चूर्ण को स्नान करने के जल में डाले। अथवा—आक के पुष्प, श्वेत अपामार्ग, सरसों, मकोय, नाकुलीयक ( सर्पगन्धा ) इन सबका काढ़ा दही और घृत से संयुक्त कर स्नान करने के जल में मिलावे। अथवा—चन्दन, क्षीरिवृक्ष ( आक या बड़, पीपल, गूलर, पाकर आदि किन्तु यहां पूर्वकथनानुसार आक ही अभीष्ट है ) और पलाशके वक्कल, मूर्वा, नेत्रवाला, तुलसी, सर्पगन्धा, चौलाई का कल्क या कषाय बनाकर स्नानीयादि सभी प्रकारके जलमें प्रयुक्त करे। इस औषधि-संस्कृत जलमें स्नानादि करने पर विषका शमन हो जाता है।

विषनाशक तिलक—गोरोचन, तेजपान, मैनसिल, केसर इन सबको साथ में पीसकर ललाट में बहुत से तिलक लगाने से उसे विष की बाधा नहीं हो सकती और वह तिलक लगानेवाला नर, नारी और नरेश इन सब का प्रिय ( प्यारा ) होता है।

विषनाशक उबटन—हल्दी, मजीठ, अपामार्ग के बीज, नींब की निंबौरी इन सबको पीस शरीर पर लेप करने से सब शरीर निर्विष होता है, यह गौतम मुनिजीका कथन या आदेश है।

नस्यपानाञ्जनालेपैर्युञ्ज्यात्संजीवनादिकान्[१] ।
अगदान्विषजुष्टस्य तीक्ष्णानि वमनानि च ॥
पिप्पलीमधुकक्षौद्रशर्करेक्षुरसैः सह ।
द्विनिशापत्रवेल्लैलात्रिवृच्चूर्णं समाक्षिकम् ॥
विरेचनं सिरामोक्षं प्राप्तं विस्रावणं यदि ।
हृदयावरणं कार्यं प्रागेवं[१] हितमिच्छता[२] ॥
पिबेद्घृतमजेयाख्यममृतं चाप्यभुक्तवान्[२] ।
सर्पिः क्षौद्रं दधि क्षीरमन्ततः शीतलं जलम् ॥
सितामधुकपालिन्दीकल्कवन्मांसमिष्यते ।
गोधाहरिणबभ्रूणां सकणाशुण्ठि पार्षतम् ॥
सनागरं सातिविषं शिखिनः ससितोपलम् ।
सुशीलाः सघृताश्चैषां यथास्वं कल्पिता रसाः ॥
विषपीताय दद्याच्च शुद्धायोर्ध्वमधस्तथा ।
सूक्ष्मं ताम्ररजः काले सक्षौद्रं हृद्विशोधनम् ॥
शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत् ।
न सज्जते हेमपाङ्गे पद्मपत्रेऽम्बुवद्विषम् ॥
जायते विपुलं चायुर्गरेऽप्येष विधिः स्मृतः ।
इत्थं विषगरादिभ्यो रक्षेद्वैद्यो नरेश्वरम् ॥
स्यात्तदुच्छेदे उच्छेदः प्रजानां सर्वकर्मणाम् ।

विषको दूर करने के सर्वसामान्य उपाय—जिसने विष खा लिया हो उसके लिए वैद्य को चाहिए कि वह नस्य-पान-अञ्जन और लेपों की तथैव संजीवन आदि अगदों की योजना करे। तीक्ष्ण अर्थात् तेज वमन करावे। इस वमन के लिए पीपल, मुलेठी, शहद, शर्करा और ईख के रस की योजना करे। इसी प्रकार दारुहल्दी, हल्दी, पत्रज, वायविडङ्ग, इलायची और निशोत के चूर्ण को शहद में मिलाकर विरेचनार्थ देवे। रक्त निकालने की आवश्यकता हो तो सिरामोक्षण विधि से फस्त खुलवावे परन्तु रोगी या राजा का हित चाहनेवाले वैद्य को चाहिए कि वह सबसे प्रथम विषप्रतिषेधाध्याय में कहे हुए विधान के अनुसार हृदयावरण ( घृत के द्वारा हृदय को आवरण करने की क्रिया ) करे क्यों कि शरीर में जितनी सिरायें हैं वे सब हृदय से संलग्न हैं और इनके द्वारा दौड़ता हुआ सब विष हृदय में पहुँच जाता है किन्तु घृत से प्रतिछन्न ( ढके हुए ) हृदय को विष अति पीडा नहीं कर सकता। अभुक्तवान् ( भोजन न किया हुआ खाली पेट ) विषप्रतिषेधाध्याय में वर्णित अजेय-घृत तथा अमृत-घृत का पान करे। इसी प्रकार घृत, शहद, दही और दूध का पान करे। इनके अभाव में या अन्ततोगत्वा शीतल जल का पान करे। मिश्री, मुलेठी और पालिन्दी ( श्याम विधारा ) के कल्क के साथ गोह, हरिण और नकुल के मांस का सेवन कराना चाहिए। श्वेत विन्दुवाले हरिण का मांस पीपल के साथ या सोंठ के साथ, इसी प्रकार मोर का मांस सोंठ, अतीस और शर्करा के साथ सेवन करना चाहिए। इन पूर्वोक्त गोधा आदि के मांस-रस ( सीरुआ ) भी यथा योग्य ओषधियोंसे युक्त कर ठण्डे किए हुए घृत से मिश्रित कर पिलाना चाहिए।

१. 'संजीवनात्मकान्', इति पा० २. 'मुक्तस्य, इति पा०

१. 'प्रागेवामित्रमध्यताः' इति पाठान्तरम्। २. "हृदयावरणं घृतपानेन हृदयाच्छादनम्। हृदयस्य सर्वधातुमूलत्वादाहारमार्गत्वात् प्रधानमर्मत्वाच्च तस्मिन् विषघ्नघृतादिभिः प्रच्छादिते सति विषं सहसा नाति विसर्पति। उक्तं चालम्बायनेन—'याः सिराः सर्वगात्रेषु हृदये संप्रतिष्ठिताः। ताभिरस्य विषं सर्वं हृदयं संप्रधावति॥ घृतेन तु प्रतिच्छन्नं विषं नातिप्रपीडयेत्। निर्वाणजननं सर्पिः प्राणिनां प्राणवर्धनम्॥ इतीन्दुः।

समयानुसार विष पीनेवाले को वमन-विरेचनादि देकर उसके ऊर्ध्व और अधोभाग को शुद्ध करके हृदय को शोधन करनेवाले सूक्ष्म ताम्रचूर्ण का सेवन शहद के साथ करावे। इससे तीक्ष्ण वमन होकर हृदय के शुद्ध हो जाने पर एक शाण (चार माशे) सुवर्णचूर्ण का सेवन करावे क्योंकि सुवर्ण का पान करनेवाले के शरीर में कमलपत्र पर जैसे जल-बिन्दु फैल नहीं सकता ठीक उसी प्रकार विष फैल नहीं सकता। वह दीर्घायुवाला होता है। यही विधान गर (कृत्रिम विष) के विषय में करना चाहिए। वैद्य को चाहिये कि वह इन सब प्रकारों से गर और विष से राजा का रक्षण करे। अन्यथा राजा का रक्षण नहीं होने से प्रजा भी सुरक्षित नहीं रह सकती राजा के विनाश होते ही उसकी प्रजा के भी सभी कारोबारों का नाश हो जायगा।

आज्ञाधैर्यक्षमात्यागा मानुषत्वेऽप्यमानुषाः ।
यद्राज्ञः[1] कर्मभिस्तस्मादाराध्योऽसावातीन्द्रियैः ॥
यत्र साक्षान्नृपस्तत्र विज्ञातः प्रविशेद्भिषक् ।
न संमतोऽप्यनुचितं यानस्थानासनं भजेत् ॥
उचितं[2] पुरतो राज्ञस्तिष्ठेद्वाक्यं न चाक्षिपेत् ॥
अहीनकालं राजार्थं स्वार्थं प्रियहितैः सह । ।
देशे काले परार्थं च वदेद्धर्मार्थसंहितम् ॥
नानुशिष्यादपृच्छन्तं महदेतद्धि साहसम् ।
नाचरेदहितेनैनं मूलच्छेदकरं हि तत् ॥
अनुकूलं हितं वाच्यमहिताद्वारयेन्मिथः ।
उदारैः सान्त्वयन्वाक्यैर्दोषश्चेत्तदुपेक्षया ॥
तूष्णीं वा प्रतिवाक्ये स्याद्वर्जयेद्द्वेषसंकथाम् ।
विपश्चिदप्यचित्तज्ञो बालिशोऽपि तु भाववित ॥
अतिप्रियोऽपि द्वेष्योऽपि यात्याशु विपरीतताम् ।
निवेद्य राज्ञे कुर्वीत कार्याणि सुलघून्यपि ॥
न यायान्न चिरं तिष्ठेत्कोशस्थानावरोधयोः ।
स्वल्पेऽपि दर्शयेत्तुष्टिं लाभेऽनुद्धतमानसः ॥
मिथः कथनमन्येन कौलीनं द्वन्द्ववादिताम् ।
वस्त्रादि राज्ञः सदृशं राजलीलां च वर्जयेत् ॥
दत्तं यत्तु नृपेणैव तद्धार्यं तुष्टिवृद्धये ।
हसितव्ये स्मितं कुर्यात्प्रभोरेवानुवृत्तितः ॥
उच्यमानेऽवलम्बेत परमर्मणि मूकताम् ।
स्वमर्मणि तु बाधिर्य[3]धैर्यमाधुर्यसौष्टवम् ॥
अत्यायासेन नात्मानं कुर्यादतिसमुच्छ्रितम् ।
पातो यथा हि दुःखाय नोच्छ्रायः सुखकृत्तथा ॥

राजसेवकों को हितोपदेश—राजा भी मनुष्य है और हम भी मनुष्य हैं, यह भाव अपने मन में कदापि नहीं लाना चाहिए क्योंकि मनुष्य होते हुए भी आज्ञा, धैर्य, क्षमा और दान ये राजा के अमानुष कर्म हैं अर्थात् इन कर्मों को जैसे राजा कर सकता है वैसे अन्य मनुष्य नहीं कर सकते। इस लिए मन, वचन और कर्म से राजा की आराधना करनी चाहिए। राजा जहां प्रत्यक्ष बैठा हो तथापि वैद्य को चाहिए कि वह अपने आने की प्रथम सूचना देकर ही राजा के पास जाना चाहिए। प्रविष्ट होने पर संमत (पूजित) होते हुए भी वैद्य को अनुचित स्थान, वाहन और आसन पर नहीं बैठना चाहिए किन्तु राजा के सामने उचित आसन पर बैठना चाहिए। राजा की कही हुई बात पर आक्षेप नहीं करना चाहिये अर्थात् उसके अनुकूल बोलना चाहिए। जिसमें राजा का अर्थ हो ऐसी बात को भी उचित समय देखकर कहना चाहिए। जिसमें अपना स्वार्थ हो ऐसी बात को राजा के प्रिय तथा अपने चाहनेवालों को साथ में लेकर कहना चाहिए। जिसमें परमार्थ हो ऐसा धर्म और अर्थ से मिला हुआ वचन देश और काल की अनुकूलता का विचार कर कहना चाहिए। बिना पूछे राजा को धर्मार्थ-संहित बात भी नहीं कहनी चाहिए। अहिताचरण करते हुए राजा की सेवा कदापि नहीं करनी चाहिए क्यों कि यही महासाहस कहलाता है। न राजा को अहित करके—अहित को लेकर सेवन करना चाहिए क्यों कि अहिताचरण सेव्य और सेवक इन दोनों के मूलोच्छेदकारक है-दोनों का सत्यानाश करने वाला है। इस लिए राजा से जब जब मिले तब तब उसके अनुकूल एवं हित की बात ही करे। राजा को अहिताचरण करने से रोके। यदि राजा का दोष हो तो तत्काल कुछ भी न कहे परन्तु एकान्त में उदार वचनों द्वारा समझा बुझाकर उसको कहे। समझाने पर भी यदि राजा प्रति वाक्य (विपरीत उत्तर जैसी बात) कहे तो आप मौन रहे उस समय कुछ भी न कहे। राजा के पास बैठ कर द्वेष-कथा जिसमें वैर की वृद्धि हो, नहीं करनी चाहिए। राजा के मन के भाव को जान कर तदनुसार बर्ताव करना चाहिए क्यों कि राजाओं के चित्त की बात को न पहिचानने वाला अति प्रिय विद्वान् भी उनके लिए बहुत जल्दी अप्रिय हो जाता है और राजाओं के मनोभाव को जानने वाला अप्रिय मूर्ख ही क्यों न हो वह उनके लिए बहुत जल्दी प्रिय बन जाता है। चाहे लघु (छोटे) कार्य ही क्यों न हों, उन सबको राजा को निवेदन करके ही करने चाहिए। जहां राजा का कोष (खज़ाना) हो तथा अवरोध (पर्दानशीन रानियों का रनवास) हो जहां के लिए जाने की मनाही हो, वहां नहीं जाना चाहिए। यदि जाना ही पड़े तो वहां अधिक समय तक नहीं बैठना चाहिए। राजा द्वारा स्वल्प लाभ होने पर भी शान्त चित्त से उसमें सन्तोष प्रकट करना चाहिए। राजा के सामने परस्पर सम्वाद किसी की निन्दा, कुकर्म का कथन, द्वन्द्ववादिता (मैंने उसको यों कहा तब उसने मुझे यों कहा फिर मैंने उसे यों कहा इत्यादि बातें) नहीं करनी चाहिए। राजा के समान वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए और न राजलीला (राजा की नकल) भी करनी चाहिए। राजा की दी हुई वस्तु को ही उसके सन्तोषार्थ धारण करना चाहिए। यहां राजा की दी हुई वस्तु को ही अर्थात् 'दत्तं यत्तु नृपेणैव' इसमें के एव शब्द से ध्वनित होता है कि राजदारा (राजा की रानी) आदि की दी हुई वस्तु को नहीं धारण करना चाहिए। राजा के हँसने पर मालिक के अनुकरणार्थ अपने को मुस्कुराना चाहिए अपितु

१. 'यद्राजा कर्मभिस्तस्मादाराध्योऽसावतन्द्रितैः, इति पाठः।
२. उचिते, इति पा०। ३. 'बाधिर्यं धैर्यमाधुर्यसौष्टवम्, इति च पाठान्तरम्।

राजा ही की तरह नहीं हँसना चाहिए। राजा या और कोई परमर्म ( दूसरे के गुप्त दोषों ) का कथन करे तो अपने को मौन रहते हुए कुछ भी नहीं कहना चाहिए। अपने दोषों को सुन कर बाधिर्य-धैर्य-माधुर्य और सौष्टव को धारण करना चाहिए अर्थात् निज दोषों को सुनते ही अधीर नहीं होना चाहिए अपि तु बहरापन धारण करके अपनी मिष्टता तथा सौज्यन्य आदि स्थिर रखने चाहिए। अत्यन्त परिश्रम करके अपने को अति ऊँचा ( धन मानादि वाला ) बनाने की चेष्टा नहीं करना चाहिए क्यों कि अपना पतन जिस प्रकार दुःख के लिए होता है ठीक उसी प्रकार अपना उच्छ्राय ( अति ऊंचेपना ) भी सुख कारी नहीं होता। सारांश, "पतनान्ताः समुच्छ्रयाः" इस नीति से अति उच्चता भी पतन के लिए होती है।

आसन्नसेवा नृपतेः क्रीडा शस्त्राहिपावकैः ।
कौशलेनातिमहता विनीतैः सा निरुह्यते ॥
प्राप्य दुष्प्राप्यमैश्वर्यं बहुमानं च भूपतेः ।
यथोपभुञ्जीत चिरं तथा स्यादप्रमादवान् ॥
विदध्यात्परितः शय्यां रक्षामन्त्राभिमन्त्रितान् ।
रात्रौ सिद्धार्थकान् भूतिमक्षतैरन्वितां शुचिम् ॥
रक्षाशक्तिं तथोच्छीर्षे सयवाङ्कुरयावकाम् ।
सदूर्वं पूर्णकलशं सपुष्पफलपल्लवम् ॥
उपहारं च संध्यायां भुक्त्वा चान्ते निशासु च ।
एतत्स्वस्त्ययनं कर्म कर्त्तव्यं शुचिनाऽऽशु च ॥
आयुष्यं पौष्टिकं भूतविषकार्मणपाप्मजित् ॥
संक्षेप एष विषपालनसाधनाय
प्रोक्तस्तु विस्तरविधिः पुनरुत्तरेषु ।
आलोक्य सम्यगखिलं मतिपूर्वकारी
युञ्जीत तं परिकलय्य विकारचिह्नम् ॥
इति विषगररक्षोरक्षणायोपदेशं
भजति नरपतिर्यो नित्यमेवाप्रमत्तः ।
निजपुररिपुवृन्दैरप्रधृष्यो महात्मा
जनयति स जनानां क्षेमयोगौ चिराय ॥

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽष्टमोऽध्यायः ।

[1] राजसेवा में सावधानी—सदैव पास में रहकर राजा की सेवा करना मानो शस्त्र, सांप और अङ्गार के साथ खेलना है। सारांश, राजा के सन्निकट रहकर उसकी सेवा करना तलवार की धार पर चलना है, सांपों को खिलाना तथा अङ्गार के साथ खेलना है अतः विनीत पुरुषों को अति कुशलतापूर्वक ( होशियारी के साथ ) उसे निबाहना पड़ता है न कि सुखसे या लापरवाही से। राजा के दुष्प्राप ( बड़ी कठिनता से मिलने वाले ) बहुमान तथा ऐश्वर्य को पाकर उसे इस प्रकार से चिरकाल तक भोगना चाहिए कि जिसमें किसी प्रकार का प्रमाद न प्राप्त हो जाय।

राजस्वस्त्ययनकर्म—वैद्य का कर्त्तव्य है कि वह रात्रि में राजा के लिए शय्या की योजना करे और वह इस प्रकार की हो कि उसके चारों तरफ रक्षामन्त्रों से अभिमन्त्रित शुद्ध सरसों तथा अक्षतों से मिश्रित भस्म छिड़का हुआ रहे। सिरहाने की ओर यवाक्षतसहित रक्षाशक्ति ( रक्षार्थ देवी ) की तथैव दूर्वा, पुष्प, फल, पत्रसहित जलपूर्ण कलश की स्थापना करे। ये सब सन्ध्या ( रात्रि ) के भोजन के बाद करे। यही विधि रात्रि के अन्त में भी करे क्यों कि यह स्वस्त्ययन कर्म आयु और पुष्टिका देनेवाला, भूतबाधा, कृत्या ( शत्रुओं द्वारा होने वाले मन्त्र, तन्त्र, टोने-टोटके ) आदि पाप कर्मों से बचानेवाला है।

विषसे रक्षा करने की साधना के लिए यह संक्षेप में कहा गया है। इसी का विस्तारसहित वर्णन उत्तरतन्त्र में किया गया है। भली भांति सम्पूर्ण अवलोकन कर, बुद्धिपूर्वक विषविकार के लक्षणों को जांच कर इस विधि की योजना करनी चाहिए। इस प्रकार वर्णन किए हुए इस विष, गर और राक्षसों से बचने के उपदेश को नित्यप्रति प्रमादरहित हो कर जो राजा मानता है, वह महात्मा अपने नगर के शत्रुसमूह से क्षति को प्राप्त न होता हुआ अपनी प्रजा के योगक्षेम को चिरकाल तक सम्पन्न करता है।

इति वाग्भटाचार्यकृतेऽष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाख्याहिन्दीव्याख्यायामन्नपानरक्षाविधिनामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

## अथ नवमोऽध्यायः ।

अथातो विरुद्धान्नविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

विरुद्धान्नविज्ञानाध्याय—अन्न ही आहार में मुख्य है परन्तु यदि वही विरुद्धान्न रहा तो वह विष या गर की तरह मारनेवाला होता है अर्थात् विष की तरह तुरन्त मारनेवाला या गर की तरह कालान्तर से मारनेवाला या रोगों को उत्पन्न करनेवाला होता है। इस लिए विष गरादिरक्षोपदेश के अनन्तर अब आचार्य जिससे विरुद्ध अन्न का ज्ञान हो ऐसे अध्याय का व्याख्यान करेंगे जिस प्रकार से पहले आत्रेय आदि महर्षियों ने किया है।

ग्राम्यानूपौदकपिशितानि मधुगुडतिलपयोमाषमूलकबिसैर्विरुढधान्यैश्च नैकध्यमद्यात्। विशेषतः पयसा मत्स्यान् । उभयं ह्येतन्मधुररसविपाकत्वादभिष्यन्दि शीतोष्णवीर्यत्वात्परस्परं विरुद्धम् । तेष्वपि विशेषेण चिलिचिमः । स पुनः शकली लोहितनयनः सर्वतो लोहितराजिः प्रायो भूमौ विचरति । सोऽत्यभिष्यन्दितमत्वात्सुतरां व्याधीनुपजनयत्यामविषं च ।

१. 'निरुध्यते, इति च पाठः ।

१. "विरुद्धमपि चाहारं विद्याद्विषगरोपमम् ।" कस्यचिद्विरुद्धाहारस्य विषवत्सद्योमारकत्वात्कस्यचित् गरवत्कालान्तरनाशकत्वाद्रोगजनकत्वाच्चोपमानद्वयमुक्तम्, इति हेमाद्रिः । २. 'लोहितराजिर्लोहितप्रभाकरः' इत्यपि पाठः । ३. 'चरति' इति च पाठः ।

विरुद्धान्न के एक साथ खाने का निषेध—ग्राम में रहनेवाले, अनूप देश के उत्पन्न हुए तथा जल से पैदा होनेवाले प्राणियों के मांस, शहद, गुड़, तिल, दूध, उड़द, मूली, कमल की नाल और अङ्कुरित धान्यों के साथ मिलाकर नहीं खाने चाहिए। विशेषतः दूध और मछली साथ में नहीं खानी चाहिए क्योंकि ये दोनों ( दूध और मछली ) मधुररसविपाकवाले होने से अत्यन्त अभिष्यन्दि हैं और शीतोष्ण वीर्यवाले होने से परस्पर विरोधी हैं। इनमें भी चिलिचिम नामक मत्स्य विशेष विरोधी है। चिलिचिम मत्स्यों में भी लाल नेत्रोंवाला, सारे शरीर पर लाल रेखाओंवाला तथा प्रायः जलाशय के समीप की भूमिपर विचरने वाला शकली नाम का मत्स्य विशेष विरोधी है। वह अत्यन्त अभिष्यन्दी होने से अनेक व्याधियों को उत्पन्न करता और आम विष को पैदा करता है।

**सर्वं चाम्लं द्रवमद्रवं पयस्यैकध्यं विरुद्धम्। तत उत्तरं वा विरुद्धं फलं च। कङ्गुवरकमकुष्ठकुलत्थमाषनिष्पावाश्च। मूलकादि हरितकं भक्षयित्वा पयः सेव्यं कुष्ठाबाधभयात्। पौष्करं रोहिणीकं जातुकं वा शाकं सह मधुपयोभ्यां नाभ्यवहरेत्। ताभ्यां च सह कपोतान् सर्षपतैलभृष्टान्। तथा सर्षपतैलभृष्टानां मत्स्यवराहाणां मांसानि। बदराणि श्वाविद्वराहमांसानि चैकध्यम्। पित्तेनाममांसानि। दध्ना कुक्कुटं पृषतं च। कुसुम्भशाकेनौरभ्रम्। सौवीरकेण तिलशष्कुलीः। क्षीरेण लवणम्। मूलकेन माषसूपम्। नवनीतेन मूलशाकम्। उपोदकां मैरेयमार्द्वीकाभ्याम्। पीलूनि करीरैः। बिसैर्विरुढकानि। दध्ना माषसूपेन गुडेन मधुना घृतेन वा लकुचफलम्। दध्ना तक्रेण तालफलेन वा कदलीफलम्। पिप्पलीमरिचाभ्यां मधुना गुडेन वा काकमाचीम्। तामेव मत्स्यपचने शृङ्गवेरपचने वा भाजने सिद्धामन्यत्र वा सिद्धां रात्रिमुषिताम्। कांस्यभाजने दशरात्रोषितं सर्पिः। मद्यदधिमधुभल्लातकेषु चोष्णम्।**

परस्पर विरुद्धान्न—सभी प्रकार के अम्ल ( कांजी, इमली, करौन्दा, कैंथ आदि ) पदार्थ चाहे पतले हों चाहे गाढ़े ( और फल ) ये सब दूध के साथ मिलाकर खाने से विरुद्ध होते हैं। इन पदार्थों को आगे पीछे भी नहीं खाना चाहिये अर्थात् दूध पीने के पहले अम्ल पदार्थों का सेवन तथैव दूध पीने के बाद अम्ल पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार कंगु ( कंगुनी ) वरक ( तृणधान्य विशेष ), मोठ, वाल ( सेम की फली ), कुलथी, उड़द और मटर भी दूध के साथ मिलने से विरुद्ध होते हैं अतः इनको भी दूध के साथ में मिलाकर नहीं खाने चाहिए। ऐसे ही हरितक ( हरी ) मूली आदि खाकर ऊपर से दूध नहीं पीना चाहिए या दूध पीकर हरी मूली आदि नहीं खाना चाहिए क्योंकि इससे कोढ़ रोग हो जाने का भय होता है। वस्तुतः यह विरोध मूली आदि कच्चे शाकों के साथ दूध पीने का है किन्तु उबालकर घृत में भूनी हुई मूली आदि हरितकों के दो भेद हो जाते हैं यथा हरितकत्व और शाकत्व ( कच्चे और पक्के ) सारांश, दूध पीने का निषेध कच्चे के साथ समझना चाहिए न कि उबाले हुए घृत में भूनी हुई मूली आदि शाकों के लिए। इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थों के विरोध को भी बताते हैं। यथा—

कमल की नाल या मूल ( भिस या भे ), रोहिणीक, जातुक ( हींग आदि ) इनको शहद और दूध के साथ न खावे। इसी प्रकार शहद और दूध के साथ सरसों के तेल में भूने हुए कबूतर के मांस को भी न खावे। सरसों के तेल में भूने हुए मत्स्य, सेह और सूअर के मांस भी विरुद्ध होते हैं। बेर, सेह, वराह ( शूकर ) का मांस इनको एक में मिलाकर न खावे। इसी प्रकार कच्चे मांसें ( पकाने पर भी जो पूरे न पके हों ) बकरे आदि प्राणियों के पित्तों के साथ न खावे। चित्र-विचित्र मृग और कुक्कुर का मांस दही के साथ, कुसुम्भ ( करें ) शाक के साथ भेड़ का मांस, कांजी के साथ तिल की पूड़ी, दूध के साथ नमक, मूली के साथ उड़द की दाल, मक्खन के साथ किसी भी प्रकार का शाक, मैरेय और द्राक्षामद्य के साथ पोई का शाक; पीलू के साथ करीर ( कैर ), कमलमूल के साथ विरूढान्न (भिगोने पर अंकुर फूटे हुए मूँग, मौठ आदि धान्य) न खावे। दही, उड़द की दाल, गुड़, शहद और घृत इनमें से किसी एक के साथ बड़हर, दही-छाछ, ताड़ के फल इनमें से किसी एक के साथ केला, पीपल, स्याह मिर्च, शहद, गुड़ इनमें से किसी के साथ मकोय का सेवन न करे। उसी मकोय का सेवन ऐसी अवस्था में भी न करे जब कि वह मछली पकाए हुए या अदरख सोंठ के पकाए हुए वर्तन में पकाई गई हो और किसी भी वर्तन में पकाई हुई मकोय एक दिन की बासी हो तो भी न खावे। कांसा के वर्तन में रखा हुआ घी दस दिन तक खाये इसके बाद न खावे। मद्य, दही, शहद, भिलावा इनमें से किसी के साथ उष्ण पदार्थ न खावे।

**तक्रसिद्धः काम्पिल्लको विरुद्धः, अङ्गारशूल्यो भासः, सुराकृशरापायसाश्चैकध्यं विरुद्धाः। मधुसर्पिर्वसातैलोदकानि समधृतानि द्विशस्त्रिशः समस्तानि वा। मधुघृते वा दिव्योदकानुपाने। मधुपुष्करबीजं, पद्मोत्तरिकाशाकं शार्करो मैरेयो मधु च सहोपयुक्तं ( सर्वं विरुद्धं ) वातं चातिकोपयति। हारिद्रकसर्षपतैलभृष्टो विरुद्धः पित्तं चातिकोपयति। पायसो मन्थानुपानो**

१. पाठोऽयं नास्तीन्दुटीकापुस्तके। २. 'वल्लकुलत्थ, इति च पाठः। ३. 'शाकम्, इति पाठः। ४. अस्याग्रे मुद्रितमूलपुस्तके 'नाभ्यवहरेत्। वाभ्यां, इति पाठस्त्वसाधुरेव मात्यष्टाङ्गहृदयादर्शपाठात्। ५. 'कंसभाजने' इति च पाठः।

१. 'हरितकं मूलककुठेरकादि भुक्त्वा पयस्त्यजेत्, न पुनः शाकं मूलकादि स्निग्धस्विन्नं शाकसाधनेन साधितं भुक्त्वा क्षीरं न भक्षयेत्। एतस्मादेव च शापकादीनामुभयस्वरूपं वेद्यम्, हरितकत्वं शाकत्वं च, इत्यरुणः।

२. 'अपक्वान्यपरिपूर्णपाकानि मांसानि पित्तेन सह भुक्तानि विरुद्धानि, इतीन्दुः।

३. "कांस्यभाजने दशरात्रस्थितं घृतं नाभ्यवहरेत्। यावद्दशरात्रं तावन्न विरोधः, ततो विरोधः" इतीन्दुः

४. 'भिन्नांशे' इति पाठः। ५. पाठोऽयमिन्दुटीकापुस्तके नास्ति।

विरुद्धः श्लेष्माणं चातिकोपयति । उपोदका तिलकल्कसिद्धा हेतुरतिसारस्य । बलाका वारुण्या कुल्माषैश्च विरुद्धा । सैव वराहवसापरिभृष्टा सद्यो व्यापादयति । गोधालावतित्तिरिमयूरकपिञ्जलाश्चैरण्डदार्वग्निसिद्धा ऐरण्डतैलसंमूर्छिताः । हारीतमांसं हारिद्रशूलकावसक्तं हरिद्राग्निप्लुष्टं च । तदेव भस्मपांशुपरिध्वस्तं सक्षौद्रं च । तथा मत्स्यनिस्तलनसिद्धाः पिप्पल्यः । शीतोष्णं नवपुराणमामपक्वं च नैकध्यमद्यात् । सलिलाऽभ्यवगाहः सहसोष्णाभितप्तस्य त्वग्दृष्ट्योरुपघाताय तृष्णाभिवृद्धये च । तथैव च पयःपानं रक्तपित्ताय । शरीरेणायस्तस्य सहसाऽभ्यवहारश्छर्दिषे गुल्माय वा । वाचा त्वायस्तस्य स्वरसादाय । इत्यन्नपानद्रव्यविरोधैकदेशो बाहुल्येनोपयोगी कथितः । भेषजद्रव्याणां तु यथोपदेशमेव प्रयोगो न्याय्यतरः । तद्विरोधः पुनरतिप्रसंगभयान्नोक्तः । न च तद्विज्ञानमेकान्तभद्रकम् । अपि च—

अन्य भी विरुद्धाहार–विहार—तक्र ( छाछ ) में पकाया हुआ कमीला विरुद्ध होता है । भास पक्षी का मांस शूल द्वारा अंगार पर सिद्ध किया विरुद्ध होता है । मद्य, खिचड़ी और दूध ये एक साथ खाने से विरुद्ध होते हैं । समभाग में लिए हुए शहद, घृत, वसा ( चर्बी ), तेल और जल इनमें से दो दो या तीन तीन पदार्थ एक साथ मिलाकर खाने से विरुद्ध होते हैं और ये सब समभाग में मिलाए हुए भी विरुद्ध होते हैं । मधु और घृत ये समभाग में तो विरुद्ध होते ही हैं परन्तु भिन्नांश ( न्यूनाधिक भाग ) में भी आकाश से बरसे हुए जलके अनुपान से विरुद्ध हो जाते हैं । भावार्थ यह है कि मधु या घृत के सेवन के बाद आकाश से बरसा हुआ तालाब–नदी आदि का जल नहीं पीना चाहिए क्योंकि न्यूनाधिकप्र माण में एक साथ सेवन किए हुए मधु और घृत के अनन्तर दिव्य जलका पीना विरुद्ध होता है । शहद और कमलगट्टे एक साथ खाने में विरुद्ध हैं ।

प्रश्नोत्तरिका अर्थात् कुसुम्भ–करड़ का शाक शर्करामद्य–मैरेयमद्य और शहद के साथ सेवन करना निषिद्ध है क्योंकि यह वात को अत्यन्त कुपित करता है । हारिद्रक नाम का भूमि में उत्पन्न होनेवाला कन्द सरसों के तेल से भूना हुआ विरुद्ध होता है और वह पित्त को अत्यन्त कुपित करता है । दूध के साथ तयार किए हुए ओदन ( भात ) पर मन्थ का पीना विरुद्ध है और यह कफ को अत्यन्त कुपित करता है । उपोदका ( पोई का शाक ) तिलकल्क के साथ पकाया हुआ अतीसार का कारण होता है । बलाका पक्षी का मांस, मद्य और कुल्माष ( कांजी–कुलथी तथा आधे पके गेहूं चना आदि ) के साथ विरुद्ध होता है । इतना ही नहीं, बलाका–मांस, शूकर की वसा ( चर्बी ) के साथ भूना हुआ तुरन्त मारने वाला होता है । गोधा ( गोह ), लवा, तीतर, मोर और कपिञ्जल ( तीतरविशेष ) ये अण्डी के काष्ठ से पकाए हुए तथा एरण्डतेल में भूने हुए विरुद्ध हैं । हारीत ( हरियल पक्षी ) का मांस हारिद्रा ( दारुहल्दी ) के काष्ठ पर लपेट कर सेंका हुआ तथा दारुहल्दी के काष्ठ की अग्नि पर सिद्ध किया हुआ तुरन्त प्राणों को हरने वाला है । यही हारीत का मांस भस्म और धूल से युक्त शहद के साथ भी प्राणहारक होता है । इसी प्रकार जिसमें मछलियां तली गई हों उस अवशिष्ट रहे हुए तेल आदि में पकाई पीपल भी विरुद्ध होती है । शीतल और उष्ण, नवीन और पुराना, कच्चा और पका हुआ पदार्थ संयोग भी विरुद्ध होता है । भावार्थ यह है कि स्पर्श से या वीर्य से शीत और उष्ण पदार्थ को एक साथ मिलाकर न खावे, नये और पुराने चावल आदि अन्न एक साथ मिलाकर न खावे और न कच्चा और पक्का पदार्थ ही एक साथ मिलाकर खावे ।

अग्नि तथा कड़ी धूप से संतप्त शरीरवाले को चाहिए कि एकदम शीतल जल में घुस कर स्नान न करे क्योंकि इस प्रकार से सहसा अवगाहन करना चमड़ी और दृष्टि के लिए घातक होता है और इससे तृष्णा की अभिवृद्धि होती है । इसी प्रकार तपे हुए शरीर में दूध या ठण्डे जल का पीना रक्तपित्त को करनेवाला है । शरीर से परिश्रम करके थके हुए मनुष्य का एक दम भोजन कर लेना छर्दि ( वमन ) और गुल्म का कारण होता है । वाणी का परिश्रम अर्थात् व्याख्यानादि करके एक दम भोजन कर लेना स्वरसाद ( स्वरभङ्ग ) का कारण होता है ।

जो बहुत करके काम में आता है—उपयोगी है, वही इस प्रकार से यहां अन्नपान के द्रव्यों के विरोध का प्रदर्शन करनेवाला एक देशीय वर्णन किया गया है । ओषधि के काम में आनेवाले गुडूची आदि द्रव्यों का प्रयोग तो उसी प्रकार से करना न्याय्यतर है जैसे कि शास्त्रों में वर्णन किया गया है । उनके विरोध का वर्णन यहां अति विस्तार के भय से नहीं किया गया है क्योंकि उक्त द्रव्य विरुद्ध विज्ञान सर्वथा ठीक ही हैं, यह बात भी नहीं है । उदाहरणार्थ किसी शास्त्रीय प्रयोग में एक द्रव्य उसीमें वर्णित किसी द्रव्यसे विपरीत भी दिखाई दे तो वहां असमञ्जस में पड़कर ऊहापोह नहीं करना चाहिए क्यों कि ऊहापोह में पड़ने से वैद्य उस शास्त्रीय प्रयोग को तयार नहीं कर सकेगा अतः शास्त्र में जैसा उपदेश हो उसी प्रकार से प्रयोग को तयार करना चाहिए । इसी लिए कहा गया है ।

---

१. 'हारिद्रसीमिकावसक्तं' इत्यपि पाठः । २. 'स्नेहसिद्धाः' इति च पाठः । ३. 'प्रश्नोत्तरिका कुसुम्भः' इतीन्दुः । ४. 'हारिद्रो नाम भूप्रसवः कन्दरूपः' इतीन्दुः । ५. 'कुल्माषः काञ्जिके कुलत्थे च' इति राजनिघण्टुः । अर्धस्विन्नास्तु गोधूमा अन्येऽपि चणकादयः । कुल्माषा इति कथ्यन्ते, इति तन्त्रान्तरे ।

१. हारिद्रशूलकं दारुहरिद्राकाष्ठकृतं शूलम् । हरिद्राग्निना दारुहरिद्राकाष्ठाग्निना, इति हेमाद्रिः ।

२. सामान्येन स्पर्शेन वा वीर्येण वा शीतमुष्णं च सह नाद्यात् । तथा नवं पुराणं च शालिद्रव्यादि आमं पक्वं चाहारद्रव्यमित्येकशब्दार्थः इतीन्दुः ।

३. "यतस्तेषां विरोधे ज्ञाते संयोगकल्पनायां स्वस्वमतिर्भिषक् कदाचिन्मुह्यति यतोऽवश्यं केनचिदंशेन कश्चित्केनचिद्विरुध्यते अतः । एतच्च बुध्यमानो भिषक् शास्त्रान्वयिनमप्यूहं कर्तुं न शक्नोति । यत्र तु शास्त्रं बहुप्रविशति तथाविध ऊहः कार्य एव । तस्माद्यथोपदेशेन प्रयोगो न्याय्यतरः" इतीन्दुः ।

उत्क्लेश्य दोषान्न हरेद्द्रव्यं यत्तत्समासतः ।
विरुद्धं तद्धि धातूनां प्रत्यनीकतया स्थितम् ॥
बलिनां मिथो गुणानां विषमतया समतयाप्युभयथाऽपि ।
संस्कारादिवशादपि भवति निसर्गादपि विरोधः ॥
क्षीरं कुलत्थैः पनसेन मत्स्यैस्तप्तं दधि क्षौद्रघृते समांशे ।
वार्यूखरे रात्रिषु सक्तवश्च तोयान्तरास्ते यवकास्तथैव ॥
कुशाग्रीयधियामेतदुदाहरणमात्रकम् ।
उपनीतबलं विद्वान् सर्वत्र क्रमते यतः ॥

संक्षेप में विरुद्ध द्रव्य के लक्षणादि कथन—दोषों को उत्क्लेशित ( अपने स्थान से विचलित ) करके जो द्रव्य बाहर निकाल नहीं सकता अथवा वहीं दोषों के स्थानपर उनका शमन नहीं कर सकता और जो दोष एवं धातुओं का प्रतिपक्षी बनकर शरीर में स्थित रहता है, संक्षेप में उसी द्रव्य को विरुद्ध समझना चाहिए। विषमता, समता, विषमसमता, संस्कारादि और प्रकृति के कारण यह विरोध बलवान् गुणों या बलवान् गुणोंवाले द्रव्यों में ही परस्पर में होता है। संस्कारादिवशात् इसमें के आदि शब्द से मात्रा, देश, काल, संयोग और स्वभाव का भी ग्रहण किया गया है। अब क्रम से इनके उदाहरण देकर बताते हैं।

पारस्परिक विषमता से विरोध—जैसे कि "क्षीरं कुलत्थैः" दूध अपने बलवान् मधुर विपाक और शीतवीर्य गुणों से बलवान् अम्लविपाकी तथा उष्णवीर्य कुलत्थ से विरुद्ध है। यह विषमता या असमानतावाले बलवान् गुणोंके विरोध का उदाहरण है अर्थात् इसमें एक द्रव्य मधुरविपाकी शीतवीर्य है तो दूसरा अम्लविपाकी-उष्णवीर्य है। यही इन दोनों में विषमता या असमानता है।

समताविरोध—जैसे कि "क्षीरं पनसेन" अर्थात् दूध मधुरविपाकी और शीतवीर्य होते हुए भी अपने समान शीतवीर्य-मधुरविपाकी पनस ( कटहल ) से विरुद्ध है। यह बलवान् समान गुणों के पारस्परिक विरोध का उदाहरण है।

समविषमताविरोध—यथा "क्षीरं मत्स्यैः" अर्थात् दूध मछलियों से विरुद्ध है। यहाँ दूध मधुर-शीतवीर्य है और मत्स्य-मधुर-उष्णवीर्य है। दूध और मत्स्य दोनों मधुरविपाकी होने से दोनों में समानता है परन्तु दूध शीतवीर्य है और मत्स्य उष्णवीर्य है अतः यहाँ वीर्यमें दोनों की विषमता है। यह समविषमता के विरोध का उदाहरण है।

संस्कार विरोध—जैसे कि "तप्तं दधि" अर्थात् तपाने से दही विरुद्ध होता है। यह संस्कार विरोध का उदाहरण है।

मात्राविरोध—यथा "क्षौद्रघृते समांशे" अर्थात् शहद और घृत समान प्रमाण या मात्रा में लेने से विरुद्ध हो जाते हैं। यह मात्राविरोध का उदाहरण है।

देशविरोध--जैसे कि "वार्यूषरे" अर्थात् ऊपर भूमिस्थित जल विरुद्ध होता है। यह देशविरोध का उदाहरण है।

कालविरोध--जैसे कि "रात्रिषु सक्तवश्च" रात्रि में सत्तू विरुद्ध होता है। यह कालविरोध का उदाहरण है।

संयोगविरोध--यथा "ते तोयान्तराः" अर्थात् वही सत्तू जल के साथ पीना रात्रि में विरुद्ध है। यह संयोगविशेषविरोध का उदाहरण है।

स्वभावविरोध--यथा "यवकास्तथैव" अर्थात् केवल यवक ( जंगली धान्यविशेष ) विरुद्ध होते हैं। यह निसर्ग—प्रकृति या स्वभावविरोध का उदाहरण है।

अन्ततो गत्वा कुशाग्रबुद्धिवाले विद्वानों के लिए यह केवल उदाहरणमात्र कहा गया है क्योंकि सब प्रकार से पूर्ण विद्वान् के लिए विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं रहती है। विशेष विद्यासंपन्न विद्वान् अपनी बुद्धि से सब कुछ जान लेता है।

अब आचार्य विरुद्धाशन ( विरुद्ध भोजन ) से होनेवाले विकार तथा उनके शमनोपायविषय में कहते हैं—

विस्फोटशोफमदविद्रधिगुल्मयक्ष्म-
तेजोबलस्मृतिमतीन्द्रियचित्तनाशान् ।
कुर्याद्विरुद्धमशनं ज्वरमस्रपित्त-
मष्टौ गदांश्च महतो विषवच्च मृत्युम् ।
तेस्वाशु कुर्यात्संशुद्धिं शमं वा तद्विरोधिभिः ।
द्रव्यैस्तैरेव वा पूर्वं शरीरस्याभिसंस्कृतिम् ॥
व्यायामस्निग्धदीप्ताग्निवयस्थबलशालिनाम् ।
विरोध्यपि न पीडायै सात्म्यमल्पं च भोजनम् ॥
दोषादिवैपरीत्येन हरन्ती[१] रोगिणो रुजम् ।
ऐकध्यं दधिदुग्धादि योजना न विरुध्यते ॥
योगादिभेदाद्यद्वा[२] पथ्यानामप्यपथ्यता ।
तद्वदन्तरतस्तद्वद्विरोधोपि निवर्त्तते ॥

विरुद्ध आहार से होनेवाले रोग--जो मनुष्य परस्पर विरोधी द्रव्यों का आहार करता है इसी का नाम विरुद्धाशन या विरुद्ध आहार है और यह विरुद्ध आहार विस्फोटक, शोथ, मदात्यय, विद्रधि, गुल्म, क्षय, तेज-बल-स्मरणशक्ति-बुद्धि, मन और चित्त का नाश करता है। इतना ही नहीं, विरुद्धाहार ज्वर, रक्तपित्त, आठ महारोग अर्थात् वातव्याधि, अश्मरी ( पथरी ), कुष्ठ, प्रमेह, उदररोग, भगन्दर, अर्श ( बवासीर ) और संग्रहणी इन रोगों को करता है—विष के समान जो मृत्यु है, उसको करता है। भावार्थ यह है कि कभी कभी विरुद्धाहार विषूचिका आदि रोगों को उत्पन्न कर तुरन्त मारनेवाला होता है।

विरुद्ध आहारजन्य रोगों के शमनोपाय--विरुद्ध आहार से उत्पन्न हुए रोगों की अवस्था में कुपित दोषों की शुद्धि करना इष्ट है अर्थात् रोगी को वमन-विरेचनादि देकर दोषों का निर्हरण करना चाहिए। यदि रोगी वमन, विरेचनादि के योग्य न हो तो "शमो वा तद्विरोधिभिः" अर्थात् सेवन किये हुए विरुद्ध

---

१ "वसेन च" इति पाठः।
२. "वार्यूषरे" इति पाठः।
३. "यवकास्तथा च" इति पाठः।

१. 'हरते रोगिणां रुजम्' इति च पाठः। २. 'योगादिभेदाद्यद्वा' इति 'च' पाठः। ३. "वातव्याध्यश्मरीकुष्ठमेहोदरभगन्दराः। अर्शांसि ग्रहणीत्यष्टौ महारोगास्तु दुस्तराः॥" इति।

द्रव्यों के जो जो विरोधी द्रव्य हों उन्हें पेट में देकर दोषों का शमन कर डालना चाहिए। अथवा पहले ही से विरुद्धाशन के विरोधी द्रव्यों का सेवन कराकर शरीर की अभिसंस्कृति (संस्कार) कर डालना चाहिए ताकि व्याधि उत्पन्न ही न हो सके।

व्यायामादि से युक्त पुरुष के लिए विशेष- जो पुरुष व्यायाम करता है, जिसके लिए स्निग्ध एवं वृष्य आहार सात्म्य हो रहा है, जिसकी जठराग्नि प्रदीप्त है, जो जवान और बलवान् है, उसके लिए विरुद्ध अल्प भोजन सात्म्य होकर पीडाकारक नहीं होता। कहीं कहीं देखा गया है कि दोष, दूष्य, बल, काल आदि के विपरीत होने से विरुद्ध द्रव्य यथेच्छ सेवन करने पर रोगकारक न होकर रोगों के हरनेवाले होते हैं जैसे कि नित्यप्रति सेवन करने केकारण सात्म्य होकर दूध-दही की एक साथ योजना किसी के लिए विरुद्ध नहीं होती अपितु सुखकारक ही होती है। संयोगविशेष के कारण पथ्य पदार्थों की भी अपथ्यता दिखाई देती है। इसी प्रकार अपथ्य द्रव्य भी संयोगविशेष से पथ्यकारक हो जाते हैं। सारांश यह कि पथ्य-द्रव्य संयोगविशेषवशात् विरोधी हो जाते हैं और अपथ्यकारी द्रव्यों का संयोगविशेष से विरोध नष्ट हो जाता है अर्थात् वे पथ्यकारी बन जाते हैं।

यद्यपि कई दिनों तक सेवन करने से अपथ्य द्रव्य भी सात्म्य हो जाता है परन्तु वस्तुतः अपथ्य अपथ्य ही है अतः सात्म्यता को प्राप्त हुए अपथ्य को भी धीरे धीरे छोड़ देना चाहिए। अब आचार्य इसके क्रमको बताते हैं।

पादांशेन त्यजेत्सात्म्यमहितं हितमाचरेत्।
एकान्तरं ततश्चोर्ध्वं द्व्यन्तरं त्र्यन्तरं तथा ॥
क्रमेणानेन संत्यक्ता दोषाः संवर्धिता गुणाः।
प्रभवन्ति न पीडायै प्राप्नुवन्ति स्थिरात्मताम् ॥

सात्म्य अपथ्य को भी त्यागने का विधान--जिस अपथ्यकारी द्रव्य को अभ्यास द्वारा सात्म्य कर लिया गया है, उसे एकदम छोड़ नहीं सकते क्योंकि उसका एकदम छोड़ना हानिकारक होता है अतः उस अपथ्य को एक एक दिन, दो दो दिन या तीन तीन दिन के अन्तर से पादांश करके सहज में छोड़ने का विधान बताते हैं। सारांश यह है कि लगातार सेवन किए हुए अपथ्य का कुछ दिन चौथा भाग या सोलहवाँ भाग कम, करके सेवन करे। उस कम किए हुए चौथे या सोलहवें भाग की पूर्ति पथ्य या हितकारी द्रव्यों से करता जावे। इस प्रकार क्रम क्रम से अपथ्य पदार्थ को कम करते हुए तथैव पथ्य को बढ़ाते हुए अपथ्य का सर्वथा त्याग कर सकता है। चौथा भाग कम करने के क्रम से १६ दिन और सोलहवें भाग को कम करने के क्रम से ६३ दिन लगते हैं परन्तु चाहे जैसा दुर्व्यसन क्यों न हो, अवश्य इस अवधि में छूट जाता है।

अपथ्यत्यागविधि—पहले दिन अपथ्य तीन भाग और पथ्य एक भाग मिलाकर भोजन की पूर्ति करे। दूसरे दिन चारों भाग अपथ्य के ही सेवन करे। पुनः तीसरे दिन तीन भाग अपथ्य और एक भाग पथ्य, चौथे दिन दो भाग अपथ्य और दो भाग पथ्य के, पांचवें और छठे दिन तीन भाग अपथ्य और एक भाग पथ्य का, सातवें दिन दो भाग अपथ्य और दो भाग पथ्य के सेवन करे। आठवें दिन एक भाग अपथ्य और तीन भाग पथ्य के, नवमे दिन तथैव दशम और ग्यारहवें दिन दो भाग अपथ्य तथा दो ही भाग पथ्य के, बारहवें दिन एक भाग अपथ्य और तीन भाग पथ्य के सेवन करे। तेरहवें दिन चारों भाग पथ्य के, चौदहवें-पन्द्रहवें और सोलहवें दिन एक भाग अपथ्य तथा तीन भाग पथ्य के सेवन करे। सत्रहवें दिन चारों भाग पथ्य के सेवन करे। इसी प्रकार सोलहवें भागके त्याग की कल्पना कर लेनी चाहिए। इस विधि से क्रम क्रम से दोष (अपथ्य) के त्याग करने से दोषों के स्थान में गुणों की वृद्धि होने से दोष पीडा नहीं कर सकते और आत्मा में स्थिरता की प्राप्ति होती है।

त्रितयं चेदमुपष्टम्भनमाहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यं च। एभिर्युक्तियुक्तैरुपष्टब्धमुपस्तम्भैः शरीरं बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्तते यावदायुषः संस्कारः। तत्राहार उक्तो वक्ष्यते च।

शरीर के तीन उपस्तम्भ—आहार, स्वप्न (निद्रा) और ब्रह्मचर्य (स्त्रीसंगादि से बचकर वीर्य का संरक्षण) ये शरीर को धारण करनेवाले तीन उपस्तम्भ हैं। युक्तियुक्त इन तीनों उपस्तम्भों करके यह शरीर जबतक मनुष्य की आयु है, बल, वर्ण और पुष्टि से युक्त (नीरोग) रहता है। इन तीन उपस्तम्भों में से आहार का वर्णन आचुका है और कुछ आगे उत्तरतन्त्र के ज्वरादि अध्यायों में वर्णन किया जायगा। अब क्रमप्राप्त स्वप्न (निद्रा) का वर्णन करते हैं।—

लोकादिसर्गप्रभवा[1] तमोमूला तमोमयी।
बाहुल्यात्तमसो रात्रौ निद्रा प्रायेण जायते ॥
श्लेष्मावृतेषु स्रोतःसु श्रमादुपरतेषु च।
इन्द्रियेषु स्वकर्मभ्यो निद्रा विशति देहिनम् ॥
सर्वेन्द्रियव्युपरतौ मनोऽनुपरतं यदा।
विषयेभ्यस्तदा स्वप्नं नानारूपं प्रपश्यति ॥
निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम्।
वृषता क्लीबता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च ॥
अकालेऽतिप्रसंगाच्च न च निद्रा निषेविता।
सुखायुषी परा कुर्यात्कालरात्रिरिवापरा ॥
सैव युक्ता पुनर्युक्ते निद्रा देहं सुखायुषा।
योगाभियोगिनो बुद्धिर्निर्मला तपसा यथा ॥

निद्रा की उत्पत्ति आदि का वर्णन—निद्राकी उत्पत्ति लोकों के आदि सर्ग अर्थात् जगत् के उत्पत्तिकाल में हुई है और इसकी उत्पत्ति में मूलकारण तमोगुण है इसी लिए यह निद्रा तमोमूला कहलाती है, तमोगुण का निद्रा में प्राचुर्य होने से इसे तमोमयी भी कहते हैं। तमोगुण की अधिकता होने के कारण निद्रा की प्रवृत्ति प्रायः रात्रि में ही हुआ करती है। निद्रा दिन में भी प्रवृत्त होती है, इसी लिए यहां प्रायः शब्दका निर्देश किया गया है। निद्रा के आने में तमोगुण को लेकर कौन कौन से कारण होते हैं? इसी के उत्तर में कहते हैं कि आहाररस से बने हुए कफ से शरीरगत स्रोतों के रुक जाने से, ज्ञानेन्द्रियों

(१) 'कालादिसर्गप्रभवा' इत्यपि पाठः।

तथा कर्मेन्द्रियों के अपने अपने विषय के ग्रहण करने में असमर्थ हो जाने से तथा परिश्रम करने के बाद थककर इन्द्रियों के उपरति ( विश्रान्ति ) ग्रहण करने से मनुष्य के एवं शरीरधारी के शरीर में निद्रा प्रवेश करती है।

नाना प्रकार के स्वप्न दिखाई देने का कारण—उपरति अर्थात् विश्रान्ति के समय में जब इन्द्रियाँ अपने विषयों को छोड़ देती है परन्तु उन विषयों में मन के अनुपरत रहने से वह नाना प्रकार के स्वप्न देखता है। सारांश, नाना विषयों में संलग्न मन इन्द्रियों की तरह विश्रान्ति धारण नहीं करता है तभी वह नाना प्रकार के स्वप्न देखता है। इन्द्रियों की तरह मन भी विश्रान्ति धारण कर लेता है तब सोने की अवस्था में स्वप्नों की सृष्टि नहीं होती है।

नियमानुसार निद्रा की आवश्यकता—मनुष्य को चाहिए कि वह नियमानुसार निद्रा का सेवन करता रहे क्योंकि निद्रा के ही आधीन सुख-दुःख, पुष्टि-कृशता, बल-नैर्बल्य, पुरुषत्व-नपुंसकत्व, ज्ञान-अज्ञान तथा जीवन और मरण है। भावार्थ यह है कि नियमानुकूल सुख की नींद लेनेवाले को ही सुख, पुष्टि, बल, पुरुषत्व, ज्ञान और जीवन ( आयु ) की प्राप्ति होती है। विपरीत इसके जो यथानियम सुख की नींद नहीं लेता है, वही पुरुष दुःख, कृशता, निर्बलता, नपुंसकता, अज्ञान तथा मृत्यु को प्राप्त होता है।

दुष्ट निद्रा के दोष—अकाल अर्थात् जो समय निद्रा लेने का नहीं है उसमें निद्रा का सेवन करना या सोना, निद्रासेवन के समय में भी अधिक सोना और निद्रा का सेवन ही न करना ये तीनों सुख और आयु को इस प्रकार नष्ट करते हैं जिस प्रकार कालरात्रि मनुष्य को मार डालती है। भावार्थ यह है कि निद्रा का मिथ्यायोग, अति-योग और हीनयोग ये तीनों कालरात्रि की तरह सुख और आयु को नष्ट करनेवाले हैं। 'अकालेऽतिप्रसंगाच्च' इस वाक्य का यही भावार्थ इन्दु और अरुणदत्त को मान्य है। वे इसमें निद्रा के मिथ्या-योग, अतियोग और हीनयोग का वर्णन मानते हैं परन्तु हेमाद्रि इस में निद्रा के सम्यग्योग का भी वर्णन मानते हैं। अपने अर्थ की पुष्टि के लिए वे 'परा कुर्यात्' इस एक पद में 'परा कुर्यात्, ऐसा पदच्छेद कर के निद्रा के परा और अपरा ऐसे दो भेद करते हुए व्याख्या करते हैं कि—"अकाल में सेवन की हुई ( मिथ्यायोगवाली )" अतिप्रसङ्ग से सेवन की हुई ( अति-योगवाली ), बिल्कुल सेवन न की हुई ( हीनयोगवाली ) और निषेविता ( नियमानुसार सेवन की हुई सम्यक् योग वाली ) ये निद्रा के चार प्रकार हैं। इनमें से चौथी नियमानुसार सेवन की जानेवाली परा निद्रा सुख और आयु को करने वाली है, और अपरा (मिथ्यायोग-अतियोग-हीनयोगवाली) निद्रा कालरात्रि की तरह है अर्थात् वह सुख और आयु का नाश करनेवाली है।[1] इसी एक पद्य में वर्णित इन चार प्रकार की निद्राओं में हेमाद्रि संग्रहोक्त सात प्रकार की निद्राओं तथा निद्राजन्य सुखदुःखादि का अन्तर्भाव भी मानते हैं। इस एक ही पद्य में संग्रहोक्त इन सारी बातों का स्पष्टीकरण करके दिखानेवाला हेमाद्रि का यह व्याख्यान अष्टाङ्गहृदय के लिए अवश्य उपयुक्त माना जा सकता है क्यों कि अष्टाङ्गहृदय ग्रन्थ अष्टाङ्गसंग्रह का सार है। इस एक पद्य के अतिरिक्त अष्टाङ्गहृदय में और कोई पद्य ऐसा नहीं है जिस के द्वारा हेमाद्रिकृत यह संग्रहोक्त स्पष्टीकरण हो सके। सारांश यह कि यहां अष्टाङ्गसंग्रह में तो इस पद्य का अर्थ निद्रा के मिथ्या-अति-हीन योग के दोष का निदर्शक ही हो सकता है जो हमने ऊपर लिखा है। अष्टाङ्गहृदय की हेमाद्रिकृत व्याख्या के अनुसार निद्रा के सम्यक् योग के वर्णन का अन्तर्भाव इस पद्य में यहां नहीं किया जा सकता क्यों कि इसके पीछे का श्लोक निद्रा के सम्यग्योगफल का निदर्शक है और न इसमें सुखदुःखादि एवं निद्रा के सात प्रकारों का ही अन्तर्भाव मान सकते क्यों कि यहां इन सब का अलग अलग स्पष्ट वर्णन मिलता है।

विधियुक्त निद्रा के गुण—विधिवत् निद्रा के सेवन करने से वह ( निद्रा ) मनुष्य-शरीरको सुख और आयु से युक्त करती है अर्थात् विधिवत् निद्रा शरीरको सुखी, आयुष्मान् एवं ऐसा निर्मल ( निर्दोष ) बना देती है जैसे कि योगाभ्यासियों की तपस्या से बुद्धि निर्मल हो जाती है।

रात्रौ जागरणं रूक्षं स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा।
अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम् ॥
ग्रीष्मे वायुचयादानरौक्ष्यरात्र्यल्पभावतः।
दिवास्वप्नो हितोऽन्यस्मिन् कफपित्तकरो हि सः ॥
मुक्त्वातिभाष्ययानाध्वमद्यस्त्रीभारकर्मभिः।
क्रोधशोकभयैः क्लान्तान् श्वासहिध्मातिसारिणः॥
वृद्धबालाबलक्षीणक्षततृट्शूलपीडितान्।
अजीर्ण्यभिहतोन्मत्तान् दिवा स्वप्नोचितानपि ॥
धातुसाम्यं तथा ह्येषां श्लेष्मा चाङ्गानि पुष्यति।

रात्रिमें जागने तथा दिनमें सोनेका निषेध—रातमें जागरण करना रूक्षताको बढ़ाकर वायुको कुपित करता है तथा दिनमें सोना स्निग्धताको बढ़ाकर कफको कुपित करता है। इस लिए रात्रिमें जागना और दिनमें सोना निषिद्ध है परन्तु दिनमें बैठेबैठे निद्राका लेना न रूक्षताको और न अभिष्यन्द (स्निग्धता) को ही करता है। सारांश, दिनमें बैठे बैठे नींद लेनेसे न वायुका कोप होता और न कफका ही। कफका संचय तो दिनमें शय्या बिछाकर सोने से ही होता है।[1] इस प्रकार हेमाद्रिने खारणादि और भेड़के प्रमाणोंको बताते हुए वाग्भटके "अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम्" इस वचनकी भली भांति पुष्टि कर दी है।

ग्रीष्ममें दिनका सोना हितकारी—ग्रीष्म ऋतुमें वायुका

---

( १ ) 'अकाल इति। अकाले सेविता-मिथ्यायोगरूपा, अतिप्रसङ्गात्सेविता-अतियोगरूपा, न च सेविता-हीनयोगरूपा, निषेविता-नियतत्वेन सेविता सम्यग्योगरूपा चेति चतुर्धा निद्रा। तत्र परा-चतुर्थी निद्रा, सुखायुषी कुर्यात्। अपरा-त्रिविधा असम्यग्योगरूपा, कालरात्रिरिव-संहारप्रवृत्तमहाकालीव, सुखायुषी हन्यादित्यर्थः। इति हेमाद्रिः।

( १ ) "इन्द्रियातिश्रमाद्रूक्षो वातलो जागरो निशि। तदालस्याद्दिवा स्वप्नः स्निग्धः पित्तकफोल्बणः। आसीन-प्रचल-स्वप्नः निरभिष्यन्दिर्बृंहणः ॥" इति खारणादि। स्वप्नकामो दिवा काममुपविष्टः शयीत वा। प्रस्तीर्णाङ्गस्य जन्तोर्हि श्लेष्मा कोष्ठे प्रवर्तते ॥" इति भेडः।

संचय होनेसे, आदानकाल की रूक्षता और रातके छोटो होने से दिन में सोना हितकारी है परन्तु अन्य ऋतुओं में आगे बताए हुए प्राणियों को छोड़ कर दिन में सोना कफपित्तकारक होता है।

सब ऋतुओं में दिन में सोने का विधान—जिसने अतिभाषण किया हो अर्थात् जो व्याख्यान-प्रवचनादि करके थक गया हो, जो घोड़े आदिकी सवारी करके या मार्ग चलकर थक गया हो, जिसने मद्यपान किया हो, स्त्रीसङ्ग कर के या भार को उठा कर श्रम को प्राप्त हुआ हो, क्रोध-शोक और भयसे पीड़ित हो, जो श्वास, हिचकी और अतीसार रोग से पीडित हो, जो वृद्ध, बाल, निर्बल और क्षीण हो, जो उरःक्षत, तृष्णा, शूल और अजीर्ण रोग से पीडित हो, जिसने शस्त्र, लाठी आदि की मार खाई हो, जो उन्मादरोगी (पागल) हो और जिन को दिन में सोने का अभ्यास हो इन सब के लिए दिन में सोने का निषेध नहीं है इस लिए कि इनका कफ कुपित न होकर धातु-साम्य करनेवाला तथा इनके अङ्गों को पुष्ट करनेवाला होता है।

विशेष वक्तव्य—यहां "भुक्त्वातिभाष्ययानाध्व" आदि द्वारा जिनके लिए दिनमें स्वाप (सोने) का निषेध नहीं किया है किन्तु इसका भावार्थ वस्तुतः केवल मुहूर्त्तमात्र अर्थात् दो घड़ी तक सोने से ही है। इससे अधिक नहीं सोना चाहिए। यों तो दिनमें सोना कफकारक होने से वर्जित है परन्तु जिन को नित्य प्रति दिनमें सोने का अभ्यास हो गया है, उनको दिनमें अवश्य सोना ही चाहिए। क्यों कि उनके दिनमें न सोने से वातादि दोष कुपित होकर दुःखदायी होते हैं। यहां अजीर्ण रोगी के लिए भी दिन में सोने का विधान किया है परन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता। इस लिए कि दिन का सोना कफवृद्धिकारक है, कफ की वृद्धि से अग्निमान्द्य होता है और अग्निमान्द्य से अजीर्ण आहार का पाक नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में अजीर्णरोगी का दिन में सोना कैसे ठीक मान लिया जाय? इसका समाधान यह है कि दिन में सोने से अजीर्ण रोगी का धातुसाम्य होता है, धातु-साम्य होने से अपने स्थान में स्थित दोष अग्निमान्द्य न करके जठराग्नि को पाचनक्षम बनाते हैं। ऐसी अवस्था में बढ़ा हुआ कफ भी अग्निमान्द्य नहीं करता किन्तु अङ्गों को पुष्ट करता है। इस विवाद को मिटाने के लिए ही अन्त में शास्त्रकार ने स्पष्ट कर दिया है कि "इनका धातुसाम्य होकर कफ इनके अङ्गों की पुष्टि करता है।"

---

१. "क्षतः क्षतकासी, अभिहतः शस्त्रप्रहारादिपीडितः" इति हैमाद्रिः। "क्षतः शस्त्रादिच्छिन्नः, अभिहतो लगुडादिना" इत्यरुणः।

२. "प्रतिषिद्धेऽपि तु बालवृद्धस्त्रीकर्षितक्षतक्षीणमद्यनित्ययानवाहनाध्वकर्मपरिश्रान्तानामभुक्तवतां मेदःस्वेदकफरसरक्तक्षीणानामजीर्णिनां च मुहूर्त्तं दिवास्वपनमप्रतिषिद्धम्" इति सुश्रुतः।

३. "उचितो हि दिवास्वप्नो येषां नित्यं शरीरिणाम्। वातादयः प्रकुप्यन्ति तेषामस्वपतां दिवा॥" इति

४. ननु, अजीर्णिनां दिवास्वप्नो न युक्तः; दिवास्वप्नस्य कफवृद्धिकरत्वात्, कफवृद्ध्या चाग्निमान्द्यम्। अग्निमान्द्यादजीर्णान्नस्यापाकः। इत्युक्तस्तेषां दिवास्वप्नः। अत्रोच्यते–दिवास्वप्नेनाजीर्णिनां धातुसाम्यं भवति। धातुसाम्ये च सति स्वस्थानस्थितैर्दोषैरनुपहतो वह्निः पचनक्षमो भवति। कफस्तु वृद्धोऽपि नैतेषामग्निमान्द्यं विधत्ते। अपितु तदङ्गानां पुष्टिमादधाति। अत एवानन्तरमेवोवाच शास्त्रकारः–"धातुसाम्यं तथा ह्येषां श्लेष्मा चाङ्गानि पुष्यति" इत्यरुणदत्तः।

बहुमेदःकफाः स्वप्युः स्नेहनित्याश्च नाहनि।
विषार्त्तः कण्ठरोगी च नैव जातु निशास्वपि॥
हलीमकशिरोजाड्यस्तैमित्यगुरुगात्रताः।
ज्वरभ्रममतिभ्रंशस्रोतोरोधाग्निमन्दताः॥
शोफारोचकहृल्लासपीनसार्धावभेदकाः।
कण्डूरुक्कोठपिटकाकासतन्द्रागलामयाः॥
विषवेगप्रवृत्तिश्च भवेदहितनिद्रया।
अपच्यमानो बाहुल्यात्स्रोतांस्यावृणुते कफः॥
ततः स्रोतस्सु रुद्धेषु जायते गात्रगौरवम्।
गुरुगात्रस्य चालस्यमालस्यादतिनिद्रता॥
विरेकः कायशिरसोर्वमनं रक्तमोक्षणम्।
धूमक्षुत्तृड्व्यथाहर्षशोकमैथुनभीक्रुधः॥
चिन्तोत्कण्ठाऽसुखा शय्या सत्त्वौदार्यं तमोजयः।
रूक्षान्नं चाहितां निद्रां वारयन्ति प्रसङ्गिनीम्॥
एत एव च विज्ञेया निद्रानाशस्य हेतवः।
कालशीलक्षयो व्याधिर्वृद्धिश्चानिलपित्तयोः॥

पुरुषविशेष को दिन तथा रात्रि में भी सोने का निषेध—जिनके शरीर में मेद और कफ की अधिकता है उनको ग्रीष्म ऋतु में दिन में भी शयन नहीं करना चाहिए तथैव जो कण्ठरोगी हैं और विष से पीडित हैं उन्हें रात्रि में भी कदापि शयन नहीं करना चाहिए। इस लिए कि रात्रि में कफ की वृद्धि होकर उसका कण्ठ अवरुद्ध हो जायगा या कण्ठरोग भयङ्कर वृद्धि को प्राप्त कर लेगा। इसी प्रकार रात में सोने से विषरोग भी असाध्यता को धारण कर लेवेगा।

अकालशयन से होनेवाले रोग—बिना समय के सोने से अर्थात् जिस समय का सोना निषिद्ध बताया गया है उस समय में कदापि शयन नहीं करना चाहिए इस लिए कि अकाल के शयन से मनुष्य के शरीर में हलीमक, शिरोजाड्य (मस्तक का भारी रहना), स्तैमित्य (शरीर में ऐसा भास होना कि जैसे बदनपर गीला कपड़ा लपेटा हुआ है), शरीर में जड़ता, ज्वर, भ्रम (चक्कर आना), बुद्धि का नष्ट हो जाना, शारीरिक स्रोतों का कफ से रुक जाना, अग्निमान्द्य, सूजन, अरोचक, हृल्लास (उबकाइयों का आना), पीनस, आधा सीसी, कण्डू (खाज या खुजली), अंग अंग में पीड़ा, कोठ (चमड़ी पर लाली आदि लिए हुए मण्डलाकार धब्बे या दाग होना), फोड़े-फुन्सियां, खांसी, तन्द्रा और कण्ठ रोग ये रोग होते हैं तथा विष के वेग की प्रवृत्ति होती है अर्थात् विष का वेग अधिक बढ़ता है।

अतिनिद्रा के कारण और उनकी चिकित्सा—बढ़ा हुआ कफ न पचकर शारीरिक स्रोतों में व्याप्त होकर उन्हें रोक देता है। स्रोतों के रुक जाने से शरीर में जड़ता आती है-शरीर भारी हो जाता है। शरीर की जड़ता से आलस्य की प्रवृत्ति होती है

और आलस्य के कारण अतिनिद्रता होती है। इस अतिनिद्रा का नाश करने के लिए शरीर और सिर को विरेक देना अर्थात् विरेचन देकर शारीरिक दोषों का गुदमार्ग से अधः पात करना या शरीर से बाहर निकालना इसी प्रकार नस्यादि देकर मस्तिष्क में भरे हुए कफ को बाहर निकालना, रक्तमोक्षण कराना और इन उपायों के अतिरिक्त धूमपान कराना, भूखा और प्यासा रखना, पीडा देना, हर्ष-शोक-मैथुन-भय-क्रोध और चिन्ता की उत्कण्ठा में प्रवृत्त करना, जिस पर सोने से सुख न हो, ऐसी शय्या की योजना करना, मन की शुद्धि, तमोगुण को जीतना, रूखे अन्न का खिलाना ये सब प्रसंगोपात्त अहितनिद्रा का नाश करनेवाले हैं। इनसे वायु और पित्त की वृद्धि होकर कफ का नाश होता है।

निद्रानाश के कारण—उपर्युक्त अहित या अतिनिद्रानाश के जो उपाय बताए गए हैं इन्हीं को निद्रानाश के कारण समझना चाहिए। इनके अतिरिक्त काल, अभ्यास, रस-रक्तादि धातुओं की क्षीणता, रोग, वायु और पित्त की वृद्धि इन को भी निद्रानाशके हेतु जानना चाहिए। यथा काल—प्रभात में मनुष्य सोता हुआ जग ही जाता है। शील—किसी का किसी नियत समयपर जागने का अभ्यास होता है। क्षय-रसरक्तादि धातुओं के क्षीण होने से वायु और पित्त वृद्धि को प्राप्त होकर निद्रा नहीं लेने देते। रोग-रोग की पीड़ा सोने नहीं देती। वातपित्त की वृद्धि भी नींद नहीं आने देती अतः ये सब निद्रानाश के कारण हैं।

अब आचार्य निद्रानाश से होनेवाले रोगों एवं उनके शमनोपायों को कहते हैं—

निद्रानाशादङ्गमर्दशिरोगौरवजृम्भिकाः ।
जाड्यग्लानिभ्रमापक्तितन्द्रारोगाश्च वातजाः ॥
कफोऽल्पो वायुनोद्धूतो धमनीः संनिरुध्य तु ।
कुर्यात्संज्ञापहां तन्द्रां दारुणां मोहकारिणीम् ॥
उन्मीलितविनिर्भुग्ने परिवर्तिततारके ।
भवतस्तत्र नयने स्रुते लुलितपक्ष्मणी ॥
अर्धत्रिरात्रात्सा साध्या न सा साध्या ततः परम् ।
यथाकालमतो निद्रां रात्रौ सेवेत सात्म्यतः ॥
असात्म्याज्जागरादर्धं प्रातः स्वप्यादभुक्तवान् ।
शीलयेन्मन्दनिद्रस्तु क्षीरमिक्षुरसं रसान्[१] ॥
आनूपौदकमांसानां भक्ष्यान् गौडिकपैष्टिकान् ।
शालीन्मद्यानि माषांश्च कीलाटान्माहिषं दधि ॥
अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानमूर्द्धश्रवणपूरणम् ।
चक्षुषस्तर्पणं लेपं शिरसो वदनस्य च ॥
प्रवाते सुरभौ देशे सुखां शय्यां यथोचिते ।
संवाहनं स्पर्शसुखं चित्तज्ञैरनुजीविभिः ॥
सर्पिःक्षीरानुपानं च जीवनीयैः शृतं पिबेत् ।
कान्ताबाहुलताऽऽश्लेषो निर्वृतिः कृतकृत्यता ॥
मनोऽनुकूला विषयाः कामं निद्रा सुखप्रदाः ।

ब्रह्मचर्यरतेर्ग्राम्यसुखनिस्पृहचेतसः ॥
निद्रा संतोषतृप्तस्य स्वं कालं नातिवर्तते ।
एतान्येव च भूयिष्ठं निद्रालुः परिवर्जयेत् ॥
कालस्वभावामयचित्तदेह-
खेदैः कफागन्तुतमोभवा च ।
निद्रा बिभर्ति प्रथमा शरीरं
पापात्मिका व्याधिनिमित्तमन्त्या[१] ॥

निद्रानाश से होनेवाले रोग—मनुष्य को निद्रा न आने से अथवा जितनी निद्रा का सेवन करना चाहिए उतनी निद्रा न लेने से अङ्गमर्द (शरीर का टूटनाहड़फूटन), मस्तक की जड़ता (सिर का भारी रहना), जृम्भिका (जम्भाइयों का आना), जाड्य (बुद्धि का नष्ट हो जाना), ग्लानि, भ्रम (चक्कर आना), अपचन, तन्द्रा तथा वायु के आक्षेपादि अनेक रोग होते हैं। निद्रानाश होने से वायु की वृद्धि होकर वह कफ को शुष्क करता है। वायु के द्वारा सूखा हुआ वह अल्प कफ धमनियों में चिपटता और रुकावट पैदा करता है। इतना ही नहीं, धमनियों को रोक कर वह कफ संज्ञा को नष्ट करनेवाली, बेहोशी लानेवाली ऐसी दारुण तन्द्रा को करता है कि उस तन्द्रा की अवस्था में खुले हुए नेत्र फटे से हो जाते हैं, नेत्रों की पुतलियां फिर कर उलट जाती हैं, नेत्रों से पानी बहता और भौंहें भी टेढ़ी हो जाती हैं। यह दारुण तन्द्रा साढ़े तीन दिन तक साध्य रहती है परन्तु इसके अनन्तर असाध्य हो जाती है।

यथा समय निद्रा सेवन का उपदेश—निद्रानाश होने से जो जो विकार होते हैं वे सब ऊपर बता चुके हैं। अङ्गमर्दादि भयङ्कर तन्द्रा आदि रोग प्राणों के नाश करनेवाले हैं इस लिए मनुष्य को चाहिए कि वह जिस प्रकार सात्म्य हो रात्रि में निद्रा का सेवन करे। जागरण करना मनुष्यों के लिए असात्म्य है अतः जागरण जहां तक बने नहीं करना चाहिए। प्रसङ्गवशात् यदि जागरण हो ही जाय तो उसकी दोष-शान्ति के लिए जितने समय तक जागरण किया है उससे आधे समय तक प्रातःकाल भोजन के पहले नीहार पेट निद्रा का सेवन करना चाहिए।

निद्रानाश के शमनोपाय—जिसकी निद्रा कम हो गयी हो अथवा जिसे निद्रानाश रोग लग गया हो वह दूध, ईख का रस, अनूपदेश के पशु-पक्षियों तथैव जल में रहनेवाले मत्स्य आदि प्राणियों का मांस रस (सोरुवा) गुड़ और पिष्ट (चावल आदि के आंटे) से बने हुए भक्ष्य पदार्थ, भात (चावल), मद्य, माष (उड़द), किलाट (उष्ण किए हुए दूध में दही-नींबू आदि का अम्ल रस डाल कर बनाया हुआ चूसा जिसे हलवाई कलाकन्द आदि में डाला करते हैं। इसे अँगरेजी में Inspissated milk कहते हैं। यह गुरु, वातनाशक, पुरुषत्व और निद्रा को लानेवाला है)[२], भैंस का

१. 'रसम्' इति पा०।

१. 'पाप्मान्तगा व्याधिनिमित्तमन्या।' इति पाठान्तरम्।

२. "पक्वं दध्ना समं क्षीरं विज्ञेया दधिकूर्चिका। तक्रेण तक्रकूर्चा स्यात्तयोः पिण्डः किलाटकः॥ गुरुः किलाटोऽनिलहा पुंस्त्वनिद्राप्रदः स्मृतः॥" इति

दही, अभ्यङ्ग, उद्वर्तन ( उबटन ), स्नान, सिर में तेल लगाना, कान में तेल का डालना, आंखों का तर्पण ( छांटना ), सिर और मुख पर निद्रा लानेवाले लेप करना, समुचित सुगन्धित स्थान में जहां अच्छी हवा आती हो शय्या बिछा कर उस पर लेटना या सोना, अपने मन के अनुकूल चलनेवाले सेवकों द्वारा संवाहन ( अङ्गमर्दन-पगचप्पी ) आदि कराना जिस से सुख की प्राप्ति हो, जीवनीय गण[1] का काढ़ा अर्थात् जीवन्ती, काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवक, ऋषभक और मुलेठी का कषाय पीकर ऊपर से घृत मिश्रित दूध का पान करना, प्रिय स्त्री का मैथुन के अतिरिक्त आलिङ्गन करना, चिन्ता न करना, कृतकृत्यता ( सर्वथा संतुष्ट रहना ), अपने मन को प्रिय ऐसे विषयों में रहना इनका सेवन करे । ये सब सुख की नींद लानेवाले उपाय हैं। जो सदैव ब्रह्मचर्य में रत है, जिसका चित्त ग्राम्य सुख ( मैथुनसुख ) की इच्छा नहीं करता, जो सर्वदा संतुष्ट और तृप्त रहता है उसको समय पर निद्रा आ ही जाती है। ये उपर्युक्त सब उपाय जिसको निद्रा नहीं आती है, उसके लिए हैं अतः जो निद्रालु है, जिसे नींद अच्छी आती है उसको चाहिए कि वह इन कथित दुग्ध आदि का विशेष सेवन न करे।

निद्रा के सात प्रकार—निद्रा के निम्न लिखित सात प्रकार हैं।—

( १ ) कालस्वभावा—काल के स्वभावानुसार नित्य प्रति आनेवाली वह प्राकृतिक निद्रा है जिससे इस शरीर की धारणा होती है।

( २ ) आमयखेदप्रभवा—रोग के खेद-पीड़ा-परिश्रम से आनेवाली।

( ३ ) चित्तखेदप्रभवा—चित्त या मन के खेद या परिश्रम से आनेवाली।

( ४ ) देहखेदप्रभवा—शारीरिक परिश्रम के कारण आनेवाली।

( ५ ) कफप्रभवा—कफ, आम आदि के कारण आनेवाली।

( ६ ) आगन्तुकी—चोट, शस्त्रप्रहारादि से बेहोशी ( नष्ट संज्ञा ) के रूप में आनेवाली।

( ७ ) तमोभवा—तमोगुण बाहुल्य से आनेवाली।

इनमें से आदि और अन्त की ये दोनों निद्रा तारक और मारक हैं। पहली काल स्वभावा शरीर को धारण करनेवाली है और अन्त की सातवीं तमोभवा निद्रा पापात्मिका है, रोग की हेतुभूत है जो कि अन्त में प्राणी को मृत्यु की गोद में सुला देती है। बीच की रोग, चित्त तथा शरीर के खेद से आनेवाली, कफ से आनेवाली तथैव आगन्तुक ये पांचों निद्राएं भी रोगों की हेतु या कारणीभूत हैं।

इस प्रकार निद्रा ( स्वप्न ) और ब्रह्मचर्य का वर्णन हुआ। अब आचार्य अब्रह्मचर्य ( स्त्रीगमन ) के अनौचित्य और औचित्य का वर्णन करते हैं—

ग्राम्यधर्मप्रवृत्तौ तु रजस्वलामनिष्टाचारामशस्ताम-तिस्थूलामतिकृशां गर्भिणीं सूतिकामनुत्तानां विकृताङ्गीं गणिकामप्रजसं दुष्टयोनिमन्यस्त्रियं विशेषाच्च वयोव-र्णवृद्धां सगोत्रां गुरुमित्रबन्धुभृत्यपत्नीं वर्णिनीं तथा चैत्यचत्वरचतुष्पथोपवनश्मशानायतनसलिलौषधिद्वि-जगुरुसुरनृपालयेष्वहनि गोसर्गे मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे पर्वदिनेष्वनङ्गे पिपासुरप्रणीतसंकल्पो वा न गच्छेत्। विशेषेण चातिव्यवायितां गर्भिणीं नवप्रसूतामृतुमतीं संवृतयोनिं च न विपरीतव्यवाये योजयेत्। मूर्धादि-घातं च परिहरेत्। न च निषेकाभिमुखं शुक्रं धारयेत्। मनःशरीरस्थितिमात्रमेव सेवेद्व्यवायं न च तत्परः स्यादिति।

निषिद्ध मैथुन—ग्राम्यधर्म अर्थात् मैथुन में प्रवृत्त होनेवाले मनुष्य को चाहिए कि वह रजस्वला, अनिष्टाचारा ( दुराचा-रिणी ) अशस्ता (जन्म से ही हीन आकृतिवाली), अतिस्थूला, अतिकृशा ( अत्यन्त दुबली ), गर्भवती, सूतिका ( जो सूति-कावस्था में हो जिसे प्रसूति हुए डेढ़ महीना पूरा न हुआ हो )[1] अनुत्ताना ( उल्टी सोई हुई ), विकृताङ्गी ( जन्म से ही कुबडी आदि ), वेश्या, बन्ध्या, दुष्टयोनि ( उपदंशादि व्याधियों से जिसकी योनि दूषित हो ), अन्य योनि ( मनुष्ययोनि के अतिरिक्त पशु आदि योनि ) और अन्य स्त्री ( दूसरे की स्त्री ), इनसे संभोग न करे। विशेषतः अपने से वय और वर्ण ( ब्राह्मणादि ) में वृद्धा ( ऊंची ) या अधिक हो, सगोत्रा ( जो अपने गोत्रकी हो ), जो अपने गुरु-मित्र-भाई या भृत्य ( नौकर-सेवक ) की स्त्री हो, जो ब्रह्मचारिणी हो, इनसे भी संभोग न करे। चैत्य अर्थात् किसी मृतक की समाधि या नगर के बाहर का बड़ा वृक्ष, चत्वर ( अंगन ), चतुष्पथ ( चौहट्टा या जहां चार रस्ते मिलते हों ), उपवन ( बाग-बगीचा ), श्मशान ( मरघट ) की जगह का घर, जलाशय ( कूप-वापी-तालाब आदि ), ओषधिस्थान, ब्राह्मण-गुरु-देवता का गृह, वधस्थान, राजा का घर, इन स्थानों में स्त्री-संभोग न करे। इसी प्रकार दिन में, गोसर्ग ( रात्रि के अन्त में अर्थात् प्रभात में )[2] मध्याह्न तथा आधी रात में, ( अमा-वश्या-पूर्णिमा-व्यतीपात-वैधृत-ग्रहण आदि के दिन में ) स्त्रीसङ्ग, न करे। अनङ्ग[3] ( योनि नामक अङ्ग के अतिरिक्त हस्त, ऊरु आदि अन्य अङ्गों ) में मैथुन की चेष्टा न करे। जिस समय पिपासा ( प्यास ) लगी हुई हो अथवा अप्रणीत संकल्प ( बिना इच्छा[4] ) के भी स्त्रीसंभोग न करे। विशेष करके अतिव्यवायिता ( अति मैथुन में प्रवृत्त महाभोग शरीर वाली[5] स्त्री ), गर्भवती, तुरन्त की प्रसूत हुई स्त्री, ऋतुमती ( रजस्वला, परन्तु यहां "ऋतुमती" पाठ प्रामादिक प्रतीत होता

---

१. "जीवकर्षभकौ मेदा महामेदा काकोली क्षीरकाकोली मुद्ग-पर्णीमाषपर्ण्यौ जीवन्ती मधुकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्ति।" इति चरकः।

१. "सूतां—असंपूर्णाध्यर्द्धमासप्रसूतिम्।" इति हेमाद्रिः।

२. "प्रभाते गोसगोसर्गौ" इति हारावली। "गोसर्गे प्रत्यूषे" इति चक्रदत्तः।

३. "अनङ्ग योन्यभिधानादङ्गादन्यत् पाण्वूर्वादि" इतीन्दुः।

४. "अप्रणीतसंकल्पोऽनुत्पन्नतदिच्छः" इतीन्दुः।

५. "अतिव्यवायिता महाभोगशरीरा" इतीन्दुः

है। इसलिए कि इसी गद्य में पहले रजस्वलां पाठ आ चुका है। यहां "नवप्रसूतामृतुमतीं संवृतयोनिं च" इस पाठ के पूर्वापरसन्दर्भ को देखते टीकाकार इन्दु का कथन ही समुचित प्रतीत होता है क्योंकि संवृतयोनिविशेषण अनृतुमती वाला के लिए ही घटता है। इन्दुका कथन है कि "यहां असंजातर्तवा अनृतुमती बाला ही का ग्रहण करना अभीष्ट है। इन्दु कहता है कि कुछ लोग ऋतुमती ऐसा पाठ मानते हैं।" परन्तु यह इन्दुका मत नहीं है। सारांश यह है कि इन लक्षणोंवाली स्त्रियों से भी संभोग न करे। विशेषतः उक्त लक्षणोंवाली स्त्रियों की योजना विपरीतरति में न करे। हां, 'संवृतयोनिं' इसको विशेषण न माना जाय तो कदाचित् विपरीत रति-विषयमें ऋतुमती यह पाठ भी घट सकता है, न गद्य में आया हुआ "रजस्वलां" पाठ भी आपत्तिकारक हो सकता है और न यह ऋतुमती पाठ पुनरुक्त ही माना जा सकता है क्यों कि यह विषय विपरीत रति का है। ) भावार्थ यह है कि विशेषतः विपरीतरति में अतिमैथुनप्रिय महाभोग शरीरवाली स्त्री, रजस्वला या अनृतुमती-संवृतयोनि ( जिसकी योनि बरावर खुली न हो ) ऐसी बाला स्त्री, गर्भिणी, नवप्रसूता स्त्री को प्रयुक्त न करे। संभोगसमय में स्त्रीशरीर पर सिर आदि अङ्गों को न पटके, वीर्यस्राव होता हो तो उसको न रोके, जब तक मन में उत्सुकता और शारीरिक सामर्थ्य का अनुभव होता रहे तब तक ही मैथुन करे।

अब आचार्य मैथुनविधि के औचित्य को कहते हैं—

विस्रब्धहृष्टो रहसि तत्कामस्तरुणः पुमान् ।
समस्थिताङ्गः सुरभिर्मुक्तमूत्रादिरव्यथः ॥
नानाशितो नात्यशितो वृष्याणां तर्पितस्त्र्यहात्[१] ।
नारीं नारीगुणैर्युक्तां सहपूर्वगुणां व्रजेत् ॥
द्व्यहाद्वसन्तशरदोः पक्षाद्वृष्टिनिदाघयोः ।
सेवेत कामतः कामं हेमन्ते शिशिरे बली ॥
स्नानाङ्गरागव्यजनेन्दुपाद-
मांसासवक्षीररसान् रसालाम् ।
भक्ष्यान् सिताढ्यान् सलिलं सुशीतं
सेवेत निद्रां च रतान्ततान्तः ॥
स्त्रीसंसर्गाद्धि सद्यः स्या-
त्क्लीबता बलिनामपि ।
एवं त्वाप्यायते शीघ्रं तेषां शुक्रं च धाम च ॥
दृष्ट्यायुरोजःशुक्राणां क्षयं मेढ्राश्रयान्गदान्।
वायोः कोपमधर्मं च मूढः प्राप्नोत्यतोऽन्यथा ॥

उचित मैथुनविधि—स्त्रीगमनसे तीन दिन पहले जिसने वृष्य ( वीर्यवर्धक-पुष्टिकारक ) पदार्थों का उपभोग कर तृप्ति प्राप्त कर ली हो, जो भूखा न हो और अत्यधिक भोजन भी न किया हुआ हो, जो स्त्रीसंग की कामनावाला हो, तरुण हो, जिसे केलिक्रिया में हर्ष हो, मलमूत्रादिका जिसने विसर्जन कर लिया हो, जिसे किसी प्रकार की व्यथा या पीड़ा न हो, पुरुष को चाहिये कि वह वसन्त तथा शरद् ऋतुमें दो दो या तीन तीन दिन के अन्तर से, वर्षा तथा ग्रीष्म ऋतु में एक एक पक्ष अर्थात् पन्द्रह पन्द्रह दिन के अन्तर से और यदि बलवान् हो तो हेमन्त एवं शिशिर ऋतु में सुगन्धियुक्त होकर एकान्त में पूर्वोक्त स्त्री के संपूर्ण गुणों से युक्त स्त्री से समस्थिताङ्ग ( समतल पर अपने शरीर को स्थित कर ) यथेच्छ स्त्रीसंभोग करे।

मैथुन के अन्त में कर्तव्य—स्त्रीसंभोग के अनन्तर तान्त अर्थात् क्लान्त ( थके हुए ) मनुष्यको चाहिए कि वह स्नान, अङ्गलेपन, पंखे की हवा, चन्द्रमा की किरणें, मांसरस, आसव, दूध, मांस, रसाला नामक तैयार किया हुआ पेय पदार्थ मिश्री से मिश्रित भक्ष्य ( भोजन के पदार्थ ), शीतल जल और निद्रा का सेवन करे क्यों कि स्त्रीसंसर्ग से बलवानों तक में बहुत जल्दी क्लीबता ( नपुंसकता ) आ जाती है परन्तु उपर्युक्त पदार्थों के सेवन से उन स्त्रीसंसर्गी मनुष्यों में शीघ्र ही पुनरपि शुक्र ( वीर्य ) एवं धाम ( तेज ) की वृद्धि होती है। निरन्तर स्त्रीसंभोग करने से तथा उपर्युक्त साधन के करने से मूढ मनुष्य दृष्टि, आयु, ओज और वीर्य के क्षय तथैव मेढ्र (लिङ्गेन्द्रिय) के आश्रय में रहनेवाले उपदंश-प्रमेहादि रोगों, वायु के प्रकोप एवं अधर्म को प्राप्त होकर दुःखी हो जाता है।

अब आचार्य स्त्रीसंभोग के समय जिनका पहले निषेध प्रदर्शित किया गया है अब उनके अवगुणों का वर्णन करते हैं-

उत्तानो वेगरोधी वा वृद्धिमेहाश्मशर्कराः ।
तिमिरादिगदोत्पत्तिं मूर्धाद्याहननाद्ध्रुवम् ॥
भ्रमक्लमोरुदौर्बल्यबलधात्विन्द्रियक्षयाः ।
अपर्वमरणं च स्याद्विशेषेणातिमैथुनात् ॥
न चर्ते षोडशाद्वर्षात्सप्ततेः परतो न च[१] ।
आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्तुमर्हति[२] ॥
अतिबालो ह्यसंपूर्णसर्वधातुः स्त्रियं व्रजेत् ।
उपतप्येत सहसा तडागमिव काजलम्[३] ॥
शुष्कं रूक्षं यथा काष्ठं जन्तुजग्धं विजर्जरम् ।
स्पृष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्धस्त्रियं व्रजन् ॥

विपरीतरति आदि के दोष—उत्तान अर्थात् चित्त लेट कर विपरीत मैथुन के करने तथैव होते हुए वीर्यस्राव के रोकने से मनुष्य अण्डवृद्धि या अन्त्रवृद्धि, प्रमेह, पथरी या अश्मरी रोग को प्राप्त होता है। मस्तक, छाती आदि के हनन ( पटकने ) से तिमिरादि ( तिमिर-आंखोंके सामने अंधियारी आना, हृदय शूल आदि ) रोग होते हैं। अतिमैथुन से भ्रम (चक्कर आना), क्लम ( ग्लानि ), हृदयदौर्बल्य, बल-वीर्य और इन्द्रिय ( मन आदि ) का नाश होता है। इतना ही नहीं, अकाल मृत्यु तक हो जाता है।

१. "अत्रानृतुमत्यसंजातार्तवा बाला। ऋतुमतीमिति केचित् पठन्ति।" इतीन्दुः
२. "त्र्यहम्" इति पाठान्तरम्।
३. "द्व्यहाद्वसन्ते तस्यान्ते पक्षात्तद्वद्घनोदये। सेवेत सेवतः···" इत्यपि पाठान्तरम्।

१. "न चोनषोडशाद्वर्षात्" इत्यपि पाठः।
२. "गन्तुमर्हति" इति पाठान्तरम्।
३. "तटाकमिव काजलम्" इत्यपि पाठः।

बाल और वृद्ध को मैथुन का निषेध -आयुष्य को चाहनेवाले मनुष्य को चाहिए कि वह १६ वर्ष की अवस्था से पहले और ७० वर्ष की अवस्था के अनन्तर स्त्रियों से संभोग न करे। सारांश यह कि स्त्रीसंभोग नाशकारी होने के कारण उपर्युक्त अवस्थाओं में मनुष्य स्त्रीसंभोग नहीं कर सकता क्यों कि १६ वर्ष की आयु तक मनुष्य अतिबाल होता है। उसके रस, रक्तादि सातों धातु असंपूर्ण रहते हैं अर्थात् पूरे नहीं बनते, अपि तु कच्चे रहते हैं। ऐसी अवस्था में स्त्रीसंभोग करके मनुष्य इस प्रकार सूख जाता है जैसे कि काजल (थोड़े जलवाला तालाब) सूर्य के द्वारा सन्तप्त होकर सूख जाता है। भावार्थ यह है कि १६ वर्ष तक मनुष्य उत्तरोत्तर पुष्ट होता है--उसकी रस-रक्तादि सातों धातुएं पक्की होती हैं परन्तु स्त्रीसम्भोग के कारण यह न होकर वह दिनप्रतिदिन उपतप्येत (सूखता जाता है) या संतापको प्राप्त होता है। इसी प्रकार ७० वर्ष के अनन्तर मैथुन करके वृद्ध मनुष्य भी ऐसा सारहीन हो जाता है जैसे कि सूखी-रूखी-घुन लगी हुई पोली लकड़ी छूते ही तुरन्त बिखर जाती है। इस लिए मनुष्यको सर्वथा वीर्यका संरक्षण करना चाहिए। शास्त्रकार आज्ञा देते हैं कि—

कामस्य तेजः परमं हि शुक्र-<br>
माहारसारादपि सारभूतम् ।<br>
जितात्मनात्संपरिरक्षणीयं<br>
ततो वपुः सन्ततिरप्युदारा ॥<br>
अप्रमत्तो भजेद्भावांस्तदात्वसुखसंज्ञकान् ।<br>
सुखोदर्केषु सज्जेत देहस्यैतदलं हितम् ॥<br>
प्रज्ञापराधोऽसात्म्यार्थसंयोगः कालवैकृतम् ।<br>
हितेऽपि रतमाहारे योजयन्त्यामयैर्नरम् ॥

वीर्य के संरक्षण की परमावश्यकता—मनुष्य को चाहिए कि वह आहार से सार से भी अधिक सारभूत, शरीर के परम तेजोरूप ऐसे अपने वीर्य का संरक्षण करे क्यों कि वीर्य की रक्षा करने से ही अपना शरीर एवं अपनी संतति ये दोनों बलवान् होते हैं। इसी लिए कहा है कि 'तदात्वसुखसंज्ञक' अर्थात् तत्काल उस थोड़े से सुखसमय के लिए ही जिन की सुखसंज्ञा है ऐसे क्षणिक सुखसंज्ञक स्त्रीसङ्ग, आहार, विहारादि भावों का सेवन अप्रमत्त होकर (बड़े सोच विचार के साथ) करे। मतवाले की तरह बिना सोचविचार के इनका सेवन न करे क्योंकि अप्रमत्ततया सेवन किए हुए सुखरूप फल देनेवाले इन भावों में ही मनुष्य अपने शरीर का पूर्ण हित कर सकता है। इन भावों का विचारपूर्वक सेवन न करना ही प्रज्ञापराध, असात्म्यार्थ संयोग तथा कालवैकृत हैं। ये ऐसे हैं कि हिताहार करते हुए मनुष्य को भी रोगों का साथी बना देते हैं।

नापथ्यसेविनं सद्यः प्रबाधन्ते तदा मलाः ।<br>
प्रकोपं प्रतिबध्नन्ति[1] भिन्नैर्दूष्यादिभिर्यदा ॥<br>
न च सर्वोपचारोऽपि सर्वदा सर्वदोषकृत् ।<br>
न हि सर्वाण्यपथ्यानि तुल्यदोषाणि नैव च ॥<br>
सर्वे तुल्यबला दोषा न सर्वाणि वपूँषि च ।<br>
व्याधिक्षमत्वे शक्तानि यतोऽपथ्यं तदेव तु ॥<br>
गच्छत्यपथ्यतमतां तुल्यदूष्यादिवर्द्धितम् ।<br>
त एव च पुनर्दोषा हेतुभिर्बहुभिश्चिताः ॥<br>
मिथो विरुद्धा बलिनो दीर्घकालानुबन्धिनः ।<br>
सर्वे समं प्रकुप्यन्ति[1] प्राप्याल्पमपि कारणम् ॥<br>
प्राणायतनमाश्रित्य गम्भीराः सर्वमार्गगाः ।<br>
देहे[2] हितोचिते ते स्युश्चिरादप्याशुकारिणः ॥<br>
अहितान्यपि चान्येषामभ्यासादुपशेरते ।<br>
दोषाश्चैषां क्षयं यान्ति कर्मवातातपादिभिः ॥<br>
भिन्नाहारवयःसात्म्यप्रकृतीनां समं भवेत् ।<br>
एको विकृतवाय्वादियुगपत्सेवनाद्गदः ॥<br>
वातादीनां तु विकृतिर्विकृतादृग्रहचारतः ।<br>
भौमान्तरिक्षदिव्येभ्य उत्पातेभ्यश्च जायते ॥<br>
संभवः पुनरेतेषां कर्मणः सामुदायिकात् ॥

पथ्य की नितान्त आवश्यकता—प्रायः देखा जाता है कि अपथ्य सेवन करनेवाले को वात, पित्त एवं कफ, ये दोष तुरन्त किसी प्रकार की बाधा नहीं देते। इससे अपथ्यसेवी समझता है कि अपथ्यसेवन से भी किसी प्रकार की हानि नहीं होती परन्तु उसका यह समझना कदापि ठीक नहीं हो सकता क्यों कि अपथ्य का सेवन तुल्यदोषदूष्यादि की अवस्था में तुरन्त बाधाकारक नहीं होता परन्तु वही आगे चलकर दूष्यदोषादि की भिन्न अवस्था प्राप्त होने पर बाधाकारक होता है। जैसे कि आनूप देश में सेवन किया हुआ पित्तकोपकारक पदार्थ दुःखकारक नहीं होता परन्तु वही आगे चलकर देशदूष्यादि की भिन्न अवस्था को प्राप्त होकर सद्योमारक (तुरन्त मारनेवाला) होता है। भावार्थ यह है कि अपथ्य किसी भी अवस्था में पथ्य नहीं हो सकता अपितु अपथ्य ही रहता है।

अपथ्य में व्यभिचार—यह बात भी नहीं है कि सब प्रकार का अपचार (अपथ्यसेवन) सर्वदा सब दोषों का करनेवाला होता है क्यों कि सब प्रकार के अपथ्य तुल्यदोषवाले नहीं होते अर्थात् जिन द्रव्यों का एक ही साथ में संमिलित सेवन होता है उनमें एक दूसरे के विरोधी द्रव्य भी होते हैं इस लिए अपथ्यसेवन सर्वदोषकारी नहीं होता। परस्पर विरोधी द्रव्यों की तरह न उस अपथ्य सेवन में सब दोष तुल्य बलवाले ही रहते हैं, कारण यह कि अपथ्यसेवन में किसी पदार्थ का स्वल्प भाग रहता है तो किसी का अधिक रहता है और न सब शरीर ही तुल्य व्याधिक्षम रहते हैं। जो व्याधिक्षम शरीर रहता है उसका न्यूनाधिक अवस्थावाले दोष कुछ भी विगाड़ नहीं कर सकते। भावार्थ यह है कि—उक्त अपथ्यसेवन तभी अपथ्यतमता को प्राप्त होता है जब कि वह तुल्यदोषादि से वृद्धि को प्राप्त हो जाता है।

चिरकाल के बाद भी संचित दोषों का एकदम प्रकोप—सर्वस्रोतों में व्याप्त होनेवाले ऐसे गम्भीर दोष जो बहुत से शीतगुर्वादि कारणों से संचित होते हैं, परस्पर विरोधी तथा बलवान्, दीर्घ काल तक शरीर में रहनेवाले चिरकाल के

१. "प्रति विघ्नन्ति" इति पा०।

१. "समप्रकुपिताः" इति पा०।<br>
२. "देहेऽहितोचिते" इत्यपि पाठः।

अनन्तर भी स्वल्प कारणको पाकर प्राणायतन ( हृदयादि ) के आश्रित रहते हुए एकदम कुपित होकर हितोचित देह में या अहिताचारी देह में आशुकारी ( शीघ्र ही प्राणहारक ) बन जाते हैं। कई मनुष्यों के अभ्यास करने से अहितकारी (अपथ्य द्रव्य) भी उपशय बन जाते हैं-सात्म्यवत् हो जाते हैं। उनके वायु आदि दोष भी वातातपकर्म ( चलने-फिरने, हवा और धूप में फिरने, लंघनादि ) से नष्ट हो जाते हैं। भिन्न भिन्न आहार, वय, सात्म्य और, प्रकृति ये सब दोषसाम्य करते हैं। सारांश, मनुष्य रोगी नहीं होता परन्तु किसी एक ही काल में इन सब के कारण एक रोग तब उत्पन्न होता है जब कि मनुष्य एकदम एक ही समय में वायु-पित्तादि समस्त दोषों को कुपित करनेवाले पदार्थों का सेवन करता है। इतना ही नहीं, उक्त एक रोग को उत्पन्न करनेवाली वातादि दोषों की विकृति तब होती है जब कि ग्रहचार और भौमान्तरिक्ष उत्पात होते हैं। भावार्थ यह है कि मनुष्य के सूर्य, चन्द्र, मंगल आदि ग्रहों की दशा अनिष्ट होती है-भौम, आंतरिक्ष और दिव्य उत्पात होते हैं। इन अनिष्ट ग्रहों तथा भौम-आन्तरिक्ष-दिव्य उत्पातों का संभव मनुष्य प्राणी के पूर्वजन्म और इस जन्म के संचित कर्मसमुदाय से होता है।

वात, पित्त और कफ इन तीन दोषों में वायु ही प्रधान है। विना वायु के पित्त-कफ कुछ भी नहीं कर सकते अर्थात वायु के साहाय्य के विना कफ और पित्त पङ्गु रहते हैं। सारांश, इस भूतल पर जनपदविध्वंसकारी महामारी आदि रोगों का मुख्य कारण बिगड़ा हुआ वायु ही हुआ करता है। वायु के बिगड़नेवाले दुष्ट ग्रहों के चार एवं भौम, दिव्य, आन्तरिक्ष उत्पात हैं। इस लिए अब आचार्य दुष्ट ग्रहचार तथा भौमादि उत्पातों द्वारा बिगड़े हुए वायुके लक्षणों का वर्णन करते हैं—

दुष्टो वायुरभिष्यन्दी स्तिमितोऽत्युष्णशीतलः ।
कुण्डली भैरवरवः परुषोऽनार्तवो बली ॥
अन्योन्यव्याहतगतिः पांसुबाष्पविषान्वितः ।
रसवर्णादिविकृतमपक्रान्तविहङ्गमम् ॥
निन्दितप्रभवं तोयमुपक्षीणजलाशयम् ।
मक्षिकामूषिकाव्यालबहूत्पातप्रदूषितः ॥
देशोऽपथ्यान्नबहुलो नष्टधर्ममहौषधिः ।
कालश्च विपरीतोऽतिहीनातिलिङ्गो यथायथम् ॥
एते दुष्परिहारत्वादहितायोत्तरोत्तरम् ।
येषामनियतं कर्म तस्मिन्काले सुदारुणे ॥
कर्म पञ्चविधं तेषां योज्यं तद्वद्रसायनम् ।
शस्यते देहवृत्तिश्च[1] भेषजैः पूर्वमुद्धृतैः ॥
ब्रह्मचर्यं दया दानं सदाचाररतिः शमः ।
सद्धर्मः सत्कथा पूजा देवर्षीणां जितात्मनाम् ॥
देशानामविपन्नानां साधूनां च निषेवणम् ।
दैवव्यपाश्रयं चेष्टं कर्म जीवितरक्षणम् ॥
हेमन्तादिषु कुर्वीत स्वं स्वं चाकालिकेष्वपि ।
विधिं तच्छीलनं यस्माच्छीतादिद्वन्द्वकारितम् ॥
ऋतुचर्या हि शीतोष्णवृष्टिदोषप्रतिक्रिया ।
अत एवर्तुचर्यायां हेमन्तशिशिरौ[1] समौ ॥

उत्पातादिजन्य दुष्ट वायु तथा जल आदि के लक्षण--बिगड़ा हुआ वायु अभिष्यन्दी ( मलिनता के कारण शारीरिक स्रोतों से स्राव करानेवाला ), वेगरहित, अत्यन्त उष्ण तथा कभी अत्यन्त शीतल, कुण्डली ( आवर्तवान्-भूतोलिया ) भयङ्कर शब्दवाला, रूखा, ऋतुसे विपरीत अर्थात् जिस ऋतु में जिस दिशा का वायु प्रायः बहा करता है उससे विपरीत, बलवान् ( बड़े वेगवाला ), अन्योन्यव्याहतगति ( दिशाविशेष से परस्पर रुद्ध मार्ग ), धूल-बाष्प एवं विषसे युक्त होता है। इस वायु की बिगड़ी हुई अवस्था में उससे जल भी दूषित हो जाता है अर्थात् उत्पातों के समय का जल निन्दित भावों को लेकर या निन्दित देशों से उत्पन्न होने से वर्ण-रस आदि से बिगड़ा हुआ, पक्षियों कर के त्याज्य, क्रिमिकीटादि को उत्पन्न करनेवाला तथा जलाशय में से जल्दी सूख जानेवाला होता है। इसी प्रकार उस दुष्ट वायु से देश भी दूषित होकर वह मक्खियाँ, मूसे, सर्प आदि के भयङ्कर उत्पातों से प्रदूषित अपथ्यकारी बहुत से अन्नों से युक्त होता है और महौषधियों के गुणों को नष्ट करनेवाला होता है। उस दुष्ट वायु से काल भी दुष्ट होता है अर्थात् अति विपरीत ( शीत काल में अति उष्णता एवं उष्ण काल में शीतता ), प्राप्त ऋतु मान से अतिलिङ्ग ( उस ऋतु के मान से अत्यधिक चिह्नोंवाला ), विपरीत लिङ्ग ( एक ऋतु में दूसरी ऋतु के लक्षणों का होना ), हीनलिङ्ग ( प्राप्त ऋतु के लक्षणों से नितान्त हीन लक्षणोंवाला ) होता है। इस प्रकार वातादि दोष, देश और काल ये सब अपनी विकृति ( दुष्टता ) के कारण दुष्परिहारी ( जिनका शमन करना कठिन होता है ) होने से उत्तरोत्तर अहितकारी होते जाते हैं।

दुष्ट दोष-देश-काल के शमनोपाय--उक्त दारुण काल में जिनके कर्म नियमित नहीं होते उनके लिए पञ्चविध कर्म ( वमन-विरेचन-स्नेहन-स्वेदन और बस्ति ) की योजना करनी चाहिए और उसी प्रकार किसी भी रसायन की योजना करनी चाहिए। प्रथम वर्णन किए हुए औषधों के द्वारा देह का संरक्षण करना चाहिए। इनके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य, दया, दान, सदाचार, शान्तता, सद्धर्म, सत्कथा, जितात्मा ऋषियों एवं देवताओं का पूजन करना चाहिए। इतना ही नहीं, उस बिगड़े हुए देशका परित्याग करे जहां का जलवायु आदि शुद्ध हो उस देश में जाकर रहना चाहिए-सज्जनों का सेवन, दैवव्यपाश्रय ( मन्त्र, बलि, हवनादि ) जीवनरक्षा के करने वाले कर्मों को करना चाहिए।

ऊपर कह चुके हैं कि दुष्ट-देश-दोषादि के समय सब बातें विपरीत होती हैं वैसे ऋतुवैपरीत्य भी होता है। यदि अकालिक ऋतु दिखाई दे अर्थात् वर्तमान ऋतु के समय हेमन्तादि अन्य ऋतुओं के लक्षण दिखाई दें तो उस समय में उन दिखाई देनेवाले हेमन्तादि ऋतुओं की ऋतुचर्या का ही पालन करना चाहिये। इस लिए कि उस काल में विपरीतता के कारण शीत, उष्ण और वर्षा का द्वन्द्व उपस्थित हो जाता

१. "देहवृद्धिश्च" इत्यपि पाठः।

१. "हेमन्तशिशिरे समे" इति पाठान्तरम्।

है और वस्तुतः ऋतुचर्या का सेवन करना ही शीत, उष्ण तथा वृष्टिदोष की प्रतिक्रिया है। ऋतुचर्याविधि में हेमन्त और शिशिर ऋतु को समान मानना चाहिए।

अब आचार्य आयु के विषय को कथन करते हुए काल-मृत्यु और अकालमृत्यु का सोदाहरण विवेचन करते हैं।

सर्वप्राणभृतां नित्यमायुर्युक्तिमपेक्षते ।
दैवे पुरुषकारे च स्थितं ह्यस्य बलाबलम् ॥
अन्यजन्मकृतं कर्म दैवं पौरुषमैहिकम् ।
विद्यात्ते कर्मणी त्रेधा श्रेष्ठमध्यावरत्वतः ॥
तयोरुदारयोर्युक्तिर्दीर्घस्य सुसुखस्य च ।
नियतस्यायुषो हेतुर्विपरीतस्य चापरा ॥
मध्या मध्यस्य मिश्रस्य संकीर्णा शृणु चापरम्।
दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते ॥
तथा दैवेन बलिना पौरुषं कर्म दुर्बलम् ।
दृष्ट्वा तदेके मन्यन्ते नियतं मानमायुषः ॥
कर्म किञ्चित्क्वचित्काले विपाके नियतं महत्।
किञ्चिच्च[1] कालनियतं प्रत्ययैः प्रतिबोध्यते ॥
एवं च द्विविधो मृत्युः कालाकालविभेदतः ।
उपदिष्टस्ततश्चैष हिताहितविधिक्रमः ॥

आयु में युक्ति की आवश्यकता--सब प्राणियों की आयु युक्ति ( सम्यक् योग ) की अपेक्षा करती है अर्थात् दीर्घ एवं सुखी जीवन के लिए सम्यक् योग की आवश्यकता रहती है। मनुष्य की आयु का बलाबल दैव और पुरुषकार ( प्रारब्ध और पुरुषार्थ ) पर स्थित ( निर्भर ) रहता है। पूर्व जन्म के किए हुए कर्मों का नाम दैव या प्रारब्ध है और इस जन्म में किए जानेवाले कर्मों का नाम पुरुषार्थ है। दैव और पुरुषार्थ ये दोनों श्रेष्ठ, मध्यम और हीनभेद से तीन प्रकार के होते हैं। इन दोनों उदार प्रारब्ध और पुरुषार्थ पर ही जीवन अवलम्बित रहता है। जिनके प्रारब्ध और पुरुषार्थ श्रेष्ठ होते हैं उन का जीवन सुखी और दीर्घ होता है और विपरीत इसके प्रारब्ध और पुरुषार्थ के हीन होने से आयु भी दुःखी और अल्प होती है। इसी प्रकार मध्यम तथा संकीर्ण प्रारब्ध और पुरुषार्थ हुए तो आयु भी मध्यम तथा सुख-दुःख से मिश्रित होती है। सारांश, प्रारब्ध और पुरुषार्थ के अनुसार ही मनुष्य के जीवन में सम्यक् योग, मध्यम योग तथा हीनयोगादि की प्राप्ति होती है और तदनुसार ही मनुष्य का जीवन क्रमशः सुखी, मध्यमसुखी, अल्पसुखी आदि होता है। और भी कारण को सुनिये जो कि कालमृत्यु—अकाल-मृत्यु-दुःखसुखमयी आयु का हेतु होता है। दैव और पुरुषार्थ के बलाबल के कारण देखा जाता है कि कभी दुर्बल दैव बलवान् पुरुषार्थ से दब जाता है तो कभी बलवान् दैव से निर्बल पुरुषार्थ दब जाता है। सारांश, दैव और पुरुषार्थ इन दोनों में जो बलवान् होता है उसी की विजय होती है। इसको देखकर कई ऐसा मानते हैं कि आयु का प्रमाण नियत है। इनके मत से दैव और पुरुषार्थ न्यूनाधिक प्रमाण में निश्चित ही कहे जा सकते हैं। इससे नियत मृत्यु अर्थात् कालमृत्यु ही सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त कोई महत्कर्म किसी समय अपने विपाक या परिणाम में निश्चित होता है और जो किसी कर्म के विपाक का काल निश्चित नहीं होता तथापि वह निश्चितसा ही है इस लिए कि वह भी अन्य कारणों से जाना जाता है। इससे कई लोग नियत मृत्यु को ही मानते हैं परन्तु उनका मानना ठीक नहीं है। उपर्युक्त कथन से मृत्यु की नियतता और अनियतता स्पष्ट दिखाई देती है। इस प्रकार से कालमृत्यु तथा अकालमृत्यु ये मृत्यु के दो भेद कहे गये हैं और यही हिताहित विधिक्रम है अर्थात् हितकारी विधि कालमृत्यु का और अहितकारी विधि अकाल मृत्यु का कारण है। तात्पर्य यह है कि संसार में कालमृत्यु और अकालमृत्यु ये दोनों दिखाई देते हैं अतः काल और अकालमृत्यु इन दोनों में से किसी एक ही पक्ष का ग्रहण करना ठीक नहीं है।

अब आचार्य अपने इस विषय को युक्ति-प्रयुक्तियों द्वारा सिद्ध करते हैं—

एकोत्तरं मृत्युशतं ब्रुवते वेदवादिनः ।
तत्रैकः कालसंयुक्तः शेषास्त्वागन्तवः स्मृताः[1] ॥
श्येनाजिरादियागेन[2] भ्रातृव्यस्य तथा च तैः।
दैर्घ्यश्रवस[3]सामाद्यैर्विहितः स्वात्मनो वधः[4] ॥
आयुष्कामस्य तत्प्राप्तिस्तथेष्ट्या मित्रविन्दया।
सर्वस्मादेव चात्मानं गोपायेदीदृशी स्मृतिः[5] ॥
तथा मरणमुद्दिष्टं सौगतानां चतुर्विधम् ।
विषमापरिहारेण जायते नियतायुषाम् ॥
ध्रुवं रोगित्वमन्येषां मृत्युरेव त्वपर्वणि ।
अकाण्डशस्त्रघाताद्यैः प्रत्यक्षो मृत्युरन्यथा ॥
उद्भ्रान्तचण्डमातङ्गतुरङ्गादिसमागमम् ।
अरातिदुष्टव्याघ्रव्यालादिसाहसाहितभोजनम् ॥
वर्जयेदिति न ब्रूयुर्मुनयो दिव्यचक्षुषः ।
दैवव्यपाश्रयादींश्च रसायनविधिं न वा[6] ॥
न वा तेऽपि यथाकाममायुषः स्थितिमाप्नुयुः।
अहिसिंहगजादिभ्यो विदुषां न भयं भवेत् ॥
मिथ्या प्राकारदुर्गाणि मिथ्यामारणरक्षणम्।
आयुष्कामस्य मिथ्यैव परदारादिवर्जनम् ॥
मन्त्रदेवतयाहूता नाचक्षीरन्महाहयः ।
विषसुप्तप्रबुद्धस्था भावाभावौ तदायुषः ॥
सन्यासरोहिणीकादिग्रस्तस्य सहसा भवेत्।
उपेक्षया न मरणं जीवितं वा चिकित्सया ॥
प्रत्यहं नृसहस्रस्य युद्धेऽन्योन्यमभिघ्नतः ।
साधुवृत्तस्य चातुल्या न भवेदायुषः स्थितिः ॥
नायुर्वैद्विषमिन्द्राद्या नौषधैरार्तमश्विनौ ।

---

१. "किञ्चिन" इत्यपि पाठान्तरम्।

१. "तस्मादुभयदृष्टत्वादेकान्तग्रहणमसाधुः" इति चरकेऽग्निवेशं प्रत्यात्रेयः । २. श्येनादिना च यागेन । ३. दीर्घश्रवस । ४. "विहितस्त्वात्मनो वधः" इति पा० । ५. "श्रुतिः" इति पा०। ६. 'रसायनविधिं विना" रसायनविधींस्तु इति पा० ।

उपक्रमेरन्न भवेदकालमरणं यदि ॥
घटानामामपक्वानां पालनापरिपालनैः ।
चिराशुकालवर्तित्वं चित्रस्थानां च दृश्यते ॥
इत्यत्यन्तप्रसिद्धेऽपि सिद्धे सर्वागमैरपि ।
दृष्टेऽप्यकालमरणे विचिकित्सेत्कथं बुधः ॥
गुणवद्भिषगादीनां संभवे संभवेत्तु यः ।
मृत्युस्तं कालजं प्राहुरितरं तद्विपर्यये ॥

अकाल और कालमृत्यु का समर्थन– वेदवादियों का कथन है कि मृत्यु एक सौ एक प्रकार के हैं—इन में एक कालमृत्यु है और शेष (१००) आगन्तुक अर्थात् अकालमृत्यु हैं। भावार्थ यह है कि–यदि मृत्यु एक ही प्रकार का होता तो वेदवादी इस प्रकार नहीं कहते। श्येनाजिरादि याग द्वारा भ्रातृव्य (शत्रु) के वध का विधान है और इसी प्रकार दैर्घ्य-श्रवसमादियागों द्वारा अपने वध का विधान बताया गया है। इतना ही नहीं, आयु की कामनावाले को मित्रविन्दानामक इष्टिसे आयु की प्राप्ति का विधान है। "सब प्रकारसे अपनी रक्षा करे" ऐसा स्मृति या श्रुति का कथन है। बौद्धों के मत में भी मरण चार प्रकार का माना गया है। सारांश यह है कि यदि आयु नियत ही होती–एक ही होती तो उपर्युक्त विधानों एवं युक्तियों के कथन की आवश्यकता ही न रहती और न सौगत (बौद्ध) ही चार प्रकार की आयु मानते। इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि काल-मृत्यु की तरह अकाल-मृत्यु भी अवश्य है। इस के अतिरिक्त प्रायः देखा जाता है कि विषम आहारविहारादि का परित्याग न करने से नियतायु (काल-मृत्युवाले) भी निश्चय ही रोगी हो जाते हैं और उनमें से कई अनियतायु अकाल में ही मर जाते हैं। इतना ही नहीं, भयङ्कर शस्त्रघात आदि से अकाल में ही प्रत्यक्ष मृत्यु दिखाई देती है। यदि इस प्रकार अकाल-मृत्यु न दिखाई देती तो हमारे दिव्य दृष्टिवाले मुनियों को यह उपदेश ही न करना पड़ता कि "मनुष्य को प्रचण्ड मतवाले हाथी–घोड़ों आदि के समागम से–दुष्टों, शत्रुओं, बिगड़े हुए वायु आदि, साहस और अहित भोजन से बचना चाहिए।" "उन महर्षियों को यह भी उपदेश न करना पड़ता कि "आयु के संरक्षणार्थ मनुष्य को दैवव्यपाश्रय (देवताराधन–होम–बलि–तर्पण आदि) करना चाहिए।" न वे मुनि उक्त विधियों से यथेच्छ दीर्घायु भोगने में ही समर्थ होते। इसी प्रकार आचार्य और भी अपने पक्ष का समर्थन करते हुए कहते हैं कि—

यदि आयु का प्रमाण नियत ही होता अर्थात् एक सौ एक मृत्युओं में कहा हुआ एक कालमृत्यु ही होता–शेष एक सौ अकालमृत्यु ही न होते तो फिर सर्प, सिंह, हाथी आदि से विद्वानों को किसी प्रकार का भय ही नहीं रहता, आयु की रक्षा के लिए प्राकार–दुर्ग आदि की रचना ही व्यर्थ ठहरती, मारणरक्षण (मारणप्रयोग की शान्ति के लिए रक्षा का विधान) भी मिथ्या ठहरता। इतना ही नहीं, आयुष्य की कामनावाले के लिए परस्त्रीसङ्ग आदि का निषेध व्यर्थ होता, विषदोष से प्रसुप्त (बेहोशी में पड़े हुए) मनुष्य की मन्त्र देवता द्वारा प्राप्त सचेतनावस्था में उसमें स्थित वासुकी आदि महासर्प उसके आयु की भावाभावकथा को प्रत्यक्ष बोलकर नहीं बताते। यदि अकालमृत्यु न होती तो संन्यासरोहिणी आदि रोगों से उपेक्षा करने पर भी सहसा मनुष्य नहीं मरता। न चिकित्सा द्वारा जीवन की ही कोई अपेक्षा रहती। प्रतिदिन युद्ध में परस्पर आघात करनेवाले सहस्रों सदाचारी मनुष्यों के आयु की स्थिति अतुल्य (भिन्न भिन्न) न रहती। इन्द्रादि देव आयुधों द्वारा शत्रुओं पर चढ़ाई ही न करते और न अश्विनीकुमारों को ओषधियों द्वारा रोगियों की चिकित्सा ही करनी पड़ती। इन सब प्रमाणों से सिद्ध है कि कालमृत्यु की तरह अकालमृत्यु भी अवश्य है। और भी आचार्य कहते हैं कि—

मिट्टी के कच्चे और पक्के घड़ों का पालन तथा अपालनवशात् चिराशुकालवर्तित्व देखा जाता है अर्थात् कच्चे घड़े भी पालना करने से चिरकाल तक नष्ट नहीं होते तथा पक्के हुए घड़े भी पालना न करने से शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। भित्तिस्थ चित्रों के भावों की भी पालना–अपालनावशात् घड़ोंवाली दशा देखी जाती है। इस प्रकार अत्यन्त प्रसिद्ध तथा सर्वशास्त्रों से सिद्ध अकालमृत्यु को देखते हुए भी न जाने विद्वान् क्यों इसके विषय में विचिकित्सा (शङ्का या सन्देह) करते हैं?

काल और अकाल मृत्यु की संक्षिप्त व्याख्या–गुणवान् अर्थात् आयुर्वेदशास्त्रोक्त अपने गुणों से युक्त वैद्यादि (वैद्य, औषधि, रोगी और परिचारक) के रहते हुए भी जो मृत्यु होती है, उसी को कालमृत्यु कहते हैं और इसके विपरीत अर्थात् चिकित्सा के चार पाद वैद्य आदि के न मिलने पर होनेवाले मृत्यु को अकालमृत्यु कहते हैं।

अब इसी विषय को पुनः आचार्य दृष्टान्त से समझाते हैं—

यथा रथो वाह्यमानो न्यायेन क्रमशः क्षयम् ।
यायादात्मवतामायुस्तथान्येषां विपर्ययः ॥
शुचितैलदशो दीपः कीटवाताद्यपीडितः ।
दीप्तिमान्वर्तते सम्यक् यथैवास्नेहसंक्षयात् ॥
स एवातो यथा च स्याद्विपरीतो विपर्यये ।
हिताहितोपचारेण तथैव पुरुषो ध्रुवम् ॥
सर्वमन्यत्परित्यज्य शरीरं पालयेदतः ।
तदभावे हि भावानां सर्वाभावः शरीरिणाम् ॥
नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी सदा ।
स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत् ॥

शरीरसंरक्षण की नितान्त आवश्यकता–न्यायेन अर्थात् समभाग आदि की योजना कर के चलता हुआ रथ जैसे क्रम क्रम से क्षय को प्राप्त होता है या नष्ट होता है, ठीक इसी प्रकार सम–आहार–विहारादि करने–वाले आत्मवान् (बलवान्) पुरुषों की आयु क्रम-क्रम से क्षीण होती है। एकदम नष्ट नहीं होती। इन आत्मवान् पुरुषों की आयु से

१. "चिराल्पकालवर्तित्वम्" इत्यपि पाठः। "बाहुल्यात्र" इत्यपि पाठः।
२. "भ्रातृव्यो भ्रातृजद्विषौ" इत्यमरः।

१. "तथा" इति पाठान्तरम्।

विषम आहार-विहारादि करनेवाले अनात्मवान् ( निर्बल ) पुरुषों के आयु की गति विपरीत होती है अर्थात् वह क्रमशः क्षीण नहीं होती अपितु एकदम अकाल में ही नष्ट हो जाती है । अथवा अच्छे तेल और बत्तीवाला कीट-वायु आदि से सुरक्षित दीपक तेल का नाश जबतक नहीं होता तब तक बराबर दीप्तिमान् ( जलता हुआ ) प्रकाश देता है परन्तु इस की विपरीत दशा में वही दीपक न जलता हुआ रह सकता और न प्रकाश ही दे सकता है । ठीक यही बात हिताहित आहारादि के सेवन से पुरुष के विषय में जानना चाहिए । इस लिए सभी बातों को एक तरफ छोड़ कर मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर की रक्षा करे क्योंकि शरीर की रक्षा न होने से शरीरधारियों के सभी भावों का सब प्रकार से अभाव हो जाता है । नगर का पति अपने नगर की तथा रथवाला अपने रथ की जैसे रक्षा करता है, ठीक इसी प्रकार मनुष्य को शरीररक्षा के समस्त कृत्यों में सावधान रहना चाहिए ।

अब आचार्य हिताहार-विहार तथा सदाचार का हितोपदेश करते हैं—

आहारकल्पनाहेतून् स्वभावादीन्विशेषतः ।
समीक्ष्य हितमश्नीयाद्देहो ह्याहारसम्भवः ॥
भीलज्जायन्त्रणालोभहर्षशोकवशंगतः ।
न जातु धारयेद्वेगांस्तद्धि सर्वापदां पदम् ॥
हितमभ्यसतः पुंसो नाकाले कालदंष्ट्रया ।
संजायते परामर्शो बलोत्साहेन्द्रियायुषाम् ॥
अहितानि च संत्यज्य दोषमप्याप्नुयाद्यदि ।
तथाप्यानृण्यमायाति साधूनामात्मवानिति ॥
यश्च रोगसमुत्थानं न शक्यमिह केनचित् ।
परिहर्तुं न तत्प्राप्य शोचितव्यं मनीषिणा ॥
हिताहारविहाराणां सदाचारनिषेविणाम् ।
लोकद्वयव्यपेक्षाणां जीवितं ह्यमृतायते ॥
गृध्नुर्ग्राम्यसुखे वश्यः क्लेशानां हतसत्पथः ।
मूढो जीवत्यनर्थाय दुर्गतिं परिबृंहयन् ॥
विदुषान्तःशरीरस्थान्नित्यं संनिहितानरीन् ।
जित्वा वर्ज्यानि वर्ज्यानि चिरं जीवितुमिच्छता ॥
तदात्वे चानुबन्धे वा तस्मात्कर्माशुभोदयम् ।
स्मरन्नात्रेयवचनो न धीमान्कर्तुमर्हति ॥

इति श्रीमद्वाग्भटकृतावष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थाने विरुद्धान्नविज्ञानीयो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥
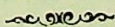
सर्वसामान्य हितोपदेश—प्रकृति, संस्कार, मात्रा आदि आहारकल्पना के हेतुओं का भली भांति अवलोकन करके हितकारी पदार्थों का ही आहार करना चाहिए क्यों कि शरीर की उत्पत्ति तथा धारणा आहार पर ही अवलम्बित है । भावार्थ यह है कि अपनी प्रकृति के विरुद्ध आहार नहीं करना चाहिए । इसी प्रकार संस्कारविरुद्ध जैसे कि गरम किया हुआ दही, मात्राविरुद्ध जैसे कि शहद और घृत का सममात्रा में सेवन करना अहितकारी है, अतः इन सब बातों का विचार करके हिताहार ही का सेवन करना चाहिए, इसलिए कि शरीर की उत्पत्ति ( भली और बुरी बनावट ) आहार के ही आधीन है ।

भय, लज्जा, कष्ट, लोभ, हर्ष और शोक के वशीभूत होकर मल मूत्रादि के प्राप्त हुए वेगों को कदापि नहीं रोकना चाहिए क्योंकि इनका रोकना ही समस्त आपदाओं का घर है। हितकारी आहार के अभ्यास करनेवाले मनुष्य के बल, उत्साह, इन्द्रिय तथा आयु का नाश यम की दाढ़ों से अकाल में नहीं हो सकता अर्थात् यम की दाढ़ें मिथ्याहार-विहारी के बल, उत्साह, इन्द्रिय और आयु का नाश अकाल में कर सकती हैं । अहितकारी पदार्थों के त्यागने पर यदि दैववशात् दोष की भी प्राप्ति हो जाय तो भी सज्जनों में वह आत्मवान् पुरुष हिताहार आदिद्वारा आनृण्यमायाति ( ऋण से मुक्त होता है ) क्योंकि हिताहारादि कर के वह शुभ कर्म ही करता है। रोग का समुत्थान हो जाय और वह किसी भी उपाय से दूर नहीं हो सकता है तो ऐसे रोग को प्राप्त होकर बुद्धिमान् को उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए ।

हिताहार-विहार के करनेवाले, सदाचार के सेवक, इह लोक और परलोक के सुधरने की इच्छावाले पुरुषों का जीवन अमृत के समान होता है । इस के विपरीत ग्राम्यसुख ( स्त्रीसंभोगादि इन्द्रियों के सुख ) से तृप्त न होनेवाला ( लोभी ), रागलोभादि क्लेशों के वशीभूत, सन्मार्ग का परित्याग कर कुमार्ग में प्रवृत्त ऐसा मूर्ख दुर्गति को बढ़ाता हुआ केवल अनर्थ के लिए ही जीता है । इस लिए दीर्घ जीवन की इच्छावाले विद्वान् को चाहिए कि वह नित्यप्रति इस शरीर के संबन्धी भीतर रहनेवाले रागादि शत्रुओं को जीतकर दिनचर्या आदि वर्णित वर्जित आहार-विहार आदि का त्याग करे। भगवान् आत्रेय के वचन का स्मरण कर बुद्धिमान को चाहिए कि वह तत्काल या कालान्तर में अशुभ फल को देनेवाले अशुभ कर्म को न करे ।

इति श्रीवाग्भटविरचितेऽष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिका हिन्दीव्याख्यायां विरुद्धान्नवर्णनीयो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥
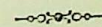
# अथ दशमोऽध्यायः ।

सुरक्षित अन्नपान भी विना विधि के सेवन करनेपर कभी कभी मरण तथा रोग का कारण हो जाता है अतः अन्नपान में विधि की विशेष आवश्यकता रहती है अतः आचार्य अन्नपानविधिप्रदर्शनार्थ अध्याय का आरम्भ करते हुए कहते हैं कि—

अथातोऽन्नपानविधिमध्यायं व्याख्यास्याम इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अन्नपानविधि—अब हम जिसमें अन्नपानविधि का प्रतिपादन किया गया है उस अन्नपानविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया है।

विधिविहितमन्नपानमिष्टेन्द्रियार्थमायतनमायुषो व्रवते । यत्तदायत्तानि ह्योजस्तेजोधात्वेन्द्रियबलतुष्टि-

पुष्टिप्रतिभारोग्यादीनि । तदिन्धना चान्तरग्नेः स्थितिः । अग्निमूलं च देहधारणमिति ।

विधिविहित अन्नपान में प्राणियों का प्राणत्व—विधि से किया हुआ अन्नपान इन्द्रियार्थों के लिए इष्ट अर्थात् अभिमत, हितकारी एवं प्रिय कहा गया है और यह (विधिविहित अन्नपान) आयु का आयतन ( स्थान आश्रम या घर ) कहा जाता है। इसलिए कि ओज, तेज, धातु, इन्द्रिय, बल, तुष्टि, पुष्टि, प्रतिभा तथा आरोग्यादि ये सब विधिविहित अन्नपानके आधीन हैं। इस अन्नपानरूप इन्धनसे ही अन्तराग्नि ( जाठराग्नि ) की स्थिति है तथा देह की धारणा में अग्नि ही मूल कारण है।

विशेष वक्तव्य—यहां अन्नपानविधि से वह विधि अभीष्ट है जो चरक के इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय में "नारत्नपाणिः"[1] इत्यादि पद्यों में तथा रसविमानाध्याय में "तदेतदाहारविधानम्" आदि ग्रन्थ में वर्णित है। इसी प्रकार "विधिविहितमन्नपानमिष्टेन्द्रियार्थम्" से उस अन्नपान से तात्पर्य है जो इष्टवर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शवाला होता है क्योंकि शास्त्रकारों ने प्रत्यक्ष फल का अनुभव करके इसी इष्टवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शवाले विधिविहित अन्नपान को ही प्राणियों ( समस्त संसार के पशु-पक्षी आदि जीवों ) तथा प्राणिसंज्ञकों (मनुष्यों) का प्राण[2] माना है। प्राणी शब्द से उपलब्ध होनेपर भी यहां प्राणिसंज्ञक शब्द का निर्देश स्थावरप्राणियों के निषेधार्थ[3] है।

अथात्मवान् स्वभावसंयोगसंस्कारमात्रादेशकालोपयोगव्यवस्थाः सप्ताहारकल्पनाविशेषाणां स्वास्थ्यास्वास्थ्यफलानां हेतुभूताः समीक्ष्य हितमेवानुरुद्ध्येत।

आहार की सप्तविध कल्पना—बुद्धिमान को चाहिए कि वह स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य की हेतुभूत स्वभाव, संयोग, संस्कार, मात्रा, देश, काल और उपयोगव्यवस्था, इन सात कल्पनाओं का पूर्ण विचार करके हितकारी आहार के लिए ही प्रयत्न करे अर्थात् अहितकारी आहार या अन्नपान का परित्याग करे।

यह देखा जाता है कि अनेक प्रकार के द्रव्यसंयोगसंस्कारादिविशेष से विलक्षण कार्य करनेवाले होते हैं। इसलिए अब आचार्य पूर्वोक्त स्वभाव-संयोग-संस्कारादि का विवेचन करते हैं।

तत्र स्वभावतो दिव्योदकरक्तशालिषष्टिकमुद्गैणलावादयो लघवः। क्षीरेक्षुव्रीहिमाषानूपामिषादयो गुरव इति। ते खल्वपि संयोगादिविशेषैरन्यथात्वं प्रतिपद्यन्ते। तत्र संयोगो नाम द्वयोर्बहूनां वा संहतीभावः। स विशेषमारभते यन्नैकशो नैकदोषाणि द्रव्याणि। संस्कारस्तु तोयाग्निसंनिकर्षशौचमन्थनदेशकालभावनाभाजनादिभिरुपजन्यते। मात्रा पुनः पिण्डपरिणामतः समुदायेन प्रतिद्रव्यापेक्षया चाहारराशिः। देशो द्रव्यस्योपयोक्तुश्चोत्पत्त्यवस्थाने। तत्र पुनरुपयोक्ता स्वस्थातुरत्वतः प्रकृतिभेदतश्च परीक्ष्यः।

स्वभाववर्णन—स्वभाव[1] द्रव्य के स्वरूप को कहते हैं, जैसे कि दिव्योदक ( आकाश से बरसा हुआ जल ), लाल चावल, साठी चावल, मूंग, हरिण, लवा आदि स्वभाव से ही लघु हैं तथा दूध, ईख का रस, यव, उड़द, अनूपदेश का मांस आदि ये स्वभाव से गुरु हैं किन्तु ये लघु और गुरु स्वभाववाले होते हुए भी संयोगादिविशेष अर्थात् संयोग-संस्कार-मात्रा-देश-काल-उपयोग-व्यवस्था-विशेष से अन्यथा भाव को प्राप्त हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य संयोग-संस्कार आदि से अपने स्वरूप या स्वभाववाला नहीं रहता अर्थात् लघु पदार्थ गुरु हो जाता है और गुरु पदार्थ लघु के स्वरूप में बदल जाता है।

संयोगवर्णन—संयोग[2] दो दो या बहुत से द्रव्यों के साहित्य ( एक साथ संमिलन ) का नाम है। जो कार्य एक द्रव्य-विशेष से नहीं होता, वही अनेक द्रव्यों के संमिलन से हो जाता है। उदाहरणार्थ अकेले मूँगों से सूप की सिद्धि नहीं होती किन्तु वही अग्नि-जल, नमक, मिरच-हलदी आदि के मिलने से हो जाती है। अन्य द्रव्यों के मिलने से उस द्रव्य का वह स्वरूप भी नहीं रहता और वह दूसरे रूप में बदल जाता है, जैसे कि पहले कह चुके हैं कि संयोग संस्कारादि से पदार्थ गुरु से लघु और लघु से गुरु के रूप में बदल जाता है।

संस्कारकथन—संस्कार उसे कहते हैं जो जल और अग्नि के संनिकर्ष, धोने, मथने आदि से तथा देश, काल, भावना, भाजन ( मिट्टी-तांबा-लोहा आदि के बरतन ) आदि के संयोग से प्राप्त होता है अर्थात् इन सब के संस्कार से द्रव्य अपने मुख्य गुण से रहित होकर विलक्षण कार्य करनेवाला हो जाता है। उदाहरणार्थ अमृत रूप मधुर दही ताम्रपात्र के संस्कार से विष हो जाता है।

मात्रा का वर्णन—मात्रा के दो प्रकार हैं जैसे कि किसी एक द्रव्य के पिण्ड परिमाण स्वरूपवाली और दूसरी नाना प्रकार के द्रव्यों के समुदाय-स्वरूपवाली। उदाहरणार्थ किसी भी एक द्रव्य के गुरुत्व-लघुत्व का कुछ भी विचार न करते हुए उसी के पिण्ड से कुक्षि के दोनों भागों का पूरण कर देना। इसी प्रकार नाना प्रकार के द्रव्यसमुदाय से जैसे कि गुरु द्रव्यों का आहार करके आधी तृप्ति प्राप्त करना और कुछ तृप्ति लघु द्रव्यों के आहार से कर लेना। सारांश, आहारराशि का नाम ही मात्रा है और उसके दो प्रकार हैं जैसे कि पूर्णतृप्ति और अपूर्णतृप्ति।

देश का वर्णन—देश उसे कहते हैं जो उपयोग में लानेवाले या उपयोग करनेवाले पुरुषों एवं द्रव्यों की उत्पत्ति और स्थिति का स्थान होता है। इस से यह सोचा जा सकता है कि किस गुणविशिष्टदेश में द्रव्य या उस को उपयोग में

१. "नारत्नपाणिर्नास्नातो नोपहतवासा नाजपित्वा नाहुत्वा देवताभ्य इत्यादि।" चरक सू. अ. ८।

२. "इष्टगन्धरसस्पर्शं विधिविहितमन्नपानं प्राणिनां प्राणिसंज्ञकानां प्राणमाचक्षते कुशलाः, प्रत्यक्षफलदर्शनात्।" इति चरकः सू. अ. २७।

३. "प्राणिनामित्यनेनैव लब्धेऽपि प्राणिसंज्ञकानाम्, इति वचनं स्थावरप्राणिप्रतिषेधार्थं, वृक्षादयो हि वनस्पतिसत्वानुकारोपदेशाच्छास्त्रे प्राणिन उक्ताः, न तु लोके प्राणिसंज्ञकाः, किं तर्हि जङ्गमा एव।" इति चक्रदत्तः।

१. "स्वभावो द्रव्यस्वरूपम्" इतीन्दुः। २. "संयोगोऽनेकस्य

लानेवाले पुरुष की उत्पत्ति हुई है या द्रव्य एवं पुरुष किस प्रकृति के हैं तथा वे किस प्रकार के देश में स्थित हैं । पुरुष द्रव्य तथा पुरुष की प्रकृति के अनुसार अमुक प्रकृतिवाले इस देश में स्वस्थ रह सकता है या रोगी हो सकता है इत्यादि बातों का निर्णय देशविशेष से वैद्य कर सकता है ।

काल का वर्णन करने के निमित्त अब आचार्य कहते हैं कि—

कालस्तु ऋतुव्याध्यपेक्षो जीर्णाजीर्णलक्षणश्च । अजीर्णे हि पूर्वस्याहारस्यापरिणतो रस उत्तरेण संसृज्यमानः सर्वान्दोषान् प्रकोपयत्याशु । जीर्णे तु स्वस्थानस्थेषु दोषेषु वातानुलोम्यात्सृष्टेषु मूत्रपुरीषवेगेषु विशुद्धेषूद्गारहृदयस्रोतोमुखेषु विशदकरणे लघुनि शरीरेऽग्नावुदीर्णे जातायां बुभुक्षायामभ्यवहृतमन्नमप्रदूषयद्दोषानायुर्बलवर्णानभिवर्द्धयति । केवलमयमेव कालो भोजनस्य । अतीतकालं पुनस्तद्वातविष्टब्धं कृच्छ्राद्विपच्यते कर्शयत्यन्नरुचिं च पुनरुपहन्ति ।

काल का वर्णन—अन्नपानादि के उपयोग में काल दो प्रकार से माना गया है, जैसे कि एक ऋतुव्याध्यपेक्ष और दूसरा जीर्णाजीर्णलक्षण । अन्न-पानार्थ काल के ये दोनों प्रकार ( ऋतु और व्याधि की अपेक्षावाले ) स्वस्थ एवं रोगी के लिए माने गए हैं । उदाहरणार्थ किस किस ऋतु में स्वस्थ पुरुष को किस प्रकार का आहार हितकारी है और किस प्रकार का अहितकारी । यह स्वस्थ के लिए कहा गया है और व्याध्यपेक्ष काल रोगी के लिए है जैसे कि किस किस व्याधि के काल में किस प्रकार का अन्नपान हितकारी होता है और किस प्रकार का अहितकारी । यहां ध्यान रहे कि ऋतुकाल यद्यपि स्वस्थ के लिए कहा गया है परन्तु ऋतुकाल भी स्वस्थ की तरह आतुर के लिए भी हिताहित आहार का निदर्शक हो सकता है, जैसे कि शरद् ऋतु में उत्पन्न होनेवाली कफज व्याधि में उस के विपरीत होते हुए भी अत्यन्त तीक्ष्ण तथा उष्ण पदार्थों का सेवन नहीं कराया जा सकता, इसलिए कि शरद ऋतु पित्त का प्रकोप-काल है और ये अत्यन्त तीक्ष्ण तथा उष्ण पदार्थ भी पित्त के बढ़ाने में सहायक हो सकते हैं ।

काल का दूसरा प्रकार है जीर्णाजीर्णलक्षणवाला काल । जिस समय में किया हुआ आहार जीर्ण हो जाता है अर्थात् पच जाता है उसको जीर्णलक्षणवाला काल कहते हैं और जिसमें किए हुए आहार का परिपाक नहीं होता अर्थात् किया हुआ आहार जीर्ण नहीं होता उसे अजीर्णलक्षणवाला काल कहते हैं । ऋतुव्याध्यपेक्षकाल की तरह इन दोनों जीर्णाजीर्ण (कालों) का निर्देश भी क्रमशः स्वस्थ और आतुर को अधिकृत करके ही किया गया प्रतीत होता है । इसलिए कि स्वस्थ की जाठराग्नि प्रदीप्त होने के कारण वह आहार को जीर्ण करनेवाली होती है और आतुर ( रोगी ) की मन्दाग्नि आहार को जीर्ण करने में समर्थ नहीं होती अर्थात् अजीर्णलक्षणवाली होती है । इतना ही नहीं, सूक्ष्म विचार करने से जीर्णाजीर्णलक्षणवाले दोनों काल स्वस्थ और आतुर इन दोनों के लिए घट सकते हैं । अजीर्णे अर्थात् अजीर्ण लक्षणवाले काल में पहले किए हुए आहार का अपरिणत ( अपक्व या कच्चा ) रस आज के किए हुए आहार के रस में मिल कर बहुत जल्दी सब दोषों को प्रकुपित कर देता है । जीर्णे अर्थात् जीर्णलक्षणवाले काल में वातादि दोषों के अपने अपने स्थान में स्थित रहने से, वायु के अनुलोमन होने के कारण मल ( पुरीष ) मूत्र वेग के ठीक रहने से, डकार-हृदय के स्रोतों के मुख विशुद्ध रहने से, निर्मल इन्द्रियोंवाले लघु शरीर में जठराग्नि के प्रदीप्त होने के कारण क्षुधा लगने पर किया हुआ आहार वात आदि दोषों को प्रदूषित न करता हुआ आयु, बल और वर्ण को बढ़ानेवाला होता है अतः केवल यही एक काल भोजन करने या अन्नपान करने का है । इस जीर्णकाल के अतिक्रान्त होने या बीत जाने पर किया हुआ भोजन अतीतकाल-भोजन कहलाता है और यह वात विष्टब्धी, अन्न को देर से पचानेवाला, अन्न की रुचि को कम करनेवाला या नष्ट करनेवाला है । भावार्थ यह है कि इन दोषों को करनेवाला होने से अतीतकाल आहार करने के लिए हितकारी नहीं है ।

अष्टाङ्गसंग्रहटीकाकार इन्दु तो अजीर्णलक्षणकाल में अजीर्ण के दो प्रकार मानता है । जैसे कि एक अन्नाजीर्ण और दूसरा रसाजीर्ण या रसशेषाजीर्ण । "अजीर्णे हि पूर्वस्याहारस्यापरिणतो रस उत्तरेणोपसंसृज्यमानः सर्वान्दोषान् प्रकोपयत्याशु" इस वाक्य की टीका करता हुआ वह लिखता है कि–"अजीर्ण के दो प्रकार हैं, एक अन्न के अजीर्णत्व से और दूसरा आहारसार ( आहाररस ) के जीर्ण न होने से । अन्न के अजीर्ण में भोजन की इच्छातक नहीं होती और आहारसार के अजीर्ण में पूर्वाहार के और आज के किए हुए आहाररसोंका संमिश्रण होकर वह वायु आदि के उपलेप आदिद्वारा मार्गरोधादि करके शीघ्र ही प्रकोप को करता है ।"

उपयोगव्यवस्था तु नास्नातो न दिग्वासा नैकवस्त्रधृक् न मलिनवसनो नाहुत्वा नाजपित्वा नानिरूप्य देवताभ्यो न पितृभ्यो नादत्त्वाग्रमग्रये न गुरुभ्यो नातिथये नाभ्यागतेभ्यो न श्वभ्यः श्वपचेभ्यः प्रत्यवेक्ष्य चाश्रितानपि तिरश्चः परिगृहीतान् प्रशस्तदेशकालोपकरणयुक्तः स्रग्वी विभूषितः सुगन्धिरार्द्रपाणिपादः सुविशुद्धवदनोऽभिमतसहायः केशमक्षिकाद्यजुष्टमनिन्द्यमनिन्दन्न निन्दितं पुनर्नोष्णीकृतं नात्युष्णमनुपदग्धं सुसिद्धमलोलो नासात्म्यं नाविदितं नाविदितागमं नातिसायं नातिप्रगे नाकाशे नातपे नान्धकारे नाधो वृक्षस्य

साहित्यम्" इतीन्दुः । १. 'जीर्णेऽपि, इति पा० । २. "अथवातुरस्यापि ऋत्वपेक्षा वर्तत एव । तथा हि शरदि श्लेष्मजेऽपि व्याधौ तद्विपरीतान्यपि अत्यर्थतीक्ष्णोष्णानि दातुं न पार्यन्ते ।" इतीन्दुः ।

१. "अजीर्णस्य तु द्वैविध्यमन्नत्वेनाहारसारत्वेन च । अन्ने त्वजीर्णे भोजनेच्छापि न भवति । आहारसारे त्वजीर्णे उत्तरेणाद्यतनेन रसेन मिश्रीभूते वातादीनामुपलेपेन मार्गरोधादिना प्रकोपः शीघ्रमेव ।" इति

२. "नादत्वाग्रमन्नमग्नये" इति पा० । ३. "चाश्रितोपाश्रितानपि" इति पा० । ४. "तिरश्चोऽपि स्वपरिगृहीतान्" इति पाठः ।

न शय्यास्थो नोन्नम्य प्रदेशिनीं न पात्रे भिन्ने नासंवृत्ते न मलिने भावदूषिते वा न चासनस्थितेन हस्तेन प्राङ्मुखः सुमनाः शुचिभक्ताक्षुधितानुकूलजनोपहितं हितमन्नमश्नीयात्। न पर्युषितमन्यत्र मांसोपदंशभक्ष्येभ्यः। नाशेषमन्यत्र दधिमधुघृतसलिलसक्तुशुक्तपायसेभ्यः[1]। अपि च। स्निग्धं लघूष्णमविलम्बितमनतिद्रुतमजल्पन्नहसंस्तन्मनाः समीक्ष्य सम्यगात्मानम्।

अन्नपानकी उपयोगव्यवस्था—आहार का उपयोग किस प्रकार से किया जाय, किस प्रकार से न किया जाय अतः आचार्य इस विषय में कहते हैं कि—विना स्नान किए हुए, कुछ भी वस्त्र न धारण करते हुए-नङ्गे बदनसे, केवल एक वस्त्र पहने हुए या मलिन वस्त्र पहने हुए, तिलघृतादि से विना हवन किए, विना जप (ईश्वरस्मरण) के, देवताओं और पितरों को विना अर्पण किए, परोसे हुए प्रत्येक अन्न में से थोड़ा २ विना अग्निको अर्पण किए, गुरु—बान्धवादि—समागत अतिथि—अभ्यागत-श्वान-पक्षी-चाण्डाल आदि को विना दिए, अपने आश्रय में रहनेवालों-अपने आश्रितों के भी आश्रय में रहने वालों, गाय, अश्व आदि तथा स्वजनों को विना अर्पण किए मनुष्य को भोजन नहीं करना चाहिए।

भोजन की विधि—भोजन करनेवाले को चाहिए कि वह प्रशस्त-देशकालोपकरणयुक्त अर्थात् श्रेष्ठ स्थान, श्रेष्ठ समय और श्रेष्ठ भोजन की सामग्री से युक्त होकर, पुष्पमाला-रत्नादि से विभूषित, सुगन्धियुक्त होकर, हस्तपादप्रक्षालन कर, जल से भली भांति मुख की शुद्धि करके अपने मन के अनुकूल चलनेवाले सहायकों को लेकर ऐसे आहार या अन्नपान का सेवन करे जिसमें केश, मक्खियां आदि न पड़े हों, जो भावदुष्ट न हो अर्थात् जिस के देखने से मांस आदि की भावना प्राप्त न हो। अनिन्द्य (श्रेष्ठ) आहारसामग्री के प्राप्त होने पर भी उस की निन्दा करता हुवा भोजन न करे (कई मनुष्यों को देखते हैं कि वे चाहे जैसा श्रेष्ठ आहार सामने क्यों न आवे वे उसमें दोष निकालते हुए उस की निन्दा करते हैं, और भोजन करते हैं। अन्न ही प्राण है अतः शुद्ध एवं सिद्ध आहार में कदापि दोष नहीं निकालना चाहिए। सन्तप्त न होते हुए बड़ी शान्ति के साथ भोजन करना चाहिए।) ऐसे आहार को करना चाहिए कि जो ठण्डा होनेपर पुनरपि गरम न किया गया हो, जो अति उष्ण न हो, जो अग्निद्वारा दग्ध न हुआ हो, जो भली भांति पकाया हुआ हो अर्थात् कच्चा न हो, जो असात्म्य (अपनी प्रकृति के लिए हानिकारक) न हो, जिस के गुण और अवगुण अपने जाने पहिचाने हुए हों, जो शास्त्रों से अनुमोदित हो (जिसका शास्त्रोंने निषेध नहीं किया हो)। नातिसायं-नातिप्रगे अर्थात् सायंकाल के तथा प्रातःकाल के आरम्भ में भोजन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार विना छत के स्थानमें, धूप में, अन्धेरे में, वृक्ष के नीचे, शय्या (खटिया या गद्दी) पर बैठकर भोजन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार तर्जनी अंगुली को सुकड़ाकर भोजन न करे, न फूटे हुए बर्तन में, न ढके हुए पात्र में, न मैले (मलिन) पात्र में ही भोजन करना चाहिए। न भावदूषित, न आसन पर हाथ रखकर, न हाथ में पात्र लेकर, न हाथ में लेकर ही भोजन करे।

पूर्वाभिमुख (पूर्व दिशा की ओर मुख करके), प्रसन्न मन से पवित्र-अपने भक्त अक्षुधित (जो भूखे न हों) ऐसे अपने अनुकूल रहनेवालोंका परोसा हुआ हितकारी अन्न (भोजन) सेवन करना चाहिए। मांस तथा दांतों से तोड़कर खाए जानेवाले भक्ष्यों के अतिरिक्त अर्थात् कच्चे फलादिकों को छोड कर जो कि सिद्ध अन्नों के साथ खाए जाते हैं उन उपदंशों के सिवाय-फलादि को छोड़कर पर्युषित (बासी अन्न) को नहीं खाना चाहिए। दही, शहद, घृत, जल, सत्तू, शुक्त और दुग्ध निर्मित पदार्थों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का अशेष भोजन नहीं करना चाहिए अर्थात् इनमें से कुछ भोज्य भाग शेष रखना चाहिए परन्तु दही, शहद, घृतादि पदार्थ पूरे सेवन कर लेने चाहिए-इन में से शेष नहीं छोड़ना चाहिए। अविलम्बित (अनर्गल-बीच में न ठहरते हुए), अनतिद्रुत (बहुत जल्दी जल्दी से नहीं अपितु शान्ति के साथ धीरे धीरे), न बोलते, न हँसते हुए, भली भांति तन्मना (आहार में मनको तल्लीन करते हुए), समीक्ष्य सम्यगात्मानम् अर्थात् यह अच्छी तरह से देखता हुआ कि यह अन्नपान मेरे लिए हितकारी होगा या अहितकारी इत्यादि विचार करता हुआ भोजन करे कि जो अन्नपान स्निग्ध, उष्ण और लघु हो।

अब आचार्य अपने कहे हुए इन स्निग्ध, उष्ण, लघु, अविलम्बित, अनतिद्रुत आदि के गुणावगुणों का क्रम से कथन करते हुए कहते हैं कि—

स्निग्धलघूष्णानि हि वह्निमौदर्यमुदीरयन्ति कोष्ठं परिशोधयन्ति धातूंश्च विकुर्वते[2] क्षिप्रं जीर्यन्त्यनिलमनुलोमयन्ति। तथा स्निग्धं दृढीकरोतीन्द्रियाण्युपचिनोति शरीरमपचिनोति जरसं बलमभिवर्धयति वर्णप्रसादमभिनिर्वर्तयति। लघु च पुनः स्वभावादिभिरन्नमप्रतिपीडयद्दोषानव्यथमानं परिणाममेति। विपन्नमपि चाल्पदोषं भवति। उष्णं पुनर्जनयति रुचिमुपशोषयति श्लेष्माणम्।

विलम्बितं तु भुञ्जानो न तृप्तिमधिगच्छति बहु च भुङ्क्ते शीतीभवति चान्नजातं विषमपाकं च भवति। अतिद्रुतं तु भुञ्जानस्य जल्पतो हसतोऽन्यमनसो वा भवेदुत्स्नेहनमवसादनं भोजनस्याप्रतिष्ठानं गुणदोषाविभावनं च।

समीक्ष्य सम्यगात्मनमिति ममेदं सात्म्यमिदम-

---

१. "शुक्तपायसेभ्योऽपि च" इति पाठः।

२. नातिसायं नातिप्रग इति चेत्याचार्यस्य दिनारम्भे दिनक्षये च भोजनप्रतिषेधोऽभीष्टः।" इतीन्दुः

१. "शुच्यादिगुणयुक्तेन परिजनेनोपहितं ढौकितम्। उपदंशं यदग्निसिद्धमपि फलादि दन्तेनोपदंश्यान्नेन सह भुज्यते।" इतीन्दुः

२. "स्निग्धादीनि त्रीणि धातून् रसादीन् निर्मलीकरणेन उपदृढत्वेन च न विकुर्वते" इतीन्दुः।

सात्म्यमिति नित्यमप्रमत्तः प्रत्यवेक्षेत । तत्र सात्म्यं नाम सहात्मना भवत्यभ्यस्तं तदौचित्यादुपशेत इत्येके। सात्म्यविपरीतमनुपशयादसात्म्यम् । अन्ये पुनः प्रकृतिवयोदेशर्तुदोषव्याधिवशेन सात्म्यं बहुविधमिच्छन्ति । ते ह्युपशयमात्रमङ्गीकृत्य विपरीतगुणमप्युपचारेण सात्म्यमाचक्षते । तुल्यगुणं चानुपशयादसात्म्यम् । सात्म्यं तु प्रवरावरमध्यविभागेन त्रिविधम् । तत्र सर्वरसं प्रवरमेकरसमवरं मध्यं तु मध्यममेव। तेषु प्रवरं समदोषस्योपदिशन्तीति। तेषामपि क्रमेण सात्म्यमपि चाहितं पादेन पादांशेन वा विवर्जयेदित्युक्तं प्राक्। तत्र यदाहारजातं समान् धातूननुवर्तयति विषमांश्च समीकरोति तत्समासतो हितम् । विपरीतमहितम् । तत्पुनर्मात्रायोगादिवैचित्र्यादनियतमपि यथोपदेशं यथा भूयिष्ठं च शीलयेत्परिहरेच्च । तथा विशेषतः समशनमध्यशनममात्राशनं विषमाशनं च वर्जयेत् ।

स्निग्ध, लघु और उष्ण आहार के गुण--स्निग्ध, लघु और उष्ण ये तीनों जाठराग्नि को प्रदीप्त करते हैं, कोष्ठ (उदर) का परिशोधन करते हैं, रसरक्तादि धातुओं को निर्मल बनाकर उनका उपबृंहण करते हैं-उन्हें विकृत या दूषित नहीं करते। आहार को जल्दी पचाते हुए वायुका अनुलोमन करते हैं। स्निग्ध, लघु और उष्ण इन तीनों में सूक्ष्म विचार करने से प्रत्यक्ष तीनों दोषों की साम्यावस्था का छुपा हुआ निर्देश दिखाई देता है। यथा स्निग्ध से कफ, लघु से वायु और उष्ण से स्पष्ट पित्त का पता चलता है। आयुर्वेद का सिद्धान्त ही है कि वात, पित्त और कफ इन तीनों की साम्यावस्था शरीर का उपबृंहण करनेवाली है। समन्वयरूप से इन तीनों के फल का वर्णन कर के अब आचार्य स्निग्ध,लघु और उष्ण के अलग अलग गुणों का वर्णन करते हैं। जैसे कि—

स्निग्ध आहार के गुण—स्निग्ध आहार इन्द्रियों को दृढ (मजबूत) करता है, शरीर को पुष्ट करता है, वृद्धावस्था को दूर करता, बल को बढ़ाता और शरीरवर्ण की निर्मलता को बनाए रखता है।

लघु आहार के गुण—लघु आहार अपने लघु स्वभावादि (स्वभाव-संयोग-संस्कारादि) के कारण दोषों को प्रकुपित न करते हुए अन्न को ऐसे परिणाम पर पहुँचाता है कि जिसमें किसी प्रकार की पीडा नहीं होती। यदि कदाचित् पीडा भी हुई तो वह विशेष नहीं होती।

उष्ण आहार के गुण—उष्ण आहार रुचि को उत्पन्न करता तथा कफका शोषण करता है।

विलम्बित आहार के दोष—विलम्बित अर्थात् ठहर ठहर कर आहार करनेवाला तृप्ति को प्राप्त नहीं होता हुआ अधिक अन्न खा जाता है और ठहर ठहर कर भोजन करनेवाले का आहार सब ठण्डा हो जाता है अतः उसका समपाक न होकर विषमपाक होता है। सारांश यह कि उसकी समाग्नि भी विषमाग्नि के रूपको धारण कर लेती है।

अतिद्रुत आहार के अवगुण—बहुत जल्दी जल्दी आहार करनेवाला भोजन करते समय अन्य लोगों के साथ बातचीत करता और हँसता है। इससे उसका मन भोजन में न रहकर अन्यान्य विषयों में चला जाता है। इतना ही नहीं, उसके भोजन की स्नेहता नष्ट होकर समुचित आहार के गुणों का अवसादन होता अर्थात् वे गुण मन्द हो जाते हैं अतः उससे उसको अग्निमान्द्य की प्राप्ति होती है, भोजन के हिताहितकारी द्रव्यों का विचार नहीं कर सकता अतः भोजन की अप्रतिष्ठा होती है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह विलम्बित और अतिद्रुत भोजन न किया करे।

हिताहित आहारादिनिरूपण—"समीक्ष्य सम्यगात्मानम्" अर्थात् अपने विषय में अच्छी तरह हिताहित का विचार करके भोजन करे। भावार्थ यह है कि मेरे लिए यह आहार सात्म्य (पथ्यकारी या हितकारी) है या असात्म्य (अपथ्यकारी या अहितकारी) है इसका विचार नित्यप्रति आहार करते समय आलस्य को छोड़कर अवश्य किया करे।

सात्म्यासात्म्याहारनिरूपण—सात्म्य उसे कहते हैं जो जन्म से लेकर अपनी आत्मा के साथ अभ्यास करने से सात्म्य (अपने लिए सुखकारी) हो गया है। इतना ही[1] नहीं, कभी कभी स्वल्पकाल के अभ्यास से भी सात्म्य हो जाता है। वही सात्म्य किया हुआ आहार समुचित रीति से उपयोग में लाने से सुखकारी या उपशय होता है। यह कुछ लोगों का मत है। सात्म्य से विपरीत अनुपशय (दुःखकारक) आहार को असात्म्य कहते हैं परन्तु कुछ लोग प्रकृति, वय, देश, ऋतु, दोष और व्याधि के कारण अनेक प्रकार का सात्म्य मानते हैं। इतना ही नहीं, वे जन्म से लेकर अभ्यास करने से बने हुए सात्म्य की अपेक्षा न करते हुए प्रकृति-देश-वय-ऋतु आदि के अनुसार शरीरसंवर्धक द्रव्य-गुणों से विपरीत गुणवाले पदार्थ को भी संप्रति सुखका हेतु होने से सात्म्य कहते हैं। इसी प्रकार तुल्यगुणविशिष्ट पदार्थ को भी अनुपशय (असुखकारी) होने से असात्म्य मानते हैं।

सब प्रकार का सात्म्य श्रेष्ठ, हीन और मध्यमभेद से तीन तरह का होता है। इनमें श्रेष्ठ सात्म्य वह है जो सर्वरससात्म्य कहलाता है। इसमें प्रकृति और वातादि दोषों का साम्य रहता है। हीन सात्म्य वह है जो एक रससात्म्य होता है। इस में प्रकृति और दोषों की समानता न रहकर असमता रहती है। मध्यम सात्म्य वह है जिस में प्रकृति और दोषों का कुछ साम्य रहता है तो कुछ असाम्य रहता है। ध्यान रहे कि विषम दोष और प्रकृतिवाला हीन तथा मध्यम सात्म्य भी अभ्यास करने से श्रेष्ठ एवं सर्वरससात्म्य बन सकता है। इसलिए अहितकारी सात्म्य का पाद तथा पादांश (चौथाई या षोडशांश) क्रम से जैसे कि पहले कहा गया है, धीरे धीरे परित्याग कर के सर्वरससात्म्य को प्राप्त कर लेना चाहिए। अहितकारी सात्म्य वह है जिसे शास्त्रकारों ने ओकससात्म्य कहा है। उदाहरणार्थ जैसे मनुष्य अभ्यासद्वारा गांजा, भांग, अफीम, तम्बाकू आदि अहितकारी-असात्म्य पदार्थों को भी अपने लिए सात्म्य बना लेता है परन्तु वे तात्कालिक सुख के

१. "भवत्यतस्तदौचित्यात्" इति पाठान्तरम् ।

१. "स्वल्पकालाभ्यस्तमपि सात्म्यमेव" इतीन्दुः ।

आभास मात्र को देनेवाले हैं न कि सर्वरससात्म्य के देनेवाले। इसीलिए शास्त्रकारों का उपदेश है कि ऐसे अहितकारी सात्म्य को पाद या पादांश विधि से धीरे धीरे छोड़ देना चाहिए।

सात्म्यासात्म्य की संक्षेप में व्याख्या—जो आहार समधातुओं को ठीक रखता है न्यूनाधिक नहीं होने देता और विषम धातुओं को साम्यावस्था में लाता है वही समासतः (संक्षेपतः) सात्म्य है और जो इसके विपरीत है उसे असात्म्य समझना चाहिए।

जिसका स्वरूप अनिश्चित है ऐसे मात्रा-संयोग-संस्कारादि के कारण विचित्र हिताहित आहार का शास्त्रों के उपदेशानुसार जहां तक बन सके सेवन और परित्याग करना चाहिए। विशेषतः समशन, अध्यशन, अमात्राशन और विषमाशन का परित्याग करना चाहिए। अब क्रमशः आचार्य इन समशनादि का वर्णन करते हैं।

तत्र पथ्यापथ्यमेकत्रभुक्तं समशनम्। भुक्तस्योपरिभुक्तमध्यशनम्। अमात्राशनं पुनः पृथगेवोपदेक्ष्यते। अप्राप्तातीतकालं तु भुक्तं विषमाशनमिति।

समशन, अध्यशनादि के लक्षण—पथ्य और अपथ्य पदार्थों को एक साथ मिला कर खाने का नाम समशन है। भोजन कर लेने पर भी थोड़े समय के बाद पुनः भोजन करना अध्यशन कहलाता है। अमात्राशन का स्पष्टीकरण आगे चलकर अलग किया जायगा। भोजन करने के उचित समय पर भोजन के न करने से या भोजन समय के बीत जाने पर जो भोजन किया जाता है उसे विषमाशन कहते हैं।

मुद्गानस्तु पेयायूपरसान् व्यञ्जनानि राजतेषु पात्रेषु निदध्यात्। परिशुष्कप्रदिग्धानत्युष्णं च पयः सौवर्णेषु। खलकट्वरकाम्बलिकान् कांस्येषु। रागखाण्डवसट्टकान् वज्रवैडूर्यविचित्रेषु। घृतमायसे। पयः सुशीतं ताम्रमये। पानीयपानकानि च मृद्धेमस्फटिकमयेषु। ओदनं च विस्तीर्णे मनोरमे स्थाने। अन्यथा हि वर्णगन्धरसान्यत्वादहितं स्यात्। अपि च—

अन्नपानोपयोगी पात्रों का वर्णन—भोजन करनेवाले को चाहिए कि वह पेया, यूष, रस और व्यञ्जनों को राजत (रूपेके) पात्रों में रक्खे। परिशुष्क अर्थात् बहुघृत में पकाया हुआ पुनः गरम जल से सिद्ध कर जीरकादि युक्त मांस और प्रदिग्ध अर्थात् पूर्ववत् सिद्ध मांस गाढ़ी छाछ तथा त्रिजातक (तज-पत्रज-इलायची) से युक्त, जो अधिक उष्ण न हो ऐसा दूध, इन को सोने के पात्रों में रक्खे। खल (लेह के सदृश अन्न सिद्धि का एक प्रकार), कट्वर (दूध माखन Butter milk, दही की मलाई, दही का सर या तोड़, तक्र या तक्रादिसाधित व्यञ्जन विशेष[2]) तथा काम्बलिक (दहीमस्तु आदि से सिद्ध किया हुआ अम्लयूष[1]) इन्हें कांसे के पात्रों में रक्खे। रागखाण्डव, शर्करा, काला और सेंधा नमक से युक्त कोकम-इमली-फालसा-जामुन-रस से राई डालकर बनाया हुआ राग तथा खांडव (मधुर-अम्ल-लवण रसोंद्वारा बना हुआ अनेक प्रकार का व्यञ्जन) और सट्टक सौंठ-मिरच-पीपल-जीरक-दाडिम शर्करायुक्त मथा हुआ दही) इन्हें वज्र, वैडूर्य आदि के चित्र विचित्र पात्रों में रक्खे। घृत को लोहे के पात्र में रक्खे। अच्छे ठण्डे पीने योग्य जल को ताम्रपात्र में और इसी प्रकार पीने के योग्य पानकों को मिट्टी, सुवर्ण और स्फटिकमय पात्रों में रक्खे। ओदन अर्थात् माँडरहित भात को अच्छे विस्तीर्ण स्थान (थाली आदि पात्र) में रक्खे। यदि इस प्रकार न किया जायगा तो इन सब अन्नपानादि द्रव्यों के वर्ण, गन्ध और रस में अन्यत्व आने (विगाड़ आ जाने) से अहित होने का संभव होगा। भावार्थ यह कि उन के सेवन करने से वे हानिकारक होंगे।

दक्षिणपार्श्वे भक्ष्यं स्थापयेत्। सव्ये पेयं मुखोद्धर्षणपिण्डीं च। मध्ये भोज्यमिति यथाग्निसात्म्यं तु प्राक् द्रवमुपशुष्कं वाश्नीयात्। प्रागेव तु गुरु स्वादु स्निग्धं च। मध्येऽम्ललवणम्। अन्ते रूक्षं द्रवमितररसयुक्तं च। तत्र मन्दाग्नेर्द्रवोष्णेन समुत्तेजितोष्मणोऽन्यदुपयुक्तं सम्यक्पाकमेति।

भक्ष्यभोज्यादि के स्थापना प्रकारादि—भक्ष्य (लड्डू आदि) को दाहिनी ओर, पेय (पीने के योग्य) पदार्थ और मुखोद्धर्षण पिण्डी को बाईं ओर तथा भोज्य (भात आदि) बीच में अपने सामने रक्खे। अपनी जठराग्नि की सात्म्यता या बलानुसार पहले द्रव और उपशुष्क पदार्थों का सेवन करे और पहले ही गुरु, मधुर और स्निग्ध पदार्थों का सेवन कर लेवे। भोजन के मध्य में अम्ल और लवण रसवाले पदार्थों का सेवन करे और अन्त में रूक्ष, द्रव और इतर रसयुक्त पदार्थों का सेवन करे। इस प्रकार आहार के करने से मन्दाग्निवाले की जठराग्नि द्रव और उष्ण से उत्तेजित होकर और पदार्थ के सेवन करने पर भी वह उसे पचा देती है।

आहारविधिवर्णन के अनन्तर अब आचार्य अनुपानों को कहते हैं।

अनुपानं तु सलिलमेव श्रेष्ठं सर्वरसयोनित्वात्सर्वभूतसात्म्यत्वाज्जीवनादिगुणयोगाच्च। तच्छीतं दधिमधुगोधूममद्यविशेषेषु सर्वेषु च विदाहिषु शरद्ग्रीष्म-

१. "मांसं बहुघृते पक्वं सिद्धं चोष्णाम्बुना मुहुः। जीरकाद्यैः समायुक्तं परिशुष्कं तदुच्यते॥ तदेव घनतक्राढ्यं प्रदिग्धं सत्रिजातकम्।" इति राजनिघण्टुः।

२. "खडः यूषविशेषः, सतक्रशमीधान्यः, सतक्रशाकश्च।" कट्वरं तक्रम्। अन्ये तु "सौवीराम्लमथात्यम्लं काञ्जिकं कट्वरं विदुः। अन्ये तु तदधोभागं तक्रं वा ह्यम्लतां गतम्। सस्नेहं दधिजं तक्रमाहुरन्ये तु कट्वरम्।" इति उह्लनः सु० सू० अ० ४६-४५०

१. "दधिमस्त्वम्लसिद्धस्तु यूषः काम्बलिकः स्मृतः।" इति उह्लनः सु० सू० अ० ४६-४५२

२. "सितारुचकसिन्धूत्थैः सवृक्षाम्लपरूषकैः। जम्बूफलरसैर्युक्तो रागो राजिकया कृतः॥" "षाडवाः पुनर्मधुराम्ललवणसंयोगजा नानाविधाः, विशेषतः सूदेभ्यो ज्ञेयाः।" "सट्टकस्तु-" लवङ्गव्योषखण्डैस्तु दधि निर्मथ्य गालितम्। दाडिमबीजसंयुक्तं चन्द्रचूर्णावचूर्णितम्॥ सट्टकम् इत्यादि उह्लनः। ३. "द्रवद्रव्यमिति"। च पाठः

योश्च । उष्णं पिष्टमयेष्वन्येषु च दुर्जरेषु हेमन्ते च । द्रवद्रव्यविज्ञानं चेक्षेत ! क्षीरं शालिषष्टिकयोस्तथोपवासाध्वभाष्यस्त्रीव्यायामक्लान्तबालवृद्धेषु । मांसरसः शोषादिषु । वाते त्वम्लानि च । पित्ते शर्करोदकम् । त्रिफलोदकं तु सक्षौद्रं श्लेष्मणि प्रायशश्चाक्षिगलरोगेषु । मस्त्वेव वा दधनि कूचीकाकिलाटयोश्च । धान्याम्लं मस्तु तक्रं वा शाकावरान्नेषु । मद्यं मांसेषु फलाम्लमम्बु वासवांश्च विविधान्विभज्य प्रयोजयेत् । विशेषतस्तु मध्वासवान् ग्राम्येषु । तीक्ष्णान् फलासवानन्येषु । न्यग्रोधादिफलासवान्विष्किरेषु । अर्कसेलुशिरीषकपित्थासवान्बिलेशयेषु दिग्धहतेषु च । अम्लफलासवान् प्रसहेषु । कासेक्षुपद्मचीजशृङ्गाटककसेरुकमृद्वीकामदिरासवान् क्षौद्रयुक्तं वा शीतमुदकमुदश्वित्वा महामृगेष्वौदकेषु च । सुरां प्रतुदेषु तथा श्रमार्तेषु कृशेषु च । मधूदकं स्थूलेषु । मद्यं मद्यमांससात्म्यालपाग्निषु च । अपि च । समासेनान्नविपरीतमविरोधि च ।

अनुपानकथन—अनुपान अर्थात् भोजन करने के अनन्तर पीने में जल ही श्रेष्ठ है इसलिए कि जल मधुरादि सब रसों को उत्पन्न करनेवाला, सब प्राणियों के लिए सात्म्य एवं जीवनादि गुणों करके युक्त है । इस में यह विशेष है कि दही, शहद, गेहूं, मद्य विशेष एवं सब प्रकार के विदाही पदार्थों के सेवन करने के बाद तथा शरद् और ग्रीष्म ऋतु में शीतल जल का पीना श्रेष्ठ है। पिष्टमय एवं जल्दी न पचनेवाले अन्य अन्नों के सेवन करने के पश्चात् तथा हेमन्त ऋतु में उष्ण जल का पीना श्रेष्ठ है। इस विषय में विशेषतः द्रवद्रव्यविज्ञानीय अध्याय का अवलोकन करना चाहिए। शालिधान्य एवं साठी चावल सेवन के पश्चात् तथा उपवास–मार्ग का चलना–व्याख्यान–स्त्रीसंग–व्यायाम की थकावट–बालक और वृद्ध इन सब के लिए दूध का पीना हितकारी है । शोष (क्षय) आदि में मांसरस, बढ़े हुए वात में अम्लादि एवं मांसरस, बढ़े हुए पित्त में शक्कर का जल (शर्बत) पीना हितकारी है। इसी प्रकार बढ़े हुए कफ तथा नेत्र और गलरोग में शहद-मिश्रित त्रिफला का औटाया हुआ जल श्रेष्ठ है। कूचिका तथा किलाट सेवन के अनन्तर मस्तु (दुगुने जल के साथ बनाया हुआ दही का तक्र) का पीना श्रेष्ठ है । कूची उस फटे हुए घनीभूत दूध का नाम है जो गरम दूध में दही या तक्र डालने से बनता है और किलाट अम्ल पदार्थ के योग से नष्ट (फटे हुए) गरम दूध के घन भाग को कहते हैं। इसी को अंगरेजी में Inspissatted milk कहते हैं । इसी प्रकार से कच्चे दूध को फाड़ने का नाम क्षीरशाक है। दही का अनुपान पहले शीतल जल कह चुके हैं परन्तु यहां फिर मस्तु अनुपान कहा सो दही कूची और किलाट के समुच्चयार्थ है । दही के लिए दोनों अनुपानों के समुच्चय प्रतिषेधार्थ ही मस्तु एव कहा है। सारांश, शीतल जल और मस्तु ये दोनों अनुपान दही के लिए हैं परन्तु कूचिका और किलाट के लिए केवल मस्तु ही अनुपान है । शाक और अवरान्न (विदलित अन्न दाल आदि) के लिए धान्य की कांजी, मस्तु और तक्र का अनुपान ठीक है । सब प्रकार के मांसों के अनन्तर मद्य, फलाम्ल (अंगूर आदि के सिर्के), जल अथवा भली भांति विभाजन करके नाना प्रकार के अनुपान की योजना करना चाहिए। जंगली पशुओं के मांस-सेवन के बाद फलोंद्वारा निर्मित तीक्ष्ण आसवों का अनुपान उत्तम है । विष्किर (विखेरकर खानेवाले कुक्कुट आदि) के मांस के लिए न्यग्रोधादि अर्थात् बड़ आदि के फलों के आसवों का अनुपान प्रयुक्त करना चाहिए । बिलेशय (बिल में रहनेवाले शशक आदि) तथा दिग्धहत (बाण आदि से मारे हुए) पशु–पक्षियों के मांस के लिए आक, लिहसोड़ा, सिरस और कैथ के आसवों का अनुपान उचित है । प्रसह जाति के पशु–पक्षियों के मांस के अनन्तर खट्टे फलों के आसवों का अनुपान देना चाहिए। महामृग अर्थात् सिंह, हाथी आदि, औदक (जल में रहनेवाले), पशु–पक्षियों के मांससेवन के पश्चात् कास, ईख, कमलगट्टे, सिंघाड़े, कसेरू एवं दाख के बने मद्य तथा आसवों का, शहदयुक्त ठण्डा जल और मट्टे (उदश्वित्) का अनुपान देना चाहिए । निर्जल, चौथाई या आधा जल देकर मथे हुए दही का नाम उदश्वित् है । इसी प्रकार प्रतुद=गीध, काक, आदि पक्षियों के मांससेवन के बाद तथैव परिश्रम से थके हुए दुर्बलों के लिए सुरा नाम की मदिरा का अनुपान, स्थूल शरीरवालों के लिए शहद मिलाया हुआ जल का अनुपान श्रेष्ठ है । जिनके लिए मद्य–मांस सात्म्य हो रहे हों और जिनकी जठराग्नि मन्द हो तो उनके लिए मद्यका अनुपान हितकारी है। संक्षेप में अनुपान वही ठीक होता है जो आहार का विरोधी एवं अविरोधी अर्थात् रसरक्तादि धातुओं के विरुद्ध न हो । यहां आहार से विपरीत का तात्पर्य आहार गुणों से विपरीत का है जैसे कि स्निग्ध का रूक्ष और रूक्ष का स्निग्ध, शीत का उष्ण और उष्ण का शीत, मधुर का अम्ल और अम्ल का मधुर । इसमें यहां प्रश्न हो सकता है कि अम्ल का मधुर और मधुर का अम्ल अनुपान ग्रहण करने से दही (अम्ल) का दूध (मधुर) और दूध (मधुर) का अनुपान दही (अम्ल) अर्थात् कांजी आदि लेना उचित होगा क्या? इसी के समाधानार्थ कहा गया है कि जो अनुपान रसरक्तादि धातुओं के विरुद्ध न हो वही लेना उचित है।

अब आचार्य अनुपान के कर्म एवं गुणों का वर्णन करते है। यथा—

१. "अष्टाङ्गसंग्रह सूत्रस्थानीयाध्यायः"। २. "उक्तं दधि द्विगुणवारियुतं तु मस्तु।" राजनिघण्टुः

३. "नष्टदुग्धस्य पक्वस्य पिण्डः प्रोक्तः किलाटकः। अपक्वमेव यन्नष्टं क्षीरशाकं हि तत्पयः॥ पक्वं दध्ना समं क्षीरं विज्ञेया दधिकूचिका। तक्रेण तक्रकूची स्यात्तयोः पिण्डः किलाटकः॥" इति।

१. "उभयानुपानसमुच्चयप्रतिषेधार्थमेवकारकरणम्। तेन शीतोदकं वा मस्तु वा दध्न अनुपानमित्यर्थः। कूचिकाकीलाटयोश्च मस्त्वेव" इतीन्दुः॥

२. "तक्रं ह्युदश्विन्मथितं पादाम्ब्वर्धाम्बुनिर्जलम्" इत्यमरः॥

३. "यदाहारगुणैः पानं विपरीतं तदिष्यते। अन्नानुपानं धातूनां दृष्टं यन्न विरोधि च॥" इति चरकः स्पष्टीकरणमस्यावलोकनीयः श्रीयोगीन्द्रनाथकृते चरकोपस्कारे।

अनुपानं खलु तर्पयति प्रीणयत्यूर्जयति बृंहयति देहस्य पर्याप्तिमभिनिर्वर्तयति भुक्तमवसादयत्यन्नसंघातं भिनत्ति मार्दवमापादयति क्लेदयति सुखपरिणामिता-माशुव्यवायितां चाहारस्योपजनयति।

अनुपान के गुण—अनुपान मनुष्यको तृप्त करता है, शरीर और इन्द्रियों का पोषण कर उन्हें पुष्ट करता है, बलको बढ़ाता है, पुष्ट करता है। भाजन किए हुए अन्न की व्याप्तिको सुख-दायिनी बनाता है। भुक्त अन्नको पचाता, अन्नसंघात अर्थात् बंधे हुए अन्न को भेदन करता (ढीला करता) है और उसमें मृदुता लाता है। इतना ही नहीं, अन्न को क्लेदन करता अर्थात् गीला करता है, किए हुए आहारके परिणामको सुख-कारक बनाता और आहार को सारे शरीर में जल्दी व्याप्त करता है।

विशेष वक्तव्य—महर्षि भेलका कहना है कि अनुपान अन्न को सुख से पचाता, रुचि उत्पन्न करता, अपकर्षण करता और मनुष्यों को सात्म्यता प्रदान करता है। सुश्रुताचार्य अनुपान के अनेक गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि स्थिरता को प्राप्त हुआ कठोर अन्न अनुपान के बिना अनेक रोगों को देने-वाला होता है अतः अनुपानका सेवन अवश्य करना चाहिए।

अनुपान जिनके लिए नहीं देना चाहिए अब उनका वर्णन करते हैं।

वर्ज्यं तूर्ध्वजत्रुगदश्वासकासप्रसेकहिध्मास्वरभेदोरः क्षतिभिर्गीतभाष्यप्रसक्तैश्च। तेषां हि प्रदूष्यामाशयमुरः कण्ठस्थितमाहारजं स्नेहमासाद्य तदभिष्यन्दाग्निसाद-च्छर्द्यादीनामयान् विदध्यात्। पीत्वा च भाष्यगेया-ध्वस्वप्नान् शीलयेत् पानं तु प्रक्लिन्नदेहमेहकण्ठाक्षिरो-गव्रणिन इति।

अनुपाननिषेध—ऊर्ध्वजत्रुगदवाले (मुख-दांत-कण्ठ-नाक-कान तथा सिर के रोगी), श्वास, खांसी, प्रसेक (लारका मुख से टपकना), हिचकी, स्वरभेद, उरःक्षत तथा गायन-भाषण करनेवाले प्राणियों को चाहिए कि वे भोजन करने के बाद अनुपान सेवन न करे अर्थात् जलपानादि न करे। यदि ये लोग जलपानादि अनुपान का सेवन करेंगे तो वह अनुपान आमाशय को दूषित करके छाती और कण्ठ में स्थित आहारो-त्पन्न स्नेह को प्राप्त कर उनके लिए अभिष्यन्द, अग्निमान्द्य, वमन एवं इसी प्रकार के अन्य रोगों को करता है। उपर्युक्त ऊर्ध्वजत्रुगत रोगवालों को चाहिए कि वे जलपान (अनुपान) करके भाष्य (व्याख्यान), गाना, मार्ग का चलना तथा सोना इन कर्मों को न करे क्योंकि इस प्रकार करने से इनका सेवन किया हुआ अनुपान देह को क्लिन्न (गीला) बनाकर प्रमेह, कण्ठरोग, नेत्ररोग, एवं व्रणरोगको उत्पन्न करनेवाला होता है।

भोजन करने के बाद क्या करना चाहिए अब उसका वर्णन करते हैं।

ततः पाणिगतमन्नमन्येनापनीय दन्तान्तरस्थं च शनैः शोधनेन विशोध्य विधाय लेपगन्धस्नेहापनोद-माचान्तोऽङ्गुल्यग्रगलिताम्बुपरिषिक्तनेत्रस्ताम्बूलादिक्ल-तवदनवैशद्यो धूमपानादिहृतोर्ध्वकफवेगः पदशतमात्रं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत्। द्रवोत्तरभोजनस्तु शय्यां नाति सेवेत्। यानप्लवनवाहनाग्न्यातपांश्च भुक्त्वा-न्नवर्जयेत्।

भोजनोत्तर कर्त्तव्य कर्म—भोजन करने के अनन्तर हाथ में लगे हुए अन्न को दूसरे सूखे हाथ से दूर कर, दांतों में लगे हुए अन्न को वक्ष्यमाण शस्त्रविधि में वर्णित दन्तशोधनयन्त्र से धीरे धीरे साफ कर, लेप-गन्ध-चिकनाई को दूरकर जिसने आचमन कर लिया है, अंगुलियों के अग्रभाग से टपकते हुए जल से जिसने नेत्रों को परिषिक्त किया है, ताम्बूलादि (नाग-रबेल के पान, चूना, कत्था, सुपारी, लवङ्ग, इलायची आदि) से जिसने मुख को विशद (साफ) किया है, धूमपान द्वारा जिसने ऊर्ध्व कफ के वेग को दूर कर दिया है उसे चाहिए कि वह शतपद मात्र (केवल सौ पांवड़े) चलकर फिर बांएं पसवाड़े से लेट जावे। द्रव पदार्थों के बाद भोजन करनेवाले को चाहिए कि वह विशेष न सोवे। भोजन के पश्चात् तुरन्त ही वाहन पर कूदकर सवारी करना, वाहन, अग्नि तथा धूप इनका सेवन नहीं करना चाहिए।

अब आचार्य आहार के परिणामकारक भावों का वर्णन करते हैं।

आहारपरिणामकराः पुनरूष्मा[1] वायुः क्लेदः[2] स्नेहः कालः समयोगश्च। यत्रोष्मा पाचयति[3] वायुरपकर्षति क्लेदः शैथिल्यमापादयति स्नेहो मार्दवं जनयति कालः सर्ववपुर्व्याप्तिमभिनिर्वर्तयति समयोगस्त्वेषां परिणाम-[4]साम्यकरः संपद्यते। समयोगस्य पुनः[5] कारणान्युचितो हितश्च देवसंस्कारोऽभ्यवहारश्रेष्ठा शयनं सौमनस्यं च। परिणामतस्त्वाहारगुणाः[6] शरीरजंगुणभावमापद्यन्ते[7] यथास्वमविरुद्धाः। विरुद्धजास्तु विहिताश्च[8] विरोधिभि-र्विहन्युः[9] शरीरमिति। भवन्ति चात्र।

आहार के परिणामकारक भाव—ऊष्मा (पित्त), वायु, क्लेद (कफ), स्नेह, काल और समयोग ये आहार के परिणाम-कारक भाव हैं। इनमें से ऊष्मा (जठराग्नि) आहार को पचाता है। वायु अपकर्षण करता है अर्थात् अन्न के भली भांति परिपाक के लिए उसे एक स्थान से दूसरे, दूसरे से तीसरे स्थान में खींचकर ले जाता है। क्लेद अन्न के संघात को ढीला करता है। स्नेह अन्न में मार्दवता (मृदुता) लाता है अर्थात् उसकी कठिनता को नष्ट करता है। काल सारे शरीर में आहार की व्याप्ति करता है और इन सबका समयोग अन्न के परिणाम रूप बननेवाले धातुओं में साम्यता लाता है। उचित,

१. चाहारमुपनयति इति पा० २. स्थिरतां गतमक्लिन्नमन्नमद्रव-पायिनाम्। भवत्याबाधजननमनुपानमतः पिबेत्॥ इति

१. पुनरिमे भावाः। तद्यथा ऊष्मा वायुरितीन्दुः। २. स्नेहः क्लेदः पा०। ३. पचति पा०। ४. अन्नपरिणाम पा०। ५. तु पुनः पा०। ६. परिणमतस्त्वाहारस्य गुणाः पा०। ७. शरीरगुण पा०। ८. विहताश्च पा०। ९. वायुः स्थानात्स्थानमन्नस्य पाकायापकर्षति इतीन्दुः।

हितकारी, देहसंस्कार, आहार, चेष्टा, शयन और सौमनस्य (मनकी विशुद्धता) ये सब समयोग के कारण हैं। समयोग के कारण किया हुआ आहार परिणाममें क्रमसे अविरुद्ध रहते हुए अपने गुरुत्व, द्रवत्वादि गुण शरीरस्थ गुरुत्व-द्रवत्वादि गुणों के साथ एकत्वभाव को प्राप्त होते हैं। असम्यक् योग से किया हुआ आहार परिणाम में विरोधी गुणों से मिलकर शरीर का नाश करता है। सारांश,' 'वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः'' इस उक्तिका फल समयोग एवं विषम योग के कारण होता है। इसी लिए कहा है कि—

> [1]कुकूलभृष्टपृथुकान् सुपिष्टकृततन्दुलान् ।
> न जातु भुक्तवान्द्यान्मात्रयाद्यात्सुकांक्षितः ॥
> शाकावरान्नकटव्म्लकषायलवणोत्कटम् ।
> त्यजेदेकरसासात्म्यं गुरु शुष्कं च भोजनम् ॥
> वक्ष्यते यन्निदानादौ सर्वरोगप्रकोपनम् ।
> अत्यभिष्यन्दि विष्टम्भि विदाहि हिमरूक्षणम्[2] ॥
> किलाटदधिकूचीकामत्स्यशुष्कामसूलकम्[3] ।
> क्षारपिष्टविरूढाद्यं तत्समस्तं न शीलयेत् ॥
> शीलयेच्छालिगोधूमयवषष्टिकजाङ्गलम् ।
> सुनिषण्णकजीवन्तीबालमूलकवास्तुकम् ॥
> पथ्यामलकमृद्वीकापटोली मुद्गशर्कराः ।
> घृतदिव्योदकक्षीरक्षौद्रदाडिमसैन्धवम् ॥
> त्रिफलां मधुसर्पिर्भ्यां निशि नेत्रबलाय च ।
> स्वास्थ्यानुवृत्तिकृद्यच्च रोगोच्छेदकरं च यत् ॥
> स्वभावमात्रायोगादिपरस्परविपर्ययैः ।
> भोजनानि विरुध्यन्ते तानि विद्वान्विवर्जयेत् ॥
> त्यागाद्विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात् ।
> विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः ॥

सात्म्यासात्म्यविवेक—तुषों की अग्नि से भूने हुए पृथुक (कृतान्न-वर्गोक्त पोहे), इन्दु-संमत पाठ के अनुसार काण्डस्थ कच्चे अन्न[4] एवं जौ, अत्यन्त पिसे हुए चावल इन्हें भोजन करने वाला कदापि न खावे। यदि अति आकांक्षा ही हो तो मात्रा से खावे अर्थात् बहुत कम खावे। शाकाधिक अवरान्न अर्थात् कटु, अम्ल, कषाय, लवण ये जिसमें अधिक हों, जो भोजन केवल एक रस वाला हो और जो असात्म्य हो, जो गुरु तथा शुष्क हो, निदानादि में कहे हुए सब रोगों के करने वाले, दोषों को कुपित करने वाले, अति अभिष्यन्दी विष्टम्भी-विदाही-हिम, गुरु एवं रूक्ष हों इनका सेवन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार किलाट-दही-कूचिका-मत्स्य-सूखी और कच्ची मूली-क्षार-पिष्ट और विरूढान्न (जिसको भिगोने पर अंकुर फूटते हैं) इन सबका सेवन नहीं करना चाहिए। इस लिए कि ये सब सेवन करने के योग्य नहीं हैं।

आहार के योग्य पदार्थ—**शालि (चावल) गेहूं, जौ, साठी चावल, जांगल पशु-पक्षियोंका मांस, सुनिषण्णक (चौपतिया) जीवन्ती, बाल मूलक (छोटी मूली), बथुवा, हरड़, आंवला, मुनक्का, दाख, परवल, मूंग, मिश्री, घृत (घी), दिव्योदक (आकाश से बरसा हुआ जल), दूध, शहद, अनार, सैन्धव नमक इन सबका सेवन करना चाहिए।** नेत्रों को बलवान् बनाने के लिए रात्रि में शहद और घृत के साथ त्रिफला का सेवन करे। संक्षेपतः भोजन वही करना चाहिए जो स्वस्थ के स्वास्थ्य को सदैव बराबर अच्छा रक्खे और जो रोगों का नाश करने वाला हो।

त्याज्य भोजन—विद्वान् को ऐसे भोजनों का परित्याग करना चाहिए जो प्रकृति, मात्रा और संयोग आदि से परस्पर विरुद्ध होने के कारण विपरीत भोजन कहलाते हैं। इस भोजनोपदेशके करने का मुख्य हेतु यह है कि दोष (वात-पित्त-कफ), धातु (रस रक्तादि) इनके विगाड़ने वाले जितने कारण हैं उनके त्याग करने से तथा दोष धातु की साम्यावस्था बनी रखने के जितने कारण हैं, उनके सेवन से विपरीत रोग आदि नहीं होने पाते और धातु-साम्य भी बना रहता है। सारांश यही है कि मनुष्य को विषम हेतुओं का परित्याग तथा सम हेतुओं का सदा सेवन करना चाहिए।

उपसंहार में अब आचार्य राजा, धनवान्, सुखीजन एवं सर्वसाधारण के लिए और भी अन्नपान आदि भोजन का उपदेश करते हैं।

> अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत् ।
> आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत् ॥
> मन्दानलबलारोग्यनृपेश्वरसुखात्मसु ।
> योज्यः क्रमोऽयं सततं नावश्यमितरेषु च ॥

भोजन की विशेष विधि—**भोजन करने वाले को चाहिए कि वह कुक्षि (कूख या पेट) के दो भाग अन्न से और एक भाग पान अर्थात् जल आदि पेय पदार्थों से पूर्ण करे और पेट का चौथा भाग वात-पित्त-कफ के संचरण के लिए खाली रक्खे** इस लिए कि वह वात-पित्त-कफ का आश्रय है। इस भाग के खाली न रखने से वातादि दोषों को संचरण के लिए स्थान नहीं मिलेगा अतः वे वातादि दोष युक्त अन्नादिका अवपीडन कर विषूचिका आदि रोगों को करेंगे। कुक्षि के इन चार भागों की कल्पना ठीक ठीक नहीं की जा सकती इस लिए आचार्यों का कथन है कि भोजन के द्वारा पूर्ण तृप्ति, अर्ध तृप्ति तथा तृतीयांश तृप्ति आदि से यह कल्पना कर लेनी चाहिए। उपर्युक्त भोजन की यह नित्य योजना मन्दाग्नि-निर्बल-रोगी-राजा-धनवान् एवं सुखी जनों के लिए है। किन्तु अन्य सर्वसाधारण व्यक्तियों के लिए आवश्यक नहीं है। सारांश यह कि वे अपने अग्निबल, भूख आदि के अनुसार यथेच्छ आहार कर सकते हैं।

अब आचार्य वात-पित्त-कफ आदि के अति सेवन के फलको कहते हैं।

> करोति रूक्षं बलवर्णनाशं त्वग्रूक्षतां वातशकृन्निरोधम् ।
> स्निग्धं त्वतिश्लेष्मचयप्रसेकहृद्गौरवालस्यरुचिप्रणाशम् ॥
> अत्युष्णमन्नं मददाहतृष्णाबलप्रणाशभ्रमरक्तपित्तम् ।
> शीतं तु सादारुचिवह्निनाशं हृल्लासविष्टम्भनरोमहर्षान् ॥

---

१. औकुलाभ्योषपृथुकानितीन्दुः। २. गुरुरूक्षणमिति पा०। ३. शाकादिमूलकमित्यपि पा०। ४. औकुलं काण्डस्थान्यपक्वानि भृष्टानि शस्यानि। अभ्योषस्तद्विधा एव यवा इतीन्दुः।

अतिस्थिरं मूत्रशकृद्विबन्धमतृप्तिमव्याप्तिमशीघ्रपक्तिम् ।
अतिद्रवं पीनसमेहकासस्यन्दान्करोत्यग्निबलं च हन्ति ॥
अतिमधुरमनलशमनं भुक्तमसात्म्यं न पुष्टये वपुषः ।
अतिलवणमचक्षुष्यं तीक्ष्णात्यम्लं जरा साक्षात् ॥

इति विधिमवलम्ब्य योऽन्नपानं बलमिव विग्रहवत्सदोपयुंक्ते तनुमपि तनुजां रुजं त्वनाप्य व्रजति नरः स समाशतस्य पारम् ॥

इत्यष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽन्नपानविधिर्नामदशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अति सर्वत्र वर्ज्य—"अति सर्वत्र वर्जयेत्" इस नीति के अनुसार अतिरूक्ष, अतिस्निग्ध, अत्युष्ण, अतिशीत, अतिस्थिर, अतिद्रव, अतिमधुर, अतिलवण एवं अति-अम्ल का सेवन कदापि नहीं करना चाहिए क्योंकि इनके अति सेवन से अति हानि एवं रोगों की संभावना होती है। यथा—

अतिरूक्ष के अवगुण—अति रूक्ष के सेवनसे बलऔर वर्णका नाश होता है, त्वचा ( चमड़ी ) में रूक्षता आती है और अपान वायु एवं मल ( विष्ठा ) का अवरोध होता है।

अतिस्निग्धसेवन के अवगुण—अति स्निग्ध अन्नका आहार करने से कफ का संचय होता है, मुख से लारों का टपकना, छातीमें भारीपन, आलस्य एवं रुचिका नाश ये लक्षण होते हैं।

अत्युष्ण अन्नसेवन से हानि—अति गरम पदार्थ का सेवन करने से मद, दाह, तृष्णा, बलका नाश, चक्कर आना, तथा रक्तपित्त ये विकार होते हैं।

अति शीत आहार से हानि—अति शीत अन्न के सेवन करने से अग्निमान्द्य, अरुचि, शरीर में जड़ता, उबकाई, पेटका फूलना तथा रोमहर्ष ( बालोंका खड़ा होना ) ये विकार होते हैं।

अति स्थिर अन्नसेवन के बिगाड़—अति स्थिर अर्थात् कठिन अन्न के खाने से मल-मूत्र का रुकना, तृप्ति का न होना, अव्याप्ति अर्थात् किए हुए आहार का शरीर में यथास्थान न पहुँचना तथा आहार का जल्दी न पचना ये रोग होते हैं।

अतिद्रवसेवन से होनेवाले रोग—अति द्रव अर्थात् पतले पदार्थ के सेवन करने से पीनस, प्रमेह, खांसी, नेत्राभिष्यन्द तथा अग्नि के बल का नाश करता है अर्थात् जठराग्नि मन्द हो जाती है।

अति मधुर सेवन से हानि—अति मधुर पदार्थों के भक्षण करने से जठराग्नि का मन्द हो जाना, भोजन किया हुआ सात्म्य न होना अर्थात् सुखकारक न होकर दुःखदायी होना और न उससे शरीर की ही पुष्टि होना ये विकार हो जाते हैं।

अति लवण सेवन के विकार—अति लवण ( नमकीन ) खाने से नेत्रों में विकार उत्पन्न करता है।

अति अम्ल सेवन से बिगाड़—अति तीक्ष्ण एवं अम्ल पदार्थों का सेवन साक्षात् जरा अर्थात् बुढ़ापे को लानेवाला है।

इस प्रकार इस विधि से अपने शरीर एवं बलाबल के अनुसार नित्यप्रति आहार का उपयोग करता है, वह शरीर से उत्पन्न होनेवाली किसी छोटीसी ( क्षुद्र ) व्याधि से भी पीड़ित न होता हुआ सौ वर्ष की आयु को पार कर जाता है अर्थात् वह दीर्घायु होता है।

इति श्रीमद्वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी-व्याख्यायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

# अथैकादशोऽध्यायः ।

सुरक्षित एवं अच्छी तरह भोजन किया हुआ अन्न भी कभी अमात्रा ( अप्रमाण ) के कारण महारोगों तथा मृत्यु का कारण होता है। इस लिए अब आचार्य मात्राशितीय अध्याय का वर्णन करते हैं।

अथातो मात्राशितीयमध्यायं[1] व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

मात्राशितीय अध्याय—जिसमें उचित मात्रा में भोजन करने का हितकारी उपदेश हो, अब हम उस मात्राशितीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षि कर गये हैं। यहां मात्रा शब्द से सम्यक् योग जाना जाता है जो कि असम्यग्योग के त्याग से प्राप्त होता है। सम्यग्योग के विपरीत असम्यग्योगवाला भोजन सात प्रकार का कहा है जैसे कि संकीर्णाशन, विरुद्धाशन,[2] अमात्राशन, अजीर्णाशन, समशन, अध्यशन और विपरीताशन। इन सब का वर्णन यथा स्थान किया जायगा अतः यहां व्यर्थ विस्तार करना ठीक नहीं।

अब आचार्य मात्रा का लक्षण कहते हैं—

मात्राशी स्यात् । मात्रा पुनरग्निबलाहारद्रव्यापेक्षिणी । कुक्षेरप्रतिपीडनमाहारेण हृदयस्यासंरोधः पार्श्वयोरविपाटनमनतिगौरवमुदरस्य प्रीणनमिन्द्रियाणां क्षुत्पिपासोपरतिः स्वस्थानासनशयनगमनोच्छ्वासप्रश्वासहास्यसंकथासु सुखानुवृत्तिः सायं प्रातश्च सुखेन परिणमनं बलवर्णोपचयकरत्वं चेति मात्राया लक्षणम् ।

मात्रा के लक्षण—मनुष्य को चाहिए कि वह मात्राशी अर्थात् उचित प्रमाण ( मात्रा ) में भोजन करनेवाला हो। प्रत्येक मनुष्य के भोजन की मात्रा उसके जठराग्नि, बलाबल, आहार एवं द्रव्य के अनुसार रहनी चाहिए। मात्रा के लक्षणविषय में आचार्य कहते हैं कि जिससे पेट में पीडा न हो, जिस आहार से हृदय में रुकावट ( संरोध ) न हो, जिससे पसवाड़ों में पीड़ा तथा तनाव न हो, पेट अति भारी न हो, जिससे भली भांति इन्द्रियों की तृप्ति हो, क्षुधा एवं तृषा की मन में इच्छा न रहे, अपने स्थान-आसन-शयन-गमन-श्वासोच्छ्वास-हास्य और बोलने में सुख की प्रतीति हो, सायंकाल और प्रातःकाल का किया हुआ आहार अच्छी तरह पच कर वह

१. अशनं अशितम् । मात्रया अशितं मात्राशितम् । तस्मै हितो मात्राशितीय इति । २. मात्राशब्देन सम्यग्योगो लक्ष्यते स चासम्यग्योगस्य त्यागात्संभवति । स पुनः सप्तधा,—"सकीर्णाशनं, विरुद्धाशनं, अमात्राशनं, अजीर्णाशनं, समशनं, अध्यशनं विषमाशनं चेति हेमाद्रिः ।

बल और वर्ण का बढ़ानेवाला हो, यही सम्यक् मात्रा का लक्षण है। सारांश यह कि सायंकाल का किया हुआ आहार पच कर प्रातः भोजन की पुनः इच्छा हो, इसी प्रकार प्रातः काल का किया हुआ भोजन भली भांति पचकर सायंकाल में पुनः भोजन की इच्छा हो और जिससे बल और वर्ण की वृद्धि हो यही उचित मात्रा का लक्षण है।

मात्रा का लक्षण कहने के अनन्तर अब मात्रा के प्रमाण-विषय में कहते हैं—

त्रिभागसौहित्यमर्धसौहित्यं वा गुरूणां समुपदिश्यते। लघूनामपि नातिसौहित्यम्। अनिलानलगुणबहुलानि हि लघूनि तुल्यगुणत्वादग्निसंधुक्षणान्यविधिना चाल्पदोषाणि। इतराणि तु पृथिवीसलिलगुणबहुलान्यसामान्याद्विपरीतान्यन्यत्र व्यायामाग्निबलात्।

अमात्रापुनरशनस्य हीनताधिक्यं च। तत्र हीनमात्रमशनं बलवर्णोपचयमनोबुद्धीन्द्रियोपघातकरं विबन्धकृदवृष्यमनायुष्यमनौजस्यं सारविश्रापनमलक्ष्मीजननमशीतेश्च वातविकाराणामायतनम्।

आहारकी मात्राका प्रमाण—गुरुपदार्थों के भोजन को मात्राप्रमाण त्रिभागसौहित्य या अर्धसौहित्य कहा गया है अर्थात् चार भाग (पेट भर) खाने की अपेक्षा तीन भाग खाकर अथवा आधा खाकर ही तृप्ति मान लेना चाहिए। भावार्थ यह है कि गुरु पदार्थों के भोजन में एक सेर की जगह तीन पाव या आधसेर ही आहार करना चाहिए। लघु पदार्थ भी अति तृप्ति के रूप में नहीं खाने चाहिए।

लघु और गुरु द्रव्यों के गुण-दोष—लघु द्रव्यों में वायु और अग्नितत्त्व के गुणों की अधिकता रहती है अतः वे तुल्य गुणतत्त्व के कारण अग्नि प्रदीप्त करनेवाले होते हैं और न वे समुचित मात्रा में सेवन न करने पर भी विशेष दोषकारक होते हैं परन्तु गुरु द्रव्यों की बात ऐसी नहीं है क्योंकि गुरु पदार्थ पृथ्वी और जलतत्त्वगुणभूमिष्ठ होने से अग्नि-वायुगुणभूयिष्ठ लघु पदार्थों की तरह अग्निप्रदीपक नहीं होते अपितु मन्दाग्नि को करनेवाले होते हैं। अग्नि, वायु और लघु पदार्थों की गुणसमता की तरह गुरु पदार्थ जो कि भूमिजलतत्त्वभूयिष्ठ होने से अग्नि और वायु से गुणसाम्यता नहीं रखते। इसी लिए गुरु द्रव्य अग्नि को बुझाने अर्थात् मन्द करनेवाले हैं। व्यायाम करनेवालों के लिए अग्निमान्द्यवाली बात लागू नहीं होती इस लिए कि व्यायाम करनेवालों की जठराग्नि व्यायाम से प्रदीप्त रहती है और अन्न को पचा देती है।

आहार की न्यूनाधिकता भी अमात्रा ही है—आहार की अधिकता तथा हीनता (न्यूनता) का नाम भी अमात्रा ही है। इस लिए कि हीन या अधिक मात्रा में किया हुआ भोजन भी हानिकारक होता है। इसी के स्पष्टीकरणार्थ आचार्य कहते हैं कि हीनमात्रा में किया हुआ आहार बल-वर्ण-पुष्टि-मन-बुद्धि और इन्द्रियों का नाश करता है। इतना ही नहीं, हीन मात्रा का भोजन मलावरोध करनेवाला, अवृष्य (दुर्बलता-कृशता) को लानेवाला, आयु और ओज का नाश करता है, बल को कम करनेवाला, दारिद्र्य को पैदा करनेवाला तथैव अस्सी प्रकार के वायु रोगों का आयतन (घर) है।

अब आचार्य अधिक मात्रा के दोषों का कथन करते हैं—

अतिमात्रं पुनः सर्वदोषप्रकोपनमाहुः। तेन हि प्रपीड्यमाना वातादयो युगपत्प्रकुपिताः कुक्ष्येकदेशस्थास्तदेवापरिपक्वमाविश्य विष्टम्भयन्तोऽलसकमभिनिर्वर्त्तयन्ति। सहसा वाधरोत्तराभ्यां मार्गाभ्यां प्रच्यावयन्तो विषूचिकाम्[1]। अपि च।

अति मात्रा के दोष—अतिमात्र अर्थात् अधिक प्रमाण में किए हुए आहार को वायु आदि समस्त दोषों को प्रकुपित करनेवाला कहा गया है। उस अधिक मात्रा में सेवन किए हुए अन्न से पेट के ठसाठस भर जाने एवं उसमें जगह न रहने से वात, पित्त और कफ ये तीनों दोष पीडायमान होते हुए एकदम प्रकुपित होते हैं और वे पेट के किसी एक देश में स्थित होकर उस अपक्व अन्न (आमाशय) में प्रवेश करके विष्टम्भ (अफारा) को करते हुए अलसक नाम के रोग ( ) को उत्पन्न करते हैं। अथवा वे वायु आदि समस्त दोष अधरोत्तर मार्ग (गुदा और मुख) से बाहर निकलते हुए एकदम विसूचिका रोग (Cholera) को उत्पन्न करते हैं। और भी आचार्य अब अलसक तथा विसूचिका की निरुक्ति को कहते हैं।

प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न च पच्यते।
आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः॥
विविधैर्वेदनोद्भेदैर्वाय्वादिभृशकोपतः।
सूचीभिरिव गात्राणि विद्धयतीति विसूचिका॥

अलसक और विसूचिका की निरुक्ति—जो किया हुआ आहार न तो ऊपर की ओर जाता है और न नीचे की ओर अर्थात् जो किया हुआ आहार ऊपर की ओर जाकर न तो मुख मार्ग से वमन होकर बाहर निकलता है और न नीचे की ओर जाकर गुदमार्ग से ही दस्तें होकर निकलता है और न पचता ही है अपितु वह आहार नाभि और स्तनों के बीच के आमाशयप्रदेश[2] में क्रियाहीन आलसी की तरह पड़ा रहता है इस लिए इस रोग का नाम अलसक कहा गया है। वायु आदि दोषों के अत्यन्त कोप से जिसमें नाना प्रकार की वेदनाएं होतीं और जिसमें शरीर के गात्रों में सूची (सुई) के टोंचने की सी पीड़ा होती है अतः उसे विसूचिका रोग कहते हैं।

अब अलसक और विसूचिका में वातादि तीनों दोषों के भिन्न-भिन्न लक्षणों को कहते हैं—

तत्र वातः शूलानाहाङ्गमर्दमुखशोषप्रलापकम्पमूर्च्छाभ्रमजृम्भोद्वेष्टनाक्षिप्रवेशशिरोहृदयातिरुक्शिराकुञ्चनस्तम्भनानि करोति।

पित्तं पुनर्ज्वरातिसारान्तर्दाहवैवर्ण्यतृषामदभ्रमप्रलपनानि।

१. "विसूचिकाम्" इति पाठान्तरम्।
२. "नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः।"

श्लेष्मा तु छर्दरोचकप्रसेकाङ्गसादाविपाकशीतज्वरगात्रगौरवाणि।

विशेषतस्तु दुर्बलस्याल्पाग्नेर्बहुश्लेष्मणो वातमूत्रपुरीषवेगविधारिणोऽन्नपानमनिलप्रपीडितं श्लेष्मणा विबद्धमार्गमलसत्वादबहिर्मुखी भवेत्। छर्द्यतीसारवर्जानि यथोक्तानि शूलादीन्युपजनयत्यतिमात्राणि। अतिमात्रदुष्टास्तु दोषाः प्रदुष्टामबद्धमार्गास्तिर्यग्गच्छन्तः कदाचिदस्य शरीरं दण्डवत्स्तम्भयन्ति ततस्तमलसकमसाध्यं ब्रुवते।

अलसक विसूचिकागत प्रकुपित वायुके लक्षण--वायु के अधिक कुपित होने से शूल, आनाह, शरीर का टूटना, मुँह का सूखना, प्रलाप ( बेहोशी में बकना ), शरीर का कांपना, मूर्च्छा ( बेहोशी ), भ्रम ( चक्कर आना ), जम्भाई, उद्वेष्टन अर्थात् रस्सी से जकड़कर बांधने जैसी शरीर में पीड़ा का होना, आंखों का भीतर बैठ जाना, सिर और हृदय में अत्यन्त पीड़ा, सिराओं का सिकुड़ना, स्तम्भन अर्थात् हनुस्तम्भ-मन्यास्तम्भ-ऊरुस्तम्भादि होना, इन सब रोगों का करनेवाला होता है।

कुपित पित्त के लक्षण--अधिक कुपित हुआ पित्त ज्वर, अतीसार, अन्तर्दाह ( पेट में जलन ), वैवर्ण्य ( शरीर के रंग का बेरंग हो जाना ), तृषा, मद, भ्रम और प्रलाप को करने वाला होता है।

कुपित कफ के लक्षण—कफ अधिक कुपित होकर वमन, अरुचि, प्रसेक ( मुँह से लार का टपकना ), अङ्गग्लानि, अपचन, शीतज्वर एवं गात्रगौरव ( शरीर में जड़ता ) को करता है।

विशेषतः जो प्राणी निर्बल होता है, जिसकी जठराग्नि मन्द होती है, जो कफाधिक प्रकृतिवाला-अपान वायु, मूत्र, मल ( पुरीष ) के वेगों को रोकनेवाला होता है, उसका किया हुआ अन्नपान वायु-द्वारा प्रपीडित होने से तथैव कफ के द्वारा शारीरस्रोतों के भर जाने से मार्ग न मिलने के कारण बाहर नहीं आ सकता अर्थात् वह अन्नपान न तो मुख से वमन होकर बाहर निकलता है और न विरेचन होकर गुदमार्गद्वार बाहर ही आ सकता है अतः वमन-विरेचन के अतिरिक्त ऊपर लिखे हुए वातादि तीनों दोषों के शूल, आनाह आदि लक्षणों को अतिमात्रा में सेवन किया हुआ अन्नपान प्रगट करता है।

दण्डालसक के कारण—प्रदुष्ट आम कर के मार्ग के रुक जाने से अत्यन्त कुपित हुए वातादि दोष कभी कभी तिर्छे मार्ग से जाते हुए शरीर को दण्डवत् ( लक्कड़ की तरह ) स्तम्भन करते हैं अर्थात् शरीर को जकड़ कर इधर उधर हिलने तक नहीं देते हैं। इस प्रकार के अलसक को असाध्य कहा गया है। शरीर को दण्डवत् स्तम्भित करने के कारण ही शास्त्रकारों ने इस रोग का नाम असाध्य दण्डकालसक कहा है।

१. ''''''अत्यर्थदुष्टास्तु दोषा दुष्टामबद्धखाः। यान्तस्तिर्यक्तनुं सर्वा दण्डवत्स्तम्भयन्ति चेत्॥ दण्डकालसकं नाम तं त्यजेदाशुकारिणम्॥ इति।

विरुद्धाध्यजीर्णाशनशीलिनः[1] पुनरामदोषमामविषमामनन्ति विषसदृशलिङ्गत्वात् तत्परमसाध्यमाशुकारितया[2] विरुद्धोपक्रमत्वाच्च। न च केवलं मात्रयैव कृत्स्नमाहारफलमवाप्तुं शक्यंस्वभावादीनां भिन्नफलत्वात्। तथाहि—गुरुरूक्षशुष्कशीतद्विष्टविष्टम्भिविदाह्यशुचिविरुद्धात्यम्बुपानद्रवमकाले काले वा कामक्रोधलोभेर्ष्याह्रीशोकोद्वेगभयक्षुदुपतप्तेन वा यदन्नपानमुपयुज्यते तदप्याममेव प्रदूषयति।

आमविष एवं आम की समानता--आचार्यों का कथन है कि विरुद्धाशन, अध्यशन, अजीर्णाशन करनेवालों का आमदोष आम विष के रूप में परिणत हो जाता है क्योंकि उसके सब लक्षण विष के समान होते हैं। वह आशुकारि अर्थात् शीघ्र ही मनुष्य को मार डालता है, इस लिए तथा विरुद्धोपक्रम होने से परम असाध्य है। जिसमें एक दोष के शमनार्थ दी हुई ओषधि दूसरे दोष के लिए अत्यन्त विरुद्ध होती है यही विरुद्धोपक्रम है अतः यह परम असाध्य होता है किन्तु यहां विरुद्धोपक्रम की कई विपरीत व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—यहां आम को विष के समान पीडाकारक कहा है। "आम के अजीर्ण में उष्ण क्रिया करनी चाहिए और विष में शीतक्रिया" यही यहां विरुद्धोपक्रम है। इसी अर्थ को हेमाद्रि, अरुण और इन्दु ने भी माना है।

केवल मात्रा से ही किए हुए संपूर्ण आहार की फल-प्राप्ति नहीं हो सकती क्यों कि मात्रा से आहार करनेवालों में भी कभी कभी आमदोष दिखाई देता है इस लिए स्वभाव, संयोग, काल आदि से भी आहार के फल को जानना चाहिए क्योंकि स्वभावादि भिन्न भिन्न फलवाले होते हैं। कहा भी है कि—गुरु, रूक्ष, शुष्क, शीत, द्विष्ट, विष्टंभि, विदाही, अशुचि, विरुद्ध, अत्यम्बुपान ( जल का अधिक पीना ) और द्रव पदार्थ अपने स्वभावादि के कारण तथा समय असमय में काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, लज्जा, शोक, उद्वेग, भय एवं क्षुधा से संतप्त प्राणी जिस अन्नपान का उपयोग करते हैं, वह ( अन्नपान ) भी आम ही को प्रदूषित या कुपित करता है। अब आचार्य इनकी चिकित्सा का वर्णन करते हैं। यथा—

तत्र साध्यमामं दुष्टमलसीभूतमुल्लिखेत्पाययित्वा सलवणमुष्णं वारि। तथा त्वच्छर्दयन्तमतिलीनदोषं कृष्णानागदन्तीकल्कयुक्तं पाययेत्। मदनफलकषायं वा पिप्पलीसिद्धार्थककल्कयुक्तम्। दन्तीमागधिकावचूर्णितं वा कोशातकीरसम्। अवस्थापेक्षी वा वमन-

१. "विरुद्धाध्यशनाजीर्णशालिनः" इत्यपि पाठः।

२. तत्परमसाध्यानामाशुकारितया इति पाठः। ३. आशु शीघ्रं स्वं कर्म मारणं करोतीत्याशुकारि। तत्र हि दोषास्तथाविधं कोपमापद्यन्ते। यत्रैकस्मिन् दोष औषधमन्यस्मिन्दोषेऽत्यर्थं विरुध्यत इति विरुद्धोपक्रमत्वम्। अन्येत्वन्यथा ब्रुवन्ति। यदि विषसदृशस्वरूपः पीडाकर्तृत्वेन तत्रामो भवति विषे शीता क्रिया आमे अजीर्णे चोष्णा इत्युपक्रमविरोध इति हेमाद्रिः।

कल्पोक्तानि तीक्ष्णवमनानि । ततः स्वेदनवर्तिप्रणिधानैरभ्यामुपाचरेत् । अपि च ।

दुष्ट आम के शमनोपाय— यदि कोठे में एक जगह ठहरा हुआ आलसीभूत दुष्ट आम साध्य हो तो उसके शमनार्थ नमक मिला हुआ उष्ण जल पिलाकर आम का वमन कराना चाहिए। दोष के अतिलीन होने से जिसे नमकमिश्रित उष्ण जल से वमन न हो तो वही उष्ण जल पीपल और नागदन्ती (बृहद्दन्तीमूल) के कल्क को मिलाकर पिलाना चाहिए अथवा पीपल और सरसों के कल्क को मिलाकर मैनफल का काढ़ा पिलाना चाहिए अथवा कोशातकी (जंगली कटु तोरई) का रस दन्तीमूल और पीपल का चूर्ण मिलाकर पिलावे। इनके अतिरिक्त रोगी की रोगावस्थाके अनुसार कल्पस्थान में कहे हुए तीक्ष्ण वमनों का प्रयोग करना चाहिए। इसके अनन्तर स्वेदनविधि तथा वर्ति (वातानुलोमिनी फलवर्ती-गुदवर्ती) द्वारा उपचार करे।

इस प्रकार वमन-विरेचन से भली भांति शोधन होकर रोगी के आमदोष से उत्पन्न समस्त विकार तुरन्त शमन हो जाते हैं परन्तु कोठे में अजीर्णान्न के निकल जाने से कभी वायु का शूल हो जाता है इस लिए कहते हैं कि—

सद्यः सम्यग्विशुद्धस्य शाम्यन्ति तदुपद्रवाः ।
शूले निरन्नकोष्ठेऽद्भिः कोष्णाभिश्चूर्णिताः पिबेत् ॥
हिङ्गुप्रतिविषाव्योषसौवर्चलवचाभयाः ।
अथवा पिप्पलीमूलत्रिवृतादारुसैन्धवम् ॥
शुण्ठीस्नुक्क्षीरलवणपिप्पलीमरिचानि च ।
पाठाम्लवेतसक्षारयवानीपौष्कराणि च ॥

वायुशूल के शमनोपाय—भलीभांति वमन-विरेचन द्वारा शुद्ध रोगी के समस्त उपद्रव शान्त हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में कोठे में अन्न नहीं रहने से यदि शूल हो तो नीचे लिखे हुए चूर्ण गरम पानी के साथ सेवन कराना चाहिए।

(१) हींग, अतीस, सौंठ, मिरच, पीपल, सोंचर नमक, बच और हरड़े का चूर्ण बना कर देवे। अथवा—

(२) पीपलामूल, निशोत, देवदारु और सैंधा नमक का चूर्ण सेवन करावे या—

(३) सौंठ, थूहरका दूध, सैंधा नमक, पीपल और काली मिरच का चूर्ण दे। अथवा—

(४) पाढ़, अमलबेत, जवाखार, अजवायन और पोहकरमूल का चूर्ण बनाकर सेवन करावे। ध्यान रहे कि उपर्युक्त चूर्णों की सब ओषधियाँ समभाग में लेनी चाहिए इस लिए कि जहां भाग न कहा हो वहां सम भाग लेना चाहिए।

द्विरुत्तरं हिङ्गुवचाग्निकुष्ठ-
सुवर्चिकाक्षारविडाजमोदम् ।
शूलोदरानाहविसूचिकार्शो-
हृद्रोगगुल्मोर्ध्वसमीरणघ्नम् ॥

मुस्ताजमोदपूतीकवचाशुण्ठ्यग्निधान्यकैः ।
सबालकसठीबिल्वैः क्वाथं तृट्शूलवान्पिबेत् ॥
पिबेद्विपक्वं ह्यमृताकषायं
कदम्बनिम्बार्जुनवृक्षकाणाम् ।
क्वाथं सुखोष्णं लवणप्रगाढं
विसूचिकाजीर्णविषापमर्दिनम् ॥

हिंग्वादि चूर्ण—हींग १ तोला, बच २ तोले, चित्रक ४ तोले, कूट ८ तोले, सज्जीखार १६ तोले, विड नमक ३२ तोले और अजमोदा ६४ तोले इन सबका चूर्ण पूर्वोक्त कुनकुने जल से लेने से यह शूल, उदर, आनाह, पेटका फूलना, विसूचिका (हैजा), बवासीर, हृद्रोग, गुल्म और ऊर्ध्ववातका नाश करनेवाला है।

मुस्तादि कषाय – नागरमोथा, अजमोदा, करंज के बीज, बच, सौंठ, चित्रक, धनियाँ, खस, कचूर और बेलकी गिरी इन सबको समभाग लेकर काढ़ाकर तृषा और शूलरोगवाले को पीना चाहिए।

अमृताकषाय तथा कदम्बादिकाढ़ा—विसूचिका, अजीर्ण, तथा विष के रोगी को चाहिए कि वह गुर्च (गुडूची) का काढ़ा पीवे अथवा कदम्ब, नीम और अर्जुन वृक्ष की अन्तर छाल का काढ़ा नमक मिश्रित कर गुन गुनासा पीवे।

रास्नाकट्फलषड्ग्रन्थाबृहतीद्वयजोङ्गकैः ।
गुग्गुल्वतिविषाकुष्ठपत्रव्याघ्रनखाम्बुदैः ॥
कुर्याच्छुष्कैः समूत्रैर्वा लेपोद्वर्तनधूपनम् ।
सरुक्चानद्धमुदरमम्लपिष्टैः प्रलेपयेत् ॥
दारुहैमवतीकुष्ठशताह्वाहिङ्गुसैन्धवैः ।
यवचूर्णश्च सक्षारतक्रः कोष्ठार्तिजित्परम् ॥
योजयेत्सैन्धवान्तैश्च तंत्र विण्मूत्रसंग्रहे ।
नाम्यमानानि चाङ्गानि भृशं स्विन्नानि वेष्टयेत् ॥
विसूच्यामतिवृद्धायां पार्ष्ण्योर्दाहः प्रशस्यते ।
द्विक्षारजीर्णपिण्याककुष्ठारुष्करपत्रकैः ॥
सशुक्तसैन्धवैस्तैलं पक्वमभ्यञ्जने हितम् ।
सुच्छर्दितविरिक्तस्य गात्रायामेऽतिदारुणे ॥
भल्लातकमधूच्छिष्टजीर्णपिण्याकनागरैः ।
घृततैलं पचेत्साम्लैस्तच्च खल्लीघ्नमुत्तमम् ॥
त्वक्पत्ररास्नागुरुशिग्रुकुष्ठै-
रम्लप्रपिष्टैः सवचाशताह्वैः ।
उद्वर्तनं खल्लिविसूचिकाघ्नं
तैलं विपक्वं च तदर्थकारि ॥
तदहश्चोपवास्यैनं विरिक्तवदुपाचरेत् ।
सामान्येनेति सिद्धोक्ता विसूच्यलसकक्रिया ॥

अलसक विसूचिकादिपर और भी सर्वसामान्य उपचार—अलसक-विसूचिकादि की अवस्था में पेट में पीड़ा हो या पेट फूला हुआ हो तो रास्ना, कायफल, बच, छोटी और बड़ी कटेरी, अगर, गूगल, अतीस, कूट, पत्रज, व्याघ्रनख (नख-

---

१. स्वेदवर्तीति पाठान्तरम् । २. उल्लिखेत् = नर आमं वमेदित्यर्थः । इन्दुः । ३. वा इति पा० । ४. भागेऽनुक्ते समं प्रोक्तम् ।

१. वर्तिमित्यपि पाठः । स्वेदवर्तीति पा० ।

नाखूना नामक द्रव्य) और नागरमोथा इन सबको कूट छान कर इन का सूखा ही उबटन करे या इनका गोमूत्र में मिलाकर लेप करे, धूप दे या सेक करे। इसी प्रकार देवदारु, चोक, कूट, सतावर, हींग और सैंधा नमक इन को मद्य, कांजी आदि खट्टे पदार्थोंसे पीस कर पेट पर लेप करे। अथवा जौ का आटा, जवाखार और छाछ इन का लेप भी कोष्ठ (उदर) की पीडा को जीतने में परम श्रेष्ठ औषध है। यदि मल और मूत्र रुक गया हो तो पूर्वोक्त देवदारु, चोक, कूट, शतावर, हींग और सैंधा नमक की वर्ती (बत्ती) बनाकर उस का गुदा में प्रयोग करे। इतना, ही नहीं, रोग के कारण शरीर के जो जो अङ्ग सिकुड़ गये हों उन पर इन वस्तु ओं द्वारा बारबार स्वेदन करे और उनपर चर्म आदि का वेष्टन बांध दे।

अत्यन्त बढ़ी हुई विसूचिकामें पार्ष्णियों (गुल्फों के निम्न-भाग) में दाह बहुत होता है। वैसी अवस्था में सज्जीखार, जवाखार, पुरानी तिलकी खली, कूट, भिलावा, तेजपात अथवा भिलावे के पान इन सब को समान भाग शुक्त (सिर्का) से मिश्रित तेल और सैंधा नमक के साथ पका कर इस तेल की मालिश करना परम हितकारी है। वमन-विरेचन के अन्त में यदि दारुण गात्रायाम हो अर्थात् खल्ली पड़ती हो बांयटे आते हों तो भिलावे, मोम, पुरानी खली, सौंठ और अम्ल पदार्थ के साथ पकाए हुए तैल एवं घृतका मर्दन करना श्रेष्ठ है।

तज, पत्रज, रास्ना, अगर, सहँजने की छाल, कूट, वच और शतावर को अम्लरस में पीस कर लगाया हुआ उबटन भी खल्ली और विसूचिकाका नाश करता है।

उपर्युक्त क्रिया जिस दिन को जाय उस दिन रोगी को लंघन दिला कर विरेचनवत् उपचार करे। इस प्रकार अलसक-विसूचिकादिके विषय में सामान्यतः सिद्ध क्रियाओं का वर्णन किया गया। अब विशेष क्रिया को कहते हैं—

आमदोषेषु[1] त्वन्नकाले जीर्णाहारं दोषोपलिप्तामाशा[2]यस्तिमितगुरुकोष्ठमनन्नाभिलाषं[3]मभिसमीक्ष्य पातयेद्दोषशेषपाचनार्थमौषधं वह्निसंधुक्षणहेतोश्च[4]। अजीर्णाहारं पुनः न पाययेत् यत आमसन्न आमदोषमौषधमाहारजातं चाशक्तः पक्तुमग्निः[5] इत्येषां[6] विभ्रमोऽतिबलत्वादुपरतानलमसद्ब्[7]लमातुरं सहसा[8] निपातयेत्।

शेष रहे आमदोषों में विशेष वक्तव्य—शेष रहे हुए आम दोषों में आहार के पच जाने पर भी जिस का आमाशय वायु आदि दोषों करके उपलिप्त अर्थात् दूषित है, जिस का कोष्ठ (उदर) अचल (स्तिमित) एवं भारी है, जिस की अन्नपर अभिलाषा नहीं है, ऐसे पुरुष को भली भांति देखकर भोजन समय में शेष दोषों के पाचनार्थ तथा जठराग्नि को संधुक्षण (सुलगाने) के लिए ओषधि का पान करावे किन्तु जिसका आहार नहीं पचा है उसे ओषधि नहीं पिलानी चाहिए क्यों कि उस की आमदोष से दुर्बल हुई अग्नि एकदम आमदोष, ओषधि और आहार को पचा नहीं सकती अपि तु विपरीत इसके वह आमदोष-औषध-आहार के दोषों को बढ़ानेवाली सामग्री या व्यापत्ति बलवती बनकर एकदम रोगी को मार डालती है क्यों कि उक्त रोगी के अग्नि और बल पहले ही से मन्द हुए रहते हैं।

अब आचार्य आमदोषों के शमनार्थ अन्य उपायों का वर्णन करते हैं—

आमदोषजानां पुनर्विकाराणामपतर्पणेनैवोपशमो भवति। तत्तु त्रिविधम्—लङ्घनंपाचनमवसेचनं च। तत्र लङ्घनमल्पदोषाणाम्। तेन ह्यनिलानलवृद्धया वातातपपरीत इवाल्पः सलिलाशयोऽल्पदोषः प्रशोषमापद्यते। लङ्घनपाचनाभ्यां मध्यदोषो वातातपाभ्यां पांसुभस्मावकिरणैरिव चानतिमहान् सलिलाशयः। बहुदोषाणां पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यम्। न ह्यस्राविते पल्वलोदकौघे शाल्यादिपुष्टिर्भवति।

आम दोष के शमनार्थ और भी उपाय—आमदोष से उत्पन्न होनेवाले आलस्य, जडता, अग्निमान्द्यादि विकारों का उपशम (नाश) अपतर्पण से ही होता है। वह अपतर्पण तीन प्रकार का होता है जैसे कि लङ्घन, लङ्घनपाचन और अवसेचन। यहां लंघन अर्थात् उपवास का विधान अल्प दोषों के लिए हैं क्यों कि लंघन या उपवास से वायु और अग्नि की वृद्धि होकर अल्प दोष इस प्रकार शान्त हो जाता है जैसे कि वायु तथा धूप से घिरा हुआ अल्प जलवाला जलाशय सूख जाता है।

दोष की मध्य अवस्था में उपवास और पाचन ओषधिका उपयोग करने से वह मध्य दोष इस प्रकार शान्त हो जाता है जैसे कि वायु और धूप द्वारा रेत तथा भस्म के गिरने या भर जाने से अनतिमहान् जलाशय (जो जलाशय बहुत बड़ा नहीं है) सूख जाता है। बढ़े हुए दोषों में दोषों का अवसेचन ही करना चाहिए अर्थात् रोगी को वमन-विरेचनादि संशोधन देकर दोषों को शरीर से बाहर निकालना चाहिए। इस तरह करने से दोष इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे कि पल्वल (वर्षाकालीन अल्प सरोवर) का जल सूख जाने से उसमें बोए हुए शालि (धान) आदि की पुष्टि नहीं होती। सारांश, उसमें के चावल आदि आप ही नष्ट हो जाते हैं।

तस्मात्संतर्पणनिमित्तानां नान्तरेणापतर्पणमस्ति शान्तिः। अपतर्पणनिमित्तानां च नान्तरेण संतर्पणमिति एवमन्येषामपि व्याधीनां यथा स्वं निदानविपरीतमौषधमवचारयेत्। सति त्वनुबन्धे निदानविपरीतमपास्य व्याधिविपरीतमेव तदर्थकारि वा। विमुक्तामदोषस्य पुनः परिपक्वामदोषशेषस्य दीप्ते चाग्नावभ्यङ्गास्थापनानुवासनं विधिवत्स्नेहपानं च युक्त्या प्रयोज्यं प्रसमीक्ष्य दोषौषधादीन्यनन्तराणीति। भवन्ति चात्र—

व्याधियों के उपचार में विचार—इससे सिद्ध है कि संतर्पण

१. शेषेषु त्वामदोषेषु इति पा० २. आमशयं ३. लाषिणं ४. संधुक्षणार्थम् ५. आमदोषदुर्बलोऽग्निर्युगपदामदोषं ६. पक्तुम्। ७. अपि चैषां ८. उपरतानलबलं ९. सहसैव

१. एषामामाशयादीनां विभ्रमो दुष्टोत्कर्षिणी सामग्री इतीन्दुः। विभ्रमो व्यापत्तिरिति हेमाद्रिः।

के कारण उत्पन्न हुए रोगों की शान्ति अपतर्पण के बिना नहीं होती और इसी प्रकार अपतर्पणजन्य रोगों का नाश बिना संतर्पण के नहीं होता। इसी प्रकार अन्यान्य व्याधियों की ओषधि भी यथायोग्य निदानविपरीत ही होनी चाहिए। निदानविपरीत ओषधि करने पर भी अनुबन्ध (व्याधियों का तांता) बना ही रहे तो फिर निदानविपरीत ओषधि का परित्याग कर व्याधिविपरीत ओषधि करनी चाहिए अथवा तदर्थकारी (उस व्याधिविपरीत के अर्थ को करनेवाली) ओषधि का सेवन कराना चाहिए। आमदोष से विमुक्त होने पर या आमदोष के परिपक्व होने एवं जठराग्नि के प्रदीप्त होने पर दोष-ओषधि आदि की अवस्था को अच्छी तरह देख कर युक्ति के साथ रोगी के लिए विधिवत् अभ्यङ्ग, आस्थापन, अनुवासन तथा स्नेहपान की योजना करनी चाहिए। यहां ध्यान रहे कि—

य: श्यावदन्तोष्ठनखोऽल्पसंज्ञो
वम्यर्दितोऽभ्यन्तरगात्रनेत्रः ।
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धि-
र्यायान्नरोऽसौ पुनरागमाय ॥
व्योषं करञ्जस्य फलं हरिद्रे
मूलं समावाप्य च मातुलुङ्ग्याः ।
छायाविशुष्का गुटिकाः कृतास्ता
हन्युर्विसूचीं नयनाञ्जनेन ॥
शिरीषनक्ताह्वफणिज्जबीज-
त्रायन्त्यपामार्गफलानि वर्तिः ।
बस्तस्य मूत्रेण विसूचिकाघ्नी
प्रलेपधूपाञ्जननस्ययोगैः ॥

असाध्य विसूचिका के लक्षण—जिस विसूचिका-रोगी के दांत, होंठ और नख काले पड़ गए हों, जो अल्पसंज्ञ हो अर्थात् कम होश में हो, वमन से पीडित हो, जिसके नेत्र भीतर की ओर चले गए हों, जिसका कण्ठ धीमा पड़ गया हो और जिसकी सन्धियाँ विमुक्त (ढीली पड़ गई) हों वह मनुष्य इस संसार में पुनर्जन्म लेने के लिए जायगा अर्थात् मर जायगा। इन असाध्य लक्षणोंवाला न हो तो उस विसूचिका-रोगी के लिए अब चिकित्सा का कथन करते हैं।

विसूचिकाहर शुंठ्यादि अञ्जन—सौंठ, काली मिरच, पीपल, करंजुए की मींगी, हल्दी, दारुहल्दी और बिजौरे की जड़ इन सब ओषधियों को समान भाग में लेकर जल से पीस लें और गोली बनावें और छाया में सुखावें। नेत्रों में इस गुटिका का अञ्जन करने से विसूचिका रोग नष्ट होता है।

विसूचिका वर्ती—सिरस के बीज, करंजुए की गिरी, गन्ध तुलसी (जंगली तुलसी) अथवा मरुवे के या लाल मिरच के बीज, त्रायमाण तथा ओंगा (अपामार्ग) के बीज इन सबको बकरे (बकरी) के मूत्र में पीस कर बत्ती बनावे। यह बत्ती, प्रलेप, धूप, अञ्जन और नस्य के योग से विसूचिका को दूर करने वाली है।

अजीर्णं च कफादामं विष्टब्धमनिलाद्भवेत्।
विदग्धं पित्तदोषेण त्रिप्रकारमिति स्मृतम्॥
तत्रामे गुरुतोत्क्लेदः शोफो गण्डाक्षिकूटयोः।
उद्गारश्च यथाभुक्तमविदग्धः प्रवर्त्तते॥
विष्टब्धे शूलमाध्मानं विविधा वातवेदनाः।
मलवाताप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहोऽङ्गपीडनम्॥
विदग्धे भ्रमतृण्मूर्च्छाः पित्ताच्च विविधारुजः।
उद्गारश्च सधूमाम्लः स्वेदो दाहश्च जायते॥
लङ्घनं कार्यमामे तु विष्टब्धे स्वेदनं भृशम्।
विदग्धे वमनं यद्वा यथावस्थं हितं भवेत्॥

अजीर्ण के तीन प्रकार—अजीर्ण रोग तीन प्रकार का कहा है इनमें से कफ से होनेवाले को आमाजीर्ण, वायु से विष्टब्धाजीर्ण तथा पित्त से उत्पन्न अजीर्ण को विदग्धाजीर्ण कहते हैं। इनमें—

आमाजीर्ण के लक्षण—गुरुता (शरीर का भारी रहना), उबकाई, गाल और अक्षिकूट (आंखों के किनारों) पर सूजन, जैसा आहार किया गया है वैसे ही बिना पचे अन्न की डकारें आना ये लक्षण आम से उत्पन्न अजीर्ण के हैं।

विष्टब्धाजीर्ण के लक्षण—पेट में शूल, पेट का फूलना, नाना प्रकार की वातजन्य वेदनाओं का होना, मल (विष्ठा) तथा मूत्र का रुकना, स्तम्भ (ऊरुस्तम्भादि से अंगों) का अकड़ना, बेहोशी, एवं शरीर में पीड़ा ये लक्षण वायु से होनेवाले विष्टब्धाजीर्ण के हैं।

विदग्धाजीर्ण के लक्षण—भ्रम (चक्कर आना) प्यास, मूर्च्छा, पित्तजन्य नाना प्रकार की वेदना, तीक्ष्णता के कारण पेट में से सधूम (साथ में लिए हुए धुएं की तरह) खट्टी डकारों का आना, पसीना और दाह का होना ये लक्षण पित्त से होनेवाले विदग्धाजीर्ण के होते हैं।

सब अजीर्णों की सर्वसामान्य चिकित्सा—आमाजीर्ण में लङ्घन, विष्टब्धाजीर्ण में भली भांति स्वेदन करे तथा विदग्धाजीर्ण में वमन कराना चाहिए अथवा अजीर्ण की जैसी अवस्था हो और उसमें जिससे हित हो वही चिकित्सा करनी चाहिए।

गरीयसो भवेल्लीनादामादेव विलम्बिका।
कफवातानुविद्धामलिङ्गा तत्समसाधना॥

विलम्बिका के लक्षण और चिकित्सा—बढ़े हुए, महास्रोतों में लीन (संश्लिष्ट या चिपटे हुए) आम से या आमाजीर्ण से ही विलम्बिका नामक रोग (अजीर्ण) होता है। यह कफ और वायु से अनुविद्ध एवं आमाजीर्ण के लक्षणोंवाली होती है। इस लिए इसकी चिकित्सा भी तत्समा अर्थात् आमाजीर्ण की चिकित्सा के समान ही करनी चाहिए।

विशेष वक्तव्य—सुश्रुत ने भी इस बात का समर्थन किया है और इसको दुश्चिकित्स्य बताया है। सुश्रुत लिखते हैं कि "आहार किया हुआ अन्न कफ-वात से दूषित होकर कोष्ठ में ही चिपटा हुआ रहता है परन्तु ऊर्ध्व एवं अधोमार्ग से मुखमार्ग से वमन होकर और गुदमार्ग से विरेचन होकर बाहर नहीं निकलने पाता इस दुश्चिकित्स्य रोग को प्राचीन महर्षियों

१. "गोऽजाविमहिषीणां तु स्त्रीणां मूत्रं प्रशस्यते। खरोष्ट्रेभनराश्वानां पुंसां मूत्रं हितं स्मृतम्॥" इति भावमिश्रः

ने विलम्बिका नाम दिया है। खरनाद भी इसकी उत्पत्ति आम से ही मानते हैं। यह इन सबका मत ठीक प्रतीत होता है। जेज्जटाचार्य इसे अलसक मानते हैं, इसमें भी कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती क्योंकि विलम्बिका और अलसक में कोई भेद नहीं दिखाई देता। मूल में भी यह स्पष्ट है कि "स्रोतों में लीन बढ़े हुए आम से ही विलम्बिका होती है। आमाजीर्ण की तरह यह भी कफ-वातयुक्त होने से इसकी चिकित्सा भी आमाजीर्णवत् करने का आदेश है।" फिर भी हेमाद्रिने भेद के—"यदा भुक्तं विदग्धं च नोर्ध्वं नाधः प्रवर्तते। तां विलम्बीं विगर्हन्ति विषकल्पां विसूचिकाम्॥" इस कथन के आधार पर विषकल्पता और विदग्धता के कारण इसमें पित्तोल्वणता मान ली है। इतना ही नहीं, इसके अजीर्ण को त्रिदोष का मानकर चिकित्सा भी तदनुकूल करना सिद्ध किया है परन्तु यह तर्क ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि मूल में "आमादेव विलम्बिका" कहने पर विदग्धाजीर्ण-मूलकता रह ही कैसे सकती है? सारांश, इसके हेतु और लक्षणों पर विचार करने से हेमाद्रि का यह तर्क शोचनीय हो जाता है। पाठकों को चाहिए कि वे इस पर अवश्य विचार करें।

अब रसशेषाजीर्णादि के विषय में कहते हैं—

रसशेषेऽन्नविद्वेषो हृदयाशुद्धिगौरवे ।
तत्रासुक्त्वा दिवा स्वप्यात्क्षुद्वानद्यान्मितं लघु ॥
यामैश्चतुर्भिर्द्वाभ्यां च भोज्यभैषज्ययोः समे ।
पाकोऽग्नौ युक्तयोर्द्रावतीक्ष्णे मन्दे पुनश्चिरात् ॥
सभक्तमौषधं तस्मान्मन्दाग्नेरवचारयेत् ।
पूर्वाह्णे भोजनं सात्म्यं लघुदीपनबृंहणम् ॥
प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति ।
अजीर्णे सायमाशे तु प्रातराशो हि दुष्यति ॥
दिवा प्रबोध्यतेऽर्केण हृदयं पुण्डरीकवत् ।
तस्मिन्विबुद्धे स्रोतांसि स्फुटत्वं यान्ति सर्वशः ॥
व्यायामाच्च विचाराच्च विक्षिप्तत्वाच्च चेतसः ।
न क्लेदमुपगच्छन्ति दिवा तेनास्य धातवः ॥
अक्लिन्नेष्वन्नमासक्तमन्यत्तेषु न दुष्यति ।
अविदग्धेष्विव पयः स्वन्यत्संमिश्रितं पयः ॥
रात्रौ तु हृदये म्लाने संवृतेष्वयनेषु च ।
यान्ति कोष्ठे परिक्लेदं संवृते सर्वधातवः ॥
क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तेष्वासक्तं प्रदुष्यति ।
विदग्धेषु पयःस्वन्यत्पयस्तप्तेष्विवार्पितम् ॥
नैशे तस्मादजीर्णेऽन्ने नान्यद्भुञ्जीत भोजनम् ।

रसशेषाजीर्ण का वर्णन—यह रसशेषाजीर्ण रक्त को बनानेवाले उस परिपक्व रस का नहीं है किन्तु आमाशयगत उस अपक्व रस का समझना चाहिए जो मन्दाग्नि के कारण पूर्णतया परिपक्व नहीं होता अपितु कुछ अपक्व रहता है[१]। अन्न के पचने में शुद्ध डकार के आनेपर भी यदि कुछ अपक्व रस शेष रह जाय तो वह भी अजीर्ण का कारण होता है। उस अपक्व रस से होनेवाले अजीर्ण का नाम ही रसशेषाजीर्ण है। रसशेषाजीर्ण के होनेपर अन्नविद्वेष अर्थात् अन्न के खानेपर बिलकुल रुचि न रहना, हृदय में पीडा अर्थात् छाती का दुखना और भारी रहना ये लक्षण होते हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य को कुछ भी न खाकर दिन में सोना चाहिए। भूख लगने पर अल्प मात्रा में लघु (हल्का) भोजन करना चाहिए। समाग्नि के होनेपर उचित मात्रा में किए हुए आहार का पचन ठीक चार प्रहर में होता है इसी प्रकार समाग्निवाले की औषधि का पचन ठीक दो प्रहर में होता है। इन दोनों आहार एवं औषधि का पचन तीक्ष्णाग्नि होनेपर बहुत जल्दी होता है और मन्दाग्नि की अवस्था में चिरात् अर्थात् विलम्ब से होता है। इस लिए मन्दाग्नि की अवस्था में भोजन के साथ औषधि का भी सेवन कराना चाहिए।

दिन और रात के भोजन की युक्तायुक्तता—पूर्वाह्ण में किया हुआ भोजन सात्म्य, लघु, दीपन और बृंहण (पुष्टिकारक) होता है। प्रातः अर्थात् पूर्वाह्ण में किए हुए भोजन के न पचनेपर भी सायं भोजन कर लिया जाय तो भी वह किया हुआ भोजन दूषित या दोषकारक नहीं होता परन्तु संध्याकाल के किए हुए भोजन के न पचने पर प्रातः भोजन कर लिया जाय तो वह दोषकारक हो जाता है। इसका स्पष्टीकरण अब दृष्टान्त द्वारा करते हैं कि जैसे दिन में सूर्य द्वारा कमल का पुष्प खिलता है, ठीक इसी प्रकार दिन में सूर्य द्वारा मनुष्य का हृदय-कमल भी खुला रहता है। हृदय के खुले रहने से शरीर के सब स्रोत भी खुले रहते हैं-इस लिए तथा दैनिक शरीर के व्यायाम एवं मानसिक विचारविक्षेप होने से मनुष्य के वात-पित्त-कफ-रसरक्तादि धातु भी क्लेद को प्राप्त नहीं होते। इन धातुओं के क्लेदित न होने से उनके साथ मिलनेवाला अन्न (आहार) भी दूषित नहीं होता जैसे कि बिना तपाए हुए दूध में अन्य वैसे ही दूध के मिलाने से उसमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हो सकता अर्थात् वह दूध फटकर नष्ट नहीं होता। परन्तु रात्रि में सूर्य के न रहने से मनुष्य का हृदय म्लान (कमलपुष्प की तरह बन्द) होने से शारीरिक स्रोत भी बन्द हो जाते हैं। शारीरिक स्रोतों के खुले न रहने से उसके बन्द कोष्ठ में वातादि सभी धातुएं क्लेद को प्राप्त होती हैं। उन अपक्व (कच्ची) धातुओं की क्लेदितावस्था में उनके साथ मिलनेवाला अन्न (आहार) इस प्रकार दूषित हो जाता है जैसे कि तपाए हुए दूध में कच्चा दूध मिलते ही वह फटकर नष्ट हो जाता है। इसी लिए कहा है कि—रात्रि के किए हुए भोजन के न पचनेपर अर्थात् जब तक रात्रि का किया हुआ भोजन न पच जाय तब तक अन्य भोजन नहीं करना चाहिए।

अब आचार्य इस अध्याय के उपसंहार में जीर्णाहारादि के लक्षण आदि का वर्णन करते हैं।

---

१. "दुष्टं तु भुक्तं कफमारुताभ्यां प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य॥ विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः॥" इति। "आमाजीर्णे विलम्बिका" इति खरनादः।

२. "मत्यन्तेन न दुष्यति" इत्यपि पाठान्तरम्।

१. "ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्। दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते॥" इति।

उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः ।
लघुता क्षुत्पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम् ॥
प्रायः प्रज्ञापराधेन रोगग्रामः प्रजायते ।
नृणामशनलुब्धानां विशेषेण विसूचिका ॥
दोषोपनद्धं यदि लीनमन्नं पित्तोल्बणस्यावृणुयान्न वह्निम्।
जायेत दुष्टा तु ततो बुभुक्षा या मन्दबुद्धीन्विषवन्निहन्ति॥

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थाने मात्राशितीय-
नामैकादशोऽध्यायः।

जीर्णाहार के लक्षण—शुद्ध डकार का आना, मनमें उत्साह, मलमूत्रादिका यथोचित विसर्जन, शरीर में फुर्ती, भूख और प्यास की यथोचित प्रवृत्ति ये भली भांति आहार के पच जाने के लक्षण हैं।

प्रज्ञापराध का परिणाम—प्रज्ञापराध अर्थात् त्याज्य वस्तुओं के सेवन तथा सेवन करने योग्य वस्तुओं के त्याग से भोजन-लोलुप मनुष्यों को प्रायः सभी प्रकार के रोग होते हैं और विशेषतः विसूचिका ( महामारी ) होती है। द्रवस्वरूप पित्त की अधिकतावाले पुरुष का किया हुआ आहार वायु तथा कफद्वारा अवरुद्ध होकर पेट के एक भाग में रहता हुआ अग्नि के संयोग को प्राप्त नहीं कर सकता। उस समय भोजन की दुष्ट इच्छा होती है और वह मन्दबुद्धिवालों को विष की तरह मार डालती है।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहेसूत्रस्थानेर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्या-
ख्यायां मात्राशितीयनामैकादशोऽध्यायः॥ ११ ॥

# अथ द्वादशोऽध्यायः।

पिछले अध्याय के आहार का वर्णन करने के अनन्तर अब आचार्य मिथ्याहारादि से उत्पन्न होने वाले रोगों के निवारण में उपयुक्त ऐसे द्रव्यों (औषधियों) के विषय में कहते हैं कि—

अथातो द्विविधौषधविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्याम इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

द्विविधौषधविज्ञान—दो प्रकार के औषधका जिस से ज्ञान होता है, अब हम उस द्विविधौषधविज्ञानीय अध्याय को कहते हैं जैसे कि आत्रेय आदि महर्षियोंने पहले कहा है।

द्विविधमौषधमूर्जस्करं रोगघ्नं च। उभयमपि चोभयात्मकम्। बाहुल्येन तु निर्देशः। तत्रोर्जस्करं द्विविधं रसायनं वाजीकरणं च। रोगघ्नमपि द्विविधं रोगस्य प्रशमनमपुनर्भवकरं च। पुनश्च द्विविधं द्रव्यमद्रव्यं च। तत्र द्रव्यं त्रिविधं भौममौद्भिदं जङ्गममिति। तेषु वक्ष्यमाणहेमादिलवणान्तं प्रायेण भौमम्। औद्भिदं तु पुनर्वनस्पति-वानस्पत्यवीरुदौषधिभेदेन चतुर्विधं भवति। तत्र फलिनो वनस्पतिः। पुष्पफलवान्वानस्पत्यः। वल्लीगुल्मं वीरुत्। फलपाकान्ता त्वौषधिरिति। जङ्गमोद्भवं तु मधुघृतादि जङ्गमं द्रव्यमाहुः।



द्रव्यों के दो प्रकार—शरीर के लिए इष्ट एवं अनिष्टताका विचार करने पर द्रव्यों के दो प्रकार होते हैं, जैसे कि औषध और अनौषध। औषध उसे कहते हैं जो शरीर के लिए पथ्य अर्थात् हितकारी है और अनौषध वह है जो शरीर के लिए अपथ्य या अहितकारक है। सब से प्रथम आचार्य हितकारक औषधका वर्णन करते हैं। अनौषध ( अपथ्य किंवा अहितकारी ) का वर्णन आगे करेंगे।

द्विविधौषध—औषध के दो प्रकार हैं जैसे कि ऊर्जस्कर और रोगघ्न[1]। इन में ऊर्जस्कर औषध वह है जो व्याधि को नष्ट करके बल, वर्ण और उपचय ( पुष्टि ) को करता है। इतना ही नहीं, ऊर्जस्कर में यह विशेषता है कि वह केवल व्याधि को नष्ट करके ही बल, वर्ण और उपचयको नहीं करता, अपितु स्वस्थावस्था में सेवन करने पर भी यह बल, वर्ण एवं उपचय को करनेवाला है। दूसरा रोगघ्न औषध वह है जो व्याधि का नाश करनेवाला है। व्याधि का नाश होने पर ही शरीर में बल, वर्ण और उपचयकी प्राप्ति होती है। इसीलिए ऊर्जस्कर तथा रोगघ्न इन दोनों को "उभयमपि चोभयात्मकम्" कहा है अर्थात् ये दोनों व्याधि के नष्ट करनेवाले और बल, वर्ण और पुष्टि के देनेवाले हैं। इन दोनों में से जिस का पहले निर्देश किया गया है, वह बाहुल्येन या प्राधान्येन किया गया है। भावार्थ यह है कि ऊर्जस्कर तथा रोगघ्न इन दोनों के उभयात्मक होने पर भी ऊर्जस्कर इन दोनों में मुख्य एवं प्रधान है।

रसायन और वाजीकरण के लक्षण—उपर्युक्त ऊर्जस्कर औषध के भी दो भेद हैं अर्थात् रसायन और वाजीकरण। इन में से रसायन उसे कहते हैं जो रोग का नाश करता है और बुढ़ापा जल्दी नहीं आने देता[2]। भगवान् आत्रेय के मतानुसार जो स्वस्थ को बल और पुष्टि देता है वह रसायन है। इतना ही नहीं, रसायन वह है जो मनुष्यको दीर्घायु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, तारुण्यादि अनेक फलों का देनेवाला है। भगवान् धन्वन्तरिजी भी रसायन उस औषधि को कहते हैं जो वयःस्थापन, आयु—मेधा और बलकारक तथा रोगों को नष्ट करने में समर्थ[4] होती है। कुटीप्रावेशिकादि इस को सेवन विधियों का वर्णन यथास्थान में किया जायगा। वाजीकरण का भावार्थ संक्षेप में यह है कि जो औषधि संतान आदि सुखों की देनेवाली और मैथुन के समय मनुष्य को वाजी ( घोड़े ) की तरह बल[5] देनेवाली होती है।

रोगघ्न औषध के दो प्रकार—रोगघ्न औषध के भी दो प्रकार हैं, एक रोगप्रशमनकर और दूसरा रोगापुनर्भवकर। इन में रोगप्रशमनकर वह औषध है जो केवल रोग का नाश करता है परन्तु रोगापुनर्भवकर वह औषध है जो रोग का नाश करके

---

१. "भेषजं द्विविधं च तत्। स्वस्थस्योर्जस्करं किञ्चित्किञ्चिदार्तस्य" इति चरकः। २. "रसायनं हि तत्प्रोक्तं यज्जराव्याधिनाशनम्।" इति तन्त्रान्तरे ३. "स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद्वृष्यं तद्रसायनम्। प्रायः......दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः। इत्यादि"। ४. "वयःस्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थं चेति।" ५. "अपत्यसन्तानकरं यत्सद्यः संप्रहर्षणम्। वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतः स्त्रियः॥" इति चरकः।

मनुष्यशरीर में पुनः उस रोग को उत्पन्न नहीं होने देता।

द्रव्याद्रव्यरूपेण औषध के दो प्रकार—और भी औषध के दो प्रकार हैं जैसे कि द्रव्य और अद्रव्य। यहां द्रव्यौषध भौम, औद्भिद और जङ्गमभेद से तीन प्रकार का माना गया है। इन में से भौमद्रव्य वे हैं जिन का वर्णन इसी अध्याय में आगे किया जायगा जैसे कि सोने से लेकर नमक तक वक्ष्यमाण द्रव्य। औद्भिद द्रव्य भी वनस्पति, वानस्पत्य, वीरुत् और औषधभेद से चार प्रकार का माना गया है। इन में वनस्पति वह है जिस में विना पुष्प के फल आते हैं जैसे कि गूलर, वट, अश्वत्थादि। वानस्पत्य वह है जिस में पुष्प आने के अनन्तर फल आते हैं जैसे कि आम, निम्ब आदि। वीरुत् औषधि वह है जो लता ( बेल ) गुल्मवाली अथवा भूमि से संलग्न सूक्ष्म शाखावाली होती है। औषधी वह है जो फल और पाक के अन्त में नष्ट हो जाती हैं जैसे कि गेहूं, यव आदि आदि। प्राणियों से उत्पन्न होनेवाले द्रव्य जङ्गम कहलाते हैं—जैसे कि शहद, घृत, कस्तूरी, अम्बर आदि आदि।

इस प्रकार भौम, औद्भिद और जङ्गमभेद से द्रव्यौषधि का संक्षेप में वर्णन हुआ। अब आचार्य अद्रव्यौषधि का वर्णन करते हैं। विना द्रव्य के औषधि ( चिकित्सा ) का नाम अद्रव्यौषधि है। यथा—

अद्रव्यं पुनरुपवासानिलातपच्छायामन्त्रसान्त्वदानभयोत्त्रासक्षोभणहर्षणभर्त्सनस्वप्नजागरणसंवाहनादि।

अद्रव्यौषधियों का वर्णन—उपवास, वायु का सेवन, धूपका सेवन, छाया, मन्त्र, शान्तिप्रदान करना, दान, भय, विशेष त्रास, क्रोध करना, हर्षण (हर्ष की वात सुनाना), फटकारना, सोना, जागरण करना और संवाहन ( शरीर को मलना ) ये अद्रव्य औषध हैं अर्थात् इन में द्रव्यकी आवश्यकता नहीं होती किन्तु इन अद्रव्यों से भी रोग का नाश हो जाता है।

विशेष वक्तव्य—अनिल ( वायु ) को शास्त्रकारोंने द्रव्य माना है किन्तु सकलेन्द्रियग्राहित्व एवं प्रत्यक्षगोचरत्व न होने से वायु को केवल यहीं व्यवहारार्थ अद्रव्य माना है परन्तु वस्तुतः वायु द्रव्य है।

जिस के ऊर्जस्करत्व तथा रोगघ्नत्व ऐसे दो भेद माने गए हैं उसी औषधि के पुनः तीन प्रकार बताते हैं। यथा—

पुनरपि च त्रिविधमौषधं दैवव्यपाश्रयं युक्तिव्यपाश्रयं सत्त्वावजयश्चेति। तत्र दैवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिधानगमनादि। युक्तिव्यपाश्रयमाहारौषधयोजनादि। सत्त्वावजयः पुनरहितान्मनोनिग्रहः।

औषधि के और भी तीन प्रकार—ऊर्जस्करत्व और रोगघ्नत्व ऐसे द्विविध औषधि के और तीन प्रकार कहे हैं (१) दैवव्यपाश्रय (२) युक्तिव्यपाश्रय और सत्त्वावजय। इनमें दैवव्यपाश्रय औषधि वह है जिसमें मन्त्र, औषधि, मणि, मङ्गल, बलिदान, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्तिवाचन, प्रणिधान-प्रणिपात ( ईश्वरपूजन-परमात्मा को नमस्कार ), तीर्थस्थानगमनादि विधियों का अवलम्बन किया जाता है। युक्तिव्यपाश्रय औषधि वह है जिसमें आहार और ओषधियोजनादि किए जाते हैं। सत्त्वावजय उसे कहते हैं जिसमें अहितकारी मिथ्या आहारविहारादि की ओर जाते हुए मनको रोका जाता है। सारांश, मिथ्याहारविहार एवं पापप्रवृत्ति से मनको रोकने का नाम सत्त्वावजय चिकित्सा है।

इनके अतिरिक्त और भी औषधि के तीन प्रकार माने गए हैं। यथा—

पुनरपि च त्रिविधम्। अपकर्षणं प्रकृतिविधानं निदानत्यागश्च। ते पुनरपकर्षणादयो द्विविधा बाह्याभ्यन्तरभेदेन। तत्र बाह्यापकर्षणं ग्रन्थ्यर्बुदोपपदसकृमिशल्यादिषु शस्त्रहस्तयन्त्रादिभिः। आभ्यन्तरं पुनर्वमनविरेचनादिभिः। प्रकृतिविधानं संशमनम्। तद्बाह्यमभ्यङ्गस्वेदप्रदेहपरिषेकोन्मर्दनादि। आभ्यन्तरं यदन्तरमनुप्रविश्याविक्षोभयद्दोषान् शमयति। निदानत्यागो यथादोषं शीतोष्णासनव्यायामादीनां वर्जनम्, स्निग्धरूक्षाद्यनभ्यवहारश्च। तत्र शस्त्रादिसाध्ये भेषजमनुक्रमते न तु भेषजसाध्ये शस्त्रादि।

औषध के और भी तीन प्रकार—अपकर्षण, प्रकृतिविधान तथा निदानत्याग ये और भी औषधि के तीन प्रकार माने गए हैं। ये अपकर्षणादि भी बाह्य एवं अन्तर्भेद से दो दो प्रकार के कहे गए हैं जैसे कि बाह्यापकर्षण तथा अन्तरपकर्षण, बाह्यप्रकृतिविधान और अन्तःप्रकृतिविधान ऐसे ही निदानत्याग।

यहां बाह्य अपकर्षण उसे कहते हैं जो ग्रन्थि, अर्बुद, उपपक्ष, कृमि, शल्य आदि रोगों में शस्त्र, हाथ एवं यन्त्रादि द्वारा किया जाता है अर्थात् उक्त रोगों को शस्त्र, हस्त एवं यन्त्रों द्वारा बाहर से ही दूर कर दिया जाता है। अन्तरापकर्षण वह है जिसमें वमन, विरेचनादि कराकर भीतर के दोषों को नष्ट कर दिया जाता है।

प्रकृतिविधान का दूसरा पर्याय संशमन है जिसके द्वारा देहस्थ दुष्ट दोषादि को शमन करके उन्हें साम्यावस्था में लाना है। जो दोषों को बाहर नहीं निकालती किन्तु उनकी दुष्टता को शरीर में ही शान्त कर देती है, साम्यावस्थावाले दोषों को नहीं छेड़ती, विषम दोषों को साम्यावस्था में लाती है उस चिकित्सा को संशमन-चिकित्सा कहते हैं। यही अन्तःसंशमन चिकित्सा है या अन्तःप्रकृतिविधान है। बाह्यप्रकृतिविधान या बाह्यसंशमन चिकित्सा वह है जो अभ्यङ्ग, स्वेद,

---

१. "वानस्पत्यः फलैः पुष्पात्तैरपुष्पाद्वनस्पतिः। औषधिः फलपाकान्ता...... ॥ लता प्रतानिनी वीरुद्गुल्मिन्युलप इत्यपि" इत्यमरकोषः।

२. "अनिलस्यासकलेन्द्रियग्राहित्वादमूर्तत्वाच्चाद्रव्यत्वमत्रैव व्यवहारार्थम्।" इतीन्दुः। ३. "प्रणिपात" इत्यपि पाठान्तरम्।

१. प्रकृतिविघाते इत्यपि पाठः। २. शीतोष्णाशन इ० पा०। ३. "न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि। समीकरोति विषमान् शमनं तच्च सप्तधा। पाचनं दीपनं क्षुत्तृड्व्यायामातपमारुताः॥" इति।

प्रदेह, परिषेक (तरेड़ा), उन्मर्दनादि क्रियाओं द्वारा की जाती है। यह संशमन-चिकित्सा तथा प्रकृतिविधान सात प्रकार का है जैसे कि पाचन, दीपन, क्षुधा, तृषा, व्यायाम, धूप एवं वायु का सेवन।

निदानत्याग उसे कहते हैं जिसमें वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों के अनुसार रोगादि के कारण शीत, उष्ण, आसन तथा व्यायाम आदिका तथैव स्निग्ध, रूक्ष आदि आहार का परित्याग कराया जाता है। सारांश, निदानत्याग उन आहार-विहार आदिका छोड़ना है जिनसे रोग की उत्पत्ति हुई है।

ध्यान रहे कि शस्त्रक्रियासाध्य रोग को औषधि दूर कर सकती है परन्तु औषधिसाध्य ग्रहणी आदि रोगों को शस्त्र-क्रिया दूर नहीं कर सकती।

पुनरपि त्रिविधं हेतुविपरीतं व्याधिविपरीतमुभयार्थकारि च। तत्र हेतुविपरीतं गुरुस्निग्धशीतादिजे व्याधौ लघुरूक्षोष्णादि तथेतरस्मिन्नितरत्। व्याधिविपरीतं द्वौ मूलोपक्रमौ (तौ च स्नेहस्वेदौ) लङ्घनबृंहणे। पञ्चकर्माणि वमनादीनि सधूपधूमाञ्जनादीनि च। तथा विम्लापनोपनाहनपाटनादीनि।

पुनरपि औषधि के तीन भेद—अपकर्षणादि औषधि के तीन भेद कह कर फिर भी उसी औषधि के तीन भेद कहते हैं यथा (१) हेतुविपरीत (२) व्याधिविपरीत और (३) उभयार्थकारि अर्थात् हेतु और व्याधि इन दोनों के विपरीत। यहां हेतुविपरीत औषध वह है जो व्याधि के हेतु गुरु, स्निग्ध और शीत के विपरीत क्रमशः जैसे लघु, रूक्ष तथा उष्णगुणवाला औषध दिया जाता है इस लिए कि गुरु का विपरीत लघु, स्निग्ध का विपरीत रूक्ष एवं शीत का विपरीत उष्ण है। इसी प्रकार व्याधि के हेतु यदि लघु, रूक्ष और उष्ण हैं तो वहां इनके विपरीत पूर्वोक्त गुरु, स्निग्ध एवं शीतगुणवाली औषधि दी जाती है। विशेषतः व्याधिविपरीत औषधि वहां प्रयुक्त की जाती है जहां हेतुविशेष की ओर नहीं देखा जाता। व्याधिविपरीत औषधि के मूल दो उपक्रम हैं प्रथम लङ्घन और दूसरा बृंहण। लङ्घनचिकित्सा उसकी की जाती है जो व्याधि अनेक कारणों से है। जो अनेक कारणों से कृश हैं, उनके लिए बृंहण-चिकित्सा की जाती है। सारांश, स्थूल के विपरीत लङ्घनचिकित्सा है, वैसे ही कृशताबहुल व्याधि के लिए बृंहणचिकित्सा है। पञ्चकर्म अर्थात् वमन, विरेचन, स्नेहन, स्वेदन और वस्ति, इसी प्रकार धूम्रपान, धूप, अञ्जन आदि ये सब इन उपक्रमों में आते हैं। गुल्म आदि शस्त्रक्रियासाध्य व्याधियों के विपरीत विम्लापन, उपनाहन, पाटन आदि क्रिया की जाती है।

यच्च दोषशमनत्वे सत्यपि ज्वरे विशेषतो[१]ऽभिहितं मुस्तापर्पटकं यवागवश्च प्रमेहे रजनी यवान्नं चेत्यादि। रक्तपित्ते चोर्ध्वगे विरेचनमधोगे[२] वमनम्। उभयार्थकारि पुनर्दैवव्यपाश्रयमौषधम्। तथा छर्द्यां छर्दनमतीसारेऽनुलोमनं मदात्यये मद्यपानं तुच्छदग्धेऽग्निप्रतपनं पित्तेऽन्तर्गूढे[३] विमार्गगे वा स्वेदः कट्वम्ललवणतीक्ष्णोष्णाभ्यवहारश्च बहिःप्रवर्तनाय स्वमार्गापादनाय च। श्लेष्मणि चान्तर्निगूढे स्तब्धे बहिः शीतोपचारस्तत्पीडितस्योष्मणोऽन्तःप्रवेशेन कफविलयनायेति[१]। एवं विधं ह्यविपरीतमेव सद्भेषजं हेतुव्याधिविपरीतमर्थं करोति।

अवधान विशेष—उपर्युक्त दोषशमन करते हुए भी अन्यान्य विशेष बातों पर ध्यान देना होता है जैसे कि ज्वरमें नागरमोथा, पित्तपापड़ा और अनेक प्रकारकी यवागू प्रशस्त होती है। इसी प्रकार प्रमेह में हल्दी तथा यवान्न नेक माना गया है। ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में जैसे विरेचन दिया जाता है तथा अधोगामी रक्तपित्त में वमन कराया जाता है।

उभयार्थकारी औषधका वर्णन—उभयार्थकारी औषधि वह होती है जो हेतु और व्याधि इन दोनोंके विपरीत कार्य करनेवाली होती है। इसके भी दो प्रकार माने गए हैं दैवव्यपाश्रय और औषध। दैवव्यपाश्रय उपाय वह है जिसमें देवताराधन, हवन, बलि, मणि, मन्त्रादि द्वारा चिकित्सा की जाती है। औषधिद्वारा जैसे कि छर्दि रोगमें वमन, अतीसारमें विरेचन, मत्ययमें मद्यपान, थोड़े जले हुएको अग्निसे तपाना, शरीरमें पित्तके कुपित होने या अन्य विपरीत मार्गगामी होनेपर उसको बाहर निकालनेके लिए या अपने मार्गपर लानेके लिए स्वेद तथा कटु, लवण, अम्ल, तीक्ष्ण एवं उष्ण पदार्थोंका सेवन कराना। इसी प्रकार कफके अन्तर्निगूढ (भीतर कुपित या स्तब्ध) हो जानेपर उस कफसे पीडित रोगीकी जठराग्निको भीतर प्रविष्ट करके कफका नाश करनेके लिए बहिर्भागमें ठण्डा = शीतोपचार करना। इस प्रकार हेतु और व्याधिके अविपरीत औषध भी हेतु तथा व्याधिके विपरीत कार्य करनेवाली होती है।

अब क्रमप्राप्त अनौषधका वर्णन करते हैं यथा—

अनौषधं पुनर्द्विविधमेव। बाधनमनुबाधनं च। तत्र सद्यःप्राणहरं बाधनं कालान्तरेणानुबाधनमिति। परं चातो रसवीर्यादिभेदेन यथास्थूलमौषधैकदेश उपदिश्यते।

अनौषधिकथन—अनौषध भी दो ही प्रकारका है एक बाधन और दूसरा अनुबाधन। यहां बाधन औषध उसे कहा है जो तुरन्त प्राणोंको हरण करता या मनुष्यको मार डालता है और अनुबाधन वह है जो सेवन करनेके अनन्तर कुछ कालके बीतनेपर प्राणोंको हरण करता है।

अब इसके आगे आचार्य रस-वीर्य आदिके भेदसे स्थूलमानसे अर्थात् थोड़ेमें औषधियोंके एक देशका उपदेश करते हैं।

सुवर्णं बृंहणं स्निग्धं मधुरं रसपाकयोः।
विषदोषहरं शीतं सकषायं रसायनम्॥
रूप्यं स्निग्धं कषायाम्लं विपाके मधुरं सरम्।
वयसः स्थापनं शीतं लेखनं वातपित्तजित्॥
ताम्रं सतिक्तमधुरं कषायं लेखनं लघु।

१. विशेषतो हितम्। २. विरेचनम्। ३. निगूढे।

१. कफो विलयतामुपयाति इति पाठान्तराणि।

कटुपाकरसं शीतं रोपणं कफपित्तजित् ॥
कांस्यं कषायानुरसं विशदं लेखनं लघु ।
दृष्टिप्रसादनं रूक्षं तिक्तं पित्तकफापहम् ॥
सतिक्तलवणं भेदि पाण्डुत्वकृमिवातनुत् ।
लेखनं पित्तलं किञ्चित्त्रपु सीसं च तद्गुणम् ॥
चक्षुष्यं कृष्णलोहं च कषायं स्वादुतिक्तकम् ।
लेखनं वातलं शीतं कृमिकुष्ठकफप्रणुत् ॥
गात्रशैथिल्यपालित्यपाण्डुघ्नं शोषशोफजित् ।
तद्वत्तीक्ष्णं विशेषेण तद्विकाषि सुदुर्जरम् ॥
पद्मरागमहानीलपुष्परागविदूरकाः ।
मुक्ताविद्रुमवज्रेन्द्रवैडूर्यस्फटिकादिकम् ॥
मणिरत्नं सरं शीतं कषायं स्वादु लेखनम् ।
चक्षुष्यं धारणात्तत्तु पापालक्ष्मीविषापहम् ॥
धन्यमायुष्यमोजस्यं हर्षोत्साहकरं शिवम् ।
सक्षारं उष्णवीर्यश्च काचो दृष्टिकृदञ्जनात् ॥
शंखोदधिमलौ शीतौ कषायावतिलेखनौ ।
तुत्थकं कटु सक्षारं कषायं विशदं लघु ॥
लेखनं भेदि चक्षुष्यं कण्डूकृमिविषापहम् ।
विशदो गैरिकः स्निग्धः कषायमधुरो हिमः ॥
कफघ्नी तिक्तकटुका मनोह्वा लेखनी सरा ।
स्निग्धं कषायकटुकं हरितालं विषप्रणुत् ॥
कषायं मधुरं शीतं लेखनं स्निग्धमञ्जनम् ।
रक्तपित्तविषच्छर्दिहिध्माघ्नं दृक्प्रसादनम् ॥
स्रोतोऽञ्जनं वरं तत्र ततः सौवीरकाञ्जनम् ।
कफघ्नं तिक्तकटुकं छेदि सोष्णं रसाञ्जनम् ॥
स्वादु हिध्माप्रशमनं कासमेहक्षयापहम् ।
कफघ्नमुष्णं कटुकं शिलाजतु रसायनम् ॥
तिक्तं च च्छेदनं योगवाहित्वात्सर्वरोगजित् ।
विशेषात्कृच्छ्रमेहार्शःपाण्डुशोफककापहम् ॥
कषाया मधुरा रूक्षा कासघ्नी वंशरोचना ।
तुगाक्षीरी क्षयश्वासकासघ्नी मधुरा हिमा ॥

सुवर्ण के गुण—सोना बृंहण ( पुष्टिकारक ), स्निग्ध, रस और विपाक में मधुर, विष के दोष को हरनेवाला, शीतवीर्य, कुछ कसैला और रसायन ( बुढ़ापा को जल्दी न आने देनेवाला और रोगों का नाश करनेवाला ) है।

रूपे के गुण—रजत ( चांदी ) स्निग्ध, कुछ कसैला, अम्लरसवाला, विपाक में मधुर, सर ( सारक-दस्तावर-सारे शरीर में प्रसरणशील ), वयःस्थापन, शीतवीर्य, लेखन, वायु और पित्त को जीतनेवाला है।

ताम्र के गुण—तांबा कुछ तिक्त और मधुर रस को लिए हुए कसैला, लेखन, लघु, रस और विपाक में कटु, शीतवीर्य, व्रणों को रोपण करनेवाला, कफ और पित्त को जीतनेवाला है।

कांसे के गुण—कांसा पीछे से कसैला, विशद, लेखन, हल्का ( लघु ), दृष्टि को साफ करनेवाला, रूखा, तिक्त, पित्त तथा कफ का नाशक है।

कथील के गुण—रांगा ( वङ्ग ) कुछ तिक्तता लिए हुए लवण रसवाला, सर, पाण्डु, कृमि और वायु का नाशक, लेखन एवं किंचित् पित्तकारक है।

सीसे के गुण—सीसा अर्थात् नाग भी वङ्ग के समान गुणवाला है।

लोहे के गुण—लोहा कसैला, मधुर, तिक्त, लेखन, वातकारक, शीतवीर्य, कृमि-कुष्ट-कफ-गात्रशैथिल्य ( शरीर का ढीलापन )-पालित्य ( बालों का सुफेद होना ), पाण्डुरोग-क्षयरोग और सूजन इन सब को दूर करनेवाला है।

तीक्ष्ण लौह के गुण--तीक्ष्ण लौह अर्थात् फौलाद उपर्युक्त लौह के सब गुणोंवाला होते हुए भी विशेषतः विकासी और दुर्जर अर्थात् देर से पचनेवाला है।

माणिक्यादि के गुण—माणिक्य अर्थात् पद्मराग ( सिंहलद्वीप का लाल माणिक्य ), महानील ( नीलकान्त मणि या नीलम ), पुष्पराज ( पुखराज ), विदूरक ( वैडूर्य मणि का एक भेद ), मोती, मूंगा ( विद्रुम ), हीरा, वैडूर्य तथा स्फटिक आदि सब मणि और रत्न सर, शीतवीर्य, कषाय, मधुर, लेखन और चक्षुष्य ( नेत्रों के लिये हितकारी ) हैं। इतना ही नहीं, इन रत्नों को शरीर पर धारण करने से ये धन-धान्य के बढ़ानेवाले, आयुष्य के देनेवाले, बल, हर्ष और उत्साह के देनेवाले, कल्याणकारी, पाप, दरिद्रता तथा विष के हरनेवाले हैं।

काच के गुण—काच कुछ क्षारयुक्त और उष्णवीर्य है तथा अञ्जन करने से काच दृष्टि को देनेवाला अर्थात् परवाल, फूला आदि का काटनेवाला है।

शंख और समुद्रफेन के गुण—शंख और समुद्रफेन ये दोनों शीतवीर्य, कषायरसवाले तथा अतिलेखन हैं।

तुत्थ के गुण—तुत्थ अर्थात् तूतिया ( नीला थोथा ) कुछ क्षारयुक्त, कटु, कषाय, लघु, अधिक मात्रा में पेट में पहुंचने से मारक, लेखन, दस्तावर, नेत्रों के लिए हितकारी, कृमि-कण्डू ( खुजली ) और विष को दूर करनेवाला है।

गेरू के गुण—गैरिक अर्थात् सोना गेरू विशद, स्निग्ध, कषायरसवाला, मधुर और शीतवीर्य है।

मैनसिल के गुण—मनःशिला रस में तिक्त और कटु, कफ को दूर करनेवाली, लेखन और सर है।

हरताल के गुण—हरताल, स्निग्ध, कषाय तथा कटुरसवाला और विषनाशक है।

सुर्मा के गुण—सुर्मा कषाय-मधुर-रसवाला, शीतवीर्य, लेखन, स्निग्ध, रक्तपित्त-विष-वमन तथा हिचकी का हरनेवाला है। सुर्मा विशेषतः नेत्रों की ज्योति को बढानेवाला है। यहां अञ्जन के दो भेद हैं, स्रोतोञ्जन और सौवीराञ्जन। अञ्जनों में स्रोतोञ्जन श्रेष्ठ है और इस से भी अधिक श्रेष्ठ सौवीराञ्जन

१. सरम्। २. तु। ३. धान्यं इति पाठान्तराणि।

१. "सिंहले तु भवेद्रक्तं पद्मरागमनुत्तमम्।" इति तन्त्रान्तरे।

है। अञ्जन के विषय में बड़ामत भेद है। कई सुफेद सुर्मा को स्रोतोञ्जन कहते हैं तो कई काले सुर्मे को सौवीराञ्जन कहते हैं परन्तु वस्तुतः काला सुर्मा स्रोतोऽञ्जन है और सुफेद सुर्मा सौवीराञ्जन है। इन दोनों में सौवीराञ्जन ( सुफेद सुर्मा ) अधिक लाभकारी है। चक्रदत्त काले सुर्मे को सौवीराञ्जन कहते हैं और भावमिश्र सुफेद सुर्मे को जिनकी इच्छा हो चक्रदत्त तथा भावप्रकाश में देख लें।

रसोत के गुण—रसाञ्जन अर्थात् रसोत कफनाशक, तिक्त और कटु रसवाला, छेदन तथा उष्णवीर्य है। यह दारुहल्दी के काढ़े तथा बकरी के दूध से तयार किया हुआ अत्युत्तम होता है।

शिलाजीत के गुण—शिलाजीत, मधुर, हिक्का को दूर करनेवाला, कास-प्रमेह और क्षयरोग का नाश करनेवाला, कफहारक, उष्णवीर्य, कटु रसवाला तथा रसायन अर्थात् बुढ़ापे को जीतनेवाला तथा समस्त रोगों का नाशक है। यह ( शिलाजीत ) तिक्त और छेदन भी है। यह योगवाहि होने के कारण नानानुपानों से सब रोगो को जीतनेवाला है। इन के अतिरिक्त यह मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, अर्श, पाण्डु, शोथ एवं कफ के रोगों को विशेष करके जीतनेवाला है।

विशेष वक्तव्य—वाग्भटाचार्य ने शिलाजतु का वर्णन करते हुए उसे पहले स्वादु अर्थात् मधुर कहा है। इसके अनन्तर इसे उष्णवीर्य, कटु और तिक्त भी कह डाला है। पाठक यह देखकर भ्रम में न पड़ें। वाग्भटाचार्य कभी भी भूल करनेवाले नहीं हैं। शिलाजीत वस्तुतः मधुर, समशीतोष्णवीर्य, उष्णवीर्य, कटु, तिक्त आदि सब कुछ है। आचार्यों ने इसे सुवर्ण-रजत-ताम्र-लौह-योनिभेद से चार प्रकार का माना है[1] और तत्तद् योनि के अनुसार शिलाजतु के रस, वीर्य, विपाकादि का कथन किया है। भगवान् धन्वन्तरि के मत में योनिभेद से यह छः प्रकार का माना गया है[2] और कहा गया है इसे योगवाहि आदि होनेसे मधुमेह, क्षयादि भयंकर व्याधियों को दूर करनेवाला भी। हमने आचार्यों के शिलाजतुविषयक वर्णन का बारंबार अनुभव किया है और तदनुसार ही इसे एक अमोघ औषधि के रूप में पाया है। विस्तारभय से हम विशेष न लिखकर पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वे सुश्रुतसंहितान्तर्गत चिकित्सास्थान के मधुमेहचिकित्सित नामक १३ वें अध्याय एवं एतद्विषयक अन्य तन्त्रों के प्रकरणों को भी अवश्य देखें और शिलाजतु से लाभ उठावें।

वंसलोचन के गुण—वंसलोचन कषाय रसवाला, मधुर, रूक्ष और खांसी को दूर करनेवाला है।

तुगाक्षीरी के गुण—तवखीर ( वंसलोचन का एक भेद ) क्षय, कास और श्वास रोग का नाशक, मधुर रसवाली तथा शीतवीर्य है।

अब आचार्य सब प्रकार के लवणों और क्षारों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

विष्यन्दि लवणं सर्वं सूक्ष्मं सृष्टमलं मृदु[1] ।
वातघ्नं पाकि तीक्ष्णोष्णं रोचनं कफपित्तकृत् ॥
सैन्धवं तत्र सस्वादु वृष्यं हृद्यं त्रिदोषनुत् ।
लघ्वनुष्णं दृशः पथ्यमविदाह्यग्निदीपनम् ॥
लघु सौवर्चलं हृद्यं सुगन्ध्युद्गारशोधनम् ।
कटुपाकं विबन्धघ्नं दीपनीयं रुचिप्रदम् ॥
ऊर्ध्वाधःकफवातानुलोमनं दीपनं विडम् ।
विबन्धानाहविष्टम्भशूलगौरवनाशनम् ॥
विपाके स्वादु सामुद्रं गुरु श्लेष्मविवर्धनम् ।
सतिक्तकटुकं क्षारं तीक्ष्णमुत्क्लेदि चौद्भिदम् ॥
कृष्णे सौवर्चलगुणा लवणे गन्धवर्जिताः ।
रोमकं लघु पांसूत्थं सक्षारं श्लेष्मलं गुरु ॥
लवणानां प्रयोगे तु सैन्धवादि[2] प्रयोजयेत् ।
गुल्महृद्ग्रहणीपाण्डुप्लीहानाहगलामयान् ॥
श्वासार्शःकफकासांश्च[3] शमयेद्यवशूकजः ।
स्वर्जिका तद्गुणान्न्यूना क्षारेण तु ततोऽधिका ॥
क्षारः सर्वश्च परमं तीक्ष्णोष्णः कृमिजिल्लघुः ।
पित्तास्रदूषणः[4] पाकी छेद्यो हृद्यो विदारणः ॥
अपथ्यः कटुलावण्याच्छुक्रौजःकेशचक्षुषाम् ॥

नमक के सर्वसामान्य गुण—सब प्रकार के नमक ( लवण ) विष्यन्दि[5] अर्थात् जमे हुए कफ आदि को पतला करनेवाले, सूक्ष्म ( स्रोतोगामि ), मल-मूत्र को साफ विसर्जन करानेवाले, मृदु, वातनाशक, पाचक, तीक्ष्ण, उष्ण, रुचिकारक, कफ और पित्त को करनेवाले हैं। अब इनका भिन्न भिन्न वर्णन करते हैं।

सैन्धव नमक के गुण—सैन्धा नौन कुछ मधुर, वृष्य, हृदय के लिये हितकारक, त्रिदोषनाशक, हलका, कुछ उष्ण, नेत्रों के लिए पथ्य, अविदाहि ( कुछ दाह करनेवाला ) तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला है।

सोंचर नमक के गुण—सौवर्चल अर्थात् सोंचर नमक लघु, हृद्य, सुगन्धि, दुष्ट डकार की शुद्धि करनेवाला या साफ डकार लानेवाला, पाक में कटु, स्रोतों के विबन्ध को दूर करनेवाला[6], जाठराग्निप्रदीपक और रुचिकारक है इसीलिए इसका नाम रुचक है।

विड़ नमक के गुण—विड अर्थात् विरिया नमक ( सौवर्चल का ही एक भेद ) लोम ( विपरीत ) हुए कफ और वायु का अनुलोमन करनेवाला अर्थात् क्रमशः ऊर्ध्व तथा अधोभाग की ओर करनेवाला, अग्निप्रदीप्तकर्ता, विबन्ध ( मलावरोध ),

---

१. "निदाघे घर्मसंतप्तं धातुसारं धराधराः। निर्यासवत्प्रमुञ्चन्ति तच्छिलाजतु कीर्तितम्॥ सौवर्णं राजतं ताम्रमायसं च चतुर्विधम्। शिलाजं कटुतिक्तोष्णं कटुपाकं रसायनम्॥" इत्यादि भावमिश्राः।
२. "त्रप्वादीनां तु लोहानां षण्णामन्यतमान्वयम्। ज्ञेयं स्वगन्धतश्चापि षड्योनि प्रथितं क्षितौ॥" इति सुश्रुतः।

१. विदुः। २. सैन्धवादीन्। ३. वातांश्च। ४. पित्तासृग्दूषणः। इति पाठान्तराणि। ५. "विष्यन्दि, स्त्यानस्य कफादिसंघातस्य विलीनविग्रहतामुत्पादयतीत्यर्थः।" इत्यरुणदत्तः। ६. "विबन्धं स्रोतसाम्" इतीन्दुः

आनाह ( पेटका फूलना ), विष्टम्भ ( वायु का अवरोध ), शूल तथा गौरव ( शरीर का भारीपन ) इन सबका नाशक है।

सामुद्र नमक के गुण—पांगा ( समुद्र नमक ) विपाक में मधुर, गुरु और कफ को बढ़ानेवाला है।

खारी नमक के गुण—खारी नमक ( औद्भिद ) कुछ तिक्त, कटु, चार और उत्क्लेदन कर्ता अर्थात् रस-रक्तादि धातुओं को ढीला करनेवाला है।

काले नमक के गुण—काला नमक ( सोंचर नमक का भेद ) सोंचर नमक के समान गुणवाला होते हुए भी इसमें सोंचर नमक के जैसा गन्ध नहीं होता।

सांभर नमक के गुण—सांभर नमक ( रौमक लवण ) जो कि सांभर झील से पैदा होता है अथवा वहां की मिट्टी पर जमता है वह लघु, कुछ चारयुक्त, कफकारक और गुरु है। अन्य तन्त्रकारों ने इसके स्निग्ध, रुचिकारक, ठंडा, वृष्य, सूक्ष्म, नेत्रों को हितकारी और त्रिदोषनाशक ये गुण अधिक लिखे हैं।

लवणप्रयोगविधि—उपर्युक्त लवणोंके प्रयोग में जहाँ एक लवण, लवणद्वय, लवणत्रय, लवणचतुष्टय या लवणपञ्चक कहा हो तो वहां सैन्धवादि लवणों का क्रमसे प्रयोग करना चाहिए। सारांश यह कि एक लवण में सैन्धव, लवणद्वय में सैंधव-सौवर्चल, लवणत्रय में सैन्धव, सौवर्चल, विड़ इत्यादि प्रयोग में लेने चाहिए।

जवाखार के गुण—यवक्षार गुल्म, हृद्रोग, संग्रहणी, पाण्डु, प्लीह, आनाह, गले के ( कण्ठगत रोग ), श्वास, अर्श, कफ, कास (वायु का कास) इन सब रोगों को शमन करनेवाला है।

सज्जीखारके गुण—सज्जीखार अर्थात् स्वर्जिका जवाखारसे कुछ न्यून गुणवाली है परन्तु इसमें जवाखारकी अपेक्षा खार अधिक रहता है।

सब प्रकारके क्षारोंके गुण—सामान्यतया सब प्रकारके क्षार अतितीक्ष्ण, उष्ण, कृमिरोगनाशक, लघु, पित्त तथा रक्तको दूषित करनेवाले, पाचक, छेद्य अर्थात् मेद, कफ और ग्रन्थि आदिके छेदनेवाले पके फोड़ोंको फोड़नेवाले, कटु, नमकीन होनेके कारण वीर्य, ओज ( बल ), केश और नेत्रोंके लिए हानिकारक हैं।

इस प्रकार लवण और क्षारवर्गका वर्णन करके अब आचार्य हरीतकी आदि औषधियोंके गुणोंका वर्णन करते हैं।

पथ्या कषायभूयिष्ठा स्वादुः पाके रसात्यये ।
रसैः पञ्चभिरायुक्ता रूक्षा विलवणा लघुः ॥
दीपनी पाचनी मेध्या वयसः स्थापनी परम् ।
उष्णवीर्या सराऽऽयुष्या बुद्धीन्द्रियबलप्रदा ॥
कुष्टवैवर्ण्यवैस्वर्यपुराणविषमज्वरान् ।
शिरोऽक्षिपाण्डुहृद्रोगकामलाग्रहणीगदान् ॥
सशोषशोफातीसारमेहमोहवमिकृमीन् ।
श्वासकासप्रसेकार्शःप्लीहानाहगरोदरम् ॥
विबन्धं स्रोतसां गुल्ममूरुस्तम्भमरोचकम् ।
हरीतकी जयेद्व्याधींस्तांस्तांश्च कफवातजान् ॥
तद्वदामलकं शीतं माधुर्यात्पित्तजित्परम् ।
कफं कटुविपाकित्वादम्लत्वान्मारुतं जयेत् ॥
परं च कण्ठ्यं चक्षुष्यं हृद्यं दाहज्वरापहम् ।
अक्षं तु तद्गुणान्न्यूनं[2] कषायमधुरं हिमम् ॥
कासश्वासगलश्लेष्मपित्तशुक्रहरं लघु ।
परं केश्यस्तु तन्मज्जा शुक्रघ्नं च ततोऽञ्जनम् ॥
इयं रसायनवरा त्रिफलाद्यामयापहा ।
रोपणी त्वग्गदक्लेदमेदोमेहकफास्रजित् ॥

हरड़ के गुण—हरीत की सदा पथ्या ( हित करनेवाली ), अधिक कषाय रसवाली, भरपूर रसोंकी अवस्थामें मधुर विपाकवाली, विलवणा अर्थात् केवल एक लवणरससे हीन, पांच रसोंसे युक्त ( मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त और कसैली ), लघु, रूक्ष, अग्निप्रदीप्त करनेवाली, आमादि दोषोंको पचानेवाली, मेधाबुद्धिको बढ़ानेवाली, आयुको स्थिर करनेमें श्रेष्ठ, उष्णवीर्य, सर ( दस्तावर ) एवं शरीरके सब स्रोतोंमें पसरनेवाली ( सर्वस्रोतव्यापिनी ), आयुकी देनेवाली, बुद्धि और इन्द्रियोंको बल देनेवाली, कुष्ट-विवर्णता-स्वरभेद-पुराना विषम—ज्वर—शिरोरोग-नेत्ररोग-पाण्डुरोग-हृद्रोग-कामला-संग्रहणी-राजयक्ष्मा ( शोष )-सूजन-अतीसार-प्रमेह-मूर्च्छा-पेटका फूलना ( आनाह )-गर ( कृत्रिम विष )-उदररोग-शारीरिक स्रोतों का रुकना-गुल्म ( वायगोला )-ऊरुस्तंभ-अरोचक-कफ और वायुसे उत्पन्न होनेवाले रोग इन सबको जीतती है अर्थात् हरड़ इन सब व्याधियोंको हरनेवाली है। यद्यपि यहां मूलमें हरीतकीको कफ और वातसे उत्पन्न रोगोंको हरनेवाली ही कही है परन्तु महर्षि खारणादिके कथनानुसार हरड़ पित्तविकारोंको भी हरनेवाली है। वात-कफ-विकार हरने में मुख्य कारण हरड़का उष्णवीर्यत्व है किन्तु कषाय-मधुरत्वके कारण हरड़ पित्तशामक भी है ऐसा खारणादि या खरनादका कथन है।

आमला के गुण—हरड़के समान गुणवाला होने पर भी आमला शीतवीर्य है और वह त्रिदोषनाशक है अर्थात् आमला अपनी मधुरतासे पित्तको, कटुविपाकी होनेके कारण कफको और अम्ल होनेके कारण वायुको जीतनेवाला है। इतना ही नहीं, आमला कण्ठ, नेत्र और हृदयके लिए भी परम हितकारी है तथा दाहज्वरको भी नष्ट करनेवाला है।

बहेड़ा के गुण—बिभीतक अर्थात् बहेड़ा यह आमलासे

१. विवन्धो मलावरोधः। आनाहो बद्धोदरता। विष्टम्भो वातावरोध इति हेमाद्रिः।

२. स्निग्धं रुच्यं हिमं वृष्यं सूक्ष्मं नेत्र्यं त्रिदोषहृत्। शाकम्भरीयं कथितं गुडाख्यं रौमकं तथा।॥ इति भावमिश्राः। ३. यत्र त्वेकं लवणं द्वे लवणे त्रीणि लवणानीत्यादिसंख्यया प्रयोगस्तत्र सैन्धवादिर्यथास्थितक्रमो योज्यः। सैन्धवं, सैन्धवसौवर्चले, सैन्धवसौवर्चलविडान्येवमन्येऽपि इतीन्दुः। ४. छेदी-मेदः श्लेष्मादिग्रन्थिच्छिन्नः। विदारणः पक्वगण्डादीनामित्यरुणदत्तः। ५. कषाया मधुरा पाके रूक्षा विलवणा लघुः। इति इन्दुरुणदत्तादिसम्मतपाठः।

१. क्रिमीन्। २. तद्गुणन्यूनम्। ३. "स्वाद्वम्लभावात्पवनं कटुतिक्ततया कफम्। कषायमधुरत्वाच्च पित्तं हन्ति हरीतकी॥" इति।

कुछ न्यून गुणोंवाला है, कषाय और मधुर रसवाला तथा शीतवीर्य है। बहेड़ा श्वास, कास, गलेके रोग, कफ, पित्त और वीर्यको हरनेवाला है, लघु ( हलका ) है। इसके फलका गूदा केशोंके बढ़ानेमें परम श्रेष्ठ है और इसका अञ्जन नेत्रके कृष्णभागमें होनेवाले सव्रण और अव्रण शुक्ररोगका नाश करनेवाला है।

त्रिफला के गुण—हरड़, बहेड़ा और आंवला इन तीनोंके मिलनेसे त्रिफला कहलाती है। त्रिफला परम रसायन है तथा नेत्रके रोगों को हरनेवाली, व्रणोंकी रोपण करनेवाली, कुष्ट आदि चमड़ीके रोग, क्लेद ( व्रणोंका स्राव ), मेद, प्रमेह, कफ, रक्त इन सब रोगोंको शमन करनेवाली है।

विशेष वक्तव्य—ऊपर मूलमें तथा उसके भाषानुवादमें बहेड़ाको शीतवीर्य लिखा है परन्तु अष्टाङ्गहृदयकी टीकामें हेमाद्रिने "कटु पाके हिमं,, इसमें अकार श्लेष मानकर बहेड़ा को अहिम अर्थात् उष्णवीर्य कहा है जो कि सुश्रुतके मतसे ठीक भी प्रतीत होता है।

त्रिफलाके अनन्तर अब आचार्य चतुर्जात आदि औषधियोंके गुणोंका वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

पत्रकं कफवातघ्नं त्रिसुगन्धि त्रिजातकम्[२]। ।
केसरं रक्तगुदजविषपित्तकफापहम्[३] ॥
तद्युक्तं तच्चतुर्जातं नातिशीतोष्णमुच्यते ।
पित्तप्रकोपि तीक्ष्णोष्णं रूक्षं रोचनदीपनम् ॥
रसे पाके च कटुकं कफघ्नं मरिचं लघु ।
श्लेष्मला स्वादुशीतार्द्रा गुर्वी स्निग्धा च पिप्पली ॥
सा शुष्का विपरीतातः स्निग्धा वृष्या रसे कटुः ।
स्वादुपाकानिलश्लेष्मकासश्वासापहा[४] सरा ॥
न तामत्युपयुञ्जीत रसायनविधिं विना ।
नागरं दीपनं वृष्यं ग्राहि हृद्यं विबन्धनुत् ॥
रुच्यं लघु स्वादुपाकं स्निग्धोष्णं कफवातजित् ।
तद्वदार्द्रकमेतच्च त्रयं त्रिकटुकं जयेत् ॥
स्थौल्याग्निसदनश्वासकासश्लीपदपीनसान् ।
चविका पिप्पलीमूलं मरिचाल्पान्तरं[५] गुणैः ॥
चित्रकोऽग्निसमः पाके शोफार्शःक्रिमिकुष्ठहा ।
पञ्चकोलकमेतच्च मरिचेन विना स्मृतम् ॥
गुल्मप्लीहोदरानाहशूलघ्नं दीपनं परम् ।

१. "भेदनं लघु रूक्षोष्णं वैस्वर्यं क्रिमिनाशनम्। चक्षुष्यं स्वादुपाक्यक्षं कषायं कफपित्तजित्॥" इति।

२. सकेसरं चतुर्जातं त्वक्पत्रैलं त्रिजातकम्। इत्यपि पाठः।

३. केसरं रक्तगुदजेत्यादि पद्यमेकं इन्दुव्याख्याग्रन्थे नास्ति।

४. श्वासकासापहा इति पाठान्तरम्। ५. केचित्पूर्वार्धमपठित्वोत्तरार्द्धं मरिचेन योजयन्ति तदसत्। त्रिफलावत्त्रिजातकचतुर्जातकाभ्यामपि व्यवहारात्पित्तप्रकोपित्वादिगुणयोगशंकाया निर्बीजत्वाच्च। नहि तन्त्रान्तरे एतत्प्रतिकूलगुणा उक्ताः किन्त्वनुकूलाः। यथा चिकित्साकलिकायां ( श्लो०६० ) त्वक्पत्रकैलं त्रिसुगन्धमेतत्प्रकीर्तितं वातकफप्रहारि। वर्ण्यं विषघ्नं च सनागपुष्पं ज्ञेयं चतुर्जातकमेतदेव॥ इति हेमाद्रिः।

पत्रज के गुण—तेजपात कफ और वायुको हरनेवाला है।

त्रिसुगन्धि या त्रिजातक के गुण—तज ( दालचीनी ), पत्रज और इलायची ये तीनों त्रिसुगन्धि कहलाते हैं और इन ही को कई त्रिजातक कहते हैं। इन तीनोंमें नागकेसर मिलानेसे इनकी चतुर्जात संज्ञा होती है। यह न तो अतिशीत है और न अत्युष्ण।

नागकेसर के गुण—नागकेसर रक्तार्श अर्थात् खूनी बवासीर, विष, पित्त और कफको दूर करनेवाला है।

चतुर्जातक के गुण—चतुर्जात अर्थात् तज, पत्रज, इलायची और नागकेसर यह पित्तको प्रकुपित करनेवाला है तथा तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रूक्ष, रुचिकारक एवं जठराग्निप्रदीपक है।

विशेष वक्तव्य—कई लोग नागकेशरवत् चतुर्जातकको न अति उष्ण तथा न अति शीत समझते हुए उसके तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रूक्षादि गुणोंमें शङ्का करते हुए "तद्युक्तं तच्चतुर्जातम्" इत्यादि पद्यके उत्तरार्धको मरिचके गुणोंके साथ पढ़ते हैं परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि त्रिफलाकी तरह त्रिजातकचतुर्जातकके व्यवहारमें उसके पित्त-प्रकोपादि गुणोंके विषयमें शंका करना व्यर्थ है इसलिए कि किसी भी तन्त्रकारनेचातुर्जातके पित्तप्रकोपादि गुणोंके विपरीत नहीं लिखा है अपितु चिकित्साकलिकाकारने इससे मिलता जुलता ही वर्णन किया है। सारांश, पित्तप्रकोपि आदि गुण मरिचके नहीं हैं, चतुर्जात एवं त्रिजातकके ही हैं। अरुणदत्त-हेमादि आदि प्राचीन आचार्योंका यह मत होनेपर भी हमारा निजी अनुभव है कि नागकेशर, तज, पत्रज एवं इलायचीका उपयोग करनेपर इससे रक्तार्श ( खूनी बवासीर ) का शमन हुआ है। किसी भी प्रकारसे गिरता हुआ रक्त सौम्यानुपानके साथ चातुर्जातके देने से अवश्य बन्द हो जाता है। इतना ही नहीं, केवल तज और मिश्री समभागमें मिश्रीके साथ देने से चाहे जैसे भ्रम या चक्कर आते हों बन्द हो जाते हैं। हेमाद्रि आदि जैसे आचार्योंके कथनपर ननु नच करना छोटे मुँह बड़ी बात करना है अतः पाठक क्षमा करेंगे किन्तु हमारी साग्रह प्रार्थना है कि हमारे लेखानुसार भी पाठक अवश्य अनुभव करके देखें।

मरिच के गुण—काली मिरच रस और पाक में कटु, कफनाशक तथा लघु है। हेमाद्रि आदि के अतिरिक्त यदि उन के मतानुसार जो ऊपर के आधे श्लोक को मरिच के गुणों में मानते हैं, उन के मतानुसार मरिच रस-पाक में कफनाशक, लघु, पित्त को कुपित करनेवाली, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रूक्ष, रुचिकारक एवं जठराग्नि को दीपन करनेवाली है।

पीपल के गुण—पिप्पली यदि गीली हो तो वह कफकारक, मधुर रसवाली, शीतवीर्य, गुरु और स्निग्ध है। सूखी पीपल इन कथित गुणों से विपरीत स्निग्ध, वृष्य, पाक और रस में मधुर, वात, कफ, श्वास और खांसी को शमन करनेवाली, सर ( दस्तावर या शरीर के सब स्रोतों में व्याप्त होनेवाली ) है। वर्धमान पीपल आदि रसायनविधि के अतिरिक्त पीपल का अधिक सेवन नहीं करना चाहिए इसलिए कि आचार्यों के मत में पिप्पली, क्षार और नमक इन का सेवन अधिक मात्रा में करना हानिकारक है। पिप्पली योगवाहिनी है अतः इस का अधिक प्रयोग अन्य द्रव्यों के साथ हो सकता है परन्तु

अकेली पिप्पली प्रचुर मात्रा में अवश्य हानि करनेवाली होती है।

सौंठ के गुण—शुंठी अग्नि को प्रदीप्त करनेवाली, वृष्य, ग्राहिणी ( मलका अवरोध करनेवाली ), हृदय के लिए हितकारिणी, विबन्ध ( वायु का अवरोध ) को दूर करनेवाली या रुके हुए स्रोतों को खोलनेवाली, रुचिकारक, लघु, पाक में मधुर, स्निग्ध, उष्णवीर्य, कफ और वायु की हरनेवाली है।

अदरक के गुण—सौंठ के समान ही अदरक के गुण हैं तथापि सौंठ अदरकसे लघु अर्थात् हल्की[2] है।

त्रिकटु के गुण—सौंठ, मिरच, पीपल ये तीनों समभाग में मिले हुए त्रिकुटा या त्रिकटु कहलाते हैं। त्रिकटु मेदोरोग ( स्थूलता ), अग्निमान्द्य, श्वास, कास, श्लीपद ( हाथीपांव ) और पीनस रोग को हरनेवाला है।

चव्य और पीपलामूल के गुण—चव्य और पीपरामूल ये दोनों काली मिरच के समान गुणवाले हैं अर्थात् ये भी रस और विपाक में कटु, कफनाशक, लघु तथा उष्णवीर्य हैं। मूल में गोल मिरच और चव्य-पीपरामूल के गुणों में कुछ थोड़ा अन्तर बताया है इसका भावार्थ[3] यह है कि चव्य और पीपरामूल मरिच से कुछ विशेष गुणवाली है। पीपलामूल उष्ण होते हुए भी निद्रा लाती है यह उस के प्रभाव से जानना चाहिए।

चित्रक के गुण—चित्रक पचनक्रिया में अग्नि के समान है और शोथ, अर्श, कृमि तथा कुष्ट को नाश करनेवाला है।

पञ्चकोल के गुण—मरिच को छोड़कर पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक और सौंठ इन पांच वस्तुओं के समान भाग में मिलने से इन की पञ्चकोल संज्ञा होती है यथा—"पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः पञ्चकोलमिति ख्यातम्" यह पञ्चकोल गुल्म, प्लीह, उदर, आनाह तथा शूलरोग का नाशक है-जठराग्नि के प्रदीप्त करने में श्रेष्ठ है।

अब आचार्य दशमूलादि कई पञ्चमूलों एवं उन के गुणों का वर्णन करते हैं—

बिल्वकाश्मर्यतर्कारीपाटलाटिण्टुकैर्महत् ।
जयेत्कषायं तिक्तोष्णं पञ्चमूलं कफानिलौ ॥
ह्रस्वं वृहत्यंशुमतीद्वयगोक्षुरकैः स्मृतम् ।
स्वादुपाकरसं नातिशीतोष्णं सर्वदोषजित् ॥
बलापुनर्नवैरण्डैः शूर्पपर्णीद्वयेन च ।
मध्यमं कफवातघ्नं नातिपित्तकरं लघु ॥
अभीरुवीराजीवन्तीजीवकर्षभकैः स्मृतम् । ।
जीवनाख्यं तु चक्षुष्यं वृष्यं पित्तानिलापहम् ॥
तृणाख्यं शरदर्भेक्षुशालिकाशैस्तु पित्तजित् ।
अजश्रृङ्गी हरिद्रा च विदारी सारिवामृता ॥
बल्याख्यं कण्टकाख्यं तु श्वदंष्ट्राभीरुसैर्यकैः ।
सहिंस्राकरमर्दीकैः सर्वदोषहरे च ते ॥

१. ग्राहि-मलानाम्। विबन्धनुत्-वायोरिति हेमाद्रिः।
२. आर्द्रकाज्जायते शुण्ठी संस्कारेण लघीयसी। इति।
३. मरिचात्स्तोकविशेषं गुणैर्भवति। इत्यरुणः।

बृहत्पञ्चमूल के गुण—बेल, खम्भारी, अरणी ( अग्निमन्थ ), पाटला तथा अरलू की जड़ इन पांचों के मूल को बृहत्पञ्चमूल कहते हैं। यह कषाय और तिक्त रसवाला, उष्णवीर्य, वायु एवं कफ को जीतनेवाला है।

लघु पञ्चमूल के गुण—छोटी और बड़ी ये दोनों कटेरी, शालपर्णी, पृष्टपर्णी तथा छोटे गोखरू इन पांचों के मूल लघु पञ्चमूल कहलाता है। यह रस और पाक में मधुर, कुछ शीत और कुछ उष्ण अर्थात् किञ्चित् शीत और कुछ उष्ण ( न अति शीत और न अति उष्ण ) तथैव सर्वदोष ( त्रिदोष ) को जीतनेवाला है।

मध्यम पञ्चमूल के गुण—बला (खिरेटी) पुनर्नवा ( साटी-इटसिट ), एरण्ड, दोनों शूर्पपर्णी अर्थात् माषपर्णी और मुद्गपर्णी इन पांचों के मूल को मध्यम पञ्चमूल कहते हैं। यह बलादि पञ्चमूल कफ और वायु का नाशक, कुछ पित्तकारक एवं लघु है।

जीवनीय पञ्चमूल के गुण—शतावर, काकोली, जीवन्ती ( डोडीका शाक ), जीवक और ऋषभक इन पांचों के मूल का नाम जीवनमूल कहते हैं। यह नेत्रों के लिए हितकारी, वृष्य, ( वीर्यवर्धक ), पित्त तथा वातको शमन करनेवाला है।

तृणपञ्चमूल के गुण—मूंज, दर्भ, ईख, शालि ( चावल ), काश ( कुशा की एक जाति ) इन पांचों के मूल मिल कर तृणपञ्चमूल कहलाता है। यह पित्त को शमन करनेवाला है।

वल्लिपञ्चमूल और कण्टकपञ्चमूल के गुण—मेंढासिंगी ( मेषश्रृङ्गी ), हल्दी, विदारी, सारिवा और गिलोय इन पांचों के मूल को वल्लिपञ्चमुल कहते हैं और गोखरू, सतावर, पियाबांसा, कटेली और करौंदा इन पांचों के मूल मिल कर कण्टकपञ्चमूल होता है। ये दोनों (वल्लीपञ्चमूल और कण्टकपञ्चमूल) सर्वदोषों के हरनेवाले ( त्रिदोषनाशक ) हैं।

विशेष वक्तव्य—लघु पञ्चमूल के गुणों में "नातिशीतोष्ण" का अर्थ हमने कुछ शीत और कुछ उष्ण ( न अति शोत और न अति उष्ण ) लिखा है। यही अर्थ अरुणदत्त को अभीष्ट है परन्तु हेमाद्रि के मतानुसार यहां नाति शब्द निषेधार्थक है न कि ईषदर्थ अर्थात् कुछ शीत और कुछ उष्ण यह अर्थ नहीं-इसलिए कि उष्ण और शीत एक जगह नहीं रह सकते। हेमाद्रि के मत से ( लघु पञ्चमूल अनुष्ण ( शीत ) है किन्तु उष्ण नहीं है। हेमाद्रि[1] का कहना यह भी है कि इस लघु पञ्चमूल में गोखरू के स्थान में सुश्रुत एरण्ड कहते हैं परन्तु वर्तमान उपलब्ध सुश्रुत में गोखरू का ग्रहण किया है। कदाचित् हेमाद्रि के समय में उपलब्ध किसी सुश्रुत में गोक्षुर के स्थान में "एरण्ड" पाठ मिलता हो।

कारवीकुञ्चिकाजाजीकबरीधान्यतुम्बरु ।
अन्नगन्धहरं रुच्यं दीपनं कफवातजित् ॥
बाष्पिका कटुतिक्तोष्णा कृमिश्लेष्महरा परम् ।
तद्वच्च राजिका विघ्नसादनी दीपनी परम् ॥

१. "नाति शब्दोऽत्र निषेधे, न त्वीषदर्थे, शीतोष्णयोरेकत्रानवस्थानात्, अनुष्णाशीतमित्यर्थः। सुश्रुतेन तु गोक्षुरस्थाने एरण्डः पठितः।" इति।

शूलाटोपहरा रुच्या दीप्यकः कोष्ठशूलजित् ।
अहृद्याः सर्षपाः स्निग्धा वाष्पिकावच्च कीर्त्तिताः ॥
हिङ्गु वातकफानाहशूलघ्नं पित्तकोपनम् ।
कटुपाकरसं रुच्यं दीपनं पाचनं लघु ॥
पित्तास्रकोपि तच्चैव श्रेष्ठं वोष्काणदेशजम् ।
ततो न्यूनगुणं त्वन्यद्द्रव्यमञ्जनधूपनम् ॥
शताह्वाकुष्ठतगरसुरदारुहरेणवः ।
एलैलवालुसरलत्वग्व्याघ्रनखचोरकाः ॥
लघूष्णाः कटुकाः पाके कफवातनिबर्हणाः ।
सैर्यकस्तिक्तमधुरः स्निग्धोष्णः कफवातजित् ॥
बस्तिमूत्रविबन्धघ्नो वृष्यो गोक्षुरको हिमः ।
पाचनं कफपित्तघ्नं तिक्तं शीतं विषाद्वयम् ॥
कफघ्नं तिक्तकटुकं मुस्तं संग्राहि पाचनम् ।
तिक्ताऽमृता त्रिदोषघ्नी ग्राहिण्युष्णा रसायनी ॥
दीपनी ज्वरतृड्दाहकामलावातरक्तनुत् ।
तिक्तशीतौ ज्वरहरौ लघू भूनिम्बपर्पटौ ॥
निम्बस्तिक्तो हिमः कुष्ठकृमिपित्तकफापहः ।
महानिम्बः परं ग्राही कषायो रूक्षशीतलः ॥
गुग्गुलुः पिच्छिलस्पर्शो विशदोऽभ्यवहारतः ।
सस्वादुः सकटुस्तिक्तः सकषायो रसायनम् ॥
व्रण्यः स्वर्यः कटुः पाके रूक्षः सूक्ष्मोऽग्निदीपनः ।
क्लेदमेदोऽनिलश्लेष्मगण्डमेहापचीकृमीन् ॥
पिटकाग्रन्थिशोफांश्च हन्त्युष्णः स्रंसनो लघुः ।

कलौंजी-मेथी-जीरा-हिङ्गुपत्री-धनियाँ और तुम्बरु के गुण—कलौंजी-कारवी-या कालाजीरा, मेथी, जीरा, हिंगुपत्री ( वाष्पिका ), धनियाँ और तुम्बुरु ( जो मिरचके समान गोल फटे मुखवाला होता है ) ये सब अन्नके गन्ध को हरनेवाले अर्थात् सुगन्धित करनेवाले, रुचिकारक, अग्निप्रदीपक, कफ और वायु को जीतनेवाले हैं।

कालीजीरी के गुण—वाष्पिका (जीरे की ही एक जात जिसे लोग जंगली जीरा या काली जीरी कहते हैं, ) यह कटु, तिक्त रसवाली, उष्णवीर्या, कृमि और कफ के हरने में श्रेष्ठ है।

राई के गुण—राई तद्वत् अर्थात् वाष्पिका के समान कटु, तिक्त रसवाली, उष्णवीर्य, कृमि और कफको हरनेवाली है। इतना ही नहीं राई नाना प्रकार के विघ्नों को दूर करनेवाली, अग्निप्रदीपन में श्रेष्ठ, शूल, आटोप, कोष्ठशूल इन सबको नष्ट करनेवाली है तथा रुचिकारक है।

अजवायन के गुण—अजवायन कोष्ठशूल[1] अर्थात् हृदय से लेकर बस्ति पर्यन्त के शूलको नष्ट करनेवाली है।

सरसों के गुण—सरसों हृदय के लिए अपथ्य, स्निग्ध एवं वाष्पिका के समान गुणोंवाली अर्थात् यह भी कटु-तिक्त रसवाली, उष्णवीर्य, कृमि और कफ की नाश करनेवाली है।

हींग के गुण—हिङ्गु वायु, कफ, आनाह ( पेट का फूलना ), मलका अवरोध, शूल आदि रोग इनका शमन करनेवाला है, पित्तकारक, रस तथा पाक में कटु, रुचिकारक, दीपन, पाचन, लघु, रक्तपित्तको कुपित करनेवाला है और यह बोष्काण ( बुखारा ) देशका उत्तम होता है। सारांश, अन्य देशोत्पन्न हींग इससे न्यून गुणवाला होता है। हींग द्रव्य ( पतले पदार्थ पेय आदि ) तथा धूपन कर्म में श्रेष्ठ है।

सौंफ, कूट, तगर, देवदार, सम्हालू, इलायची, सुगन्धवाला, सरल, तज, व्याघ्रनख और चोरक के गुण—ये सब लघु, उष्णवीर्य, पाक में कटु, कफ तथा वायु के रोगों को हरनेवाले हैं।

पियावांसा के गुण—सैर्यक ( पियावांसा ) अर्थात् कटसरैया तिक्त, मधुर, स्निग्ध, उष्णवीर्य, कफ और वायु के रोगों को जीतनेवाला है।

गोखरू के गुण—गोखरू बस्तिरोग, मूत्र की रुकावट (मूत्राघात-मूत्रकृच्छ्रादि ) को दूर करता है। इसके अतिरिक्त यह वृष्य ( पुष्टिकारक ) एवं शीतवीर्य है।

अतीसके गुण—कड़वी और मीठी ये दोनों अतीस पाचनी, कफपित्तनाशिनी, तिक्त और शीतवीर्या हैं।

नागरमोथा के गुण—मुस्तक ( नागरमोथा ) कफनाशक, तिक्त, कटु, मलको बांधनेवाला और पाचन है।

गिलोय के गुण—गुर्च ( गुडूची ) या गिलोय तिक्त, त्रिदोषनाशक, मलको बांधनेवाली, उष्णवीर्य, रसायन, अग्निप्रदीपक, ज्वर, तृषा-दाह-कामला तथा वातरक्त को दूर करनेवाली है।

चिरायता और पित्तपापड़ा के गुण—चिरायता तथा पित्तपापड़ा ये दोनों तिक्त रसवाले, शीतवीर्य, ज्वर के हरण करनेवाले तथा लघु हैं।

नीम के गुण—नीम तिक्त रसवाला, शीतवीर्य, कोढ़, कृमि, पित्त और कफ के रोगों का नाशक है।

बकायन के गुण—बकायन ( महानिम्ब ) मल के बांधने में अतिश्रेष्ठ, कषाय रसवाला, रूक्ष तथा शीतवीर्य है।

गूगल के गुण—गूगल स्पर्श करने पर स्निग्ध, खाने पर विशद, कुछ मधुर तो कुछ कटु, तिक्त रसवाला, कुछ कसैला, रसायन ( जराव्याधिनाशक ), फोड़े फुन्सियोंके रोगियों के लिए नितान्त हितकारी, स्वर्य ( स्वर को बढ़ाकर ठीक करने वाला ), पाक में कटु, रूक्ष, सूक्ष्म ( शरीर के सब स्रोतों में प्रविष्ट होनेवाला ), अग्निप्रदीपक, क्लेद-मेद-वायु-कफ-गलगण्ड-गण्डमाला-अपची-प्रमेह-कृमिरोग-प्रमेहपिटिका-ग्रन्थि और सूजन इन सबको हरनेवाला, उष्णवीर्य, लघु तथा स्रंसन ( मलको अधोभाग में लाकर विरेचन करानेवाला[1] "स्रंसयति मलम्" इति स्रंसनम्, स्रंसु अधःपतने (भ्वा०आ०से०) है।

अब आचार्य शंखपुष्पी आदि के गुणों का कथन करते हैं यथा—

शङ्खपुष्पी सरा तिक्ता मेध्या कृमिविषापहा ।

---

१. "स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥" इति

१. "पक्तव्यं यदपक्त्वैव श्लिष्टं कोष्ठे मलादिकम्। नयत्यधः स्रंसनं तद्यथा स्यात्कृतमालकम् ॥" इति शार्ङ्गधरः।

कटु तिक्तोष्णमगुरु स्निग्धं वातकफापहम् ॥
पित्तास्रविषतृड्दाहक्लमघ्नं गुरु रूक्षकम् ।
सर्वं सतिक्तमधुरं चन्दनं शिशिरं परम् ॥
लघु रक्तं तथोशीरं बालकं पाचनं च तत् ।
ज्वरातीसारवमथुरक्तपित्तक्षतापहम् ॥
मधुकं रक्तपित्तघ्नं व्रणशोधनरोपणम् ।
गुरु स्वादु हिमं वृष्यं चक्षुष्यं स्वरवर्णकृत् ॥
कटुतिक्ते निशे मेहकुष्ठपित्तकफापहे ।
प्रलेपाज्जयतः कण्डूं शोफं दुष्टव्रणं विषम् ॥
प्रपौण्डरीकं चक्षुष्यं शिशिरं व्रणरोपणम् ।
कषायतिक्तमधुरं रक्तपित्तप्रसादनम् ॥
बलात्रयं स्वादु वृष्यं स्निग्धं शीतं बलप्रदम् ।
तत्र नागबला बल्या क्षतक्षीणहिता गुरुः ॥
ताम्बूलं कटु सक्षारं रुच्यमुष्णं कफप्रणुत् ।
भेदि संमोहकृत्पूगं कषायं स्वादु रोचकम् ॥
जातिपत्री कटुफलं कंक्कोलकलवङ्गकम् ।
लघु तृष्णापहं हृद्यं वक्त्रदौर्गन्ध्यनाशनम् ॥
सस्वादुतिक्तस्तृष्णाघ्नः कर्पूरश्छेदनो हिमः ।
लताकस्तूरिका तद्वन्मुखशोषहरा परम् ॥

शंखाहुली के गुण—**शंखपुष्पी सर ( दस्तावर शारीरिक सब स्रोतों में प्रसरणशील ), तिक्त रसवाली, मेधाबुद्धिको बढ़ाने वाली, कृमि तथा विषरोगको हरनेवाली है।**

अगर के गुण—**अगुरु कटु एवं तिक्त रसवाला, उष्णवीर्य, स्निग्ध, वायु और कफका नाशक, गुरु, रूक्ष, पित्त-रक्त-विष-तृष्णा-दाह-ग्लानि इन सबको दूर करनेवाला है।**

सब प्रकार के चन्दनों के गुण—**सब प्रकार के चन्दन सामान्यतया कुछ तिक्त तथा मधुर और शीतवीर्य हैं। रक्तचन्दन श्वेतचन्दन से लघु ( हलका ) है।**

खस और वाला के गुण—**खस और वाला ये दोनों पाचन हैं। इतना ही नहीं, इनमें चन्दन तथा अगर के भी गुण हैं अर्थात् ये ज्वर, अतीसार, वमन, रक्तपित्त और उरःक्षतादि रोगों के नाशक हैं।**

मुलेठी के गुण—**मधुकरक्तपित्त नाशक, व्रणोंका शोधन-रोपण करनेवाली, गुरु, मधुर रसवाली, शीतवीर्य, वृष्य, नेत्रोंके लिए पथ्य, स्वर और वर्ण को करनेवाली है।**

हल्दी और दारुहल्दी के गुण—**हल्दी और दारुहल्दी ये दोनों कटु और तिक्त, प्रमेह, कुष्ठ, पित्त और कफके रोगोंको हरनेवाली हैं। इसके अतिरिक्त लेप करने से ये दोनों कण्डू ( खाज-खुजली ), सूजन, दुष्टव्रण तथैव विषरोग को नष्ट करनेवाली हैं।**

पुण्डरिया के गुण—**प्रपौण्डरीक नेत्रों के लिए हितकारी, शीतवीर्य, व्रणरोपणकर्ता, कषाय-तिक्त और मधुर रसवाला तथा रक्तपित्तको शमन करनेवाला है।**

बलात्रय के गुण—**तीनों बला अर्थात् बला ( खिरेटी ), अतिबला ( कंघी ) और नागबला ( गंगेरन ) मधुर, वृष्य, स्निग्ध, शीतवीर्य, गुरु और बलको बढ़ानेवाली हैं। इनमें की गङ्गेरन ( नागबला ) हाथी के समान बल देनेवाली, क्षतक्षीणहिता ( जो शस्त्र के घाव से क्षीण हो गया हो और जो उरःक्षतादि से क्षीण हो गया हो तो उसके लिए नितान्त हित करनेवाली ) है। इसका स्वरस घाव पर छोड़ते ही तलवार आदि शस्त्र का घाव तुरन्त मिलकर ठीक हो जाता है।**

ताम्बूल के गुण—**नागरवेल का पान कटु ( चरपरा ) और क्षारयुक्त ( चूने के साथ ) रुचिकारक, उष्णवीर्य तथा कफका नाश करनेवाला है।**

सुपारी के गुण—**सुपारी अर्थात् पूगीफल सर ( दस्तावर ), अधिक सेवन करने पर मूर्छा ( बेहोशी ) को करनेवाला, कषाय एवं मधुर रसवाला तथा रुचिकारक है।**

जायपत्री-कबाबचीनी-कक्कोल और लवङ्ग के गुण—**जायपत्री आदि ये चारों लघु, तृष्णाशामक, हृदयके लिए हितकारी, मुखकी दुर्गन्धको दूर करनेवाले अर्थात् मुखको सुगन्धित करनेवाले हैं।**

कपूर के गुण—**कपूर कुछ मधुर, तिक्त, तृष्णा को दूर करनेवाला छेदन और शीतवीर्य है।**

लताकस्तूरी के गुण—**लताकस्तूरी अर्थात् मुश्कदाना भी कपूर के समान गुणवाला ( मधुर और कुछ तिक्त, तृषाशामक, छेदन, शीतवीर्य ) तथा मुखशोष को मिटाने में श्रेष्ठ है।**

**इसके अनन्तर अब आचार्य संक्षेप में पुष्पवर्ग के गुणों को कहते हैं यथा—**

कषायमधुरं शीतं पद्मं पित्तकफास्रजित् ।
तद्वद्बकुलपुन्नागकुमुदोत्पलपाटलम् ॥
सचम्पकं ततो न्यूनं गुणैः कोरण्टकिंशुकम् ।
मालतीमल्लिकापुष्पं तिक्तं जयति मारुतम् ॥
विषपित्तकफान्नागं सिन्धुवारं च तद्गुणम् ।
कफघ्नं कैतकं तिक्तं, शैरीषं विषहारि च ॥
वातलं पुष्पमागस्त्यं कषायं कफपित्तजित् ।
चातुर्थिकज्वरहरं नावनेनोपयोजितम् ॥
बन्धूकं श्लेष्मलं ग्राहि तद्वदेव च यूथिका ।
कफघ्नमुष्णवीर्यं च कुङ्कुमं व्रणशोधनम् ॥

कमल आदि पुष्पों के गुण—**कमलका पुष्प कषाय रसवाला, शीतवीर्य, पित्त-कफ और रक्त के दोषों को शमन करनेवाला है। बकुल ( मौलसिरी ), पुन्नाग ( नागकेसर ), कमोदिनी, पाटल ( गुलाब ) तथा चम्पा के पुष्प भी कमलपुष्पके समान हैं। कुन्द, कोरण्टक ( पियाबांसा ) और किंशुक ( पालाशपुष्प ) इनसे हीन गुणवाले हैं।**

चमेली और मोगरे के पुष्प के गुण—**चमेली तथा मोगरा के पुष्प तिक्त और वायुशामक हैं।**

नागकेशर के पुष्प के गुण—**नागकेशर का पुष्प विष-पित्त और कफको जीतनेवाला है।**

निर्गुण्डी के पुष्प—**नागकेशरके समान गुणवाले हैं।**

१. वातलम्। २ कुष्ठमेह। ३. रोचनम्। ४. तक्कोलक इति पा०

केवड़ा के गुण—केतकी अर्थात् केवड़ा तिक्त रसवाला तथा कफनाशक है।

सिरसपुष्प के गुण—सिरस का पुष्प विशेषतः विष को दूर करनेवाला है।

अगस्तिपुष्प के गुण—अगस्तिया का पुष्प कसैला, वायुकारक, कफ और पित्तको जीतनेवाला है। इसके स्वरसकी नस्य देने से यह चातुर्थिक ज्वरको हरता है।

जुही के पुष्पके गुण—जाई और जुहीके पुष्प बन्धूकपुष्प के समान हैं।

बन्धूक पुष्प के गुण—दुपहरिया का पुष्प कफकारक, ग्राही ( मलावरोधक ) है।

केशर के गुण—असली काश्मीरिक कुंकुम ( केसर ) कफनाशक, उष्णवीर्य और व्रणोंको शोधन करनेवाला है।

बावची और पँवाड़बीज के गुण—बावची तथा पँवाडके बीज ये दोनों कटिवात और कफके हरनेवाले हैं। तन्त्रान्तर में रक्तशोधन, कुष्ठ आदि रोगनाशन इत्यादि और भी इनके अनेक गुणों का वर्णन किया गया है।

ओषधियों के गुणों का वर्णन संक्षेप में करने के अनन्तर अब आचार्य बैठने, चलने फिरने आदि के गुणों का भी वर्णन करते हैं। यथा—

आस्या वर्णश्लेष्ममेदःसौकुमार्यकृदन्यथा ।
अतोऽध्वाग्निबलायूंषि कुर्याच्चंक्रमणं सुखम् ॥
मारुतस्यानुलोम्यं च खुडस्तम्भश्रमापहम् ।
अन्वर्थसंज्ञं पादत्रं बलदृकशुक्ररक्षकम्[1] ॥
वर्ण्यं नेत्रहितं छत्रं वातवर्षातपापहम् ।
प्रवातो रौक्ष्यवैवर्ण्यस्तम्भकृद्दाहतृड्भ्रमान ॥
श्रमाग्निमूर्च्छाश्च जयेदप्रवातस्ततोऽन्यथा ।
प्राग्वायुरुष्णोऽभिष्यन्दी त्वग्दोषार्शोविषकृमीन् ।
सन्निपातज्वरश्वासमामंवायुं[2] च कोपयेत् ॥
पश्चिमः शिशिरो हन्ति मूर्च्छां दाहं तृषं विषम् ॥
दक्षिणो मारुतः श्रेष्ठो नेत्र्योऽङ्गबलवर्धनः ।
रक्तपित्तप्रशमनो न च वातप्रकोपनः ॥
उत्तरो मारुतः स्निग्धो मृदुर्मधुर एव च ।
कषायानुरसः शीतो दोषाणामप्रकोपनः ॥
आतपो भ्रमतृट्स्वेददाहमूर्च्छाविवर्णताः ।
कुर्यात्पित्तास्रवह्नींश्च छाया त्वेतानपोहति ॥
तमः कषायकटुकं ज्योत्स्ना मधुरशीतला ।

भवति चात्र—

रसादि भेदैरिति भेषजानां
दिङ्मात्रमुक्तं न यतोऽस्ति किञ्चित् ।
अनौषधं द्रव्यमिहावबोधो
रूपस्य तेषां वनगोचरेभ्यः ॥

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे विविधौषधविज्ञानीयो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

कुछ भी न करके ठाले बैठे हुए के गुण—निष्क्रिय अर्थात् कुछ भी हाथ-पग न हिलाते आसन बैठने से वर्ण, कफ, मेद और सुकुमारता की वृद्धि होती है किन्तु अध्वा ( मार्ग चलने फिरने ) के गुण इससे विपरीत हैं।

चलने फिरने के गुण—मार्ग में चलते फिरते रहने से वर्ण, कफ, मेद और सुकुमारता नष्ट होकर जठराग्नि, बल, आयु और सुख की वृद्धि होती है। इतना ही नहीं, मनुष्य के चलने फिरने तथा व्यायाम करने से खुड ( वातरक्त ), स्तम्भ ( ऊरुस्तम्भ एवं शरीर का जकड़ना ), थकावट आदि कई रोगों का नाश होता है।

पगरखी के गुण—पदत्राण या पगरखी का नाम ही अन्वर्थक है अर्थात् इससे पगों की रक्षा होती है और इसके धारण करने से बल, दृष्टि एवं वीर्य की रक्षा होती है।

छाता के गुण—छाता रखने से, वर्णवृद्धि, नेत्रों की रक्षा तथा वीर्य की वृद्धि होती है और वायु, वर्षा तथा धूप से रक्षा होती है।

प्रवात और अप्रवात के गुण—प्रवात अर्थात् खुला सामने का प्रचुर पवन रूक्षता, विवर्णता तथा अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका जकड़ना, दाह, तृषा और भ्रमका करनेवाला है। अप्रवात ( इससे विपरीत ) स्निग्धता, सुवर्णता, अङ्ग-प्रत्यङ्ग में फुर्ती इन सब को बढ़ानेवाला, दाह, तृषा और श्रमको शमन करनेवाला, थकावट, उष्णता, मूर्च्छा आदि को जीतनेवाला है।

पुर्वाई पवन के गुण—पूर्व दिशा की हवा उष्ण , अभिष्यन्दी, त्वचाके दोष, अर्श, विष, कृमि, सन्निपातज्वर और श्वासकर्ता आम तथा वात को कुपित करनेवाला है।

पश्चिम की वायु के गुण—पश्चिम दिशाकी पवन शीतल है, मूर्च्छा, दाह, तृषा और विष को दूर करनेवाली है।

दक्षिण दिशा की वायु के गुण—दक्षिण दिशाका पवन श्रेष्ठ, नेत्रोंके लिए हितकारी, शारीरिक बल को बढ़ानेवाला, रक्तपित्तनाशक एवं वायुको कुपित करनेवाला नहीं है।

उत्तर दिशा की हवा के गुण—उत्तर दिशाका वायु स्निग्ध, मृदु, मधुर होते हुए पीछे से कषायरसवाला, शीतवीर्य तथा दोषों ( वात-पित्त-कफ ) को कुपित करनेवाला नहीं है।

धूप तथा छाया के गुण—आतप अर्थात् धूप भ्रम, तृषा, स्वेद, दाह, मूर्छा, विवर्णता, पित्त, रक्त और अग्नि को बढ़ाने वाला है। छाया के गुण धूपसे विपरीत हैं अर्थात् धूप के भ्रम, तृषा, स्वेद, दाह, मूर्च्छा, विवर्णता, पित्त, रक्त और अग्नि इन सब को छाया शमन करनेवाली है।

अंधेरे और रात की चांदनी के गुण—अन्धकार कषाय एवं कटु रसवाला है और ज्योत्स्ना ( रात में चन्द्रमा की चांदनी ) अन्धकार के विपरीत मधुर और शीतवीर्य ( ठण्डी ) है।

इस अध्याय के उपसंहार में आचार्य कहते हैं कि—यहां रसादि ( रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव ) के भेद से ओषधियों का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है जो कि कुछ भी नहीं के बराबर है। अनौषध-द्रव्यों का बोध यहां केवल इस लिए कराया गया है कि वे शारीरिक द्रव्यों की वृद्धि के नाशकारक हैं अतः वैद्य को चाहिये कि वह इन द्रव्यों ( ओषधियों ) के

१. शुक्रवर्धनम् इत्यपि पाठः। २. मामं वायुं च इत्यपि पाठः।

रूप का ज्ञान बनगोचरों अर्थात् रात दिन जंगल में विचरने वाले तापसों, ग्वालों ( गौओं के चरानेवालों ) तथैव बकरियों के चरानेवालों से प्राप्त करे । भगवान आत्रेय का भी यही उपदेश है। संक्षेप में कहा जाय तो इस संसार में कोई भी वस्तु अनौषध नहीं है किन्तु सब औषध हैं। उदाहरणार्थ हम जिसे अनौषध मानते हैं, उस मारनेवाले विष का भी यथासमय औषध रूप से उपयोग किया जाता है और यह कई बार देखा गया है कि संस्कारवशात् उसी मारक विष ने आसन्न-मृत्युको भी जीवनदान दिया है।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहेऽर्थप्रकाशिकाख्यायां हिन्दीव्याख्यायां विविधौषधविज्ञानीयो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

---

# अथ त्रयोदशोऽध्यायः ।

अथातोऽग्र्यसंग्रहमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अग्र्यसंग्रह—एक ही कार्यको करनेवाली ओषधियोंसे जो अत्यधिक बलवान् या श्रेष्ठ कार्य करता है उस द्रव्य को अग्र्य कहते हैं। इस लिए अब आचार्य प्रत्येक रोग के शमनादिकार्य में अत्यधिक काम करनेवाले द्रव्य का जिसमें प्रथम निर्देश है ऐसे अग्र्य-संग्रहणीय नामक अध्यायका व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया है। यथा—

श्रेष्ठमुदकमाश्वासनस्तम्भनक्लेदनानाम्। स्नानं सुरा च श्रमहराणाम्। क्षीरं जीवनीयानाम्। मांसं बृंहणीयानाम्। रसः प्रीणनानाम्। लवणमन्नद्रव्यरुचिकराणाम्। तिन्दुकमनन्नद्रव्यरुचिकराणाम्। अम्लं हृद्यानाम्। कुक्कुटो बल्यानाम्। तैलं वातश्लेष्मप्रशमनानाम्। सर्पिर्वातपित्तप्रशमनानाम्। मधु श्लेष्मपित्तप्रशमनानाम्। स्वेदो मार्दवकराणाम्। व्यायामः स्थैर्यकराणाम्। क्षारः पुंस्त्वोपघातिनाम्। आमं कपित्थमकण्ठ्यानाम्। आविकं सर्पिरहृद्यानाम्। माहिषं क्षीरं स्वप्नजननानाम्। मन्दकं दध्यभिष्यन्दकराणाम्। इक्षुर्मूत्रजननानाम्। यवाः पुरीषजननानाम्। जाम्बवं वातजननानाम्। कुलत्था अम्लपित्तजननानाम्। माषाः श्लेष्मपित्तजननानाम्। शष्कुल्योऽविक्षीरं च पित्तश्लेष्मजननानाम्। दुरालभा पित्तश्लेष्मोपशोषणानाम्। उपवासो ज्वरहराणाम्। वृषो रक्तपित्तप्रशमनानाम्। कण्टकारिका कासघ्नानाम्। लाक्षा सद्यःक्षतघ्नानाम्। नागबलाभ्यासः क्षयक्षतघ्नानाम्। पुष्करमूलं हिध्माश्वासकासपार्श्वशूलहराणाम्। अजापयः शोषघ्नस्तन्यकररक्तसंग्रहणप्रशमनानाम्। मृद्भृष्टलोष्टप्रसादश्छर्दितृष्णातियोगप्रशमनानाम्। अरुष्करश्चित्रकमूलं च शुष्कार्शःप्रशमनानाम्। कुटजो रक्तार्शःप्रशमनानाम्। लाजाश्छर्दिघ्नानाम्। यवशूकः स्रंसनीयपाचनीयार्शोघ्नानाम्। तक्राभ्यासोऽर्शःश्वयथुग्रहणीदोषघृतव्यापत्प्रशमनानाम्। क्रव्यान्मांसाभ्यासोऽर्शःशोषग्रहणीदोषघ्नानाम्। मुस्तं संग्रहणीयदीपनीयपाचनीयानाम्। अतिविषा संग्रहणीयपाचनीयसर्वदोषहराणाम्। बिल्वं संग्रहणीयदीपनीयवातकफप्रशमनानाम्। उदीच्यं निर्वापणदीपनीयच्छर्द्यतीसारहराणाम्। कट्वङ्गं संग्रहणीयदीपनीयानाम्। कुटजत्वक् श्लेष्मपित्तरक्तसंग्रहणीयोपशोषणानाम्। उत्पलकुमुदकिञ्जल्कोऽनन्ता च संग्रहणीयरक्तपित्तप्रशमनानाम्। काश्मर्यफलं रक्तसंग्रहणीयरक्तपित्तप्रशमनानाम्। गन्धप्रियङ्गुः शोणितपित्तातिवेगप्रशमनानाम्। पृश्निपर्णी रक्तसंग्रहणीयदीपनीयपाचनीयवातहरवृष्याणाम्। शालिपर्णी वृष्यसर्वदोषहराणाम्। बला संग्रहणीयबल्यवातहराणाम्। पिप्पलीमूलं पाचनीयदीपनीयानाहहराणाम्। चित्रकमूलं दीपनीयपाचनीयगुदशोफशूलहराणाम्। गोक्षुरको मूत्रकृच्छ्रानिलहराणाम्। हरिद्रा प्रमेहहराणाम्। रक्तावसेको विद्रधिविसर्पपिटिकागण्डमालापहराणाम्। एरण्डतैलाभ्यासो वर्ध्मगुल्मानिलशूलहराणाम्। लशुनो गुल्मानिलहराणाम्। हिङ्गुनिर्यासश्छेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातकफप्रशमनानाम्। अम्लवेतसो भेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातश्लेष्महराणाम्। उष्ट्रीक्षीरमुदरश्वयथुघ्नानाम्। अयोरजः पाण्डुरोगघ्नानाम्। खदिरः कुष्ठघ्नानाम्। विडङ्गं कृमिघ्नानाम्। रास्ना वातहराणाम्। एरण्डमूलं वृष्यवातहराणाम्। गुग्गुलुर्मेदोऽनिलहराणाम्। अमृता संग्रहणीयदीपनीयवातश्लेष्मशोणितविबन्धप्रशमनानाम्। मदनफलं वमनाऽऽस्थापनानुवासोपयोगित्रिवृत् सुखविरेचनानाम्। चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानाम्। स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानाम्। प्रत्यक्पुष्पी शिरोविरेचनानाम्। त्रिफला तिमिरघ्नानाम्। त्रिफलागुग्गुलु व्रण्यानाम्। शिरीषो विषघ्नानाम्। आमलकं वयःस्थापनानाम्। हरीतकी पथ्यानाम्। क्षीरघृताभ्यासो रसायनानाम्। समघृतसक्तुप्राशाभ्यासो वृष्योदावर्तहराणाम्। संकल्पो नक्तरेतश्च वृष्याणाम्। दौर्मनस्यमवृष्याणाम्।

सर्वरोगनाशक मुख्य ओषधियों का वर्णन—सान्त्ववचन, धनदानादि आश्वासनके समस्त भावों में जल श्रेष्ठ है। इतना ही नहीं, जल स्तम्भन तथा क्लेदन करनेवाली समस्त ओषधियों

---

१. "एककार्यकराणामौषधानां योऽत्यर्थं कार्यकरः सोऽग्र्यः" इतीन्दुः। "अग्र्याणां बलवत्कार्यकारिणाम्" इति शिवदाससेनः। "अग्र्यं शब्दः श्रेष्ठवचनः" इति चक्रपाणिदत्तः।

२. मन्नद्रव्यारुचि। ३. कुलत्थो। ४. शूलारुचि।

१. शोषणीयानाम्। २. योग। ३. साल। ४. वासनोपयोगिनाम्। इत्यादीनि पाठान्तराणि।

५. आश्वासकराः सन्ति बहवो भावाः सान्त्ववचनधनदानादयस्तेषां श्रेष्ठतममुदकम्। इति गङ्गाधरकविराजः।

में मुख्य है। इसी प्रकार थकावट ( श्रम ) को दूर करनेवाले सब पदार्थोंमें स्नान तथा मद्य मुख्य है। ऐसे ही जीवनदान देनेवालों में दूध, बृंहण अर्थात् शरीर को पुष्ट करनेवालों में मांस, तृप्तिकारकों में रस, अन्नद्रव्य के साथ रुचिकारक सब पदार्थों में नमक, अन्नातिरिक्त अन्य द्रव्योंमें रुचिकारकों में तिन्दुक ( तेन्दूका फल ), सब प्रकारके रुचिकारकों में ( हृदयके लिए आह्लाद देनेवालों ) में अम्ल ( खट्टा रस ), और बलकारकों में कुक्कुट मुख्य है। वायु और कफ के नाश करनेवाले सब द्रव्यों में तेल, वात तथा पित्तशामकों में घृत, कफ और पित्तके हरनेवालों द्रव पदार्थों में मधु ( शहद ), मृदुता लानेवालों में स्वेद, शारीरिक अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सुदृढ ( मजबूत ) करनेवालों में व्यायाम और पुरुषत्वघात या वीर्यके नाशकारकों में क्षार मुख्य है। कण्ठ को बिगाड़ने ( स्वरभङ्ग आदि करनेवालों ) में कच्चा कपित्थ ( कैथका फल ), सब प्रकार से अरुचि करनेवालों में भेड़ का घृत और निद्रा लानेवाली समस्त ओषधियों में भैंस का दूध मुख्य या श्रेष्ठ है। स्रोतों के स्राव में मलिनता लानेवाले सब द्रव्योंमें मन्दक अर्थात् कच्चा मीठा दही मुख्य है। मूत्रोत्पादन करनेवालों में ईख, पुरीष ( विट् ) को उत्पन्न करनेवालो में यव, वायुको पैदा करनेवालों में जाम्बव अर्थात् जामुनका फल और अम्लपित्त को पैदा करनेवालोंमें सबसे बलवान् या मुख्य कुलथी है। पित्त और कफको पैदा करनेवालों में उड़द ( माष ), शष्कुली ( तिलमिश्रित गेहूँ के आटे की स्नेह-भर्जित पूरी ) और भेड़ का दूध मुख्य है। भावार्थ यह है कि पित्त और कफको पैदा करनेवाले सब द्रव पदार्थों में भेड़का दूध, कठिन पदार्थों में माष और भक्ष्य पदार्थों में शष्कुली श्रेष्ठ है जैसे कि कविराज गङ्गाधर चरकटीका जल्पकल्पतरुमें कहते हैं—"यतः श्लेष्मपित्तजननानां भक्ष्याणां मध्ये शष्कुल्यः श्रेष्ठतमाः श्लेष्मपित्तजननाः। न तु कठिनानां द्रवाणां मध्ये। कठिनानां माषाः। द्रवाणामविक्षीरम्।" इति। पित्त और कफके शोषण करनेवालों में धमासा ( दुरालभा ) मुख्य है। ज्वरको हरनेवालों में उपवास या लङ्घन, रक्तपित्तका नाश करनेवालों में अडूसा, खांसी को दूर करनेवाले सब औषधों में कटेरी तथा तुरन्त के हुए क्षत के हरनेवालों में अर्थात् उरःक्षतशामकों में लाख मुख्य है। क्षत तथैव उरः क्षतको दूर करनेवालों में नागबला ( गंगेरन ) का अभ्यास, हिचकी-श्वास-कास-पार्श्वशूल इन रोगों के नाश करनेवालों में पुष्करमूल और शोथको दूर करनेवाली तथा स्त्रियों के स्तनों में दूध पैदा करनेवाली रक्तसंग्राही एवं रक्तपित्तको दूर करनेवाली सब ओषधियों में बकरी का दूध मुख्य है।

वमन और तृषाके अति वेगको रोकनेवालों में भुना अर्थात् तपाया जाकर जलमें बुझाए हुए मिट्टी के ढेले का जल श्रेष्ठतम है। भिलावा और चित्रकमूल शुष्कार्श-सूखे हुए मस्सेको हरनेवाले सब द्रव्यों में मुख्य है। रक्तार्श ( खूनी बवासीर ) को शमन करनेवालों में कुड़ाछाल अर्थात् कुटज श्रेष्ठ है। वमन अर्थात् छर्दिरोगशामकों में लाजा ( धान या चावलकी खील ), पके या कच्चे मलको कोठेसे बाहर निकालने या अनुलोमन करनेवाले, जठराग्निको प्रदीप्त करने तथैव अर्शरोगको शमन करनेवाले सब द्रव्योंमें जवाखार ( यावशूक ) मुख्य है। तक्र या छाछका अभ्यास अर्श-शोथ-ग्रहणी-दोष-घृत के अधिक सेवन से होनेवाली व्यापत्ति ( अजीर्णादि ) इन सबको शमन करनेवाले सब औषधों में श्रेष्ठ या मुख्य है। क्रव्याद अर्थात् व्याघ्र आदि के मांस का अभ्यास अर्श-शोष ( क्षय ) और संग्रहणी इन सबके दोष शमन करनेवालों में श्रेष्ठ है। संग्रहणीय ( मल को बांधनेवाले ), अग्निप्रदीपन करनेवाले तथा पाचन द्रव्य इन सब में नागरमोथा मुख्य है। संग्रहणीय-पाचनीय तथा सर्वदोषशमनीय सब द्रव्यों में अतीस मुख्य है। इसी प्रकार संशमन-दीपन-वमन और अतीसारहरण करनेवाले सबों द्रव्य में सुगन्धवाला और संग्रहणीय-दीपनीय एवं वात-कफनाशक ऐसे सब द्रव्यों में बेल ( बिल्व ) मुख्य माना गया है। संग्रहणीय—दीपनीय सब द्रव्यों में कट्वङ्ग[1] अर्थात् अरलू या कमल—केसर मुख्य है। कफ—पित्त—रक्त—संग्रहण तथा इनके शोषण करने में कुड़े की छाल मुख्य है। संग्रहणीय एवं रक्तपित्त को शान्त करनेवाले सब द्रव्यों में कमलकेसर, कुमोदिनी और सारिवा मुख्य हैं। संग्रहणीय तथा रक्तपित्तशामकों में खम्भारी का फल ( काश्मरी-फल ) श्रेष्ठ है। रक्तपित्त के अतिवेगको रोकनेवाले सब द्रव्यों में गन्धप्रियङ्गु, रक्तसंग्रहणीय-दीपनीय-पाचनीय वायु के हरनेवाले सब वृष्य पदार्थों में पृश्निपर्णी मुख्य है। वृष्य तथैव सब दोषों को हरनेवाले सब द्रव्यों में शालिपर्णी श्रेष्ठ है। संग्रहणीय-बलदायक एवं वातहर सब औषधियों में खिरैटी ( बला ) अत्युत्तम है। पाचनीय-दीपनाय-आनाह ( फूलना पेटका ) को दूर करनेवाले सब औषधों में पीपलामूल श्रेष्ठ है। दीपन-पाचन-गुदाकी सूजन-अर्श और शूल को शमन करनेवालों में चित्रक सर्व श्रेष्ठ है। गोखरू मूत्रकृच्छ्र तथा वायुनाशक द्रव्यों में मुख्य है। प्रमेहनाशक सब द्रव्यों में हरिद्रा विद्रधि-विसर्प-प्रमेहपिटिका तथा गण्डमालानाशक सब ओषधियों से रक्तमोक्षण कराना नितान्त श्रेष्ठ है। वर्ध्म ( बद या अण्डकोशवृद्धि ), वायु-शूल, इनके हरनेवालों में एरण्ड तैल का अभ्यास मुख्य है। गुल्म ( वायगोला ) तथा वायु के हरनेवालों में लहसुन मुख्य है और छेदनीय दीपनीय-वातादि का अनुलोमनकारक तथा कफ को शमन करनेवालों में हींग सब से उत्तम है। भेदनीय ( दस्तावर ), दीपनीय, अनुलोमन, वात और कफ को शान्त करनेवालों में अमलबेत मुख्य है। उदरशोथ ( पेट की सूजन ) दूर करनेवालों में उष्ट्रीक्षीर ( ऊंटनी का दूध ), पाण्डुरोग-नाशकों में लौहभस्म, कोढ ( कुष्ठ ) को शमन करनेवाले सब द्रव्यों में खदिर अर्थात् कत्था मुख्य है। कृमिरोगनाशकों में वायविडङ्ग, वायुरोगहारकों में रास्ना उत्तम है। इसी प्रकार वृष्य और वायुरोग शमन करनेवालों में एरण्ड का मूल मुख्य है। मेद और वायुव्याधि को

१. हृद्यानामिति रुच्यानाम्। इति चक्रपाणिदत्तः। २. अजाक्षीरं शोषघ्नस्तन्यसात्म्यदोषघ्नसांग्राहिकशोणितपित्तप्रशमनानामिति चरकः। ३. मृद्भृष्टलोष्ट्रनिर्वापितमुदकम्। इति चरक सम्मतपाठः।

[1] "कट्वङ्ग: कमलोद्भवं रजः" इति सुश्रुतटीकायां डल्हणोऽम्बष्ठादिगणे अ. ३८ किन्तु "मण्डूकपर्णपत्त्रोर्णनटकट्वङ्गटुण्टुकाः। श्योनाकशुकनासर्क्षदीर्घवृन्तकुटन्नटाः ॥ शोणकश्चारलौ" इत्यमरसिंहः।

मिटानेवालों में गूगल श्रेष्ठ है। संग्रहणीय-दीपनीय-वात-कफ-रक्त-विबन्ध ( स्रोतों में बहनेवाले रस रक्तादि धातुओं का रुकना ), इन सबको शमन करनेवालों में गिलोय अत्युत्तम है। वमन, आस्थापन और अनुवासन के उपयोग में आने वाले सब द्रव्यों में मैनफल मुख्य है। सुख से विरेचन करानेवालों में निशोत, मृदु विरेचन करानेवालों में अमलतास, तीक्ष्ण विरेचक द्रव्यों में थूहर का दूध और शिरोविरेचन करानेवालों में अपामार्ग ( ओङ्गा ) मुख्य या सबसे बलवान् है। नेत्र के तिमिर रोग को नष्ट करनेवालों में त्रिफला, व्रणोंको ठीक करनेवालों में त्रिफला-गूगल, विषको दूर करनेवालों में सिरस, वयःस्थापन अर्थात् वृद्धावस्था को दूर करनेवालों में आमला, सब प्रकार के पथ्यों में हरड़, सब तरह के रसायनों में दूध और घृत का अभ्यास और वृष्य एवं उदावर्तशामकों में घृतसहित सत्तू का सेवन सर्वोपरि है। वृष्य तथा शुक्रप्रवृत्तिकारकों में स्त्रीविषयक संकल्प और मगर का वीर्य मुख्य है। इसके विपरीत अवृष्यों ( वीर्य की हीनतावालों ) में मन की दुष्टता या मनका बिगड़ना मुख्य है। इसी प्रकार—

तैलगण्डूषाभ्यासो दन्तबलरुचिकराणाम्। चन्दनोदुम्बरं निर्वापणालेपनानाम्।[7] रास्नागुरुणी शीतापनयनप्रलेपनानाम्। लामज्जकोशीरे दाहत्वग्दोषस्वेदापनयनप्रलेपनानाम्। कुष्ठं वातहराऽभ्यङ्गोपनाहोपयोगिनाम्।[8] मधुकं चक्षुष्यवृष्यकेश्यकण्ठ्यवर्ण्यविरञ्जनीयरोपणीयानाम्। अजीर्णाशनं ग्रहणीदूषणानाम्। विरुद्धवीर्याशनं निन्दितव्याधिकराणाम्। गुरुभोजनं दुर्विपाकानाम्। अतिमात्राशनमामदोषहेतूनाम्। यथाग्न्यभ्यवहारोऽग्निसंधुक्षणानाम्। यथासात्म्यमाहारविहारौ सेव्यानाम्। एकासन-शयन-भोजनं सुखपरिणामकराणाम्। विषमाशनमग्निवैषम्यकराणाम्। काले भोजनमारोग्यकराणाम्। सुदर्शनमन्नं श्रद्धाजननानाम्। वेगधारणमनारोग्यकराणाम्। तृप्तिराहारगुणानाम्। अनशनमायुषो ह्रासकराणाम्। प्रमिताशनं गवेधुकान्नं च कर्शनीयानाम्। उद्दालकान्नं रूक्षणीयानाम्। मद्यं सौमनस्यजननानाम्। मद्याक्षेपो धीधृतिस्मृतिहराणाम्। स्त्रीष्वतिप्रसङ्गः शोषद्राराणाम्। शुक्रवेगनिग्रहः षाण्ढ्यकराणाम्। पादाभ्यामुद्वर्तनमन्नश्रद्धाजननानाम्। सूनादर्शनमन्नाश्रद्धाजनननानाम्। मिथ्यायोगो व्याधिमुखानाम्। रजस्वलागमनमलक्ष्मीमुखानाम्। ब्रह्मचर्यमायुष्याणाम्। परदारगमनमनायुष्याणाम्। अयथाप्राणमारम्भः प्राणोपरोधिनाम्। विषादो रोगवर्धनानाम्। हर्षः प्रीणनानाम्। शोकः शोषणानाम्। निर्वृतिः सुखकराणाम्। आश्वासो बलकराणाम्। पुष्टिः स्वप्नकराणाम्। स्वप्नस्तन्द्राकराणाम्। सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्। एकरसाभ्यासो दौर्बल्यारोचकान्यतमदोषप्रकोपकराणाम्। अग्निरामस्तम्भशीतशूलोद्वेष्टकप्रशमनानाम्। गर्भशल्यमाहार्याणाम्। अजीर्णमुद्धार्याणाम्। बालो मृदुभेषजार्हाणाम्। वृद्धो याप्यानाम्। गर्भिणी तीक्ष्णौषधव्यवायव्यायामवर्जनीयानाम्। सौमनस्यं गर्भधारणानाम्।[1] सन्निपातो दुश्चिकित्स्यानाम्। आमो विषमचिकित्स्यानाम्। ज्वरः शीघ्ररोगाणाम्। कुष्ठं दीर्घरोगाणाम्। राजयक्ष्मा रोगसमूहानाम्। प्रमेहोऽनुषङ्गिणाम्। जलौकसोऽनुशस्त्राणाम्। बस्तिर्यन्त्राणाम्। हिमवानोषधिभूमीनाम्। सोम ओषधीनाम्। मरुभूमिरारोग्यदेशानाम्। आनूपभूमिरहितदेशानाम्। निर्देशकारित्वमातुरगुणानाम्। अनिर्देशकारित्वं रिष्टानाम्।[2] भिषक् चिकित्साङ्गानाम्। सिद्धिर्वैद्यगुणानाम्।[3] नास्तिको वर्ज्यानाम्। लौल्यं क्लेशकराणाम्। आत्मवत्तोषकारिणाम्। शास्त्रसहितस्तर्कः साधकानाम्। दृष्टकर्मता निस्संशयकराणाम्। असमर्थता भयकराणाम्। तद्विद्यसंभाषा बुद्धिवर्धनानाम्। आचार्यः शास्त्राधिगमहेतूनाम्। आयुर्वेदोऽमृतानाम्। सद्वचनमनुष्ठेयानाम्। वायुः प्राणसंज्ञाप्रदानहेतूनाम्।[4] सर्वसंन्यासः सुखानामिति। तत्रोदकाग्निमृद्भृष्टलोष्टप्रसादतक्राभ्यासरक्तावसेकैरण्डतैलाभ्यासोष्ट्रीक्षीरमदनफलमद्याक्षेपैकरसाभ्यासगर्भिणीनामेकैकस्मात्समुदायाच्च निर्धारणम्।[5] पुष्करमूलादीनां तु समुदायादेवेति। भवति चात्र—

> अग्र्याणां शतमुद्दिष्टं पञ्चपञ्चाशदुत्तरम्।
> अल्पमेतद्विजानीयाद्धिताहितविनिश्चये ॥

इत्यष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽग्र्यसङ्ग्रहो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

---

दांतोंको बलवान् बनानेवाले एवं रुचिकारक ओषधियोंमें तैल[6] सबसे श्रेष्ठ है। चन्दन और गूलर ये दोनों दाह-शामक[7] सब लेपों में मुख्य हैं। रास्ना और अगर ये दोनों शीत को दूर करनेवाले लेपों में मुख्य हैं। लामज्जक और उशीर अर्थात् वीरण नामक तृणकी दीर्घ तथा अल्प नालवाली जड़ ( सूक्ष्म तथा स्थूल खस ) दाह, चमड़ी के दोष और पसीना इनको दूर करनेवाले लेपों में मुख्य हैं। कूट वायुनाशक अभ्यङ्ग और वायुनाशनार्थ पिसे हुए द्रव्योंकी पिण्डी बनाकर बांधनेके सब उपनाहोपयोगी[8] ओषधियों में श्रेष्ठ है। नेत्रहितकारक, पुष्टिकारक ( वीर्यवर्धक ), केशोंके लिए हितकारी, कण्ठको सुधारनेवाले, वर्णवृद्धिकारक, रञ्जक और रोपणीय सब

---

१. स्रोतस्तु धात्वादीनामवहनम् इतीन्दुः। २. वयःस्थापनं जराहरणमितीन्दुः। ३. दाहनिर्वापण। ४. वल्यविरेचनीय। ५. सुखनाशकराणाम्। ६. विनिग्रहः। ७. पुष्टिकराणाम्। इति पाठान्तराणि

१. अस्याग्रे 'असौमनस्यं दुःखजननानाम्" इत्यपि पाठः। २. अनिर्देशकारित्वमरिष्टानाम्। ३. वैद्याङ्गानाम्। ४. अस्याग्रे "सद्वैद्यद्वेषः प्राणत्यागहेतूनाम् इत्यपि। ५. रसगर्भिणीनाम्। ६. तैलमत्र तैलमेव ग्राह्यं सर्वतैलश्रेष्ठत्वात् इत्याचार्याः। ७. निर्वापणं शमनम् इतीन्दुः। ८. उपनाहो वातादिहरणाय पिष्टद्रव्यपिण्डीबन्धः, इतीन्दुः।

द्रव्योंमें मुलेठी अर्थात् मधुक सब में मुख्य है। ग्रहणी को दूषित करनेवालोंमें अजीर्णाशन अर्थात् पहले किए भोजन के न पचने पर पुनः भोजन का करना मुख्य है। आठ प्रकार की निन्दित व्याधियों के उत्पन्न करनेवाले सबमें विरुद्ध वीर्याशन जैसे कि शीतवीर्य पदार्थ के साथ उष्णवीर्य पदार्थ का सेवन करना मुख्य है। बहुत देरसे या कठिनाई से पचनेवाले पदार्थों में सबसे बलवान् गरिष्ठ (नितान्त भारी या गुरु) पदार्थ का सेवन करना मुख्य माना गया है। आम दोष की उत्पत्ति करनेवाले सब कारणों में अतिमात्रा में भोजन करना ये बलवत्तर कारण हैं। जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाले सब कार्यों में अपने अग्नि-बल के अनुसार भोजन करना मुख्य कार्य है। सेवन करने योग्य सब कर्मों में यथासात्म्य आहार-विहार अर्थात् अपनी आत्मा को सुखदायक ऐसा आहार-विहार मुख्य माना गया है। सुख के नाश करनेवाले कारणों में एकासन-शयन-भोजन अर्थात् एक साथ में मिलकर बैठना-सोना और भोजन करना यह मुख्य कारण है। इसी प्रकार अपनी सम जठराग्नि को बिगाड़ने वालों में अर्थात् समाग्नि को विषमाग्नि का रूप देनेवालों में विषमाशन मुख्य है। आरोग्यता प्रदान करनेवालों में श्रेष्ठ नियत समय पर भोजन करना है। श्रद्धा उत्पन्न करनेवालों में अच्छे अन्न का दर्शन मुख्य है। अनारोग्यकर अर्थात् अस्वस्थता या रोगके उत्पन्न करनेवालों में मल मूत्रादि के वेगों का रोकना यह मुख्य है। आहार के सब गुणों में तृप्ति और आयु के नाश करनेवालों में उपवास मुख्य है। मनुष्य को दुर्बल बनानेवालों में सब से मुख्य प्रमितान्नभक्षण या गवेधुकान्न-भक्षण (तुले हुए आहार का करना या देवधान का खाना) मुख्य है। रूक्षता लाने वाले सब द्रव्यों में मुख्य उद्दालकान्न अर्थात् जंगली कोदोधान्य (Cardia myxa or Latifalia) है। मानसिक प्रफुल्लता प्रदान करनेवालों में मद्य सब में मुख्य है। बुद्धि-धारणा और स्मरणशक्ति को नष्ट करनेवालों में सब से बलवान् मद्याक्षेप (मद्य का वह वेग जिसमें मनुष्यका अपनी सब सुधबुध भूल जाना) है। शोष रोग के सब कारणों में मुख्य कारण स्त्रियों से अतिप्रसङ्ग करना है। मनुष्य को नपुंसक बनानेवाले सब कारणों में मुख्य वीर्य के वेग को नितान्त रोकना है। अन्न में श्रद्धा उत्पन्न करनेवालों में सब से मुख्य पगों से उबटन लगाना है। इसी प्रकार अन्न में अश्रद्धा उत्पन्न करनेवालों कारणों में सब से मुख्य सूना दर्शन अर्थात् शस्त्रादि द्वारा प्राणियों के वध-स्थान का देखना है। रोगों के उत्पन्न करनेवाले सब कारणों में मुख्य काल-अर्थ और कर्मों का मिथ्यायोग है। अलक्ष्मी के कारणों में सब से मुख्य कारण रजस्वला के साथ संभोग करना है। आयु की वृद्धि करनेवाले सब कारणोंमें मुख्य ब्रह्मचर्य-पालन या वीर्य का संरक्षण करना है। आयु के नाश करनेवाले सब कर्मों में मुख्य कर्म परस्त्री में गमन करना है। प्राणोपरोध अर्थात् प्राणों का नाश करनेवाले सब कारणों में मुख्य अपने बल के विपरीत कर्म का आरम्भ करना है। रोग के बढ़ानेवाले कारणों में सब से मुख्य विषाद या खेद करना है। सब प्रकार से तृप्ति प्रदान करनेवालों में हर्ष मुख्य है। शारीरिक रस-रक्तादि धातुओं को शोषण करनेवालों कारणों में बलवान् शोक है। सर्वथा सुख-कारकों में निर्वृति-सब प्रकार से निश्चिन्तता मुख्य है। बल एवं साहस प्रदान करनेवालों में आश्वासन, और सोने के सुख को देनेवालों में पुष्टि मुख्य है। इसी प्रकार तन्द्राकारकों में अधिक शयन, बलकारकों में सब प्रकार के मधुर आदि रसों का अभ्यास तथा दुर्बलता-अरोचकता इनमें से किसी भी दोष को प्रकुपित करनेवालों में सबसे बलवान् किसी भी एक रस का अभ्यास करना है। आम को पेट में एक जगह स्तम्भित करने, शीत, शूल, पिण्डिको-द्वेष्टन के हरनेवालों में सब से उत्तम अग्नि है। निकालने योग्य सब शल्यों में मुख्य गर्भशल्य है। उद्धार करने योग्य सब रोगों में मुख्य अजीर्ण है। मृदु ओषधियों के योग्य सब में मुख्य बालक है। सब याप्य रोगियों में वृद्ध मुख्य है। तीक्ष्ण ओषधि-मैथुन-व्यायाम-वर्जितों में सब से मुख्य गर्भिणी है। गर्भ की धारणावाले सब विचारों में मुख्य सौमनस्य (मनकी पवित्रता) है। जिसकी चिकित्सा करना अति कठिन है ऐसे दुश्चिकित्स्यों में सब से मुख्य रोग सन्निपात है। विषम चिकित्स्य सब व्याधियों में आम, शीघ्र होनेवाले रोगों में ज्वर, दीर्घ काल तक रहनेवाले रोगों में कुष्ठ, रोगों के समूहों में क्षय तथा फिर फिरकर होनेवाले अनुषङ्गी[1] सब से बलवान् प्रमेह है।

सुश्रुतोक्त त्वक्, सार, स्फटिक आदि सब अनुशस्त्रों[2] में जो कि भीरु, बालक, स्त्री आदि के काम में आते हैं जलौका (जोंक) सब से श्रेष्ठ है। इसी प्रकार सब यन्त्रों में बस्ति उत्तम है। ओषधि उत्पन्न करनेवाली सब भूमियों में हिमालय पर्वत सब से उत्तम है। सब ओषधियों में सोम, आरोग्यदायक सब भूमियों में मरुदेश की भूमि, अहितकारी देशों में सब से मुख्य अनूप देश है। रोगी के सब गुणों में निर्देशकारित्व (सब ठीक ठीक बतलाना) मुख्य बात है। सब अरिष्टों में अनिर्देशकारित्व अर्थात् अपनी प्रकृति का हाल ठीक ठीक न बतलाना मुख्य है। चिकित्सा के सब अङ्गों में वैद्य और वैद्य के समस्त गुणों में सिद्धि और वर्जित जनों में नास्तिक ये मुख्य हैं। क्लेश करनेवाली सब बातों में लोलुपता, संतोषकारक सब भावों में आत्मवत् भाव अर्थात् अपनी ही तरह सब प्राणियों में सुख-दुःख का अनुभव मुख्य है। साधकों में शास्त्रीय प्रमाण को लेकर तर्क (पृच्छा) करना अत्युत्तम है। निःसंशय करनेवाले सब कार्यों में दृष्टकर्मता (प्रत्यक्ष देखा हुआ और किया हुआ कर्माभ्यास) सब से प्रधान है। भय-कारी सब भावों में असमर्थता, बुद्धि को बढ़ानेवाले सब साधनों में तद्विद्य-संभाषा (उस उस विषय के जाननेवाले विद्वानों का परस्पर संभाषण) सर्वोत्तम है। शास्त्रीय ज्ञान-प्राप्ति के समस्त हेतुओं में आचार्य मुख्य हैं। जीवन-दान देनेवाले सब शास्त्रों में आयुर्वेद सर्वोपरि है। (प्राणों के नाश करनेवाले हेतुओं में अच्छे वैद्य से द्वेष करना यह मुख्य हेतु है) पालन करनेवाली सब बातों में सद्वचन (सज्जनों के

---

१. अतिदीर्घश्चातिह्रस्वश्चातिलोमा चालोमा चातिकृष्णश्चातिगौरश्चातिस्थूलश्चातिकृशश्चेति।

---

१. अनुषङ्गी पुनर्भावी इति चक्रपाणिदत्तः। २. अनुशस्त्राणि तु त्वक्सारस्फटिककाचकुरुविन्दजलौकोऽग्निक्षारनखगोजीशेफालिकाशाकपत्रादयः।

बचन या सत्य भाषण ) सर्वोपरि है। प्राण संज्ञा देनेवाले सब कारणों में वायु प्रधान कारण है । सब प्रकार के सुखों में सर्वसंन्यास अर्थात् सब प्रकार की झंझटों का परित्याग कर देना श्रेष्ठ है ।

ध्यान रहे कि यहां जल, अग्नि, मिट्टी का तपाया या भूना हुआ ढेला का जल, तक्र का अभ्यास, रक्तमोक्षण, एरण्ड तैल का अभ्यास, ऊंटनी का दूध, मैनफल, मद्याक्षेप, एक ही किसी रस का अभ्यास एवं गर्भिणी इन सब का एक एक से तथा समुदाय रूप से निर्धारण ( विचार ) करना चाहिए। किन्तु पुष्करमूल आदि का विचार तो समुदाय रूप से ही करना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—यहां जल, अग्नि आदि का एक एक रूप से या समुदाय रूप से निर्धारण का भावार्थ यह है कि ये द्रव्य एक एक प्रयोग में लाने से तथा समुदाय रूप से ( अन्य द्रव्यों के संयोग से ) भी ये फलप्रद होते हैं । पुष्करमूलादि समुदाय-रूप से ही ठीक फल देते हैं अर्थात् पुष्करमूल हिक्कादि हरने में मुख्य होते हुए भी उसका प्रयोग उक्त रोग-नाशक अन्य द्रव्यों के साथ में ही करना चाहिए।

यहां इस अध्याय में इस प्रकार १४४ अग्र्यों का वर्णन किया गया तथापि हिताहित का निर्णय या निश्चय करने में इस वर्णन को अल्प ही समझना चाहिए ।

इति वाग्भटाचार्यकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी-व्याख्यायामग्र्यसंग्रहणीयो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

## अथ चतुर्दशोऽध्यायः ।

अथ शोधनादिगणसंग्रहमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

शोधनादिगणसंग्रह—वैद्यक शास्त्रगत पञ्चकर्म में वमन-विरेचन ( शोधन ) ही मुख्य हैं अतः अब आचार्य जिसमें शोधनादि गणों का विवेचन है ऐसे शोधनादिगणसंग्रह नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया है। यथा—

मदनजीमूतकेक्ष्वाकुकोशातकीद्वयफलपुष्पपत्राणि। कुटजकरञ्जत्रपुससर्षपपिप्पलीविडङ्गैलाप्रत्यक्पुष्पीहरे-णुपृथ्वीकाकुस्तुम्बुरुप्रपुन्नाटानां फलानि शारदानि च हस्तिपर्णीकोविदारकर्बुदारारिष्टाश्वगन्धानीपविदुलबिल्व बिम्बीबन्धुजीवकश्वेताशणपुष्पीवचाचित्राचित्रकमृगेन्द्र-वारुणीसुपवीचतुरङ्गुलस्वादुकण्टकपाठापाटलीशार्ङ्गेष्टाम-धूकमूर्वासप्तपर्णसोमवल्कद्वीपिशिग्रुसुमनःसौमनस्यायवा-नीवृश्चीवपुनर्नवामहासहाक्षुद्रसहेक्षुकाण्डकालक्तपिप्प-लीमूलचव्यकानलदोशीरह्रीवेरमूलानि । शाल्मलीशा-ल्मलुकाभद्रपर्ण्यैरावण्युपोदकोद्दालकधन्वरसाञ्जनराजा-दनोपचित्रागोपश्रृङ्गाटिकापिच्छाः । प्रियङ्गुपुष्पम् । तालीसपत्रम् । हरिद्राश्रृङ्गवेरकन्दौ । मधूकदारुहरि-द्रासारौ । तगरगुडूचीमधुफाणितक्षीरक्षारलवणानि चेति वमनोपयोगीनि ।

शोधनीयवमन द्रव्य—मैनफल,देवदाली (बन्दाल), कड़वी तुम्बी, छोटी और बड़ी जंगली कड़वी तोरई, इन सबके फल, पुष्प और पत्र, इन्द्रजव, कञ्जा, कड़वी ककड़ी, सरसों, पीपल, वायविडङ्ग, छोटी इलायची, औंगा, सम्हालू, बड़ी इलायची, धनियां और पँवाड़ के शरद ऋतु में आए हुए फल, हस्तिपर्णी ( महाकोशातकी ), नीले फूल का पियाबांसा, कचनार, रीठा, असगन्ध, कुड़ा, विदुल ( वेत ), बेल, बिम्बी ( जंगली कुन्दरु या गोल्हा ), दुपहरिया ( सूरजमुखी ), श्वेत दूर्वा, सण, आक, वच, चित्रा ( लघुदन्ती एवं बृहद्दन्ती ) चित्रक, इन्द्रा-यण, करेला, अमलतास, स्वादुकण्टक ( छोटे गोखरू ), पाढ़, पाटल, शार्ङ्गेष्टा ( काकजंघा या गुञ्जा ), महुआ, मुलेठी, मूर्वा ( मोरटा-पीलुपर्णी-धनुर्गुणोपयोगिनी ), सतौना, कायफल, द्वीपी ( थूहरविशेष ), कटु सहँजना, सुमन ( घृतकरञ्ज या चमेली ), जायपत्री ( सौमनस्या ), अजवायन, लाल और श्वेत पुनर्नवा ( साठी-इटसिट ), महासहा ( श्वेतपुष्पवाला पियाबांसा ), क्षुद्रसहा ( लाल इन्द्रायण ), ईख, आल या मजीठ, पीपलामूल, चव्य, जटामासी, खस ( उशीर ), हाऊ-बेर एवं सुगन्धवाला, इन सब की जड़ ( मूल ), शाल्मली ( सेम्भल ), रोहीतक = रोहिड़ा ( शाल्मलुक ), प्रसारणी, ऐरावणी, उपोदका ( कटु पोई ), उद्दालक ( Cordia myxa or latipalia ), ह्रिसौड़ा, धमासा, रसोत, खिरनी, उपचित्रा (लघुदन्ती या बृहद्दन्ती),अर्थात् जयपाल (जमालगोटा), अनन्तमूल (शारिवा), श्रृङ्गाटिका (जंगली कड़ुवा सिंघाड़ा-सुरंजान तलख ), आकाशवेल या पूग ( सुपारी ), प्रियङ्गु के पुष्प, तालीसपत्र, हल्दी और अदरक के कन्द, महुवा और दारुहल्दी का सार, तगर, गिलोय, शहद, गुड़ की राब, दूध, क्षार और सब प्रकार के नमक ये सब वमन कराने में उपयोगी द्रव्य हैं।

त्रिवृत्श्यामादन्तीद्रवन्तीशंखिनीसप्तलाऽजगन्धाऽजश्रृङ्गीवचागवाक्षीछगलान्त्रीसुवर्णक्षीरीचित्रककिणिही-हस्त्वपञ्चमूलवृश्चीवपुनर्नवावास्तुकशाकशालमूलानि । तिल्वकरम्यककाम्पिल्लकपाटलीत्वचः । त्रिफलापीलु-पियालकुवलबदरकर्कन्धुकाश्मर्यपरूषकद्राक्षानीलिनी-क्लीतनिकोदर्याविडङ्गपूगपञ्चाङ्गुलफलानि । चतुरङ्गुल-फलपत्राणि । पूतिकत्वक्फलपत्राणि । महावृक्षसप्तपर्ण-ज्योतिष्मतीक्षीराणि । क्षीरमस्तुमद्यधान्याम्लमूत्राणि चेति विरेचनोपयोगीनि ।

विरेचन द्रव्य—काली और श्वेत निशोत, दन्ती, जयपाल ( बृहद्दन्ती ), चोरपुष्पी, सातला ( थूहर का एक भेद ), अजमोदा, अजश्रृंगी ( मेषश्रृङ्गी-मेढासिंगी A plant, deseribedas a milky and thorny plant with a front crooked figure like a rams horn इति वैद्यकशब्द सिन्धुः ), बच, इन्द्रायण बड़ी, विधायरा ( वृद्धदारुक ), सुवर्णक्षीरी

---

१. कालवृन्त इत्यपि पाठः । २. अविमूत्रमजामूत्रं गोमूत्रं माहिषं तथा । हस्तिमूत्रमथोष्ट्रस्य हयस्य च खरस्य च ॥ इति चरके।

( रेवतचीनी या चोक ), चित्रक, किणिही ( श्वेत अपामार्ग किन्तु विरेचनोपयोगी होने से यहां श्वेत कोयल या कृष्ण कटभी ही लेना चाहिए क्योंकि इनका एक पर्याय किणिही भी है। 'वैद्यकशब्दसिन्धु' में रिसर्च स्कालरों ने इसके विषय में Achyranthes aspeda लिखा है। ) लघु पञ्चमूल अर्थात् शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, छोटी और बड़ी दोनों कटेरी और छोटा गोखरू, श्वेत और रक्त पुनर्नवा, बथुआ, शाक और सालवृक्ष इन सबके मूल। लोद, महानिम्ब ( बकायन ), कमीला, पाढलवृक्ष, इन सबकी छाल। त्रिफला ( हरड़, बहेड़ा, आंवला ), पीलू, पियाल ( चिरौंजी Buchanania Latifalia ), कुवल ( बेरका एक भेद ) बदर ( बेर ), कर्कन्धु (बेरविशेष), खम्भारी, फालसा, मुनक्का, नील, मुलेठी, वृक्षकरञ्ज ( पूतिकरञ्ज ), बायविडङ्ग, सुपारी और एरण्ड, इन सबके फल। इनमें भी अमलतास के फल और पत्र, करञ्ज वृक्ष की छाल-फल और पत्र, थूहर-सप्तपर्ण ( सतौना ) और मालकांगनी इनका दूध लेना चाहिए। दूध, दहीका तोड़, मद्य, कांजी तथा आठ प्रकार के सूत्र ( भेड़, बकरी, गाय, महिषी, हस्ति, ऊंट, घोड़ा, और खरका मूत्र ), ये सब विरेचन के उपयोग में आनेवाले द्रव्य हैं।

कोशातकीदेवदालीसप्तलाकारवेल्लिकास्वरसाः, अर्कक्षीरमुष्णोदकं चेत्युभयात्मकानि। बस्तिषु तु तेषु तेष्ववस्थान्तरेषु यान्युपयुज्यन्ते द्रव्याणि तान्येवासंख्येयत्वान्नोपदिश्यन्ते। रसस्कन्धेभ्य एव यथादोषं यथावस्थं च विभजेत्।

वमनविरेचन उभयोपयोगी द्रव्य—जंगली कड़वी तोरई, बन्दाल, सातला ( थूहरविशेष ) और करेला इनके स्वरस तथा आक का दूध और उष्ण जल ये उभयात्मक हैं अर्थात् वमन और विरेचन इन दोनों के करानेवाले हैं।

बस्तिकर्म में द्रव्यों की योजना—बस्तिविधान में जिन २ अवस्थाओं के अनुसार द्रव्यों की कल्पना की जाती है, उनका वर्णन यहां नहीं किया जाता है। इस लिए कि वे द्रव्य असंख्य हैं। उनकी विभाजनकल्पना रसस्कन्धों से ही जैसा दोष और जैसी अवस्था हो, उसके अनुसार कर लेनी चाहिए।

सर्वेषु तु प्रायो मदनकुटजजीमूतकेक्ष्वाकुकोशातकीद्वयत्रपुषसिद्धार्थकशताह्वाफलानि। बलादशमूलैरण्डत्रिवृद्वचायष्ट्याह्वकुष्ठरास्नापुनर्नवाकत्तृणमूलानि। सरलदेवदारुहपुषाहिङ्गुरसाञ्जनऽयोषपत्रैलाऽमृतायवकोलकुलत्थगुडलवणमस्तुधान्याम्लमूत्रस्नेहक्षौद्रक्षीराणि चेति निरूहोपयोगीनि।

निरूहोपयोगी द्रव्य—प्रायः सब प्रकार की निरूहबस्तियों में मैनफल, इन्द्रजौ, देवदाली, कड़वी तुम्बी, कटु तोरई दोनों प्रकार की, कटु ककड़ी, सरसों और सौंफ इन सबके फल तथा खिरेटी, दशमूल, एरण्ड, निशोत, बच, मुलेठी, कूट, रास्ना, साठी, कत्तृण ( एक प्रकार का घास ), इन सबके मूल लेना चाहिए। चीड़, देवदार, हाऊबेर, हींग, रसोत, सोंठ, मिरच, पीपल, पत्रज, इलायची, गिलोय, जौ, बेर, कुलथी, गुड़, नमक, मस्तु, कांजी, मूत्र ( गोमूत्रादि ), स्नेह ( घृत-तैलादि चारों प्रकारके ), शहद और दूध ये सब निरूहबस्ति में उपयोगी हैं।

अपामार्गविडङ्गमरिचपिप्पलीशिरीषबिल्वाजाज्यजमोदवार्त्ताकपृथ्वीकैलाहरेणुफलानि। तालीसतमालतर्कारीहरितकवर्गपत्राणि। सर्षपफलपत्राणि। शिग्रुफलपत्रत्वचः। हरिद्रामूलकलशुननागरकन्दपत्राणि। अतिविषाकन्दाः। कुष्ठवचाभार्ङ्गीश्वेताकिणिहीनागदन्तीज्योतिष्मतीगवाक्षीवयस्थावृश्चिकालीबिम्बीकरञ्जमूलानि। अर्कालर्कपुष्पमूलानि। रोध्रमदनसप्तपर्णनिम्बपीलुबीजानि। मुरङ्गीमातुलुङ्गीलवङ्गपुष्पाणि। अगुरुसुरदारुसरलसल्लकीजिङ्गिण्यसनरसाञ्जनहिङ्गुलाक्षानिर्यासः। तमालशालतालमधूकदार्वीसाराः। तेजस्विनीमेषशृङ्गीवराङ्गेङ्गुदीबृहतीद्वयत्वचः। राजादनमज्जक्षौद्रलवणानि मद्यानि गवादिशकृद्रसमूत्रपित्तान्येवंविधानि चेन्द्रियोपशमनान्यन्यान्यपि तथा स्नेहाः क्षीरं रक्तं मांसरसो धान्यरसस्तोयमिति शिरोविरेचनोपयोगीनि।

शिरोविरेचन-उपयोगी द्रव्य—अपामार्ग ( ओंगा ), बायविडंग, मरिच, पीपल, सिरस, बेल, जीरा, अजमोदा, वार्त्ताक ( वृन्ताक-बैंगन ), छोटी और बड़ी दोनों इलायची, सम्हालू ( निर्गुण्डी ), इन सबके फल। तालीस, तमाल, तर्कारी ( अग्निमन्थ या अरणी ), हरितक वर्गकी सब ओषधियाँ इन सबके पत्र। सरसों के फल और पत्र, सहजने के फूल, पत्र और छाल। हल्दी, मूली, लहसुन, सोंठ इनके कन्द और पत्र। अतीस के कन्द। कूट, वच, भारंगी, श्वेत अपामार्ग, नागदन्ती ( जयपाल मोटा ), मालकाङ्गुनी, इन्द्रायन, काकोली, क्षीरकाकोली, बरहण्टा, बिम्बी (कुन्दरु) तथा करञ्ज इन सबके मूल। श्वेत और रक्त दोनों प्रकार के आक (मदार) इनके मूल और पुष्प। लोद, मैनफल, सतौना, नीम और पीलु इन सबके बीज। लाल फूलका सहँजना, बिजौरा और लवङ्ग इन सबके पुष्प। अगर, देवदार, चीढ, सालई, जिङ्गिणी अर्थात् काला सेमहल, विजयसार, रसोत, हींग और लाख इन सबका गोंद ( निर्यास ), तथा ताड़, तमाल, साल, महुआ, दारुहल्दी इन सबके सार अर्थात् भीतरी परिपक्व काला काष्ठ। तेजस्विनी ( महाज्योतिष्मती = मालकांगुनी बड़ी ), मेंढासिंगी, वराङ्ग ( तज ), हिंगोट, दोनों प्रकार की छोटी और बड़ी कटेरी, इन सबकी छाल। खिरनी की मज्जा अर्थात् फल के अन्दर का गूदा, शहद, सब प्रकार के नमक, सब प्रकार के मद्य, मेंढी आदि आठ पशुओंके मूत्र, गोबर या लीद का निचोड़ा हुआ रस, मूत्र और पित्त तथा इसी प्रकार के इन्द्रियोपशमकारक द्रव्य, स्नेह ( घृत, तेल, बसा और मज्जा ),

१. अविमूत्रमजामूत्रं गोमूत्रं माहिषं तथा। हस्तिमूत्रमथोष्ट्रस्य हयस्य च खरस्य च॥ इति चरके।

१. "कुठेरशिग्रुसुरससुमुखासुरिभूस्तृणाः। मूलकं चुञ्चिका चेति वर्गं हरितकं विदुः॥"। २. "जिङ्गिणी कृष्णशाल्मलिः" इतीन्दुः।

दूध, रक्त, मांसरस, धान्यरस और जल ये सब शिरोविरेचन के उपयोगी पदार्थ हैं।

मधुकपद्मकमञ्जिष्ठासारिवामुस्तापुन्नागकेसरैलवालुकसुवर्णत्वक्तमालपृथ्वीकाहरेणुलाक्षाशतपुष्पासल्लकीशर्करामदनकमरुबकन्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षलोध्रत्वक्पद्मोत्पलानि सर्वगन्धद्रव्याणि च कुष्ठतगरवर्ज्यानि प्रायोगिकधूमोपयोगीनि।

प्रायोगिक धूमोपयोगी द्रव्य—मुलेठी, पद्माख, मजीठ, अनन्तमूल, नागरमोथा, नागकेसर-केसरकाला सुगन्धवाला, सुवर्ण (हरिचन्दन), तज, तमालपत्र (पत्रज), बड़ी इलायची, निर्गुण्डी, लाख और सौंफ, सालई, शक्कर, मैनफल, मरुआ तथा बड़, गूलर, पीपल (अश्वत्थ), पाकर, लोद, इन सबकी छाल, कमल, कमोदिनी ये सब, कूट और तगर को छोड़कर सुगन्धिद्रव्य प्रायोगिक धूममें उपयुक्त पदार्थ हैं। स्वस्थवृत्तोक्त स्नेहवर्जित धूमपान का नाम यहां प्रायोगिक धूम समझना चाहिए।

अगुरुगुग्गुलुसल्लकीशैलेयकनलदह्रीवेरहरेणूशीरमुस्तध्यामकवराङ्गश्रीवेष्टकस्थौणेयकपरिपेलवैलवालुककुन्दरुकसर्जरसयष्ट्याह्वफलसारस्नेहमधूच्छिष्टबिल्वफलमज्जयवतिलमाषकुङ्कुमानि मेदोमज्जवसासर्पींषि च स्नैहिकधूमोपयोगीनि।

स्नैहिक धूमोपयोगी द्रव्य—अगर, गूगल, सालईका गोंद, छारछरीला, जटामांसी, सुगन्धवाला, सम्हालू, खस, नागरमोथा, ध्यामक (सुगन्धि तृण विशेष), दालचीनी, श्रीवेष्टक (सरलनिर्यास-गन्धाविरोजा), गठौना, जलमुस्तक (केवटी मोथा), काला सुगन्धिवाला, कुन्दरु गोंद, राल, मुलेठी, फलसार, स्नेह (तैल), मोम, बेल के फल की मज्जा (गूदा), जौ, तिल, माष (उड़द), केशर, मेद (चर्वी), मज्जा, वसा और घृत ये सब स्नैहिक धूमपान के उपयोगी द्रव्य हैं।

शिरोविरेकद्रव्याणि गन्धद्रव्याणि च तीक्ष्णानि मनोह्वा हरितालं चेति तीक्ष्णधूमोपयोगीनि।

तीक्ष्ण धूमोपयोगी द्रव्य—प्रथम शिरोविरेचनोपयोगी कहे हुए द्रव्य, गन्धद्रव्य, स्वर्णक्षीरी, दन्ती आदि तीक्ष्ण द्रव्य, मैनसिल और हरताल ये सब तीक्ष्ण धूमोपयोगी द्रव्य हैं।

भद्रदारुकुष्ठतगरवरुणबलाऽतिबलाऽऽर्तगलकच्छुरावृकीकुबेराक्षीवत्सादन्यर्कालर्ककतकभार्ङ्गीकार्पासीवृश्चिकालीपत्तूरप्रभृतीनि विदार्यादिगणो वीरतरादिस्तृणाख्यवर्ज्यानि षट्पञ्चमूलानि चेति वातशमनानि।

वातशामक द्रव्य—देवदारु, कूट, तगर, वरना (वरुणवृक्ष), खिरेटी, सहदेवी, आर्तगल (नीले पुष्पवाली कटसरैया), केवांच, पाढ, करञ्जुआ, गिलोय, आक, श्वेतपुष्प का आक, निर्मली, भारङ्गी, लाल फूलका कपास, वृश्चिकाली (वरहण्टा Fragia in voluorata) और पत्तूर (जलब्राह्मी या शालिञ्चनामक शाकविशेष) आदि और आगे कहे जानेवाले विदार्यादि गण तथा वीरतरादि गण की सब ओषधियां, तृणपञ्चमूल तथा तृणषण्मूल (कुश, काश, शर, इक्षु, दर्भ और शालिमूल) इन पांच या छः तृणमूलों को छोड़ करके इस गद्य में वर्णित सभी ओषधियाँ वायुको शमन करनेवाली हैं।

दूर्वाऽनन्तामोचरसमञ्जिष्ठापरिपेलवकालाकालीयकदलीकन्दलीपयस्याऽऽत्मगुप्तानालिकेरखर्जूरद्राक्षाविदारीबदरीबलानागबलानागपुष्पाशतावरीशीतपाक्योदनपाकीतृणशून्यंगुमतीद्वयारिष्टकारिष्टाटरूषकेत्कटप्रियङ्गुधातकीधवधन्वनस्यन्दनखदिरकदरपियालतालशालसर्जतिनिशाश्वकर्णगुन्द्रावानीरपद्मापद्मकपद्मबीजमृणालकुमुदनलिनसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रसेवालकह्लारोत्पलकाकोल्युत्पलिकाशालूकशृङ्गाटककसेरुकक्रौञ्चादनप्रभृतीनि शीतवीर्याणि सारिवादिः पद्मकादिः पटोलादिर्न्यग्रोधादिर्दाहहरो महाकषायस्तृणपञ्चमूलं चेति पित्तशमनानि।

पित्तशामक द्रव्य—दूर्वा, सारिवा, मोचरस, मजीठ, केवटीमोथा, काली निशोत, कालीयक (अगर एवं चन्दनविशेष), केला, कमलगट्टा, क्षीरकाकोली, केवांच, नारियल, खजूर, द्राक्षा (अंगूर), विदारीकन्द, बेर, खिरेटी, गङ्गेरन, नागकेशर, सतावर, काकोली, नीलपुष्प की कटसरैया, तृण (गन्धतृण विशेष), शूली (एक प्रकार का तृण), शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, नीम, रीठा, अडूसा, इत्कट, प्रियङ्गु, धाय के फूल, धव, धामन, स्यन्दन, खैर, गन्धा खैर (इरिमेद), चिरौंजी, ताड़, शाल, राल, तिनिश (तीवस), अश्वकर्ण (पलाश विशेष), गूंदी, जलवेतस, गुलाब, पद्माख, कमलबीज, कमल की नाल, कुमोदिनी, नीलकमल (नीलोफर), सौगन्धिक-पुण्डरीकशतपत्रनामक कमल की जाति विशेष, जलका सेवाल, कल्हारउत्पल-कुमोदिनीभेदविशेष, काकोली, कमलिनी, शालूक, सिंघाड़े, कसेरू, क्रौञ्चादन (मृणाल) आदि शीतवीर्य ओषधियाँ तथैव आगे कहे जानेवाले सारिवादि, पद्मकादि, न्यग्रोधादि इन गणों के सब द्रव्य, दाहहर महाकषाय के द्रव्य (चरक-सूत्रस्थान अ० ४ गद्य ४१ में वर्णित), तथा तृणपञ्चमूल (कुश, काश, शर (मूंज), ईख और दर्भ के मूल) ये सब पित्तशामक हैं।

शीतशिवशतपुष्पासरलसुरदारुरास्नेङ्गुदीसातलासुमनःकाकादनीलाङ्गलीहस्तिकर्णमुञ्जातलाजकप्रभृतीन्यारग्वधादिरसनादिरर्कादिः सुरसादिर्मुष्ककादिर्वत्सकादिर्मुस्तादिः शीतञ्च महाकषायो वल्लीकण्टकपञ्चमूले च श्लेष्मशमनानीति।

कफशामक द्रव्य—शीतशिव (कर्पूर या सेन्धा नमक) तथा अन्यों के मत से शीत=कपूर और शिव=धतूरा, सौंफ, चीढ, देवदारु, रास्ना, हिङ्गौट, सातला (थूहर विशेष),

१. मधुकादीनि प्रायोगिके स्वास्थ्यवृत्तिके धूमे योगमर्हन्तीति इन्दुः। २. "तीक्ष्णानि शिरोविरेचनद्रव्याणि हैमवतीदन्त्यादीनि" इतीन्दुः।

१. शीतशिवः कर्पूर इति डल्हनः। शीतशिवं सैन्धवलवणम् इति राजवल्लभनिघण्टुः।

सुमन (जाति), कटेरी, कलिहारी, हस्तिकर्ण (पलाश विशेष), मूंज, सुगन्धिवाला आदि तथा आगे कहे जानेवाले आरग्वधादि-असनादि-अर्कादि-सुरसादि-मुष्ककादि-वत्सकादि-मुस्तादि इन गणों की ओषधियां, शीतघ्न महाकषाय (चरक सूत्र अ० ४ गद्य ४२), पूर्ववर्णित वल्लिपञ्चमूल तथा कण्टकपञ्चमूल के द्रव्य ये सब कफ के शमन करनेवाले हैं।

भवति चात्र—

समीक्ष्य दोषदूष्यादीनमी वर्गाः सुयोजिताः।
सर्वामयजयायालं जायन्ते नियतात्मनाम् ॥

इत्यष्टाङ्गसंग्रहसूत्रस्थाने शोधनादिगणसंग्रहो नाम चतुर्दशोऽध्यायः।

विचारपूर्वक योजना की आवश्यकता—ध्यान रहे कि आहार-विहारादि द्वारा पथ्य से रह कर अपनी आत्मा को वश में रखनेवाले मनुष्यों के लिए दोष और दूष्यादिका भलीभांति विचार कर प्रयोग करने के लिए इन उपर्युक्त वर्गों की योजना की गई है। इनको विचारपूर्वक प्रयुक्त करने से ये समस्त व्याधियों को जीतने में पर्याप्त होते हैं। सारांश यह कि विचारपूर्वक इनके प्रयोग करने से अवश्य समस्त रोगोंका नाश हो सकता है।

इति वाग्भटाचार्यकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाख्यहिन्दी-व्याख्यायां शोधनादिगणसंग्रहो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

# अथ पञ्चदशोऽध्यायः।

अथातो महाकषायसंग्रहमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

महाकषायसंग्रह—अब जिसमें महाकषायों का संग्रह किया गया है, उस महाकषायसंग्रह नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि आत्रेयादि महर्षियों ने पहले किया है।

आनन्त्यादौषधानामामयानां चानन्ता एव कषायाः। ये तु सुतरामुपयोगवन्तः प्रकर्षवर्तिनो वा ते जीवनीयादिसंज्ञाः प्रत्येकं दशकषायसंयोगात्पञ्चचत्वारिंशन्महाकषाया वक्ष्यन्ते। यत्प्रतिबोधार्थमेव[1] मन्दबुद्धीनाम्। बुद्धिमतामुदाहरणमात्रदर्शनार्थम्[2]। शक्यं हि बुद्धिमद्भिः स्वादुशीतस्निग्धादीन् जीवन्त्यादिषु साधारणान् गुणानालोच्य क्षीरेक्षुद्राक्षाऽक्षोडविदारीकन्दादिष्वपि तद्गुणेषु जीवनीयादित्वमवधारयितुं यथोक्तानुसरणमेव तु श्रेयो मन्दबुद्धेरिति। व्यस्ताश्च ते चत्वारि शतानि पञ्चाशदधिकानि तदभिधान्येव। यद्यपि च तानि तान्येव द्रव्याणीति द्रव्यसंकरः कषायेषु तथाऽपि न संज्ञाविरोधः। एकस्यापि बहुकार्यनिर्वर्तनात्[3]। तत्र लवणवर्ज्या रसाः कल्पनायां कषाया इत्युच्यन्ते। तद्योनित्वात्। लवणे तु[1] निर्यासादिकल्पनानामसम्भवः। पृथगुपयोगोपकाररहितत्वाच्च नैरर्थ्यकमिति।

महाकषायों के कहने का उद्देश—ओषधियों एवं रोगों के अनन्त (असंख्य) रहने से कषाय भी अनन्त हैं तथापि जो ओषधियाँ वस्तुतः उपयोगिनी एवं प्रकर्षवती हैं उन्ही की महर्षियों ने गणों में विभक्त कर 'जीवनीय' आदि संज्ञा की है। प्रत्येक कषाय में दस दस कषायद्रव्यों का संयोग होने से ४५ महाकषाय कहे जायेंगे। इन ४५ महाकषायोंका कथन कुल केवल मन्दबुद्धिवालों के समझने के लिए है और बुद्धिमानों के लिए तो केवल उदाहरणमात्र दिखाने के लिए है क्यों कि बुद्धिमान् लोग जीवन्ती आदि गणों के मधुर, शीत, स्निग्धादि साधारण गुणों की आलोचनाकर दूध, ईख, दाख, अखरोट, विदारीकन्द आदि के गुणों में भी जीवनीयादि गुणत्व का विचार कर सकते हैं परन्तु मन्दबुद्धिवालों का कल्याण तो जैसे कहे गए हैं उन गणों का अनुसरण करने में ही है। यदि एक एक गण के दस दस द्रव्यों में से एक एक द्रव्य का पृथक् २ कषाय मान लें तो वे उसी जीवनीयादि संज्ञावाले चार सौ पचास कषाय होंगे। यद्यपि वह का वह द्रव्य कई कषायों में आने से जैसे कि गुडूची का नाम एक कषाय में आया है, त्यों ही दूसरे भी किसी कषाय में गुडूची का नाम आया है, इससे द्रव्य संकर अवश्य होता है तथापि संज्ञा-विरोध नहीं होता। इस लिए कि एक ही द्रव्य अनेक कार्यों का करनेवाला होता है।

यहां षड्रसों में से एक लवण रस का परित्याग करके शेष पांच रसवाले ही कल्पना में कषाय कहे गए हैं क्यों कि एक लवण रसवर्जित शेष पांच रस ही कषाययोनि (कषायों के निष्पन्न करनेवाले) हैं। कषायों में लवण रस के परित्याग का कारण यही है कि लवण रस में निर्यासादि (निर्यास, छाल, पत्र, पुष्पादि) का अभाव है। इतना ही नहीं, अकेले लवण रस के कषाय का उपयोग उपकाररहित होने से वह निरर्थक ही ठहरता है। इसी लिए कषायों में लवण रस का समावेश नहीं है।

विशेष वक्तव्य—वाग्भट चरक का अनुगामी है। उसने महर्षि आत्रेय के कथन का यत्र तत्र संमान किया है परन्तु यहां महाकषायों के विषय में चरक से वाग्भट का मतभेद दिखाई दे रहा है। चरक ने पचास महाकषाय कहे हैं परन्तु वाग्भट महाकषायों की संख्या ४५ ही कहते हैं। वस्तुतः यह मतभेद नहीं है किन्तु केवल हमारा भ्रम है। वमन-विरेचनादि गुणवाले ऐसे पांच कषायों के द्रव्यों का अन्तर्भाव वाग्भट ने शोधनादिगणसंग्रह में करके ४५ शेष कषायों को यहां कहा है। सारांश, चरक के ५० महाकषाय वाग्भटरचित इस अष्टाङ्ग संग्रह में भी आ चुके हैं।

जीवन्ती काकोल्यौ द्वे मेदे मुद्गमाषपर्ण्यौ च[2]।

१. तत्प्रतिबोधार्थमेव। २. प्रदर्शनार्थम्। ३. निर्वर्तनत्वात्। इति पाठा०।

१. लवणस्य यतो। इति पाठान्तराणि। २. 'ते च जीवनादयो महाकषायाः संख्यया पञ्चचत्वारिंशत्। चरके तु षड्विरेचनशताश्रितीये पञ्चाशदुक्ताः। तेभ्यो वमनोपयोगादयः पञ्चात्र न संगृहीताः। तद्द्रव्याणां शोधनादिगणसंग्रहोक्तवमनाद्युपयोगिष्वेवान्तर्भावात्' इतीन्दुः।

ऋषभकजीवकमधुकं चेति गणो जीवनीयाख्यः ॥ १ ॥
वाट्या बला पयस्या काकोल्याविक्षुवाजिगन्धे च ।
क्षीरिणिराजक्षवके भारद्वाजी च बृंहणीयोऽयम् ॥ २ ॥
हैमवती चिरबिल्वं मुस्ता कुष्ठं वचा हरिद्रे च ।
चित्रककटुकातिविषा वर्गोऽयं लेखनीयाख्यः ॥ ३ ॥
अर्कैरण्डौ चित्राचित्रकचिरबिल्वशङ्खिनीसरलाः ।
हेमक्षीरी कटुका वह्निमुखी भेदनीयोऽयम् ॥ ४ ॥
मधुमधुकपृश्निपर्णीकट्फललोध्रप्रियङ्गुधातक्यः ।
अम्बष्ठकी समङ्गा मोचरसश्चेति संधानः ॥ ५ ॥
हिङ्गुमरिचाम्लवेतसदीप्यकभल्लातकास्थिसंयोगात् ।
वर्गः सपञ्चकोलो निर्दिष्टो दीपनीयोऽयम् ॥ ६ ॥
ऐन्द्र्यतिरसा पयस्या ऋष्यप्रोक्तास्थिराबलाऽतिबलाः ।
इति बल्यो दशकोऽयं हयगन्धा रोहिणी ऋषभः ॥ ७ ॥
चन्दनतुङ्गपयस्यासितालतामधुकपद्मकोशीरम् ।
वर्ण्यो गणोऽयमुदितो मञ्जिष्ठासारिवासहितः ॥ ८ ॥
हंसपदीबृहतीद्वयमृद्वीकासारिवेक्षुमूलानि ।
कैडर्यमधुककृष्णाः सविदार्यः कण्ठजननानि ॥ ९ ॥

जीवनीय गण—**जीवन्ती ( डोडी का शाक ), काकोली क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, ऋषभक जीवक और मुलेठी ये दस जीवनीय गणकी ओषधियां हैं, अर्थात् इनसे जीवन ( आयु ) की वृद्धि होती है।**

बृंहणीय गण—महाबला, बला, ( खिरेटी ), विदारीकन्द, काकोली, क्षीरकाकोली, ईख, असगन्ध, दूधी छोटी और बड़ी, बनकपास ये दस बृंहणीय गण की ओषधियां शरीरको पुष्ट करनेवाली हैं।

लेखनीय गण—स्वर्णक्षीरी, करञ्जआ, नागरमोथा, कूट, वच, हल्दी, दारुहल्दी, चित्रक, कुटकी और अतीस ये दस लेखनीय गणके द्रव्य हैं। ये शरीर में से दोषों को खुरच कर निकालनेवाला स्थूलतानाशक ( Liquefacient ) गण है।

भेदनीय गण—आक, एरण्ड, दन्ती, चित्रक, कक्षा, यव-तिक्ता ( सत्यानाशी ), निशोत, स्वर्णक्षीरी ( रेवाचीनी ), कुटकी और कलिहारी ( वह्निमुखी ) ये दस भेदनीय गण ( Purgative ) के द्रव्य शरीर में के मल को तोड़-फोड़ कर बाहर निकालनेवाले हैं।

सन्धानीय गण—**शहद, मुलेठी, पिठवन, कायफल, लोद, प्रियंगु, धातकी, पाढ़, छोटी बड़ी माँई, मजीठ और मोचरस ये दस सन्धानीय ( टूटी हड्डी को जोड़नेवाले ) पदार्थ हैं।**

दीपनीय गण—**हींग, स्याहमिरच, अमलबेत, अजवायन, भलावे की गिरी, पञ्चकोल ( पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक और सोंठ ) ये दस दीपनीय गण अर्थात् जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला ( Stomachic ) है।**

बल्य गण—**इलायची, मूर्वा या सतावर, क्षीरकाकोली, कौंच, शालपर्णी, खिरेटी, कंघी, असगन्ध, खैरसार और ऋषभक ये दस बल्य गण ( Tonic ) के द्रव्य हैं।**

वर्ण्य गण—**चन्दन, केसर, क्षीरकाकोली, श्वेतदूर्वा, प्रियंगु, मुलेठी, पद्माख, खस, मजीठ और अनन्तमूल ये दस वर्ण्य गण के द्रव्य हैं। यह शरीर के चर्मको सुन्दर बनानेवाला ( Cosametic ) है।**

कण्ठजनन गण—**हंसराज, छोटी और बड़ी कटेरी, दाख, अनन्तमूल, ईखकी जड़, कायफल, मुलेठी, पीपल और विदारीकन्द ये दस कण्ठजनन अर्थात् कण्ठको कोयलके समान करनेवाले हैं।**

वृक्षाम्लबदरदाडिमकुवलाम्राम्रातलिकुचकरमर्दम् ।
हृद्यं समातुलुङ्गाम्लवेतसं विद्धि वर्गमिमम् ॥१०॥
नागरचविकाचित्रकविडङ्गमूर्वाऽमृतावचामुस्ताः ।
सहपिप्पलीपटोलास्तृप्तिघ्नोऽयं गणः प्रथितः ॥११॥
कुटजफलबिल्वचित्रकमहौषधप्रतिविषावचाचविकाः।
धन्वयवासं पथ्या दारुहरिद्रा गणोऽयमर्शोघ्नः ॥१२॥
खदिरामलकारुष्करनिशाऽभयासप्तपर्णकरवीराः ।
कुष्ठघ्नाश्चतुरङ्गुलविडङ्गजातिप्रवालाश्च ॥१३॥
नलदकृतमालचन्दनसर्षपघननिम्बकुटजमधुकानि ।
कण्डूं दारुहरिद्रा सनक्तमालानि निघ्नन्ति ॥१४॥
अक्षीबमरिचकेम्बुकविडङ्गकाण्डीरकिणिहिनिर्गुण्ड्यः।
घ्नन्ति क्रिमीन् श्वदंष्ट्राविषाखुपर्ण्यस्तथा न चिरात् ॥१५॥
मञ्जिष्ठाश्लेष्मातकरजनीसुवहाशिरीषपालिन्द्यः ।
सैलाचन्दनकतकाः सखिन्दुवारा विषं घ्नन्ति ॥१६॥
शालिकुशकाशषष्टिकवीरणदर्भेक्षुबालिकेचूणाम् ।
तद्वद्गुन्द्रोत्कटयोर्मूलमलं स्तन्यजननाय ॥१७॥
पाठानागरसुरतरुघनामृतासारिवेन्द्रयवमूर्वाः ।
कटुका किराततिक्त वर्गोऽयं स्तन्यशुद्धिकरः ॥१८॥

हृद्य गण—**वृक्षाम्ल ( तिन्तिडीक या कोकम ), बेर, अनार, कुवल ( पेमजी बेर ), आम, आम्रातक ( अम्बाड़ा ), बड़हल, करौन्दा, बिजोरा और अमलबेत ये दस द्रव्य हृद्यगण कहलाते हैं। ये रुचिकारक तथा हृदय के लिए प्रिय हैं।**

तृप्तिघ्न गण—सोंठ, चव्य, चित्रक, बायविडङ्ग, मूर्वा, गिलोय, वच, नागरमोथा, पिप्पली और पटोल ये दस तृप्तिघ्न अर्थात् कफके दोष से उत्पन्न तृप्ति ( खाने की अरुचि ) को दूर करनेवाले हैं।

अर्शोघ्न गण—**इन्द्रजव, बेल, चित्रक, सोंठ, अतीस, बच, चव्य, धमासा, हरड़ और दारुहल्दी ये दस अर्शोघ्न अर्थात् बवासीरके नाशक हैं।**

कुष्ठघ्न गण—**खदिर ( खैर-कत्था ), आमला, भिलावा, हल्दी, हरड़, सतौना, कनेर, अमलतास, बायविडङ्ग तथा चमेली के कोमल पत्ते ये दस कुष्ठघ्न अर्थात्, कोढ़ के नाश करनेवाले हैं।**

कण्डूघ्न गण—**जटामासी, अमलतास, चन्दन, सरसों, नागरमोथा, नीम, कुडा या इन्द्रजव, मुलेठी, दारुहल्दी,**

१. भेदनीयानि । २. वह्निमुखी=लाङ्गलीति हेमाद्रिः । ३. 'अम्बष्ठकी=माचिका' इत्यपि हेमाद्रिः ।

१. "हृद्यं समातुलुङ्गं विद्धि तथा साम्लवेतसं वर्गम् ।" इति हेमाद्रिसंमतः पाठः । २. केबुक । ३. गण्डीर । इति पाठभेदः

करंजुआ ( कञ्जा ) ये दस कण्डूघ्न हैं अर्थात् ये खाज, दाद, पामा आदि के नाशक हैं ।

कृमिघ्न गण—सहँजना, मिरच श्याह, केम्बुक ( शालिख या सुपारी ), वायविडङ्ग, करेला, अपामार्ग, निर्गुण्डी, गोखरू, अतीस और उन्दिरकर्णी ये दस कृमिघ्न ( बीसों प्रकार के कृमि रोग के नाशक ) हैं अर्थात् ( Anthelmiutic ) हैं ।

विषघ्न गण—मजीठ, लिहसौड़ा, हल्दी, निशोत, सिरस, काली निशोत, इलायची, चन्दन, निर्मली तथा निर्गुण्डी ये दस विषको दूर करनेवाले अर्थात् ( Antitoxic ) हैं ।

स्तन्यजनन गण—शालि चावल, कुश, काश, साठी चावल, वीरण ( सुगन्धितृण विशेष ), डाभ, खस, ईख, गोंदी और उत्कट ( ऊंटकटारा मूल ) ये स्तन्यजनन-स्त्रियों के स्तनों में दूध उत्पन्न करनेवाले ( Galactagogul ) है ।

स्तन्यशुद्धिकर गण—पाढ, सोंठ, देवदारु, नागरमोथा, गिलोय, अनन्तमूल, इन्द्रजव, मूर्वा, कुटकी और चिरायता ये दस स्तन्यशुद्धिकर ( स्त्रियों के दूषित दूध को शुद्ध करनेवाले ( Milk Improver ) हैं ।

मेदे काकोलीद्वयवृक्षरुहाजीवकर्षभकुलिङ्गाः ।
शुक्रजननो गणोऽयं सहजटिलाशूर्पपर्णीभिः ॥१९॥
कुष्ठैलवालुकटफलकाण्डेक्षुव्धिफेनकोशीरैः ।
वसुकेक्षुरकैः शुक्रं शुद्ध्यत्सकदम्बनिर्यासैः ॥२०॥
द्राक्षाकाकोलीद्वयमधुपर्णीमधुकजीवकविदार्यः ।
स्नेहोपगाः समेदाजीवन्तीशालिपर्णीकाः ॥२१॥
सौभाञ्जनकपुनर्नवबृश्चीवकुलत्थमाषबदराणि ।
स्वेदोपगानि विद्यात्सयवतिलार्कोरुबूकानि ॥२२॥
लाजाऽऽम्रबदरदाडिमयवषष्टिकमातुलुङ्गसेव्यानि ।
जम्ब्वाम्रपल्लवानि च वमिनिग्रहणानि मृत्स्ना च ॥२३॥
नागरधन्वयवासकबालकपर्पटकचन्दनगुडूच्यः ।
भूनिम्बघनपटोलीकुस्तुम्बयस्तृषं हन्ति ॥२४॥
बृहतीद्वयवृक्षरुहापुष्करमूलाभयाकणाश्रृङ्ग्यः ।
हिध्मां निघ्नन्ति शटी दुरालभा बदरबीजं च ॥२५॥
श्यामाऽनन्ता पद्मा कट्वङ्गं पद्मकेसरं लोध्रम् ।
धातुकिकुसुमसमङ्गामोचरसाम्रास्थिविड्ग्रहणम् ॥२६॥
जम्बूसल्लकिमधुकं नीलोत्पलकच्छुरातिलश्याह्वम् ।
भृष्टा च मृत्पयस्या सशाल्मली विड्विरजनानि ॥२७॥

शुक्रजनन गण—मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, वन्दा या विदारीकन्द, जीवक, ऋषभक, गवरैया पक्षी का मांस, जटामासी, मुद्गपर्णी या माषपर्णी ये दस शुक्रजनन अर्थात् वीर्य के उत्पन्न करनेवाले ( Sqermatopoietic ) गण के पदार्थ हैं ।

शुक्रशुद्धिकर गण—कूट, सुगन्धवाला, कायफल, सुपेत ईख, काश, समुद्रफेन, खस, पुनर्नवा, तालमखाना और कदम्ब वृक्षका गोंद ये दस पदार्थ शुक्रशुद्धिकर ( वीर्य को शुद्ध करने वाला Semen Improver ) गण कहलाता है ।

स्नेहोपग गण—द्राक्षा, काकोली, क्षीरकाकोली, गिलोय, मुलेठी, जीवक, विदारीकन्द, मेदा, जीवन्ती और शालिपर्णी ये दस स्नेहोपग शरीरको स्निग्ध ( मृदु ) बनानेवाले ( Demulent) हैं ।

स्वेदोपग गण—सहँजना, पुनर्नवा लाल, पुनर्नवा श्वेत, कुलथी, उड़द, बेर, जौ, तिल, आक और एरण्ड ये दस पसीना लानेवाले ( Diaphoretic ) हैं ।

वमिनिग्रह गण—चावल का लावा, आम, बेर, अनार, जौ, साठी चावल, बिजौरा, खस, जामुन, आम के पत्ते और मृत्तिका ये वमिनिग्रह अर्थात् वमन को रोकनेवाला ( Anti Emetic ) गण है ।

तृषाहर गण—सोंठ, धमासा, खस, पित्तपापड़ा, चन्दन, गिलोय, चिरायता, नागरमोथा, परवल और धनियाँ ये दस तृषाहर ( प्यास को दूर करनेवाला ) गण है । इसको अँगरेजी में ( Frigorific ) कहते हैं ।

हिध्माहर गण—छोटी और बड़ी दोनों कटेरी, वृक्षरुहा ( किसी भी वृक्ष का बांदा या आकाशबेल ), पोहकरमूल, हरड़, पीपल, काकड़ासिंगी, कचूर, धमासा तथा बेर की गुठली यह हिचकी का नाश करने वाला ( Antisingultus ) गण है ।

विड्ग्रहण गण—प्रियङ्गु, अनन्तमूल, भारङ्गी, अरलू, कमल के पुष्पकी केसर, लोद, धावड़ी के फूल, मजीठ, मोचरस, आमकी गुठली ये दस मल (पुरीष) को बांधनेवाले ( Aslringent ) हैं ।

विड्विरजन गण—जामुन, सालई, मुलेठी, नील कमल, केवांच बीज, तिल, बेलकी गिरी, भुनी हुई मृत्तिका, क्षीरकाकोली, मोचरस ये दस विड्विरजन अर्थात् मल की रंगत को ठीक करनेवाले-पुरीषकी शुद्धि करनेवाले हैं ।

जम्ब्वाम्रोदुम्बरवटकपीतनप्लक्षपिप्पलाश्मन्तम् ।
भल्लातसोमवल्कं मूत्रग्रहणाय निर्दिष्टम् ॥ २८ ॥
कमलनलिनकुमुदमधुकसौगन्धिकधातकीलताकुसुमम् ।
मूत्रं नयति विरागं सोत्पलशतपत्रपुण्डरीकं च ॥२९॥
वृक्षादनीश्वदंष्ट्रादर्भेत्कटवसुकवशिरकुशकाशाः ।
मूत्रं विरेचयेयुरुन्द्रा पाषाणभेदश्च ॥ ३० ॥
द्राक्षाऽऽमलकपुनर्नवबृश्चीवदुरालभाऽभयाकृष्णाः ।
कासं घ्नन्ति सशृङ्गी तामलकी कण्टकारी च ॥३१॥
चण्डाम्लवेतसशटीतामलकीहिङ्गुसुरसजीवन्त्यः ।
पुष्करमूलैलाऽगुरु वर्गोऽयं श्वासशमनाय ॥ ३२ ॥
द्राक्षापीलुपरूषकमञ्जिष्ठासारिवाऽमृतापाठाः ।
त्रिफला चेति गणोऽयंज्वरस्य शमनाय निर्दिष्टः॥३३॥
दाडिमफल्गुपरूषकपियालयवषष्टिकेक्षुबदराणि ।
श्रमनाशनानि विद्याद्द्राक्षाखर्जूरसहितानि ॥ ३४ ॥
पद्मकलाजोशीरं मधुकोत्पलशारिवासितोदीच्यम् ।
काश्मर्यफलं चन्दनमेषगणो दाहहा प्रोक्तः ॥ ३५ ॥
नतनागरागुरुवचाधान्यकभूतीकपिप्पलीव्याघ्रयः ।
शीतं शमयन्त्यचिरात्स्योनाकः साग्निमन्थश्च ॥३६॥

मूत्रग्रहण गण—जामुन, आम, गूलर, बड़, कपीतन ( प्लक्ष विशेष ), पाकर, पीपल वृक्ष, अश्मन्तक, भिलावा,

तथा कायफल ये दस सूत्रग्रहण अर्थात् बहुमूत्र को रोकनेवाले ( Anti uretic ) हैं।

मूत्रविरजन गण—कमल, नीलोफर, कुमोदिनी, मुलेठी, रक्तकमल, धाय के फूल, फूल प्रियङ्गु, उत्पल-शतपत्र-पुण्डरीक ( तीनों कमल के भेद ) ये दस मूत्र-विरजन अर्थात् दूषित मूत्र को शुद्ध करने वाले हैं।

मूत्रविरेचन गण—वृक्ष का बांदा, छोटे गोखरू, डाभ, इत्कट ( खरपत्र ), गजपीपल, सांभर नमक, कुश, काश, गोंदी और पखानभेद ये दस मूत्रविरेचन अर्थात् पेशाब को साफ लानेवाले ( Diuretic ) हैं।

कासघ्नगण—दाख, आमला, साटी ( पुनर्नवा-इटसिट ), श्वेत पुनर्नवा, धमासा, हरड़, पीपल, काकड़ासिंगी, भूम्यामलकी और कटेरी ये दस कासघ्न अर्थात् खांसी को दूर करनेवाले ( Anti Coughic ) हैं।

श्वासशामक गण—चोरपुष्पी, अमलवेत, कचूर, भूम्यामलकी, सुरस ( तुलसी ), हींग, जीवन्ती, पुष्करमूल, इलायची और अगर ये दस श्वासशामक ( Anti Asthamatic ) हैं।

ज्वरशामक गण—द्राक्षा, पीलु, फालसा, मजीठ, सारिवा, गिलोय, पाढ, हरड़, बहेड़ा और आंवला ये दस ज्वरशामक ( Anti Febric ) हैं।

श्रमनाशक गण—दाड़िम, गूलर, फालसा, चिरौंजी, जौ, साठी चावल, ईख, बेर, दाख और खजूर ये दस श्रमनाशन-थकावटको दूर करनेवाले ( Refrigent ) हैं।

दाहशामक गण—पद्माख, धान की खील, खस, मुलेठी, नीलोफर, सारिवा, मिश्री ( शर्करा ), सुगन्धवाला, खम्भारी का फल और चन्दन ये दस दाहशामक अर्थात् बढ़े हुए संताप को दूर करनेवाले हैं।

शीतशामक गण—तगर, सोंठ, अगर, वच, धनियाँ, अजवायन, पीपल, कटेरी, अरलू तथा अरणी ये दस शीतशमन ( Anlialgide ) ठण्ड के हरनेवाले हैं।

तिन्दुकपियालबीजकसप्तच्छदखदिरकदरबदराणि ।
अरिमेदवाजिकर्णौ ककुभश्चोदर्दशमनानि ॥ ३७ ॥
काकोल्येला सेव्यंनिदिग्धिके शालिपृश्निपर्ण्यौ च ।
घ्नन्त्यङ्गमर्दमचिराच्चन्दनमधुकौ रुबूकं च ॥ ३८ ॥
दीप्यकमरिचाजाजीगण्डीरं साजगन्धमथ शूलम् ।
शमयति सपञ्चकोलं शोफं दशमूलमाढ्यं च ॥
मधुमधुकलाजगैरिकफलिनीमोचरसमृत्कपालानि ।
संस्थापयन्ति रुधिरं रुधिरं च सशर्करं रोध्रम् ॥४१॥
शैलेलवालुकटफलमोचरसाशोकपद्मकशिरीषम् ।
स्थापयति वेदनामथ सहतुङ्गकदम्बविदुलं च ॥४२॥
कैडर्यहिङ्गुचोरकपलङ्कषाशोकरोहिणिवयःस्था ।
पूत्यरिमेदो जटिला गोलोमीवचाश्च संज्ञादाः ॥४३॥
ऐन्द्री दूर्वामोघा विश्वक्सेनाव्यथाशिवाऽरिष्टा ।

१. कुटज इत्यपि पाठः।

ब्राह्मी सवाटचपुष्पी शतवीर्यास्थापयेद्गर्भम् ॥ ४४ ॥
अमृता पथ्या धात्री जीवन्ती श्रेयसी स्थिरायुक्ता ।
मण्डूकपर्ण्यतिरसा स्थापयति पुनर्नवा च वयः ॥४५॥

उदर्दशामक गण—तेंदुआ का फल, चिरौंजी, विजयसार, सतौना, खैर, श्वेत खैर, बेर, गन्धा खैर, सालवृक्ष, अर्जुन वृक्ष ये दस उदर्दशमन अर्थात् कोठ, छपाका ( शीतपित्त ) तथा चमड़ी पर होनेवाले खाज सहित बड़े बड़े ददोरों को शान्त करनेवाले ( Curing urticaria ) हैं।

अङ्गमर्दशमन गण—काकोली, इलायची, खस, छोटी बड़ी दोनों कटेरी, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, चन्दन, मुलेठी और एरण्ड ये दस अङ्गमर्दन ( हड़फूटन ) को दूर करनेवाले ( Antispasmodic ) हैं।

शूलघ्न गण—अजवायन, स्याहमिरच, जीरा, राई, अजमोदा, पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक और सोंठ ये दस पेट में के एवं पसवाड़े के शूलरोग को दूर करनेवाले हैं।

शोफघ्न तथा ऊरुस्तम्भघ्न गण—शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, छोटी और बड़ी दोनों कटेरी, छोटे गोखरू, बेल, अरणी, अरलू, खम्भारी, पाटला इन दस के मूल जो कि दशमूल कहलाता है, शोथ ( सूजन ) को दूर करनेवाला है और यही ऊरुस्तम्भ ( आढ्य ) को दूर करनेवाला है।

रुधिरास्थापन गण—शहद, मुलेठी, धान का लावा, गेरू, प्रियंगु, मोचरस, मिट्टी की ठीकरी, पुराना आमला, शर्करा और लोद ये दस रक्तास्थापन अर्थात् बहते हुए रक्त को रोकनेवाले ( Styptic ) हैं।

वेदनास्थापन गण—शिलाजीत, सुगन्धवाला, कायफल, मोचरस, अशोक, पद्माख, सिरस, नागकेशर, कदम्ब और वेत ये दस होती हुई वेदना या पीड़ा को रोकनेवाले ( Ansdyne ) हैं।

संज्ञाकरण गण—बकायन, हींग, चोरक, गूगल, कुटकी, ब्राह्मी, गन्धा खैर, जटामासी, दूर्वा और बच ये दस संज्ञाद ( मूर्छा-बेहोशी को दूर करनेवाले ) हैं। इनको एलोपैथीवाले Restorative कहते हैं।

गर्भस्थापन गण—ऐन्द्री[1] ( बड़ी इलायची या छोटी इलायची), दूर्वा, पाटला, वाराहीकन्द, आमला, हरड़, गंगेरन, ब्राह्मी, खिरेटी और शतावरी ये गर्भास्थापक ( गर्भाधान कराने वाले Aneobolic ) हैं।

विशेष वक्तव्य—इस गर्भस्थापन की दस ओषधियों में पहली ओषधि 'ऐन्द्री' है जिसका अर्थ हमने कोषों से 'बड़ी या छोटी इलायची' लिखा है परन्तु विपरीत इसके चक्रदत्तादि प्राचीन टीकाकारों ने इसको 'इन्द्रवारुणी-गोरक्षकर्कटी' लिखा है और साथ में यह भी कहा है कि यह प्रभाव से गर्भास्थापन करती है परन्तु हम तो आज तक यह जानते और अनुभव करते आए हैं कि 'इन्द्रवारुणी' गर्भपात में अपना बड़ा प्रभाव

१. ऐन्द्री पृथ्वेलायां सूक्ष्मैलायां चेति राजनिघण्टुः। ऐन्द्री इन्द्रवारुणीति चक्रः। ऐन्द्री गोरक्षकर्कटीति चरकोपस्कारे योगीन्द्रनाथसेनः।

रखती है। चक्रदत्तादि ने यह नहीं बताया कि किस प्रकार सेवन करने से यह इन्द्रवारुणी गर्भस्थापना में अपना प्रभाव दिखाती है। कुछ समझ में नहीं आता अतः इस बात को हम पाठकों एवं विज्ञ वैद्यों पर छोड़ देते हैं कि वे ही इस विषय में विचार करें।

वयःस्थापन गण—गिलोय, हरड़, आमला, जीवन्ती, श्रेयसी[1] (गजपीपल या पीढ़), शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, ब्राह्मी, शतावरी तथा पुनर्नवा ये दस वयःस्थापन करनेवाले (आयु को स्थिर करने या बढ़ानेवाले हैं।

इति नानाविधव्याधिविघातार्थमुदाहृताः ।
योगा रोगातुरवशात्कल्पयेत्तान् यथायथम् ॥

इत्यष्टाङ्गसंग्रहे महाकषायसंग्रहो नाम सूत्रस्थाने पञ्चदशोऽध्यायः।

इस प्रकार नाना प्रकार की व्याधियों को मिटाने के लिए उपर्युक्त योगों (महाकषायों) को उदाहरणरूपेण बताए हैं। वैद्य को चाहिये कि वह रोग से पीडित रोगी की अवस्था को देखकर इन महाकषायों की यथायोग्य कल्पना करे।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

# अथ षोडशोऽध्यायः ।

इसके पहले अध्यायमें असाधारणतया महाकषायों का वर्णन किया गया। अब आचार्य साधारणतया नाना प्रकार के द्रव्यगणों का वर्णन करते हैं।

अथातो विविधगणसंग्रहमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

विविधगणसंग्रहकथन—अब यहां से जिसमें विविध ओषधियों के गणों का संग्रह है ऐसे विविधगणसंग्रह नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियोंने किया है। यथा—

विदारिपञ्चाङ्गुलवृश्चिकाली-
वृश्चीवदेवाह्वयशूर्पपर्ण्यः ।
द्वे पञ्चमूले लघुजीवनाख्ये
कण्डूकरी गोपसुता त्रिपादी ॥
विदार्यादिरयं हृद्यो बृंहणो वातपित्तहा ।
शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्वश्वासकासहरो गणः ॥

विदार्यादिगण—विदारीकन्द, एरण्ड, वृश्चिकाली (वृश्चिकपत्रा[3] जिसके पत्ते को छूने से बिच्छू के डंकसी पीडा होती है), पुनर्नवा, देवदारु (हेमाद्रि के मत से देवाह्वय[2] अर्थात् सहदेवी और विश्वेदेवी), मुद्गपर्णी, माषपर्णी, लघुपञ्चमूल (शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी और छोटे गोखरू), जीवन पञ्चमूल[1] (शतावरी, काकोली, जीवन्ती, जीवक और ऋषभक), केवाञ्चबीज, सारिवा और हंसपदी यह विदार्यादिगण बृंहण (पुष्टिकारक), हृदय को बल देनेवाला, वातपित्तनाशक शोष (राजयक्ष्मा-क्षयरोग), गुल्म, अङ्गमर्द (देह की हड़फूटन), ऊर्ध्वश्वास और खांसी को दूर करनेवाला है।

सारिवोशीरकाश्मर्यमधूकशिशिरद्वयम् ।
यष्टीपरूषकं हन्ति दाहपित्तास्रतृड्गदान् ॥

सारिवादि गण—अनन्तमूल, खस, खम्भारी, महुआ, श्वेत चन्दन, रक्त चन्दन, मुलेठी और फालसा यह सारिवादि गण दाह, पित्तरक्त और तृष्णा रोग का हरनेवाला है।

पद्मकपुण्ड्रौ वृद्धितुगर्द्ध्यः-
शृङ्ग्यमृता दश जीवनसंज्ञाः ।
स्तन्यकरा घ्नन्तीरणपित्तं-
प्रीणनबृंहणजीवनवृष्याः ॥

पद्मकादिगण—पद्माख, पुण्डरिया, वृद्धि, वंशलोचन, ऋद्धि, काकड़ासिंगी, गिलोय, जीवनीय गणकी दस ओषधियां (जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती और मुलेठी) यह पद्मकादिगण स्त्रियोंके स्तनों में दूध की वृद्धि करनेवाला, ईरण अर्थात् वायु[2] तथा पित्त को हरनेवाला, तृप्तिकारक, पुष्टिकारक, आयुष्य को बढ़ानेवाला तथा वीर्य की वृद्धि करनेवाला है।

परूषकं वरा द्राक्षा कट्फलं कतकात्फलम् ।
राजाह्वं दाडिमं शाकं तृण्मूत्रामयवातजित् ॥

परूषकादि गण—फालसा, त्रिफला, दाख, कायफल, निर्मलीके बीज, राजाह्व (राजवृक्ष छोटा या बड़ा अमलतास A Short of Cassia-Cassia Fistula), अनार, शाक (सागवान के बीज) यह परूषकादि गण तृष्णा, मूत्ररोग और वायु को जीतनेवाला है।

अञ्जनं फलिनी मांसी पद्मोत्पलरसाञ्जनम् ।
सैलामधुकनागाह्वं विषान्तर्दाहपित्तनुत् ॥

अञ्जनादिगण—अञ्जन (दोनों प्रकार के अञ्जन यथा-काला स्रोतोञ्जन और श्वेत सौवीराञ्जन), प्रियङ्गु, जटामांसी, नीलकमल (नीलोफर), कुमोदिनी, रसोत, इलायची, मुलेठी और नागकेशर यह अञ्जनादि गण विष, अन्तर्दाह और कुपित पित्त का नाशक है।

पटोलकटुरोहिणी चन्दनं मधुस्रवगुडूचिपाठाऽन्वितम् ।
निहन्ति कफपित्तकुष्ठज्वरान् विषं वमिमरोचकं कामलाम् ॥

पटोलादिगण—परवल, कुटकी, श्वेत चन्दन, मूर्वा, गिलोय और पाढ़ यह पटोलादि गण कफ, पित्त, कोढ़, ज्वर, विष, वमन, अरोचक तथा कामला रोग का नाश करनेवाला है।

१. "श्रेयसी करिपिप्पल्यामभयापाठयोरपि।" इति मेदिनी।
२. 'देवाह्वय' इति हेमाद्रिसंमतपाठः। ३. 'वृश्चिकपत्रा' इति हेमाद्रिः।

१. 'अभीरुवीराजीवन्तीजीवकर्षभकैः स्मृतम्। जीवनाख्यमि'ति।
२. ईरण वायुः, 'ईर-गतौ' इति लोकशास्त्रस्मरणात्।

गुडूची पद्मकारिष्टधान्यकारक्तचन्दनम् ।
पित्तश्लेष्मज्वरच्छर्दिदाहतृष्णाघ्नमग्निकृत् ॥

गुडूच्यादिगण—गिलोय, पद्माख, नीम, धनियाँ तथा रक्तचन्दन यह गुडूच्यादि गण पित्तकफज्वर, वमन, दाह और तृष्णा का नाश करता तथा अग्नि को प्रदीप्त करता है।

आरग्वधेन्द्रयवपाटलिकाकतिक्ता-
निम्बामृतामधुरसास्रुववृक्षपाठाः ।
भूनिम्बसैर्यकपटोलकरञ्जयुग्म-
सप्तच्छदाग्निसुषवीफलबाणघोण्टाः ॥
आरग्वधादिर्जयति च्छर्दिकुष्ठविषज्वरान् ।
कफं कण्डूं प्रमेहं च दुष्टव्रणविशोधनः ॥

आरग्वधादिगण—अमलतास, इन्द्रजव, पाटलिका (वसन्तदूती-गुलाब), काकतिक्ता (काकमाची), नीम, गिलोय, मूर्वा, विकङ्कत (स्रुववृक्ष Flacourtia Ramontchi Var Sapida 'कण्टाई' इति वैद्यकशब्दसिन्धुः), पाढ़, चिरायता, पियाबांसा, परवल, करञ्जयुग्म (लताकरञ्ज=करञ्जुवा और पूतिकरञ्ज=वृक्षकरञ्ज), सतौना (सप्तपर्ण), चित्रक, करेला या स्याह या कालीजीरी (सुषवी), त्रिफला, कटसरैया, घोण्टा (बेर अथवा सुपारी), यह आरग्वधादि छर्दि, कोढ़, विष, ज्वर, कफ, कण्डू (खाज-खुजली) तथा प्रमेह का नाश करने वाला और दुष्ट व्रण को भली भाँति शुद्ध करनेवाला है। पाठान्तर से मेद और उदररोग को विशोधन (हरनेवाला) है।

असनतिनिशभूर्जश्वेतवाहप्रकीर्याः
खदिरकदरभण्डीशिंशिपामेषशृङ्ग्यः ।
त्रिहिमतलपलाशा जोङ्गकः शाकशालौ
धवक्रमुककलिङ्गच्छागकर्णाश्वकर्णाः ॥
असनादिर्विजयते श्वित्रकुष्ठकफक्रिमीन् ।
पाण्डुरोगं प्रमेहं च मेदोदोषनिबर्हणः ॥

असनादि गण विजयसार वृक्ष, तिनस वृक्ष, भोजपत्र वृक्ष, अर्जुन वृक्ष, पूतिकरञ्ज वृक्ष, खैर वृक्ष, गन्धाखैर वृक्ष, भण्डी (सिरस वृक्ष, अरुणदत्त-हेमाद्रि के मत से किन्तु डल्लन के मत से निशोत श्वेत), शीशमवृक्ष, मेंढासिंगी, तीन प्रकार के हिम (चन्दन), ताड़वृक्ष, ढाकवृक्ष, अगर, सागवान, सालवृक्ष, धववृक्ष, सुपारी का वृक्ष, इन्द्रजव, सर्ज और सालविशेष यह असनादि गण श्वित्र (सुपेत कोढ़), कफ, क्रमिरोग, पाण्डुरोग, प्रमेह और मेद (स्थूलता) का नाशक है।

वरणसैर्यकयुग्मशतावरी-दहनमोरटबिल्वविषाणिकाः ।
द्विबृहतीद्विकरञ्जजयाद्वय-बहलपल्लवदर्भरुजाकराः ॥
वरणादिः कफं मेदो मन्दाग्नित्वं नियच्छति ।
आढ्यवातं शिरःशूलं गुल्मं चान्तः सविद्रधिम् ॥

वरणादि गण—बरना (वरुण वृक्ष, अरुण के मत से तमाल किन्तु असंगत प्रतीत होता है), सैर्यक (रक्त और पीतपुष्प भेद से दोनों प्रकार की कटसरैया), सतावर, चित्रक, मूर्वा, बिल्व, काकड़ासिंगी, छोटी और बड़ी दोनों कटेरी, दोनों जाति के करञ्ज (लता करञ्ज=कञ्जा और पूतिकरञ्ज), दोनों जाति की जया अर्थात् अरणी और हरड़, दर्भ और हिन्ताल यह वरणादि गण कफ, मेदोरोग, मन्दाग्नि, आढ्यवात (ऊरुस्तम्भ), शिरःशूल, गुल्म और अन्तर्विद्रधि का नाश करता है।

ऊषकस्तुत्थकं हिङ्गुकासीसद्वयसैन्धवम् ।
सशिलाजतु कृच्छ्राश्मगुल्ममेदःकफापहम् ॥

ऊषकादि गण—ऊषक (खारी नमक, क्षारमृत्तिका या कल्लर), नीलाथोथा, हींग, दोनों प्रकारके कसीस (धातुज और पांशुज), सेन्धा नमक और शिलाजीत यह ऊषकादि गण मूत्रकृच्छ्र, पथरी (अश्मरी), बायगोला, मेद और कफ रोगों को दूर करनेवाला है।

वीरतरोऽरणिकौ नलगुण्ठौ मोरटदुण्डुकसैर्यकयुग्मम् ।
मुस्तकमञ्जरिकर्कशपत्रा मूत्रविरेककरो दशकश्च ॥
वर्गो वीरतराद्योऽयं हन्ति वातकृतान् गदान् ।
अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्राघातरुजाहरः ॥

वीरतरादिगण—वीरतर (वेल्लन्तर-वीरतरु-मूंज या नर्मदा तथा चम्बल नदी के समीप जांगलदेशज श्वेत, कृष्ण, रक्त और पीत पुष्पभेद से चार प्रकार का कांटोंवाला वृक्ष इसको राजस्थान-मारवाड़ में कूमट वृक्ष कहते हैं।), अरणी, जटामासी, गुण्ठ (वृक्षतृण विशेष), मूर्वा, अरलू, दोनों प्रकार का पियाबांसा, नागरमोथा, गन्धतुलसी, ईखविशेष, मूत्रविरेचनकर गणकी दस ओषधियां, यह वीरतरादिगण वायुके विकार, पथरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, इन सबका नाशक है।

रोध्रशाबरकरोध्रपलाशा जिङ्गिणीसरलकट्फलयुक्ताः ।
कुत्सिताम्बकदलीगतशोकाः सैलवालुपरिपेलवमोचाः ॥
एष रोध्रादिको नाम मेदःकफहरो गणः ।
योनिदोषहरः स्तम्भी वर्ण्यो विषविनाशनः ॥

रोध्रादि गण—लोद, पठानी लोद, पलास (ढाक), जिङ्गि-

---

१. "मेदोदरविशोधनः" इत्यपि पाठः। २. काकतिक्ता=काकमाची उदरविशोधनत्वात् न तु करञ्जोऽग्रे करञ्जद्वयमिति पाठदर्शनात्। ३. सुषवी कारवीत्यरुणः, कारवेल्लकमिति हेमाद्रिः।

४. फलं हेतुकृते जातीफले फलकसस्ययोः। त्रिफलायां च कक्कोले... इति हैमः।

५. घोण्टा-बदरमिति हेमाद्रिः, पूगविशेष इत्यरुणदत्तः।

६. क्रमुकधवेति पाठः साधुश्छन्दोभङ्गदर्शनात्।

७. भण्डी-शिरीषः, इति हेमाद्रिररुणश्च किन्तु भण्डी=श्वेता त्रिवृत् इति डल्लनः। ८. वरुण इत्यपि पाठः।

१. आढ्यवातम् ऊरुस्तम्भम्। अत्र केचित् अधोवातं इति पठन्ति तदसत्।

२. "गुल्माभ्यन्तरविद्रधीन्" इति सुश्रुतसंमतः पाठः।

३. वीरतरुः शरः, अन्ये तु वीरतरुःवेल्लन्तर, इति नाम्ना प्रसिद्धो जाङ्गलदेशे नर्मदातटे चर्मण्वतीनदीसमीपे च। तल्लक्षणमुच्यते,—वेल्लन्तरुर्जगति वीरतरुः प्रसिद्धः श्वेतासितारुणविलोहितपीतपुष्पः। स्याज्जातितुल्यकुसुमः शमिसूक्ष्मपत्रः स्यात्कण्टकी विजलदेशज एष वृक्षः॥ इति सुश्रुतटीकायां डल्लनः। वीरतर उशीराख्य इत्यरुणश्च।

णी ( कृष्णशाल्मलि ), देवदारु या चीढ़, कायफल, रास्ना ( युक्ता ), कदम्ब, केला, अशोक, सुगन्धवाला, केवटी मोथा और सालई यह रोध्रादि गण मेद ( स्थौल्य ), कफ, स्त्रियों के योनिदोष, दोषों अर्थात् मलमूत्रादि को रोकनेवाला, वर्ण को बढ़ाने और विष का हरनेवाला है।

अर्कालर्कौ नागदन्ती विशल्या
भार्ङ्गी रास्ना वृश्चिकाली प्रकीर्या ।
प्रत्यक्पुष्पी पीततैलोदकीर्या
श्वेतायुग्मं तापसानां च वृक्षः ॥
अयमर्कादिको वर्गः कफमेदोविषापहः ।
कृमिकुष्ठप्रशमनो विशेषाद् व्रणशोधनः ॥

अर्कादि गण—आक, सफेद फूल का आक, नागदन्ती ( हस्तिशुण्डी ), विशल्या ( कलिहारी ), भारङ्गी, रास्ना, वृश्चिकाली ( बिच्छूपत्री ), लताकरञ्ज, अपामार्ग, मालकांगुनी, पूतिकरञ्ज, दोनों प्रकार की अपराजिता ( कोयल ) और हिङ्गोट यह अर्कादि गण कफ, मेद, विषरोग, कृमि तथा कुष्ठ को नाश करता है। विशेषतः यह अर्कादि गण व्रणों को शोधनेवाला है।

सुरसयुगफणिज्जं कालमाला विडङ्गं
खरबुकवृषकर्णीकट्फलं कासमर्दः ।
क्षवकसरसिभार्ङ्गीकार्मुकाः काकमाची
कुलहलविषमुष्टी भूस्तृणो भूतकेशी ॥
सुरसादिर्गणः श्लेष्ममेदःकृमिनिषूदनः ।
प्रतिश्यायारुचिश्वासकासघ्नो व्रणशोधनः ॥

सुरसादि गण—सफेद-कृष्ण दोनों प्रकार की तुलसी, श्वेत-कृष्ण दोनों जङ्गली तुलसी ( तुख्मरैहां ), वायविडङ्ग, मरुवा, मूषाकर्णी, कायफल, कसौन्दी, नकछिकनी, हिंगुपत्री, भारङ्गी, अशोक, काकमाची ( मकोय ), भूकदम्ब, विषमुष्टी ( कुचला या कर्कोटी-कंकोड़ा ), भूस्तृण ( तृण-विशेष ) तथा भूतकेशी ( निर्गुण्डी ) यह सुरसादि गण कफ, मेद, कृमि, प्रतिश्याय, अरोचक, श्वास और कास का नाशक है तथा व्रणों को शोधन करता है।

मुष्ककस्नुग्वराद्वीपिपलाशधवशिंशिपाः ।
गुल्ममेहाश्मरीपाण्डुमेदोऽर्शःकफशुक्रजित् ॥

मुष्ककादि गण—मोखा वृक्ष, थूहर, हरड़-बहेड़ा-आंवला ( वरा ), द्वीपी ( चित्रक ), पलास, धव और शीसम यह मुष्ककादि गण बायगोला, प्रमेह, पथरी, पाण्डुरोग, मेद ( स्थूलता ), बवासीर, कफ और शुक्र ( एक नेत्ररोग ) को हरनेवाला है।

वत्सको मधुरसा त्रुटिर्वचा दीर्घवृन्तफलवेल्लसर्षपाः ।
रोहिणीस्थपनिहिङ्गुभार्ङ्ग्यः शूलघातिदशकं घुणप्रिया ॥
वत्सकाद्योऽनिलश्लेष्ममेदोऽरोचकपीनसान् ।
शूलार्शोज्वरगुल्मांश्च हन्ति दीपनपाचनः ॥

१. स्तम्भी दोषाणां शकृदादेश्चेत्यरुणः । २. विषमुष्टी-कर्कोटी-त्यरुणः । ३. द्वीपी-चित्रक इति हेमाद्रिः ।

वत्सकादि गण—कुड़ा की छाल, मूर्वा, इलायची, वच, अरलू, त्रिफला, स्याहमिरच, सरसों, कुटकी, स्थपनी ( पाठा-पाढ़ ), हींग, भारंगी, पिछले अध्याय के शूलहर दीप्यकादि गण की ओषधियाँ और अतीस यह वत्सकादि गण वायु, कफ, मेदोरोग, अरोचक, पीनस, शूल, बवासीर, ज्वर, बायगोला ( गुल्म ) इनको नाश करनेवाला, दीपन तथा पाचन है।

वचाजलददेवाह्वनागरातिविषाऽभयाः ।
हरिद्राद्वययष्ट्याह्वकलशीकुटजोद्भवाः ॥
वचाहरिद्रादिगणावामातीसारपाचनौ ।
मेदःकफाढ्यपवनस्तन्यदोषनिबर्हणौ ॥

वचादि तथा हरिद्रादि गण—बच, नागरमोथा, देवदारु, सोंठ, अतीस तथा अभया ( हरड़ या गिलोय[1] ) इन सब ओषधियों से बचादि गण बनता है। इसी प्रकार हल्दी, दारुहल्दी, मुलेठी, पृष्ठपर्णी और इन्द्रजौ मिला कर हरिद्रादि गण होता है।

वचादि और हरिद्रादि ये दोनों गण आमातीसारके पचानेवाले, मेद, कफ, ऊरुस्तम्भ और स्त्रियोंके दूध ( स्तन्य ) के दोषों को दूर करनेवाले हैं।

प्रियङ्गुपुष्पाञ्जनयुग्मपद्माः पद्माद्रजो योजनवल्ल्यनन्ता ।
मानद्रुमो मोचरसः समङ्गा पुन्नागशीतं मदनीयहेतुः ॥
अम्बष्ठा मधुकं नमस्करी नन्दीवृक्षपलाशकच्छुराः ।
रोध्रं धातकिबिल्वपेशिके कट्वङ्गः कमलोद्भवं रजः ॥
गणौ प्रियङ्ग्वम्बष्ठादी पक्वातीसारनाशनौ ।
सन्धानीयौ हितौ पित्ते व्रणानामपि रोपणौ ॥

प्रियंग्वादि तथा अम्बष्ठादि गण—प्रियङ्गु, स्रोतोञ्जन और सौवीराञ्जन, भारङ्गी, कमल की केसर, मजीठ, अनन्तमूल या धमासा, सेंम्हल, मोचरस, लजालू, नागकेशर, चन्दन और धावड़ी के पुष्प ये सब मिलकर प्रियंग्वादि गण बनता है।

पाढ़ या मोरशिखा, मुलेठी, लज्जालू, नन्दीवृक्ष ( तुणी ), पलाश, धमासा, लोद, धावड़ी के फूल, बेल की गिरी, अरलू और कमल की केसर ये सब मिलकर अम्बष्ठादि गण कहलाता है।

अम्बष्ठादि और प्रियंग्वादि ये दोनों गण पक्वातीसार के नाश करनेवाले, टूटी हड्डी को जोड़नेवाले, पित्तदोष की अवस्था में हितकारी तथा व्रणों के रोपण करनेवाले हैं ( अर्थात् क्षत या जखम को भरकर जल्दी अङ्कुर लानेवाले हैं )।

मुस्तावचाऽग्निद्विनिशाद्वितिक्ता-
भल्लातपाठात्रिफला विषाख्याः ।
कुष्ठं त्रुटी हैमवती च योनि-
स्तन्यामयघ्ना मलपाचनाश्च ॥

मुस्तादि गण—नागरमोथा, बच, चित्रक, हल्दी, दारुहल्दी, द्वितिक्ता ( कुटकी और करञ्जुआ, यहां कोई द्वितिक्ता का अर्थ कुटकी और चिरायता भी करते हैं ), भिलावा, पाढ़, त्रिफला ( हरड़, बहेड़ा, आंवला ), अतीस, कूट, इलायची और श्वेत-बच ये सब मिलकर मुस्तादि गण होता है जो कि योनिगत

१. अभया-अमृता इत्यरुणदत्तः ।

रोग, स्तन्य ( स्त्रियों के दूध ) के विकार को हरनेवाला, वात, पित्त, कफादि मलों को पचानेवाला है।

न्यग्रोधपिप्पलसदाफलरोध्रयुग्म-
जम्बूद्वयार्जुनकपीतनसोमवल्काः ।
प्लक्षाम्रवञ्जुलपियालपलाशनन्दी-
कोलीकदम्बविरलामधुकं मधूकम् ॥
न्यग्रोधादिर्गणो व्रण्यः संग्राही भग्नसाधनः ।
मेदःपित्तास्रतृड्दाहयोनिरोगनिबर्हणः ॥

न्यग्रोधादि गण—बड़, पीपल, गूलर, लोद, पठानी लोद, छोटी और बड़ी दोनों जामुन, अर्जुन, कपीतन (पारसपीपल), कायफल, पाकर, आम, बेत, चिरौञ्जी, ढाक, नन्दीवृक्ष, बेर, कदम्ब, तिन्दुक, मुलेठी और महुआ यह न्यग्रोधादि गण व्रणों के लिए हितकारी, मल को बांधने वाला, टूटी हड्डी को जोड़ने वाला, मेद, पित्त, रक्त, तृषा, दाह और योनिरोग इन सबको दूर करनेवाला है।

एलायुग्मतुरुष्ककुष्ठफलिनीमांसीजलध्यामकं
स्पृक्काचोरकचोचपत्रतगरस्थौणेयजातीरसाः ।
शुक्तिर्व्याघ्रनखोऽमराह्वमगुरुः श्रीवासकः कुङ्कुमं
चण्डागुग्गुलुदेवधूपखपुराः पुन्नागनागाह्वयौ ॥
एलादिको वातकफौ विषं च विनियच्छति ।
वर्णप्रसादनः कण्डूपिटिकाकोठनाशनः ॥

एलादि गण—छोटी और बड़ी दोनों इलायची, शिलारस, कूट, गन्ध प्रियङ्गु, जटामासी, सुगन्धवाला, ध्यामक ( रोहिषतृण ), स्पृक्का ( देवी-गन्धविशेष ), चोरक ( गठौना ), तज, पत्रज, तगर, थूनेर, चमेलीपत्ररस, सीप, बाघनख, देवदारु, अगर, चीढ़, केशर, चण्डा ( चोरपुष्पी ), गूगल, राल, सुपारी, नागकेसर, नागरपान यह एलादि गण वात, कफ और विषको नष्ट करनेवाला, वर्णवृद्धिकर्ता, खाज, फोड़े-फुंसी, कोठ ( शरीर पर लाल काले मण्डलादि ) का नाश करनेवाला है।

श्यामादन्तीद्रवन्तीक्रमुककुठरणाशङ्खिनीचर्मसाह्वा
स्वर्णक्षीरीगवाक्षीशिखरिरजनकच्छिन्नरोहाकरञ्जाः ।
बस्तान्त्री व्याधिघातो बहलबहुरसस्तीक्ष्णवृक्षात्फलानि
श्यामाद्यो हन्ति कुष्ठं विषमरुचिकफौ हृद्रुजं मूत्रकृच्छ्रम् ॥

श्यामादि गण—काली निशोत, दन्ती, बृहद्दन्ती (जयपाल), सुपारी ( अथवा पठानी लोद ), कुठरणा ( श्वेतमूलवाली व रक्तमूलवाली निशोत ), शंखिनी ( यवतिक्ता-सत्यानाशी ), सातला, स्वर्णक्षीरी ( कङ्कुष्ठजननी ), इन्द्रायन, अपामार्ग, कमीला, गिलोय, कञ्जा, विधायरा, अमलतास, ईख, बड़ी मालकांगुनी, एवं पीलु वृक्ष के फल, यह श्यामादि गण कुष्ठ, विषविकार, अरुचि, कफकोप, हृद्रोग और मूत्रकृच्छ्र को दूर करनेवाला है।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचहस्तिपिप्पलीहरेणुकैलाजमोदेन्द्रयवपाठाजीरकसर्षपमहानिम्बफलगुहिङ्गुभार्ङ्गीवचामुस्तामधुरसातिविषाविडङ्गानि कटुरोहिणी चेति।

पिप्पल्यादिः कफहरः प्रतिश्यायानिलारुचीः ।
निहन्याद्दीपनो गुल्मशूलघ्नश्चामपाचनः ॥

पिप्पल्यादि गण—पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, स्याह मिरच, गजपीपल, निर्गुण्डी, इलायची, अजमोदा, इन्द्रजव, पाढ़, जीरा, सरसों, बकायन, गूलर, हींग, भारङ्गी, बच, नागरमोथा, मूर्वा, अतीस, वायविडङ्ग और कुटकी यह पिप्पल्यादि गण कफनाशक, जुकाम (प्रतिश्याय), वातदोष, अरुचि इनको दूर करनेवाला, अग्निप्रदीपक, गुल्म और शूल को हरनेवाला है तथा आमको पचानेवाला है।

पञ्चत्रिंशतिरित्युक्ता वर्गास्तेषु त्वलाभतः ।
युञ्ज्यात्तद्विधमन्यच्च द्रव्यं जह्यादयौगिकम् ॥
एते वर्गा दोषदूष्याद्यपेक्ष्य
कल्कक्काथस्नेहलेहादियुक्ताः ।
पाने नस्येऽन्वासनेऽन्तर्बहिर्वा
लेपाभ्यङ्गैर्घ्नन्ति रोगान् सुकृच्छ्रान् ॥

इत्यष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थाने षोडशोऽध्यायः।

इस प्रकार ये पच्चीस वर्ग या गण कहे गए हैं। इनमें से किसी द्रव्यके न मिलने पर वैद्य को चाहिए कि वह उसी गुणवाले ( रस-वीर्य-विपाकवाले ) अन्य द्रव्य की योजना उस न मिले हुए द्रव्य के स्थान में करे परन्तु रसवीर्यविपाकानुसार जिस द्रव्य का योग उस द्रव्य के साथ न मिलता हो, ऐसे द्रव्य की योजना उस अलब्ध द्रव्य की जगह न करें।

दोष और दूष्यका भली भांति विचारकर ये पूर्वोक्त पच्चीस वर्ग कल्क, क्काथ, स्नेह ( तैलघृतादि ), अवलेह, फाण्ट, शीतकषाय आदि में पान, नस्य, अनुवासन द्वारा शरीर के भीतर तथा लेप-अभ्यङ्गादि द्वारा शरीर के बाहर प्रयुक्त करने से अतिकष्टसाध्य रोगों का नाश करते हैं।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यायां विविधगणसंग्रहो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

## अथ सप्तदशोऽध्यायः।

अथातो द्रव्यादिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

द्रव्यादिकथन—इसके पूर्वाध्यायों में रसादि विशेष को ध्यान में रखते हुए द्रव्यों के कार्यस्वरूप का वर्णन किया गया परन्तु इससे द्रव्यविषय का परिपूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। इस लिए अब आचार्य जिसमें द्रव्यादि ( द्रव्य, रस, वीर्य, विपाक, प्रभावादि ) का वर्णन हो उस द्रव्यादि विज्ञानीय

१. क्रमुकः पूग इति हेमाद्रिः। क्रमुकः-पट्टिका रोध्र इत्यरुणः।
२. कुठरणा-शुक्ला त्रिवृदित्यरुणः। रक्तमूला त्रिवृदिति हेमाद्रिः।
३. स्वर्णक्षीरी कङ्कुष्ठप्रकृतिरित्यष्टाङ्गहृदयायुर्वेदरसायनव्याख्यायां हेमाद्रिः।

१. अत्र आदिशब्दाद्रसवीर्यविपाकप्रभावादीनां ग्रहणम्।

नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया है।

अथ द्रव्यम्।

इह हि द्रव्यं पञ्चमहाभूतात्मकम्। तस्याधिष्ठानं पृथिवी, योनिरुदकं खानिलानलसमवायान्निर्वृत्तिविशेषौ। उत्कर्षेण तु व्यपदेशः। तस्माद् भूतसमवायसंभवान्नैकरसं द्रव्यम्। ततश्च नैकदोषा व्याधयः। तत्र व्यक्तो रसः। अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तो व्यक्तो वा किञ्चिदन्ते।

द्रव्य का पञ्चमहाभूतात्मकत्वादि कथन—आयुर्वेदशास्त्र में द्रव्य पञ्चमहाभूतात्मक माना गया है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य की उत्पत्ति में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी तत्त्व का संबन्ध होने से द्रव्य पञ्चमहाभूतात्मक है। द्रव्य का अधिष्ठान पृथिवी और योनि उदक है। भावार्थ यह है कि-द्रव्य भूमि के आश्रय से रहता है तथा अन्य सभी तत्त्वों से संबन्ध रहते हुए भी द्रव्य की उत्पत्ति जल से होती है किन्तु इसकी उत्पत्ति और विशेषता आकाश, वायु और अग्नितत्त्व के समवायसंबन्ध से होती है। इससे सिद्ध हुआ कि द्रव्य में आकाशादि पांचों महाभूत न्यूनाधिक प्रमाण में रहते हैं। ऐसा होते हुए भी द्रव्य पांचों महाभूतों के नाम से न पुकारा जाकर किसी एक तत्त्व के ही नाम से क्यों कहा जाता है? जैसे कि यह द्रव्य आग्नेय है, यह पार्थिव है, यह जलीय है इत्यादि। इस शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं कि—"उत्कर्षेण तु व्यपदेशः" द्रव्य में पांचो महाभूतों के रहते हुए भी उसका निर्देश उस एक महाभूत के नाम से किया जाता है जिसका प्रमाण अन्य भूतों की अपेक्षा अधिक रहता है। पञ्चमहाभूतों के समवाय से ही द्रव्य की उत्पत्ति होती है अतः कोई भी द्रव्य एक रसवाला नहीं है। इसी प्रकार व्याधियां भी एक दोषवाली नहीं है। न्यूनाधिक प्रमाण में वात-पित्त-कफ के रहते हुए भी जिसका उत्कर्ष होता है व्याधि भी उसी दोष के नाम से पुकारी जाती है जैसे कि-यह वातज्वर है, यह पित्तज्वर है आदि आदि।

उपर्युक्त कथनानुसार द्रव्य में मधुर, अम्ल, लवणादि सभी रस न्यूनाधिक प्रमाण में रहते हुए भी वही एक रस व्यक्त (प्रकट) होता है जिसका उस द्रव्य में उत्कर्ष रहता है। उसी के नाम से उस द्रव्य का निर्देश किया जाता है जैसे कि यह मधुर द्रव्य है, यह अम्ल है आदि आदि। न्यून प्रमाण वाला अनुरस उस प्रभूत या व्यक्त रससे दब जाने के कारण प्रकट नहीं होता। यदि प्रकट होता है तो भी किञ्चित् अन्त में होता है। सारांश, यह कि 'नैकरसं द्रव्यम्' अर्थात् कोई भी द्रव्य एक रसवाला नहीं है।

रसस्य तु छेदनोपशमने द्वे कर्मणी, हिताहितौ प्रभावौ। तदाश्रयेषु च द्रव्यसंज्ञकेषु पृथिव्यादिषु गुणाः प्रकृतिविकृतिविचारदेशकालवशाद् गुर्वादयो रसेषूपचर्यन्ते।

१. "रसेषु साहचर्यादुपचर्यन्ते।" इतीन्दुसंमतपाठः।

रसों के द्विविध कार्य और प्रभाव—रसके छेदन और उपशमन ये दो कार्य हैं तथा हित और अहित ये दो प्रभाव हैं। रसों के आश्रय पृथिवी आदि द्रव्य-संज्ञकों में जो गुरु-लघु आदि गुण हैं वे प्रकृति-विकृति-विचार एवं देशकालवशात् केवल औपचारिकरीत्या रसों में कहे जाते हैं। भावार्थ यह कि-रस जिन भूमि आदि द्रव्योंके आश्रय में रहते हैं वस्तुतः ये गुरु-लघु आदि गुण इन पृथिवी आदि द्रव्यों के ही हैं, रसों के नहीं हैं। रसों में तो केवल साहचर्यवशात् औपचारिकरीत्या कहे जाते हैं। जिनके ये गुण हैं वे मुख्य भूमि आदि द्रव्य ही हैं और रस तो केवल द्रव्यों के आश्रय में रहनेवाले हैं। जैसे कि-किसी मालिक के सिद्धू एवं बुद्धू आदि अनेक सेवक आश्रित रहते हैं। जो जिसकी देखभाल करता है, वह घोड़ा उसी नौकर के नाम से पहिचाना जाता है यथा सिद्धूवाला घोड़ा, बुद्धूवाला घोड़ा आदि आदि। परन्तु वस्तुतः वे घोड़े न सिद्धू के हैं और न बुद्धू के हैं-मालिक के हैं। केवल औपचारिकतया उन नौकरों के नाम से पुकारे जाते हैं। ठीक इसी तरह रसों के नाम से गुणों का निर्देश नाममात्र के लिए है। वस्तुतः गुरु-लघु आदि गुण द्रव्यों के ही हैं।

अब पार्थिवादि पञ्चमहाभूतात्मक द्रव्यों के पृथक् पृथक् लक्षणों तथा कार्योंका वर्णन करते हैं—

तत्र द्रव्यं गुरुकठिनविशदमन्दसान्द्रस्थूलस्थिरगन्धगुणबहुलं पार्थिवमुपचयगौरवसंघातस्थैर्यकरम्।

द्रवस्निग्धशीतगुरुमन्दसान्द्रसरमृदुपिच्छिलरसगुणबहुलमौदकमुपक्लेदस्नेहबन्धविष्यन्दमार्दवप्रह्लादकरम्।

तीक्ष्णोष्णरूक्षसूक्ष्मलघुविशदरूपगुणबहुलमाग्नेयं दाहपाकप्रकाशप्रभावर्णकरम्।

रूक्षसूक्ष्मलघुविशदविकासिव्यवायिशीतखरस्पर्शगुणबहुलं वायव्यं रौक्ष्यलाघववैशद्यग्लानिविचारकरम्।

मृदुसूक्ष्मलघुविशदश्लक्ष्णव्यवायिविविक्तशब्दगुणबहुलमाकाशात्मकं मार्दवसौषिर्यलाघवकरम्।

पार्थिव द्रव्य और उसके कार्य—जो गुरु (भारी), कठिन, स्वच्छ, मन्द, सान्द्र (गाढ़ा-ठोस), मोटा (स्थूल) और स्थिर होता है और जिसमें गन्धगुण अधिक होता है, वह पार्थिव द्रव्य है। शरीर की वृद्धि या स्थूलता, गुरुता, कठिनता और स्थिरता रखना ये पार्थिव द्रव्य के कार्य हैं।

औदक द्रव्य और उसके कार्य—जो द्रव, स्निग्ध, शीत, गुरु, मन्द, सान्द्र, सर, मृदु, पिच्छिल तथा अधिक रसगुणवाला है, वह औदक (जलीय) द्रव्य है। उपक्लेदन (गीला करना), स्नेहन, बन्धन, विष्यन्दन (स्रोतों में स्राव करना) मृदुता और प्रह्लादन (तृप्ति या हृदय के लिए पुष्टिकारक) ये जलीय द्रव्य के कार्य हैं।

आग्नेय द्रव्य और उसके कार्य—जो तीक्ष्ण (तेज चरपरा मरिचादि के समान), उष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, लघु (हलका),

१. उपचयः—स्थौल्यम् इति हेमाद्रिः। २. प्रह्लादस्तृप्तिरितीन्दुः, हृत्पुष्टिरिति हेमाद्रिः।

स्वच्छ, रूपगुण की अधिकतावाला होता है वह आग्नेय अर्थात् तैजस द्रव्य है। जलाना, पकाना, उजेला करना, कान्ति एवं वर्ण में वृद्धि करना ये आग्नेय द्रव्य के कार्य हैं।

वायव्य द्रव्य और उसके कार्य—रूक्ष, लघु, स्वच्छ, सूक्ष्म, विकासि, व्यवायि ( सब शरीर में पसरनेवाला ), ठंडा, खर, तथा स्पर्शगुणबहुल जो द्रव्य है वह वायव्य द्रव्य है। रौक्ष्य, लाघव, वैशद्य ( साफ करना ), ग्लानि ( अपुष्टि ), विचारकर ( मनमें अनेक प्रकार के विचारों को प्रगट करना ) या धातुवहन करना ये सब वायव्य द्रव्य के कार्य हैं।

आकाशीय द्रव्य और उसके कार्य—जो मृदु ( नरम ), सूक्ष्म, लघु, स्वच्छ, श्लक्ष्ण, व्यवायि ( सर्वव्याप्त ), विविक्त ( अवयवरहित पृथग्भूत ) और जो शब्द-गुण-बहुल है वह आकाशात्मक द्रव्य है। किसी भी पदार्थ में मृदुता लाना, छिद्र करना और लाघव ( हल्का ) करना ये इस आकाशीय द्रव्य के कार्य हैं।

विशेष वक्तव्य—यहां औदक द्रव्य के विषय में कहते हुए उसे द्रव और सान्द्र भी कहा है। द्रव और सान्द्र ये दोनों परस्पर विरोधी हैं किन्तु इनके परस्पर विरोधी होते हुए भी इनमें आर्द्रत्व सामान्य है। इसीलिए द्रव और सान्द्र को यहां आप्य माना है।

इत्थं च नानौषधभूतं जगति किञ्चिद् द्रव्यमस्ति विविधार्थप्रयोगवशात्। तत्राग्निमारुतात्मकं प्रायेणोर्ध्वभागम्। तयोर्हि लाघवादूर्ध्वगतित्वाच्चाग्नेः प्लवनत्वाच्च मारुतस्य। भूम्युदकात्मकं तु प्रायेणाधोभागं तयोर्हि गौरवान्निम्नगत्वाच्च तोयस्य। व्यामिश्रात्मकमुभयतोभागम्।

सब द्रव्यों का औषधत्व—अनेक प्रकार के प्रयोजन तथा प्रयोगों में आने के कारण इस संसार में ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है जो अनौषधभूत हो अर्थात् वह औषध न हो। सारांश, सभी द्रव्य ( स्थावर और जङ्गम ) औषधभूत हैं। अब आचार्य इन पञ्चमहाभूतात्मक द्रव्यों की कार्यदिशा को बताते हुए कहते हैं कि अग्निमारुतात्मक अर्थात् जो द्रव्य आग्नेय और वायव्य हैं वे प्रायः ऊर्ध्वभाग की ओर जानेवाले होते हैं क्यों कि इन दोनों में अग्नि लघु ( हल्का ) होने से ऊपर की ओर जाता है और वायु भी उड़नेवाला होने से ऊपर की ओर जाने वाला है। जो द्रव्य पार्थिव तथा औदक हैं वे प्रायः करके अधोगामी होते हैं, क्योंकि पृथ्वी तथा जल दोनों में गुरुता होती है और जल निम्नगामी होता है कुछ ऐसे मिश्रित द्रव्य भी हैं जो ऊर्ध्व और अधो इन दोनों भागों में काम करते हैं।

विशेष विवरण—यहां आग्नेय तथा वायव्य द्रव्यों का ऊर्ध्वगमन, पार्थिव तथा जलीय द्रव्यों का अधोगमन और कुछ द्रव्यों का ऊर्ध्व और अधो अर्थात् उभय गमन कहकर आचार्य ने वमन, विरेचन और संशमनादि की ओर संकेत किया है। शोधन और शमन ये ओषधि के दो प्रकार हैं। इनमें शोधन के भी दो भेद हैं यथा ऊर्ध्वग और अधोग। यहां अग्नि और वायुगुणभूयिष्ठ ओषधियां प्रायः ऊर्ध्वगामिनी होती हैं तथा पृथ्वी-जल-गुणभूयिष्ठ प्रायः अधोगामिनी होती हैं। उदाहरणार्थ आग्नेय-वायव्य द्रव्य मैनफलादि प्रायः ऊर्ध्वगामी होकर वमन करानेवाले हैं और पृथ्वी-जल-गुणभूयिष्ठ निशोत आदि द्रव्य अधोगमन कर प्रायः विरेचन कराते हैं। शेष रही आकाश-गुण-भूयिष्ठ ओषधियां, सो शरीर के ऊपर और नीचे के सब भागों में व्याप्त होकर प्रायः संशमन करती हैं अर्थात् वमन-विरेचन न करके ये प्रभाव से दोषों का शमन कर देती हैं। यहां प्रायः शब्द का भावार्थ यह है कि केवल यही एक नियम नहीं है कि आग्नेय-वायव्य द्रव्य ऊर्ध्वगामी होकर तथा भूमि और जलगुणविशिष्ट द्रव्य अधोगामी होकर ही कार्य करते हैं। सारांश, कुछ ऐसे भी द्रव्य हैं जो अग्नि-पवन-गुणभूयिष्ठ होते हुए भी ऊर्ध्वगमन कर वमन कराते हैं और अधोगामी होकर विरेचन भी कराते हैं जैसे कि चित्रक की तरह अग्नि-पवनगुण-भूयिष्ठ दन्ती विरेचन करती है। इसी प्रकार द्राक्षावत् भूमिजल-गुण-भूयिष्ठ होकर भी मुलेठी वमन कराती है। इस विषय पर और भी बहुत लिखा जा सकता है परन्तु ग्रन्थविस्तार के भय से हम यहां इतना लिखना ही अलम् समझते हैं।

शमनं तु दोषविपरीतगुणमुक्तं प्राक्। तत्सङ्करे च यतो बाहुल्येन व्यपदेशः। तथाऽनिलात्मकं ग्राहि। अनलात्मकं दीपनपाचनम्। उभयात्मकं लेखनम्। भूम्युदकात्मकं बृंहणम्।

शमनादि के लक्षण—शमनद्रव्य वह है जो दोषों के विपरीत गुणवाला होता है अर्थात् शमन न ऊर्ध्वगामी है और न अधोगामी है। परन्तु वह शारीरिक दोषों का शमन बिना वमन-विरेचन के कर देता है, यह पहले कह चुके हैं। इन द्रव्यों में जहां संकर होता है अर्थात् जिनमें ऊर्ध्वगामित्व, अधोगामित्व एवं शमनत्व का संभव होता है, तब उनमें से जो अधिक कार्य करनेवाला होता है उसी का प्राधान्येन निर्देश रहता है। उदाहरणार्थ जैसे कि एक द्रव्य वातप्रधान होने से ग्राही ( मलावरोधकर्ता ) है तो एक आग्नेय द्रव्य दीपन और पाचन है, उभयात्मक ( वात और अग्निप्रधान ) द्रव्य लेखन है। ऐसे ही भूमि और जलतत्वप्रधान द्रव्य बृंहण है। इनके संकर होने से जो द्रव्य सबमें बलवान् होता है उसी का निर्देश प्राधान्येन रहता है।

## अथ रसाः।

तत्र कट्वम्ललवणा वीर्येण यथोत्तरमुष्णाः। तिक्तकषायमधुराः शीताः। तिक्तकटुकषाया रूक्षा बद्धविण्मूत्रमारुताः। लवणाम्लमधुराः स्निग्धाः सृष्टविण्मूत्रमारुताः। लवणकषायमधुरा गुरवः। तद्वदम्लकटु-

१. विचारो विविधा चेष्टेति हेमाद्रिः, धातुवहनमितीन्दुः।
२. सौषिर्यं सरन्ध्रत्वमिति हेमाद्रिः ३. द्रवसान्द्रयोः परस्परविपरीतयोरप्यार्द्रसामान्यादाप्यत्वमिति हेमाद्रिः।
४. भागिकमिति पाठान्तरम्।

१. आकाशगुणभूयिष्ठं संशमनम्, इति सुश्रुतः। २. "प्राय इति भूयिष्ठमिति च व्यभिचारार्थं, यथा—चित्रकवदग्निपवनोत्कटाया अपि दन्त्या विरेचनत्वम्, मृद्वीकावद् भूमितोयगुणाधिकस्यापि मधुकस्य वमनत्वम्" इति हेमाद्रिः। ३. अस्याग्रे "कार्यकर्तृत्वं भवति यदेवाधिकं तदेव तत्कार्यकरमिति" अधिक इन्दुसंमतः पाठः।

तिक्ता लघवः। अन्ये पुनर्गुरुलघुस्निग्धरूक्षसाधारणं लवणमिच्छन्ति।

रसों के वीर्य और गुण—कटु, अम्ल और लवण ये रस उत्तरोत्तर उष्णवीर्य हैं अर्थात् कटु उष्णवीर्य है तथा कटु से अम्ल, अम्ल से लवण रस अधिक उष्णवीर्य है। इसी प्रकार तिक्त, कषाय और मधुर ये उत्तरोत्तर शीतवीर्य हैं अर्थात् तिक्त रस ठंडा है, तिक्त से कषाय और कषाय से मधुर रस अधिक ठण्डा है। ऐसे ही, तिक्त, कटु और कषाय रस क्रमसे उत्तरोत्तर अधिक रूक्षवीर्यवाले तथा विड्मूत्र-मारुत (मल, मूत्र और अपानवायु) को रोकने या बांधनेवाले हैं। लवण, अम्ल और मधुर ये उत्तरोत्तर (अधिक) स्निग्ध हैं और मल, मूत्र तथा अपानवायु को खोलनेवाले हैं। लवण, कषाय और मधुर रस गुरु (भारी) है और तद्वत् अम्ल, कटु और तिक्त रस लघु हैं। अन्य आचार्य लवण (नमक) को साधारण लघु, गुरु, स्निग्ध और रूक्ष मानते हैं।

रसों के संबन्ध में कहकर अब आचार्य वीर्य के विषय में विचार करते हैं—

## अथ वीर्यम्।

वीर्यं तु केचिद् गुरुलघुस्निग्धरूक्षतीक्ष्णमन्दशीतोष्णभेदे[१]नाष्टविधमाहुः। अपरे पुनः पठन्ति—

वीर्यं द्रव्यस्य तज्ज्ञेयं यद्योगात्क्रियते क्रिया।
नावीर्यं कुरुते किञ्चित्सर्वा वीर्यकृता हि सा॥

यैरष्टविधं तैरपि चैवमतिप्रकृष्टशक्तियुक्तानामशेषौषधगुणसारभूतानामष्टानामेव गुर्वादीनां वीर्यसंज्ञा विशिष्टाम्नाय-विहिताऽपि लौकिकीति समुद्भाव्यते। तथा हि—रस[२]विपाकगुणान्तरविजयिनो भूयांसश्च वरिष्ठाश्च गुणाः संगृहीताः। विशेषवृत्त्या च तत्र तत्र द्रव्यस्वरूपकथने व्यवहारः प्रवर्ति[३]तो भवति। अत एव[४] सर्वातिशायी द्रव्यस्वभावः प्रभाव इत्याम्नातः। सत्यपि च क्रियानिवर्त्तनसामान्ये[५] तद्विपरीता[६] रसादयो वीर्याख्यया प्रभावसंज्ञया वा न परामृश्यन्ते[७]।

अष्टविध वीर्य का वर्णन—कुछ लोगों का कहना है कि—"गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, तीक्ष्ण, मन्द, शीत और उष्णभेद से वीर्य आठ प्रकार का कहा गया है।" परन्तु चरकादि अन्य आचार्यों का कहना है कि—द्रव्य का वीर्य उसी को जानना चाहिए जिसके योग से क्रिया होती है। बिना वीर्यके कोई सा भी द्रव्य क्यों न हो, वह कुछ भी कर नहीं सकता अर्थात् समस्त क्रियाएं वीर्य के द्वारा ही होती हैं। अष्टविध वीर्य के माननेवाले भी इसी प्रकार अतिप्रकृष्ट शक्ति से युक्त, अनन्त ओषधियों के गुणों के सारभूत, कदापि नष्ट न होनेवाले बलवान् गुरु-लघु आदि आठ की ही विशिष्ट आम्नायानुमोदित वीर्यसंज्ञा को 'लौकिकी' कहते हैं अर्थात् इन गुर्वादि द्रव्यों की शक्ति को ही वे वीर्य मानते हैं। इस लिए कि उस शक्ति ने ही रस, विपाकादि अनेक गुणान्तरों को जीतनेवाले अनेक वरिष्ठ गुणों का संग्रह किया है। सारांश, शक्ति ने उक्त समस्त गुणान्तरों को अपने नियन्त्रण में ले लिया है तथा जहां जहां द्रव्यस्वरूप के कथन का व्यवहार होता है, वह भी द्रव्यगत शक्तिविशेष की प्रवृत्ति से ही होता है। इसलिए मान लिया गया है कि सब द्रव्यों से अतीवोत्कृष्ट द्रव्य का स्वभाव ही उसका प्रभाव (शक्ति) है। रस-वीर्य-विपाकादि गुणान्तर यद्यपि अपनी अपनी क्रिया को करते हैं तथापि गुरु आदि के उक्त प्रकारसे विपरीत होने के कारण रसादि वीर्य या प्रभाव संज्ञावाले कदापि नहीं कहे जा सकते। भावार्थ यह है कि वीर्य, प्रभाव या शक्ति सब द्रव्य की ही है, रसादि की नहीं है। बहुवीर्यवादियों का इस प्रकार युक्ति से अष्टविधवीर्यवादित्व सिद्ध हुआ।

अन्ये तु गुर्वादीनामग्निसोमात्मकत्वादादानविसर्गविभागेन कालस्य चोष्णशीतात्मकत्वाद् द्विविधमामनन्ति। एवं चाहुः—

नानात्मकमपि द्रव्यमग्निसोमौ महाबलौ।
व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित्॥

द्विविध वीर्य—गुरु आदि गुणों के अग्निसोमात्मक दो प्रकार होने से तथैव कालके भी आदान और विसर्ग भेद से उष्ण और शीत ऐसे दो भेद होने के कारण कुछ लोग वीर्य को दो प्रकार का मानते हैं और कहते हैं कि—"जगत् नानात्मक होने पर भी जैसे व्यक्त और अव्यक्त इन दो बलवान् प्रकारों से अलग नहीं हो सकता, ठीक इसी प्रकार द्रव्य नानात्मक होनेपर भी वह अपने महाबलवान् अग्नित्व और सोमत्व को कदापि नहीं छोड़ सकता।

विशेष वक्तव्य—आदान और विसर्ग भेद से काल दो प्रकार का माना गया है। आदानकाल उष्ण और विसर्गकाल शीत (ठण्डा) होता है। द्रव्यों की उत्पत्ति भी काल के अनुरूप ही होती है। इसलिए आदानकाल में उत्पन्न हुआ द्रव्य स्वभावतः उष्ण और विसर्गकालोत्पन्न द्रव्य शीत होता है अतः गुरु-लघु आदि द्रव्य के आठ भेद होते हुए भी इन आठों में कोई उष्ण होता है तो कोई शीत। सारांश, आठों प्रकार के द्रव्यों में भी उष्णत्व तथा शीतत्व ये दो धर्म अवश्य रहते हैं। इससे भी द्रव्य के उष्ण और शीत ऐसे द्विविध वीर्य का मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। नानात्मक होनेपर भी जगत् व्यक्त (वृक्ष, पर्वत, जल आदि) तथा अव्यक्त (काल, पञ्चमहाभूत आदि) इन दो बड़े भेदों से अलग नहीं हो सकता, वैसे ही आठ प्रकार का होते हुए भी द्रव्य उष्णत्व और शीतत्व इन दो से अलग नहीं हो सकता।

अब आचार्य उष्णवीर्य तथा शीतवीर्य के कार्यों का वर्णन क्रम से करते हैं—

तत्रोष्णं दहनपचनस्वेदनविलयनानिलकफशमनानि करोति। शीतं ह्लादनस्तम्भनजीवनरक्तपित्तप्रसादनादीनि।

उष्णवीर्य के कार्य—दहन (जलाना), पचन (पकाना),

१. पाठोऽयं नास्तीन्दुटीकापुस्तके।
२. तथा रसवि० इत्यपि पाठः। ३. प्रवृत्तितो। ४. एव च। ५. साम्ये। ६. विपरीता। ७. परिमृश्यन्ते। इति पाठान्तराणि।

स्वेदन ( पसीने लाना ), विलयन ( विम्लापन = पिघलाना ), कफ और वायु का शमन करना ये उष्णवीर्य के कार्य हैं।

शीतवीर्य के कार्य—सुख, शान्ति, आनन्द को करना, स्तम्भन ( पसीने को रोकना[1] ), जीवन ( मूर्च्छा आदि को दूर कर प्राणों का रक्षण करना[2] ) तथा रक्तपित्त आदि को निर्मल करना ये शीतवीर्य के कार्य बताये गये हैं।

अथ विपाकः।

विपाकस्तु[3] प्रायः स्वादुः स्वादुलवणयोरम्लोऽम्लस्य कटुरितरेषाम्। रसैरसौ तुल्यफलः। द्रव्यगुणविशेषेण चास्याल्पमध्यभूयस्त्वमुपलक्षयेत्। पराशरस्तु पठति—

पाकास्त्रयो रसानामम्लोऽम्लं पच्यते कटुः कटुकम्।
चत्वारोऽन्ये मधुरं संसृष्टरसास्तु संसृष्टम्॥
कटुतिक्तकषायाणां कटुको येषां विपाक इति पक्षः।
तेषां पित्तविघाते तिक्तकषायौ कथं भवतः॥

तत्र यन्मधुरं रसविपाकयोः शीतवीर्यं च द्रव्यं पश्चाम्लं तयोरुष्णवीर्यं च, यद्वा कटुकं तेषां यथास्वं रसादिभ्यः प्रायो गुणान् दोषकोपशमनत्वं च विद्यात्। तद्यथा-क्षीरमदिरामरिचादीनाम्। रसादिसङ्करेण त्वन्यथात्वम्। यथा मधु मधुरं श्लेष्माणं शमयति कटुविपाकतया। सकषायत्वाद्रौक्ष्याच्च वातं जनयति शीतवीर्यत्वाच्च। तथा यवोऽपि। आनूपौदकपिशितं शीतमपि पित्तं करोत्युष्णवीर्यत्वात्। तथा तैलं कटुविपाकतया च विपाकत एव बद्धविण्मूत्रम्। अम्लं काञ्जिकं कफं जयति रूक्षोष्णत्वात्। कपित्थं तु रौक्ष्यात्पित्तं च शीतवीर्यत्वात्। आमलकं पित्तं शीतवीर्यत्वात् स्वादुपाकतया च, कफं रौक्ष्याल्लाघवाच्च, शैत्यरौक्ष्यलाघवैस्तु न वातम्। लवणं सैन्धवं स्वादुपाकतया पित्तं जयति लाघवात्कफं जयति। कटुकाऽपि शुण्ठी स्नेहौष्ण्यस्वादुपाकैर्वातं क्षपयति पिप्पली च। लशुनोऽपि स्नेहौष्ण्यगौरवैः। पलाण्डुश्च। स तु स्नेहगौरवाभ्यां जनयति श्लेष्माणं वृद्धं च मूलकं स्वादुपाकतया। तिक्तानि व्याघ्रीविशल्यार्कागुरूण्युष्णवीर्यत्वात्पित्तं जनयन्ति। कषायतिक्तं महत्पञ्चमूलं वातं जयति न तु पित्तमुष्णवीर्यत्वात्। कषायश्च कुलत्थोऽम्लपाकतया च। इत्येतन्निदर्शनमात्रमुक्तम्। तस्मात्—

किञ्चिद्रसेन कुरुते कर्म पाकेन चापरम्।
द्रव्यं गुणेन वीर्येण प्रभावेनैव किञ्चन॥

विपाक का वर्णन—आहार किये हुए रसवाले द्रव्योंका जठराग्नि के संयोग से पचन होने पर जो एक प्रकार का रस उत्पन्न होता है उसका नाम विपाक[4] है। किस किस रस का विपाक कैसा होता है? इसके लिये कहते हैं कि—प्रायः मधुर और लवण रस का विपाक मधुर होता है। अम्ल रस का विपाक अम्ल होता है। शेष कटु, तिक्त और कषाय इन तीनों रसों का विपाक कटु होता है। यह विपाक जिस रस का होता है, उसी के अनुरूप उसके विपाक का फल होता है अर्थात् रस का जो कार्य होता है, उसी कार्य को विपाक भी करता है। हां, जहां जिस रसवाले द्रव्य-गुण का विशेष रहता है, उसी के अनुसार विपाक के फल में अल्पत्व, मध्यत्व तथा आधिक्य रहा करता है।

महर्षि पराशर तो कहते हैं कि—छहों रसों के विपाक तीन ही होते हैं और वे इस प्रकार से होते हैं यथा-अम्ल रस का विपाक अम्ल होता है और कटु का विपाक कटु होता है। शेष मधुर, लवण, तिक्त और कषाय इन चारों रसों का विपाक मधुर होता है। जिन लोगों का यह पक्ष है कि कटु, तिक्त और कषाय इन तीनों रसों का विपाक कटु होता है, उनसे महर्षि पराशर प्रश्न करते हैं कि "यदि तिक्त और कषाय का विपाक कटु होता है, तब बताइये कि ये तिक्त और कषाय किस प्रकार से पित्त का नाश कर सकते हैं? भावार्थ यह है कि तिक्त और कषाय रस का विपाक कटु होता है और ऊपर कह चुके हैं कि जिस रस का जो विपाक होता है वह ( विपाक ) भी उस रस के अनुरूप ही फल देता है। यहां तिक्त-कषाय रस का कटु विपाक पित्तको कुपित करनेवाला होने से वह पित्त-शामक कदापि नहीं हो सकता। इसी लिये महर्षि पराशर तिक्त और कषाय रसका विपाक मधुर मानते हुए उसे पित्तशामक समझते हैं। परन्तु पराशरजी का यह मत अपना व्यक्तिगत है, सर्वसम्मत नहीं है।

ग्रन्थकार वाग्भटाचार्य इसके समाधान में कहते हैं कि जो द्रव्य मधुर रसवाला, मधुरविपाकी और शीतवीर्य है अथवा जो द्रव्य रसविपाक में अम्ल और उष्णवीर्य है तथैव जो द्रव्य रसविपाक में कटु और उष्णवीर्य है वही अपना यथार्थ कार्य करता है। इतना होने पर भी रस, वीर्य और विपाक इन तीनों में रस ही की सर्वातिशायिता काम करती है। उदाहरणार्थ दूध, मदिरा एवं मरिचादि को ही लीजिये। इनमें रस ही की प्रधानता काम करती है किन्तु वीर्य और विपाक की नहीं। जैसे कि दूध, मधुर-रसविपाकी तथा शीतवीर्य है और यह कफ को कुपित करता तथा वायु और पित्त को शमन करता है सो यह दूध के मधुर रस से ही होता है। मद्य अम्लरस-विपाकी तथा उष्णवीर्य होते हुए भी उसका अम्लरस ही वातशमन तथा पित्तकफ को कुपित करता है। इसी प्रकार कटुरसविपाकी उष्णवीर्य मरिच का कटुरस ही कफ का शमन और वातपित्त को कुपित करता है। इससे कार्य करने में रस की ही प्रधानता पाई जाती है, न कि पराशरजी के वीर्य और विपाक की।

रसादि के संकर से तो अन्यथात्व ( कुछ का कुछ ) हो जाना दिखाई देता है। वीर्य, रस, विपाक आदि का कोई नियम नहीं रहता जैसे कि मधु ( शहद ) मधुर होकर भी कटुविपाकी होने से कफ को शमन करता है और यही शहद कुछ कषायता, रूक्षता तथा शीतवीर्यता के कारण वायु को उत्पन्न करता है। यह बात जवमें पाई जाती है। अनूपदेश

१. स्तम्भः स्वेदापनयनम्। २. जीवनं मूर्च्छापनयनादिभिः प्राणधारणमिति हेमाद्रिः। ३. इति वीर्यमुक्तं विपाकस्तूच्यते इत्यस्मादनन्तरं विपाकस्तु इतीन्दुसंमतपाठः। ४. जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम्। रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः॥ इति

का जल और मांस ठण्डा होने पर भी उष्णवीर्य होने से पित्त को कुपित करता है। तेल उष्णवीर्य होकर भी कटुविपाकी होने से विपाक (पचन) होते ही मल और मूत्र का अवरोध करता है। कांजी अम्ल रसवाली होकर भी रूक्षता और उष्णता के कारण कफ को जीत लेती है। कैथ रूक्षता से कफ को तथा शीतवीर्यता से पित्त को शान्त करता है। आमला मधुरपाकी एवं शीतवीर्यता के कारण पित्त को, रूक्ष एवं लघु होने से कफ को शमन करता है परन्तु शीत, रूक्ष और लघु होने से वायु का शमन नहीं करता। सेंधा नमक मधुरपाकी होने से पित्त को तथा लघुता से कफ को शमन करता है। सोंठ और पीपल कटुरसवाली होकर भी स्नेह, उष्णता तथा मधुरपाकिता के कारण वायु का नाश करती हैं। लहसुन और पलाण्डु (प्याज) भी कटु रसवाले हैं परन्तु स्नेहता, उष्णता तथा गुरुता के कारण वायु को शमन करते हैं। वही पलाण्डु स्नेह और गुरुता के कारण कफ को करता है। और वृद्ध (बड़ी पकी हुई) मूली भी मधुरपाकी होने से कफकारक होती है। इस अष्टाङ्गसंग्रह के टीकाकार इन्दु लिखता है कि स्वयं वाग्भटने अष्टाङ्गहृदय में वृद्धमूली को त्रिदोषकारक तथा कटुविपाकी कहा है। न जाने उन्हीं ने क्या समझकर यहां मधुरविपाकी कफकारक लिख दिया है, कुछ समझ में नहीं आता। किन्तु अरुणदत्त और हेमाद्रि ने यह आमविषय है कहकर समाधान किया है। वे कहते हैं कि (यह मधुरविपाक कच्चे बृहन्मूलक का है जो स्निग्ध के साथ पकाया नहीं जाता-स्निग्धपक्व बृहन्मूलक का विपाक कटु ही होगा इत्यादि।) कटेरी, गिलोय, कलिहारी, आक और अगर ये स्निग्ध और तिक्त होते हुए भी उष्णवीर्य होने से पित्तको करते हैं। कषाय एवं तिक्त रसवाला होकर भी बृहत्पञ्चमूल उष्णवीर्य होने से वायु को जीतता है किन्तु पित्त को शान्त नहीं करता। कषाय रसवाला कुलत्थ भी अम्लपाकी होने से इसी कार्य को करता है। यह सब केवल निदर्शन (उदाहरण) मात्र के लिए कहा गया है। इससे सिद्ध हुआ कि विपाकानुसार सब कुछ होता है।

### अथ प्रभावः।

यद्यद् द्रव्ये रसादीनां बलवत्त्वेन वर्तते ।
अभिभूयेतरांस्तत्तत्कारणत्वं प्रपद्यते ॥
विरुद्धगुणसंयोगे भूयसाऽल्पं हि जीयते ।
रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान् व्यपोहति ॥
बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम् ।
विरुद्धा अपि चान्योऽन्यं रसाद्याः कार्यसाधने ॥
नावश्यं स्युर्विघाताय गुणदोषा मिथो यथा ।
रसवीर्यप्रभृतयो भूतोत्कर्षापकर्षतः ॥
एकरूपा विरूपा वा द्रव्यं समधिशेरते ।
माधुर्यशैत्यपैच्छिल्यस्नेहगौरवमन्दताः ॥
सहवृत्त्या स्थिताः क्षीरे नत्वानूपौदकामिषे ।
गुणा द्रव्येषु ये चोक्तास्त एव तनुदोषयोः ॥
स्थितिवृद्धिक्षयास्तस्मात्तेषां हि द्रव्यहेतुकाः ।
रसं विद्यान्निपातेन तेनाधिवसनेन च ॥
वीर्यं विपाकं द्रव्याणां कर्मणः परिनिष्ठया ।
मधुरस्कन्धनिर्दिष्टघृततैलगुडादिषु ॥
गुणाः स्वाद्वादिभेदेन रसषट्कं न युज्यते ।
अस्तु भेदादसंख्यत्वमैक्यं वा स्वादुलक्षणात् ॥
भूतोत्कर्षापकर्षेण भेदो योऽल्पेन कल्प्यते ।
संकीर्णत्वात्फले चासौ तुल्यत्वान्न विवक्ष्यते ॥
गुर्वादीनां विशेषेऽपि स्वजातेरनतिक्रमात् ।
संख्याभेदो यथा नास्ति रसानामपि संक्रमः ॥
दृष्टं मुखोपलेपादि यत्सर्वेषु घृतादिषु ।
न च तद्दाडिमाद्येषु षडेवातो रसाः स्मृताः ॥
आनन्त्यैकत्वयोश्च स्यान्न विचित्रार्थतन्त्रणम् ।

बलवान् रसादि एवं प्रभाव का वैशिष्ट्य—द्रव्य में रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव रहते हैं। इनमें से जो (रस, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव) अधिक बलवान् होता है, वह अन्य गुणों को जीतकर अपने फल को देता है या वही शुभाशुभ फल देने का कारण बनता है। इसी भाव को लेकर पहले कहा गया है कि द्रव्य कहीं रससे, कहीं वीर्य से, कहीं विपाक से तो कहीं प्रभाव से काम करता है। विरुद्ध गुणवाले द्रव्यों का (दो, तीन, चार आदि मिले हुए) संयोग होने पर विरुद्ध गुणों में जो अधिक बलवान् होता है वह अल्पबल को जीत कर अपना फल देता है। यह विरोध दो प्रकार का होता है—एक स्वरूप से और दूसरा कार्य से जैसे कि गुरु और लघु का अथवा शीत और उष्ण का यह स्वरूप-विरोध कहलाता है। कार्यविरोध वह है जिसमें द्रव्य परस्पर विरुद्ध कार्य करते हैं जैसे कि गुरु द्रव्य कफ को बढ़ाता है और लघु या रूक्ष कफ का हरण करता है। उष्ण द्रव्य कफ को हरता है और शीत या स्निग्ध कफ को करता है। रस, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव इन चारों की साम्यावस्था होने पर (समान बल होनेपर) इन सब का नैसर्गिक बल काम करता है। ऐसी अवस्था में अपने नैसर्गिक बल से विपाक रसको जीतता है, रस और विपाक इन दोनों को वीर्य जीतता है तथा रस, वीर्य और विपाक इन तीनों को प्रभाव जीतता है।

कार्यसाधन में विरोधियों का अविरोध—कार्य के साधनकाल में रसादि (रस, वीर्य, विपाक, प्रभावादि) परस्पर एक दूसरे से विरुद्ध होते हुए भी नाश करनेवाले नहीं होते जैसे कि सत्त्व, रज और तमोगुण परस्पर विरोधी होते हुए भी शरीर में साथ रह कर नाशकारी नहीं होते, इसी प्रकार सभी प्रकारके रस एवं दोष (वात-पित्त-कफ) भी परस्पर विरोधी होकर भी शरीर का नाश नहीं करते और न वे रोगविघातक क्रिया को ही नष्ट करते हैं।

द्रव्यगत रसादिके समविषमत्वमें हेतु—प्रत्येक द्रव्यमें रस, वीर्य, विपाकादि सम एवं विषम अवस्थामें रहते हैं। किसी द्रव्य में रस अधिक रहता है, किसी में वीर्य तो किसी में विपा-

१. वृद्धमूलकस्य त्रिदोषकर्तुः कटुकस्य कफकर्तृत्वे यदाचार्यवाग्भटेन मधुरविपाकित्वं कारणमुक्तं तत्स्वयं हृदयपठितस्यैव वृद्धमूलकस्य कटुविपाकित्वं स्मृतं किंवाऽन्यत्किञ्चिदिति न जाने। इतीन्दुः।

कादि। इसी प्रकार इनमें से कोई कम रहता है तो कोई अधिक। इसका कारण क्या है? इसके स्पष्टीकरणार्थ कहते हैं कि—रस, वीर्य आदि कार्य करनेवालों का किसी द्रव्यमें कम तथा किसी में अधिक रहने का मुख्य कारण पञ्चमहाभूतों की न्यूनाधिक स्थिति ही है। भावार्थ यह है कि पञ्चभूतों की द्रव्यगत स्थिति ही वात, पित्त और कफ की न्यूनाधिकता को निर्माण करती है और तदनुसार ही उस उस द्रव्यमें रसादिकी स्थिति रहती है। इसी बातको उदाहरण द्वारा समझाते हैं कि जैसे दूधमें माधुर्य, शैत्य, पैच्छिल्य, स्नेह, गौरव और मन्दता ये सब गुण सहयोग की वृत्ति से रहते हैं, वैसे अनूपदेशज जल और मांसमें नहीं रहते। द्रव्योंमें गुरु-लघु आदि जो गुण रहते हैं वे ही शरीरान्तर्गत वात, पित्त और कफमें रहते हैं। इन वातादि दोषों की स्थिति, वृद्धि और क्षय भी द्रव्यों के ही कारण से होते हैं।

रसादिको जानने के उपाय—द्रव्यके रस, वीर्य एवं विपाकादि को किस प्रकार से जानना चाहिए? इसके लिए कहते हैं कि द्रव्य के रस की परीक्षा जिह्वानिपात से करनी चाहिए अर्थात् जिस द्रव्य के रस को जानना हो तो उसको अपनी जीभ पर रख कर या उसके रस को जीभ पर पटक कर देखना चाहिए। इस तरह करने से जीभ बतलावेगी कि इस द्रव्य का रस मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषायमें से अमुक है। उक्त निपातसे तथा अधिवसन (शरीरमें कुछ समय तक उस द्रव्यके रहने) से उस द्रव्यके वीर्य का पता लगेगा कि वह उष्णवीर्य या शीतवीर्य है। द्रव्यके सेवन करने से वात-पित्तादि दोषों की क्षयवृद्धिरूपा क्या निष्पत्ति होती है, इसका ज्ञान होना ही विपाक की पहिचान है।

वस्तुतः रस ६ ही हैं—वादी का कहना है कि मधुरादि रसों की संख्या का जो नियम कर दिया गया है कि रस ६ ही हैं, यह ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि मधुर स्कन्ध में कहे हुए घृत, तैल, गुड़ आदि के गुणों एवं स्वादों के भेदों तथा ऐक्य को देखा जाय तो रस अनेक हो सकते हैं अथवा एक ही रस रह सकता है। इसके समाधान में ग्रन्थकार कहते हैं कि गुणास्वाद भेद से चाहे रसों का असंख्यत्व या एकत्व दिखाई देता हो परन्तु रस ६ ही हैं। पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों के उत्कर्षापकर्ष (आधिक्य एवं न्यूनता) से कुछ भेदों की कल्पना की जा सकती है परन्तु वह संकीर्णतया की जाती है। कल्पनाएं चाहे जितनी कर सकते हैं किन्तु फल के तुल्य होने से यह भेदकल्पना ठीक नहीं है। गुरु आदि गुणों के विशेष रहने पर भी द्रव्य अपनी जाति (मधुराम्ललवणत्वादि) को नहीं छोड़ता। इस लिए इसमें जैसे संख्याभेद नहीं होता, ठीक इसी प्रकार रसोंकी संख्या एवं क्रम भी नहीं बदलते अपितु जैसे हैं वैसे ही रहते हैं। मधुरादि स्कन्धों में कहे हुए द्रव्योंमें स्वादकी विलक्षणता दिखाई देती है परन्तु घृतादि पदार्थों में जो मुखलेपादि प्रतीत होता है वह दाड़िम आदि में नहीं प्रतीत होता। सारांश यह है कि द्रव्यों तथा उनके गुरु आदि गुणों में चाहे जितने स्वाद क्यों न प्रतीत होते हों, उनमें मधुर, अम्ल, लवणादि रसत्व ६ में ही सीमित रहता है, अतः रसों की संख्या ६ ही सिद्ध होती है। यदि रसों में अनन्तत्व माना जायगा तो उनके स्वरूप वर्णन करते समय वही अनन्तत्व सामने आवेगा और इस आनन्त्य के कारण उनके स्वरूपविषय में कुछ भी नहीं कह सकेंगे। इसी प्रकार यदि रस एक ही प्रकार का माना जायगा तो उसके विशेषत्व का वर्णन भलीभांति न कर सकेंगे और न तन्त्र (शास्त्र) की रचना ही कर सकेंगे।

गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथा गुणाः।
परसामर्थ्यहीनत्वाद् गुणा एवेतरे गुणाः ॥
यथारसं जगुः पाकान् षट् केचित्तदसांप्रतम्।
यत्स्वादुर्व्रीहिरम्लत्वं न चाम्लमपि दाडिमम् ॥
याति तैलं च कटुतां कटुकाऽपि न पिप्पली।
यथारसत्वे पाकानां न स्यादेवं विपर्ययः ॥
यस्माद् दृष्टो यवः स्वादुर्गुरुरप्यनिलप्रदः।
दीपनं शीतमप्याज्यं वसोष्णाऽप्यग्निसादिनी ॥
कटुपाकोऽपि पित्तघ्नो[1] मुद्गो माषस्तु पित्तलः।
स्वादुपाकोऽपि चलकृत्स्निग्धोष्णं गुरु फाणितम् ॥
रसः स्वादुर्यथा चैतत्तथाऽन्येष्वपि दृश्यते ।
वातलं कफपित्तघ्नमम्लमप्यात्नकीफलम् ॥
कुरुते दधि गुर्वेव वह्निं पारावतं न तु[2] ।
कपित्थं दाडिमं चाम्लं[3] ग्राहि नामलकीफलम् ॥
कषाया ग्राहिणी शीता धातकी[4] न हरीतकी ।
अप्रधानाः पृथक्तस्माद्रसाद्याः संश्रितास्तु[5] ते ॥
प्रभावस्तु यतो द्रव्ये द्रव्यं श्रेष्ठमतो मतम् ।

गुरु आदि की वीर्य और गुणसंज्ञा—पूर्वोक्त गुर्वादि (गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, तीक्ष्ण, मन्द, शीत और उष्ण) गुण जब द्रव्य में बलवान् होकर रहते हैं तब इन्हीं की वीर्य संज्ञा होती है तथा उत्कृष्ट शक्तिमान् न रहने पर इन्हें सामान्य गुण कहते हैं। गुरु आदि विशिष्ट अन्य द्वादश गुण हैं वे भी उत्कृष्ट शक्ति से हीन होने के कारण गुण कहलाते हैं।

विपाक—कुछ आचार्यों का कथन है कि यथारस अर्थात् प्रत्येक रस के अनुसार ही उसका विपाक होता है जैसे कि मधुर का मधुर, अम्ल का अम्ल, लवण का लवण विपाक होता है आदि। इस प्रकार षड्रसों के विपाक भी ६ ही होते हैं किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है। यदि यथारस ही विपाक होता तो व्रीहि मधुर होकर भी अम्लविपाकी नहीं होता, न दाडिम का अम्लविपाक ही बदलता, न तैल का कटुविपाक होता और न कटु पिप्पली भी अपने विपाक को छोड़ती। सारांश, यथारस विपाक होता तो इस प्रकार विपाकों में विपर्यय नहीं होता। देखा जाता है कि जौ मधुर तथा गुरु होकर भी वायुकारक होता है। घृत शीतवीर्य होते हुए भी अग्नि-प्रदीपन करता है। वसा उष्णवीर्य होकर भी अग्निमान्द्य करती है। मूँग कटुपाकी होकर भी पित्तशामक है और, माष (उड़द) मधुरविपाकी होकर भी पित्तकारक है। गुरु, उष्ण एवं स्निग्ध होकर भी फाणित (गुड़ की राब) वायुकारक होता है। मधुर रसका फल विपर्यय जैसे यहां दिखाई देता है ऐसे अन्य रसों में भी

१. पित्तघ्नोऽमुद्गो। २. पालेवतं तु न। ३. साम्लं। ४. धातुकी। ५. संस्रतास्तु। इति पाठान्तराणि।

यही बात दृग्गोचर होती है जैसे कि अम्ल रहते हुए बहेड़े का फल वातकारक है वैसे कफ और पित्त को भी नष्ट करता है। दही गुरु होते हुए भी अग्नि को प्रदीप्त करता है परन्तु पालेवत पारावत (देशान्तरीय खजूर या कबूतर) इस काम को नहीं करते। कैथ और अनार अम्ल होकर ग्राही (मलको बांधनेवाले) हैं परन्तु आमला अम्ल होकर भी इस काम को नहीं करता। धातकी कषायरसवाली तथा शीतवीर्या होकर ग्राहिणी (मलावरोध करनेवाली) है परन्तु हरड़ में यह बात नहीं है। इस से स्पष्ट है कि द्रव्य केआश्रय में रहनेवाले रस, वीर्य, विपाकादि उससे अलग एवं अप्रधान हैं अर्थात् ये सब द्रव्य द्वारा नियन्त्रित हैं अतः ये स्वयं कुछ भी नहीं कर सकते। जो कुछ करता है, वह द्रव्य का प्रभाव ही करता है। सारांश यह है कि सबसे श्रेष्ठ द्रव्य को ही माना गया है।

रसादिसाम्ये यत्कर्म विशिष्टं तत्प्रभावजम् ।
दन्ती रसाद्यैस्तुल्यापि चित्रकस्य विरेचनी ॥
मधुकस्य च मृद्वीका घृतं क्षीरस्य दीपनम् ।
कटुपाकरसस्निग्धगुरुत्वैः कफवातजित् ॥
लशुनो वातकफकृन्न तु तैरेव यद्गुणैः ।
मिथो विरुद्धान्वातादीन् लोहिताद्या[१]जयन्ति यत् ॥
कुर्वन्ति यवकाद्याश्च तत्प्रभावविजृम्भितम् ।
शिरीषादि विषं हन्ति स्वप्नाद्यं तद्विपर्यये ॥
मणिमन्त्रौषधादीनां यत्कर्म विविधात्मकम् ।
शल्याहरणपुंजन्मरक्षायुर्धीवशादिकम् ॥
दर्शनाद्यैरपि विषं यन्नियच्छति चागदः ।
विरेचयति यद्वृष्यमाशु शुक्रं करोति वा ॥
ऊर्ध्वाधोभागिकं यच्च द्रव्यं यद्वमनादिकम् ।
मात्रादि प्राप्य तत्तच्च यत्प्रपञ्चेन वर्णितम् ।
तच्च प्रभावजं सर्वमतोऽचिन्त्यः स उच्यते ॥

प्रभाव का अचिन्त्यत्व—रसादि (रस, वीर्य और विपाक) की साम्यावस्था में जो विशिष्ट कार्य होता है वह प्रभावजन्य समझना चाहिए। उदाहरणार्थ—जैसे कि चित्रक के समान रस-वीर्य-विपाकवाली होकर भी दन्ती विरेचन करती है किन्तु चित्रक नहीं करता। इसी प्रकार मुलेठी के समान रसवीर्यविपाकवाली होकर भी द्राक्षा विरेचनी है किन्तु मुलेठी नहीं है। दुग्ध के समान रसवीर्य विपाकवाला होकर भी घृत अग्नि प्रदीपन है किन्तु दूध अग्निमान्द्य करता है। लहसुन कटुपाक रस तथा स्निग्ध-गुरु होकर कफ और वायु को जीतता है परन्तु उन्हीं गुणों से वायु और कफ को नहीं करता। परस्पर विरुद्ध वातादि दोषों को स्निग्धत्व-गुरुत्व से रक्तशालि जीतता है, परन्तु इन्हीं गुणोंवाला यवक वातादि दोषों को करता है। यह सब प्रभाव के कारण होता है। सिरस, हल्दी आदि विषका नाश करते हैं और शयन, मेद्य आदि विषको बढ़ाते हैं, यह भी सब प्रभाव का माहात्म्य है। शल्याहरण, पुरुषोत्पत्ति (पुत्रोत्पत्ति), रक्षा, आयुर्वृद्धि, बुद्धि, वशीकरण आदि विविध कर्म मणि, मन्त्र, औषधादि द्वारा होते हैं, यह भी सब प्रभावजन्य ही जानना चाहिए। देखने मात्रसे विष का चढ़ जाना तथा उतर जाना भी प्रभावजन्य ही है। कोई वृष्य द्रव्य वीर्य को बढ़ाता है तो कोई वीर्य का जल्दी स्खलन करता है। ऊर्ध्वभाग में तथा अधोभाग में जाकर मैनफल एवं हरीतकी आदि द्रव्य जो वमन तथा विरेचन कार्य को करते हैं, मात्रा आदि को प्राप्त होकर द्रव्य जिस जिस कार्य को करता है और जिनका वर्णन मात्रादि प्रकरण में भली भांति किया गया है, वह सब उस २ द्रव्य के प्रभाव से ही जानना चाहिए। इस प्रकार से देखा जाय तो प्रभाव अचिन्त्य है अर्थात् कोई अनुमान नहीं कर सकता कि कब, किस प्रकार और क्या कार्य प्रभाव के द्वारा होगा। इसीलिए अब आचार्य उपसंहार में प्रभाव की विलक्षणता को बताते हुए कहते हैं कि—

रसेन वीर्येण गुणैश्च कर्म द्रव्यं विपाकेन च यद्विदध्यात्।
सद्योऽन्यथा तत्कुरुते प्रभावाद्धेतोरतस्तत्र न गोचरोऽस्ति॥

इत्यष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रे सप्तदशोऽध्यायः।

प्रभाव की विलक्षणता—द्रव्य अपने रस से, वीर्य से, गुणों से तथा विपाक से जिस कार्य को करता है किन्तु तुरन्त ही अपने प्रभाव से वही द्रव्य विपरीत कर्म को भी कर देता है अतः उस द्रव्य के प्रभाव के कारण जाना नहीं जा सकता। इसी भाव को लेकर प्रभाव को अचिन्त्य कहा गया है।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यायां द्रव्यादिविज्ञानीयो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

# अथाष्टादशोऽध्यायः।

द्रव्य, रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव के विषय में इस के पूर्वाध्याय में कहा गया परन्तु रस के विषय में बहुत कुछ कहना शेष रह गया है अतः आचार्य पुनः यहां रस के विषय में कहते हैं कि—

अथातो रसभेदीयमध्यायं व्याख्यास्याम इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

रसभेदीयाध्याय—जिस में रसों के भेदों का वर्णन है, अब हम यहां से उस रसभेदीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया है।

रसः खल्वाप्यः प्रागव्यक्तश्च। स षड्ऋतुकत्वात्कालस्य महाभूतगुणैरूनातिरिक्तैः संसृष्टो विषमं विदग्धः षोढा पृथग्विपरिणमते मधुरादिभेदेन।

रस का वर्णन—वस्तुतः रस जलीय है और वह पहले अव्यक्त (छुपा हुआ-अप्रगट) रहता है। वही एक आप्य रस काल के छः ऋतुओं में विभक्त होने के कारण पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पञ्चमहाभूतों के न्यूनाधिक

१. पालेवतः—द्वीपान्तरखर्जूरीवृक्षे, इति वैद्यनिघण्टः। २. विषादिघ्नं। ३. तद्विवृद्धये। ४. यच्छमनादि च।

गुणों से विषम अर्थात् न्यूनाधिक मात्रा में विदग्ध होकर मधुरादि भेद से अलग छः प्रकारों में परिणत हो जाता है।

विशेष वक्तव्य—"रसनार्थो रसः" इस उक्ति के अनुसार शब्द, स्पर्श, रूप आदि अन्य इन्द्रियों के अर्थों के समान रस जिह्वा इन्द्रिय का अर्थ है। रस का निश्चय रसनानिपात अर्थात् जीभ पर पड़ने से ही होता है। इसीलिए इसकी रस संज्ञा है। छहों रसों के अन्तर्भूत होते हुए भी जब तक पञ्च महाभूतों का परस्पर अनुग्रह या संघर्ष नहीं हुआ, यह आप्य (जलीय) रस महाभूतों द्वारा विदग्ध नहीं हुआ तब तक अव्यक्त (अप्रकट) था। मधुर आदि रसों की अभिव्यक्ति किस प्रकार हुई, अब उसी को कहते हैं।

तत्र भूजलयोर्बाहुल्यान्मधुरो रसः। भूतेजसोरम्लः। जलतेजसोर्लवणः। वाय्वाकाशयोस्तिक्तः। वायुतेजसोः कटुकः। वायूर्व्योः कषायः।

पञ्चमहाभूतों से रसोत्पत्ति—वही पूर्वोक्त आप्य (जलमय) अव्यक्त रस पृथ्वी और जल तत्त्वकी अधिकता से मधुर आस्वाद में परिणत हुआ अर्थात् मधुर रस बना। इसी प्रकार पृथ्वी और अग्नितत्त्व के बाहुल्य से अम्ल रस बना। जल और अग्नितत्त्व की अधिकता से लवण रस हुआ। वायु और आकाश तत्त्व के आधिक्य से तिक्त रस, वायु और अग्नितत्त्व की बहुलता से कटु रस तथा वायु और पृथ्वी तत्त्व के बाहुल्य से कषाय रस की उत्पत्ति हुई।

विशेष विवरण—पहले कह आए हैं कि पञ्च महाभूतों के न्यूनातिरिक्त गुणों करके काल के षड् ऋतुवाला होने से रस भी मधुरादि भेद से छः ही रूपों में परिणत हुए। छहों ऋतु किस प्रकार षड्रस बनाने में सहायक हुई ? इसका उत्तर यही है कि शिशिर ऋतु में वायु-आकाश की अधिकता के कारण तिक्त रस बना। इसी प्रकार वसन्त में वायु और पृथ्वी तत्त्व की अधिकता होने से कषाय रस निष्पन्न हुआ। ग्रीष्म में अग्नि-वायु के आधिक्य से कटु रस की निष्पत्ति हुई। वर्षा में अग्नि और पृथ्वी तत्त्व की विशेषता से अम्ल रस बना। शरद् ऋतु में जल और अग्नि तत्त्वाधिक्य होने से लवण रस तैयार हुआ और हेमन्त में पृथ्वी तथा जलतत्त्व की बहुलता होने से मधुर रस की निष्पत्ति हुई। इस में उत्कर्ष (पञ्च महाभूतों का) ही कारण है। अपकर्ष का ग्रहण नहीं किया जाता।

इन रसों की परीक्षा किस प्रकार की जाय कि यह मधुर रस है या यह अम्ल आदि है अतः अब इस विषय में कहते हैं कि—

तेषां स्वादुरास्वाद्यमानो मुखमुपलिम्पतीन्द्रियाणि प्रसादयति, देहं प्रह्लादयति, षट्पदपिपीलिकादीनामपीष्टतमः। अम्लस्तु जिह्वामुद्वेजयत्युरःकण्ठं विदहति, मुखं स्रावयति, अक्षिभ्रुवं संकोचयति, दशनान् हर्षयति रोमाणि च। लवणो मुखं विष्यन्दयति, कण्ठकपोलं विदहति, अन्नं प्ररोचयति। तिक्तो विशदयति वदनं, विशोधयति कण्ठं, प्रतिहन्ति रसनाम्। कटुको भृशमुद्वेजयति जिह्वाग्रं चिमचिमायति कण्ठकपोलं स्रावयति मुखाच्चिनासिकं विदहति देहम्। कषायस्तु जडयति जिह्वां, बध्नाति कण्ठं पीडयति हृदयम्।

मधुरादि रसों का परीक्षण—जिह्वा पर डालकर, स्वाद लेने पर जो रस पैच्छिल्य-संयोग से मुँह में लिपट जाता है, जिससे सब इन्द्रियों में प्रसन्नता प्राप्त होती है, शरीर में सुख की प्रतीति होती है और जो षट्पदपिपीलिकादि (भ्रमर, कीट, कीरी, मक्खी आदि) को भी अत्यन्त प्रिय होता है अर्थात् पिपीलिका जिसकी अत्यन्त चाहना करती हैं वह मधुर (मीठा) रस है। मूत्र के साथ शर्करा जाती है अर्थात् मधुमेह है इसकी परीक्षा पेशाब पर आई हुई कीड़ियों से हो जाती है और निश्चय होता है कि वस्तुतः पिपीलिकादि को मधुर रस नितान्त प्रिय है।

अम्ल रस-जिससे जिह्वा में उद्वेग होता है, छाती और कण्ठ में जलन होती है, मुख से स्राव छूटता है, आंखों और भौंहों में संकोच होता है, दांतों एवं रोमावलि में हर्ष होता है अर्थात् जिस के संयोग से दांत काम नहीं कर सकते, रोम खड़े हो जाते हैं, उसे अम्ल या खट्टा रस कहते हैं।

लवण रस—जो मुख में जल पैदा करता है, कण्ठ और गालों पर लगने से जलन सी होती है और जो अन्न में रुचि उत्पन्न करता है उसे लवण रस कहते हैं।

तिक्त रस—जो मुख को साफ करता है, कण्ठ को शुद्ध करता है तथा जो रसना (जीभ) को अन्य रस को ग्रहण करने में असमर्थ बना देता है, उसे तिक्त (कडुवा) रस जानना चाहिए।

कटु रस—जो बहुत चरपरा होता है, जीभ के अग्रभाग में चरचराहट पैदा करता है, कण्ठ एवं कपोलों में दाह करता है, मुख-नाक और आंखों से जिसके कारण पानी बहने लगता है और जो शरीर में जलन पैदा करता है उसे कटु (चरपरा) रस जानना चाहिए।

कषाय रस—जो जीभ में जड़ता लाता है, कण्ठ को रोकता तथा जो हृदय में पीड़ा करता है, वह कषाय (कसैला) रस है।

रसों के स्वरूप का कथन करके अब आचार्य रसों के कार्यों को कहते हैं।

तत्र मधुरो रसो जन्मप्रभृति सात्म्यात्सर्वधातुविवर्धन आयुष्यो[1] बालवृद्धक्षतक्षीणबलवर्णेन्द्रियत्वक्केशकण्ठहितः प्रीणनो बृंहणो जीवनस्तर्पणः स्थैर्यसंधानस्तन्यकरो वातपित्तविषदाहमूर्च्छातृष्णाप्रशमनः स्निग्धः शीतो मृदुर्गुरुश्च।

एवं गुणोऽपि स सदाऽत्युपयुज्यमानः
स्थौल्याग्निसादगुरुताऽलसकातिनिद्राः।
श्वासप्रमेहगलरोगविसंज्ञताऽऽस्य-
माधुर्यलोचनगदार्बुदगण्डमालाः ॥
छर्द्युर्दर्दमूर्द्धरुक्कासपीनसक्रिमीन्।
श्लीपदज्वरोदरष्ठीवनानि चावहेत् ॥

मधुर रस के कार्य—सब प्राणियों के लिए मधुर रस जन्म से ही सात्म्य होने के कारण सब धातुओं (रस, रक्त, मांस,

१. आयुष्य-आयुर्वृद्धिकरः,

मेदादि ) को बढ़ानेवाला, आयु को देनेवाला और बढ़ानेवाला, बालक-वृद्ध-क्षतसे क्षीण-बल-वर्ण-इन्द्रिय-त्वचा-केश और कण्ठ इन सबके लिए हितकारी ( पथ्य ) है। इतना ही नहीं, मधुर रस शरीरपोषक, पुष्टिकारक, जीवनप्रद अर्थात् प्रमित आयु तक सुख से रखनेवाला या मूर्च्छादि हरनेवाला और तृप्तिकारक है, स्थिरता को देनेवाला, टूटी हड्डियों को जोड़नेवाला, स्त्रियों के स्तन्य ( दूध ) को बढ़ाने या पैदा करनेवाला, वात-पित्त-विष-दाह-मूर्च्छा तथा तृष्णा को शमन करनेवाला, स्निग्ध, शीतल, मृदु और गुरु है। इन गुणों से युक्त होने पर भी नित्य प्रति इसका अति उपयोग करने से यह मेद, अग्निमान्द्य, जडता, अलसक, अतिनिद्रा, श्वास, प्रमेह, कण्ठरोग, मूर्च्छा, मुखमाधुर्य, नेत्ररोग, अर्बुद, गलगण्डमाला, छर्दि, उदर्द, शिरःशूल, खांसी, पीनस, क्रिमिरोग, श्लीपद, ज्वर, उदररोग और ष्ठीवन ( मुख से सतत थूक का आना ) इन रोगों को करता है।

विशेष वक्तव्य—आयुष्य और जीवन इन दोनों की एकार्थता के कारण यहां शङ्का हो सकती है कि आचार्य ने यह पुनरुक्ति कैसे कर दी? परन्तु 'अरुणदत्त' का कथन है कि वस्तुतः इन दोनों शब्दों में एकार्थता नहीं है। आयुष्य का अर्थ है प्रमित आयु से भी अधिक आयु या अमित आयु का देनेवाला तथा जीवन का अर्थ है, प्रमित आयुतक सुख से रहना। सारांश, शङ्काकार के कथनानुसार यहां जीवन और आयुष्य में से किसी एक शब्द का रखना उपयुक्त होता किन्तु दोनों की भिन्नार्थता के कारण यह शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि इन दोनों में प्रत्यक्ष भेद है।

अम्लोऽनिलनिबर्हणोऽनुलोमनः कोष्ठविदाही रक्तपित्तकृदुष्णवीर्यः शीतस्पर्शो बोधयतीन्द्रियाणि रोचनः पाचनो दीपनो बृंहणस्तर्पणः प्रीणनः क्लेदनो व्यवायी लघुः स्निग्धो हृद्यश्च।

जनयति शिथिलत्वं सेवितः सोऽति देहे
कफविलयनकण्डूपाण्डुतारुग्विघातान् ।
क्षतविहितविसर्पं रक्तपित्तं पिपासां
श्वयथुमपि कृशानां तैजसत्वाद्भ्रमं च ॥

अम्ल रस के कार्य—अम्ल रस वायुनाशक तथा वायु को अनुलोमन करनेवाला, पेट में विदग्धता करनेवाला, रक्तपित्तकारक, उष्णवीर्य, शीतस्पर्श, इन्द्रियों में चेतनता लानेवाला, रुचिकारक, पाचन, अग्निप्रदीपन, बृंहण, तृप्तिकारक, सब धातुओं का पोषक, स्रोतों में क्लेदन करनेवाला, सब शरीर में व्याप्त होनेवाला, लघु, स्निग्ध और हृद्य है। इन गुणों से युक्त होकर भी अति सेवन किया जाने पर यह शरीर में शिथिलता लानेवाला होता है। कफ को पतला करता है। कण्डू, पाण्डुता, अभिघात क्षत का फैलना, विसर्प, रक्तपित्त, तृष्णा तथा दुर्बलों में सूजन उत्पन्न करनेवाला है। आग्नेय होने के कारण भ्रमरोग को करके यह नाशकारक होता है।

लवणः स्तम्भबन्धसंघातविध्मापनः सर्वरसप्रत्यनीको दीपनो रोचनः पाचनः क्लेदनः शोषणः स्नेहनः स्वेदनो भेदनश्छेदनः सरो व्यवायी विकासी हरति पवनं विष्यन्दयति कफं विशोधयति स्रोतांसि नातिगुरुः स्निग्धस्तीक्ष्णोष्णश्च।

खलतिपलिततृष्णातापमूर्च्छाविसर्प-
श्वयथुकिटिभकोठाक्षेपरोधास्रपित्तम्।
क्षतविषमदवृद्धिं वातरक्तं करोति
क्षपयति बलमोजः सोऽति वा सेवनेन ॥

लवण रस के कार्य—लवण रस जडता को दूर करनेवाला, काठिन्यनाशक तथा सब रसों का प्रत्यनीक (विरोधी), अग्निप्रदीपन, रुचिकारक, पाचक, क्लेदन (शरीर में आर्द्रता लाने वाला), शोषण ( सुखानेवाला ), स्नेहन करनेवाला, स्वेदन-भेदन ( पसीना लानेवाला तथा दस्तावर ), छेदन, शरीर में पसरने वाला, व्यवायी (सारे शरीर में व्याप्त होकर फिर पचनेवाला), विकासी ( अङ्ग बन्धनों को ढीला करनेवाला ), वायुनाशक, कफ को ढीला करनेवाला, स्रोतों को शुद्ध करनेवाला, थोड़ा गुरु, स्निग्ध, तीक्ष्ण और उष्ण है। इन गुणोंवाला होकर भी अतिसेवित लवण रस सिर के बालों को नष्ट करनेवाला, बालों को श्वेत करनेवाला, तृष्णा, ताप (दाह), मूर्च्छा, विसर्प, सूजन, किटिभ ( कुष्ठविशेष ), कोठ ( शरीर पर लाल और श्वेत रंग के मण्डल ), आक्षेप ( वातरोग विशेष ), वातव्रणवेदना और रक्तपित्त को करनेवाला, क्षत, विष तथा मद को बढ़ानेवाला, वातरक्त को उत्पन्न करनेवाला, बल और ओज को घटानेवाला है।

तिक्तः स्वयमरोचिष्णुररुचिविषकृमिमूर्च्छोत्क्लेदज्वरदाहतृट्कुष्ठकण्डूहरः क्लेदमेदोवसामज्जविण्मूत्रपित्तश्लेष्मणोपशोषणो दीपनः पाचनो लेखनः स्तन्यकण्ठशोधनो मेध्यो नातिरूक्षः शीतो लघुश्च।

धातुबलक्षयमूर्च्छाग्लानिभ्रमवातरोगपरुषत्वम् ।
खरविशदरौक्ष्यभावैः सोऽतिसमासेवितः कुर्यात् ॥

तिक्त रस के कार्य—तिक्त रस स्वयं अरोचिष्णु ( जिह्वा को न सुहानेवाला ), अरुचि, विष, क्रमि, मूर्च्छा, उत्क्लेद ( उबकाई ), ज्वर, दाह, तृष्णा, कुष्ठ और कण्डू रोग को हरनेवाला, क्लेद, मेद, वसा ( चर्बी ), मज्जा, विष्ठा, मूत्र, पित्त और कफ का शोषण करनेवाला, दीपन, पाचन, लेखन, स्त्रियों के दुग्ध और कण्ठ को शुद्ध करनेवाला, मेधा बुद्धि को बढ़ानेवाला, कुछ रूक्ष, शीत और लघु है। इन गुणोंवाला होकर भी अति सेवन करने पर तिक्त रस धातु ( रसरक्तादि एवं वीर्य ) और बल का नाश करनेवाला, मूर्च्छा, ग्लानि, भ्रम, वातरोग, शरीर में रूक्षता इनको अपने खर-विशद और रौक्ष्य भाव से करनेवाला होता है।

कटुकोऽलसकश्वयथूदर्दस्थौल्याभिष्यन्दकृमिवक्त्र-

---

१ जीवनः—मूर्च्छादिहरः। इति हेमाद्रिः।

२. ननु, आयुष्यजीव नयोरेकार्थत्वादेकतरोपादानमेव युक्तम्। नैवम्। एतयोर्भिन्नार्थत्वात्। तथाहि—आयुष्यः स उच्यते योऽपरिमितायुषो हितः, अधिकायुषो हेतुत्वात्। तथा च मुनिः—"तेनायुरमितं लेभे" इति। यस्त्वायुषो नियतरूपस्य तामेव मर्यादामनुबध्नाति, स जीवयतीति जीवन उच्यते। तदनयोः स्पष्ट एव भेदः। इति।

रोगविषकुष्ठकण्डूप्रशमनो व्रणावसादनः स्नेहक्लेदशोषणो रोचनः पाचनो दीपनो लेखनः शोधनः शोषयत्यन्नं स्फुटयतीन्द्रियाणि भिनत्ति शोणितसंघातं छिनत्ति बन्धान् विवृणोति स्रोतांसि क्षपयति श्लेष्माणं लघुरूक्षतीक्ष्णोष्णश्च।

कुरुतेऽतिनिषेवितः स तृष्णामदमूर्च्छादवमोहदेहसादान्।
बलशुक्रगलोपशोषकम्पभ्रमतापग्लपनातिकर्शनानि॥
करचरणपार्श्वपृष्ठप्रभृतिष्वनिलस्य कोपमतितीव्रम्।
संकोच-तोद-भेदैर्वाय्वग्नि-गुणाधिकत्वेन॥

कटु रस के कार्य—कटु रस अलसक, शोथ, उदर्द, स्थूलता, अभिष्यन्द, क्रिमिरोग, मुखरोग, विष, कुष्ठ और कण्डू को नष्ट करनेवाला, व्रणों को रोपण न करनेवाला, स्नेह और क्लेद को सुखानेवाला, रुचिकारक, पाचन, दीपन, लेखन और शोधन है, अन्न को पचाकर शोषण करनेवाला, इन्द्रियों में चैतन्य लानेवाला, जमे हुए रक्त को भेदन कर विलयन करनेवाला, सन्धियों तथा सलादि के बन्धनों को ढीला करनेवाला, स्रोतों की संकुचितता को दूर कर उन्हें चौड़े करनेवाला, कफ को घटाने या क्षीण करनेवाला, लघु-रूक्ष-तीक्ष्ण और उष्ण है। इन गुणों से युक्त होते हुए भी कटु रस अतिसेवन करने से तृष्णा, मदात्यय, मूर्च्छा, दाह, मोह, शरीर का संकोच, बल, वीर्य तथा कण्ठ का शोषण, कम्प-भ्रम-ताप ( ज्वर )-ग्लानि और अतिकृशता को करता है तथा अपने वायु और अग्नि गुण की अधिकता से हाथ, पैर, पसुलियां, पीठ आदि भागों में वायु को अतितीव्र कुपित कर सिकुड़ने, चुभने तथा तोड़ने की सी पीड़ा को करता है।

कषायो बलासं सपित्तं सरक्तं-
निहन्त्याशु बध्नाति वर्चोऽतिरूक्षः।
गुरुस्त्वक्सवर्णत्वकृत्क्लेदशोषी
हिमः प्रीणनो रोपणो लेखनश्च॥
अत्यभ्यासात्सोऽपि शुक्रोपरोधं
तृष्णाध्मानस्तम्भविष्टम्भकार्श्यम्।
स्रोतोबन्धं वातविण्मूत्रसङ्गं
पक्षाघाताक्षेपकादींश्च कुर्यात्॥

कषाय रस के कार्य—कषाय रस कफ, पित्त और रक्त को नष्ट करता है, शीघ्र ही मल को बांधता है और यह अतिरूक्ष, गुरु, त्वचा के वर्ण को ठीक करनेवाला, क्लेद का शोषण करनेवाला, शीतवीर्य, तृप्तिदायक, व्रण का रोपण करनेवाला तथा लेखन है। इन गुणों से युक्त होते हुए भी अतिसेवन करने पर यह वीर्य का अवरोध, तृष्णा, आध्मान ( पेट का फूलना ), ऊरुस्तम्भ, विष्टम्भ, कृशता, स्रोतों का अवरोध ( रुकना ), अपानवायु-मल और मूत्र का अवरोध, पक्षाघात, आक्षेपक आदि रोगों को करनेवाला होता है।

इस प्रकार मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय इन ६ रसों के कार्यों का वर्णन किया गया। अब आचार्य सर्व साधारण के उपयोगार्थ इन मधुरादि रसों में किन किन द्रव्यों का समावेश होता है उन सबका स्कन्धरूपेण ( संग्रह रूप से ) वर्णन करते हैं—

अथ मधुरद्रव्यस्कन्धो घृतमधुतैलक्षीरमेदोमज्जेक्षुविकृतिद्राक्षाऽक्षोडखर्जूरमोचचोचपनससिञ्चितिकापियालराजादनखर्जूरीतालमस्तककाश्मर्यमधूकपरूषकतामलकीवीराविदारीशतावरीतवक्षीरीक्षीरर्षभीक्षीरशुक्लामधूलिकाऽऽत्मगुप्ताबलातिबलाविश्वेदेवासहदेवीशालिपर्णीपृश्निपर्णीमहासहाक्षुद्रसहर्द्धिवृद्धिश्रावणीमहाश्रावणीछत्रातिछत्रर्ष्यप्रोक्तर्ष्यगन्धाऽश्वगन्धाश्वदंष्ट्रामृणालिकापुष्करबीजशृङ्गाटककसेरुकतककनकबिम्बीप्रपौण्डरीकप्रभृतीनि जीवनीयो गणस्तृणपञ्चमूलं च।

मधुरद्रव्यस्कन्ध—घृत, मधु ( शहद ), तेल, दूध, मेद, मज्जा, इक्षुविकृति अर्थात् गुड, शर्करादि, दाख, अखरोट, खजूर, केला, चोच ( तज या नारियल ), पनस, सिञ्चितिका, (सेव) चिरौञ्जी, खिरनी, खारिक ( छुहारा ), ताड, मस्तक, गम्भारी ( खम्भारीफल ), महुआ, फालसा, तामलकी ( भूम्यामलकी ), मुसली, विदारीकन्द, शतावर, वंसलोचन, काकोली, क्षीरकाकोली, मूर्वा, केवांचबीज, खिरेंटी, कंघी, विश्वेदेवा ( गङ्गेरन ), सहदेवी, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, ऋद्धि, वृद्धि, श्रावणी और महाश्रावणी (गोरखमुण्डी के भेद), छत्रा और अतिछत्रा ( काश्मीर देश के सरोवर का एक तृण जो कि सुगन्धित होता है ), पीतबला, विधायरा, असगन्ध, गोखरू, कमलनाल, कमलगट्टे, सिंघाड़ा, कसेरू, निर्मली, कांचनार, सुवर्ण, बिम्बीफल ( गोलहा ), स्थलकमल, जीवनीय गण के दस द्रव्य तथा तृणपञ्चमूल यह मधुरस्कन्ध के सब द्रव्य हैं।

अम्लद्रव्यस्कन्धो दाडिमामलकाम्राम्रातककोशाम्रमातुलुङ्गवृक्षाम्लाम्लीकाम्लवेतसकुवललिकुचपारावतभव्यकरमर्दधवधन्वनकोलबदरैरावतकपित्थदन्तशठप्राचीनामलकनारङ्गतिलकण्टकरूप्यदधिमस्तुतक्रधान्याम्लमद्यमुक्तप्रभृतीनि।

अम्लद्रव्यस्कन्ध—दाडिम, आमला, आम, आम्रातक, कोशाम्र, ( लघु आम्रविशेष या आम की गुठली ), बिजौरा, वृक्षाम्ल ( तिन्तिडीक-दक्षिणी कोकम ), इमली, अमलबेत, कुवल ( एक प्रकार का बेर ), बड़हर, पारावत ( फालसा का फल ), भव्य ( कर्मरङ्ग-कमरख ), करौन्दा, धव, बेर, पेमजी बेर, ऐरावत ( लकुच या बड़हर विशेष ), कैथ, खट्टा चूका, पुराना आमला, नारङ्गी, तिलकण्टक, रजत ( रूपा ), दही, मस्तु, तक्र, कांजी, मद्य और शुक्त आदि ये अम्लस्कन्ध के द्रव्य हैं।

लवणद्रव्यस्कन्धः सैन्धवादीनि क्षारान्तानि त्रपुसीसप्रभृतीनि।

लवणद्रव्यस्कन्ध—सेंधा नमक, सौंचर नमक, सांभर नमक, विड नमक, खारी नमक, जवाखार, सज्जीखार, त्रपु

---

१. तुगाक्षीरी, २. जीवकर्षभक, ३. विश्वदेवा सहादेवा।
४. शालपर्णी मुद्गपर्णी इति पाठान्तराणि।

( कथीर ), सीस ( सीसा ) आदि ये लवणद्रव्यस्कन्ध के पदार्थ हैं।

तिक्तद्रव्यस्कन्धोऽगुरुतगरोशीरवालकचन्दननलदकृतमालनक्तमालापामार्गहरिद्राद्वयमुस्तमूर्वामदनफलाजश्रृङ्गीत्रायमाणाकटुकाकिराततिक्तककरवीरविशालासुषव्यतिविषायवासकज्योतिष्मतीपाठाविकङ्कताकर्काकमाचीवचावरणवत्सकवैजयन्तीवेतससप्तपर्णसोमवल्कसुमनःकांस्यलोहप्रभृतीनि पटोलादिश्च शाकवर्गः ।

तिक्तद्रव्यस्कन्ध—अगर, तगर, खस, सुगन्धिवाला, चन्दन जटामासी, अमलतास, करञ्ज, अपामार्ग ( ओंगा ), हल्दी, दारुहल्दी, नागरमोथा, मूर्वा, मैनफल, मेंढासिंगी, त्रायमाण, कुटकी, चिरायता, कनेर, इन्द्रायण, करेला, अतीस, धमासा, मालकांगनी, पाढ, विकङ्कत (स्रुवावृक्ष-कंटाई), आक, मकोय, वच, वरना, कुड़ा, अरनी, वेत, सतौना, कायफल, चमेली, कांसा ( कांस्य धातु ), लोह आदि एवं पटोलादि शाकवर्ग के तिक्त द्रव्य ( परवल, सातला, नीम, शार्ङ्गेष्टा, बावची, गिलोय कटेरी, अडूसा, तिलपर्णी, ककोड़ा, करील ( कैर ) आदि ) ये सब तिक्तस्कन्ध के द्रव्य हैं।

कटुकद्रव्यस्कन्धो मरिचहिङ्गुतेजोवतीहस्तिपिप्पलीविडङ्गभल्लातकास्थिमूलकसर्षपलशुनपलाण्डुकरञ्जमनःशिलालदेवदारुकुष्ठैलासुरसचोरकहरेणुकामूत्रपित्तप्रभृतीनि कुठेरादिश्च हरितवर्गः पञ्चकोलं च ।

कटुकद्रव्यस्कन्ध—काली मिरच, हींग, तेजवल, ( अथवा तज ), गजपीपल, बायविडङ्ग, भिलावा की गुठली, मूली का शाक, सरसों, लहसुन, पलाण्डु ( पियाज ), करञ्ज, मैनसिल, हरताल, देवदार, कूट, इलायची, तुलसी, चोरक, सम्हालू, मूत्र ( चरकोक्त गाय, बकरी, गाडर आदि के अष्टमूत्र ), प्राणियों के पित्ते आदि और कुठेरादि हरितक वर्ग ( कुठेर, सहँजना, बनतुलसी, तुलसी, राई, भूस्तृण, लाल मिरच, पुदीना, जम्भीरी तीक्ष्ण नीम्बू ), पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक तथा सोंठ ये सब कटुकस्कन्ध के पदार्थ हैं।

कषायद्रव्यस्कन्धो हरीतकीप्रियंग्वनन्ताक्षौद्रलोध्रकट्वङ्गकट्फलधवधन्वनधात्रीफलधातकीपुष्पपद्मापद्मपुष्पनागकेसरकुमुदोत्पलतुङ्गतिन्दुककदम्बोदुम्बरजम्ब्वाम्रप्लक्षवटविभीतकविकङ्कतजम्ब्वाम्रास्थ्यासकपित्थाश्वत्थमोचरससमङ्गासोमवल्कसप्तपर्णस्यन्दनासनसल्लकीसालतालप्रियालैलवालुकपरिपेलवजिङ्गिणीबदरीखदिरकदरारिमेदकाशकसेरुकवंशाश्मन्तकाशोकशिरीषशिंशापपलाशशमीशणशङ्खनाभिमेषश्रृङ्गीतरुणखर्जूरस्फूर्जकसर्जभूर्जार्जुनाजकर्णवरणप्रवालमुक्ताञ्जनगैरिकबिसमृणालप्रभृतीनि ।

कषायद्रव्यस्कन्ध—हरड़, प्रियंगु, अनन्तमूल, मधु (शहद), लोद, अरलू, कायफल, धववृक्ष, आमला, धावडीके पुष्प, पद्मा ( स्थल कमल या भारङ्गी ), पद्माख, कमलपुष्प, नागकेशर, कमोदिनी, वृद्धदारुक ( विधायरा ), तैन्दू, कदम्ब, गूलर, जामुन, आम, पाकर, बड़, बहेड़ा, विकङ्कत, जामुन की गुठली, आमकी गुठली, कच्चा कैथ, पीपल वृक्ष, मोचरस, मंजीठ, कायफल, सतौना, तिनिस, विजयसार, सालई, सालवृक्ष, तालवृक्ष, चिरौंजीदाने का वृक्ष, सुगन्धवाला, केवटी मोथा, आल ( मजीठ विशेष ), बेर, खैर, गन्धा खैर, विट्खदिर, काश, ( तृण विशेष ), कसेरु, बांस, अश्मन्तक, अशोक, सिरस, सीसम, पलास, शमीवृक्ष, सण, शंख की नाभि, मेंढासिंगी, तरुण खर्जूर ( खारिक ), स्फूर्जक ( तैन्दू विशेष ), राल, भोजपत्र, अर्जुन वृक्ष, अजकर्ण ( पीतसाल ), वरना ( वरुण वृक्ष ), प्रवाल ( मूंगा ), मोती, सुर्मा, गेरू, कमलनाल, कमलतन्तु आदि ये सब कषायस्कन्ध की औषधियां हैं।

इस प्रकार मधुर आदि रसों के लक्षण, कार्य, वातत्व-पित्तत्व-कफत्वादि तथा स्कन्धों का वर्णन किया गया। अब इनमें कभी व्यभिचरण भी होता है, इसका कथन करते हैं।

तत्र प्रायो मधुरं श्लेष्मलत्वमन्यत्र पुराणशालियवगोधूममुद्गमधुशर्कराजाङ्गलमांसात्। प्रायोऽम्लं पित्तलमन्यत्र दाडिमामलकात्। प्रायो लवणमचक्षुष्यमन्यत्र सैन्धवात्। प्रायस्तिक्तकटुकं वातलमवृष्यं चान्यत्रामृतापटोलीनागरपिप्पलीलशुनात्। प्रायः कषायं शीतं स्तम्भनं चान्यत्रहरीतक्याः ।

रसकर्म में व्यभिचरण—यहां मधुर रस को प्रायः कफकारी कहा गया है। भावार्थ यह है कि मधुर रस के सब द्रव्य प्रायः कफकारक हैं परन्तु मधुर रस का यह कफकारित्व पुराने चावल, यव, गेहूं, मूंग, शहद, शर्करा और जाङ्गल मांस को छोड़कर है अर्थात् मधुर रसवाले होकर भी ये चावल आदि कफकारक नहीं हैं। इसी प्रकार अम्ल रस का प्रायः पित्तकारित्व अनार आमला को छोड़ करके है। सारांश, अम्ल होकर भी दाडिम और आमला पित्त को शान्त करते हैं। ऐसे ही लवण रस प्रायः अचक्षुष्य ( नेत्रों को हानि पहुंचाने वाला ) है किन्तु लवण होकर भी सैन्धव नमक में यह बात नहीं है। तिक्त और कटु रस प्रायः वातकारक एवं वीर्यनाशक है परन्तु गिलोय, परवल, सोंठ, पीपल और लहसुन तिक्त कटु होते हुए भी इस कार्य को नहीं करते। इसी प्रकार कषाय रस की प्रायः शीतता और स्तम्भकता हरड़ में नहीं है। ध्यान रहे कि इन सब वाक्यों में आचार्य ने प्रायः शब्द का प्रयोग इसलिए किया है कि मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय स्कन्धों में वर्णित द्रव्य प्रायः कफ, पित्त और वातादि-कारक होते हैं परन्तु उक्त स्कन्धों के कुछ द्रव्य ऐसे भी हैं जो कफ, पित्त और वातादि के करनेवाले नहीं होते जैसे कि ऊपर बताया गया है। सारांश यह है कि ऊपर जिन व्यभिचारी द्रव्यों का निर्देश किया गया है, उनके अतिरिक्त भी मधुरादि स्कन्धगत कुछ द्रव्य ऐसे हैं जो उस रस के निर्दिष्ट कार्य को नहीं करनेवाले हैं। यही प्रत्येक वाक्य के आदि में प्रायः शब्द प्रयुक्त करने का भावार्थ है।

इति यथास्थूलं नित्योपयोगिनां
प्रधानतमानां ( द्रव्याणां ) चोपसंग्रहः ।
घृतामलकसिन्धूत्थपटोलीनागराभयाः ।

१. पटोल, २. "मधुरदाडिमादि मधुरमपि न श्लेष्मकरमिति प्रदर्शनार्थं प्रायोग्रहणम्। एवं सर्वेषु प्रायोग्रहणेपूह्यम्।" इन्दुः। ३. मगधा,

श्रेष्ठा यथास्वं स्कन्धेषु रसदेशस्तु वक्ष्यते ॥

इस प्रकार स्थूलरूपसे नित्य (प्रतिदिन) उपयोगमें आनेवाले प्रधानतम द्रव्यों का संग्रहरूपेण वर्णन किया गया।

प्रत्येक रसके सर्वश्रेष्ठ द्रव्य—मधुरादि प्रत्येक रसके कथित द्रव्योंमें घृतादिको सर्वश्रेष्ठ जानना चाहिए जैसे कि मधुर द्रव्योंमें घृत, अम्ल पदार्थोंमें आमला, लवणोंमें सैन्धव, तिक्त रसस्कन्धमें परवल, कटुरसस्कन्धमें सौंठ (पाठान्तर से पीपल), तथा कषाय रसवाले सब द्रव्योंमें हरड़ श्रेष्ठ है। अब इसके अनन्तर रसदेश (रसोंके उत्पत्तिस्थानों)का वर्णनक रते हैं।

अथ यः शिशिरपवनधरणीधरविविधवनगहननदीतटाकपल्वलोदपानकमलकुमुदकुवलयावकीर्णो रम्यः स्थिरस्निग्धभूमिर्भूरिहरिततृणोऽतिदूरविस्तृतप्रतानप्रवालोपसंछन्नपादपः सस्यसरीसृपखगबहुलः श्लेष्मपित्तप्रायो गुर्वौषधिसलिलः श्लीपदगलरोगापचीज्वराद्यामयोपद्रुतजनपदः सोऽनूपो मधुररसयोनिः।

यस्तु विषमविपुलसिकतास्थलबहुलोऽतिदूरावगाढविरससलिलः कठिनः क्लेशसहारोगशरीरदीर्घायुः प्रायोजनपदोऽनूपविपरीतश्च स जाङ्गलः कटुकरसयोनिः।

उभयलक्षणमिश्रीभावात्साधारणः। अत एव चानूपसाधारणो जाङ्गलसाधारणश्चेति विकल्प्यः। तयोराद्यो लवणाम्लयोर्योनिरितरश्चेतरयोः। संयोगास्त्वेषां सप्तपञ्चाशद्भवन्तीति।

मधुर रसोत्पत्तिका देश—जो शीतल पवनवाला हो अर्थात् जिसमें ठण्डी हवा चलती हो, जहां अनेक पर्वत हों, जहां अनेक घने जङ्गल (वन) हों, जो अनेक नदियों, तालावों, तलैयाओं, कूपोंसे युक्त हो और जो कमल (सूर्यविकासी), कुमुद (चन्द्रविकासी कमल) और कुवलय नामक कमलोंसे व्याप्त हो तथा जो सदैव अतिरम्य एवं स्निग्ध भूमिवाला हो, जो अधिक हरी घासवाला हो, जिसमें दूर दूर तक विस्तृत लताओं, नवपल्लवों (कोमल नवीन पत्तों) से छाए हुए वृक्ष हों, जो बहुधान्यादि उत्पन्न करनेवाला हो तथा जहां सरीसृप (सर्पादि) जीवजन्तु और बहुत पक्षी हों, जिसमें प्रायः कफ और पित्तका प्रकोप होता हो, जहां के औषध तथा जल गुरु (भारी) हों, जिसमें रहनेवाली जनता प्रायः श्लीपद, गलरोग, अपची, गण्डमाला, ज्वरादि रोगोंसे पीड़ित हो वह अनूप देश मधुररसयोनि (मधुर रसकी उत्पत्ति का स्थान)है।

कटुक रसकी उत्पत्तिका स्थान—जो विषम स्थल (सर्वत्र एक सा न हो), जिसमें स्थान स्थानपर सिकता (रेती-बालुका) का बाहुल्य हो, जिसमें दूर दूर (बहुत गहराईमें) जल हो और वह भी विरस अर्थात् क्षार जल आदि, जहां के निवासी प्रायः क्लेशके सहनेवाले, नीरोग शरीरवाले तथा दीर्घायुवाले हों, जो प्रथम कहे हुए अनूप देशके लक्षणोंसे विपरीत लक्षणोंवाला हो वह जाङ्गल देश कटुक रसकी उत्पत्ति का स्थान है।

लवणाम्ल और तिक्तकषाय रसोंकी उत्पत्तिके स्थान—उभयलक्षण मिश्रीभावसे अर्थात् अनूप-जांगललक्षणोंके मिश्रीभावसे साधारण देश कहलाता है। इसलिये साधारण देशकी कल्पना दो प्रकार से करनी चाहिए जैसे कि एक अनूप साधारण तो दूसरा जाङ्गल साधारण। इनमें से पहला अनूप साधारण देश लवण रस और अम्ल रसकी उत्पत्ति का स्थान है और दूसरा जाङ्गल साधारण देश तिक्त और कषाय रसकी उत्पत्ति का स्थान है।

उक्त मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय इन ६ रसोंके संयोग कुल मिलाकर ५७ होते हैं। वे इस प्रकारसे हैं।

भवन्ति चात्र—

स्वादुर्द्विकेषु पञ्चाम्लश्चतुरो लवणस्त्रयम्।
द्वौ तिक्तः कटुकश्चैकं याति पञ्चदशेति ते ॥
त्रिकेषु मधुरः साम्लश्चतुरो लवणान्वितः।
त्रीन्युक्तस्तिक्तकेन द्वौ कटुनैकं निषेवते ॥
स्वादुर्दशैवमम्लः षट् त्र्यादिसंख्या तु पूर्ववत्।
लवणस्त्रीन् भजत्येकं तिक्त एषोऽत्र विंशतिः ॥
स्वादुः साम्लश्चतुष्केषु षट् त्रयं लवणानुगः।
एकं तिक्तयुतो याति दशैव मधुरो रसः ॥
चतुरोऽम्लः पटुश्चैकं भेदाः पञ्चदशेति च।
एकैकस्य परित्यागे विद्यात्पञ्चरसांश्च षट् ॥
एकं च षड्रसं षट् च पृथगेवं त्रिषष्ठिधा ॥

ते रसानुरसतो रसभेदास्तारतम्यपरिकल्पनया च।
संभवन्ति गणनां समतीता दोषभेषजवशादुपयोज्याः ॥

रसोंके संयोग अथवा भेद—मधुर, अम्ल, लवणादि षड्रसोंके संयोग या भेद कितने होते हैं? अब इस विषयको कहते हैं। उदाहरणार्थ यदि हम एक एक रसका अलग स्वाद लेंगे तो हमें ६ प्रकार के स्वाद प्रतीत होंगे जैसे कि मीठा, खट्टा, नमकीन, चरपरा, कड़ुआ और कसैला। यदि हम इन्हीं रसोंमें से दो दो रसोंको मिलाकर स्वाद लेंगे तो यह दो दो रसोंका संमिश्रित स्वाद कुछ और ही प्रकार का होगा। इसी प्रकार इन ६ रसोंमें से तीन तीन, चार चार, पांच पांच को मिलाकर स्वाद लेंगे तो वे स्वाद भी भिन्न भिन्न प्रकारके होंगे। छहों रसोंको एकत्रित कर देखेंगे तो वह एक स्वाद और ही प्रकारका होगा। इन रसोंके संयोगज भेदोंका पता हमें गणित द्वारा स्पष्ट मालूम हो सकता है और हो सकता है यह भी निश्चय कि मधुरादि भिन्न भिन्न रसोंका आस्वाद मिल कर ६ प्रकारका होगा। सारांश यह है कि संयोगरीत्या रसोंके कुल भेद ५७ होंगे। इनमें एक एक रसके ६ स्वाद मिला देनेसे कुल छहों रसोंके भेद ६३ होंगे। यही आचार्य ने ऊपर कहा है कि "एवं त्रिषष्ठिधा" इस प्रकार ६३ भेद होते हैं। इसीका स्पष्टी करण करते हुए आचार्य कहते हैं कि—

मधुर रसमिश्रित रसोंके द्विकसंयोग ५ होते हैं यथा १ मधुर-अम्ल २ मधुर-लवण ३ मधुर-तिक्त ४ मधुर-कटु और ५ मधुर-कषाय। इसी प्रकार अन्य रसोंसे मिलाकर अम्ल रसके ४ द्विक होंगे यथा—१ अम्ल-लवण २ अम्ल-तिक्त ३ अम्ल-कटुक और ४ अम्ल-कषाय। ऐसे ही लवण रसके अन्य रसोंके साथ मिलनेसे ३ द्विक होते हैं यथा १ लवण-तिक्त

१. तडाग, २. रम्योऽति, ३. मत्स्य, ४. उभयादिसाधारणशब्दान्तोऽयं पाठः प्रचलितपुस्तकयोः (मूलमुद्रितग्रन्थे इन्दुकृतटीकाग्रन्थे च) नास्ति किन्त्वायुर्वेदरसायने हेमाद्रिणाष्टाङ्गसंग्रहनाम्ना पाठोऽयं समुद्धृतः। स एवास्माभिरत्रोपयोगित्वात्संन्यस्तः। ५. विकल्पः। इति पाठान्तराणि।

२ लवण-कटुक और ३ लवण-कषाय। इसी तरह तिक्त रस कटु और कषाय रससे मिलकर दो द्विक उत्पन्न करेगा जैसे कि १ तिक्त-कटु और २ तिक्त-कषाय। कटु रस कषाय से मिलने पर एक ही द्विक होगा यथा १ कटु-कषाय। इस प्रकार से छहों रसोंके द्विक संयोगोंकी संख्या १५ होगी।

अब रसोंके त्रिकसंयोगोंको कहते हैं। अम्ल सहित मधुर रसके अन्य रसोंमें मिलनेसे कुल ४ त्रिक होते हैं जैसे कि १ मधुर-अम्ल-लवण, २ मधुर-अम्ल-तिक्त, ३ मधुर-अम्ल—कटुक और ४ मधुर-अम्ल-कषाय। यही मधुर रस अम्लका त्यागकर, उसकी जगह लवणको लेकर तीन त्रिक संयोग पैदा करता है यथा—१ मधुर-लवण-तिक्त, २ मधुर-लवण-कटुक और ३ मधुर-लवण-कषाय। इसी प्रकार लवण रस का त्याग कर उसके स्थानमें तिक्त को लेकर मधुर रस दो त्रिकसंयोग बनाता है जैसे कि १ मधुर-तिक्त-कटु और मधुर-तिक्त-कषाय। यही मधुर रस तिक्त को छोड़ उसकी जगह कटुक को लेकर एकत्रिकसंयोग बनाता है जैसे कि १ मधुर-कटुक-कषाय। इस प्रकार मधुर रस मिश्रित त्रिकसंयोग १० होते हैं। अम्ल रसमिश्रित त्रिकसंयोग ६ होते हैं यथा-१ अम्ल-लवण-तिक्त, २ अम्ल-लवण-कटु, ३ अम्ल-लवण-कषाय, ४ अम्ल-तिक्त—कटु, ५ अम्ल-तिक्त-कषाय और ६ अम्ल-कटु-कषाय। तिक्त सह लवण रस त्रिकसंयोग २ बनाता है। यथा १ लवण—तिक्त-कटु और २ लवण-तिक्त कषाय। तिक्त को छोड़कर उसके स्थानमें कटुको लेकर एक त्रिकसंयोग लवण रस बनाता है यथा-१ लवण-कटु-कषाय। ऐसे ही तिक्त रसद्वारा १ त्रिकसंयोग बनता है यथा १ तिक्त-कटु-कषाय। इस प्रकार रसोंके त्रिकसंयोग कुल २० होते हैं।

अब रसोंके चतुष्कसंयोगों को कहते हैं। मधुर रस अम्ल को साथ में लेकर शेष रसों से ६ चतुष्कसंयोगों को बनाता है जैसे कि १ मधुर-अम्ल-लवण-तिक्त, २ मधुर-अम्ल-लवण-कटु, ३ मधुर-अम्ल-लवण-कषाय, ४ मधुर-अम्ल-तिक्त-कटु, ५ मधुर-अम्ल-तिक्त-कषाय और ६ मधुर-अम्ल-कटु-कषाय। मधुर रस अम्ल को छोड़ उसकी जगह लवण को लेकर तीन चतुष्क संयोग बनाता है यथा १ मधुर-लवण-तिक्त-कटु, २ मधुर—लवण-तिक्त-कषाय तथा ३ मधुर-लवण-कटु-कषाय। लवण का त्यागकर उसके स्थानमें तिक्त को लेकर मधुर रस एक चतुष्कसंयोग बनाता है यथा १ मधुर-तिक्त-कटु-कषाय। इसी प्रकार अम्ल रस लवण को साथमें लेकर शेष रसों से तीन चतुष्कसंयोग बनाता है यथा १ अम्ल-लवण-तिक्त-कटु, २ अम्ल-लवण-तिक्त-कषाय और ३ अम्ल-लवण-कटु-कषाय। अम्ल रस लवणका त्याग कर उसकी जगह तिक्त को लेकर एक चतुष्कसंयोग बनाता है यथा १ अम्ल-तिक्त-कटु-कषाय। लवण रस तिक्त को साथ में ले ऐसे ही एक चतुष्कसंयोग बनाता है यथा १ लवण-तिक्त कटु-कषाय। इस प्रकार रसों के चतुष्क संयोग कुल १५ होते हैं।

अब रसपञ्चक संयोगों को कहते हैं। मधुर रस अम्ल को साथमें लेकर और लवण को साथ में ले १ रसपञ्चकसंयोग तैयार करता है जैसे कि १ मधुर-अम्ल लवण-तिक्त-कटु, २ मधुर-अम्ल-लवण-तिक्त-कषाय, ३ मधुर-अम्ल-लवण-कटु-कषाय और ४ मधुर-अम्ल-तिक्त-कटु-कषाय। लवण को लेकर एक यथा—१ मधुर-लवण-तिक्त-कटु-कषाय। अम्ल रस भी लवण को लेकर एक रसपञ्चक बनाता है जैसे कि १ अम्ल-लवण-तिक्त-कटु-कषाय। इस प्रकार रसपञ्चकसंयोग कुल ६ होते हैं।

रसषट्क का एक संयोग होता है अर्थात् मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और कषाय ये छहों रस एक साथ मिलकर १ संयोग तयार होता है।

ऊपर कहा गया है कि "संयोगास्त्वेषां सप्तपञ्चाशत भवन्ति" सो ठीक है अर्थात् रसद्विक १५, रसत्रिक २०, रसचतुष्क १५, रसपञ्चक ६ और रसषट्क १ इन सबका योग ५७ होता है। यह हुई रससंयोगों की बात। इसके अतिरिक्त "रसभेदास्त्रिषष्ठिधा" भी कहा है कि कुल रसों के भेद ६३ होते हैं सो भी ठीक है इस लिए कि मधुरादि एक एक रस को भेदकल्पना ६ होती है। इन ६ भेदों को ५७ संयोगों में मिलाने से ६ रसों की भेद संख्या का योग ६३ होता है।

## त्रिषष्ठिरसभेदकोष्ठक—

| सं० | भेद | | एक एक रस भेद ६ | सं० | भेद | | संयोग |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | एकरसभेदाः | मधुर | ३३ | १२ | त्रिकभेदाः | अ. ल. कटु |
| २ | २ | | अम्ल | ३४ | १३ | | अ. ल. कषा. |
| ३ | ३ | | लवण | ३५ | १४ | | अ. ति. कटु |
| ४ | ४ | | तिक्त | ३६ | १५ | | अ. ति. कषा. |
| ५ | ५ | | कटु | ३७ | १६ | | अ. क. कषा. |
| ६ | ६ | | कषाय | ३८ | १७ | | ल. ति. कटु |
| ७ | १ | द्विकभेदाः | मधुराम्ल | ३९ | १८ | | ल. ति. कषा. |
| ८ | २ | | मधुरलवण | ४० | १९ | | ल. क. कषा. |
| ९ | ३ | | मधुरतिक्त | ४१ | २० | | ति. क. कषा. |
| १० | ४ | | मधुरकटु | ४२ | १ | चतुष्कभेदाः | म. अ. ल. ति. |
| ११ | ५ | | मधुरकषाय | ४३ | २ | | म. अ. ल. क. |
| १२ | ६ | | अम्ललवण | ४४ | ३ | | म. अ. ल. कषा. |
| १३ | ७ | | अम्लतिक्त | ४५ | ४ | | म. अ. ति. क. |
| १४ | ८ | | अम्लकटु | ४६ | ५ | | म. अ. ति. कषा. |
| १५ | ९ | | अम्लकषाय | ४७ | ६ | | म. अ. क. कषा. |
| १६ | १० | | लवणतिक्त | ४८ | ७ | | म. ल. ति. क. |
| १७ | ११ | | लवणकटु | ४९ | ८ | | म. ल. ति. कषा. |
| १८ | १२ | | लवणकषाय | ५० | ९ | | म. ल. क. कषा. |
| १९ | १३ | | तिक्तकटु | ५१ | १० | | म. ति. क. कषा. |
| २० | १४ | | तिक्तकषाय | ५२ | ११ | | अ. ल. ति. क. |
| २१ | १५ | | कटुकषाय | ५३ | १२ | | अ. ल. ति. कषा. |
| २२ | १ | त्रिकभेदाः | म. अ. ल. | ५४ | १३ | | अ. ल. क. कषा. |
| २३ | २ | | म. अ. ति. | ५५ | १४ | | अ. ति. क. कषा. |
| २४ | ३ | | म. अ. कटु | ५६ | १५ | | ल. ति. क कषा. |
| २५ | ४ | | म. अ. कषा. | ५७ | १ | पञ्चकभेदाः | म. अ. ल. ति. क. |
| २६ | ५ | | म. ल. ति. | ५८ | २ | | म. अ. ल. ति. कषा. |
| २७ | ६ | | म. ल. कटु | ५९ | ३ | | म. अ. ल. क. कषा. |
| २८ | ७ | | म. ल. कषा. | ६० | ४ | | म. अ. ति. क. कषा. |
| २९ | ८ | | म. ति. कटु | ६१ | ५ | | म. ल. ति. क. कषा. |
| ३० | ९ | | म. ति. कषा. | ६२ | ६ | | अ. ल. ति. क. कषा. |
| ३१ | १० | | म. क. कषा. | ६३ | १ | षट्क | म.अ.ल.ति.क.कषा. |
| ३२ | ११ | | अ. ल. ति. | ६४ | ० | | सर्वरसाभावः |

विशेष विवरण

वैद्यसंसार प्रायः जानता है कि राजस्थानान्तर्गत जयपुर नगर भी काशी आदि की तरह संस्कृत विद्या का एक केन्द्र है। कई शताब्दियों से वहां अनेक विद्याओं के विद्वान् होते आए हैं। आयुर्वेदज्ञों के विषय में भी जयपुर की महती किसी से कम नहीं है। आयुर्वेदमार्तण्ड, जयपुर-महाराजा-कालिज के आयुर्वेद-विभागाध्यक्ष स्वर्गीय श्रीलक्ष्मीराम स्वामी को भी जयपुर ने ही जन्म दिया था। आप के गुरु प्रातःस्मरणीय स्वर्गीय कविवर कृष्णरामजी भट्ट आयुर्वेदादि शास्त्रों के दिग्गज पण्डित थे। आप भारतविख्यात कवि एवं आयुर्वेद के धन्वन्तरि, जयपुरनरेश वैकुण्ठवासी श्री माधवसिंहजी के सभा-पण्डित, प्रतिष्ठाप्राप्त, साहित्यसमुद्र के पान करने में अगस्ति के समान, कविता में महाकवि कालीदास के समान[1] थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। उन में एक 'सिद्धभेषजमणिमाला' भी बड़ा चमत्कारिक, काव्यरसपरिप्लुत, वैद्यकविषयका ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में आपने छन्दोगणित को आदर्श मानकर ऐसा गणित दिया है कि उससे वैद्यसंसार शीघ्र ही जान सकता है कि इतनी संख्यावाले दोष, दूष्य तथा रसों के कुल कितने भेद हो सकते हैं। इतना ही नहीं, छन्दोगणित के प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट की तरह गणित करके हम जान सकते हैं कि इतनी संख्यावाले दोषों, दूष्यों, या रसों के इतने भेद होते हैं। अमुक संख्या के भेद का रूप इस प्रकार होगा और इस प्रकार के रूप की भेदसंख्या इतनी होगी आदि आदि। अत्युपयुक्त होने से हम यहां सर्वसाधारण की जानकारी के लिये उसी गणितविधि को उदाहरणसहित लिखते हैं।

रसभेदसंख्या—इतने रसों के समस्त भेद कितने होंगे? इसका उत्तर चाहें तो सामने दिखाए हुए कोष्ठक की तरह एक रसभेदसंख्या कोष्ठक बनावें। प्रथम पंक्ति में २ से प्रारम्भ कर यथोत्तर द्विगुणित अङ्क[2] लिखें। यह चाहे जितनी संख्या तक लिख सकते हैं किन्तु रससंख्या ६ होने से हमने ६ संख्या तक ही यथोत्तर द्विगुणित अङ्क लिखे हैं। प्रथम पंक्ति के नीचे रसों के परिचायक क्रम से १, २, ३ आदि अङ्क लिख दें। ऊपर लिखी हुई संख्या में से अन्तिम रसाभाव का एक भेद कम कर देने पर आप जान सकेंगे कि इतनी रससंख्या के कुल भेद इतने होंगे। जैसे कि १, २, ३ मधुराम्ललवण आदि रसों की भेदसंख्या १, ३, ७, १४, ३१, ६३ सिद्ध हुई।

रसभेदसंख्या

| २ | ४ | ८ | १६ | ३२ | ६४ | भेद |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | रस |

रसभेदप्रस्तार—यदि आप मधुरादि छहों रसों अथवा जितने दोषों या रसों की भेदसंख्या के अनुसार भिन्न भिन्न संयोगों के रूप जानना चाहें तो प्रस्तार बनाकर जान सकते हैं। सारांश, इतने रसों के कुल भेद होते हैं किन्तु उन संयोगों के रूप किस किस रस के संयोग एवं वियोग से कैसे रहेंगे यह आप उन रसों के परिचायक अङ्कों से जान सकेंगे। प्रस्तार की गणित-विधि इस प्रकार से है—आगे लिखे हुए प्रस्तार की तरह प्रस्तार का कोष्ठक बनावें। प्रथम भेदों की अनुक्रमसंख्या लिखकर उसके सामने रसों के ( मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और कषाय के ) परिचायक १, २, ३, ४, ५, ६ अङ्क लिखे। यह सम्पूर्ण छहों रसों का संमिश्रण (संयोग) रूप पहला भेद होगा। यहां से प्रस्तार का आरम्भ करें, वह इस प्रकार करे कि पहले रसके नीचे ( द्वितीय कोष्ठ में ) शून्य लिखे और शेष कोष्ठों की पूर्ति ऊपर अङ्क हैं उन्हीं को लिख कर करे। यह दक्षिण बाजू की बात हुई। वाम बाजू की ओर किसी रस के नीचे शून्य लिखकर पूर्ति ऊपर के रसपरिचायक अङ्कों से ही करे। भावार्थ यह है कि शून्य लिखने के बाद दाहिनी ओर के कोष्ठों की पूर्ति उन कोष्ठों के ऊपरवाले कोष्ठों में जैसे अङ्क या शून्य हैं उन ही को लिखकर करे परन्तु बामभाग के कोष्ठों की पूर्ति उस उस कोठे के ऊपर के रस-परिचायक अङ्कों से ही करें। इस प्रकार करते करते जिस कोष्ठ में सर्व शून्य आ जावें तब समझ लें कि प्रस्तार पूरा होगया[1]। यह सर्वशून्यता उसी संख्या में होगी जितने कुल भेद हैं। इस प्रस्तारगणित से प्रथम भेद या संयोग वही रहेगा जिसमें मधुरादि छहों रसोंका संयोग रहेगा। दूसरे संयोगमें मधुर रसकी जगह शून्य आनेसे इसमें मधुर रस नहीं रहेगा, शेष पांचो रस रहेंगे। तृतीय संयोग भी पांच रसोंका रहेगा किन्तु इसमें अम्ल रस नहीं रहेगा। इसी प्रकार गणितसिद्ध ६३ भेदोंको जानना चाहिए। अन्तिम भेद ६४ संख्या के सामने सर्वशून्य आनेसे (सर्वरसाभाव होने से) यह भेद सिद्ध नहीं होता फलतः ६ रसोंके कुल भेद ६३ ही होंगे।

---

१. श्रीमन्माधवसिंहभूपसमितौ लब्धप्रतिष्ठापदः साहित्याम्बुधिकुम्भसंभवमुनिर्धन्वन्तरिर्वैद्यके। कीर्तिर्यस्य दिगन्तगा च कवने यः कालिदासोपमः सोऽयं राजभिषावरो विजयते श्रीकृष्णशर्मा गुरुः॥ इति स्वामी लक्ष्मीरामः।

२. "संख्या पूर्वाङ्कमारभ्य द्विघ्ना अङ्का यथोत्तरम्।,, इति

१. "प्रथमरसाधो गगनं यथोपरि तथैव शेषमवगच्छ। वामे तु रसानेव प्रस्तारोऽभाणि यावदभाणि॥" इति सिद्धभेषजमणिमाला।

षड्रसप्रस्तारकोष्टक—

| सं. | रससंयोग | | | | | | सं. | रससंयोग | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ३३ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ० |
| २ | ० | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ३४ | ० | २ | ३ | ४ | ५ | ० |
| ३ | १ | ० | ३ | ४ | ५ | ६ | ३५ | १ | ० | ३ | ४ | ५ | ० |
| ४ | ० | ० | ३ | ४ | ५ | ६ | ३६ | ० | ० | ३ | ४ | ५ | ० |
| ५ | १ | २ | ० | ४ | ५ | ६ | ३७ | १ | २ | ० | ४ | ५ | ० |
| ६ | ० | २ | ० | ४ | ५ | ६ | ३८ | ० | २ | ० | ४ | ५ | ० |
| ७ | १ | ० | ० | ४ | ५ | ६ | ३९ | १ | ० | ० | ४ | ५ | ० |
| ८ | ० | ० | ० | ४ | ५ | ६ | ४० | ० | ० | ० | ४ | ५ | ० |
| ९ | १ | २ | ३ | ० | ५ | ६ | ४१ | १ | २ | ३ | ० | ५ | ० |
| १० | ० | २ | ३ | ० | ५ | ६ | ४२ | ० | २ | ३ | ० | ५ | ० |
| ११ | १ | ० | ३ | ० | ५ | ६ | ४३ | १ | ० | ३ | ० | ५ | ० |
| १२ | ० | ० | ३ | ० | ५ | ६ | ४४ | ० | ० | ३ | ० | ५ | ० |
| १३ | १ | २ | ० | ० | ५ | ६ | ४५ | १ | २ | ० | ० | ५ | ० |
| १४ | ० | २ | ० | ० | ५ | ६ | ४६ | ० | २ | ० | ० | ५ | ० |
| १५ | १ | ० | ० | ० | ५ | ६ | ४७ | १ | ० | ० | ० | ५ | ० |
| १६ | ० | ० | ० | ० | ५ | ६ | ४८ | ० | ० | ० | ० | ५ | ० |
| १७ | १ | २ | ३ | ४ | ० | ६ | ४९ | १ | २ | ३ | ४ | ० | ० |
| १८ | ० | २ | ३ | ४ | ० | ६ | ५० | ० | २ | ३ | ४ | ० | ० |
| १९ | १ | ० | ३ | ४ | ० | ६ | ५१ | १ | ० | ३ | ४ | ० | ० |
| २० | ० | ० | ३ | ४ | ० | ६ | ५२ | ० | ० | ३ | ४ | ० | ० |
| २१ | १ | २ | ० | ४ | ० | ६ | ५३ | १ | २ | ० | ४ | ० | ० |
| २२ | ० | २ | ० | ४ | ० | ६ | ५४ | ० | २ | ० | ४ | ० | ० |
| २३ | १ | ० | ० | ४ | ० | ६ | ५५ | १ | ० | ० | ४ | ० | ० |
| २४ | ० | ० | ० | ४ | ० | ६ | ५६ | ० | ० | ० | ४ | ० | ० |
| २५ | १ | २ | ३ | ० | ० | ६ | ५७ | १ | २ | ३ | ० | ० | ० |
| २६ | ० | २ | ३ | ० | ० | ६ | ५८ | ० | २ | ३ | ० | ० | ० |
| २७ | १ | ० | ३ | ० | ० | ६ | ५९ | १ | ० | ३ | ० | ० | ० |
| २८ | ० | ० | ३ | ० | ० | ६ | ६० | ० | ० | ३ | ० | ० | ० |
| २९ | १ | २ | ० | ० | ० | ६ | ६१ | १ | २ | ० | ० | ० | ० |
| ३० | ० | २ | ० | ० | ० | ६ | ६२ | ० | २ | ० | ० | ० | ० |
| ३१ | १ | ० | ० | ० | ० | ६ | ६३ | १ | ० | ० | ० | ० | ० |
| ३२ | ० | ० | ० | ० | ० | ६ | ६४ | ० | ० | ० | ० | ० | ० |

नष्टविधि—इतनी संख्यावाले दोषों अथवा रसों के कुल भेद कितने होंगे, यह हम रससंख्यागणित से जान चुके और प्रस्तारविधि से यह भी जान चुके कि उन संयोगों के रूप इस प्रकार के होंगे अर्थात् क्रम से सब संयोगों के रूप हम जान लेंगे परन्तु इतने झंझट में न पड़कर यदि जल्दी आवश्यकता हो कि कुल ६३ संयोगों में से अमुक संख्यावाला रूप या भेद कैसा होना चाहिए तो इसको हम नष्टविधि से जान सकेंगे। प्रथम वह संख्या सम हो तो शून्य, विषम हो तो रसकी संख्या लिखें लें और फिर उस (संख्या) को आधा करे। संख्या विषम हो तो उसमें एक मिलाकर आधा करे। आधी संख्या के सम आनेपर पूर्ववत् शून्य और विषम आने पर १, २, ३, ४, ५, ६ रसपरिचायक अङ्क लिखे। इस विधि को अन्त तक करने से हमें अभीष्ट संख्या का असली रूप मिल जायगा। उदाहरणार्थ किसी ने पूछा कि रसों के ६३ भेदों में से १७ वाँ भेद किस प्रकार का होगा या उसमें कौन कौन से रस रहेंगे और कौन से नहीं ? उत्तरार्थ १७ विषम संख्या है अतः प्रथम रसका परिचायक १ अङ्क लिखा, फिर १७ का आधा १ मिलाकर किया ( क्योंकि १७ विषम अङ्क है ) तो ९ विषम अङ्क प्राप्त हुआ अतः द्वितीय स्थान में भी दूसरे रस का परिचायक अङ्क २ लिखा। अब ९ विषम है इस लिए १ मिलाकर आधा किया ५ प्राप्त हुआ। यह भी विषम है इस लिए तीसरी जगह रसपरिचायक ३ का अङ्क लिखा। अब पांच का आधा भी विषम होने के कारण १ मिलाकर किया तो ३ आया अतः चौथे रस की जगह भी रसपरिचायक ४ का अङ्क लिखा। विषम है इस लिए ३ में १ मिलाकर आधा किया तो २ आया अतः सम होने से पांचवें स्थान में शून्य लिखा। फिर २ का आधा १ विषम आया इस लिए छठी जगह छठे रस का परिचायक ६ का अङ्क लिखा। इस प्रकार नष्टगणित से १७ वाँ भेद | १ | २ | ३ | ४ | ० | ६ | इस रूपवाला हुआ। प्रस्तारचक्र में देखिए आपको १७ वां रससंयोग यही मिलेगा। सारांश, १७ वें संयोग में मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त और कषाय ये पांच रस रहेंगे, केवल पांचवाँ कटु रस नहीं रहेगा।

उद्दिष्टविधि—यदि किसी संयोग या भेद का रूप लिखकर कोई पूछे कि यह संयोग या रूप किस संख्यावाला है ? इसे हम उद्दिष्टविधि से जान सकते हैं। वह इस प्रकार है कि प्रथम उस संयोग के रूप को लिखे और क्रम से उन रसों के ऊपर १ से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर द्विगुणित संख्या लिखे। इस प्रकार शून्य पर आई हुई संख्याओं का योगकर १ और मिलाने से जो संख्या प्राप्त होगी, उसी संख्यावाला वह संयोग या भेद है यह सिद्ध होगा। उदाहरणार्थ आगे लिखे हुए | १ | २ | ३ | ४ | ० | ६ | संयोग को ही किसी ने पूछा कि यह संयोग कितनवाँ है ? इसके उत्तरार्थ इस रसों के संयोग को क्रम से लिखकर क्रम से ऊपर १ से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर द्विगुणित अङ्क लिखे तो ऐसा कोष्टक बनेगा।

| १ | २ | ४ | ८ | १६ | ३२ |
|---|---|---|---|---|---|
| १ | २ | ३ | ४ | ० | ६ |

शून्यवाले कोठों के ऊपरवाले अङ्कों का योग कर उसमें १ मिलाने से उस संयोग की संख्या मिलेगी। यहां केवल एक ही कोठे में शून्य है। उस पर १६ का अङ्क है। उसमें एक मिलाने से सिद्ध हुआ कि यह भेद या संयोग १७ वां है। दूसरे उदाहरणार्थ | ० | २ | ० | ४ | ० | ६ | इस रूप की संख्या जानना है तो इन रसों को क्रम से लिखकर उनपर क्रम से १ से प्रारम्भ कर द्विगुणित अङ्क उत्तरोत्तर लिखे तो सामने का कोष्टक बना। इसमें तीन रसों की जगह शून्य हैं और उन

| १ | २ | ४ | ८ | १६ | ३२ |
|---|---|---|---|---|---|
| ० | २ | ० | ४ | ० | ६ |

पर के अङ्क १, ४, १६ को जोड़ा तो २१ हुए। इसमें १ और

१. 'नष्टप्रश्ने तदर्धेऽर्धे समे खं विषमे रसः' इति।

१. 'आद्याद् द्विग्नाङ्किर्तोद्दिष्टं सैकं स्यात् खाङ्कमिश्रणम्, इति सिद्धभेषजमणिमाला।

मिलाने से सिद्ध हुआ कि यह २२ वाँ भेद या संयोग है। प्रस्तार में देखिए आपको बाईसवें संयोग का रूप यही लिखा हुआ मिलेगा।

इसका और भी गणित मेरु, मर्कटी, पताका का है परन्तु ग्रन्थ-विस्तर-भय से हम यहां उसको छोड़ देते हैं। पाठक चाहें तो वे 'सिद्धभेषजमणिमाला' में देख सकते हैं।

रसों का आनन्त्य—इस अध्याय का उपसंहार करते हुए आचार्य कहते हैं कि यद्यपि ६ रसों के भेद ६३ होते हैं परन्तु ये ही रस, अनुरस तथा तारतम्य अर्थात् तर-तमकल्पना से अनेक हो सकते हैं। उन संयोगों एवं भेदों की गणना ही नहीं हो सकती। सारांश, जिसको विशिष्ट रस माना है और उसी को अनुरस मान लें, या इसी प्रकार मधुरतर, मधुरतम, अम्लतर, अम्लतम आदि कल्पना करके रसों के भेद करने लगें तो इनकी गणना ही नहीं हो सकती। इस प्रकार रसों के भेद अनन्त हो सकते हैं अतः वैद्य को चाहिए कि वह इन रसों की योजना दोष-दूष्यादि का पूर्ण विचार करके करे।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यायां रसभेदीयो नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

# अथैकोनविंशोऽध्यायः।

**अथातो दोषादिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।**

जिसके रस, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव आश्रित हैं, वह 'द्रव्य' कहलाता है। और जिस द्रव्य की योजना दोषादि की क्षय-वृद्धि के अनुसार शरीर में की जाती है। वे दोषादि अर्थात् दोष, धातु और मल प्राकृत तथा विकृत रूप से जब तक नहीं जाने जाते तब तक वैद्य अपनी औषध-योजना का निश्चय ठीक नहीं कर सकता अतः प्रत्येक वैद्य के लिए दोषादिक के प्राकृत-विकृत स्वरूप का जानना नितान्त आवश्यक एवं अनिवार्य है। इसी लिए आचार्य कहते हैं कि-अब हम जिससे दोषादि का भली भांति ज्ञान होता है उस 'दोषादि' विज्ञानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा कि आत्रेयादि पूर्व महर्षियों ने किया है।

**दोषधातुमलमूलो हि देहः[1]। तमुच्छ्वासनिःश्वासोत्साहप्रस्पन्देन्द्रियपाटववेगप्रवर्तनादिभिर्वायुरनुगृह्णाति। पक्त्यूष्माभिलाषक्षुत्पिपासाप्रभाप्रसाददर्शनमेधाशौर्यमार्दवादिभिः पित्तम्। स्थैर्यस्नेहसन्धिबन्धवृषताक्षमाधीबलालौल्यादिभिः श्लेष्मा। तुष्टिप्रीणनरक्तपुष्टिभिस्तु रसः। जीवनवर्णप्रसादनमांसपोषणैरसृक्। देहलेपमलमेदःपुष्टिभिर्मांसम्। नेत्रगात्रस्निग्धतास्नेहदार्ढ्यास्थिपुष्टिभिर्मेदः। देहोर्ध्वताधारणमज्जपोषणाभ्यामस्थि। स्नेहबलास्थिपूरणशुक्रपुष्टिभिर्मज्जा। हर्षबलगर्भोत्पादनैः शुक्रम्। अवष्टम्भानिलानलधारणैः शकृत्। अन्नक्लेदनिर्वाहणेन मूत्रम्। क्लेदत्वक्स्नेहरोमधारणैः स्वेद इति।**

देहका दोषधातुमलमूलत्व—दोष, धातु और मल ये तीनों शरीर के मूल हैं अर्थात् दोष (वात, पित्त और कफ), धातु (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य) तथा मल (शकृत्, मूत्र और स्वेद) ये शरीर की स्थिति या धारणा के मूल कारण हैं। जैसे मूल के बिना शाखा, पत्र, पुष्प, फलवाले वृक्ष की स्थिति नहीं रह सकती वह वृक्ष पनप नहीं सकता, ठीक इसी प्रकार उपर्युक्त दोष, धातु और मल के बिना शरीर टिक नहीं सकता। दोष, धातु और मल ये शरीर की सम्यक् स्थिति अपनी प्राकृत या समावस्था में ही रख सकते हैं किन्तु अपनी वृद्धि या क्षयावस्था में ये शरीरस्थिति को ठीक नहीं रख सकते। क्षय-वृद्धावस्था ही का दूसरा नाम विषमावस्था है जो कि शरीर को रोगी बनानेवाली है। कहा भी है कि "रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता" एतदर्थ हमें दोष, धातु और मलकी समावस्था को जानना चाहिए। समावस्था के विपरीत वैषम्य को देखते ही हम जान सकेंगे कि यह रुग्ण है और समावस्था से नीरोगता, अतः आचार्य सबसे प्रथम दोष-धातु-मलों की क्रम से समावस्था का वर्णन करके यह बताते हैं कि समावस्था में रहते हुए दोष, धातु और मल किस प्रकार शरीर पर अनुग्रह कर उसका पोषण करते हैं अथवा शारीरिक स्थिति को बराबर अच्छी बनाए रखते हैं।

शरीर पर वायु का अनुग्रह—सम अवस्था में रहता हुआ वायु उच्छ्वासनिश्वास (श्वास का शरीर के बाहर की ओर लाना और भीतर की ओर ले जाना), उत्साह (स्फूर्ति), प्रस्पन्द (शरीर-चेष्टा), इन्द्रियपाटव (चक्षु, कान, नासिका आदि इन्द्रियों की अपने २ विषयों को ग्रहण करने की शक्ति), वेग-प्रवर्तन (मलमूत्रादि वेगों को प्रवृत्त करना), इत्यादि शरीर की अन्य समस्त प्रवृत्तियों को-क्रियाओं को ठीक करके, शरीर का पोषण तथा धारण करके शरीर पर अनुग्रह करता है।

शरीर पर पित्तका अनुग्रह—किए हुए आहार को पचाना, शरीर में उसके योग्य उष्णता को बनाए रखना, प्रिय वस्तुओं के भोगने की इच्छा, भूख और प्यास की प्रवृत्ति, शरीर की कान्ति (प्रभा) को निर्मल रखना, दृश्य पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ देखने की शक्ति, किसी भी विषय को धारण करनेवाली बुद्धि, शूरता, मृदुता, तेजस्वितादि शरीरगत अनेक कार्यों को करता हुआ शरीर को धारण-पोषण करके पित्त अनुग्रह करता है।

शरीर पर कफ का अनुग्रह—शरीर को दृढ रखना, सचिक्कण रखना, सन्धियों के बन्धन ढीला न होने देना, स्त्री-गमन में शक्ति प्रदान करना, सहनशक्ति, बुद्धि, धैर्य, बल, सन्तोष (इच्छाशक्तिका रोकना) तथा शरीरगत समस्त सौम्यभावों को प्रदान करना, इस प्रकार शरीर का धारण-पोषण कर कफ अनुग्रह करता है।

वातादि तीन दोषों के अनुग्रह का वर्णन करके अब रस, रक्तादि धातुओं के अनुग्रह को बताते हैं।

शरीर पर रसानुग्रह—मनकी प्रसन्नता, हृदय की तृप्ति और रक्त की पुष्टि, इन क्रियाओं को करता हुआ रस धातु शरीर पर धारण-पोषणात्मक अनुग्रह करता है।

---

१. अस्याग्रे 'तस्मात्तेषां लक्षणमुपदेक्ष्याम' इत्यधिकपाठोऽपि दृश्यते।

शरीर पर रक्तानुग्रह—प्राणों की धारणा या ओजोवृद्धि, वर्ण की निर्मलता, मांस का पोषण, इन कर्मों द्वारा शरीर का धारण-पोषण कर रक्तधातु अनुग्रह करता है।

शरीर पर मांसानुग्रह—देह में लिपट कर मल और मेद की पुष्टि करता हुआ शरीर का धारण-पोषण कर मांस अनुग्रह करता है।

शरीर पर मेदका अनुग्रह—नेत्रों तथा गात्रों ( शरीर के समस्त अवयवों ) में स्निग्धता, स्नेहता, दृढता और अस्थियों की पुष्टि द्वारा शरीर का धारण-पोषण कर मेद अनुग्रह करता है।

शरीर पर अस्थियोंका अनुग्रह—देहको खड़ा रखना तथा मज्जा का पोषण करना इन कर्मों को करता हुआ शरीर का धारण-पोषण कर अस्थि धातु अनुग्रह करता है।

शरीर पर मज्जा का अनुग्रह—स्नेह, बल और अस्थि की पूर्ति करना, वीर्य को पुष्ट करना, इन क्रियाओं द्वारा शरीर का धारण-पोषण कर मज्जा धातु अनुग्रह करता है।

शरीर पर शुक्र धातु का अनुग्रह—हर्ष, बल, गर्भ की उत्पत्ति, इन कर्मों को करता हुआ शरीर के भरण-पोषण में शुक्रधातु अनुग्रह करता है।

रसरक्तादि धातुओं के अनुग्रह का वर्णन कर अब आचार्य मलों के अनुग्रह को कहते हैं—

शरीर पर पुरीषानुग्रह—शरीरको धारण शक्ति प्रदान कर, वायु एवं जठराग्नि को धारण करता हुआ शरीर के भरण-पोषण में पुरीष ( मल ) अनुग्रह करता है।

शरीर पर मूत्रानुग्रह—अन्न के क्लेद को शरीर से बाहर निकाल कर शरीर के भरण-पोषण में मूत्र अनुग्रह करता है।

शरीर पर स्वेद का अनुग्रह—क्लेद, त्वचा, स्नेह और रोम इनको धारण करता हुआ स्वेद शरीर के धारण-पोषण में अनुग्रह करता है।

इस प्रकार प्रकृतिस्थ अर्थात् सम दोष, धातु एवं मलों के कार्यों का वर्णन करके अब आचार्य विकृत अर्थात् विषमावस्था में आए हुए दोष, धातु और मलों के कार्यों को कहेंगे। दोषादि की वृद्धि और क्षीणता ही का नाम विषमावस्था है, अतः प्रथम वृद्धिगत ( बढ़े हुए ) दोष, धातु और मलों के कार्यों को कहते हैं।

कार्श्यकार्ष्ण्यगात्रकम्पस्फुरणोष्णकाभितासंज्ञानिद्रानाशबलेन्द्रियोपघातास्थिशूलमज्जाशोषमलसंगाध्मानाटोपमोहदैन्यभयशोकप्रलापादिभिर्वृद्धो वायुः पीडयति। पीतत्वग्लानीन्द्रियदौर्बल्योजोविस्रंसशीताभिलाषदाहतिक्तास्यतातृण्मूर्च्छाल्पनिद्रताक्रोधादिभिः पित्तम्। श्वैत्यशैत्यस्थौल्यालस्यगौरवाङ्गसादस्रोतःपिधानमूर्च्छानिद्रातन्द्राश्वासकासप्रसेकहृल्लासाग्निसादसन्धिविश्लेषादिभिः श्लेष्मा।

बढ़े हुए वायु के कार्य—शरीर में बढ़ा हुआ वायु कृशता, वर्ण में कालापन, शरीर का कांपना, अङ्गों का फड़कना, उष्णता की अभिलाषा, संज्ञा और निद्रा का नाश, बल एवं इन्द्रियों की हानि, हड्फूटन, मज्जा का शोष, मल-मूत्र-स्वेद का अवरोध, पेट का फूलना, पेट की गुड़गुड़ाहट, मूर्च्छा, दैन्य, भय, शोक, प्रलाप आदि करके पीडा देता है।

बढ़े हुए पित्त के कार्य—बढ़ा हुआ पित्त त्वचा में पीलापन, ग्लानि, इन्द्रियों में दुर्बलता, बलनाश, ठण्डे पदार्थों की इच्छा, दाह, मुँह का कड़ुवापन, तृषा, मूर्च्छा, नींद का कम आना, क्रोध आदि को करके देह को कष्ट देता है। यहां आदि शब्द से विष्ठा, मूत्र और नेत्रों की पीतता भी लेनी चाहिये॥

बढ़े हुए कफ के कार्य—बढ़ा हुआ कफ शरीर में श्वेतवर्णता, शैत्य, स्थूलता, आलस्य, देह में भारीपन, शिथिलता, स्रोतों में रुकावट, मूर्च्छा, निद्रा, तन्द्रा, श्वास, कास, मुख से लार टपकना ( प्रसेक ), उबकाई, अग्निमान्द्य, सन्धियों का जकड़ जाना आदि विकारों को करके पीडा देता है।

वातादि दोषों की वृद्धि के कार्यों को कह कर अब रस, रक्तादि धातुओं की वृद्धि के कार्य बताते हैं।

प्रसेकारोचकास्यवैरस्यहृल्लासस्रोतोरोधस्वादुद्वेषाङ्गमर्दादिभिरन्यैश्च श्लेष्मविकारप्रायै रसः। कुष्ठविसर्पपिटिकासृग्दराक्षिमुखमेढ्रगुदपाकप्लीहगुल्मविद्रधिव्यङ्गकामलाग्निनाशतमःप्रवेशरक्ताङ्गनेत्रतावातरक्तैरेभिरन्यैश्च पित्तविकारप्रायैरसृक्। गलगण्डगण्डमालार्बुदग्रन्थिताल्वजिह्वाकण्ठरोगस्फिग्गण्डौष्ठबाहूदरोरुजङ्घागौरववृद्धिभिः श्लेष्मरक्तविकारप्रायैश्च मांसम्। प्रमेहपूर्वरूपैः स्थौल्योपद्रवैश्चान्यैरपि श्लेष्मरक्तमांसविकारप्रायैर्मेदः। अध्यस्थिभिरधिदन्तैश्चास्थि। नेत्राङ्गरक्तगौरवैः पर्वसु च स्थूलमूलारुर्भिर्मज्जा। अतिस्त्रीकामिताशुक्राश्मरीसंभवाभ्यां शुक्रम्।

बढ़े हुए रस के कार्य—मुख से लार टपकना, अरुचि, मुख की विरसता, लारसहित उबकाई-जीमचलाना, स्रोतों का अवरोध, मधुर रस से द्वेष, अङ्ग-अङ्ग का टूटना तथा प्रायः कफ के विकारों को करके पीडा देता है।

बढ़े हुए रक्त के कार्य—कोढ़, विसर्प; फोड़े-फुन्सी, रक्तप्रदर, नेत्र-मुख-लिङ्ग और गुदा का पकना, तिल्ली, बायगोला, विद्रधि, मुखव्यङ्ग ( मुख पर काली झांई पड़ना ), कामला, अग्निमान्द्य, आंखों के सामने अँधियारी आना, शरीर और नेत्रों में ललाई, वातरक्त आदि प्रायः पित्त के विकारों को करके शरीर में पीडा करता है।

बढ़े हुए मांस के कार्य—गलगण्ड, गण्डमाला (कण्ठमाला), अर्बुद, ग्रन्थि, तालुरोग, जिह्वारोग, कण्ठ के रोग, फीचें, गाल, होठ, बाहु, उदर, ऊरु तथा जांघों में गौरव ( भारीपन ) आदि रोगों को करके तथा प्रायः कफरक्त-किकारों को करके शरीर को दुःखी करता है।

बढ़े हुए मेद के कार्य—बढ़ा हुआ मेद प्रमेह के पूर्वरूप ( स्वेद, अङ्गगन्ध आदि ), स्थूलता के उपद्रवादि और प्रायः कफ-रक्त-मांस विकारों को करके देह को पीडा देता है।

बढ़ी हुई अस्थि के कार्य—बढ़ी हुई अस्थि हड्डियों और

१. "नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात्। रक्तेन धार्यते देहो रक्तं जीव इति स्थितिः॥" इति सुश्रुतः।

दांतों में वृद्धि करके या अस्थि पर अस्थि-दांत पर दांत उत्पन्न करके देहको दुःखी करती है।

बढ़ी हुई मज्जा के कार्य—नेत्र, शरीर तथा रक्त में गुरुता (भारीपन), अंगुलियों के पर्वों (सन्धियों) में जाड़े (स्थूल) मूलवाले व्रणों को उत्पन्न कर पीडा देती है।

बढे हुए वीर्य के कार्य—बढ़ा हुआ शुक्र या वीर्य स्त्री-संग की अति इच्छा तथा शुक्राश्मरी को उत्पन्न कर देह में पीडाकारक होता है।

वृद्धिंगत धातुओं के कार्यों (लक्षणों) को कह कर अब बढ़े हुए मलों के कार्यों का वर्णन क्रम से करते हैं।

आधिक्यकुक्षिशूलाटोपगौरवैः शकृत्। आधिक्यबस्तितोदाध्मानैर्मूत्रम्[१]। आधिक्यकण्डूदौर्गन्ध्यैः स्वेदः। अन्येऽपि च दूषिकादिमला बाहुल्यद्रवताकण्डूगौरवैः।

बढे हुए मल (पुरीष) के कार्य—पेट का फूलना, उदरशूल, पेट की गुड़गुड़ाहट और शरीर में भारीपन करके बढ़ा हुआ मल पीड़ाकारक होता है।

बढे हुए मूत्रके कार्य—पेड़ू में वृद्धि को प्राप्त होकर, पेट में टोंचने की सी पीडा और पेट का फूलना इनको करके बढ़ा हुआ मूत्र पीडाकारक होता है। पेशाब करने पर भी पेशाब नहीं किया, इस प्रकार का भास होना यह 'अष्टाङ्गहृदय' में अधिक लिखा मिलता है।

बढ़े हुए स्वेद के कार्य—बढ़ा हुआ पसीना कण्डू (खाज) और दुर्गन्धि को करके शरीर के लिए दुःखदायी होता है।

बढ़े हुए दूषिकादि मलोंके कार्य—इसी प्रकार जैसे कि ऊपर कहा गया है दूषिकादि अर्थात् आंख के गीड, कान के गुत्थ और नाक के पिञ्जूषनामक[२] मलों के बाहुल्य में द्रवता, कण्डू एवं गुरुतादिका भी अनुमान कर लेना चाहिए।

इस प्रकार वृद्ध दोष, धातु और मलों के कार्यों (लक्षणों) को कहकर अब क्षीण दोष-धातु-मलों के कार्यों का वर्णन करते हैं—

प्रसेकारुचिहृल्लाससंज्ञामोहाल्पवाक्चेष्टताप्रहर्षाङ्गसादाग्निवैषम्यादिभिः क्षीणो वायुः पीडयति। स्तम्भशैत्यानियततोददाहारोचकाविपाकाङ्गपारुष्यकम्पगौरवनखनयनशौक्ल्यादिभिः पित्तम्। भ्रमोद्वेष्टनानिद्राङ्गमर्दपरिशोषतोददवदाहस्फोटनवेपनधूमायनसन्धिशैथिल्यहृदयद्रवश्लेष्माशयशून्यतादिभिः श्लेष्मा।

क्षीण वायुके लक्षण—मुख से लार टपकना, अरुचि, उबकाई-जी मचलाना, संज्ञामोह[३] अर्थात् बुद्धि की विचारशक्ति में अक्षमता-बुद्धिका भली भांति विचार न कर सकना, अल्पवाक्यता-कम बोला जाना, शरीर-चेष्टाओं में अल्पता, अप्रसन्नता, कार्य करने में अशक्तता, जठराग्नि की विषमता आदि विकारों को करके क्षीण हुआ वायु पीडाकारक होता है।

क्षीण पित्तके लक्षण—क्षीण हुआ पित्त स्तम्भ (शरीर का जकड़ना), शैत्य, अनियत (चाहे जब) शरीर में टोंचने की सी पीड़ा होना, अरोचक, अन्न का न पचना, शरीर में पारुष्य (रुखाई), कम्प, गौरव (भारीपन), नखों एवं नेत्रों में श्वेतता आदि विकारों को करके पीडा देता है।

क्षीण कफ के लक्षण—शरीर में क्षीण हुआ कफ भ्रम, उद्वेष्टन[१] (रस्सी से बांधने के समान अङ्ग-उपाङ्ग तथा पिण्डलियों का जकड़ना), नींद का न लगना, शरीर का फूटना, परिप्लोष[२] (संताप के कारण त्वचा में स्वल्प दाह), टोंचने की सी पीड़ा, दाह, हृदफूटन, कम्प, धूमायन[३] (कण्ठ की जलन), सन्धियों का ढीला पड़ना, हृदयद्रव (हृदय का कांपना Palpitition), हृदय, कण्ठ आदि कफाशयका सूनासा हो जाना आदि व्याधियों को करके पीडाकारक होता है।

अब रसरक्तादि क्षीण धातुओं के लक्षण कहते हैं—

शब्दासहत्वहृदयद्रवकम्पशोषशूलशून्यतास्पन्दनघट्टनैरल्पयापि च चेष्टया श्रमतर्षाभ्यां रसः। त्वग्रौक्ष्याम्लशीताभिलाषशिराशैथिल्यैरसृक्। स्फिग्गण्डादिशुष्कतातोदरौद्याक्षग्लानिसन्धिस्फोटनधमनीशैथिल्यैर्मांसम्। प्लीहवृद्धिकटीस्वापसन्धिशून्यताङ्गरूक्षताकार्श्यश्रमशोषमेदुरमांसाभिलाषैर्मांसक्षयोक्तैश्च मेदः। दन्तनखरोमकेशशातनरौक्ष्यपारुष्यसन्धिशैथिल्यास्थितोदास्थिबद्धमांसाभिलाषैरस्थि। अस्थिसौषिर्यनिस्तोददौर्बल्यभ्रमतमोदर्शनैर्मज्जा। श्रमदौर्बल्यास्यशोषतिमिरदर्शनाङ्ग[४]पाण्डुतासदनक्लैब्यमुष्कतोदमेढ्रधूमायनैश्चिराच्च निषेकेण सरक्तनिषेकेण वा शुक्रम्।

क्षीण रसके लक्षण—शब्द का सहन न होना, हृदयकम्प, शरीर का कांपना, शोष, शूल, अङ्गशून्यता (प्रसुप्ति), अङ्गों का फड़कना, अल्प चेष्टा के करने पर भी थकावट और प्यास का अनुभव होना ये सब मनुष्यशरीर में क्षीण रसके लक्षण हैं।

क्षीण रक्तके लक्षण—शरीर में रक्त के क्षीण होने से चमड़ी पर रूखापन, खटाई और ठण्डे पदार्थों की इच्छा, सिराओं का ढीला पड़ना ये लक्षण होते हैं।

मांसक्षीण के लक्षण—शरीर में मांस के क्षीण होने से स्फिक् (गण्डस्थलके पासका भाग) और गण्डस्थल (पौंदों) आदि में शुष्कता (सूख जाना), शरीर में टोचने की सी पीड़ा, अक्षग्लानि (इन्द्रियों का अपने कार्य करने में असामर्थ्य), सन्धियों के स्थान में पीड़ा, और धमनियों में शिथिलता ये लक्षण होते हैं।

क्षीण मेदके लक्षण—मेदके क्षीण होने से प्लीहा (तिल्ली) का बढ़ना, कमर में स्वाप (सुप्तता या शून्यता), सन्धियों में शून्यता, शरीर में रूक्षता, कृशता, थकावट, शोष, गाढ़े मांसके खाने की इच्छा तथा उपर्युक्त क्षीण मांस के कहे हुए लक्षण होते हैं।

---

१. मूत्रं तु बस्तिनिस्तोदं कृतेऽप्यकृतसंज्ञताम् इति।

२. दूषिका—नेत्रमलमिति हेमाद्रिः। गुत्थं कर्णमलं प्रोक्तं पिञ्जूषं नासिकामलम्। इति कोषः। ३. संज्ञा-बुद्धिः, तस्या मोहो-विवेचनाक्षमत्वम्। इति हेमाद्रिः।

१. रज्ज्वादिनाङ्ग उद्वेष्टनमिवोद्वेष्टनम्। २. परिप्लोषः संतापात्स्वल्पस्त्वग्दाहः। ३. धूमायनं कण्ठे धूम इव। इत्यादीन्दुः

४. दर्शनाङ्गमर्दपाण्डु इति पाठा०।

क्षीण अस्थिके लक्षण—अस्थि के क्षीण होने से दांतों-नखों-रोमों और केशों का गिरना, रूक्षता, पारुष्य ( कड़ा या रूखा बोलना ), सन्धियों में ढीलापन, हड्डियों में चुभने की सी पीड़ा, अस्थिबद्ध मांस के खाने की इच्छा ये सब लक्षण होते हैं।

क्षीण मज्जा के लक्षण—मज्जा के क्षीण होने से अस्थिसौषिर्य ( हड्डी में पोल का प्रतीत होना ), बड़ी पीडा, दुर्बलता, चक्कर आना, प्रकाश में भी अँधेरे का अनुभव होना, ये लक्षण होते हैं।

शुक्रक्षय के लक्षण—वीर्य के क्षीण होने पर थकावट, दुर्बलता, मुँह का सूखना, सामने अँधियारी का आना, शरीर का टूटना, शरीर का पीला पड़ जाना, अग्निमान्द्य, नपुंसकता, अण्डकोष में टोंचने की सी पीड़ा, लिङ्ग में धुँवे जैसी प्रतीति अर्थात् दाह होना, स्त्रीसंगमें बड़ी देरसे वीर्य का स्खलन होना या। वीर्यस्खलन न होकर बड़ी देर के बाद लिङ्गेन्द्रिय से रक्त सह वीर्य का स्खलन होना ये लक्षण होते हैं।

इस प्रकार रस-रक्तादि क्षीण धातुओं के लक्षणों को कहकर अब क्षीण मलों के लक्षण कहते हैं—

सशब्दस्य वायोः कुक्षौ तिर्यगूर्ध्वं च भ्रमणेनान्त्रवेष्टनेन पार्श्वहृदयपीडनेनाल्पतया च शकृत्। बस्तिनिस्तोदमुखशोषकृच्छ्राल्पविवर्णमूत्रतादिभिः सरुधिरमूत्रतया वा मूत्रम्। स्तब्धरोमतारोमच्यवनत्वक्परिपाटनस्वापपारुष्यस्वेदनाशैः स्वेदः। अन्येऽपि च मलायथायथं मलायनदोषतोदशोषशून्यत्वलाघवैः।

क्षीण मल ( पुरीष ) के लक्षण—मल अथवा पुरीषके क्षीण होने से पेट में वायु शब्द करता हुआ, मानो अन्तड़ियों से लिपटा हुआ भ्रमण करता है, हृदय एवं पार्श्व भाग में पीड़ा करता हुआ तिर्छे या ऊर्ध्व भाग की ओर जाता है, ये लक्षण होते हैं।

क्षीण मूत्र के लक्षण—क्षीण हुआ मूत्र पेडू या बस्ति में पीडा, मुँह का सूखना, मूत्र का कष्ट से आना, थोड़ा थोड़ा आना और विवर्ण ( अपने रंग को छोड़ बदरंग के रूप में आना ) अथवा मूत्र का रक्तसहित आना ये लक्षण करता है।

क्षीण स्वेद के लक्षण—क्षीण स्वेद होने से वह रोमों की स्तब्धता, रोमों का गिरना, त्वचा का फटना, त्वचा में स्पर्शज्ञान न होना, त्वचा का रुखाई लिए रहना और पसीने का नाश ( न आना ) ये लक्षण करता है।

दूषिकादि अन्य मलों के लक्षण—दूषिकादि मलों के जो जो अयन ( स्थान ) हैं जैसे कि आंख, कान, नाक आदि इनमें दोष ( वायु आदि ), तोद ( पीड़ा ), शोष, शून्यता तथा लाघवादि के अनुसार इनके लक्षणों को जानना चाहिए।

विपरीतगुणक्षयवृद्धिभ्यां च वृद्धिक्षयावुपलक्षयेत्। मलानां त्वतिसङ्गोत्सर्गाभ्यां च तद्वृद्धिक्षयौ। वृद्धेस्तु मलानां क्षयः पीडयति सुतरामनौचित्यात्। तत्रास्थिन स्थितो वायुरसृक्स्वेदयोः पित्तं शेषेषु तु श्लेष्मा। तस्मादेकवृद्धिक्षयसाधनत्वमेषां न त्वेवमस्थिवाय्वोः सर्वैव हि वृद्धिः प्रायोऽतिसंतर्पणनिमित्तत्वाच्छ्लेष्मणानुगता। तद्विपर्ययाच्च क्षयो वायुना। तस्माल्लङ्घनबृंहणाभ्यां वृद्धिक्षयजान्विकारानुपाचरेत्। पवने तु बृंहणलङ्घनाभ्याम्। सर्वत्र च द्रव्यगुणकर्मविपर्ययतुल्यभावेनाविरुद्धेन।

दोषादिक्षयवृद्धिज्ञानोपाय—दोषादि के गुणों से विपरीत गुणों की क्षयवृद्धि से क्रमेण दोषादि में वृद्धि और क्षय जानना चाहिए अर्थात् दोषादि गुणों से विपरीत गुणों के क्षय से दोषादिकी वृद्धि होती है और उक्त विपरीत गुणों की वृद्धि से दोषादिका क्षय होता है-दोषादि क्षीण होते हैं। उदाहरणार्थ जैसे कि वायु के गुण रूक्ष, लघु, शीतादि हैं, इनके विपरीत गुण स्निग्ध, गुरु, उष्ण आदि हैं। इन गुणों के देह में क्षय होने से वायु की वृद्धि होती है। इन्हीं वायुगुण-विपरीत स्निग्धादि गुणों की शरीर में वृद्धि होने पर वायु का क्षय होता है। इसी प्रकार शेष पित्त-कफ दोष तथैव रसरक्तादि धातु और मलों के विषय में जानना चाहिए। मल ( पुरीष ), मूत्र और स्वेद का वृद्धि-क्षय उनके अतिसङ्ग ( अतिसंग्रह ) तथा अत्युत्सर्ग ( देह से बाहर अतिनिःसरण ) से जानना चाहिए। वृद्धि और क्षय दोनों पीडाकारक हैं किन्तु वृद्धि की अपेक्षा मलों का क्षय अधिक पीडाकारक होता है क्यों कि मलों का शरीर से अधिक बाहर निकलना अनुचित होता है। कहा भी है कि "मलायत्तं बलं पुंसाम्।"

वायु अस्थियों में रहता है, रक्त और स्वेदमें पित्त रहता है तथा शेष रस, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र, मूत्र, पुरीष आदि में कफ रहता है। सारांश, अस्थि वायु का, रक्त और स्वेद पित्त का तथैव रस-मांसादि कफ के आश्रय हैं। वायु, पित्त और कफ इनके आश्रयी हैं। इस लिये इन आश्रय-आश्रयी दोनों में क्षय-वृद्धि भी एक ही साथ होती है अर्थात् वातपित्तादि आश्रितों की क्षयवृद्धि होने पर उनके आश्रयों में भी क्षयवृद्धि होती है जैसे कि वायु की क्षयवृद्धि होने पर अस्थिकी, पित्तकी क्षयवृद्धि होने पर स्वेद और रक्त की भी क्षयवृद्धि होती है, तद्वत् कफकी क्षयवृद्धि रस-मांस-मेदादिके क्षय और वृद्धिका कारण होती है। सारांश, आश्रित की क्षयवृद्धि आश्रय की क्षयवृद्धि का भी कारण होती है। इस लिए इन दोनों की चिकित्सा भी एक ही होनी चाहिए। परन्तु अस्थि और वायु के लिए यह प्रकार ठीक नहीं है क्यों कि सब प्रकार की वृद्धि प्रायः संतर्पण से ही होती है और उसका अनुगामी कफ होता है। क्षय इससे विपरीत होता है अर्थात् क्षयका कारण अपतर्पण ( लङ्घन ) होता है और इसका अनुगामी वायु होता है। इस लिए अन्यों की अपेक्षा अस्थिकी चिकित्सा विपरीत करनी होगी। सारांश, वायुनाशक औषध अस्थिके लिए वृद्धिकारक और वायुका बढ़ानेवाला औषध अस्थि का नाशकारी होगा। इसलिए सिद्ध हुआ कि वृद्धि और क्षय की चिकित्सा क्रम से लंघन तथा बृंहण ओषधियों द्वारा करनी चाहिए किन्तु वायु के विषय में इससे विपरीत अर्थात् बृंहण और लंघन औषधों द्वारा वृद्धि-क्षय की चिकित्सा क्रमसे करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त दोष, धातु और मलों की क्षयवृद्धि की चिकित्सा द्रव्य-गुण-कर्मके विपर्यय एवं अविरुद्ध तुल्यभाव से करनी चाहिए।

यहां द्रव्य-विपर्यय का तात्पर्य चिकित्स्य शारीर-द्रव्यसे

१. तमोदर्शनमतमस एव तमसोऽनुभवः-इतीन्दुः।

बाहर का द्रव्य है जैसे कि मांसवृद्धिकी चिकित्सा बाह्य द्रव्य गवेधुकान्न से करे। गुणविपर्ययका भाव गुणविपरीत द्रव्यसे है जैसे कि वृद्ध मांस की चिकित्सा उससे विपरीत शहद से और वृद्ध कफ की उससे विपरीत सीधु और कांजी से करे। कर्मवैपरीत्य शारीरद्रव्य से विपरीत उस बाह्य कर्म का नाम है जिसका विपरीत फल होता है जैसे कि वृद्धमांस का नाश शोक से तथा वायु का स्वप्न अर्थात् सोने से होता है। अविरुद्ध द्रव्य तुल्यभाव का अर्थ है शारीरिक भावों से बाहर के द्रव्यों का सादृश्य। जैसे कि मांस से मांस, रक्त से रक्त इत्यादि। गुणों का तुल्यभाव जातिसादृश्य न होते हुए भी गुणसादृश्य है जैसे कि शुक्रसे दूध और घृत का। कर्मसादृश्य है कर्मफल द्वारा शारीर द्रव्य से तुल्यभाव जैसे कि वायु का दौड़ने-तैरने से, कफ का हर्ष और सोने से।

धातवः खलु शारीराः समानैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाऽऽहारविहारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिमाप्नुवन्ति। ह्रासं तु विपरीतैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वा। तथा हि देहधातवो[1] ये गुरवस्ते गुरुभिरैक्यकारितयोपचीयन्ते। लघवस्तु लघुभिस्तद्विपरीतैस्तु पृथक्त्वकारिभिरपचीयन्ते। तस्मादन्येभ्यो द्रव्येभ्योऽपि सुतरां रक्तमाप्याय्यते रक्तेन, मांसं मांसेन, मेदो मेदसा, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्रं शुक्रेणामगर्भेण गर्भः। यत्र त्वेवं लक्षणेन सामान्येन सामान्यवतामाहारविहाराणामसान्निध्यं स्यात् सन्निहितानां चाभ्यवहरणमशक्यं विरुद्धत्वाद् घृणित्वादरुचेरन्यस्माद्वा[2] कारणान्तरात्। तत्र समानगुणभूयिष्ठानामन्यप्रकृतीनामाहारविहाराणामभ्यवहारः श्रेयान्। तद्यथा-शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुरस्निग्धशीतानामपरेषां च द्रव्याणाम्। कर्मापि यद्यस्य धातोः समानक्रियतया वृद्धिकरं तस्य तस्य वृद्धिमभिलषता तत्तदासेव्यम्। तथैव चातुल्यक्रियतया ह्रासकरं मेदार्थेनेति। अपि च-विशेषतो रक्तवृद्धिजान् रक्तनिबर्हणप्रसादनकायविरेचनैः। मांसवृद्धिजान् संशोधनशस्त्रक्षाराग्निकर्मभिः। मेदोजान् स्थौल्यकार्श्यक्रियाक्रमेण। रसक्षयजान् मांसरसमद्यक्षीरैः। अस्थिक्षयजान् बस्तिभिस्तिक्तोपहितैश्च क्षीरसर्पिर्भिः। शकृद्वृद्धिजान् अतीसारसाधनेन। शकृत्क्षयजान् यवमाषकुलमाषाजमेषमद्यादिभिः। मूत्रवृद्धिक्षयजान्मेहकृच्छ्रचिकित्सया। स्वेदक्षयजानभ्यङ्गव्यायाममद्यस्वप्ननिवातशरणस्वेदैरिति।

धातुओं के क्षय-वृद्धि के कारण और उनकी चिकित्सा—इससे पहले दोषादि की वृद्धि एवं क्षय के लक्षणों का वर्णन किया गया और चिकित्सा भी कही गई परन्तु उक्त वृद्धि एवं क्षय के कारणों को नहीं बताया गया अतः अब उनका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि-शारीरिक धातुओं की वृद्धि उन धातुओं के समान तथा समानगुणभूयिष्ठ आहार-विहारों के करने से होती है। इसी प्रकार उन धातुओं का क्षय उनसे विपरीत एवं विपरीतगुणभूयिष्ठ आहार-विहारों से होता है। यहां समानगुणभूयिष्ठ का अर्थ यह है कि[1] जातिसामान्य न होते हुए भी जो गुणों में समानता रखता हो। धातु शब्द से भी यहां वातादि दोषों[2] सहित रसरक्तादि धातुओं तथा मलोंका ग्रहण करना चाहिए क्योंकि इनसे देह-धारणा होती है। सारांश, शरीरस्थ धातुओं की वृद्धि और क्षय समान तथा विपरीत, समान तथा विपरीतगुणबाहुल्यवाले आहार-विहारों से होती है। उदाहरणार्थ जैसे कि शरीरस्थ मांस, कफ आदि गुरु धातु सजातीय गुरु पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। ये ही गुरु धातु इसके विपरीत लघु एवं विजातीय बाह्य पदार्थों से क्षयको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार शरीरस्थ लघु (वातादि) धातुओं की वृद्धि और क्षय को जानना चाहिए। इसी नियम के अनुसार देखा जाता है कि समान एवं समानगुणभूयिष्ठ बाह्य द्रव्यों से शरीरस्थ धातुओं की वृद्धि होती है जैसे कि—रक्त से रक्त, मांस से मांस, मेद से मेद, तरुणास्थि से अस्थि, मज्जा से मज्जा, शुक्र से शुक्र और आमगर्भ (अण्डे आदि) से गर्भ की वृद्धि होती है। जहां पर इन लक्षणोंवाले सामान्य आहार-विहारों का असान्निध्य हो अर्थात् जातिसामान्य आहार-विहार न मिलते हों अथवा मिलने पर भी विरुद्ध होने से, उसमें घृणा होने से अथवा अरुचि के कारण सामान्य आहार-विहार को न कर सकता हो तो उसके लिए ऐसी अवस्था में अन्य प्रकृतिवाले समानगुणभूयिष्ठ आहार-विहार का करना श्रेष्ठ है। वह इस प्रकार से जैसे कि शुक्रक्षय में दूध, घृत एवं मधुर, स्निग्ध और शीत द्रव्यों का उपयोग किया जाता है जो जिस जिस धातु की वृद्धि चाहता हो, उसे चाहिए कि वह समान क्रिया करके उस उस धातु के बढ़ानेवाले कर्म का सेवन करे। इसी प्रकार ह्रास की इच्छावाले को चाहिए की वह उसके लिए विजातीय ह्रास करनेवाले कर्मको करे। विशेषतः रक्तवृद्धि के कारण होनेवाले रोगों का निर्हरण रक्तनिर्हरण, रक्तप्रसादन (रक्तशुद्धि) तथा कायविरेचन करके करे। मांसवृद्धि से होनेवाली व्याधियों के लिए संशोधन, शस्त्रकर्म, क्षारकर्म और अग्निकर्म करे। मेद से उत्पन्न होनेवाली व्याधियों के लिए यदि मेदोवृद्धिसे हो तो स्थूल को कृश करनेवाली क्रिया करे और यदि मेद के क्षय से व्याधि हो तो कार्श्यचिकित्सा करे अर्थात् कृशत्वहारक उपायों को करें। ये दोनों प्रकार की चिकित्सा द्विविधोपक्रमणीय अध्याय में कही जावेगी। रस के क्षय से होनेवाली व्याधियों की चिकित्सा मांसरस, मद्य और दुग्ध द्वारा करे। अस्थिक्षय से होनेवाले रोगों की चिकित्सा कल्पस्थानोक्त तिक्तरसवाले द्रव्यों के साथ बस्ति द्वारा करे अथवा क्षीरबस्ति देकर करे इस लिए कि एतदर्थ क्षीरबस्ति प्रधान उपाय है। शकृत् (पुरीष मल) के बढ़ने से होनेवाले रोगों की चिकित्सा विरेचन देकर करे अर्थात् अतीसार-विधान से करे। पुरीषक्षय से होनेवाले रोगों का शमन यव, उड़द, कुलमाष (राजमाष-चवला) तथा बकरे और मेंढे के मध्य

१. देहे धातवो। २. दरुचिरन्यस्मा। इति पाठा०

१. समानैर्जात्या। समान गुणभूयिष्ठैर्जातिविसदृशैरपि बाहुल्येन सदृशगुणैरितीन्दुः।

२. धातव इत्यादि धातुशब्देन देहधारणसामान्यात्सर्वे दोषादय उच्यन्ते।

(जठरा[1]न्तर्गत) मांस आदि का सेवन कराकर करे अथवा अन्य पुरीष उत्पन्न करनेवाले द्रव्यों को देकर करे। मूत्रवृद्धि एवं मूत्रक्षय से होनेवाले रोगों की चिकित्सा प्रमेह तथा कृच्छ्रकी चिकित्सा द्वारा करे अर्थात् मूत्रवृद्धिजन्य रोगों में प्रमेह की चिकित्सा करे और मूत्रक्षयोत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा मूत्रकृच्छ्रकी चिकित्सा करके करे। स्वेद के क्षय से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा अभ्यङ्ग, व्यायाम, मद्य, शयन, निर्वात-स्थान का आश्रय ग्रहण करके तथा स्वेदविधि करके करे।

भवन्ति चात्र—

ये पाचकांशा धातुस्थास्तेषां सान्द्यातितैक्ष्ण्यतः।
वृद्धिः क्षयश्च धातूनां जायते शृणु चापरम् ॥
पारम्पर्येऽपि दावाग्नेस्तत्तत्प्राप्त्येन्धनं शिखा।
वृद्धिक्षयौ यथा याति तद्वद्धातुपरम्परा ॥
द्रव्यं तुल्यं विशिष्टं हि स्वं स्वं वृद्ध्यै क्षयाय च।
प्रत्यात्मबीजनि[2]यतं भृशमाशु प्रजायते ॥

धातुओं की वृद्धि तथा क्षय में पाचकाग्नि कारण—प्रत्येक धातु में पाचकाग्नि-स्वरूप पित्त के अंश या भाग रहते हैं। उन पित्तांशों के अति मन्द और तीक्ष्ण होने से भी धातुओं की वृद्धि और क्षय होता है। इस बात को उदाहरण द्वारा कहते हैं कि जैसे दावाग्नि यथास्व इंधन को प्राप्त कर लेती है उसी परंपरा के अनुसार उसकी शिखा वृद्धि और क्षय को प्राप्त होती है अर्थात् सघन वृक्षादि के काष्ठ का इन्धन प्राप्त कर दावाग्नि की शिखा बढ़ती है और तृणादि स्वल्प इन्धन मिलने से क्षय होती है या घट जाती है। ठीक इसी प्रकार धातुओं की परम्परा है। सारांश, उस उस धातु की अग्नि को पर्याप्त आहार मिलने से वह मन्द होती है तब उस उस धातु में वृद्धि होती है और अग्नि की तीक्ष्णता एवं स्वल्पाहार मिलने से धातु में क्षय होता है। यहां धातु की अग्नि का इन्धन आहार का सार या रस जानना चाहिए। इस आहार-सार (रस) के अग्निमान्द्यवशात् स्रोतों में सतत जमा रहने से धातु में वृद्धि होती है और पर्याप्तरूपेण आहारसाररूपी इन्धन के न मिलने से धातु का क्षय होता है। द्रव्य भी धातु की वृद्धि और क्षय में कारण होता है। बाह्य द्रव्य जो कि शारीरधातु से तुल्यता (सजातीयविशिष्टता) रखता है वह बहुत जल्दी उस धातु को बढ़ानेवाला होता है जैसे कि मांस के लिए मांस वृद्धिकारक है वैसा अन्य द्रव्य नहीं होता। इसी प्रकार विजातीय द्रव्य धातु को क्षय करनेवाला होता है इस लिए कि प्रकृति से यह बात उसमें नियत रहती है।

पूर्वो धातुः परं कुर्याद् वृद्धः क्षीणश्च तद्विधम्।
दोषा दुष्टा रसैर्धातून् दूषयन्त्युभये मलान् ॥
अधो द्वे सप्त शिरसि खानि स्वेदवहानि च।
मला मलायनानि स्युर्यथास्वं तेष्वतो गदाः ॥
वक्ष्यन्ते वातजास्तत्र निदाने वातरोगिके।
पित्तं त्वचि स्थितं कुर्याद्विस्फोटकमसूरिकाः ॥
रक्ते विसर्पं दाहं च मांसे मांसावकोथनम्।
सदाहान्मेदसि ग्रन्थीन् स्वेदतृड्वमनं[1] भृशम् ॥
अस्थ्नि दाहं भृशं मज्ज्ञि हारिद्रनखनेत्रताम्।
पूति पीतावभासं च शुक्रं शुक्रसमाश्रितम् ॥
शिरागतं क्रोधतापप्रलापं[2] स्नायुगं तृषम्।
कोष्ठगं मदतृड्दाहान् व्यापिनोऽन्यांश्च यक्ष्मणः ॥
श्लेष्मा त्वचि स्थितः कुर्यात्स्तम्भं श्वेतावभासताम्।
पाण्डवामयं शोणितगो मांससंस्थोऽर्बुदापचीः ॥
आर्द्रचर्मावनद्धाभगात्रतां चापि गौरवम्।
मेदोगः स्थूलतां मेहमस्थ्नां स्तब्धत्वमस्थिगः ॥
मज्जगः शुक्लनेत्रत्वं शुक्रस्थः शुक्रसंचयम्।
विबन्धं गौरवं चाति सिरास्थः[3] स्तब्धगात्रताम् ॥
स्नायुगः सन्धिशूलत्वं कोष्ठगो जठरोन्नतिम्।
अरोचकाविपाकौ च तांस्तांश्च कफसंभवान्[4] ॥
विण्मूत्रयोः साश्रययोस्तत्र तत्रोपदेक्ष्यते।
उपतापोपघातौ तु स्वाश्रयेन्द्रियगा[5] मलाः ॥

दूषित दोषादि रोगों के कारण—धातुओं का आहार धातु ही हैं इसलिए जो धातु जिस धातु से पहले होता है, वह यदि वृद्धिंगत होता है तो वह अपने उत्तर (आगे के) धातु को भी बढ़ाता है। इसी प्रकार पहला धातु क्षीण है या क्षयिता को प्राप्त है तो वह अपने उत्तर धातु को भी क्षीण करता है। उदाहरणार्थ जैसे कि रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि मज्जा और शुक्र ये सात धातु हैं। इनमें जैसे रक्त धातु मांससे पहले है और यदि यह रक्त धातु वृद्ध है तो यह अपने उत्तर धातु मांस को भी बढ़ावेगा। यही यदि क्षीण है तो अपने उत्तर (आगे के) धातु को भी क्षीण करेगा। इस प्रकार दोषादि के वृद्धिक्षय-कारण का वर्णन हुआ। अब बताते हैं कि ये दोषादि रोगों के कारण किस प्रकार होते हैं। वातादि दोष मधुराम्ललवणादि रसों द्वारा दूषित होकर रस, रक्तादि धातुओं को दूषित करते हैं और ये वातादि दोष तथा रसादि धातु दोनों मिलकर पुरीषादि मलों को दूषित करते हैं। पुरीषादि मल मलायनों (मलमार्गों) को दूषित करते हैं। ये मलमार्ग इस प्रकार हैं जैसे कि गुदा और लिङ्ग ये दो अधोभाग में, सिर में सात जैसे दो कान, दो नासापुट, दो आंखें और एक मुख और इसी प्रकार स्वेद को बहानेवाले समस्त रोमकूप। इनमें से जिस मल की दुष्टि होती है वही अपने अयन-गुदा, लिङ्ग, कान, नासिका, नेत्र आदि में रोग को करनेवाला होता है। मलों के द्वारा मलायनों में रोगोत्पत्ति की बात कह कर अब यह बताते हैं कि-कौन कौन से दूषित दोष किस किस आश्रय में स्थित होकर कौन कौन से रोगों को करते हैं।

आश्रयगत दूषित वायु के रोग—वायु कुपित या दूषित होकर किस किस जगह में स्थित होकर किन-किन रोगों को करता है यह आगे वातव्याधि निदान में बताया जायगा।

दूषित पित्त के रोग—दूषित पित्त त्वचा में स्थित होकर

१. अजमेषयोर्मध्यमन्तर्जठरमांसम्। २. आदिग्रहणादन्यानि पुरीषजननानि गृह्यन्ते। इत्यादीन्दुः। ३. बीजनैयत्यमादित्यपि पाठः।

१. स्वेदात्युद्वमनं २. क्रोधनतां ३. शिरास्थः ४. कफजान् गदान् ५. स्वाश्रयेन्द्रियगैर्मलैः।

विस्फोटक तथा मसूरिका अर्थात् मसूर के वर्ण तथा प्रमाण-वाली पिटिका ( फुन्सियों ) को उत्पन्न करता है। रक्त में स्थित होकर विसर्प तथा दाह को करता है। मांस में स्थित होकर मांसावकोथन करता है अर्थात् मांस को सड़ाता है। मेद में स्थित होकर दाहयुक्त ग्रन्थियों, अतिस्वेद, तृषा और वमन को करता है। अस्थि में स्थित होकर बहुत दाह करता है। मज्जा में स्थित होकर नेत्र और नखों को हल्दी के समान पीला करता है और शुक्र में स्थित होकर पित्त शुक्र ( वीर्य ) को दुर्गन्धयुक्त एवं पीले रंग का करता है। सिरास्थित पित्त क्रोध, ताप और प्रलाप को उत्पन्न करता है। स्नायु में स्थित पित्त तृषारोग को करता है। कोष्ठ अर्थात् हृदय से बस्तिपर्यन्त या आमाशय, अग्न्याशय, पक्वाशय, मूत्र, रुधिर, हृदय, उण्डुक और फुफ्फुस इन सबमें स्थित पित्त मद, तृषा, दाह, राजयक्ष्मा तथा सर्वशरीरव्यापी रक्तपित्तादि व्याधियों को करता है।

आश्रयगत दूषित कफ के रोग—त्वचा में स्थित होकर कफ स्तम्भ ( शरीर का जकड़ना ) और वर्ण में श्वेतता को करता है। रक्त में स्थित होकर पाण्डुरोग को करता है, मांसमें स्थित होकर अर्बुद और अपची, शरीर गीले कपड़े से मढ़ दिया है ऐसा भास होना तथा गौरव ( जडता ) को उत्पन्न करता है। मेद में स्थित कफ स्थूलता और प्रमेह को करता है। अस्थिगत कफ अस्थियों का स्तब्धत्व करता है। मज्जा में स्थित कफ नेत्र क सुपेद करता है। शुक्र में स्थित कफ शुक्र का संचय करता है अर्थात् वीर्य को बढ़ाता है। उसको गाढ़ा करता और बांधता है ( बाहर नहीं निकलने देता )। सिराओं में स्थित कफ अंगों को जकड़ देता है। स्नायुगत कफ सन्धियों में पीड़ा करता है। पूर्वोक्त कोष्ठगत कफ पेट को बढ़ाता है, अरोचक, अपचन आदि अन्य श्लेष्मज्वर, श्लेष्म गुल्म, कामला आदि कफकृत व्याधियों को करता है।

मल ( पुरीष ) और मूत्राशय अर्थात् गुदा और लिङ्ग-स्थित दोष जिन जिन रोगों को करते हैं उनका उपदेश मूत्राघात और अतिसारादि के प्रकरण में करेंगे। ये वातादि दूषित दोष चक्षुरादि जिस जिस इन्द्रिय में स्थित होते हैं, उस उसमें उपताप वा उपघात को करते हैं अर्थात् न्यून या अधिक पीड़ा के करनेवाले होते हैं।

व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्याद्हिताचरणादपि ।
कोष्ठाच्छाखास्थिमर्माणि द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥
दोषा यान्ति तथा तेभ्यः स्रोतोमुखविशोधनात् ।
वृद्ध्याऽभिष्यन्दनात्पाकात्कोष्ठं वायोश्च निग्रहात् ॥
तत्रस्थाश्च विलम्बेरन् भूयो हेतुप्रतीक्षिणः ।
ते कालादिबलं लब्ध्वा कुप्यन्त्यन्याश्रयेष्वपि ॥
तत्रान्यस्थानसंस्थेषु तदीयामबलेषु तु ।
कुर्याच्चिकित्सां स्वामेव बलेनान्याभिभाविषु ॥
आगन्तुं शमयेद्दोषं स्थानिनं प्रतिकृत्य वा ।

वातादि दोषोंके रक्तादि आश्रयमें हेतु—वातादि दोष सकल शरीरव्यापी होते हुए भी कोष्ठ इनका प्रधान आश्रय है क्योंकि प्रायः दोष कोष्ठ के ही आश्रित रहते हैं। ऐसी अवस्था में भी रक्तादि को आश्रय मानकर क्यों इनको रोग-कारक माना गया है ? कोष्ठ को ही आश्रय मानकर क्यों न इन दोषों का रोगकर्तृत्व कहा गया ? इस शङ्का के समाधान में कहते हैं कि यद्यपि दोषों का प्रधान आश्रय कोष्ठ ही है परन्तु कुछ हेतु ऐसे हैं कि जिनसे वातादि दोष कोष्ठ को छोड़कर अन्यत्र ( शाखा आदि में ) चले जाते हैं। अर्थात् नित्य प्रति के व्यायाम ( चलने फिरने ) में शिथिलीभूत दोष वायु द्वारा शाखा आदि में अर्थात् रस, रक्त, मांसादि धातुओं एवं त्वचा तथा अस्थिमर्मों में चले जाते हैं। केवल व्यायाम से ही नहीं, अग्नि की तीक्ष्णता से अपने ठोस भाव को त्याग पतले होकर कोष्ठ को छोड़ अन्यत्र पसरते या फैलते हैं। इसी प्रकार मिथ्या आहार-विहारादि से भी कोष्ठ को छोड़ शाखा आदि में चले जाते हैं। सारांश, ऐसे आहार-विहार से जो दोषों को कोष्ठ-स्थान से च्युत करके अन्यत्र ले जाता है अर्थात् वायु की द्रुतगति के कारण कोष्ठ को छोड़ वातादि दोष पूर्वोक्त शाखा और अस्थि-मर्म-स्थानों में चले जाते हैं, स्रोतों के मुख की शुद्धि होने से वे ही दोष शाखाओं को छोड़ पुनरपि कोष्ठ में आ जाते हैं। दोषवृद्धि द्वारा अभिष्यन्द, स्राव तथा शाखाओं में दोषों का परिपाक होने से भी दोष कोष्ठ में आ जाते हैं। वहां प्रेरक वायु के निग्रह ( आधिक्यनाश ) से वे दोष हेतु की प्रतीक्षा करते हुए कोष्ठ में रहते हैं। किन्तु रोगों को उत्पन्न नहीं करते इस लिए कि वे देश, काल और हेतु की प्रतीक्षा करते हैं। फिर वे अपने समान देश-काल-हेतु-बल को प्राप्त करने पर अन्याश्रय में रहते हुए भी कुपित होकर अनेक प्रकार के रोगों को करते हैं। कभी दोष अपने स्थान में रहते हुए भी कुपित होते हैं कभी अन्य दोष के स्थान में। जिस अन्य दोष के स्थान में कोई दोष जाय तो उसकी चिकित्सा स्थानी के बलाबल को देखकर करनी चाहिए। आगन्तु दोष स्थानी से अल्पबल हो तो प्रथम स्थानी ( जिसके स्थानमें आगन्तु है ) की चिकित्सा करके फिर आगन्तुक की चिकित्सा करे। यदि स्थानी से आगन्तुक बलवान् है तो उसकी चिकित्सा पहले करे और फिर स्थानी की। स्थानी और आगन्तुक समबलवाले हैं तो प्रथम स्थानी की चिकित्सा करे और उसके पश्चात् आगन्तुक की।

तेजो यत्सर्वधातूनामोजस्तत्परमुच्यते ।
मृदु सोमात्मकं शुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम् ॥
यत्सारमादौ गर्भस्य यच्च गर्भरसाद्रसः ।
संवर्तमानं हृदयं समाश्रयति यत्पुरा ॥
यच्छरीरसः स्नेहः प्राणो यत्र प्रतिष्ठितः ।
यस्यानाशान्न नाशोऽस्ति प्रीणिता येन देहिनः ॥

१. स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिर स्य च । हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते॥ इति तन्त्रान्तरे। व्यापिनोऽपि यक्ष्मणः सर्वशरीरचरा व्याधयो रक्तपित्तादय इतीन्दुः। २. तांस्तान् कफजान् श्लेष्मज्वरश्लेष्मगुल्मकामलादीन् सर्वानितीन्दुः । ३. स्वल्पत्वाद्-पतापमाधिक्यादुपघातमितीन्दुः ।

१. शाखा भिषक्शास्त्रप्रसिद्धरक्तादयो धातवस्त्वक्च। अस्थ्नां मर्माण्यस्थिमर्माणि ।

हृदयस्थमपि व्यापि तत्परं जीवितास्पदम् ।
ओजः क्षीयेत कोपक्षुद्ध्यानशोकश्रमादिभिः ॥
बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः ।
दुश्छायो दुर्मना रूक्षो भवेत्क्षामश्च तत्क्षये ॥
जीवनीयौषधक्षीररसाद्यास्तत्र भेषजम् ।
ओजोवृद्धौ हि देहस्य तुष्टिपुष्टिबलोदयः ॥

ओजका वर्णन—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सभी धातुओं का जो परम ( श्रेष्ठ ) तेज या सार है, उसे 'ओज' कहते हैं। यह शुद्ध ( स्वच्छ-शुभ्र ) ओज सौम्य, मृदु, कुछ रक्तपीतता को लिए होता है। यह गर्भ का आदि-सार है अर्थात् इसके संयोग के बिना गर्भाधान ही नहीं हो सकता अर्थात् शुक्रशोणित में इसके बिना जीवानुप्रवेश नहीं हो सकता। गर्भ का आदि रस होने से इसे रस भी कह सकते हैं। सर्व शरीर में संवर्तमान होते हुए भी यह पहले हृदय में स्थित होता है। यह शरीर का वह ( स्निग्ध ) रस है जिसमें प्राण ( जीव ) का निवास रहता है। जिस ( अष्टबिन्द्वात्मक ओज ) के नाश न होने से मनुष्य का नाश नहीं होता अर्थात् शरीर में जिसके रहने से मनुष्य जीवित रहता है, जो देह-धारियों को तृप्ति प्रदान करता है, जो हृदय में रहकर भी सर्व शरीर में व्याप्त रहता है और जो मस्तकादिकी अपेक्षा "परं जीवितास्पदम्" अर्थात् परम जीवन का स्थान है उसे ओज कहते हैं।

ओजक्षय के कारण और लक्षण—कोप ( क्रोध ), क्षुधा, चिन्ता, शोक तथा श्रम आदि करने से ओज का क्षय होता है। ओज के क्षय हो जानेपर मनुष्य डरता है, दुबला हो जाता है, रात-दिन चिन्ता करता है, उसकी सब इन्द्रियां दुर्बल होती हैं, कांति ( चेहरे की रंगत ) बिगड़ जाती है, खिन्नमन (मन से दुःखी), रूक्ष और क्षामस्वर अर्थात् उसकी आवाज भी बैठ जाती है।

ओजके क्षयकी चिकित्सा—जिसका ओज क्षय होगया हो तो उसके लिए जीवनीय गणकी ओषधियों के साथ पकाया या सिद्ध किया हुआ दूध, मांसरस आदि श्रेष्ठ औषध है। ओषधि द्वारा ओजकी वृद्धि होकर शरीर में तुष्टि, पुष्टि और बलकी प्राप्ति होती है।

विशेष वक्तव्य—आयुर्वेदीय तन्त्रोंका भली भांति अव-लोकन करने से निश्चय होता है कि शारीरिक पदार्थों में सबसे महत्त्वशाली यदि है तो वह एक ओज है परन्तु प्राचीन आचार्यों की तरह अर्वाचीन विद्वानों में भी इस ओज के विषय में गहरा मतभेद है। कोई इसे सात धातुओं की तरह आठवाँ धातु मानता है तो कोई इसे शुक्र की उपधातु मानता है। कोई इसे सर्वशरीरस्थ मानता है तो कोई हृदय और शरीर इन दोनों में इसकी स्थिति मानता है। कोई इसे केवल 'सौम्य' ही कहते हैं तो इसकी शुभ्रता तथा ईषद्रक्तपीतता को सामने रखकर कोई इसे 'अग्नियोमीय' कहता है। स्वर्गीय गङ्गाधर कविराज ( चरक के जल्पकल्पतरु-टीकाकार ) इसे एक ही प्रकार का मानते हैं तो चक्रपाणिदत्तादि कई इसे पर-अपर भेद से दो प्रकार का मानते हुए कहते हैं कि पर ओज अष्टबिन्दु-प्रमाण में सदैव हृदय में बना रहता है। मरणकाल के सिवा इसका नाश नहीं होता किन्तु अपर ओज अर्ध-अञ्जलि प्रमाण में सर्व शरीर में व्याप्त रहता है और प्रमेहादि की अवस्था में इसका क्षय भी होता है। क्षय होने पर भी चिकित्सा द्वारा कोई रोगी जी जाता है तो कोई मर भी जाता है। आयुर्वेद-शास्त्र में सन्दर्भानुसार ओज शब्द सर्व धातु-तेज, रस, जीवनरक्त, प्राकृत कफ, बल और मल के लिए भी वैद्यों ने प्रयुक्त किया है। अस्तु, उपर्युक्त सब विवादों को सामने रखकर चरकचतुरान चक्रपाणिदत्त ने चरक सूत्र-स्थान के अध्याय ३० के "तत्परस्यौजसः स्थानम्" इस हृदय-वर्णनात्मक श्लोक की व्याख्या में ओज के विषय में बड़ा अच्छा स्पष्टीकरण किया है।

'तत्परस्यौजसः स्थानम्' इस प्रतीक को लेकर चक्रपाणि कहते हैं कि 'यहां आचार्य ओज के दो प्रकार बता रहे हैं जैसे कि एक पर और दूसरा अपर। अर्धाञ्जलि-प्रमाण यहां ( आयुर्वेदशास्त्र में ) अपर ओज का है और पर ओज का स्वल्प प्रमाण। पर और अपर ऐसे द्विविध ओज के मानने पर ही 'परस्य, यह विशेषण सार्थक होता है किन्तु केवल एक ही रूप के मानने पर यह विशेषण सार्थक नहीं हो सकता। अर्धाञ्जलि-परिमित ओज का स्थान हृदयाश्रित धमनियां ही हैं। प्रमेह में इस अर्धाञ्जलिमित ओज का ही क्षय होता है न कि अष्टबिन्दुमित ओज का। इस लिए कि अष्टबिन्दुमित ओज के क्षय से 'तन्नाशान्ना विनश्यति, इस प्रमाण से मनुष्य जी नहीं सकता अपितु मर ही जाता है किन्तु प्रमेह के ओज-क्षय में मनुष्य जीवित भी रह सकता है। इससे स्पष्ट है कि ओजःक्षय, यह लक्षण भी अर्धाञ्जलि-परिमित ओज के लिए ही कहा गया है। यद्यपि 'रसश्चौजः संख्यातः' इस प्रमाण से ओज शब्द रस के लिए भी व्यवहृत होता है तथापि यहां सब धातुओं का सार रूप ही ओज लिया गया है। कुछ लोग ओज को उपधातु या धातु कहते हैं परन्तु धातु वही है जो शरीर का धारण और पोषण करता है। देहधारक होते हुए भी ओज देहपोषक नहीं है अतः ओज अष्टम धातु नहीं हो सकता। कुछ लोग शुक्र-विशेष को ओज कहते हैं परन्तु वह मन का प्रीणन नहीं करता। कुछ लोग 'भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो-यथा संचीयते मधु। तद्वदोजः शरीरेभ्यो गुणैः संभृयते नृणाम्।'

१. यद्गर्भस्यादौ सारं सारमिव सारं न हि तेन विना शुक्र-शोणिते जीवानुप्रवेश इतीन्दुः।

२. ये 'रसादिसाररूपतया रसादिभ्यो भिन्नमोजः' इति पृथ-ग्धातुत्वेनोपधातुत्वेन वा निर्देश्यमिति पश्यन्ति, इति चक्रः। स्वेदो दन्तास्तथा केशास्तथैवौजश्च सप्तमम्। इति धातुभवा ज्ञेया एते सप्तोपधातवः॥ इति तन्त्रान्तरे।

१. ओजः सर्वशरीरस्थं शीतं स्निग्धं स्थितं मतम्। इति शार्ङ्गधरः। हृदि तिष्ठति यच्छुभ्रं रक्तमीषत्सपीतकम्। ओजः शरीरे संख्यातमिति चरकः। २. ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम्। इत्यादि सुश्रुतः। प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ बिन्दवो हृदयाश्रयाः। अष्टबिन्दुप्रमाणं तद्दोषद्रक्तं सपीतकम्। अग्निसोमात्म-कत्वेन द्विरूपं वर्णितं च तत्॥ इति ३. धातूनां तेजसि रसे तथा जीवितशोणिते। श्लेष्मणि प्राकृते वैद्यैरोजः शब्दः प्रकीर्तितः॥ इति हेमाद्रिः। तदोजस्तद्बलमित्युच्यते। इति सुश्रुतः॥

इस पद्य को लेकर कि जैसे 'मधु का संचय फलों और पुष्पों से भ्रमरों द्वारा होता है वैसे ही शरीर-गुणों से मनुष्यों का ओज होता है' यहां शरीर का भाव धातु है और गुण का सारभाग है अतः वे चाहते हैं कि सर्वधातु-साररूप ओज है अतः साररूप करके ओज भिन्न है इस लिए उसे धातु या उपधातु माना जाय। यद्यपि धातु-ग्रहण से ही सप्तधातु-साररूप ओज का ग्रहण होता है तथापि प्राणधारक होने से ओज अलग माना गया है। जो ओज को शुक्रजन्य मानते हैं उनका कथन भी इस वृक्ष्यमाण प्रमाण से ठीक नहीं है कि—'रस से लेकर शुक्रतक सातों धातुओं का परम तेज ही ओज है।'[1]

सारांश यह है कि ओज सौम्य है, स्निग्ध, श्वेत, शीतल, स्थिर, सर आदि श्रेष्ठ गुणों से युक्त है। मृदु एवं पिच्छिल है, जीवन का आधार है और ओज शरीर के समस्त अवयवों में व्याप्त है। ओज के अभाव में मनुष्य जी नहीं सकता। ओज गर्भाधान के आदि से ही बनने लगता है। सच तो यह है कि मनुष्यशरीर का आद्योपादान भी ओज ही है। तुलनात्मक अध्ययन से पता लगता है कि पाश्चात्य वैज्ञानिक भी ओज के विषय में प्रायः ऐसी धारणा रखते हैं। प्रोफेसर हेलिबर्टन के कुछ उद्धरण हमने स्वर्गीय कविराज नरेन्द्रनाथजी मित्र के एक लेख में देखे हैं। हेलिबर्टन कहता है कि—

'ओज शारीरिक अवयवों का आदि उपादान है। इतना ही नहीं, ओज शारीरिक सब अवयवों का समवायी कारण है। इसकी बनावट साधारण नहीं, अपितु असाधारण है। ओज संपूर्ण शारीरिक अङ्ग-उपाङ्गों में तथा तरल पदार्थों में व्याप्त है। अल्ब्यूमिन शब्द की निरुक्ति अण्डों की श्वेतता (सुफेदी) से है जो सब प्रकार के ओजों में एक है।[2] हमारे यहां एक ओज का प्रमाण अष्टबिन्दु कहा है। देखिए प्रो० हेलिबर्टन भी इस विषय में क्या कहते हैं। वे कहते हैं कि—

'रक्तमिश्रित ओज अर्थात् जीवनशोणित (रक्तवारि) क्षार के गुणों से युक्त होता है। वर्ण में कुछ पीतता-युक्त होता है तथा इसका आपेक्षिक गुरुत्व १०२६ से १०२९ तक होता है। इसके प्रतिशत भाग में ९० भाग जल तथा १० भाग पार्थिव पदार्थों के होते हैं जिनमें ८ भाग ओज के होते हैं।'[1] हमारे यहां अष्टबिन्दु उसके माने हैं जिसको पर ओज कहा है। अपर ओज का प्रमाण अर्धाञ्जलि बताया है परन्तु पर-अपर भेद से ओज के दो प्रकार न माननेवाले कविराज गङ्गाधर ने ओज को एक ही प्रकार का मानते हुए इन अष्टबिन्दुओं को ही अर्धाञ्जलि सिद्ध किया है। उनका कहना है कि मतान्तर से बिन्दु एक कर्ष को कहते हैं। कर्ष २ तोले का होता है अतः आठ बिन्दु या आठ कर्ष का मान १६ तोले होता है जो कि ठीक अर्धाञ्जलि का प्रमाण है। परन्तु छानबीनकर चक्रदत्त आदि के स्पष्टीकरणों को देखते हमें तो यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता। संतोष इसी बात का है कि ओज के विषय में प्रायः पौर्वात्यों एवं पाश्चात्यों की विचारधारा एक सी ही है। इसमें सबका एक मत है कि ओज शरीर का आद्य उपादान है तथा जीवन का मुख्य आधार है।

सुश्रुतके टीकाकार डल्हन ओज को तीन प्रकार का अर्थात् श्वेत, क्षौद्रवर्ण और तैलवर्ण मानते हैं और अपने इस मत की पुष्टि वे चरक के शुभ्र, ईषद्रक्त और पीत से करते हैं।

ओजःक्षय के भी सुश्रुत में तीन भेद बताए हैं, ओजोविस्रंस, ओजोव्यापत् और ओजःक्षय। इनके लक्षणों को बताते हुए कहा है कि—ओजोविस्रंस में सन्धियों का ढीला पड़ना, अङ्गों में थकावट, वातादि दोषों का स्थान से भ्रष्ट होना और शारीरिक क्रिया का ठीक न होना ये लक्षण होते हैं। ओजोव्यापत् में शरीर का जकड़ना और भारीपन, वायुद्वारा सूजन, वर्णका विवर्ण हो जाना, ग्लानि, तन्द्रा और निद्रा ये चिह्न होते हैं और ओजक्षयमें-मूर्च्छा, मांस का क्षय, मोह, प्रलाप और मरण होता है। ओजोविस्रंस तथा ओजोव्यापत्ति में ओजोनुकूल बलवर्धक चिकित्सा करने तथा ओजःक्षय के नष्टसंज्ञ रोगी को त्याग देने का उपदेश किया है।[2]

---

१. एतेन द्विविधमोजो दर्शयति परमपरं च। तत्राञ्जलिपरिमाणमपरम्, अल्पप्रमाणं तु परम्। सति हि परे चापरे चौजसि 'परस्य' इति विशेषणं सार्थकं भवति। नत्वेकरूपे। अर्धाञ्जलिपरिमितस्यौजसो धमन्य एव हृदयाश्रिताः स्थानम्। तथा प्रमेहेऽर्धाञ्जलिपरिमितमेवौजः क्षीयते नाष्टबिन्दुकम्। अस्य हि किञ्चित् क्षयेऽपि मरणं भवति, प्रमेहे तु ओजःक्षये जीवत्येव तावत्। ओजःक्षयलक्षणमपि अर्धाञ्जल्योजःक्षय एव बोद्धव्यम्। ओजः शब्दश्च यद्यपि रसेऽपि वर्तते, यदुक्तं 'रसश्चौजः संख्यातः, इति, तथापि इह सर्वधातुसारमोजोऽभिधीयते। एतच्चौजः उपधातुरूपं केचिदाहुः। धातुर्हि धारणपोषणयोगाद्भवति। ओजस्तु देहधारकं सदपि न देहपोषकम्, तेन नाष्टमो धातुरोजः। केचित्तु शुक्रविशेषमोजः प्राहुः, तच्च न मनः प्रीणाति। ये तु ब्रुवते सर्वधातूनां सारसमुदायभूतमोजः. ते रसादिसाररूपतया रसादिभ्यो भिन्नमोजः, इति पृथग्धातुत्वेनोपधातुत्वेन वा निर्देश्यमिति पश्यन्ति। वचनं च 'भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो यथा संचीयते मधु। तद्वदोजः शरीरेभ्यो गुणैः संभृयते नृणाम्॥' अत्र शरीरेभ्य इति धातुभ्यः, गुणैरिति सारभागैः। अत्र यद्यप्योजः सप्तधातुसाररूपत्वेन धातुग्रहणेनैव लभ्यते, तथापि प्राणधारणकर्तृत्वेन पृथक् पठति। ये तु शुक्रजन्यमोज इच्छन्ति तेषामष्टमो धातुरोजः स्यादिति पक्षे चातिदेशं कृत्वा वक्ष्यति 'रसादीनां शुक्रान्तानां यत्परं तेजस्तत् खल्वोजः, इति॥

२. Albumine-Proteid Substance is the chief Constituent of the animal tissues. Its molecule is highly complex. The Albuminous bodies or Proteids occur in almost all the tissues and fluids of the body. They derive their name from the white of egg, which is taken as a type of the group.

१. "The Plasma is alkaline, Yellowish in lint and its gravity 1026 to 1029. In round numbers Plasma Contain 10% of solids of which 8 are Protien in nature." ( Dr W. D. Halliburton M. D. )

२. तस्य विस्रंसो व्यापत् क्षय इति लिङ्गानि व्यापन्नस्य भवन्ति। सन्धिविश्लेषो गात्राणां सदनं दोषच्यवनं क्रियासन्निरोधश्च विस्रंसे, स्तब्धगुरुगात्रता वातशोफो वर्णभेदो ग्लानिस्तन्द्रा निद्रा च व्यापन्ने, मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापो मरणमिति च क्षये॥२५॥ अत्र विस्रंसे व्यापन्ने च क्रियाविशेषैरविरुद्धैर्बलमाप्याययेत्। इतरं तु मूढसंज्ञं वर्जयेत्॥ २९॥ इति सुश्रुतसंहिता अ० १५

यदन्नं द्वेष्टि यदपि प्रार्थयेताविरोधि तु ।
तत्तत्त्यजन् समश्नंश्च तौ तौ वृद्धिक्षयौ जयेत् ॥
कुर्वतेऽभिरुचिं दोषा विपरीतसमानयोः ।
वृद्धाः क्षीणाश्च भूयिष्ठं लक्षयन्त्यबुधा न तत् ॥ ॥
यथाबलं यथास्वं च दोषा वृद्धा वितन्वते ।
रूपाणि जहति क्षीणाः समाः स्वं कर्म कुर्वते ॥
य एव देहस्य समा विवृद्ध्यै त एव दोषा विषमा वधाय ।
यस्मादतस्ते हितचर्ययैव क्षयाद्विवृद्धेरिव रक्षणीयाः ॥

इत्येकोनविंशोऽध्यायः ।

दोषों के वृद्धिक्षय की संक्षेप में चिकित्सा—मनुष्य जिस अन्न को नहीं चाहता तथा जिसकी इच्छा करता है, यदि उसमें किसी प्रकार का विरोध ( बिगाड़ ) न हो तो उस २ अन्न को छोड़ कर या सेवन करके वृद्धि और क्षय को जीतना चाहिए। भावार्थ यह है कि अन्न के खाने की इच्छा और अनिच्छा दोषादि के क्षय-वृद्धिद्वारा होती है जैसे कि वातवृद्धि में स्निग्धोष्ण अन्न की इच्छा होती है और रूक्ष-शीत की इच्छा नहीं होती, पित्तवृद्धि में शीतेच्छा होती है तो उष्ण से द्वेष अनिच्छा होती है। इसके विपरीत अर्थात् दोषों की वृद्धि में जो इच्छा होती है वह क्षय में नहीं होती। यही बात रस-रक्तादि धातुओं की क्षयवृद्धि से जाननी चाहिए। जैसे कि रस के क्षय में दूध पीने की इच्छा होती है परन्तु रसवृद्धि में दूध पीने की इच्छा न होकर विपरीत दूध से द्वेष होता है। इसी प्रकार मांसक्षय में मांससेवन या वैसे ही किसी मांसवर्धक पदार्थ के खाने की इच्छा होती है। एतदर्थ मनुष्य जिस जिस पदार्थ के खाने की इच्छा करे वह पदार्थ यदि विरुद्ध या हानि-कारक नहीं है तो उसका सेवन करावे। जिस पदार्थ से द्वेष करता है और वह त्याग देने से किसी प्रकार की हानि न हो तो उसे छुड़ा देवे। यदि द्वेषवाला पदार्थ वस्तुतः लाभदायक है तो उसे अच्छा बनाकर उसका सेवन करावे। सारांश, इस प्रकार हिताहित का विचार कर हितकारी पदार्थ का सेवन करावे, अहितकारी पदार्थ का सेवन न करने दे। यह दोषादि के वृद्धिक्षय की संक्षिप्त चिकित्सा है, जिसको करके वैद्य रोगी को दोषादि की वृद्धि और क्षय की चिकित्सा कर सुखी कर सकता है, उसके बिगड़े हुए विषम दोषों को सम कर सकता है।

कभी कभी वातादि दोष बढ़ जाने पर अपने विपरीत गुणधर्मवाले पदार्थों की ओर रुचि कराते हैं और क्षीण होने पर प्रायः अपने समान गुण-धर्मवाले पदार्थों की ओर रुचि को बढ़ाते हैं। इस बातको विद्वान् समझ लेते हैं किन्तु मूर्ख नहीं समझते। इसलिए यथारुचि पदार्थोंका सेवन कराकर भी वैद्य को चाहिए कि वह रोगी के विषम ( बढ़े हुए या क्षीण हुए ) दोषों को साम्यावस्था में लाने का प्रयत्न करे।

वृद्ध, क्षीण और सम दोषों के लक्षण—बढ़े हुए वातादि दोष अपने समान गुणवाले लक्षणों को प्रगट करते हैं और क्षीण हुए दोष अपने उक्त लक्षणों को छोड़ देते हैं। वातादि दोष साम्यावस्था में रहनेसे अपने प्राकृत गुणों को भलीभांति प्रगट करते हैं। उदाहरणार्थ वायुके बढ़ने से वह शरीर में रूक्षता, दुबलाई, जम्भाई आदिको करता है। ऐसे ही बढ़ा हुआ पित्त दाह, नेत्र-नखादिमें पीतता आदि करता है तथा बढ़ा हुआ कफ शरीर में जड़ता, स्थूलता आदिको करता है। क्षीण हुए दोष इन लक्षणों को छोड़ देते हैं। मनुष्य अपने सब कामकाज, आहारविहारादि यथोचित करता है, प्रसन्न मन रहता है तब जानना चाहिए कि इसके शरीर में दोषों की साम्यावस्था वर्तमान है।

दोषों को साम्यावस्था में लाने का आदेश—पूर्वोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वात, पित्त एवं कफ ये तीनों दोष बढ़ने तथा क्षीण होने से रोगकारक होते हैं इसलिए वैद्य को चाहिए कि वह हिताचरण कराकर दोषों की क्षयवृद्धि से रक्षा करता रहे या प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह हिताहारविहार करके दोषों को घटने-बढ़ने न दे, अपि तु साम्यावस्था में बने रहने दे ताकि वह सदा अपना जीवन आनन्द से व्यतीत कर सके।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी-व्याख्यायां दोषादिविज्ञानीयो नाम एकोनविंशोध्यायः ॥१९॥

# अथ विंशोऽध्यायः ।

अथातो दोषभेदीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

दोषभेदीयाध्याय—इसके पूर्वाध्याय में दोषवैषम्य का वर्णन किया गया किन्तु वह वैषम्य दोषभेद से अनेक प्रकार का होता है। इसीलिये दोषों के भेद बतलानेवाला यह दोषभेदीय अध्याय है। उक्त दोषों के भेद स्थान, कर्म, अवस्था, हेतु, आकृति, साधन और संयोगभेद से सात भागों में विभक्त होते हैं। स्थानभेद यथा—पक्वाशयस्थ वायु, कटिस्थ वायु इत्यादि। कर्मभेद जैसे कि—श्वासोच्छ्वासप्रवर्तक, मलमूत्रप्रवर्तक इत्यादि। अवस्था-भेद जैसे कि-संचित, प्रकुपित आदि। हेतुभेद जैसे कि—मिथ्यायोगप्रकुपित, अतियोगप्रकुपित आदि। आकृतिभेद यथा—स्रंसलक्षण, व्यासलक्षण आदि। साधनभेद जैसे कि—स्निग्धोपशय उष्णोपशय आदि। संयोगभेद जैसे कि पित्तयुक्त, कफयुक्त आदि। इस प्रकार दोषवैषम्य के अनेक भेद होते हैं। अब आचार्य उक्त भेद जिसमें बताए गये हैं उस दोषभे-दीयनामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि आत्रेयादि महर्षियों ने किया है।

वाय्वाकाशधातुभ्यां वायुः । आग्नेयं पित्तम् । अम्भःपृथिवीभ्यां श्लेष्मा । तत्र पक्वाशयः कटिः

१. पूर्वाध्याये दोषवैषम्यमुक्तम्। तच्च दोषभेदाद् बहुधा भिद्यते। दोषभेदज्ञानार्थमयमध्यायः। अत एवायं दोषभेदीयः। तद्भेदश्च स्थानकर्मावस्थाहेत्वाकृतिसाधनसंयोगभेदाद्भवति। तत्र स्थानतो यथा—पक्वाशयस्थोऽयं वायुः कटिस्थोऽयम्। कर्मतो यथा—श्वासोच्छ्वास-प्रवर्तकोऽयं विण्मूत्रप्रवर्तकोऽयम्। अवस्थातो यथा—चितोऽयं प्रकु-पितोऽयम्। हेतुतो यथा—मिथ्यायोगप्रकुपितोऽयमतियोगप्रकुपितोऽ-यम्। आकृतितो यथा—स्रंसलक्षणोऽयं व्यासलक्षणोऽयम्। साधन-तो यथा—स्निग्धोपशयोऽयम् उष्णोपशयोऽयम्। संयोगतो यथा—पित्तयुक्तोऽयम्, श्लेष्मयुक्तोऽयमिति। एवं पित्तादिष्वपि। इत्यायुर्वेद-रसायने हेमाद्रिः।

सक्थिनी पादावस्थि श्रोत्रं स्पर्शनं च वातस्थानानि। अत्र च पक्वाशयो विशेषेण। नाभिरामाशयस्वेदो लसीका रुधिरं चक्षुः स्पर्शनं च पित्तस्थानानि। अत्र नाभिर्विशेषेण। उरः कण्ठः शिरः क्लोम पर्वाण्यामाशयो रसो मेदो घ्राणं रसनं च श्लेष्मस्थानानि। अत्राप्युरो विशेषेण। इत्थमधोमध्योर्ध्वसंनिवेशिना दोषत्रयेण शरीरमगारमिव स्थूणात्रितयेन स्थिरीकृतम्। अतश्च दोषा देहस्य स्थिरीकरणात्स्थूणा इत्युच्यन्ते। धारणाद्धातवः। मलिनीकरणादाहारमलत्वाच्च मलाः। दूषणस्वभावाद्दोषा इति।

दोषों की उत्पत्ति, स्थान और निरुक्ति—वायु और आकाश इन दोनों धातुओं से वायु, अग्नि से पित्त, जल और पृथिवी से कफ उत्पन्न हुआ है। पक्वाशय, कमर, सक्थि (वंक्षण स्थान से लेकर अंगुलस्थान तक का भाग) पांव, अस्थि, कान और त्वचा ये वायु के स्थान हैं। इनमें पक्वाशय विशेषरूपेण वायु का स्थान है। नाभि, आमाशय, स्वेद, लसीका, रक्त, नेत्र और त्वचा ये पित्त के स्थान हैं। इनमें भी नाभि पित्त का विशेष स्थान है। उरः (छाती), कण्ठ, सिर, क्लोम, पर्व, आमाशय, रस, मेद, नासिका और जिह्वा ये कफ के स्थान हैं। इनमें भी कफ का मुख्यस्थान छाती (उर) है। इस प्रकार क्रम से अधोभाग, मध्यभाग तथा ऊर्ध्वभाग में रहनेवाले दोषत्रय (वात, पित्त और कफ) ने तीन थूनियोंसे घर की तरह इस शरीर को स्थिर किया हुआ है। देह को स्थिरीकरण के कारण इन दोषों को स्थूणा कहते हैं। देह की धारणा इनसे होती है इसलिए इनको धातु कहते हैं। रसरक्तादि धातुओं को मलिन (दूषित) करनेवाले हैं तथा ये आहारों का मल हैं इसलिए इन्हें मल भी कहते हैं। इनका दूषणस्वभाव है अतः इन्हें दोष भी कहते हैं।

विशेष वक्तव्य—'वाय्वाकाशधातुभ्यां वायुः' इसमें धातुग्रहण महाभूतों के शक्तिप्रदर्शनार्थ है। अन्यथा अमूर्त से मूर्तकी उत्पत्ति विरुद्ध दिखाई देगी किन्तु शक्ति या प्रभाव जो चाहे सो कर सकता है।

त एते प्रत्येकं पञ्चधा भिद्यन्ते। तद्यथा—प्राणोदानव्यानसमानापानभेदैर्वायुः। तत्र प्राणो मूर्धन्यवस्थितः कण्ठोरश्चरो बुद्धीन्द्रियहृदयमनोधमनीधारणष्ठीवनक्षवथूद्गारप्रश्वासोच्छ्वासान्नप्रवेशादिक्रियः। उदान उरस्यवस्थितः कण्ठनासिकानाभिचरो वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नोर्जाबलवर्णस्रोतःप्रीणनधीधृतिस्मृतिमनोबोधनादिक्रियः। व्यानो हृद्यवस्थितः कृत्स्नदेहचरः शीघ्रतरगतिः गतिप्रसारणाकुञ्चनोत्क्षेपावक्षेपनिमिषोन्मेषजृम्भणान्नास्वादस्रोतोविशोधनस्वेदासृक्स्रावणादिक्रियो योनौ च शुक्रप्रतिपादनो विभज्य चान्नस्य किट्टात्सारं तेन क्रमशो धातूंस्तर्पयति। समानोऽन्तरग्निसमीपस्थस्तत्सन्धुक्षणः पक्वामाशयदोषमलशुक्रार्तवाम्बुवहः स्रोतोविचारी तदवलम्बनान्नधारणपाचनविवेचनकिट्टाधोनयनादिक्रियः। अपानस्त्वपानस्थितो बस्तिश्रोणिमेढ्रवृषणवंक्षणोरुचरो विण्मूत्रशुक्रार्तवगर्भनिष्क्रमणादिक्रिय इति।

पञ्चात्मक वायु के स्थानविचरण और कार्य—वायु, पित्त और कफ इनमें प्रत्येक के पांच पांच भेद हैं। तदनुसार प्राण, उदान, व्यान, समान और अपान ये वायु के पांच भेद हैं। इनमें का प्रथम प्राणवायु मस्तक में स्थित रहता हुआ कण्ठ और उर (छाती) में विचरण करता है। बुद्धि-इन्द्रिय-हृदय-मन और धमनियोंका धारण करना, थूकना-छींकना-डकार लेना-श्वासोच्छ्वास-अन्नका शरीर में प्रवेश करना ये इस (प्राणवायु) के कार्य हैं।

उदानवायु उर (छाती) में रहता है और यह कण्ठ, नासिका और नाभिस्थान में विचरण करता है, बोलने की प्रवृत्ति, प्रयत्न (सब कार्यों में उत्साह), तृप्ति, बल, वर्ण, स्रोतों का पोषण, बुद्धि, धारणाशक्ति और मन को समझना इसके कार्य हैं।

व्यानवायु हृदय में रहता और बड़े वेग से समस्त शरीर में गमन करता है, गति (गमनागमन), प्रसारण (पसरना), आकुञ्चन (सिकोड़ना), ऊपर नीचे को फेंकना, आंखें खोलना-बन्द करना, जम्भाई, अन्न का स्वाद, स्रोतों का विशोधन, पसीने-रक्त का स्राव आदि इसके कार्य हैं। इतना ही नहीं, योनि में शुक्र का पात, अन्न के किट्ट से सार को अलग करना और उससे क्रमशः धातुओंका तर्पण ये भी इसके कार्य हैं।

समानवायु अन्तरग्नि पक्वाशय-आमाशय के बीच नाभि के वाम भाग में आध अंगुलपर स्थित अग्नि के पास रहता और उसको सुलगाता है। पक्वाशय, आमाशय, दोष, मल, शुक्र, आर्तव एवं अम्बु (रस) के साथ विचरण करता है, स्रोतों में विचरण कर उनमें अन्न का धारण, पाचन, विवेचन, किट्ट को नीचे की ओर लेना आदि इसके कार्य हैं।

अपानवायु अपान में (गुदा में कटि के अधोभाग में) स्थित रहता है और बस्ति (नाभि के अधोभाग) श्रोणी (कटि), मेढ्र (लिङ्ग), वृषण (अण्डकोष), वंक्षण ऊरुजानु के उपरिभाग) और उरस्थल में विचरता है। विट् (मल=पुरीष), मूत्र, वीर्य आर्तव तथा गर्भ को बाहर निकालना आदि इसके कार्य हैं। आदि ग्रहण से मलमूत्रादि को बाहर निकालने की तरह विड्ग्रहणादि भी अपानवायु के कार्य हैं।

१. रसो रुधिरं २. शरीरमागारमिव ३. देहं स्थेमानमानयन्तः ४. मलत्वान्मलाः ५. स्वभावत्वात् ६. सक्थि—वंक्षणाद्यङ्गुष्ठान्तम्। इति हेमाद्रिः। ७. धातुग्रहणं शक्तिस्वरूपप्रदर्शनार्थम्। अन्यथा अमूर्त्तान्मूर्त्तसंभवो विरुद्ध इतीन्दुः। ८. श्वासोच्छ्वासः—मनोविबोधनादिक्रियः।

१. अन्तराग्नेः स्थानमामाशयपक्वाशयोर्मध्यं नाभेरर्धाङ्गुलमात्रेण वामे पार्श्वे। इतीन्दुः। गुदं त्वपानं पायुर्ना बस्तिर्नाभेरधो द्वयोः। इत्यमरः। इन्दुस्तु—अपानस्तु प्राधान्येनापाने कटेरधस्तिष्ठतीति। "कटिः श्रोणी ककुद्मती। सक्थिक्लीबे पुमानूरुस्तत्सन्धिः पुंसि वंक्षणः।" इत्यमरः। २. विण्मूत्रादिनिष्क्रमणक्रियश्च तन्निष्क्रमणे क्रिया प्रेरणमादिग्रहणेन विड्धारणादिपरिग्रह इतीन्दुः।

पाचकरञ्जकसाधकालोचकभ्राजकत्वभेदैः पित्तम्। तत्र यदामाशयपक्वाशयमध्यस्थं पञ्चमहाभूतात्मकत्वेऽपि तेजोगुणोत्कर्षात् क्षपितसोमगुणं ततश्च त्यक्तद्रवस्वभावं सहकारिकारणैर्वायुक्लेदादिभिरनुग्रहाद्दहनपचनादिक्रियया लब्धाग्निशब्दं पित्तमन्नं पचति सारकिट्टौ विभजति शेषाणि च पित्तस्थानानि तत्रस्थमेवानुगृह्णाति तत्पाचकमित्युच्यते। आमाशयस्थं तु रसस्य रञ्जनाद्रञ्जकम्। हृदयस्थं बुद्धिमेधाभिमानोत्साहैरभिप्रेतार्थसाधनात्साधकम्। दृष्टिस्थं रूपालोचनादालोचकम्। त्वक्स्थं त्वचो भ्राजनाद् भ्राजकम्। तदभ्यङ्गपरिषेकालेपादीन् पाचयति छायाश्च प्रकाशयति।

पञ्चात्मक पित्त के नाम-स्थान-विचरण और कार्य—पाचक, रञ्जक, साधक, आलोचक एवं भ्राजक भेद से पित्त के भी पांच प्रकार हैं। जो आमाशय और पक्वाशय के बीच में रहता है, पञ्चमहाभूतात्मक होते हुए भी अग्निगुण के आधिक्य से जिसका सोमगुण क्षपित हो गया है तथा द्रवस्वभाव छूट गया है, पचनक्रिया में वायुक्लेदादि सहकारी कारणों के अनुग्रह से जिसने दहनपचनक्रिया के कारण अग्नि शब्द को प्राप्त कर लिया है, वह पाचक पित्त है। अपने मुख्यस्थानपर रहकर शेष पित्तस्थानों पर भी अनुग्रह करना ये इसके कार्य हैं।

रञ्जक पित्त का स्थान आमाशय है और रस धातु का रञ्जन ( रक्तरूपेण ) करना इसका कार्य है।

साधक पित्त का स्थान हृदय है। बुद्धि, मेधा ( धारणशक्ति ), अभिमान ( अहंकार[1] ) और उत्साह द्वारा अभिप्रेत ( मनोवाञ्छित ) अर्थ का साधन करना ये इसके कार्य हैं।

आलोचक पित्तका स्थान दृष्टि ( नेत्र ) है और रूप का भलीभांति आलोचना ( निरीक्षण ) करना इसका कार्य है।

भ्राजक पित्त त्वचा में रहता है और अभ्यङ्ग, परिषेक, आलेपादिको पचाना, त्वचा और कान्ति को प्रकाश ( प्रदीप्त ) करना यह इस भ्राजक पित्त के कार्य हैं।

अवलम्बकक्लेदकबोधकतर्पकश्लेषकत्वभेदैः श्लेष्मा। स तूरस्थः स्ववीर्येण त्रिकस्यान्नवीर्येण च सह हृदयस्य च शेषाणां च श्लेष्मस्थानानां तत्रस्थ एवोदककर्मणाऽवलम्बनादवलम्बक इत्युच्यते। आमाशयस्थितोऽन्नसंघातस्य क्लेदनात्क्लेदकः। रसनस्थः सम्यग्रसबोधनाद्बोधकः। शिरस्थश्चक्षुरादीन्द्रियतर्पणात्तर्पकः। पर्वस्थोऽस्थिसन्धिश्लेषणात् श्लेषक इति।

पञ्चात्मक कफ के नाम, स्थान, विचरण और कार्य—अवलम्बक, क्लेदक, बोधक, तर्पक और श्लेषक भेद से कफ भी पांच प्रकार का है। इनमें का पहला अवलम्बक कफ उर ( छाती ) में रहता है। अपने वीर्य से त्रिक ( पृष्ठवंशाधार ) का अवलम्बन करता है। अपने वीर्य तथा अन्न के वीर्य से हृदय का अवलम्बन करता है। अपने स्थान में रहकर शेष कफ स्थानों ( कण्ठादि ) का उदककर्म ( जल व्यापार ) से अवलम्बन करने के कारण इसका नाम अवलम्बक कफ है। कुछ लोग त्रिक का अर्थ बाहु, ग्रीवा तथा अस्थियों का संघात मानते हैं किन्तु उन का यह मानना ठीक नहीं है, इसलिये कि त्रिक का अर्थ पृष्ठवंश का आधार ही है।

क्लेदक कफ आमाशय में रहता है। अन्न संघात का क्लेदन करना इसका कार्य है।

बोधक कफ का स्थान रसना ( जिह्वा ) है और मधुरादि रसों का बोध कराना इसका कार्य है।

तर्पक कफ का स्थान सिर है और इन्द्रियों को तृप्ति प्रदान करना इसका कार्य है।

श्लेषक कफ पर्वों में रहता है। अस्थियों की संधियों का श्लेषण ( जोड़ना ) इसका काम है।

इस प्रकार वात, पित्त और कफ इन तीनों के पांच पांच प्रकार, उनके स्थान एवं कार्य का वर्णन करके अब आचार्य इनके चय, प्रकोप तथा शमन का कथन करते हैं।

एवममीषु स्थानेषु भूयिष्ठमविकृताः सकलशरीरव्यापिनोऽपि वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते। तेषां वृद्धिहेतुर्वक्ष्यते निदानेषु। सामान्यतश्च[2] वृद्धिक्षयलक्षणमुक्तं पूर्वाध्याये। वृद्धिर्हि द्वेधा चयप्रकोपभेदेन[3]। तत्रोष्णगुणोपहिता रूक्षादयो वायोः संचयमापादयन्ति, शीतगुणोपहिताः प्रकोपमुष्णगुणोपहिताः स्निग्धादयः प्रशमम्। शीतगुणोपहितास्तीक्ष्णादयः पित्तस्य चयमुष्णगुणोपहिताः कोपं, शीतगुणोपहिता मन्दादयः प्रशमम्। शीतगुणोपहिताः स्निग्धादयः कफस्य चयमुष्णगुणोपहिताः कोपं तथा तु रूक्षादयः प्रशमम्।

वातादि दोषों का संचय, प्रकोप और प्रशम—इस प्रकार इन स्थानों में सकल शरीरव्यापी, अविकृत ( अपनी साम्यावस्था में ) वात, पित्त और कफ रहते हैं। इनकी वृद्धि के कारण निदान ( ज्वरनिदान ) में आगे कहेंगे। सामान्यतया या संक्षेप से इनकी वृद्धि और क्षय के लक्षण पूर्वाध्याय में कह चुके हैं। चय-प्रकोपभेद से वृद्धि दो प्रकार की है। उष्ण गुण से संयुक्त होकर रूक्षादि वायु के गुण वायु का संचय करते हैं, ये ही रूक्षादि गुण शीत गुण से मिलकर वायु के प्रकोप को करते हैं और उष्ण गुण से मिलकर स्निग्धादि गुण वायु का प्रशमन करते हैं। पित्त के तीक्ष्णादि गुण शीत गुण से मिलकर पित्त का चय करते हैं, उष्ण गुण से युक्त होकर पित्त का प्रकोप करते हैं तथा शीत गुण से मिलकर मन्दादि गुण पित्त का प्रशमन करते हैं। कफ के स्निग्धादि गुण शीत गुण से संयुक्त होकर कफ का संचय, उष्ण गुण से मिलकर कफ के प्रकोप और इसी प्रकार उष्ण गुण से मिलकर रूक्षादि गुण कफ का प्रशमन करते हैं।

चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु।
विपरीतगुणेच्छा च कोपस्तून्मार्गगामिता॥

१. पाचनादि २. अभिमानोऽहङ्कार इति सांख्यकारिका।

१. केचित्तु बाहुग्रीवास्थित्रयसंघातं त्रिकमाहुः। तदसत्। त्रिकशब्दस्य पृष्ठवंशाधार एव रूढत्वादिति हेमाद्रिः। २. समासतश्च इत्यपि पाठः। ३. चयकोप इति पा०।

लिङ्गानां दर्शनं स्वेषामस्वास्थ्यं रोगसंभवः ।
स्वस्थानस्थस्य समता विकारासंभवः शमः ॥

चय, प्रकोप और शम के लक्षण—अपने ही स्थान में रहते हुये दोष की वृद्धि का नाम चय है। दोष के चय होने से क्या लक्षण होते हैं सो कहते हैं। वात, पित्त एवं कफ इनमें से जिस दोष का चय होता है तब उस दोष की वृद्धि करनेवाले कारणों में द्वेष होता है और उससे विपरीत गुणवाले पदार्थों की इच्छा होती है। यहां टीकाकार शंका करते हैं कि वृद्धि के हेतुओं में प्रद्वेष ही से विपरीत गुणवाले द्रव्यों में इच्छा का बोध हो जाता है। ऐसी अवस्था में 'विपरीत गुणों में इच्छा' यह लिखने की आवश्यकता ही क्या थी? इसका समाधान यह है कि-कभी कभी वृद्धि के हेतुओं में भी इच्छा होती है जैसे कि दौहृद के समय-स्त्री को कभी वृद्धि के हेतुओं में भी इच्छा हो जाती है। इस लिए विपरीत गुणेच्छा लिखना व्यर्थ नहीं है। संचय होने पर दोष अपने स्थान को छोड़ अन्य स्थान में चला जाता है, तब इसे दोष का प्रकोप कहते हैं। दोष प्रकोप के समय जिस दोष का प्रकोप होता है, उस दोष के लक्षणों का दिखाई देना, अस्वास्थ्य और रोग की उत्पत्ति ये लक्षण होते हैं। यहां भी शंका की जाती है कि "लिङ्गानां दर्शनं स्वेषामस्वास्थं रोगसम्भवः" इन तीनों के बताने की क्या आवश्यकता थी जब कि इनमें से किसी एक ही बात के कहने से काम चल जाता है। इसके समाधान में कहते हैं कि-नहीं, किसी एक ही बात के कहने से दोष-प्रकोप का बोध नहीं होता जैसे कि कामला में पित्त के लक्षण दिखने पर भी पित्त प्रकोप का बोध नहीं होता। मन के संताप से भी अस्वास्थ्य हो सकता है, उससे दोष-प्रकोप का पता नहीं लगता। रोगसंभव आगन्तु कारण से भी होता है, उससे दोष-प्रकोप का पता नहीं लगता अतः दोषप्रकोप तभी जाना जाता है जब कि दोष के लक्षण, अस्वास्थ्य और रोग का संभव ये तीनों बातें साथ होती हैं। इसी आवश्यकता के कारण ये तीनों बातें लिखी गई हैं। शम उस अवस्था का नाम है जब कि चय और वृद्धि से रहित दोष अपनी साम्यावस्था में अपने स्थान में रहते हैं उस समय किसी प्रकार का विकार (रोग) भी उत्पन्न नहीं होता।

१. द्रष्टव्यो हृदयेऽस्योपर्यरुणदत्तकृतसर्वाङ्गसुन्दरा टीकाग्रन्थः।

२. ननु 'लिङ्गानां दर्शनं स्वेषाम्,' 'अस्वास्थ्यं', 'रोगसंभवः' इति किं त्रितयमुद्दिष्टम्? एकेनैव दोषकोपावगमादेकमेवोपदेष्टुं युक्तम्। नैवम्। व्यभिचारदर्शनात्। तथा हि वक्ष्यति पाण्डुरोगचिकित्सिते 'रूक्षशीतगुरुस्वादुव्यायामबलनिग्रहैः। कफसंमूर्च्छितो वायुर्यदा पित्तं बहिः क्षिपेत्॥' इत्यारभ्य यावत् 'पित्ते शाखासमाश्रिते।, इति। तदेवमेषः कामलाख्यो रोगः पित्तलिङ्गदर्शनादपि न पित्तस्य कोपमनुप्रयाति। अत एव पित्तप्रकोपकरं भृशाम्लतीक्ष्णकटुकादि चिकित्सितमत्र निर्दिष्टम्। अस्वास्थ्यमित्येतदपि न दोषकोपस्य निश्चितं लिङ्गम्। तथा हि मानसेनापि भयशोकादिनाऽस्वास्थ्यं दृश्यते। तथा, आगन्तवोऽपि रोगा दोषकोपमन्तरेणैवोत्पद्यमाना दृश्यन्ते। तस्माद्रोगसंभवादपि दोषकोपोऽयमनिश्चितः। तदेवं लक्षणत्रितयेनैवानेन दोषकोपो निश्चेतुं शक्यत इति त्रितयमप्येतद्वक्तव्यमित्यरुणदत्तः।

देहे क्रुद्धोऽनिलवशात्कृत्स्नेऽर्धेऽवयवेऽपि वा ।
दोषो विकारं कुरुते खे वर्षमिव तोयदः ॥

प्रकुपित दोष से शरीर में चाहे जहां रोगोत्पत्ति—प्रकुपित हुआ दोष वायु के बल को पाकर सारे शरीर में, आधे अङ्ग में एवं किसी भी एक अवयव में रोग को उत्पन्न करता है जैसे कि आकाशस्थित मेघ वायु द्वारा जहां ले जाया जाता है, वहीं जाकर वर्षा करता है।

अथ प्रकुपिता वातादयो नानाविधैर्विकारैः शरीरमुपतपन्ति। आविष्कृततमास्तु वायोरशीतिर्विकाराश्चत्वारिंशत्पित्तस्य विंशतिः श्लेष्मणः। तत्र वातविकारास्तद्यथा—नखभेदो विपादिका पादशूलं पादभ्रंशः सुप्तपादता वातखुडता गुल्फग्रहः पिण्डिकोद्वेष्टनं गृध्रसी जानुभेदो जानुविश्लेष ऊरुसाद ऊरुस्तम्भः पङ्गुत्वं गुदभ्रंशो गुदार्तिर्वृषणोत्क्षेपो मेढ्रस्तम्भो वङ्क्षणानाहः श्रोणिभेदो विड्भेद उदावर्तः खञ्जत्वं कुब्जत्वं वामनत्वं त्रिकग्रहः पृष्ठग्रहः पार्श्वावमर्द उदरावेष्टो हृन्मोहो हृद्द्रवो वक्षोद्धर्षस्तथा वक्षोपरोधो वक्षस्तोदो बाहुशोषस्तथा ग्रीवास्तम्भो मन्यास्तम्भः कण्ठोद्ध्वंसो हनुस्तम्भस्ताल्वोष्ठभेदो दन्तभेदो दन्तशैथिल्यं मूकत्वं वाक्सङ्गः प्रलापः कषायास्यता मुखशोषो रसाज्ञत्वं घ्राणनाशः कर्णशूलमशब्दश्रवणमुच्चैःश्रुतिर्बाधिर्यं वर्त्मस्तम्भो वर्त्मसंकोचस्तिमिरमक्षिशूलमक्षिव्युदासो भ्रूव्युदासः शंखभेदो ललाटभेदः शिरोरुक् केशभूमिस्फुटनमर्दितमेकाङ्गरोगः सर्वाङ्गरोग आक्षेपको दण्डकः श्रमो भ्रमो वेपथुर्जृम्भा ग्लानिर्विषादो रौक्ष्यं पारुष्यं श्यावारुणाभासत्वमस्वप्नोऽनवस्थितचित्तता च।

प्रकुपित दोषों का अनेक-रोगकर्तृत्व—ये वातादि (वात-पित्त-कफ) दोष प्रकुपित होने पर नाना प्रकार के रोगों से शरीर को संतप्त करके कष्ट देते हैं। उन रोगों में से आज तक जितने विकार प्रगट हुए हैं, उनमें वायु के ८० पित्त के २० और कफ के ४० विकार हैं वे इस प्रकार हैं।

वायु के ८० विकार—(१) नखभेद-नखों का फटना, (२) विपादिका-बेवाई फटना, (३) पादशूल-पगों की पीडा, (४) पादभ्रंश, (५) सुप्तपादता-पगों में स्पर्श ज्ञान न होना, (६) वातखुडता-पग और जंघा की संधि में पीडा, (७) गुल्फग्रह-गुल्फों-गिरियों का जकड़ जाना, (८) पिण्डिकोद्वेष्टन-पिण्डलियों में बांयटें आना, (९) गृध्रसी-Sciatica कटि से पगों तक पीड़ा, (१०) जानुभेद-गोड़ों में भेदन की तरह पीड़ा, (११) जानुविश्लेष-गोड़ों का ढीला होना, (१२) ऊरुस्तम्भ, (१३) ऊरुसाद-ऊरु की शिथिलता, (१४) पङ्गु-

१. वातखुड्डता इति चरकः २. वृषणोत्क्षेप इति चरकः।
३. मूलमुद्रितपुस्तके तथेन्दुटीकाग्रन्थे सति समानपाठेऽपि मूलग्रन्थप्रकाशकास्तटेंशास्त्रिमहाभागाः पादटिप्पण्यां लिखन्ति वक्षोद्धर्षादिस्थानेषु चक्षुर्द्धर्षश्चक्षुपरोधश्चक्षुस्तोद इति हेमाद्रौ पाठ इति किन्तु मुद्रितायुर्वेदरसायने समुद्धृताष्टाङ्गसंग्रहपाठेऽस्मिन्नपि नास्त्ययं पाठः।

त्व-पंगुला होना, ( १५ ) गुदभ्रंश-कांच का गुदा से बाहर आना, ( १६ ) गुदार्ति-गुदा में पीड़ा, ( १७ ) वृषणाक्षेप-अण्डकोष का ऊपर चढ़ना, ( १८ ) मेढ़्स्तम्भ-लिङ्गेन्द्रिय की जड़ता, ( १९ ) वंक्षणानाह-कटि और ऊरु की सन्धियों का फूलना, ( २० ) श्रोणिभेद-कमर में पीड़ा, ( २१ ) विड्भेद-मल का फूटना, ( २२ ) उदावर्त, ( २३ ) खञ्जत्व-लंगड़ा होना, ( २४ ) कुब्जत्व-कुबड़ा होना, ( २५ ) वामनत्व-बौना होना, ( २६ ) त्रिकग्रह-त्रिक का जकड़ जाना, ( २७ ) पृष्ठग्रह-पीठ का जकड़ना, ( २८ ) पार्श्वविमर्द-पसवाड़े दुखना, ( २९ ) उदरावेष्ट-पेट में आंटे पड़ना, ( ३० ) हृन्मोह-दिल या हार्ट का धड़-धड़ करना Heart Faicure, ( ३१ ) हृदयद्रव-हृदय का अधिक उछलना Palpitation, ( ३२ ) वक्षोद्धर्ष-छाती में घर्षणवत् पीड़ा, ( ३३ ) वक्षोपरोध-छाती का रुका हुआ सा प्रतीत होना, ( ३४ ) वक्षस्तोद-छाती या फेफड़ों में टोंचने की सी पीड़ा, ( ३५ ) बाहुशोष-बाहु का सूख कर पतला पड़ना, ( ३६ ) ग्रीवास्तम्भ-ग्रीवा का जकड़ना, ( ३७ ) मन्यास्तम्भ-ग्रीवा या गर्दन के पिछले भाग का जकड़ जाना, ( ३८ ) कण्ठध्वंस-स्वरभेद, ( ३९ ) हनुस्तम्भ-ठोडी का जकड़ना, ( ४० ) तालुभेद-तालु में भेदनवत् पीडा या तालु का फटना, ( ४१ ) ओष्ठभेद-होठों का फटना, (४२) दन्तभेद-दांतों का टूटना, ( ४३ ) दन्तशैथिल्य-दांतों का हिलना, ( ४४ ) मूकत्व-गूंगा होना, ( ४५ ) वाक्सङ्ग-जीभ का जाड़ा पड़ना, ( ४६ ) प्रलाप-बकवाद करना, ( ४७ ) कषायास्यता-मुंह का कसैला रहना, ( ४८ ) मुखशोष-मुँह का सूखना, ( ४९ ) रसाज्ञत्व-किसी रस का ज्ञान न होना, ( ५० ) घ्राणनाश-सुगन्धि दुर्गन्धिका ज्ञान न होना ( ५१ ) कर्णशूल-कान में पीड़ा, ( ५२ ) अशब्दश्रुति-बिना शब्द के सुनाई देना, ( ५३ ) उच्चैःश्रुति-ऊंचा सुनना, खूब जोर से कहने पर सुनना, ( ५४ ) बाधिर्य-बहरापन, ( ५५ ) वर्त्मस्तम्भ-नेत्र की पलकें बन्द होना, ( ५६ ) वर्त्मसंकोच-नेत्र की पलकों को न खोल सकना, ( ५७ ) तिमिर-अन्धियारी का सामने आना, ( ५८ ) अक्षिशूल-नेत्रों में पीड़ा, ( ५९ ) अक्षिव्युदास-आंखें चढ़ी रहना, ( ६० ) भ्रूव्युदास-भौंहें चढ़ी रहना, ( ६१ ) शंखभेद-कनपटियों में शूल, ( ६२ ) ललाटभेद-माथा दुखना, ( ६३ ) शिरोरुक्-सिर में पीड़ा, ( ६४ ) केशभूमिस्फुटन-केशों की जगह फोड़े-फुन्सी होना, ( ६५ ) अर्दित-मुँह टेढ़ा हो जाना, ( ६६ ) एकाङ्गरोग-पक्षाघात या लकवा, ( ६७ ) सर्वाङ्गरोग-दोनों बाजुओं का या पक्षों का घात, सब शरीर में पीड़ा, ( ६८ ) आक्षेपक-झटके आना एक प्रबल वातरोग, ( ६९ ) दण्डक-दण्ड की तरह गिर पड़ना, ( ७० ) श्रम-थकावट, ( ७१ ) भ्रम-चक्कर आना, ( ७२ ) वेपथु-कम्प, ( ७३ ) जृम्भा-जम्भाई का आना, ( ७४ ) ग्लानि, ( ७५ ) विषाद-अप्रसन्न रहना, ( ७६ ) रौक्ष्य-देह का रूखा रहना, ( ७७ ) पारुष्य-कठोरता, ( ७८ ) श्यावारुणावभासत्व-शरीर में कालापन-ललाई लिए दिखाई देना, ( ७९ ) अस्वप्न-नींद का न आना और ( ८० ) अनवस्थितचित्तता-चित्त या मनका स्थिर न रहना। ये वायु के अनन्त विकारों में ८० विकार भली भांति संसार में प्रगट हैं।

पित्तविकाराः पुनरोषः प्लोषो दवो दवथुर्विदाहोऽन्तर्दाहस्त्वग्दाहोंऽसदाहो धूमकोऽम्लक ऊष्माधिक्यमतिस्वेदोऽङ्गगन्धोऽवयवसदनं शोणितक्लेदो मांसक्लेदस्त्व मांसदरणं[1] चर्मदरणं रक्तकोठो रक्तविस्फोटो रक्तमण्डलानि रक्तपित्तं हरितत्वं हारिद्रत्वं नीलिका कक्ष्या कामला तिक्तास्यता लोहितगन्धास्यता पूतिमुखत्वं तृष्णाधिक्यमतृप्तिरास्यपाको गलपाकोऽक्षिपाकः पायुपाको मेढ़्पाको जीवादानं तमःप्रवेशो हरितहारिद्रनेत्रमूत्रशकृत्त्वं च ।

पित्त के ४० विकार—(१) ओष-पास में रखी हुई अग्नि के दाह की तरह दाह, (२) प्लोष-किसी अङ्ग में दाह, (३) दव-सर्वाङ्गीण दाह, (४) दवथु-चक्षु आदि इन्द्रियों में जलन, (५) विदाह-सर्वाङ्ग में विविध प्रकार का दाह, (६) अन्तर्दाह-कोठे के अन्दर दाह, (७) त्वग्दाह-त्वचा में जलन, (८) अंसदाह-कन्धों की जलन, (९) धूमक-सिर-नाक-कान-कण्ठ-नेत्रोंमें धुँवाँसा उठना, (१०) अम्लक-पेटसे खट्टी डकारों का आना, (११) ऊष्माधिक्य-अधिक गरमी का अनुभव होना, (१२) अतिस्वेद-पसीने की अधिकता, (१३) अङ्गगन्ध-देहका बासना, (१४) अवयवसाद-अङ्गोपाङ्ग का ढीला होना, (१५) रक्तक्लेद-रक्तका कालापन या रक्त का पतला होना, (१६) मांसक्लेद-मांसका काला दुर्गन्धित होना, (१७) त्वग्मांसदरण-त्वचा और मांस का फटना, (१८) चर्मदरण-त्वचाओंका फूटना, (१९) रक्तकोठ-लाल लाल चकत्ते पड़ना, (२०) रक्तविस्फोट-लाल रंग के फोड़े होना, (२१) रक्तमण्डल-लाल मण्डलाकार चकत्ते होना, (२२) रक्तपित्त-रक्तपित्त नामक प्रसिद्ध रोग, (२३) हरितत्व-शरीर पर हरी झांई पड़ना या पेट की सिराओं का हरा पड़ना, (२४) हारिद्रत्व-शरीर का रंग हल्दी के समान पीला पड़ जाना, (२५) नीलिका-रोगविशेष, (२६) कक्ष्या-कांख में 'कांखोलाई' नामक फोड़े का होना, (२७) कामला-पित्तजन्य रोगविशेष, (२८) तिक्तास्यता-मुँह का कड़ुवा रहना, (२९) लोहितगन्धास्यता-मुँह में रक्त की सी गन्धका आना, (३०) पूतिमुख-मुँह का सड़ना या बासना, (३१) तृष्णाधिक्य-प्यास का बहुत लगना, (३२) अतृप्ति-भोजनादिसे तृप्ति न होना, (३३) आस्यपाक-मुख का पकना, (३४) गलपाक-गले में छाले पड़ना, (३५) अक्षिपाक-नेत्रों का पकना, (३६) पायुपाक-गुदा का पकना, (३७) मेढ़्पाक-लिङ्गेन्द्रिय या भग का पकना, (३८) जीवादान-रक्त का शरीर से निकलना, (३९) तमःप्रवेश-अन्धकार में प्रविष्ट हुआ सा प्रतीत होना, (४०) हरितहारिद्रनेत्रमूत्रशकृत्व-नेत्र, मूत्र और विष्ठा का हरा-पीला होना। इस प्रकार ये ४० विकार पित्त के हैं।

श्लेष्मविकारास्तु तृप्तिस्तन्द्रा निद्राधिक्यं स्तैमित्यं गुरुगात्रताऽऽलस्यं मुखमाधुर्यं प्रसेकः श्लेष्मोद्गिरणं मलाधिक्यं बलासो हृदयोपलेपः कण्ठोपलेपो धमनीप्रतिचयो गलगण्डोऽतिस्थौल्यं शीताग्नित्वमुदर्दः श्वेतावभासता श्वेतनेत्रमूत्रशकृत्त्वं च ।

---

१. मांसावदरणम् इति पा० ।

कफ के २० विकार—(१) तृप्ति, (२) तन्द्रा, (३) निद्राधिक्य, (४) स्तैमित्य, (५) गुरुगात्रता, (६) आलस्य, (७) मुखमाधुर्य, (८) प्रसेक, (९) श्लेष्मोद्गिरण, (१०) मलाधिक्य, (११) बलास, (१२) हृदयोपलेप, (१३) कण्ठोपलेप, (१४) धमनीप्रतिचय, (१५) गलगण्ड, (१६) अतिस्थौल्य, (१७) शीताग्नित्व, (१८) उदर्द, (१९) श्वेतावभासता और (२०) श्वेत नेत्रमूत्र शकृत्त्व ये कफ के अनेक विकारों में से आविष्कृततम (भली भांति प्राकट्य में आए हुए) २० विकार हैं।

उपर्युक्त वात के ८०, पित्त के ४० और कफ के २० विकारों के भिन्न भिन्न नाम दिए हैं। इनमें से वायुकृत महाविकारों को छोड़ कुछ विकारों का अभिप्राय वर्णन करते हैं यथा—

तत्र सर्वाङ्गीणस्तीव्रो दाहः स्वेदारतिमानोषः। प्रादेशिकः स्वेदरहितोऽग्न्यर्चिषेव दाहः प्लोषः। मुखोष्ठतालुषु दाहो दवः। चक्षुरादीन्द्रियेषु दाहो दवथुः। पाणिपादांसमूलेषु विविधः संतापो विदाहः। कोष्ठे दाहोऽन्तर्दाहः। शिरोग्रीवाकण्ठतालुषु धूमायनं धूमकः। सान्तर्दाहहृदयशूलोद्गारोऽम्लकः। शोणितस्य कृष्णतादौर्गन्ध्यतनुत्वानि क्लेदः। मांसस्य तु कृष्णता दौर्गन्ध्यं च। बाह्यत्वक्संहतिश्चर्म। कोष्ठगौरवादाहारास्पृहा तृप्तिः। अन्ये पुनराहुः। अन्नानभिनन्दना तृप्तिरिव तृप्तिररोचकः। निद्रार्त्तस्येव विषयाग्रहणं तन्द्रा। स्तैमित्यं तु प्रमीलक इत्यन्यैः पठितम्। उपलेपः। तदतिशयः प्रतिचयोऽतिपूरणम्। अग्नेरतिमन्दता शैत्यम्। उरोऽभिष्यन्द उदर्दः। केषांचिच्छीतवेपथुरुदर्दः। अन्ये पुनराहुः। शीतपानीयसंस्पर्शाच्छीतकाले विशेषतः। सरागकण्डूः शोफः स्यादुदर्दः स कफोद्भव-इति। महाविकारास्तु यथास्वमेवोपदेक्ष्यन्ते। क्षुद्रविकाराः पुनर्यदेवाङ्गमाविशन्ति तदुपपदमेव नाम लभन्ते। यथा—नखशङ्खललाटभेदाः। सान्तर्दाहकण्ठहृदयोपलेपादयस्तेषां हि तथैव स्वरूपमुपदिष्टं भवति। सर्वेषु तेषु तेष्वनुक्तेषु चान्येष्वसंख्येयत्वाद्विकारेष्विमान्येव दोषाणामात्मलिङ्गानि सकलशरीरव्यापीन्यव्यभिचारीणि च। तथा तत्कर्माण्युपक्रमश्च। तत्रात्मलिङ्गान्यायुष्कामीये निर्दिष्टानि।

ओषप्लोषादिका भावार्थ—'ओष उस सर्वाङ्गीण तीव्र दाह का नाम है जिसमें स्वेद और अरति (बेकली) रहती है। प्लोष' उस प्रादेशिक दाहको कहते हैं जिसमें पसीना नहीं होता किन्तु अग्निज्वाला की तरह दाह प्रतीत होता है। दव उस दाहको कहते हैं, जो मुख, होंठ और तालु में होता है। कोष्ठ अर्थात् पेट आदि के दाह को अन्तर्दाह कहते हैं। धूमक उसे कहते हैं जो सिर, ग्रीवा, कण्ठ और तालु में धुँवां सा उठता है। अन्तर्दाहसहित हृदय में शूल और डकार का नाम अम्लक है। शोणितक्लेद वह है जिसमें रक्त पतला, काला और दुर्गन्धयुक्त होता है। मांसक्लेद मांस की कृष्णता तथा दुर्गन्धताको कहते हैं। बहिर्भाग में त्वचासंहति (त्वचाकोथ) का नाम चर्मदरण है। कोष्ठ या पेट के भारीपन से आहार की इच्छा का न होना तृप्ति है किन्तु कुछ लोग कहते हैं कि अन्न की इच्छा न होवे और तृप्ति (पेट भरा सा) प्रतीत होवे उसे तृप्ति या अरोचक कहते हैं। नींद में जैसे किसी विषय का ग्रहण नेत्र नहीं कर सकते, ठीक इसी प्रकार विषय के न ग्रहण करने का नाम तन्द्रा है। स्तैमित्य को लोग प्रमीलक भी कहते हैं। जैसे पिष्टका लेप ऊपर कर दिया गया है, ऐसी प्रतीति कण्ठ में होने से कण्ठोपलेप और हृदय में होने से उसे हृदयोपलेप कहते हैं। धमनियों में अतिचय या अतिपूरण का भास होने के कारण उसे धमनीप्रतिचय कहते हैं। अग्नि के अतिमन्द हो जानेका नाम शीताग्नित्व है। छाती के अभिष्यन्द को उदर्द कहते हैं परन्तु कई लोगों के मत में शीत और कम्प का नाम उदर्द है और कुछ लोगों का कथन तो यह है कि—ठण्डे जल के स्पर्श से विशेषतः शीतकाल में ललाई लिए शोथ एवं कण्डू (खाज) का नाम उदर्द है जो कि कफ से होता है। महाविकार (गुल्म, ज्वर आदि) यथास्व (यथास्थान) कहे जाँयगे। क्षुद्रविकार जिस जिस अङ्ग में होते हैं वे उस अङ्ग के पास के उपपद से जान लेने चाहिए जैसे कि नख-भेद, शंखभेद, ललाटभेद, कच्या आदि। अन्तर्दाह-सहित कण्ठलेप, हृदयोपलेपादिको भी उनके स्वरूप से जान लेना चाहिए। विकार अनन्त हैं इसलिए वे सब नहीं कहे गये हैं उनको वात, पित्त और कफ के अपने लक्षणों से सर्वशरीर में पहिचानने चाहिए। उन उन वातादि दोषों के आत्मलिङ्गों का व्यभिचरण नहीं होता। सारांश, यह कि वातजन्यविकार में रूक्षादि लिङ्ग होते हैं, ऐसे ही पित्त और कफके लक्षणोंसे विकार का परीक्षण करके उनके कर्मों को जानना और उनकी चिकित्सा करनी चाहिए। इन वातादि दोषोंके आत्मलिङ्ग (लक्षण) आयुष्कामीय नामक अध्यायमें बताए गए हैं।

अब क्रमशः वायु, पित्त और कफके कर्मों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

कर्माणि तु वायोः स्रंसव्याससङ्गसादभेदतोदहर्षतर्षवर्त्ताङ्गमर्दकम्पव्यथवेष्टभङ्गशूलशोषस्वापपारुष्यसौषिर्यसंकोचस्पन्दनानि कषाय-रसत्वं श्यावारुण-वर्णता च। पित्तस्य दाहोष्मपाकस्वेदक्लेदकोथस्रावरागाः कट्वम्लरसत्वं शुक्लारुणवर्ज्यवर्णता च। श्लेष्मणः कण्डूस्थैर्यगौरवोपदेहस्नेहशैत्यबन्धचिरकारित्वानि मधुरलवणरसत्वं श्वेतवर्णता चेति।

वायु के कर्म—स्रंस-बाहु आदि की सन्धियों का भ्रंश, व्यास-शारीरिक भावों को फैलाना, सङ्ग-जिनकी स्थिति भिन्न भिन्न स्थानों में है, उन्हें एकत्र कर देना, साद-अंगसादाग्निसादादि, भेद-स्वरभेदादि, तोद-पीडा टोंचनेकी सी, हर्ष-दन्तहर्षरोमहर्षादि, तर्ष-तृष्णादि, वर्त्त-कठिन बनाना या व्यवहार, अङ्गमर्द, कम्प, व्यथ-व्यथा, वेष्ट-पिण्डिकोद्वेष्ट आदि, भङ्ग-स्वरभङ्गादि, शूल-शिरःशूल-उदरशूल-कर्णशूलादि,

१. स्रंसः बाह्वादिसन्धिभ्रंशः व्यासः-शारीराणांभवानां व्यायतत्वम् सङ्गो-नैकत्रस्थितानामेकत्र संघटनम्। इतीन्दुः।

२. वर्तः-काठिन्यापादनम्, अन्यत्र वर्तो व्यवहार इतीन्दुः।

शोष-बाहुशोषादि, स्वाप-त्वक्स्वापादि, पारुष्य-त्वक्पारुष्य, वाक्पारुष्यादि । सौषिर्य-छिद्रीकरण, संकोच-सिरासंकोच, त्वक्संकोच आदि । स्पन्दन-नेत्र-भुजादि अङ्गों का फड़कना ये वायु के कर्म हैं तथा वायु में कषायरसत्व ( अन्य रसों में भी कषायत्व लाना और श्यावारुणवर्णता-कृष्णतायुत ललाई)है।

पित्त के कर्म—दाह, उष्णता, पाक ( पकाना ), स्वेद ( पसीना लाना ), क्लेद-पिघलाना, कोथ-सड़ाना, स्राव और राग-नाना प्रकार के रङ्ग, कटु-अम्लरसत्व तथा श्वेतरक्तवर्ण को छोड़कर अन्य सब वर्णों को प्रगट करना ये पित्त के कार्य या कर्म हैं।

कफ के कर्म—कण्डू, स्थैर्य, गौरव-भारीपन, उपदेह-लेपन, स्नेह-चिकनाई, शैत्य-शीतता, बंध-जोड़ना, बांधना, चिरकारित्व-विलम्ब से पकना, मधुर-लवणरसत्व और श्वेतवर्णता ये कफ के कर्म हैं।

कपिलबलस्त्वेषां[1] स्वलक्षणानि रसतो निर्दिदेश ।
कट्वम्ललवणं पित्तं स्वाद्वम्ललवणः कफः ।
कषायतिक्तकटुको वायुर्दृष्टोऽनुमानतः[2] ॥
सुश्रुतः पुनः पठति । पित्तं विदग्धमम्लतामुपैति । श्लेष्मा लवणताम् । तदेवमेतानि वाय्वादिरूपकर्माण्यवहितः सम्यगुपलक्षयेदागमप्रत्यक्षानुमानैः[3] । अनन्तरं च देशकालमात्रादीन् प्रमाणीकृत्याश्वेवोपक्रमेतेति ।

दोषों के आत्मलिङ्गविषयमें कपिलबलि और सुश्रुतका मतभेद—आचार्य कपिलबलि तो इन ( वात, पित्त और कफ ) के लक्षणों को रसभेद से बताते हुए कहते हैं कि पित्त कटु, अम्ल और लवण रूप से तथा कफ मधुर, अम्ल एवं लवण रूप से तथैव वायु कषाय, तिक्त और कटु रूप से देखा गया है।

विशेष वक्तव्य—यहां शङ्का होती है कि वायु तो अमूर्त ( अदृश्य ) है, फिर वह कैसे देखा गया? इसके समाधान में कहा गया है कि अनुमान से।

सुश्रुत कहता है कि पित्त का लक्षण विदग्धावस्था[3] में ( न कि सदैव ) अम्लता तथा कफ का लवणता होता है। इस लिए इन वायु आदि के रूप और कर्म आगम ( आप्त ), प्रत्यक्ष तथा अनुमानप्रमाणों द्वारा सावधानतया भली भांति जान लेवे और इसके अनन्तर देश, काल, मात्रा आदि[4] ( बल, आहार, सात्म्य, सत्त्वादि ) का विचार कर के शीघ्र ही इनकी चिकित्सा करे।

भवन्ति चात्र—

वक्ष्यन्तेऽतः परं दोषा वृद्धिक्षयविभेदतः ।
पृथक् त्रीन्विद्धि संसर्गस्त्रिधा तत्र तु तान्नव ॥
त्रीनेव समया वृद्ध्या षडेकस्यातिशायने ।
त्रयोदश समस्तेषु षड् द्व्येकातिशयेन तु ॥
एकं तुल्याधिकैः षट् च तारतम्यविकल्पनात् ।
पञ्चविंशतिरित्येवं वृद्धैः क्षीणैश्च तावतः ॥
एकैकवृद्धिसमताक्षयैः षट् ते पुनश्च षट् ।
एकक्षयद्वन्द्ववृद्ध्या सविपर्ययया[5]पि ते ॥
भेदा द्विषष्टिर्निर्दिष्टास्त्रिषष्टिः स्वास्थ्यकारणम् ।
रोग्यवस्थासु युगपद् वृद्धिसाम्यक्षयानुगम् ॥
षट्कं हि दुर्बोधतरं विकारैरुपदेक्ष्यते ॥

वृद्धि और क्षय से वातादि के भेद—अब वृद्धि-क्षय-भेद से वातादि दोषों का वर्णन करते हैं जैसे कि पृथक् वृद्धि से तीन भेद होते हैं यथा-वातवृद्ध पित्तकफसम १, पित्तवृद्ध कफवातसम २, कफवृद्ध वातपित्तसम ३, ये एक की वृद्धि से ३ भेद हुए। अब दो दो की वृद्धि से ३ यथा वातपित्तवृद्ध कफसम १, वातकफवृद्ध पित्तसम २, पित्तकफवृद्ध वातसम ३, इन्हीं तीन संयोगों में एक की अपेक्षा दूसरे की अधिक वृद्धि करने से ३ भेद होते हैं यथा-वातवृद्ध पित्तवृद्धतर कफसम १, पित्तवृद्ध कफवृद्धतर वातसम २, कफवृद्ध वातवृद्धतर पित्तसम ३, इस प्रकार ये ९ भेद हुए। तीन में दो को वृद्धतर और एक को वृद्ध मानने से ३ भेद और हो जाते हैं यथा—वातपित्तवृद्धतर कफवृद्ध १, पित्तकफवृद्धतर वातवृद्ध २, वातकफवृद्धतर पित्तवृद्ध ३, इसी तरह वात, पित्त तथा कफ ये तीनों वृद्ध होकर १ भेद। ऐसे कुल १३ भेद होते हैं। तेरह प्रकार के सन्निपात दोषों की इसी सम-तर-तम-कल्पना से सिद्ध होते हैं। इस तरह दोषों की वृद्धि से अर्थात् पृथक् ३, संसर्ग ९ और १ सन्निपातों को मिलाने से २५ भेद होते हैं। इस वृद्धि भेद की तरह २५ भेद क्षीण-भेद से होते हैं जैसे कि १ वातक्षीण, २ पित्तक्षीण, ३ कफक्षीण, ४ वातपित्तक्षीण, ५ वातकफक्षीण, ६ पित्तककफक्षीण, ७ वातक्षीण पित्तक्षीणतर, ८ पित्तक्षीण, वातक्षीणतर, ९ कफक्षीण पित्तक्षीणतर, १० पित्तक्षीण कफक्षीणतर, ११ कफक्षीण वातक्षीणतर, १२ वातक्षीण कफक्षीणतर, १३ कफक्षीण वातपित्तक्षीणतर, १४ पित्तक्षीण वातकफक्षीणतर, १५ वातक्षीण पित्तकफक्षीणतर, १६ पित्तकफक्षीण वात अतिक्षीण, १७ वातकफक्षीण पित्तअतिक्षीण, १८ वातपित्तक्षीण कफअतिक्षीण, १९ वातपित्तकफक्षीण, २० वातक्षीण पित्तक्षीणतर कफक्षीणतम, २१ वातक्षीण पित्तक्षीणतर पित्तक्षीणतम, २२ पित्तक्षीण कफक्षीणतर वायुक्षीणतम, २३ पित्तक्षीण वातक्षीणतर कफक्षीणतम, २४ कफक्षीण वातक्षीणतर पित्तक्षीणतम, २५ कफक्षीण पित्तक्षीणतर वातक्षीणतम। पूर्वोक्त २५ वृद्धि के और ये २५ क्षीण के मिलने से ५० हुए। उक्त तीनों दोषों में एक को वृद्ध, एक को क्षय और एक को सम मानने से ६ भेद होते हैं जैसे कि १ वातवृद्ध पित्तसम कफक्षीण, २ पित्तवृद्ध वातसम कफक्षीण, ३ कफवृद्ध पित्तसम वातक्षीण, ४ कफवृद्ध वातसम पित्तक्षीण, ५ वातवृद्ध कफसम पित्तक्षीण, ६ पित्तवृद्धकफसम वातक्षीण। पुनरपि एकक्षय दो की वृद्धि तथा दो के क्षय और एक की वृद्धि से ६ भेद होते हैं जैसे कि १ वातक्षीण कफपित्तवृद्ध, २ पित्तक्षीण वातकफवृद्ध, ३ कफक्षीण वातपित्तवृद्ध, ४ वातपित्तक्षीण कफवृद्ध, ५ वातकफक्षीण पित्तवृद्ध, ६ पित्तकफक्षीण वातवृद्ध। इन १२ भेदों को पूर्वोक्त ५० भेदों में मिलाने से कुल ६२ भेद हुए। तिरसठवाँ भेद साम्यावस्था का होने से स्वास्थ्य का

---

१. कपिलस्त्वेषां इति पा० ।

२. ननु वायोरमूर्तत्वान्मूर्तधर्मानुगमः कथं ज्ञायत इत्याह दृष्टोऽनुमानत इति। ३. येयं पित्तस्याम्लता श्लेष्मणश्च लवणता या सा विदाहावस्थायामेव न तु सततमित्यादीन्दुः । ४. आदिग्रहणेन बलाहारसात्म्यसत्त्वादिपरिग्रहः । एतानप्यवेक्ष्येत्यर्थं इतीन्दुः ।

कारण कहा गया है। रोगी की अवस्थाओं में एक दम वृद्धि, साम्य तथा क्षय का अनुगामी षट्क बड़ा दुर्बोध है, वह रोगों के वर्णन में अब कहते हैं। यथा—

प्रकृतिस्थं यदा पित्तं वृद्धो वायुः कफक्षये ।
स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति ॥
तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितौ ।
गात्रोद्देशे तथा स्यातां बलहानिपरिश्रमौ ॥
प्रकृतिस्थं कफं क्षीणे पित्ते वायुर्यदा बली ।
कर्षेत्कुर्यात्तदा शूलं सशैत्यस्तम्भगौरवम् ॥
प्रकृतिस्थं यदा वातं पित्तं वृद्धं कफक्षये ।
संरुणद्धि तदा दाहः शूलं चास्योपजायते ॥
प्रकृतिस्थं कफं वृद्धं पित्तं वायुक्षये यदा ।
सन्निरुद्ध्यात्तदा कुर्यात्सतन्द्रागौरवं ज्वरम् ॥
प्रकृतिस्थं यदा वायुं वृद्धः पित्तक्षये कफः ।
सन्निरुद्ध्यात्तदा कुर्याच्छीतकं गौरवं रुजम् ॥
प्रकृतिस्थं यदा पित्तं वृद्धः श्लेष्माऽनिलक्षये ।
सन्निरुद्ध्यात्तदा कुर्यान्मन्दाग्नित्वं शिरोग्रहम् ॥
निद्रातन्द्रोपलेपांश्च हृद्रोगं गात्रगौरवम् ।
ष्ठीवनं पित्तकफयोर्नखादीनां च पीतताम् ॥
ये दोषवृद्धिक्षययोर्विकाराः कीर्तिताः पृथक् ।
शेषेष्वपि तु तानेव कल्पयेत्तद्यथायथम् ॥
संसर्गाद्रसरुधिरादिभिस्तथैषां
दोषांस्तु क्षयसमताविवृद्धिभेदैः ।
आनन्त्यं तरतमयोगतश्च यातान्
जानीयादवहितमानसो यथास्वम् ॥
इति दोषभेदीयो विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

वृद्ध दोषों द्वारा रोगोत्पत्तिप्रकार—बढ़ा हुवा वायु कफ के क्षय होने पर प्रकृतिस्थ पित्त को अपने स्थान से हटाकर शरीर के गात्रों में जहां जहां ले जाता है, शरीर के उस उस भाग में अनियत दाह, भेद, बलहानि और थकावट को पैदा करता है। इसी प्रकार वृद्ध वायु पित्त के क्षीण होने पर प्रकृतिस्थ कफ को अपने स्थान से खींचकर जहां जहां लेजाता है वहां वहां शूल, शैत्य, स्तम्भ और गौरव ( भारीपन ) करता है। बढ़ा हुआ पित्त कफ के क्षीण होने से प्रकृतिस्थ वायु को अपने स्थान से लेजाकर जहां पर रोकता है वहां पर दाह और शूल होता है। बढ़ा हुआ पित्त वायु के क्षीण होनेपर प्रकृतिस्थ कफ को निरोध करता है तब तन्द्रासहित गौरव और ज्वर को करता है। यहां गौरव का अर्थ अतिशय आलस्य है। बढ़ा हुआ कफ पित्त के क्षीण होने पर प्रकृतिस्थ वायु को अवरोध करता है तब गौरव, पीडा और शीतज्वर को करता है। बढ़ा हुआ कफ वायु के क्षीण होनेपर प्रकृतिस्थ पित्त को अवरोध करता है तब वह मन्दाग्नि, सिर का जकड़ना-पीडा, निद्रा, तन्द्रा, उपलेप ( शरीर पर ठण्डा लेप लगा दिया है ऐसा प्रतीत होना ), हृद्रोग, शरीर का भारी प्रतीत होना-अत्यन्त आलस्य, थूक का विशेष आना, पित्त और कफ का मुख से पड़ना, नख आदि ( नेत्र, मूत्र, पुरीष ) का पीला पड़ना ये रोग उत्पन्न करता है।

इसके पूर्वाध्याय में वृद्ध और क्षीण वातादि के जो कार्श्य, कार्ष्ण्य, कम्प, स्फुरणादि रोग बताए गए हैं तथा अन्य भी विकार जिनको नहीं कहा गया है, उन सबकी चिकित्सा दोषों की वृद्धि-क्षीणता के तारतम्य से या रोग के एवं रोगी के देश, काल, बल आदि का विचार कर के करे।

दोष ( वातादि ), रसरक्तादि ( दूष्य ) ये सब संसर्ग, क्षय, समता, वृद्धि आदि भेदों की तरतम कल्पना के अनुसार देखे जाँय तो इनकी गणना ही नहीं होती है। इस लिए कि इनके अनन्त भेद हो सकते हैं तथापि वैद्य को चाहिए कि वह दिग्दर्शन-मात्र बताई हुई समता-क्षय-वृद्धि एवं इनकी तरतम कल्पना कर के सावधानतया रोगों को जाने और जो जो रोग जैसी जैसी अवस्थावाला है, उसकी वैसी ही चिकित्सा करे।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिका-हिन्दीव्याख्यायां दोषभेदीयो नाम विंशोऽध्यायः।

# अथैकविंशोऽध्यायः ।

पूर्वाध्याय में कहा गया है कि विकृत दोषों को "आश्वेवोपक्रमेत्" अर्थात् बिगड़े हुए दोषों की शीघ्र ही चिकित्सा करे इसलिए अब आचार्य कहते हैं कि—

अथातो दोषोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्याम इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

दोषोपक्रमणीयाध्याय—अब हम जिसमें दोषों का उपक्रम ( चिकित्सा ) है, उस दोषोपक्रमणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा कि आत्रेयादि महर्षियों ने किया।

वातस्योपक्रमः स्नेहः स्वेदो मृदूनि स्निग्धोष्णमधुराम्ललवणानि संशोधनान्यभ्यवहार्याणि चाभ्यङ्गपूर्वमुपनाहनोपवेष्टनोन्मर्दनपरिषेकावगाहसंवाहनपीडनानि वित्रासनविस्मापनविस्मरणानि सुरासवविधानं स्नेहाश्चानेकयोनयो दीपनीयपाचनीयवातहरविरेचनीयद्रव्योपहितास्तथा शतपाकसहस्रपाकाः सर्वशः प्रयोगार्थाः बस्तयो बस्तिनियमो विशेषतस्तैलं मांसरसोऽनुवासनानि सुखशीलता स्त्रीसम्पर्कवर्ज्यश्च हैमन्तो विधिः।

वातव्याधिकी सामान्य चिकित्सा—वात चिकित्सा में स्नेह श्रेष्ठ है, अतः सबसे पहले स्नेह-चिकित्सा करे। इसके पश्चात् स्वेद ( तापआदि ) विधि करे। स्नेहन—स्वेदन करने के अनन्तर मृदु ( न कि वायुकोपकारक तीक्ष्ण ), स्निग्ध, उष्ण, मधुर, अम्ल तथा लवण ऐसे संशोधनद्रव्यों ( वमनविरेचनादिकारकों ) तथा भोजनों का व्यवहार करे। इनके अतिरिक्त हस्तादिद्वारा अभ्यङ्गमर्दनपूर्वक उपनाह ( स्निग्ध-उष्ण वायुनाशक पिण्डीका बांधना ), उपवेष्टन ( वस्त्रादि लपेटना ), उन्मर्दन ( भली भांति मालिश करना ), परिषेक ( उष्णौषधिक्वथित जल या तैलादिका तरेड़ा देना ), अवगाह ( वातहारक

१. संनिरुन्ध्यात् इत्यपि पाठः।

द्रव्यपूर्ण जलद्रोणी में मज्जन ), संवाहन ( मृदु हल्के हाथ से मर्दन ), पीड़न ( हाथोंद्वारा पगचप्पी आदि ), वित्रासन ( उन्मादादि वातविकारों में खड्ग से, क्रोध करके, हाथ के अग्र भाग से, राजपुरुषादि द्वारा त्रास ), विध्मापन ( धूनी देना ), विस्मरण ( विविध प्रकार के वार्तालाप द्वारा पीडा को भुलाना ), सुरासवविधान ( सुरा और आसव का शास्त्रोक्त पान और मांस, पूपादिका साथ में सेवन ), शतपाक-सहस्रपाक द्वारा बारंबार वातहारक, दीपन, पाचन और विरेचन द्रव्यों के साथ सिद्ध ऐसे अनेक प्रकार के स्नेह (तैल, घृत, चर्वी, मज्जा आदि ), वायुनाशक सब निरूह बस्तियें, बस्तिव्यवहार के न करने पर भी बस्ति के नियमों का पालन, विशेषतः तेल का सेवन, मांसरस; अनुवासन बस्ति, सुखशीलता तथा स्रोसंपर्क वर्जित सब हेमन्त ऋतु के विधान का पालन करना ये सब वातव्याधि की चिकित्सा है ।

विशेष वक्तव्य—इस वातोपक्रम में वित्रासन अर्थात् तलवार एवं राजपुरुषादि से त्रास देना कहा है। भय तो वायु कोप को बढ़ानेवाला है, फिर यह वित्रासन कैसे कह दिया ? इसके समाधान में कहा है कि, यद्यपि "भयशोकादि से वायु का कुपित होना लिखा है तथापि भय की तरह त्रास की बात नहीं है क्योंकि त्रसन सर्ववातविजयी है। वातोन्माद में लिखा भी है कि हर्षण, आश्वासन, उत्त्रास, भय, ताडन, तर्जनादि, हितकारी होते हैं,, इस लिए वातोपशमन में त्रसन का निर्देश उपयुक्त है न कि अनुपयुक्त ।

पित्तस्य सर्पिष्पानं सर्पिषा स्नेहनमधोदोषहरणं मधुरतिक्तकषायाणामौषधाभ्यवहार्याणामुपयोगो मृदुसुरभिशीतहृद्यानां गन्धानामुपसेवा परमशिशिरसुरभिसलिलमज्जनं मनोऽनुकूलसंस्पर्शसुखानां मुक्तामणिवैदूर्याश्मगर्भशंखशिलापद्मरागचन्द्रकान्तकान्ततरतरलावलीनां चामरत्रासितसहस्रपत्रोत्पलकदलीदलनवमालिकाकुन्दमल्लिकादिविविधवर्णप्रसूनविरचितानां स्रजां च धारणमुरसा । त्वगोत्तणेचाभ्रयचन्दनप्रियङ्गुकालीयकमृणालकर्पूरसुगन्धिशीतस्वच्छगन्धवारिभिः सकमलकुमुदकुवलयैर्भूमितलकवाटवातायनहर्म्यभित्तीनामभिप्रोक्षणम् । श्रुतिसुखदमृदुमधुरमनोऽनुगानां गीतवादित्राणामभ्युदयानां च श्रवणम् । अयन्त्रणैः समानवेषचरितैरुत्सवोत्तरान्योऽन्यदर्शनैः सुहृद्भिः सहासनम् । अमृतवचनविहारस्वभावसुरभितरवदनकुण्डलानां नातिस्पष्टाभिधायिनामनुपचारमधुरकोमलोल्लापानां प्रियाणामपत्यकानां सदयमाश्लेषः । निर्दयं च तनु मृदुसुरभिनिवसनाभिर्मल्लिकामुकुलानुकारिमुक्ताफलप्रायविभूषणाभिः सहचरीनिनादसंकल्पोपजनितौत्सुक्यकलहंसानुनादितनूपुररशनाकलापसिञ्जितानुगमसंमुखमुग्धमृदुवचनाभिर्निजजघननिविडकुचयुगलालङ्कारभारोद्वहनश्रमश्वसनकम्पितमध्यमुकुलितलोचनोत्पलाभिः किञ्चिद्विगलितनवयौवनाभिः प्रियाङ्गसङ्गमात्रातिमात्रसुखास्वादविस्रस्यमानांशुकैककालोपजातव्रीडावैलक्ष्यप्रगल्भतावैक्लव्यहर्षविषादविस्मयस्मितकोपप्रसादसाध्वसस्रस्तस्विन्नसर्वाङ्गद्रवीकृतहिमाङ्गरागाभिः समस्तदेहहृदयप्रह्लादकारिणीभिर्विलासवतीभिश्चतुरङ्गमिवानङ्गबलमङ्गैस्तनुभिरपि समुद्वहन्तीभिरङ्गनाभिः । सकलरजनीकरनिकरावकीर्णशिशिरतराणि भवनतलसलिलपुलिनानि । अतिसितसिकतातोयास्तृततलमनेककायवृत्तविमलयन्त्रप्रसलिलधारं धारागृहम् । सागरानुकारितोयाशयोपतीरसुनिविष्टकुसुमितबहुविटपपृथुतुङ्गविविधतरतरुनिवहबहलच्छायोपसंच्छन्नं धवलरक्तनीलनीरजरजोव्याप्तसमस्तजलविपुलसिकतिलतलोपकल्पितं दोलायमानगलदुदककलशसरणकरकस्त्रवदुदकप्रवाहाहितमृत्सौरभभूतलैकदेशं, प्रलम्बमानाम्रजम्बूकदम्बविदुलनिचुलादिकिसलयमञ्जरीफलस्तबकप्रत्युप्तपटालिकं, मुहुर्मुहुः पुरुषप्रयत्नप्रेरितघटमुखोद्गीर्णोशीरचन्दनानुविद्धावलम्बपतित शेषमुक्ताफलायमानजललवमुच्छ्रायविस्तारवदनिषिद्धदूरविस्तृतशीतवातप्रवेशमत्यर्थसततास्बुशीतशीकराभिषेकप्रतिहतसंतापदाहमोहश्रमक्लमपिपासमतिशयप्राप्तरामणियकं हिमाचलपर्द्धिशैत्यमम्बुधरकाललीलाविडम्बि कायमानम् । प्रफुल्लपद्मोत्पलपुण्डरीकसौगन्धिककोकनदशतपत्रपरागरागानुरञ्जितजलचरविहङ्गगणकलनिनदरम्या दीर्घिकाः । मधुपानलोभनिलीयमानालिकुलचलितलताप्रताननिपतितविविधकुसुमनिचयशबनरचनासव्यापारमृदुपवनान्युपवनानि । विशेषस्तु घृतं पयोविरेचनानि सौम्याः सर्वे भावा दिवास्वप्नवर्ज्यश्च ग्रैष्मो विधिः ।

पित्त की सामान्य चिकित्सा—घृतपान ( घी पिलाना ), घृत द्वारा स्नेहन ( तैलवर्जित ), अधोदोषहरण ( विरेचन ), मधुर, तिक्त और कषाय रसवाले द्रव्यों का औषध और भोजन में उपयोग। मृदु, शीत, सुगन्धित मनोहर द्रव्यों का सेवन ( सुगन्धियों का सेवन )। अच्छे ठण्डे सुगन्धित जल से स्नान। अपने मन को सुहानेवाले-स्पर्श करने पर सुख के करनेवाले मोती-वैदूर्य, अश्मगर्भ अर्थात् मरकत मणि[4]-( पन्ना ), शंख-शिला-पुखराज और चन्द्रकान्त मणियों से

१. सुराया आसवस्य च विधानम् । विधानशब्देन मांसापूपसंयोगादि शास्त्रोक्तं विधानं दर्शयतीतीन्दुः । २. त्रासनं—खड्गव्यग्राग्रहस्तराजपुरुषदर्शनादिना । ननु, भीशोकादिभिर्मारुतस्य कोप उक्तः । वक्ष्यति हि—'क्रियातियोगभीशोक इत्यादि । तत्कथं त्रासनं वायोरुपक्रमः ? उच्यते । भयं वातप्रकोपहेतुः, न तु त्रासनम् । त्रासनं तु सर्ववातविजयि । तस्माद्वातोपशान्त्यर्थं त्रासनं युक्तम् । यथा उन्मादादिषु । तथा च वक्ष्यति वातोन्मादे—'हर्षणाश्वासनोत्रास भयताडनतर्जनम् । इत्याद्यरुणदत्तः । ३. भ्रमर इति पाठो भाति । ४. पत्रासितोत्पल ५.कालेयक ६. विषयवेष ७. अनृत ८. विरह

१. तनुतर २. प्रायालङ्काराभिः ३.अङ्गनाभिर्निर्दयं चाश्लेष इति पूर्वेण संबन्धः ।
४. 'गारुत्मतं मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः, इत्यमरः

निर्मित माला या हार का हृदय पर धारण करना। जिनको भ्रमरों ने त्रास दिया है ऐसे सहस्रपत्र-उत्पल-(कमल-कुमोदनी), केला के पत्ते आदि से बनी ताजे कुन्द-मल्लिका (मोगरा) आदि नाना प्रकार के वर्णवाले पुष्पों की माला का हृदय पर धारण करना। बारंबार उत्तमोत्तम चन्दन, प्रियङ्गु, कालीयक (मलयगिरि चन्दन, छारछरीला-शैलेयं), कमलनाल, कर्पूरादि से सुगन्धित शीतल-स्वच्छ जल से जिसमें कमल-कुमुद-कुवलय-पुष्प पड़े हों भूमितल (आंगन), कवाट (किंवाड़ परका पर्दा), झरोखे और सुन्दर भित्तियों (दीवारों) को छिड़कना। सुनने पर सुख के देनेवाले, मृदु, मधुर, मन को सुहानेवाले गीत वादित्रादिकाश्र वण करना। जिनको किसी प्रकार की यन्त्रणा (चिन्ता या दुःख) नहीं है ऐसे समान वेषवाले, उत्सव के अनन्तर परस्पर मिलनेवाले मित्रों के साथ बैठना। अमृत के समान मीठे वचन बोलनेवाले, विहार ही है स्वभाव जिनका, अतिसुगन्धित है मुखमुकुल जिनका, जो स्पष्ट न बोलकर तुतराते हुए अस्पष्ट बोलते हैं, सहज मधुर कोमलालाप करनेवाले प्रिय पुत्रों का सदयता से आलिङ्गन करना। सूचम झीने मुलायम सुगन्धित वस्त्रों को धारण करनेवाली, मल्लिका (मोगरा) की कलिका का अनुकरण करनेवाले मोतियों के आभूषणों से विभूषित, सहचरी के बोलने से उत्सुक राजहंस के अनुकरण करनेवाले नूपुर-रशनाकलापनाद के अनुगामी मीठे मनोहर मृदु बोलनेवाली, अपने जघन-कठिन कुचयुगल एवं अलङ्कारों के भार से श्रम-श्वास करके कम्पित-मध्यमुकुलित नेत्र-कमलवाली, कुछ विगलित हुआ है नवयौवन जिनका, प्रिय के अङ्गसंगमात्र से सुख के आस्वाद (आनन्द) में अङ्ग पर से वस्त्र के गिर जाने से एक समय उत्पन्न हुई लज्जा-वैलक्ष्य-प्रगल्भता-बेकली-हर्ष-विषाद-विस्मय-मन्दस्मित-कोप-प्रसाद और भय के कारण शिथिल और स्वेदित होने से भीग गया है शरीर और द्रवीभूत हो गया है हिमाङ्ग-राग जिनका, स्पर्श करने से सकल देह में आनन्द पैदा करनेवाली, दर्शनमात्र से हृदय प्रफुल्लित कर देनेवाली, विलासवती तथा सूक्ष्म-कोमल अङ्गवाली होकर भी चतुरङ्गिणी सेना की तरह कामदेव की सेना को बुलानेवाली ऐसी स्त्रियों से दयारहित (निर्दय) होकर आलिङ्गन। चन्द्रमा की किरणों के समूह के पड़ने से अच्छे शीतल जलवाले घर के क्रीडा-जलाशय का तट। अतिस्वच्छ सिकता (रेत-बालु का) है तल-भाग में जिसके और अनेक प्राणियों के आकार के विमल धारावाले लगे हैं यन्त्र जिसमें ऐसा धारागृह-फव्वारा विशेष। समुद्र का अनुकरण करनेवाले जलाशय के तट पर पुष्पित अनेक वने और ऊँचे विविध भाँति के तट पर लगे हुए वृक्षसमूह की गहरी छाया से ढका हुआ, श्वेत-रक्त-नील कमलों की रज से व्याप्त समस्त जल-विपुल सिकता (बालु का) पर निर्मित एवं दोलायमान अनेक प्रकार के जलस्रावी घटों-करकों (करवों) से जल-प्रयात के कारण मिट्टी की सुगन्धि आ रही हो जिसमें ऐसे भूतल पर, प्रलम्बायमान आम्र-जम्बू-कदम्ब-विदुल-निचुलादि वृक्षों के पत्र-मञ्जरी-फल-गुच्छकों से संयुक्त हैं जिसमें पटकुटियें, वारम्वार पुरुषों के प्रयत्न से प्रेरित घटों के मुख से निकले खस-चन्दन सहित पड़े हुए (पतित) जल के शेष रहे हुए मुक्ताफल के समान जल बिन्दु हैं जिसमें, ऊँचे तथा विस्तृत दूर से शीत वायु को लानेवाले बने हैं अनिपिद्ध वातायन (झरोखे) जिसमें, सदैव पर्याप्त जल के शीत शीकरों के अभिषेक से नष्ट हो गये हैं सन्ताप-दाह-मोह-श्रम-क्लम और पिपासा जिसमें, अतिशय रमणीयता को प्राप्त, हिमाचल से प्रतिस्पर्द्धा करनेवाले हैं शैत्य जिसमें और वर्षाकाल की लीला भी तुच्छ समझी जाती है ऐसे कायमान (तृणों के बने हुए घर) का सेवन। प्रफुल्लित कमल-कुमुदिनी-पुण्डरीक-सौगन्धिक-कोकनद-शतपत्र नामक कमलों की केसर के रंग से रञ्जित जलचर-पक्षीगण के मधुर नाद से रम्य दीर्घिका (गृह-पुष्करिणी) तथा मधुपान के लोभ में लीन भ्रमरकुल करके चलित लता-प्रतान से गिरे हुए विविध प्रकार के पुष्पसमूह से शयनरचना के व्यापार को लिए हुए मृदु पवनवाले उपवन (बगीचा), इन सबका सेवन। विशेषतः घृत, दूध, विरेचन और सब प्रकार के सौम्यभाव (मन को प्रसन्न करनेवाले पदार्थ) ये चारों पित्त विकार के मुख्य औषधं हैं। सारांश, दिवास्वप्न (दिन में सोना) को त्याग-कर ग्रीष्म ऋतु का विधान पित्तशामक है।

श्लेष्मणः पुनर्विधिविहितानि तीक्ष्णानि संशोधनानि विरूक्षप्रायाण्यभ्यवहार्याणि कटुतिक्तकषायोपहितानि तीक्ष्णानि दीर्घकालस्थितानि हृद्यानि मद्यानि। धावनलङ्घनप्लवनजागरणनियुद्धसंव्यवायव्यायामरूक्षोन्मर्दनस्थानोच्छादनानि। विशेषतः क्षौद्रं यूषो वमनानि सर्वशश्चोपवासः सधूमगण्डूषः सुखप्रतिषेधः सुखार्थं वासन्तो विधिरिति।

कफ विकारों की सामान्य चिकित्सा—उत्क्लेश से रक्षण हो इस लिए शास्त्रोक्त विधि से तीक्ष्ण संशोधन (वमनादि), विशेष रूक्षप्राय कटु-तिक्त-कषाय रसवाले भोजन, तीक्ष्ण-पुराने-हृदय के लिए हितकारी मद्य, धावन (जल्दी जल्दी चलना), लंघन (चलना), प्लवन (पगों से ऊँचे कूदना), जागरण, नियुद्ध (बाहुयुद्ध), युद्ध (काष्ठादि से), व्यवाय (स्त्रीसंभोग अथवा स्त्रीसंभोग की केवल इच्छा न कि संभोग), व्यायाम (वाहनादि-शरीरायास कर्म), रूक्षोन्मर्दन (रूक्ष-द्रव्यों द्वारा भलीभाँति मालिश), रूक्ष स्थान, रूक्ष आच्छादन-वस्त्र, विशेषतः क्षौद्र (शहद), यूप, सब प्रकार के वमन, उपवास, धूम्रपान, गण्डूष (तीक्ष्ण द्रव्यों द्वारा कुल्ली कराना),

१. कालीयकं कालानुसार्यं चेत्यमरः कालानुसार्यं शैलेये कालीये शिंशपाद्रमे, इति मेदिनी २. कवाटो द्वाराच्छादनपटः, इतीन्दुः।

१. कायमानं-तृणादिरचितागारम्, इति हेमाद्रिः। २. सौम्या भावाः-मनःप्रसादनाः पदार्थाः, पयः, सर्पिर्विरेकश्चेति चतुष्टयविशेषादौषधमिति हेमाद्रिः। ३. रूक्ष ४. नियुद्धयुद्धव्यवाय ५. स्नानो ६. सुखार्थमेव। ७. विधिग्रहमुत्क्लेशरक्षणार्थमितीन्दुः। उत्क्लेशस्तु-'उक्लिश्यान्नं न निर्गच्छेत्प्रसेकष्ठीवनेरितम्। हृदयं पीड्यते चास्य तमुत्क्लेशं विनिर्दिशेत॥' इति सुश्रुतः

८. 'धावनम्-द्रुतगमनम्। लङ्घनं-प्लवनं-पद्भ्यामुत्प्लवनम्। नियुद्धं-बाहुयुद्धम्। युद्धं-काष्ठादिभिः' इत्यादीन्दुः। ९. व्यवायः-स्त्रीगमनमितीन्दरुणो किन्तु व्यवायो-रतिप्रीतिः संभोगे प्रीतिर्न तु रतिरिति हेमाद्रिः।

सुखप्रतिषेध ( जिनसे सुख प्राप्ति हो ऐसे आहार-विहारादि का त्याग करना ) इसलिए कि कफ और मेदोवृद्धि का नाश होकर सुख की प्राप्ति हो, वसन्त ऋतु में कर्त्तव्य-विधि इन सबका सेवन कफविकारों की सामान्य चिकित्सा है।

भवन्ति चात्र—

उपक्रमो पृथग्दोषान् योऽयमुद्दिश्य कल्पितः ।
संसर्गसन्निपातेषु तं यथास्वं विकल्पयेत् ॥
ग्रैष्मः प्रायो मरुत्पित्ते वासन्तः कफमारुते ।
मरुतो योगवाहित्वात्कफपित्ते तु शारदः ॥
योज्याः षट्वम्लमधुरा वायौ क्रुद्धे रसाः क्रमात् ।
पित्ते तिक्तस्ततः स्वादुः कषायश्च रसो हितः ॥
कटुकः प्राक्ततस्तिक्तः कषायोऽन्ते कफामये ।
चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु ॥
वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु ।
चीयते लघुरूक्षाभिरोषधीभिः समीरणः ॥
तद्विधस्तद्विधे देहे कालस्यौष्ण्यान्न कुप्यति ।
अद्भिरम्लविपाकाभिरोषधीभिश्च तादृशम् ॥
पित्तं याति चयं कोपं न तु कालस्य शैत्यतः ।
चीयते स्निग्धशीताभिरुदकौषधिभिः कफः ॥
तुल्येऽपि काले देहे च स्कन्नत्वान्न प्रकुप्यति ।
इति कालस्वभावोऽयम्…………………… ॥

दोषोपक्रमविधि—वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों की चिकित्सा अलग अलग कल्पना करके लिखी गई है। इस चिकित्सा की कल्पना संसर्ग ( दो दो दोषों के मिलने पर ) और सन्निपात ( त्रिदोष की अवस्था ) में यथास्व ( यथा-योग्य) करे। उदाहरणार्थ दोष यदि एक एक ही हो तो उसकी चिकित्सा करे। यदि दो दो दोष मिश्रित हों तो उन उन मिश्रित दोषों की मिश्रित चिकित्सा करे। त्रिदोष हो तो त्रिदोष की मिश्रित चिकित्सा करे। केवल इतना ही नहीं, वायु और पित्त के संसर्ग में प्रायः ग्रीष्म ऋतु का शीतप्रधान विधि करे। कफ और वायु के संसर्ग में प्रायः वसन्त ऋतु का रूक्षप्रधान विधान करे। 'रूक्ष विधि तो वायु को कुपित करेगा, इस शङ्का के निरासार्थ कहा है कि 'मरुतो योगवा-हित्वात्' वायु योगवाही है इसलिए रूक्षविधि वायु को कुपित नहीं करेगी। वायु जिसके साथ होता है, उसी का अनुगामी हो जाता है। इसी प्रकार कफपित्त के संसर्ग में शरद् ऋतु का विधि करे। वायु जिसके साथ होता है, उसी दोष की चिकित्सा वायु की रहती है। वायु के कुपित होने पर क्रम से लवण, अम्ल और मधुर रसों की योजना करे। पित्त के कुपित होने पर पहले तिक्त, इसके पश्चात् मधुर और तत्पश्चात् कषाय रस की योजना करे। इसी प्रकार कफ के कोप में प्रथम कटु, फिर तिक्त और तत्पश्चात् कषाय रस की योजना करे।

दोषों के चय-प्रकोप-प्रशम का काल—वायु ग्रीष्मादि तीन ऋतुओं में चय-प्रकोप और प्रशम को प्राप्त होता है अर्थात् वायु का ग्रीष्म में संचय, वर्षा में कोप और शरद् में शमन होता है। पित्त का वर्षा में संचय, शरद् में प्रकोप और हेमन्त में शमन होता है। इसी प्रकार कफ का शिशिर में संचय, वसन्त में कोप और ग्रीष्म ऋतु में शमन होता है।

दोषों के चय में काल ही कारण—ग्रीष्म ऋतु में लघु तथा रूक्ष ओषधियों द्वारा वायु शरीर एवं आहार में रूक्षता लाता है और इस ऋतु में वायु का संचय होता है किन्तु काल की उष्णता के कारण कुपित नहीं होता। इसी प्रकार अम्ल-विपाकी जल और ओषधियों के कारण पित्त भी वर्षाकाल में संचित होता है किन्तु काल की शीतता के कारण कुपित नहीं होता। ऐसे ही स्निग्ध और शीत जल तथा ओषधियों के कारण शिशिर ऋतु में कफ का संचय होता है किन्तु शरीर और काल के समान गुणवाला होकर भी अतिशीतकाल के कारण ठोस ( घनीभूत ) होकर कुपित नहीं होता। यह सब काल के स्वभाव से ही होता है।

……………………आहारादिवशात् पुनः ।
चयादीन्यान्ति सद्योऽपि दोषाःकालेऽपि वा न तु॥
व्याप्नोति सहसा देहमापादतलमस्तकम् ।
निवर्तते तु कुपितो मलोऽल्पाल्पं जलौघवत् ॥

काल से भी आहारादिकी प्रधानता—आहार आदि के कारण वातादि दोष काल की कुछ भी अपेक्षा नहीं करते हैं। भावार्थ यह है कि कोपकाल होते हुए भी उचित आहारादि ( रसा-यन वाजीकरणादि[1] ) के कारण साम्यावस्था में रहते हैं और कोपकाल न होते हुए भी मिथ्याहार-विहारादि के कारण कुपित हो जाते हैं। कुपित हुआ दोष एकदम शरीर में पगों के तल से लेकर मस्तक तक व्याप्त हो जाता है और फिर वही बढ़ा हुआ दोष धीरे धीरे ( थोड़ा थोड़ा कम होता हुआ ) शान्त होता है, जैसे कि जलौघ अर्थात् नदी का पूर (बाढ़) एकदम व्याप्त हो जाता है और फिर उसकी निवृत्ति थोड़ा थोड़ा कम होकर बहुत देर से होती है। इसलिए—

चय एव जयेद्दोषं कुपितं त्वविरोधयन् ।
सर्वकोपे बलीयांसं शेषदोषाविरोधतः ॥
क्रमान्मरुत्पित्तकफान् सर्वत्र सदृशे बले ।
वातादीनां यथापूर्वं यतः स्वाभाविकं बलम् ॥
ऊचे पराशरोऽप्यर्थममुमेव प्रमाणयन् ।
यथोपन्यासतः प्राप्तमादौ दोषभिषग्जितम् ।
नेतृभङ्गेन दृष्टो हि समं सैन्यपराजयः ॥

दोषों को जीतने की विधि—सब प्रकार के दोषों को उनके संचयकाल में ही जीतना चाहिये ताकि दोष कुपित ही न होने पावे। चयकाल में दोष को जीतने की उपेक्षा करने से उसके कुपित होने की आगे संभावना रहती है अतः चयकाल में दोष को जीत लेना अच्छा है। कुपित दोष को जीतना हो तो शेष ( अकुपित ) दोषों का विरोध न करते हुए जीते। सारांश, ऐसे आहार-विहारों से कुपित दोष को जीते कि जिनसे अन्य दोष कुपित न हों। कुपित हुए सब दोषों को जीतना हो तो शेष दोषों से विरोध न करते हुए उनमें जो बलवान् दोष हो उसे पहले जीतना चाहिए क्योंकि बलवान्

---

१. आहारादीत्यत्रादिशब्देन रसायनवाजीकरणवमनविरेचना-दयो गृह्यन्ते, इत्यरुणदत्तः।

दोष पर विजय प्राप्त करते ही अन्य दोष स्वयं शान्त हो जाते हैं। अतः इस प्रकार अविरोधी उपक्रम द्वारा दोषों को जीतना चाहिए। वातादि तीनों दोष एकदम कुपित हुए हों तो क्रम से पहले वायु को, फिर पित्त को और उसके पश्चात् कफ को जीतना चाहिए। इसलिए कि वातादि में वैसी अवस्था में यथापूर्व स्वाभाविक बल रहता है अर्थात् कफ से पहले पित्त है अतः उसका स्वाभाविक बल कफ की अपेक्षा अधिक रहता है और पित्त की अपेक्षा वात अधिक बलवान् है। सारांश तीनों दोषों की कुपितावस्था में सब से बलवान् वात को पहले जीतना चाहिए। इसके अनन्तर पित्त एवं कफ को क्रम से जीतना चाहिए। पराशर ऋषि भी इसी बात को प्रमाण मानते हुए कहते हैं कि पहले बलवान् की ही ओषधि करनी चाहिए। इसलिए कि नेता ( सेनापति ) के पतन के साथ ही उसकी सेना का पराजय देखा गया है। इस दृष्टान्त का भावार्थ यही है कि त्रिदोष की कुपितावस्था में वायु सब से बलवान् होने के कारण उसे सेनापति समझकर जीता जाय। उस पर विजय प्राप्त होते ही उसकी पित्तकफरूपिणी सेना उसी समय अपना पराजय मानती हुई शान्त हो जाती है।

स्थानतः केचिदिच्छन्ति प्राक्तावच्छ्लेष्मणो वधम्।
शिरस्युरसि कण्ठे च प्रलिप्तेऽन्नरुचिः कुतः ॥
तदभावे कथं भोज्यपानद्रव्यावचारणम् ।
असत्यभ्यवहारे च कुतो दोषविनिग्रहः ॥
तस्मादादौ कफो घात्यः कायद्वारार्गलो हि सः ।
मध्यस्थायि यतः पित्तमाशुकारि च चिन्त्यते ॥
अतो वातसखस्यास्य कुर्यात्तदनु निग्रहम् ।
अत एव च पित्तादिः कफान्तोऽन्यैः क्रमः स्मृतः ॥

कुछ आचार्यों का मत—शरीर के सब स्थानों में शिर मुख्य है। इस स्थान को लेकर कुछ आचार्यों का मत है कि प्रथम कफ का नाश किया जाय। इसलिए कि शिर, छाती और कण्ठ में कफ के लिपटने से अन्न की रुचि कैसे होगी? अन्न की रुचि के बिना मनुष्य अन्नपान ( भोज्य और पानीय द्रव्यों का अवचारण ) कैसे करेगा? जब खा-पी न सकेगा तो दोषों का जीतना ( बिना आहार-पान के ) कैसे हो सकेगा? इसलिए पहले कुपित कफ का नाश करना चाहिए क्योंकि यह शरीर-द्वार की अर्गला ( आगल ) है। बिना इसके तोड़े कोई शारीरिक कार्य नहीं बन सकेगा। इसके अनन्तर वातसखा ( पित्त ) का विचार करना चाहिए। पित्त शरीर के मध्य भाग में स्थित है और बहुत जल्दी रोगकारक है अतः कफ के अनन्तर इसे जीतना चाहिए। कुछ लोगों ने पित्तादि-कफान्त क्रम भी कहा है। उनके मत से प्रथम पित्त, फिर वात और फिर कफ को जीतना चाहिए।

सुश्रुतश्च न सर्वत्र मतमेतद् ब्रवीति तु ।
जयेज्ज्वरेऽतिसारे च क्रमात्पित्तकफानिलान् ॥
प्रायेण तापात्मतया ज्वरे तेजो विशिष्यते ।
विशश्च सरणं पित्तात्तथा च मृदुकोष्ठता ॥
तस्य चानुबलः श्लेष्मा गौरवापक्तिजाड्यकृत् ।
वायुश्च वर्धतेऽवश्यं यस्त्वहस्सु तयोः क्षये ॥
ज्वरातिसारयोस्तस्माद्दोषजये क्रमः ।

सुश्रुत का मत—सुश्रुत कहता है कि यह पित्तादिवातान्त-क्रम दोषों के जीतने में सर्वत्र मान्य नहीं है। ज्वर और अतिसार में क्रमशः पित्त, कफ तथा वायु को जीतना चाहिए। इसलिए कि ज्वर के संतापात्मक होने से प्रायः उसमें पित्त विशेष होता है। इसी प्रकार अतीसार में भी मल ( विट ) का सरण एवं मृदुकोष्ठता पित्त ही के कारण होती है और उसका अनुबल गौरव-अपचन तथा जाड्यताकारक कफ होता है। पित्त और कफ के क्षय होने से वायु की वृद्धि अवश्य होती है। भावार्थ यह है कि पित्त की क्षीणावस्था में कफ बढ़ता है अतः पित्त के अनन्तर कफ को जीतना, पित्त और कफ के क्षीण होने पर वायुवृद्धि अवश्य होती है अतः क्रमशः पित्त-कफ को जीतने के बाद वायु का जीतना क्रमप्राप्त है। इसलिए ज्वर और अतीसार में दोषों को जीतने में यही क्रम ठीक है।

कफपित्तानिलानन्ये क्रमादाहुस्तयोरपि ।
यस्मादामाशयोत्क्लेशाद्भूयिष्ठं तत्समुद्भवः ॥
क्रमेणाद्येन तत्रापि प्रवृद्धान् स्वाशये स्थितान् ।
स्वाशये तु प्रदुष्टानां स्थितैवं ह्याशुकारिता ॥
विज्ञाय कर्मभिः स्वैः स्वैर्दोषोद्रेकं यथाबलम् ।
भेषजं योजयेत्तत्र तन्त्री कुर्यान्न तु क्रमम् ॥
प्रयोगः शमयेद्व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत् ।
नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत् ॥

अन्य आचार्यों का मत—कुछ आचार्य कहते हैं कि उक्त ज्वर और अतिसार में भी कफ, पित्त और वायु को क्रम से जीतना चाहिए न कि पूर्वोक्त पित्त-कफ-वायु के क्रम से। उदाहरणार्थ युक्ति-निर्देश करते हुए अन्य आचार्यों का कहना है कि आद्य क्रम से आमाशय में उत्क्लेश होकर पुनः अतिवृद्ध ज्वर और अतिसार की उत्पत्ति होगी, इसलिए कि आमाशय की उत्क्लेशावस्था में पित्तहारक शीतोपचार अपथ्यकारक होंगे। फिर भी वैसी अवस्था में अपने आशय में स्थित बढ़े दोषों को जीतना चाहिए। स्वाशयस्थित प्रवृद्ध दोषों के जीतने में उपेक्षा की जायगी तो वे ही प्रवृद्ध दोष कुपित होंगे, स्वाशयस्थित कुपित दोषों की अवस्था में आशुकारिता ( शीघ्र ही व्याधि का उत्पन्न करना ) सामने खड़ी है, यह समझते हुए वैद्य को चाहिए कि वह अपने कर्मों द्वारा दोषों की वृद्धि की यथाबल के अनुसार ओषधियों की योजना करे किन्तु उस समय तन्त्री क्रमों का अनुकरण न करे। सारांश, क्रम-विधान की उपेक्षा करता हुआ वैद्य औषध देकर बलवान् दोष को पहले जीते और उस के अनन्तर अन्य दोषों को जीते। कहा भी है कि वह प्रयोग विशुद्ध नहीं है जो एक व्याधि को शमन करके किसी दूसरी व्याधि को पैदा करता है। शुद्ध प्रयोग वही है जो व्याधि को शमन करता है तथा अन्य व्याधि को भी नहीं होने देता।

क्रुद्धं मलमलं जेतुं नाल्पभावादुभावपि ।
दोषा दोषात्मकत्वाच्च न समेऽपि परस्परम् ॥
शीतद्रवाम्ललवणकटवादिगुणतुल्यता ।

दृष्टा मिथश्च दोषेषु नातोऽन्योऽन्यं जयन्ति ते ॥
आरम्भकं विरोधेऽपि मिथो यद्वद् गुणत्रयम् ।
विश्वस्य दृष्टं युगपद्व्याधेर्दोषत्रयं तथा ॥

दोषविषयक शङ्कासमाधान—शङ्का की जाती है कि सभी रोग त्रिदोषज बताए गए हैं और ये तीनों दोष परस्पर विरोधी हैं। ऐसी अवस्था में क्रुद्ध दोष को शेष दो विरोधी निर्बल दोष कैसे जीत सकते हैं? कैसे दो सबलों को एक निर्बल दोष जीत सकता है? इसी प्रकार तीनों दोष परस्पर विरुद्ध होते हुए भी रोगात्मक एक कार्य को कैसे कर सकते हैं? इन दोनों प्रश्नों के उत्तर में कहते हैं कि सन्निपात दो प्रकार का है, एक विषम-दोष और एक समदोष। विषमदोष की अवस्था में क्रुद्ध हुए एक दोष को निर्बलता के कारण शेष दो दोष जीत नहीं सकते। समदोष में भी दोषात्मता के कारण, दोष परस्पर दोषों को जीतने में समर्थ नहीं होते, इसलिए कि दोषों का स्वभाव भी दुष्टीकरण है न कि परस्परोपशमकरण। एक से विपरीत होने के कारण दोष दूसरे दोष को शमन करता या जीत लेता है, यह भी चिन्त्य ही है। इस लिए कि शीत-द्रव-अम्ल लवण-कटुकादि-गुणसाम्य दोषों में देखा जाता है। समान गुणवाला दूसरे समानगुणवाले को बढ़ाता है किन्तु शमन या नष्ट नहीं करता। उदाहरणार्थ जैसे कि वात-कफ दोनों शीत हैं, पित्त, कफ, दोनों द्रव हैं। अतः शीत-गुण वात का हेतु है, वैसे ही कफ का भी। द्रवगुण जैसे कफ का हेतु है वैसे ही पित्त का भी। इसी प्रकार अम्ल-लवण-कटु वात के हेतु हैं वैसे ही पित्त के भी। परस्पर गुणसादृश्य के कारण दोषों का परस्पर वैपरीत्य नहीं सिद्ध होता, अपितु परस्पर अवैपरीत्य ही दिखाई देता है इस लिए भी दोष परस्पर को जीतनेवाले नहीं हैं। भावार्थ यह है कि सन्निपात में दोष एक ही साथ कुपित होते हैं। परस्पर विरुद्ध होते हुए भी दोष रोगनाशक कार्य को मिलकर कैसे संपन्न करते हैं? अब इसका उत्तर देते हैं कि-जैसे परस्पर विरुद्ध होते हुए भी रज, तम और सत्त्वगुण ये तीनों मिलकर संपूर्ण विश्व के आरम्भक दिखाई देते हैं, ठीक इसी प्रकार परस्पर विरोधी वात, पित्त और कफ ये तीनों दोष भी व्याधि के आरम्भक (कारण) होते हैं।

इस दोषोपक्रम के प्रसङ्ग में अब आचार्य दोषों की सामता एवं उसकी चिकित्सा का वर्णन करते हैं।

वायुरामान्वयः सार्तिराध्मानकृदसंचरः ।
दुर्गन्धमसितं पित्तं कटुकं बहलं गुरु ॥
आविलस्तन्तुमांस्त्यानः प्रलेपी पिच्छिलः कफः ।
विपर्यये तु पक्वत्वं तथा ताम्रं समेचकम् ॥
पीतं च पित्तमच्छं च श्लेष्माच्छः पिण्डितोऽथवा ।
विशदश्च सफेनश्च धवलो मधुरो रसे ॥
ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम् ।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते ॥
अन्ये दोषेभ्य एवातिदुष्टेभ्योऽन्योन्यमूर्च्छनात् ।
कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामस्य संभवम् ॥
आमेन तेन संपृक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः ।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः ॥

साम और निराम वातादि के लक्षण—साम वात पीडा-सहित आध्मान (अफारा) को करता और असंचर अर्थात् देह में यथावत् संचार नहीं करता है। साम पित्त दुर्गन्धवाला, काला, कटुक, गाढ़ा और भारी होता है। साम कफ आविल (मैला या ठोस), तन्तुवाला, जमा हुआ, प्रलेपी और पिच्छिल होता है। निराम (पक्व) वातादि के लक्षण उक्त लक्षणों से विपरीत जानने चाहिये। इसके अतिरिक्त निराम पित्त तथा कफ के लक्षणों में यह विशेष है कि निराम पित्त ताम्र-मेचक-पीत और साफ रहता है। इसी प्रकार निराम कफ स्वच्छ, पिण्डीभूत, विशद, फेनसहित, श्वेत और रस में मधुर होता है।

आम का वर्णन—जठराग्नि की निर्बलता के कारण अपक्व रस दुष्ट होकर आमाशय में जाता है। इसी दूषित-अपक्व आद्य धातु-रस को आम कहते हैं। अन्य आचार्य कहते हैं कि जैसे कोद्रव (कोदो धान) देश-काल-वश विष बन जाता है, इसी प्रकार दुष्ट वातादि दोष ही पारस्परिक मूर्च्छना के कारण विषोपम आम को पैदा करते हैं। सारांश, कोदो धान से विष की तरह दुष्ट-दोष-मूर्च्छना आम को उत्पन्न करती है। इस आम से मिश्रित होने के कारण वातादि दोष और रस-रक्तादि दूष्य, दूषित होकर साम कहलाते हैं और इन ही से जितने रोग हैं वे उत्पन्न होते हैं।

विशेष वक्तव्य—'ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन' इस पद का अर्थ हमने 'जठराग्नि के अल्पबल होने से ऐसा किया है। परन्तु इन्दु की टीकानुसार यहां रस-धातूष्मा या रस-धात्वग्नि के निर्बलत्व का ग्रहण करना ही समुचित प्रतीत होता है। इस लिये कि प्रत्येक धातु की पचानेवाली उसकी अग्नि होती है।

सर्वदेहप्रविसृतान् सामान् दोषान्न निर्हरेत् ।
लीनान् धातुष्वनुत्क्लिष्टान् फलादामाद्रसानिव ॥
आश्रयस्य हि नाशाय ते स्युर्दुर्हरत्वतः ।
पाचनैर्दीपनैः स्नेहैस्तान् स्वेदैश्च परिष्कृतान् ॥
शोधयेच्छोधनैः काले यथासन्नं यथाबलम् ।
हन्त्याशु युक्तं वक्त्रेण द्रव्यमामाशयान्मलान् ॥
घ्राणेन चोर्ध्वजत्रूत्थान् पक्वाधानाद् गुदेन च ।
उत्क्लिष्टानध ऊर्ध्वं वा न चामान्वहतः स्वयम् ॥
धारयेदौषधैर्दोषान्विधृतास्तेऽपि कुर्वते ।
रोगानुत्पादनिर्दिष्टानतिस्थौल्यादिकान् गदान् ॥
प्रवृत्तान् प्रागतो दोषानुपेक्षेत हिताशिनः ।
विविधान् पाचनैस्तैस्तैः पाचयन्निर्हरेत वा ॥

इत्येकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

---

१. पद्यमिदं नास्ति मूलमुद्रितपुस्तके।

२. 'कलुषोऽनच्छ आविलः इत्यमरः। 'आविलोघनः' इतीन्दुः।

३. ऊष्मण इत्यादि। आद्यं धातुमाहाररसाख्यं स्वस्योष्मणोऽग्नेरल्पत्वेनापचितं दुष्टमामाशयगतं रसमाममित्याचार्याः, इतीन्दुः।

दोषनिर्हरणविधि—संपूर्ण शरीर में पसरे हुए अर्थात् रस रक्तादि धातुओं में लीन, अनुत्क्लिष्ट ( अविचलित ) साम दोषों का निर्हरण न करे जैसे कि कच्चे फलों से रस नहीं निकाला जाता। कच्चे फलों से रस की तरह यदि आम-दोषों का निर्हरण किया जायगा तो ये दोष अपने आश्रय के नाश करनेवाले होंगे। जैसे कच्चे फल से रस का निकालना रस के आश्रय ( फलों ) का नाशकारी होता है अतः भूलकर भी साम दोषों का निर्हरण ( शोधन ) न करे। इसलिये वैद्य को चाहिये कि वह पाचन, दीपन, स्नेहन और स्वेदनादि शोधनों द्वारा पसरे हुए दोषों का यथाकाल, यथासन्न और यथाबल शोधन ( निर्हरण ) करे।

यथाकाल से शास्त्रोक्त वातादिदोषनिर्हरणकाल को लेना चाहिए। यथासन्न जैसे कि ऊर्ध्वासन्न दोषों का निर्हरण वमन से, अधोभागासन्न दोषों को विरेचन तथा बस्तियों से और सिर में आश्रित दोषों का शोधन शिरोविरेचन से करे। यथाबल जैसे कि-अधिक बलवाले दोषों का शोधन तीक्ष्ण वमन-विरेचनादि से, मध्यबलों का मध्यबल शोधनों से तथा हीनबल दोषों का मृदु वमन विरेचनादि शोधन देकर संशोधन करे। मुख के द्वारा दिया हुआ औषध शीघ्र ही आमाशय से मलों को निकाल कर नष्ट करता है। घ्राण ( नासिका ) द्वारा प्रयुक्त औषध ऊर्ध्वजत्रु में उत्पन्न होनेवाले दोषों को दूर करता है। गुदा द्वारा प्रयुक्त किया हुआ औषध शीघ्र ही पक्वाशय के दोषों को दूर करता है अतः अधोभाग या ऊर्ध्वभागमें समुत्पन्न विचलित दोषों को निर्हरण करने में उपेक्षा नहीं करनी चाहिए और न स्वयं विचलित आम दोषों को ही धारण करना चाहिए क्योंकि धारण किए हुए ये दोष अतिस्थौल्यादि रोगों को करते हैं जिनका वर्णन रोगानुत्पादनीयाध्याय में किया गया है। इन रोगों की उत्पत्ति धारणा से होने के कारण पहले इनकी उपेक्षा करे परन्तु फिर हिताशी रहता हुआ इनका शोधन तब तक करता रहे जब तक आम का क्षय न हो जाय। अथवा थोड़े प्रवृत्त हुए इन रोगों के लिए शोधन न कर के उन उन रोगों के अर्थ कहे हुए पाचनों के प्रयोग कर के उनका निर्हरण करे।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यायां दोषोपक्रमणीयनामैकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

## अथ द्वाविंशोऽध्यायः।

इसके पहले अध्याय में रोगों की अपेक्षा विशेषतः दोषों का ही उपक्रम कहा गया है। इस लिए अब आचार्य इस अध्याय को आरम्भ करते हुए कहते हैं कि—

**अथातो रोगभेदीयमध्यायं व्याख्यास्याम इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।**

रोगभेदीय अध्यायारम्भ—अब हम जिसमें रोगों के भेदों का वर्णन है उस रोगभेदीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया। इस अध्याय में अध्याय के नामानुसार केवल रोगों के भेद ही नहीं बताए जाँयगे अपि तु उनकी चिकित्सा भी बतायी जायगी।

**सप्तविधाः खलु रोगा भवन्ति सहगर्भजातपीडाकालप्रभावस्वभावजाः। ते तु पृथक् द्विविधाः। तत्र सहजाः शुक्रार्तवदोषान्वयाः कुष्ठार्शोमेहादयः पितृजा मातृजाश्च। गर्भजा जनन्यपचारात्कौब्ज्यपाङ्गुल्यपैङ्गल्यकिलासादयोऽन्नरसजा दौहृदविमानजाश्च। जातजाः स्वापचारात्संतर्पणजा अपतर्पणजाश्च। पीडाकृताः क्षतभङ्गप्रहारक्रोधशोकभयादयः शारीरा मानसाश्च। कालजाः शीतादिकृता ज्वरादयो व्यापन्नजा असंरक्षणजाश्च। प्रभावजा देवगुरूल्लङ्घनशापाथर्वणादिकृता ज्वरादयः पिशाचादयश्च। स्वभावजाः क्षुत्पिपासाजरादयः कालजा अकालजाश्च। तत्र कालजा रक्षणकृताः, अरक्षणजा अकालजाः। त एते समासतः पुनर्द्विविधा भवन्ति प्रत्युत्पन्नकर्मजाः पूर्वकर्मजाश्च। तत्र रोगोत्पत्ति प्रत्युत्पन्नं कर्म यदनेनैव शरीरेण दृष्टमदृष्टं चोद्दिश्याप्तोपदिष्टानां विहितानां प्रतिषिद्धानामननुष्ठानमनुष्ठानं वा। जन्मान्तरातीतेन तु पूर्वम्। तत्तु पुनर्दैवाख्यमुक्तं च नियतानियतभेदेन प्राक्। तस्माद्दृष्टहेतवः प्रत्युत्पन्नकर्मजाः। विपरीता दैवजन्मानः। अल्पनिदाना महारुजश्चोभयात्मकाः।**

रोगों के सात भेद—रोगों के प्रकार सात हैं अर्थात् समस्त रोग सात प्रकारों में आजाते हैं जैसे कि सहज (१), गर्भज (२), जातज (३), पीडाज (४), कालज (५), प्रभावज (६), और स्वभावज (७) रोग। इनमें से प्रत्येक के दो दो प्रकार होते हैं। यथा—

सहज रोग—कुष्ठ, अर्श, प्रमेहादि साथ ही में उत्पन्न होने वाले रोगों के दो भेद होते हैं जैसे कि (१) पिता के दूषित शुक्र से होनेवाले और (२) माता के दुष्ट आर्तव से होनेवाले।

गर्भज रोग—(१) माता के गर्भावस्था में स्वयं अपचार करने से अन्न रस से उत्पन्न होनेवाले और (२) पिता द्वारा दौहृद की अवमानना होने के कारण उत्पन्न होनेवाले कौब्ज्य (कुबड़ापन), पाङ्गुल्य (पंगुता), पैङ्गल्य (रक्तपीतवर्णता), किलास (श्वेत कुष्ठ) आदि आदि दौहृद (प्रथम गर्भ) में माता के नाना प्रकार के आहार की इच्छा होनेपर भी उसे मनोवांछित आहार का न देना दौहृदविमानन कहलाता है।

जातज रोग—जन्मनेवाले के (१) स्वयं अपचार करने से (न कि माता-पिता-कृत अपचार से) होनेवाले संतर्पण (अविचारपूर्वक यथेच्छ खाने-पीने) से और (२) अपतर्पण (भूख, प्यास, उपवासादि) से होनेवाले रोग।

पीडाकृत रोग—(१) क्षत, भङ्ग और प्रहार से होनेवाले शारीरिक एवं (२) क्रोध, शोक, भयस्वरूप मानसिक रोग।

कालकृत रोग—(१) शीतादि से होनेवाले ज्वरादि व्यापन्नज और (२) असंरक्षणोत्थ। शीतादि अर्थात् शीत, उष्ण एवं वर्षाकाल में बिगड़े हुए शालि धान्यादि से होनेवाले

१. "पूर्वस्मिन्नध्याये रोगविशेषानपेक्षया दोषाणामेवोपक्रम उक्तः। अस्मिंस्तु रोगाणां स्वरूपमुपक्रमं च प्रदर्शयितुमध्याय आरभ्यते" इतीन्दुः। २. दौहृदं प्रथमगर्भे मातुर्नानाविधाहारेच्छा तद्विमाननमितीन्दुः।

व्यापन्नज रोग हैं और शीत, उष्ण और वर्षा से रक्षा न होने के कारण होनेवाले रोग अरक्षणज कहलाते हैं।

प्रभावज रोग—देवता-गुरु के उल्लंघन (न मानने) से शाप या आथर्वण मन्त्रों से किए अभिचार द्वारा होनेवाले (१) ज्वरादि और (२) भूत, प्रेत, पिशाचादि रोग। यहां आदि शब्द से चतुर्विध भूतग्राम को भी लेना चाहिए।

स्वभावज रोग—भूख, प्यास एवं बुढ़ापा आदि (१) कालज और (२) अकालज रोग। यहां रक्षण करते हुए होनेवाले रोग कालज हैं और रक्षण के अभाव में होनेवाले रोग अकालज समझने चाहिए। सारांश, शरीर का समुचित रक्षण करते हुए समय पर होनेवाले भूख, प्यास और जरावस्था कालज है अर्थात् अपने समय पर होनेवाले हैं किन्तु अकालज इनके विपरीत हैं। इस लिए कि शरीर का समुचित रक्षण न होने से ये ही भूख, प्यास और बुढ़ापा अकाल में ही दिखाई देने लगते हैं जैसे कि युवावस्था में जरावस्था आदि आदि अकालज रोग हैं।

रोगों का द्विविधत्व—संक्षेप में कहें तो ये सभी प्रकार के रोग पुनः दो प्रकार के कहे जा सकते हैं-प्रत्युत्पन्न कर्मज और पूर्वकर्मज। इसी जन्म में रोगों के भोगनेवाले इसी शरीर से किए जानेवाले कर्मों से होनेवाले रोग प्रत्युत्पन्न कर्मज कहलाते हैं और पूर्व-जन्म के किए कर्मों के कारण होनेवाले रोग पूर्वकर्मज। प्रत्युपन्नकर्मज तथा पूर्वकर्मज इन दोनों रोगों को दृष्ट और अदृष्ट समझते हुए आप्तों ने उपदेश किया है कि विहित आचरण को करे और निषिद्ध कर्मों के आचरण का त्याग करे। इस लिए कि यह भी इनकी उचित चिकित्सा है।

जन्मान्तर में किए हुए पापों से पूर्वकर्मज रोग इस जन्म में फल देते हैं यह तो पहले नियतानियत भेद करके दैव पर्याय से विरुद्धान्नविज्ञानीय अध्याय में कह चुके हैं। इसलिए दृष्ट हेतुवाले रोग प्रत्युत्पन्नकर्मज हैं और विपरीत इसके अदृष्ट हेतुवाले रोग दैवजन्मा (पूर्वकर्मज) हैं। स्वल्प कारणों को लेकर होनेवाले महारोगों को उभयात्मक अर्थात् प्रत्युत्पन्नकर्मज तथा पूर्वकर्मज समझना चाहिये।

तत्र यथास्वं प्रतिपक्षशीलनात् पूर्वेषां रोगाणामुपशमः। सत्येव विपक्षशीलनेऽनिष्टकर्मक्षयाद्दैविकानाम्। दोषकर्मक्षयादन्येषाम्। अन्ये तु पुनः प्रत्युत्पन्नं कर्म परकृतमपि वर्णयन्ति। तच्च पराभिसंस्कारमाचक्षते। एवं चाहुः। यदि स्वयं कृतादेव कर्मणः कार्यनिर्वृत्तिः स्यात् न दृष्टं पुरुषान्तरकृतात्किमिति विद्वानपि पराचरितयोरुपकारापकारयोः सुखदुःखानुरोधात्तोषरोषौ प्रतिकर्त्तव्यचिन्तां वा प्रतिपद्यते। एवमेते व्याधयो द्विविधाः सन्तस्त्रिविधा जायन्ते। ततश्च दोषविशेषतो भूयः सप्तविधाः।

प्रथम वर्णन की हुई उन-उन प्रत्युत्पन्नकर्मज व्याधियों का उपशम प्रतिपक्षशीलन (हेतु-व्याधि-विपरीत ओषधियों का सेवन) करने से होता है। प्रतिपक्ष (हेतुव्याधिविपरीत) ओषधियों के सेवन से न होकर दैविक व्याधियों का उपशम तो अनिष्टकर्म के नाश होने पर ही होता है (कहा भी है कि भोगादेव कर्मणां क्षयः) अर्थात् पूर्वकृत अनिष्टकर्म के क्षय होने से ही दैविक व्याधि शान्त होती है। अन्य (प्रत्युत्पन्नकर्मज और पूर्वकर्मज इन दोनों प्रकार की) व्याधियों का उपशम अपथ्यजन्य दोष एवं पूर्वकर्म के क्षय होने से होता है। पहले कहा गया है कि स्वयं कृतकर्म ही प्रत्युत्पन्न कर्म है परन्तु कुछ आचार्य परकृत (शत्रुओं के किए हुए) अभिचारादि कर्म को भी जिसे पराभिसंस्कार कहा गया है, प्रत्युत्पन्न कर्म कहते हैं। उनका कहना है कि—यदि अपने किए कर्म से किसी कार्य का होना देखा जाता है तो क्या वैसे ही अन्य किसी पुरुष के किए हुये कर्म से उसके कार्य का होना नहीं देखा जाता? अवश्य देखा जाता है। कोई विद्वान् भी क्यों न हो, वह भी दूसरे के किए उपकार-अपकार से होनेवाले सुखदुःख के अनुरोध से सन्तुष्ट एवं रुष्ट होता हुआ उसका बदला चुकाने की चिन्ता करता है। श्येनयागादि कर्मों की प्रवृत्ति इसी विषय को लेकर हुई सो भी शास्त्र में वर्णित है। इस प्रकार परकृत कर्म का व्याधिकारणों में अनुप्रवेश हो जाने से व्याधियें दो प्रकार की होती हुई भी तीन प्रकार की हो जाती हैं और व्याधियें दोषवाली हैं अतः वे ही फिर दोषों के पृथक्, संसर्ग तथा सन्निपात-भेद से सात प्रकार की हो जाती हैं।

सकलोऽपि चायं रोगसमूहः प्रतीकारवानायुर्वेदविहितमुपदेशमपेक्षते। यस्मान्नियतहेतुकोऽप्यामयः सम्यग्भिषगादेशातुष्ठानादुपात्तायुःसंस्कारापरिक्षयेसति सह्यवेदनतां प्रतिपद्यते। अनुपक्रम्यमाणस्तु सर्व एव प्रायशो भनक्त्यकाण्डे। स्वयमपि च दैवान्निदानाल्पतया वा निवर्तमानः षोडशगुणसमुदितक्रियोपलम्भादाशुतरमपरिक्लिश्यस्य चापगच्छति। अनियतफलदायिनि तु दैवे हितात्भ्यासरतस्यावकाशमेव न लभते व्याधिः। तस्मान्न कस्यांचिदवस्थायामात्मवान् हिताहितयोस्तुल्यदर्शी स्यात्।

आयुर्वेदोपदेश की परमावश्यकता—समस्त रोगों का समूह प्रतीकारवान् है अर्थात् संपूर्ण व्याधियें प्रतिक्रियावाली हैं-चिकित्सा के योग्य हैं और चिकित्सा सर्वथा आयुर्वेद के अधीन है अतः सब व्याधियें आयुर्वेदोक्त उपदेश की अपेक्षा करती हैं। इसलिए कि किसी भी नियत हेतु (कारण) से होनेवाला रोग क्यों न हो, वह भी भलीभांति अच्छे वैद्य के उपदेशानुसार अनुष्ठान करने से सह्यवेदनता (सह्य वेदनावाले के भाव) को प्राप्त होता हुआ नष्ट हो जाता है। इतना ही नहीं, सद्वैद्य के उपदेशानुसार चलने से जिसकी आयु शेष है ऐसा प्राणी व्याधि के हेतु को भी प्राप्त नहीं करता अर्थात् आयुर्वेदोपदेशानुसार अनुष्ठान करने से रोग होने का कोई कारण भी उपस्थित नहीं होता। विपरीत इसके जिसकी चिकित्सा नहीं होती, उसे रोग अकाल में ही शीघ्र मार डालता है। दैववश, कारणों की अल्पता होने से हुआ रोग,

१. आदिग्रहणं भूतग्रामोपलक्षणार्थमितीन्दुः।
२. निर्दिष्टकर्मक्षयात्। ३. चिन्तां

१. अपरिक्लिश्य नाशमुपगच्छति

कुछ भी कष्ट न देता हुआ षोडशगुणोक्त क्रिया की प्राप्ति द्वारा स्वयं बहुत जल्दी शान्त हो जाता है। अनियत फल देनेवाले दैव के होते हुए भी आयुर्वेदोक्त हिताहार-विहारसेवी के लिए रोग होने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। इसलिए किसी भी अवस्था में बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह हिताहित के विषय में कदापि तुल्यदर्शी न बने। सारांश, हिताहित को एक समान न समझे। अपितु तद्वत् आचरण करे। नीरोगावस्था में स्वस्थता बनी रहने का अनुष्ठान करे और रोग की अवस्था में तुरन्त उसकी प्रतिक्रिया ( उपाय ) करे।

त्रिविधाश्च पुनर्व्याधयो मृदुमध्यातिमात्रभेदेन। तत्राल्पलक्षणा मृदवो, मध्यलक्षणा मध्याः, संपूर्णलक्षणास्त्वधिमात्राः। ते पुनः सुखसाध्यादिविशेषेण चतुर्विधाः प्रागुपदिष्टाः। सुबहुशोऽपि च भिद्यमाना व्याधयो निजागन्तुतां न व्यभिचरन्ति[2]। तत्र निजास्तु दोषोत्थास्तेषु पूर्वं वातादयो वैषम्यमापद्यन्ते ततो व्यथाभिनिर्वर्त्तते। बाह्यहेतुजास्त्वागन्तवस्तेषु व्यथा पूर्वमुपजायते ततो दोषवैषम्यम्। दोषवैषम्येणैव च बहुरूपा रुगनुबध्यते प्रवर्धते च। एवं च कृत्वा न दोषव्यतिरेकेण रोगानुबन्धः केवलं पौर्वापर्ये विशेषः। तस्मादेकाकारा एव रोगास्तथा रुक्सामान्यादसंख्यभेदा वा प्रत्येकं समुत्थानस्थानसंस्थानधर्म[3]नामवेदना प्रभावोपक्रमविशेषात्ते यथास्थूलं यथास्वमेवोपदेक्ष्यन्ते। असंख्येयत्वाच्च दोषलिङ्गैरेव रोगानुपक्रमं च विभजेत्।

व्याधियों के प्रकार—मृदु, मध्य और अधिमात्र-भेदसे रोगों के पुनरपि तीन प्रकार होते हैं। इनमें अल्पलक्षणवाले मृदु, मध्यलक्षणवाले मध्य तथा संपूर्णलक्षणवाले अधिमात्र कहलाते हैं। ये पुनः सुख-साध्य, कष्टसाध्यादि विशेषसे चार प्रकार के होते हैं, यह पहले कह चुके हैं। व्याधियोंके बहुतसे भेद होनेपर भी वे निज और आगन्तु भेदोंसे बाहर नहीं जातीं। सारांश, व्याधियां अनन्त होने पर भी वे निज और आगन्तु इन दो जातिकी ही रहती हैं। यहांपर निज व्याधियां वे हैं जो वातादि तीन दोषोंसे उत्पन्न होती हैं। इनमें पहले वातादि दोष विषमताको प्राप्त होते हैं और फिर व्यथा ( रोग ) का प्रादुर्भाव होता है। आगन्तु व्याधियें वे हैं जो बाहिरी कारणोंसे होती हैं। इनमें पहले शस्त्रप्रहार, चोट लगना, गिर पड़ना आदि नाना प्रकारके बाह्य कारणोंसे व्यथा होती है और व्यथाके पश्चात् दोषवैषम्यता ( वातादि दोषोंकी विकृति ) होती है तथा दोषवैषम्य के कारण फिर अनेक रूपकी पीडा होती है। इस प्रकार देखा जाय तो किसी भी रोगका प्रादुर्भाव दोषोंको छोड़कर नहीं होता। यह विशेष अवश्य है कि एक में दोष पहले ही से रहते हैं तो दूसरे में पीछे आकर प्राप्त होते हैं। इस दोष-भेदको देखा जाय तो सभी रोग एकही स्वरूप के हैं और रोग-भेद या रुक्सामान्यसे देखा जाय तो रोगोंके भेदोंकी संख्या ही नहीं हो सकती अतः रोग असंख्य हैं। इसलिए कि रोगोंके समुत्थान ( कारण ), स्थान ( शरीरदेश ), संस्थान ( लक्षण ), धर्म ( स्वभाव ), पाठान्तरसे वर्ण ( श्वेत, पीत आदि ), नाम ( ज्वर, अतीसार आदि ), वेदना ( शूल, दाह, शोथादि ), प्रभाव ( रोगकी शक्ति ) तथा उपक्रम ( चिकित्सा ) आदि विशेषोंके कारण इनकी गिनती करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। इसी लिए यथास्थूल उन उन रोगोंके विषयमें उपदेश किया जायगा। असंख्य होनेसे जिस रोगका पता न लगे तब वातादि दोषोंके लक्षणों द्वारा ही रोगों का विभाजन तथा चिकित्सा करे।

दोषा एव हि सर्वरोगैककारणम्। यथैव शकुनिः सर्वतः परिपतन् दिवसं स्वां छायां नातिवर्तते। यथा वा कृत्स्नं विकारजातं वैश्वरूप्येण व्यवस्थितं गुणत्रयमव्यतिरिच्य[1] वर्तते तथैवेदमपि कृत्स्नं विकारजातं दोषत्रयमिति। यथा च विद्युद्वर्षादयो नभसि भवन्ति न त्ववश्यं निमित्ततस्त्ववश्यमपि। तरङ्गबुद्बुदादयश्चाम्भसि[2] तथा दोषेषु रोगाः।

दोष ही सब रोगोंके कारण—वातादि तीन दोष ही संपूर्ण रोगों के एकमात्र कारण हैं। जैसे शकुनि ( पक्षी ) दिनभर सर्वतः ( नदी, तडाग, वन, समुद्र आदि समस्त स्थानों पर ) उड़ता हुआ अपनी छाया को नहीं छोड़ता तथा जैसे विश्वरूपेण व्यवस्थित संपूर्ण विकारजात ( मनुष्यादि ) गुणत्रय ( सत, रज, तम ) को छोड़कर नहीं रहते तथैव ज्वरादि समस्त विकार भी दोषत्रयको छोड़कर नहीं रहते हैं। इससे सिद्ध है कि वात, पित्त और कफ ये तीनों दोष सदैव शरीरमें वर्तमान रहते हैं। फिर भी रोगकी उत्पत्ति कभी कभी ही करते हैं, इसका क्या कारण है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि—बिजली-वर्षा आदि सदैव आकाश में अवश्य रहते हैं परन्तु सदैव बिजली-वर्षा नहीं होती किन्तु निमित्तको पाकर अवश्य होती है, ठीक इसी प्रकार तीनों दोष शरीरमें रहते हुए भी रोगोत्पत्ति नहीं करते हैं किन्तु असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगादि निमित्तको पाकर अवश्य रोगके उत्पादक होते हैं। सारांश, तरङ्ग, बुद्बुदादि जैसे जलमें हैं वैसे ही दोषोंमें सब रोगोंकी अवस्थिति है। तरङ्ग, बुद्बुदादि विना वायु आदि निमित्तके प्रगट नहीं होते, ठीक इसी प्रकार बिना निमित्तके दोष रोगोंके उत्पादक नहीं होते हैं।

त्रिविधं तु निमित्तमेषामसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्च। ते पुनः प्रत्येकमतियोगायोगमिथ्यायोगभेदात् त्रिधा भिद्यन्ते। तत्र यथास्वं चक्षुरादीन्द्रियाणां रूपादिभिरर्थैरतिसंसर्गोऽतियोगः। अल्पशो नैव वा संसर्गस्त्वयोगः। सूक्ष्मातिदूरान्तिकस्थातिभास्वद्भैरवाप्रियविकृतादिदर्शनम्। द्विष्टात्युच्चपरुषभीषणादिश्रवणम्। पूत्यमेध्यातितीक्ष्णोग्रप्रति-

१. वैद्यद्रव्यपरिचारकातुराख्यं पादचतुष्टयं षोडशगुणम्। यथोक्तं चरके 'कारणं षोडशगुणं सिद्धौ पादचतुष्टयम्' इति।

२. 'त्रिविधाद्व्यभिचरन्ति, इत्यन्तः पाठो न लभ्यते' इन्दुकृतटीकापुस्तके। ३. वर्णं

१. गुणत्रयमप्यतिरिच्य २. चाम्भसः। इति पाठान्तराणि

कूलाद्याघ्राणम् । स्वभावादिभिराहारकल्पनाविशेषायतनैरपथ्यानां रसानामभ्यवहारस्तथा स्नानादीनां शीतोष्णादीनां च स्पृश्यानामयथावदुपसेवनमशुचिभूताभिघातविषवातादिसंस्पर्शश्च मिथ्यायोगः ।

रोगोंके त्रिविध निमित्त—इन दोषोंके रोगोत्पत्ति करनेमें तीन प्रकारके निमित्त हैं और वे हैं (१) असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, (२) प्रज्ञापराध और (३) परिणाम। इन तीनोंके हीन, मिथ्या और अतियोग–भेदसे तीन तीन भेद होते हैं। अब इन तीनोंका स्पष्टीकरण करते हैं।

असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग–असात्म्य अर्थात् अपनी आत्मा को न सुहानेवाला हानिकारक, चक्षु आदि (चक्षु, श्रवण, घ्राण, रसना और त्वक्) इन्द्रियोंके अर्थ (रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श) का संयोग=असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग कहलाता है। प्रत्येक इन्द्रियार्थका यह असात्म्य-संयोग हीनयोग, मिथ्यायोग और अतियोग के भेदसे तीन प्रकारका होता है। उदाहरणार्थ चक्षु आदि इन्द्रियोंके रूपादि अर्थोंका अतिसंसर्ग अतियोग है। स्वल्प या नहीं होनेवाला संसर्ग अयोग किंवा हीनयोग है। इनके अतिरिक्त वच्यमाण चक्षु आदि इन्द्रियार्थोंका संसर्ग मिथ्यायोग है, यथा–सूक्ष्म, अतिदूर, अतिसमीप, अति-प्रकाशमान्, भयङ्कर, अप्रिय, विकृतादिका देखना चक्षुके अर्थोंका मिथ्यायोग है। द्वेषपूर्ण, अत्युच्च, परुष, भयंकरादि शब्दका सुनना श्रवणेन्द्रियार्थका मिथ्यायोग है। दुर्गन्धि, अपवित्र, अतितीक्ष्ण, उग्र, प्रतिकूलादिकी गन्धका सूंघना घ्राणेन्द्रियार्थका मिथ्यायोग है। स्वभावादि करके अपथ्य आहार-रसोंका सेवन रसनेन्द्रियार्थका मिथ्यायोग है। इसी प्रकार त्वचाके अर्थका मिथ्यायोग शीतोष्णादि-स्नान (जो सहन न होता हो), स्पृश्य पदार्थोंका अनुचित सेवन, अशुद्ध, अभिघात और विषैली हवाका स्पर्श है।

कायवाङ्मनोभेदेन तु त्रिविधमप्यहितं कर्म प्रज्ञापराधः । तत्र कायादिकर्मणोऽतिप्रवृत्तिरतियोगः । अल्पशो नैव वा प्रवृत्तिरयोगः । वेगोदीरणधारणविषमाङ्गचेष्टनस्खलनकण्डूयनप्रहारप्राणायामादि तथा क्षुत्पिपासार्धभुक्तभाषणादि भयशोकेर्ष्यामात्सर्यादि दशविधं चाकुशलं कर्म यथास्वं मिथ्यायोगः ।

प्रज्ञापराध—काय (देह), वाक् (वाणी) और मन इन तीनों के द्वारा किया जानेवाला अहित-कर्म प्रज्ञापराध है। कायादि (शरीर, वाणी और मन) द्वारा किए जानेवाले कर्मों की अतिप्रवृत्ति अतियोग है। अल्प प्रवृत्ति या इनके द्वारा कृत कर्मों में प्रवृत्तिका न होना अयोग या हीन योग है। अनुचित वेगोदीरण–धारण (चतुर्दश वेगों का उदीरण धारण), विषमाङ्गचेष्टन (शारीरिक अङ्गों से विपरीत चेष्टा), स्खलन (गिर पड़ना), कण्डूयन (खुजलाना), प्रहार (शस्त्र लाठी आदि से मारना), प्राणायाम (प्राणों को घोंटना) आदि। तथा क्षुधा, पिपासा, अर्धभुक्त (पूरा भोजन न करके आधा ही करना) और भाषण आदि। भय, शोक, ईर्ष्या और मात्सर्य आदि। दस प्रकार के अकुशल कर्म (हिंसा, चोरी, अगम्या स्त्री में गमन, ये तीन कायिक। पैशून्य=निन्दा, परुष=क्रोध, असत्य, फूट डालनेवाले वचन, ये चार वाचिक और व्यापाद=बुरा चिन्तना, अभिध्या=परधनेच्छा[1] तथा दृग्विपर्यय=बुरे को भली एवं भले को बुरी दृष्टि से देखना ये तीन मानसिक इस प्रकार सब मिलाकर दस अकुशल कर्म[2]), ये यथास्व (यथाक्रम से) काय-वाङ् और मन के मिथ्या योग हैं। यहां यथास्व कहने से पूर्वोक्त वेगोदीरण से प्राणायामादि तक कायिक, क्षुधादि भाषण आदि तक वाचिक तथा भय से लेकर मात्सर्य आदि तक मानसिक कर्म समझना चाहिए[3]।

परिणामः पुनः काल उच्यते, सोऽपि शीतोष्णवर्षभेदात्—त्रिधा । तत्रातिमात्रस्वलक्षणः कालोऽतियोगः । हीनस्वलक्षणस्त्वयोगः । विपरीतो मिथ्यायोगः ।

परिणाम—काल को परिणाम कहते हैं। काल भी शीतकाल–उष्णकाल और वर्षाकाल के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें से जो जो काल अतिमात्र (प्रमाण से अधिक) लक्षण वाला होने पर वह २ उस काल का अतियोग कहलाता है। हीन लक्षण वाला होने से अयोग या हीन योग होता है। विपरीत लक्षण होने से मिथ्यायोग होता है। इनकी विस्तृत व्याख्या पहले कर चुके हैं अतः यहां पुनः पिष्टपेषण करना अनुचित है।

त एतेऽतियोगादयः सामान्यतोऽनुपशयलक्षणाः । सर्वो वा प्रज्ञापराध एवायं यदेषामविवर्जनम् । अर्थकर्मकालाः पुनः सम्यग्योगेनोपशयाद् भूयिष्ठं स्वास्थ्यहेतवः । तत्रापि रसवर्ज्या[4] विषया यथायथमिन्द्रियं बाधन्तेऽनुगृह्णन्ति च । शेषा रसकर्मकालास्तु सर्वं देहम् । अपि च—

सर्वभावानां भावाभावौ नान्तरेण योगातियोगादीन् व्यवस्येत् । सर्वेषां पुनर्विकाराणां निदानदोषदूष्यविशेषेभ्यो भावाभावविशेषा भवन्ति । यदाह्येते त्रयो निदानादिविशेषाश्नान्योऽन्यमनुवध्नन्तीपद्वानुवध्नन्त्यबला वा न तदाभिनिर्वर्तन्ते व्याधयश्चिराद्वाभिनिर्वर्तन्ते तनवो वा भवन्त्यसंपूर्णलिङ्गा वा विपरीते तु विपरीताः ।

अतियोगादि—अर्थात् काल, अर्थ और कर्मों के अतियोग, हीनयोग तथा मिथ्यायोग ये सामान्यतया अनुपशय लक्षणवाले (देह को सुख न देनेवाले) हैं, अपि तु दुःखदायक[5] हैं। फलतः काल–अर्थ और कर्मों के अतियोग, हीनयोग और मिथ्यायोग का न रोकना भी प्रज्ञापराध ही है। ये काल,

१. अभिध्या–परस्वविषये स्पृहा' इत्यमरः । २. हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृते । संभिन्नालापं व्यापादमभिध्यां दृग्विपर्ययम् । इति दशविधं हिंसादि कर्म । 'तत्र हिंसा चौर्यमगम्यागमनं कायिकम्, पैशुन्यं परुषमसत्यं संभिन्नालापमिति वाचिकम्, व्यापादमभिध्या दृग्विपर्ययमिति मानसमिति ।' ३. वेगोदीरणादिप्राणायामान्तं क्षुदादिभाषणान्तं भयाद्यकुशलान्तं यथासंख्येन कायवाङ्मनसां मिथ्यायोगः' इतीन्दुः ।' ४. रसवर्ज्या ५. त्रयाणामतियोगादीनामनुपशयः देहासुखकारित्वं लक्षणम् । इतीन्दुः

अर्थ और कर्म सम्यक् योग से उपशय लक्षणवाले होते हुए स्वास्थ्य के हेतु हैं। तथापि रसवर्जित शब्द, स्पर्श, रूप और गन्ध ये चार विषय अतियोगादि के कारण अपनी अपनी इन्द्रियों को बाधाकारक होते हैं। भावार्थ यह है कि अतियोगादिवशात् शब्द-कर्णेन्द्रिय को, स्पर्श-त्वक् इन्द्रियको, रूप नेत्र इन्द्रियको तथा गंध घ्राणेन्द्रिय को दुःखदायी ही होते हैं। विपरीत इसके सम्यग्योगसे सुखदायी होते हैं (उस उस इन्द्रिय पर अनुग्रह करते हैं)। शेष रहे रस, काल, कर्मादि तो असम्यग्योग से संपूर्ण देह को दुःख देनेवाले होते हैं। विपरीत इसके सम्यक् योग से सुखकारक भी होते हैं (सारे शरीर पर अनुग्रह भी करते हैं) इस लिए कि रस का द्रव्यके साथ उपयोग किया हुआ सारे शरीर पर अनुग्रहकारक है।

समस्त भाव (द्रव्य, गुण और कर्म) चाहे बाह्य हो चाहे आन्तरिक, इन सबका भाव और अभाव अर्थात् स्थिति और नाश निश्चित है अतः विना इस भावाभाव-विचार के योग, अतियोगादि का सेवन न करे। भावार्थ यह है कि काल, अर्थ और कर्मों का सम्यक् योग भाव (स्थिति) का कारण है अतः इसका अनुष्ठान करे किन्तु इसके विपरीत अतियोगादि (अति-हीन और मिथ्यायोग) अभाव (नाश) के कारण हैं अतः इनका सेवन न करे। इसी प्रकार निदान, दोष और दूष्य-विशेष को लेकर अर्थात् निदान (आदि कारण) वात, पित्त और कफ ये तीनों दोष तथा रस-रक्तादि सातों धातुओं के विशेष को लेकर सम्यक् योग और अति-हीन-मिथ्यायोग ये रोगों के भी भावाभावविशेष (स्थिति दूष्य और नाश करनेवाले) होते हैं। सारांश-काल, देश और क्रियावशात् सम्यग्योग रोगों को नाश करता है और अतियोगादि रोगों के करनेवाले होते हैं। जब ये तीनों निदान, दोष और दूष्य परस्पर अनुबद्ध नहीं होते हैं (परस्पर अनुग्रह करनेवाले नहीं होते हैं) अथवा निर्बलता के कारण इन निदान-दोष-दूष्यों का अल्पानुग्रह होता है तब रोगों की उत्पत्ति ही नहीं होती, अथवा विलम्ब से रोगोत्पत्ति होती है। इतना ही नहीं, रोगोत्पत्ति होने पर भी अल्प बल होने से वह सूक्ष्मरूप से संपूर्ण लक्षणों सहित नहीं होती। विपरीत इसके अति-हीन-मिथ्यारूप असम्यग्योग होता है अर्थात् निदान, दोष और दूष्य ये तीनों असम्यग्योग से बहुत अधिक परस्पर अनुबद्ध होते हैं तब बलवान् ज्वरादि रोगों की उत्पत्ति बहुत जल्दी और संपूर्ण लक्षणोंवाली होती है।

त्रयश्च रोगाणां मार्गा बाह्यमध्याभ्यन्तरास्तत्र बाह्यो रक्तादिधातवस्त्वक्च। स पुनः शाखाख्यः। तदाश्रया गण्डपिटिकालज्यपचीचर्मकीलार्बुदाधिमांसमषव्यङ्गादयो बहिर्भागाश्च[1] शोथार्शोगुल्मविसर्पविद्रध्यादयः। मध्यो मूर्द्धहृदयबस्त्यादीनि मर्माण्यस्थिसन्धयः। तत्रोपनिबद्धाश्च स्नायुशिराकण्डरादयः। तदाश्रयाः पक्षवधग्रहापतानकार्दितराजयक्ष्मास्थिसन्धिशूलगुदभ्रंशादयो मूर्धादिरोगाश्च। आभ्यन्तरो महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयाश्रयः कोष्ठोऽन्तरिति पर्यायाः। तदाश्रया ज्वरातिसारच्छर्द्यलसकविसूचिकाश्वासकासहिध्माऽऽनाहोदरप्लीहादयोऽन्तर्भागाश्च शोफार्शोविद्रधिगुल्मादयः।

रोगों का बाह्यमार्ग—पूर्वोक्त व्याधियें विना किसी आश्रय-विशेष के नहीं होती हैं अतः अब आचार्य उक्त रोगों के आश्रय-विशेष का वर्णन करते हैं। रोगों के बाह्य, मध्य एवं आभ्यन्तर ऐसे तीन मार्ग हैं। इनमें से पहला बाह्य-मार्ग रक्तादि धातु और त्वचा है। इन सब को शाखा भी कहते हैं। इन रक्तादि धातुओं एवं त्वचा के आश्रित रोग गण्ड, पिटिका, अलजी, अपची, चर्मकील, अर्बुद, अधिमांस, मष, व्यङ्ग आदि और शोथ, अर्श, गुल्म, विसर्प, विद्रधि आदि बहिर्भागवाले रोग हैं। इनमें से कई अष्टाङ्ग-हृदय के भाषा टीकाकारों ने शोथ, अर्श, गुल्म, विसर्प, विद्रधि आदि रोगों को अन्तर्मार्गी माना है किन्तु यह ठीक नहीं है। वस्तुतः ये भी बहिर्भागवाले ही हैं।

रोगों का मध्यमार्ग—मूर्धा (सिर), हृदय, वस्ति आदि मर्म तथा अस्थियों की सन्धियें एवं इन सबसे संबद्ध सिरा, स्नायु, कण्डरा आदि (धमनी, कूर्चादि) ये सब रोगों का मध्यमार्ग है। मध्यमार्गान्तर्गत इन सिर, हृदय, वस्ति आदि मर्मों के आश्रय में रहनेवाले रोग पक्षवध (पक्षाघात), ग्रह (सन्धि, अस्थि, त्रिक में स्तब्धता जकड़ जाना), अपतानक, अर्दित (वातरोग विशेष), राजयक्ष्मा, अस्थियों की सन्धियों में पीड़ा, गुदभ्रंश (गुदा का बाहर आना) आदि तथा शिरोरोगादि हैं।

रोगों का अन्तर्मार्ग—आभ्यन्तर मार्ग उस महास्रोत का नाम है जो मुख से लेकर गुदापर्यन्त पोलवाली बड़ी अंतड़ी है। इसके पर्याय छः हैं जैसे कि (१) महास्रोत, (२) शरीरमध्य, (३) महानिम्न, (४) आमाशयाश्रय, (५) पक्वाशयाश्रय और (६) अन्तःकोष्ठ। इनके आश्रित रोग ज्वर, अतीसार, छर्दि, अलसक, विसूचिका, श्वास, कास, हिचकी, आनाह, उदर, प्लीह आदि अन्तर्भागवाले शोथ, अर्श, विद्रधि, गुल्मादि हैं। यहां निर्दिष्ट शोथ, अर्श, विद्रधि, गुल्मादि रोगों को पहले बहिर्मार्गी बताए हैं। पुनः अन्तर्मार्ग में परिगणित करनेसे भावार्थ यह है कि ये शोफादि रोग बहिरन्तर्मार्गी अर्थात् उभयमार्गी हैं तथापि वस्तुतः इन्हें बहिर्मार्गी ही माना गया है।

ते च रोगाः स्वप्रधाना भवन्त्यन्य-परिवारा वा क्रमादनुबन्धानुबन्धाख्याः[3]। तत्राद्याः स्वतन्त्राः स्पष्टाकृतयो यथास्वं समुत्थानोपशयाश्च। इतरे तु तद्विपरीताः। तद्वच्च दोषा अपि। तत्रान्यपरिवारा व्याधयो द्विविधाः पुरोगामिनोऽनुगामिनश्च। तेष्वाद्याः पूर्वरूपसंज्ञा उपद्रवास्त्वितरे। तान् यथायथमेव वक्ष्यमाणानुपलक्षयेत्। प्रधानप्रशमे प्रशमो भवति तेषाम्। अनुपशाम्यतो वा पश्चात्तानुपक्रमेत्। त्वरितं वा बलवन्तमुपद्रवं प्रधानाविरोधेन[4]। स हि पीडाकरतरो भवति

१. बहिर्भागा इति दुर्नामादीनां विशेषणमन्तर्भागनिवृत्त्यर्थमिति हेमाद्रिः। २. ग्रहः—स्तब्धत्वं सन्ध्यस्थित्रिकेष्वेवेति हेमाद्रिः।

३. क्रमादनुबन्धानुबन्धाख्याः। ४. प्रधानविरोधेन इति पाठान्तराणि।

व्याधिपरिक्लिष्टदेहत्वात्प्रमेहपिडिकादिवत् । तथान्यः प्रधान एव रोगोऽन्यस्य हेतुर्भवति यथा ज्वरो रक्तपित्तस्य, रक्तपित्तं वा ज्वरस्य । तौ श्वासस्य, प्लीहा जठरस्य । तच्छ्वयथोः । अर्शांसि गुल्मोदरातिसारग्रहणीनाम् । प्रतिश्यायः कासज्वरयोः । तौ क्षयस्य, क्षयः शोषस्य । एकश्चापचारो निमित्तमेकस्य व्याधेः, बहूनां च तथा बहवः । तद्वदेकं लिङ्गम् । एवमेव प्रशमेऽभ्युपायस्तथा स एवान्यस्य प्रकोपे । तस्मात्तानवहितः सम्यगागमादिभिः परीक्षेत ।

व्याधियों की स्वतन्त्रपरतन्त्रता—उक्त सब प्रकार की व्याधियें स्वतन्त्र और परतन्त्र होती हैं । इन्हीं को स्वप्रधान तथा अन्य परिवारवाली कहते हैं । ये ही क्रम से अननुबन्धि ( अनुबन्धरहित स्वतन्त्र ) और अनुबन्धवाली ( अनुबन्ध सहित परतन्त्र ) कहलाती हैं । इनमें की पहली स्वतन्त्र यथास्व ( जो जो ) ज्वर, अतिसार आदि व्याधियें होती हैं वे स्पष्ट आकृति ( लक्षण ), निदान और उपशयवाली होती हैं । इतर परतन्त्र व्याधियें इन लक्षणों से विपरीत लक्षण, उत्थान एवं उपशयवाली होती हैं । वातादि दोषों में भी इसी प्रकार स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य को जानना चाहिए । यहां अन्य परिवारवाली अनुबन्धाख्य परतन्त्र व्याधियों के दो प्रकार हैं, एक पुरोगामिनी और दूसरी अनुगामिनी । इनमें पहली की पूर्वरूप संज्ञा है और दूसरी की उपद्रव संज्ञा । इनमें से वात, पित्त या कफ से उत्पन्न जो जो व्याधि है उस २ व्याधि की आगे कही जानेवाली विधि के अनुसार परीक्षा एवं चिकित्सा करें । ध्यान रहे कि प्रधान का प्रशम ( उपाय ) प्रथम करे । इसलिए कि प्रधान के शमन होने से परिवार का शमन आप ही हो जाता है । यदि प्रधान की चिकित्सा करने पर भी परिवार का उपशम न हो, अर्थात् प्रधान की चिकित्सा करने पर भी परिवार में से कोई व्याधि शेष रह जाय तो पश्चात् उसकी भी चिकित्सा करके उसे शान्त कर दे । ध्यान रहे कि इनमें भी जो बलवान् उपद्रव हो उसकी चिकित्सा प्रधान का विरोध न करते हुए पहले करे क्योंकि वह उपद्रव व्याधि से नितान्त परिक्लिष्टदेह ( शरीर के थक जाने ) के कारण अधिक पीडाकारक होता है जैसे कि प्रमेह से भी पिडिका अधिक दुःखदायिनी होती है ।

रोग ही रोग का हेतु—प्रधान रोग या बलवान् उपद्रव का तुरन्त उपाय करना चाहिये क्योंकि देखा जाता है कि एक प्रधान रोग दूसरे प्रधान रोग का हेतु ( कारण ) हो जाता है अर्थात् एक प्रधान रोग दूसरे प्रधान रोग को पैदा कर देता है जैसे कि ज्वर से रक्तपित्त होता है अथवा रक्तपित्त से ज्वर । ज्वर और रक्तपित्त इन दोनों से श्वास की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार प्लीहा उदररोग का कारण बनती है अर्थात् प्लीहा से उदर रोग हो जाता है । यह उदररोग शोथ को करनेवाला होता है । अर्श से गुल्म, उदर, अतिसार तथा ग्रहणीरोग हो जाता है । ऐसे ही प्रतिश्याय ( जुकाम ) से खांसी और ज्वर हो जाते हैं । कास और ज्वर दोनों मिलकर क्षयरोग के करनेवाले होते हैं और क्षय से शोष की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार एक व्याधि दूसरी व्याधि का कारण होती है । सारांश, कहीं एक व्याधि बहुत सी व्याधियों का तथैव बहुत सी व्याधियें मिलकर किसी एक व्याधि का कारण बनती हैं । एक व्याधि का शमनकारक उपाय दूसरे के प्रकोप को भी शान्त करनेवाला होता है । इसलिए भली भांति सावधान होकर शास्त्रानुमोदित इन रोगों का परीक्षण करे ।

तत्रागमतो रोगमेवमेवं प्रकोपनमेवं योनिमेवमात्मानमेवमधिष्ठानमेवं वेदनमेवं [1]रूपशब्दगन्धरसस्पर्शमेवं पूर्वरूपमेवमुपद्रवमेवं वृद्धिस्थानक्षयान्वितमेवमुदर्कमेवं नामानम् । तस्मिन्नियं प्रतीकारस्य प्रवृत्तिरन्यथा निवृत्तिः । प्रत्यक्षतस्त्वातुरस्य यथास्वमिन्द्रियैर्वर्णसंस्थानप्रमाणोपचयच्छायाविण्मूत्रच्छर्दिताधिक्यमन्त्रकूजनमङ्गुल्यादिसन्धिस्फुटनं[2] देहशकृद्व्रणादिगन्धं सुप्तशीतोष्णस्तम्भ[3]संस्पन्दश्लक्ष्णखरस्पर्शं च । प्रकृतिविकृतिमुक्त[4]मास्यरसं तु प्रश्नेन तथा सुच्छर्दत्दुश्छर्दत्वं मृदुक्रूरकोष्ठतां स्वप्नदर्शनमभिप्रायं जन्मामयप्रवृत्तिनक्षत्रद्विष्टेष्टसुखदुःखानि च । तथा वयः प्रत्यक्षेण च । अनुमानतस्तु यूकापसर्पणेन शरीरस्य वैरस्यं[5], मक्षिकोपसर्पणेन माधुर्यं[6] तथाग्निं जरणशक्त्या, बलं व्यायामशक्त्या, गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयतो दोषप्रमाणमुपचार[7]विशेषेणायुषः क्षयं रिष्टैः । प्रकृतिसत्त्वसारसात्म्यबलान्यनुशीलनेनेति ।

वैद्य के लिये आवश्यक उपदेश—आयुर्वेद-शास्त्रानुसार वैद्य को भली भाँति इन सब बातों को देख लेना चाहिए कि इस प्रकार का यह रोग है, इस प्रकार से रोग का प्रकोप हो रहा है, वातादि दोषों द्वारा अमुक एक, दो या अनेक दोषों से यह रोग हुआ है, अमुक स्थान में यह रोग है, इस प्रकार की वेदना हो रही है, रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श इस प्रकार के हो रहे हैं, इस रोग का इस प्रकार पूर्वरूप और उपद्रव हुआ या होता है । इसकी वृद्धि, स्थिति एवं क्षय इस प्रकार दिखाई दे रहा है और इसका फल और नाम इस प्रकार से है, इस रोग की चिकित्सा में इस प्रकार प्रवृत्त होना चाहिए या नहीं इत्यादि बातों का भली भाँति विचार करके प्रत्यक्ष रोगी की इन्द्रियें, वर्ण, लक्षण, रोगप्रमाण, रोग की वृद्धि, रोगी की कान्ति, मल-मूत्र-वमनादि की अधिकता, इनका नेत्रों से अवलोकन कर, अंतड़ियों का बोलना, अङ्गुलि आदि सन्धिस्थानों का स्फुटन ( बोलना ), इनका कानों से सुनकर, देह-शकृत् ( पुरीष )-व्रण आदि की गन्ध को घ्राणेन्द्रिय ( नाक द्वारा ) अनुभव कर, चर्म में सुप्तता-शरीर या त्वचा की शीतलता, उष्णता, कठिनता, स्पन्दन ( फड़कना ), नरमी और खरस्पर्शता इनका स्पर्श द्वारा निश्चय करके, इतना ही नहीं, प्रकृतिविकृति ( सुख और दुःख ) कैसा क्या हो रहा

१. योनिमेवमधिष्ठानमेवमात्मानमेवं । २. मङ्गुल्यादिषु सन्धिषु स्फुटनं । ३. स्तम्भन । ४. मुक्त । ५. शरीरवैरस्यं । ६. शरीरमाधुर्यम् । ७. मपचार ।

है? भोजन की क्या व्यवस्था है? अन्न खाया जाता है कि नहीं? खाते हुए जिह्वा पर उसका स्वारस्य-वैरस्य आदि कैसा प्रतीत होता है? इनका निश्चय प्रश्न करके (पूछताछ करके) तथा श्वासोच्छ्वास का सुख से दुःख से आना, मृदु है या क्रूरकोष्ठ है, सोना-जागना आदि और इसी प्रकार इस व्याधि की प्रवृत्ति जन्म से ही तो नहीं है? ग्रहनक्षत्रादि से तो नहीं है? कौन कौन सी बातें रोगी को सुहाती हैं या नहीं सुहाती हैं? सुख-दुःख क्या हो रहा है? और इस समय रोगी का वय (अवस्था) क्या है? । इन सब का निश्चय प्रत्यक्ष से करना चाहिए। यूका (जुँओं) के मारे शरीर का वैरस्य (वासना-रसरक्तहीन होना) मक्खियों के बार-बार उपसर्पण (संमुख) आने से शरीर के माधुर्य (मिठास) को अनुमान से तथैव जठराग्नि को पाचन शक्ति से, बल को व्यायाम (चलने फिरने) से, छिपे हुए लक्षणोंवाली व्याधि को उपशय और अनुपशय से, दोष-प्रमाण (वातादि दोषों के प्रमाण) को उपचार विशेष से तथा आयु के क्षय का निश्चय रिष्ट (अरिष्ट-दर्शन) से एवं प्रकृति, मन, वीर्य, सात्म्य तथा बल का परीक्षण इनके अनुशीलन द्वारा करे।

भवन्ति चात्र—

ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति योगिवत् ।
आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति ॥
द्वाविमौ व्याधितौ व्याधिस्वरूपस्याप्रकाशकौ ।
तद्यथैको गुरुव्याधिः सत्त्वदेहबलाश्रयात् ॥
लघुव्याधिवदाभाति लघुव्याधिस्ततोऽन्यथा ।
बाह्यावयवमात्रेण तयोर्मुह्यति बालिशः ॥
ततोऽल्पमल्पवीर्यं वा विपरीतमतोऽथवा ।
पथ्यं विपर्यये युञ्जन् प्राणान्मुष्णाति रोगिणाम् ॥
ज्ञानांशेन न हि ज्ञानं कृत्स्ने ज्ञेये प्रवर्तते ।
बुभुत्सेत भिषक् तस्मात्तत्त्वं तन्त्रानुशीलनात् ॥
अभियुक्तस्तु सततं सर्वमालोच्य सर्वथा ।
न जातु स्खलति प्राज्ञो विषमेऽपि क्रियापथे ॥
आगन्तुरन्वेति निजं विकारं
निजस्तथागन्तुमतिप्रवृद्धम् ।
तत्रानुबन्धं प्रकृतिं च सम्यक्
ज्ञात्वा ततः कर्म समारभेत ॥

इति रोगभेदीयो द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

अध्यायोपसंहार—जो वैद्य ज्ञानबुद्धिरूप दीपक को लेकर योगिराज की तरह रोगी के अन्धकारमय अन्तरात्मा में प्रवेश नहीं करता वह रोगों की चिकित्सा नहीं कर सकता। ऐसे दो ही रोगी हैं जो बड़ी भूल करते हैं और अपनी व्याधि का पता नहीं लगने देते। इनमें से एक तो वह है जो व्याधि बड़ी रहते हुए भी अपने सत्त्व (मन), देह और बल के कारण उसको लघु (छोटी) समझता है। दूसरा वह है जो व्याधि लघु (थोड़ी) रहने से अपने को रोगी ही नहीं समझता, या पहले की तरह वह उपाय की चिन्ता नहीं करता। बालिश (अल्पज्ञ) वैद्य भी इन दोनों के बाह्याङ्ग मात्र को देखकर मोह को प्राप्त होता है। सारांश, आन्तरिक रोग का निर्णय वह वैद्य नहीं कर सकता। इसलिए उस गुरु व्याधिवाले को अल्प तथा अल्पवीर्य औषध देता है। विपरीत इसके लघु व्याधिवाले को अधिक तथा अधिक बलवान् औषध देता है। इतना ही नहीं, विपरीत पथ्य-योजना करके रोगियों के प्राणों का हरण करता है। संपूर्ण जानने योग्य विषय में ज्ञानांश (ज्ञान के अंश मात्र) से ज्ञान नहीं होता, इसलिए वैद्य को चाहिए कि वह तन्त्रानुशीलन (शास्त्र का अभ्यास या भली-भांति आयुर्वेद-तन्त्र) से असली तत्त्व को जानने की चिन्ता करे। विषमक्रियापथ में अर्थात् चिकित्सा की कठिनाई में पड़ा हुआ भी प्राज्ञ (विद्वान्) वैद्य सदैव अच्छी प्रकार से देखभाल करके चिकित्सा करने पर उसका स्खलन कदापि नहीं होता। भावार्थ यह कि उसका अपयश न होकर उसे यश की ही प्राप्ति होती है। आगन्तुक विकार वृद्धि को प्राप्त होकर निज (शारीरिक) विकार को आकर मिलता है। इसी प्रकार बढ़ा हुआ निज (शारीरिक) विकार भी आगन्तुक में आकर मिल जाता है, ऐसी अवस्था में वैद्य को चाहिये कि वह अनुबन्ध तथा प्रकृति को भलीभांति जानकर फिर कर्म (चिकित्सा) का आरम्भ करे।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिका-हिन्दीव्याख्यायां रोगभेदीयो नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

# अथ त्रयोविंशोऽध्यायः ।

अथातो भेषजावचारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

भेषजावचारणीय अध्याय—रोगभेदीय अध्याय के अनन्तर जब क्रमप्राप्त अर्थात् रोगों को भेदरूपेण जानकर चिकित्सा में प्रवृत्त होना पड़ता है और वह चिकित्सा भेषज (औषध) के अधीन है अतः आचार्य इस अध्याय का आरम्भ करते हुए कहते हैं कि अब हम जिसमें औषधावचारण (ओषधियों के सेवन) का वर्णन है, उस भेषजावचारणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया।

भेषजमवचारयन् प्रागेव तावदातुरं परीक्षेत। कस्मिन्नयं देशे जातः संवृद्धो व्याधितो वा। तस्मिंश्च देशे मनुष्याणामिदमाहारजातमिदं विहारजातमेतावद्बलमेवंविधं सत्त्वमेवंविधं सात्म्यमियं भक्तिरिमे व्याधयो हितमिदमहितमिदमिति। प्रायोग्रहणेन केन वा निदानविशेषेणास्य कुपितो दोषो दोषस्य ह्येकस्यापि बहवः प्रकोपे हेतवः। तस्माद्यथास्वलक्षणैः कर्मभिश्च बुद्ध्यापि दोषमेवमवगमयेत्। तद्यथा-किमाहारेण कुपितो वायुः किं विहारेण तथा रूक्षेण लघुना शिशिरेण वा साहसेन वेगरोधेन वा भयेन शोकेन वेति। ततश्च तत्प्रतिपक्ष-

मेवौषधं प्रयुज्यमानमाशु सिद्धये संपद्यते । तत्र मधुराम्ललवणा रसाः कटुतिक्तकषायाश्चेतरेतरप्रतिपक्षाः । तदनन्तरं चोपलभेत मृदुमध्यातिमात्रविकल्पनया कथं निदानमासेवितम् । एकरूपस्यापि हि हेतोर्मृद्वादिविभागेन पृथक्समवेतानां च दोषाणामंशांशबलविकल्पविशेषाद्व्याधेर्बलाबलविशेषः । तत्रानेकदोषात्मकेषु व्याधिष्वनेकरसेषु च भेषजेषु रसदोषप्रभावमेकैकशोऽभिसमीक्ष्य व्याधिभेषजप्रभावतत्त्वं व्यवस्येत । नत्वेवं सर्वत्र ।

भेषजावचारणविधि—भेषज ( औषध ) प्रयोग के प्रसङ्ग में प्रथम रोगी का परीक्षण इस प्रकार से करे कि वह रोगी किस देश का जन्मा हुआ है आदि प्रथम देखे क्योंकि इस प्रकार न देखने से आहारादि के विषय में अनवस्था-प्रसंग प्राप्त होगा इसलिए प्रथम यह परीक्षण करे कि रोगी का जन्म किस देश में हुआ है । इतना ही नहीं, कहां पैदा हुआ, कहां पला और कहां रोगी हुआ । उस देश में यह आहार है, यह विहार है, इतना बल है, इस प्रकार का सत्त्व, सात्म्य और भक्ति ( सतत किसी पदार्थ का सेवन-प्रायः पदार्थों में प्रीति ) है, उस देश में प्रायः कौन कौनसी व्याधियें होती हैं, वहां कौनसे पदार्थ आहार-विहारादि हितकारी हैं तथा कौन कौन से अहितकारी हैं । इन सब बातों का विचार करे । यह भी देखे कि इस रोगी का कौनसा दोष किस कारण से कुपित हुआ है, इसलिए कि एक दोष के कोप में बहुत से कारण होते हैं । जो दोष कुपित हुआ हो उसके लक्षणों एवं कार्यों को बुद्धि से पहचानना चाहिए। जैसे कि वायु कुपित हुआ है तो किस आहार-विहार से अर्थात् रूक्ष से, लघु से, शीत से अथवा साहस से, वेग के अवरोध से, भय से या शोक से इनमें से किस हेतु से वायु कुपित हुआ है, यह देखना चाहिए । इसी प्रकार पित्त और कफदोष के कोप के हेतुओं का भी विचार करना चाहिये । इसके अनन्तर उन उन हेतुव्याधिविपरीत ओषधियों के प्रयोग करनेसे वे सिद्धिकी देनेवाली होती हैं । उदाहरणार्थ जैसे कि रूक्षका स्निग्ध, लघुका गुरु तथा शीतका उष्ण पदार्थ प्रतिपक्षी है । इसी प्रकार सर्वत्र कल्पना करनी चाहिए । प्रतिपक्षवाली ओषधियोंकी कल्पना रसभेदसे करनी चाहिए यथा-मधुर-अम्ल-लवण तथा कटु-तिक्त-कषाय ये यथासंख्य परस्पर प्रतिपक्षी हैं जैसे कि मधुरका अम्ल, अम्लका लवण प्रतिपक्षी है इसी प्रकार कट्वादि भी । इसके अनन्तर जिससे व्याधि हुई है उस निदानका सेवन मृदु, मध्य या अधिक मात्रा में किस प्रकार किया गया है यह देखना चाहिए जैसे कि मृदु या स्वल्पमात्रामें निदान-सेवनसे व्याधि भी मृदु या स्वल्पशक्तिवाली होती है इसी प्रकार मध्यप्रमाण में निदानके सेवनसे मध्य तथा अधिक मात्राके निदानसेवनसे व्याधि भी अधिक प्रमाणवाली होती है । किसी एक व्याधिके भी मृदु आदि मात्राभेदसे वातादि पृथक् या मिले हुए दोषोंके अंशांश-बलविकल्प-विशेष से व्याधिके बलाबल-विशेष को जानना चाहिए । पहले कहा गया है कि सब व्याधियें वातादि तीन दोषों को छोड़कर नहीं होती हैं अर्थात् समस्त रोग अनेक दोषात्मक हैं, तदनुसार उनको शमन करनेवाली ओषधियें भी सर्वरसात्मक हैं । इसलिए व्याधिके बल और उसको शमन करनेवाली ओषधिके बलको देखकर सब कार्य करना चाहिए। सारांश, किस रसका कितनी मात्रामें सेवन, व्याधिके इतनी मात्रावाले दोष का शमन कर सकेगा यह विचार करते हुए प्रत्येक ओषधद्रव्यके रस, दोष एवं प्रभावको पृथक् पृथक् भली भांति देखकर रोग तथा उसकी ओषधि इन दोनोंके प्रभावतत्त्वको जानना चाहिए । यही नियम सर्वत्र काम नहीं पड़ता इस लिए कहते हैं कि—

न हि विषमविकृतिसमवेतानां नानात्मकानां परस्परेणोपगृहीतानामुपहतानां चान्यैश्च विकल्पनैर्विकल्पितानामवयवप्रभावानुमानेन समुदायप्रभावतत्त्वमध्यवसितुं शक्यम् । तथाविधे हि समुदये समुदयप्रभावमेवोपलभ्य व्याध्यौषधप्रभावतत्त्वमवगच्छेत् । तथा कस्य धामाधिष्ठाय व्याधिरयमवस्थित इति निरूपयेत् । प्रविसृतो हि दोषः स्वमेव स्थानमातङ्काद्याधितिष्ठन् मूर्धादीन्वा दुस्तरो भवति । ततश्च स्थानविशेषेण भेषजविशेषः पर्येषितव्यः ।

समवेत दोषों की दुर्ज्ञेयता—विषमता के कारण विकार को प्राप्त हुए, नानात्मक, मिले हुए परस्परोपगृहीत ( परस्पर मिलकर एक दूसरे से मिलनेवाले ), परस्परोपहत ( परस्पर मिलकर विकृति पैदा करनेवाले ) और अन्य देश, काल आदि की कल्पनानुसार विकल्पित दोषों के केवल स्वरूप ( अवयव ) और प्रभाव के अनुमान करने से समुदायप्रभावतत्त्व ( सबके सामुदायिक प्रभावके तत्त्व ) को जान लेना अशक्य है । इसलिए दोषों के समुदायरूपेण एक साथ मिलने पर, द्रव्य संयोग-संस्कार-देश-काल आदि वशात् विकृति को दूर करनेवाला होता है,इस बात को सामने रखते हुए समुदाय प्रभाव को लेकर ही व्याधि के औषध-प्रभावतत्त्व को जानना चाहिए और यह निरूपण करना चाहिए कि यह व्याधि किस दोष के स्थान में स्थिति करके उपस्थित हुई है । देखा जाता है कि कभी कभी बढ़ा हुआ दोष अपने ही स्थान में स्थित होकर दुःसाध्य होता है और कभी सिर आदि अन्य स्थानों में स्थित होकर दुस्तर होता है । इसलिए दोष के स्थान-विशेष को लेकर ओषधि-विशेष की योजना करनी चाहिए क्योंकि स्थान-विशेष की अपेक्षा ओषधि अधिक विशिष्टता रखती है । स्थान-विशेष में जो ओषधि हितकारी नहीं होती वह अन्य स्थान में फलदा होती है । एतदर्थ ओषधि का विचार विशेषतया करना चाहिए । आगे यही कहते हैं कि—

ततश्चैवमालोचयेत् । कस्यायमौषधस्य व्याधिरातुरो वा योग्यः कियतो वा दोषानुरूपो हि भैषज्यवीर्यप्रमाणविकल्पो व्याधिव्याधितबलापेक्षो भवति ।

रोगी, रोग और ओषधि का विचार—दोष और ओषधि की साम्यावस्था में यह सोचना चाहिए कि यह रोग और रोगी किस ओषधिके योग्य है, ओषधिका प्रमाण कितना रहना चाहिए क्योंकि ओषध के बल एवं वीर्य की कल्पना रोग और रोगी इन दोनों के बल की अपेक्षा करती है । अतः ओषधि के वीर्य एवं बल का विचार करके तथा इसी प्रकार रोगी के भी बलाबल

का विचार करना चाहिए क्योंकि ओषधि की शक्ति तथा मात्रा का विचार न करते हुए, चाहे जहां ओषध प्रयोग करने से दोषानुरूप औषध होते हुए भी वह अनर्थकारी होगा। अब इसी का विशेष स्पष्टीकरण करते हैं।

सहसातिबलानि संशोधनौषधान्याग्नेयवायव्यान्यतिसौम्यान्यतिमात्राणि वा तथैवाग्निक्षारशस्त्रकर्माण्यल्पसत्त्वमातुरमल्पबलं वातिपातयेयुः। संशमनानि तु व्याधिबलादधिकानि तमुपशमय्य व्याधिं व्याधिक्षपितदेहे शीघ्रमन्यमावहन्ति। शरीरबलाधिकानि ग्लानिमूर्च्छामदमोहबलक्षयान्। अग्निबलादधिकानि ग्लानिमग्निसादं च।

सहसा औषध का निषेध—ओषधियें दो प्रकार की हैं, एक संशोधन और दूसरी संशमन। संशोधन-ओषधियों के भी दो प्रकार हैं असौम्य और सौम्य। यहां असौम्य संशोधन-ओषधियें वे हैं जो आग्नेय और वायव्य हैं अर्थात् अग्नि और वायुतत्त्व-प्रधान हैं और सौम्य-आप्य, नाभस और पार्थिव हैं अर्थात् जल, आकाश तथा पृथ्वीतत्त्ववाली हैं। ये आग्नेय-वायव्य असौम्य संशोधन-ओषधियें सहसा अति-मात्रा में दी जाने से तथैव अग्निकर्म, क्षारकर्म और शस्त्रकर्म भी सहसा अति-मात्रा में प्रयुक्त होने से ये अल्पसत्त्व ( मन से डरपोक ) तथा अल्प बलवाले रोगी को मारनेवाले होते हैं। संशमन ओषधियें भी तीन प्रकार से अति बलवाली होती हैं जैसे कि व्याधिबलाधिक, शरीरबलाधिक तथा अग्निबलाधिक। इन ( संशमन ) ओषधियों का भी सहसा प्रयोग करना ठीक नहीं होता क्योंकि प्रयोग की हुई संशमनौषधि यदि व्याधि के बल से अधिक बलवाली होती है तो वह उस व्याधि को शमन कर देती है परन्तु व्याधि से थके हुए शरीर में शीघ्र ही अन्य किसी व्याधि को कर देती है। यदि संशमनौषधि शरीर के बल से अधिक बलवाली होती है तो वह ग्लानि, मूर्च्छा, मद, मोह ( बेहोशी ) और बलक्षय को करती है। इसी प्रकार संशमनौषधि यदि जठराग्नि के बल से अधिक बलवाली होती है तो बहुत जल्दी शरीर में ग्लानि और अग्निमान्द्य को कर देती है।

अपि च। अतिस्थूलोऽतिकृशो दुर्बलो दुर्बद्धमांसशोणितास्थ्यङ्गावयवोऽल्पाग्निरल्पाहारोऽसात्म्याहारोऽपचितस्सारहितो वा, व्याधिबलमेव तावदसमर्थः सोढुम्। किं पुनस्तथाविधो भेषजमेवं वेगम्। तस्मात्तादृशमविषादकरैर्मृदुसुखैरुत्तरोत्तरगुरुभिरविभ्रमैश्चोपाचरेदौषधैर्विशेषादबलाः। ता ह्यनवस्थितमृदुविक्लवहृदयाः प्रायः सुकुमाराः परायत्ताश्च। ततोऽपि विशेषेण शिशवः। तथा बलवति व्याध्यातुरेऽल्पबलमल्पं वा भेषजमकिञ्चित्करं भूय एव दोषमुत्क्लेश्य व्याधिमुदीरयेत्।

अतिस्थूलादि में औषधयोजना—इसलिए जो अतिस्थूल, अतिकृश, अतिदुर्बल, दुर्बद्धमांसशोणितास्थ्यङ्गावयव अर्थात् जिसका मांस, रक्त, अस्थि और शरीर के अवयवों की रचना अस्थिर अर्थात् मजबूत न हो जिसके मांस, रक्त अस्थि आदि दुर्बद्ध[1] भली भांति बँधे हुए न हों, जो अल्पाग्नि ( अग्निमान्द्ययुक्त ), अल्प आहार करनेवाला, असात्म्याहार ( अहित-अपथ्य-भोजी ), थका हुआ तथा अदृढ़ हो, ऐसा रोगी रोग के बलको सहन नहीं कर सकता। इसी प्रकार रोग के नाश करनेवाले औषध एवं उसके वेग को भी सह नहीं सकता इसलिए ऐसे रोगियों को ( अति स्थौल्यादियुक्त रोगियों को ) प्रथम अविषादकर ( सेवन करते समय किसी प्रकार का कष्ट न देनेवाली और मृदु ओषधियों का सेवन करावे और फिर उत्तरोत्तर गुरुतीक्ष्णादि, अविभ्रम ( दोषों का क्षोभ न होने दे ऐसी ) ओषधियों से उपचार करे। स्त्रियों की चिकित्सा में तो इस बात का विशेष ध्यान रहे क्योंकि वे ( स्त्रियां ) अनवस्थित, मृदु और दुर्बल हृदयवाली, प्रायः सुकुमार और परतन्त्र रहनेवाली होती हैं और इनसे भी अधिक मृदु-हृदय एवं सुकुमार बालक हैं अतः इनका भी उपचार मृदु ओषधियों द्वारा करे। तथा बलवान् रोगी के लिए, उसकी बलवान् व्याधि की अवस्था में अल्पबल या अल्पमात्रा में दिया हुआ औषध कुछ भी लाभ नहीं कर सकता, पुनरपि दोष को उभाड़ कर व्याधि को करनेवाला होता है।

योग्यमपि चौषधमेवं परीक्षेत—इदमेवं रसवीर्यविपाकमेवं गुणमेवं द्रव्यमेवं कर्मैवंप्रभावमस्मिन्देशे जातमस्मिनृतावेवं गृहीतमेवं निहितमेवं विहितमेवं निषिद्धमेवमुपसंस्कृतमेवं संयुक्तमेवं युक्तमनया मात्रयैवं विधस्य पुरुषस्यैवं विधे काल एतावन्तं दोषमपकर्षत्युपशमयति वा। अन्यदपि चैवंविधं भेषजमभूत्। तथा तेनानेन वा विशेषेण प्रयुक्तमिदमकरोत्। सूक्ष्माणि हि दोषौषधदूष्यदेशकालबलानलाहारसारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि यान्यनालोचितानि निहन्युरातुरम्। आलोच्यमानानि तु विपुलबुद्धिमपि चिकित्सकमाकुलीकुर्युः किंपुनरल्पबुद्धिम्। तस्मादभीक्ष्णशः शास्त्रार्थकर्मानुशीलनेन संस्कुर्वीत प्रज्ञाम्। अपि च—सन्ति व्याधयो ये शास्त्र उत्सर्गापवादैरुपक्रमं प्रति निर्दिष्टाः तत्र प्राज्ञ एव दोषादिगुरुलाघवेन सम्यगध्यवस्येदन्यतरनिष्ठायाम्।

योग्य ओषधि की भी परीक्षा आवश्यक—योग्य ओषध की भी परीक्षा इस प्रकार से करे कि यह औषधि इस रस, वीर्य एवं विपाकवाली है, यह अमुक द्रव्य है, इसके अमुक गुण, कर्म और प्रभाव हैं, इस देश की उत्पन्न हुई है, इस ऋतु में इस प्रकार ग्रहण की गई, इस प्रकार से रक्खी गई, यह इस प्रकार से विहित है और इस प्रकार से निषिद्ध है, यह इस तरह उपसंस्कृत की गई है, अमुक द्रव्य से संयुक्त है, यह इतनी मात्रा से इस प्रकार के पुरुषको इस प्रकार के काल में इतने प्रमाणवाले दोषका अपकर्षण करती है या शमन करती है। और भी इस प्रकार की अमुक ओषधि थी और उसने

१. परं संस्तम्याश्चेति पाठभेदः।

१. दुर्बद्धान्यस्थिरप्रचयानि मांसादीनि २. विभ्रमो दोषादीनां क्षोभ इतीन्दुः। ३. तन्मानेन। ४. प्रज्ञयैव।

अमुक प्रमाण में अमुक रीति से प्रयुक्त करने पर यह ( कार्य ) किया था। इन सब बातों का विचार इस लिए किया जावे कि दोष ( वातादि ), दूष्य ( रस-रक्तादि ), देश ( अनूप-मिश्र-जाङ्गल ), काल ( शीत-वर्षा-उष्ण ), बल, अग्नि, आहार, सार, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति और वय इन सबकी भिन्न भिन्न अवस्था बड़ी सूक्ष्म ( विचार्य ) हैं। इनकी समुचित देखभाल न होने से रोगी को मार देती हैं। इन सबकी आलोचना की जाय ( इनकी भिन्न भिन्न अवस्थाओं का विचार किया जाय ) तो ये बड़े बुद्धिमान् चिकित्सक ( वैद्य ) को भी आकुल-व्याकुल कर देती है, अल्पबुद्धिवाले की तो बात ही क्या है अर्थात् वह इनके विषय में विचार ही क्या कर सकता है जब कि बड़े बड़े विद्वानों की बुद्धि भी चक्कर खाने लगती है। इस लिए वैद्य को चाहिये कि वह सदैव शास्त्रार्थ-कर्म का अनुशीलन ( अभ्यास ) करके अपनी प्रज्ञा ( बुद्धि ) को संस्कृत ( अच्छे संस्कारों से परिष्कृत एवं प्रखर ) करता रहे। बहुत से रोग हैं जिनकी चिकित्सा के लिए शास्त्र में उत्सर्ग और अपवादरूप से निर्देश किया गया है। वैसी अवस्था में प्राज्ञ ही को चाहिए कि वह दोषों की गुरुता एवं लघुता के अनुसार उन रोगों की चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध करे।

कालश्च भेषजस्य योग्यतामादधाति। स तु क्षण-लवमुहूर्त्तादिभेदेनातुरावस्थया च द्विविधोक्तः प्राक्। अपि च। शीतोष्णवर्षलक्षणस्त्रिविधः कालः। तत्र शीतोष्णयोर्वृष्टिशीतयोश्चान्तरेण साधारणौ वसन्तजलदात्ययौ। ग्रीष्मवर्षकालयोस्तु प्रारम्भो वृष्टेः प्रावृडिति विकल्प्यते। प्राक् तत्र शीतोष्णवर्षलक्षणा ऋतवस्त्रयो हेमन्तग्रीष्मवर्षाख्यास्तेषामन्तरे संशोधनार्थं साधारणा वसन्तप्रावृट्शरदाख्यास्त्रयो विकल्प्यन्ते। तत्र संशोधनं प्रति फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः। आषाढश्रावणौ प्रावृट्। कार्तिकमार्गशीर्षौ शरत्। तेषु साधारणेष्वहस्सु वमनादीनां प्रवृत्तिर्निवृत्तिरितरेष्वयोगातियोगभयात्। साधारणा हि मन्दशीतोष्णवर्षतया सुखत्वाद्भवन्त्यविकल्पकाः शरीरौषधानां विपरीतास्त्वितरे।

काल ओषधियों में योग्यतापादक—केवल व्याधि, रोगी और बल में ही नहीं, अपितु काल ओषधियों में भी योग्यता प्रदान करता है अर्थात् यथाकाल ओषधियों में गुणाधान हुआ करता है। वह काल क्षण, लव, मुहूर्त्तादि-भेद से तथा रोगी की अवस्था के भेद से दो प्रकार का पहले वर्णन किया जा चुका है किन्तु पुनः वह काल शीत, उष्ण और वर्षाभेद से तीन प्रकार का होता है जिसको हम शीतकाल, उष्णकाल तथा वर्षाकाल नाम से सब जानते हैं। शीतकाल और उष्णकाल इसी प्रकार वर्षाकाल और शीतकाल इनके बीच में क्रम से वसन्त और शरद् ये साधारण ऋतु कहाती हैं अर्थात् शीतकाल और उष्णकाल के बीच में वसन्त तथा वर्षा और शीतकाल के बीच में शरद् साधारण ऋतु हैं। ग्रीष्म और वर्षा के बीच में जो वर्षाकाल का प्रारम्भकाल होता है उसे प्रावृट् कहते हैं यह भी वसन्त-शरद् की तरह साधारण ऋतु माना गया है। इस प्रकार पहले जो शीत, उष्ण तथा वर्षा के लक्षणवाली हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु बताई गई हैं, उनके ही बीच की वसन्त, प्रावृट् और शरद् ये साधारण ऋतु दोषों के संशोधनार्थ अच्छी मानी गई हैं। सारांश, संशोधन के लिए फाल्गुन और चैत्रमास वसन्त, आषाढ और श्रावण प्रावृट् तथा कार्तिक-मार्गशीर्ष महीने जिसमें हैं वह शरद् ऋतु मानी गई है। इन बताई हुई साधारण ऋतुओं ( वसन्त, प्रावृट् और शरद् ) के दिनों में वमनादि संशोधन करने चाहिए इनके अतिरिक्त अन्य ऋतुओं के दिनों में वमन, विरेचनादि नहीं करने चाहिए। इस लिए कि वसन्त, प्रावृट् एवं शरद् को छोड़ कर अन्य ऋतुओं के दिनों में वमन-विरेचनादि देने से अयोग या अतियोग का भय रहता है। सारांश, वर्जित ऋतुओं में वमनादि कर्म करने से या तो वमनादि की ठीक प्रवृत्ति होती ही नहीं, यदि होती है तो उसका अतियोग हो जाता है अर्थात् वमन-विरेचन अत्यधिक होता है। तात्पर्य यह कि उष्णता, शीतता तथा वर्षा के मन्द होने से साधारण ऋतु जो बताई गई है वही शरीर और औषधि के लिए ठीक सुखकारी होती है। विपरीत इसके अन्य ऋतु दुःख देनेवाली होती हैं।

तथा हि। शीतकालेऽतिमात्रशीतोपहतत्वाच्छरीरमत्यर्थशीतवात[1]विष्टब्धबद्धगुरुदोषं भवति। तदनुप्राप्तं च भेषजं संशोधनार्थमुष्णस्वभावमपि शीतोपहतत्वान्मन्दवीर्यतां गतमयोगाय जायते। [2]शरीरं च वातप्रायोपद्रवाय।

तद्वद्वर्षास्वपि समन्तादतिघनेन [3]घनसंघातेनावनते नभस्युपरुद्धतेजःप्रकरेषु दिनकरकरेषु [4]जलदपटलप्लावनोद्दामकर्दमायां भूमावत्यर्थोपक्लिन्नमवसन्नानलस[5]मलमुद्रिक्तमलबलमादानदुर्बलं शरीरं भवति। औषधग्रामस्तु जलदोदरप्रततप्रमुक्तधारावपातसंभृताम्बुनिवहोपप्लावितमूलजालसारविटपो बहलकोमलपल्लवोपचितस्कन्धशाखः पुनरिव बालतामुपगतोऽल्पवीर्यो भवति। अपरिसंस्थिततया च क्षितिमलप्रायाभिरम्लविपाकाभिः खगमृगसरीसृपादिशवधातुमूत्रपुरीषसंस्पृष्टाभिरद्भिः [6]सलिलसीकरानुविद्धशिशिरपवनसंपृक्तेन च [7]धराधरोष्मणा कोमलत्वादपरिणतस्यास्य सुतरां विदाहो जन्यते। ततश्चासावपथ्यतामुपगतो ध्रुवमयोगाय। प्रथमसंगृहीतमपि चौषधं तोयदतोयानुगतमारुतोपहते जगतीति।

ग्रीष्मे पुनरादानोपहतत्वाच्छरीरमुष्णरूक्षवाताताध्मातमतिस्विन्नमतिशिथिलमतिप्रविलीनदोषं भवति। भेषजं पुनरनुष्णमपि [8]तपनतरतपनकरनिपाता-

१. कंसान्तर्गतोऽयं पाठो नास्तीन्दुटीकापुस्तके।

१. विष्टब्धमतिस्तब्धबहुगुरुदोषं २. शिशिरं ३. बहलघनसंघातेनावतते ४. जलपटलोत्प्लावनो ५. बलमादानदुर्बलं ६. सलिलशिशिरशीकरानुविद्ध ७. धाराधरोष्मणा ८. तपनकरनिपाता

दुष्णवीर्यतीक्ष्णतामुपगतमतियोगायोपकल्पते। शरीरं च पिपासाश्रमक्लमोपद्रवाय। तस्मात्साधारणेष्वेव तदन्तरालेषु वमनादीनि योजयेत्। न चेदात्ययिको व्याधिः।

शीतवर्षोष्णकाल में संशोधन निषेध—शीतकाल में अत्यधिक शीत के मारे शरीर अतिशीत, वायु से स्तम्भित (जकड़ा हुआ), अतिबद्ध (प्रलिप्तमार्ग-अति बंधा हुआ), बढ़े हुए वातादि दोषोंवाला हो,जाता है। इतना ही नहीं, इसके बाद संशोधनार्थ मिलनेवाली ओषधि उष्णस्वभाववाली होकर भी शीत से उपहत (शीत के मारे) मन्द-बल होकर अयोगवाली होती है अर्थात् वह प्रयोग करने पर कुछ भी काम नहीं देती, अपितु हीनयोगवाली हो जाती है। इसके अतिरिक्त शरीर (शिशिर) भी प्रायः वायु के उपद्रव के लिए ही होता है।

इसी प्रकार वर्षा में भी चारों ओर गहरे मेघों (बादलों) के समूह से अवनत (आच्छादित) आकाश में अत्यन्त तेज सूर्य की किरणों के अवरुद्ध हो जाने से अर्थात् छिप जाने से तथा मेघों के समूह द्वारा जल वर्षा के कारण पृथ्वी के जलमयी एवं अत्यन्त कीचड़ (कर्दम) वाली होने से तथा आदानकाल के कारण शरीर अत्यन्त भीगा हुआ सा, मन्दाग्निवाला, वातादि दोषों से दूषित तथा निर्बल हो जाता है। सब प्रकार की ओषधियें भी मेघों के बढ़े हुए जल की धाराओं के पड़ने से चारों ओर जल के भर जाने से नितान्त क्लिन्न हो गया है मूल जालसार (जड़ों या मूलों के समूह का सार या बल जिसका) ऐसे वृक्षोंवाली, इतना ही नहीं, अत्यन्त घने गहरे कोमल पत्रों से छाए हुए हैं स्कन्ध और शाखें जिसकी इस प्रकार पुनरपि बालत्व प्राप्त होने के समान होकर वह (ओषधि-वृक्ष-समूह) अल्पवीर्य होता है। इस प्रकार ओषधियों के स्थिर स्वरूप ग्रहण न कर सकने के कारण एवं प्रायः पृथ्वी के मल को लिए हुए अम्लविपाकी जल के तथैव पत्ती, पशु, सर्प, विच्छू आदि (सरीसृप), शव, धातु (लौहादिवीर्य), मूत्र और पुरीष (विष्ठा) से स्पर्श किए हुए जल के संपर्क से, जल की बौछार से अनुविद्ध, ठण्डे पवन से युक्त, पर्वतों की उष्णता के मारे, कोमलता के कारण औषधगत रस-वीर्यादि में परिणत न होने से, औषधग्राम (औषध-समूह) में विदाह पैदा होता है। इस लिए वह अपथ्यता (अहितकारिता) को प्राप्त होकर निश्चय ही अयोगाय अर्थात् उपयुक्त योग के लिए ठीक नहीं रहता। इसके अतिरिक्त संसार में पहले से संग्रह कर रखी हुई ओषधि भी मेघ के जल के अनुगामी वायु से उपहत (नष्ट) हो जाने से प्रयोग करने के योग्य न रहकर अयोगाय (हानि के लिए) ही होती है।

ऐसे ही ग्रीष्म (उष्णकाल) में भी आदानकाल से उपहत होने के कारण शरीर उष्ण, रूक्ष, वायु और आतप से आध्मात अर्थात् दग्ध, अतिस्विन्न (अति पसीने से तर), अति शिथिल तथा अति वातादि दोषों करके प्रलीन (युक्त) होता है। औषध उष्ण न रहते हुए भी अत्यन्त तपनेवाले तपन (सूर्य) की किरणों के पड़ने से उष्णवीर्यता एवं तीक्ष्णता को प्राप्त होकर अतियोग के लिए हो जाता है अर्थात् संशोधनार्थ उसका प्रयोग करने से वमन-विरेचनादि में उससे अतियोग की व्यापत्ति उपस्थित हो जाती है। शरीर भी प्यास, श्रम और ग्लानियुक्त उपद्रवोंवाला होता है। इस लिए विशेष बढ़ी हुई व्याधि न हो तो साधारण ऋतुओं के बीच के दिनों में ही वमन-विरेचनादि के लिए योजना करनी चाहिए। आत्ययिक व्याधि हो तो—

आत्ययिके तु कृत्रिमगुणोपधानेन यथर्तुगुणविपरीतेन संयोगसंस्कारप्रमाणविकल्पैश्चोपपाद्यौषधमेवाबहितोऽवचारयेत्।

अनुक्तकाल में भी संशोधन आवश्यक—रोग का बल बढ़ा हुआ हो तो उक्त ऋतुओं के अतिरिक्त ऋतुओं में भी संशोधन कर डालना चाहिए किन्तु उस व्याधिकाल की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। वैद्य को चाहिए कि वह दोष जिस ऋतु में बढ़ा है, यद्यपि वह ऋतु उस दोष के संशोधन का नहीं है तथापि सावधानतया पूर्वोक्त संशोधनार्थ जो ऋतु वात, पित्त और कफ के लिए कही गई है, उसी ऋतु का कृत्रिम गुणोपधान यथा हेमन्त में गर्भगृहादि तथा ग्रीष्म में धारागृहादि करके और उस ऋतु के विपरीत गुणवाले पदार्थों का सेवन कराकर उसका प्रतीकार करे और इसके अनन्तर ओषधियों के परस्पर संयोग, संस्कार, मात्रा आदि की कल्पना करके संशोधन के लिए औषध का सेवन करावे।

आतुरावस्थासु तु कालाकालसंज्ञा[1]। तद्यथा—अस्यामवस्थायामस्यौषधस्य कालोऽकालो वा। न ह्यप्राप्तातीतकालमौषधं यौगिकं भवति, तस्य त्वेकादशधावचारणम्। तद्यथा—अभक्तं प्राग्भक्तं मध्यभक्तमधोभक्तं समभक्तमनन्तरभक्तं सामुद्गं मुहुर्मुहुः सग्रासं ग्रासान्तरं निशि च।

औषधग्रहण में कालाकाल—औषध के दो प्रकार हैं एक शोधन और दूसरा शमन। शोधन औषध के काल को कह चुके हैं। अब क्रमप्राप्त शमन औषध के सेवन का काल बताते हैं। रोगी की अवस्थाओं में काल और अकाल ऐसी दो अवस्थाएं होती हैं जैसे क इस अवस्था में इस औषध के लिए यह काल (उपयुक्त समय) है या अकाल (अनुपयुक्त समय) है। जैसे कि ज्वर की साम अवस्था में लङ्घन, पेया आदि। निरामावस्था में क्वाथ आदि तथा ज्वर की जीर्णावस्था में दुग्धपानादि। सारांश, निरामावस्था के क्वाथ के लिए ज्वर की सामावस्था अकाल है और ज्वर की निराम-अवस्था भी लङ्घन पेयादि के लिए अकाल है तथा ज्वर की साम-निराम अवस्था क्रमशः लङ्घन, पेया एवं क्वाथ के लिए काल हैं। इस प्रकार काल और अकाल ये दोनों ओषधि की योग्यता के दर्शक हैं। इस लिए कि समय पर न मिलनेवाली अथवा काल के व्यतीत हो जाने पर मिलनेवाली ओषधि यौगिक किंवा उपयुक्त नहीं होती अर्थात् व्याधि के साथ

१. उष्ण तीक्ष्णता।

[1] कलाः कालसंज्ञा।

उसका योग नहीं होता और बिना योग के व्याधि का शमन नहीं होता। औषध का व्याधि के साथ योग हो, इसी लिए उस औषध का सेवन ग्यारह प्रकारों या कालों (समयों) में बताया गया है जैसे कि (१) अभक्त, (२) प्राग्भक्त (३) मध्यभक्त (४) अधोभक्त (५) समभक्त (६) अन्तरभक्त (७) सामुद्ग (८) बारबार (९) सग्रास (१०) ग्रासान्तर और (११) रात्रि में। अब इन सबका स्पष्टीकरण करते हैं।

तत्राभक्तं नाम केवलमेवौषधम्। तन्निरन्नोपयोगादतिवीर्यम्। कफोद्रेके विमुक्तामाशयस्रोताः प्रातर्बलवानुपयुञ्जीत। इतरस्तु प्राग्भक्तादिकम्। अन्नसंसर्गेण हि तन्नातिग्लानिकरं भवति।

अभक्त औषध—उस औषध का नाम अभक्त है जो प्रातः काल में एक प्रहर दिन चढ़े तब तक बलवान् रोगी और रोग की अवस्था में केवल (अन्नरहित) दिया जाता है। अन्न का संसर्ग न होने से यह औषध अतिवीर्य (अति बलवान्) होता है। भावार्थ यह है कि यह औषध गतरात्रि के किए हुए भोजन की अजीर्णावस्था में प्रातःकाल में दिया जाता है। इस ओषधि के योग[1] से प्रथमाजीर्ण के जीर्ण होने पर फिर भोजन किया जाता है। कफ के बढ़ने से जिसके आमाशय के स्रोत खुले हो जाते हैं उस बलवान् के लिए ही इस निरन्न (अन्नरहित) केवल अतिवीर्य औषध की योजना करनी चाहिए। जो निर्बल हैं उन्हें प्राग्भक्तादि अन्नसंसर्गी औषधों की योजना करनी चाहिए। इस लिए कि अन्न के संसर्ग से ये प्राग्भक्तादि दस औषध अति ग्लानिकारक नहीं होते।

प्राग्भक्तं नाम यदनन्तरभक्तम्[2]। तदपानानिलविकृतावधःकायस्य च बलाधानार्थं तद्गतेपु च व्याधिषु प्रशमनाय कृशीकरणं योऽयम्।

प्राग्भक्तौषध—उस ओषधि का नाम प्राग्भक्त है जो भोजन के पहले सेवन की जाती है अर्थात् इसको सेवन करके तुरन्त भोजन कर लिया जाता है। इस प्राग्भक्त औषध की योजना अपान वायु के विकारों के लिए, अधःकाय में बलाधानार्थ, अधःकायगत रोगों का शमन करने के लिए तथा कृशीकरणार्थ (मनुष्य के स्थौल्यनाशार्थ) करनी चाहिए।

मध्यभक्तं मध्ये भक्तस्य[3] तत्समानानिलविकृतौ कोष्ठगतेषु च व्याधिषु पैत्तिकेषु च।

मध्यभक्तौषध—उस ओषधि का नाम मध्यभक्त है जो भोजन के बीच में सेवन की जाती है जैसे कि आधा भोजन कर चुकने पर औषध सेवन और फिर तुरन्त आधा भोजन कर लेना। इस मध्यभक्त औषध की योजना तब करनी चाहिए जब कि समान वायु में विकृति पैदा हुई हो, कोष्ठगत व्याधियें हों अथवा पैत्तिक विकार उत्पन्न हो गए हों।

अधोभक्तं भक्तादनन्तरम्। तत्तु व्यानविकृतौ प्रातराशान्तमुदानविकृतौ पुनः सायमाशान्तम्। पूर्वकायस्य च बलाधानार्थं तद्गतेषु च व्याधिषु, श्लैष्मिकेषु च प्रशमाय स्थूलीकरणार्थं[1] च।

अधोभक्त औषध—उस औषध का नाम अधोभक्त है जिसका सेवन भोजन करने के पश्चात् तुरन्त कर लिया जाता है। इसका सेवन व्यान वायु की विकृति में प्रातःकाल के भोजन के पश्चात् तथा उदान वायु की विकृति में सायंकाल के भोजन के पश्चात् करना चाहिए। इस अधोभक्त औषध का उपयोग पूर्वकाय (हृदय से लेकर सिर तक) के बलाधानार्थ, पूर्वकायगत रोगों के शमनार्थ, कफात्मक व्याधियों के नाशार्थ तथा मनुष्य में मोटापन लाने के लिए करना चाहिए।

समभक्तं[2] यदन्नेन समं साधितं पश्चाद्वा समालोडितम्। तद्बालेषु सुकुमारेष्वौषधद्वेषिष्वरुचौ सर्वाङ्गेषु।

समभक्त औषध—उस औषध को समभक्त कहते हैं जो अन्न के साथ साधित (सिद्ध किया हुआ) होता है, अथवा जो पीछे से अन्न के साथ मिलाया जाता है और फिर सेवन कराया जाता है। यह समभक्त सुकुमारों, बालकों तथा औषध से द्वेष करनेवालों को सर्वाङ्गगत व्याधियों के लिए प्रयुक्त किया बाता है।

अन्तरभक्तं[3] यत्पूर्वाह्णभक्ते जीर्णे मध्याह्ने भेषजमुपयुज्यते तस्मिंश्च जीर्णे पुनरपराह्णे भोजनम्। एतेन रात्रिर्व्याख्याता। तद्दीप्ताग्नेर्व्यानजेष्वामयेषु।

अन्तरभक्त औषध—उस ओषधि को अन्तरभक्त कहते हैं जो पूर्वाह्ण में किए हुए आहार के पचने पर मध्याह्न में प्रयुक्त किया जाता है तथा इसके पचने पर पुनः अपराह्ण या सायंकाल में आहार कराया जाता है। इसी अन्तरभक्त औषध में रात्रिकाल के औषध को बताया गया है क्योंकि रात्रि के औषध का विधान भी ऐसा ही है। जैसे कि सायंकाल के लिए भोजन के पच जाने पर एक प्रहरमात्र रात के बीतने पर ओषधि दी जाती है और इसके पचने पर पुनः दूसरे दिन भोजन कराया जाता है। इस अन्तरभक्त औषध का उपयोग दीप्ताग्नि की अवस्था में व्यान वायु के उत्पन्न किए हुए विकारों में करना चाहिए। इसी प्रकार रात्रि में दिया जानेवाला औषध ऊर्ध्वजत्रुगत विकारों के लिए है।

सामुद्गं यदादावन्ते च भुक्तस्य। तत्तु लघ्वल्पान्नयुक्तं पाचनावलेहचूर्णादि हिध्मायां कम्पाक्षेपयोरूर्ध्वाधस्संश्रये च दोषे।

सामुद्ग औषध—उस औषध का नाम सामुद्ग है जो भोजन के आदि और अन्त में दिया जाता है जैसे कि प्रथम औषध सेवन करके तुरन्त भोजन कर लिया जाय और भोजन कर चुकने पर तुरन्त औषध का पुनः सेवन किया जाय। ध्यान रहे कि यह (सामुद्ग) औषध लघु और अल्प भोजन के आदि अन्त में पाचन, अवलेह, चूर्ण आदि रूप से हिक्का, कम्प, आक्षेपक, ऊर्ध्व और अधोभागाश्रित दोष की अवस्था में दिया जाना चाहिए।

---

१. ह्यस्तनेऽन्नेऽजीर्णे तदौषधमुपयुज्यते। तस्मिंश्च जीर्णे पुनराहार इत्यनन्नम्। २. ह्यस्मिन्नौषधे भुक्ते पश्चात् तत्कालमेव भुज्यते तत्प्राग्भक्ताख्यम्। ३. मध्यभक्तं नाम यद्भक्तस्य मध्येऽर्धं भोजनमुपयुज्यं पुनः तत्कालमेव विशिष्टमर्धमिति।

१. स्थूलीकरणम्। २. सभक्तम् इत्यादीन्दुः। ३. अन्तराभक्तम्।

मुहुर्मुहुस्तु पुनः पुनर्भुक्ते यदभुक्ते वा। तच्छ्वासकासहिध्मातृट्छर्दिषु विषनिमित्तेषु च विकारेषु।

वारंवार औषध—वारंवार उस औषध का नाम है जो भोजन करके या भोजन न करके भी श्वास, कास, हिचकी, प्यास, छर्दि तथा विष के निमित्त से होनेवाली व्याधियों की अवस्था में वारंवार ( क्षण-प्रतिक्षण ) दिया जाता है जब तक कि उक्त व्याधियें शान्त न हों।

सग्रासं यद् ग्राससंपृक्तम्। ग्रासान्तरं यद् ग्रासयोर्ग्रासयोर्मध्ये। द्वयमप्येतत्प्राणानिलविकृतौ। तथा सग्रासं चूर्णलेहवटकादिकमग्निदीपनं वाजीकरणानि चोपयुञ्जीत। ग्रासान्तरं हृद्रोगे। वमनं धूमं च जत्रूर्ध्वामयेषु निशायाम्।

सग्रास और ग्रासान्तरौषध—ग्रास ग्रास में मिलाकर दिया जानेवाला औषध सग्रास कहलाता है। प्रत्येक ग्रास के बीच में दिया जानेवाला जैसे कि ग्रास, इसके पश्चात् औषध और इसके अनन्तर पुनः ग्रास इस प्रकार से दिया जानेवाला औषध ग्रासान्तर कहलाता है। इनमें विशेष यह है कि चूर्ण, अवलेह, गुटिकादि औषध सग्रास ( ग्रास के साथ मिला कर ) अग्नि प्रदीप्त करने के लिए तथा वाजीकरणार्थ देना चाहिये और हृद्रोग में ग्रासान्तर अर्थात् प्रत्येक ग्रास के बीच में देना चाहिए। वमन और धूमपान ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों के शमनार्थ रात्रि में देना चाहिए।

तत्राद्ये काले तृषितः पीतशीताम्बुरजीर्णीक्षुधितः क्षामश्च भेषजं वर्जयेत्। शेषेषु वा हृद्यमसात्म्यमतितीक्ष्णोष्णोग्रगन्धं भूरिमात्रं चेति।

अभक्त और प्राग्भक्तादिसेवन में विशेष—आद्ये काले अर्थात् अभक्तौषध के काल में तृषित ( प्यासा ), ठण्डा जलपान किया हुआ, अजीर्णरोगी, भूखा और अतिदुर्बल हो उसे औषध नहीं देना चाहिए। शेष प्राग्भक्तादि औषध भी अहृद्य ( हृदय के लिए अहितकारी–जिसे मन न चाहता हो ), असात्म्य, अति तीक्ष्ण, अति उष्ण, अति उग्रगन्ध तथा अति मात्रावाला औषध नहीं देना चाहिये।

भवति चात्र[1]—

रोगमादौ परीक्षेत तदनन्तरमौषधम्।
ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्॥
निवृत्तोऽपि पुनर्व्याधिरल्पेनायाति हेतुना।
देहे मार्गीकृते दोषः शेषः सूक्ष्म इवानलः॥
तस्मात्तमनुबध्नीयात्प्रयोगेणानपायिना।
सिद्धानामपि योगानां पूर्वेषां दार्ढ्यमावहन्॥

अध्याय का उपसंहार—वैद्य को चाहिए कि वह सबसे प्रथम निदान-विधि से रोग की परीक्षा करे और फिर औषध का परीक्षण करे और फिर अच्छी प्रकार से विचार करके चिकित्सा-कर्म को करे। कभी कभी देखा जाता है कि अल्पहेतु से अर्थात् सूक्ष्म दोष के शेष रह जाने से निवृत्त हुआ रोग फिर भी मार्गकृत शरीर में आकर प्राप्त हो जाता है, जैसे कि बुझती हुई अग्नि का शेष रहा हुआ सूक्ष्म अग्निकण घास आदि हेतु को प्राप्त कर प्रबल अग्नि के रूप को धारण कर लेता है। ठीक इसी प्रकार सूक्ष्म शेष रहा हुआ दोष अहित हेतु को प्राप्त कर रोग को करनेवाला होता है। इसलिये जो अपायकारक न हो ऐसे प्रयोग को करके उस दोष को जीतना चाहिए अथवा पहले सिद्ध किए हुए प्रयोगों की उपयुक्तता को देखता हुआ उनके प्रयोगों द्वारा उस दोषको जीतने का प्रयत्न करे। सारांश, जिन प्रयोगों से रोग नष्ट हुआ हो उन्हीं को अधिक बलवान् बना कर उनके प्रयोगों द्वारा दोष को जीतना चाहिए।

सातत्यात्स्वाद्वभावाद्वा पथ्यं द्वेषत्वमागतम्।
कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत्पुनः॥
मनसोऽर्थानुकूल्येन तुष्टिरूर्जा रुचिर्बलम्।
सुखोपभोगिता च स्याद्व्याधेश्चातः परिक्षयः॥
लौल्याद्दोषक्षयाद्व्याधिवैषम्येण च या रुचिः[1]।
तासु पथ्योपचारज्ञो योगेनान्नं प्रकल्पयेत्॥

नाना प्रकार से प्रिय पथ्य की कल्पना—कभी कभी देखा जाता है कि सतत सेवन करने से तथा स्वादु न होने से पथ्य ( हितकारी पदार्थ ) से भी रोगी द्वेष करने लगता है। ऐसी अवस्था में वैद्य को चाहिये कि वह नाना प्रकार की कल्पनाओं एवं विधियों से ऐसे पथ्य का निर्माण करे जो कि रोगी के लिए प्रिय प्रतीत हो। सारांश, मन के अनुकूल पथ्य के निर्माण से तुष्टि, उत्साह, रुचि, बल तथा सुखोपभोगिता की प्राप्ति होकर उससे व्याधि का नाश होता है। मन के चलायमान होने से लालसा तथा दोषक्षय के कारण जिन जिन पदार्थों में रोगी की रुचि होती है अतः पथ्योपचार ( पथ्यचिकित्सा ) के जानने-वाले वैद्य को चाहिए कि वह धातुसाम्य करनेवाले उसकी रुचि के अनुसार व्याधिविपरीत प्रयोगवाले आहार की कल्पना करे।

शीतोष्णवर्षानिचितं चैत्रश्रावणकार्तिके।
क्रमात्साधारणे श्लेष्मवातपित्तं हरेद् द्रुतम्॥
प्रावृट्शरद्वसन्तानां मासेष्वेतेषु वाऽऽहरेत्[2]।
साधारणेषु विधिना त्रिमासान्तरितान्मलान्॥
कृत्वा शीतोष्णवृष्टीनां प्रतीकारं यथायथम्।
प्रयोजयेत् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत्॥

संचितदोषनिर्हरण काल—शीत, उष्ण और वर्षा में संचित कफ, वात और पित्त का निर्हरण क्रम से साधारण काल चैत्र, श्रावण और कार्तिक में करे अर्थात् शीतकाल के संचित कफ का चैत्र में, उष्णकाल के संचित वात का श्रावण में और वर्षाकाल में संचित पित्त का संशोधन कार्तिक में करे। इसमें विलम्ब न करे। अथवा प्रावृट् ( वर्षा ), शरद् और वसन्त ऋतु के महीनों में जैसे कि प्रावृट् के महीने आषाढ़-श्रावण में वायु का, शरद् ऋतु के महीने कार्तिक-मार्गशीर्ष में पित्त का तथा वसन्त ऋतु के महीने फाल्गुन-चैत्र में कफ का निर्हरण तीन तीन महीने के अन्तर से करे। अर्थात् वायु का निर्हरण आषाढ़ में किया गया हो तो तीन

१. भवति चात्र श्लोकः, भवन्ति चात्र।

१. यथाऽरुचिः २. वा हरेत्

महीने के बाद कार्तिक में पित्त का निर्हरण करे। वायु का संशोधन श्रावण में किया हो तो तीन महीने का अन्तर देकर मार्गशीर्ष में पित्त का निर्हरण करे। इसी प्रकार कफ के निर्हरण विषय को समझना चाहिए। यह दोषों की निर्हरणविधि स्वस्थवृत्त के अनुसार कही गई। अब आतुरवृत्तानुसार कहते हैं। पूर्वोक्त साधारण के अतिरिक्त किसी ऋतु में रोगी का दोष बढ़ गया हो तो साधारण काल की उपेक्षा करके उस ऋतु में ही दोष का निर्हरण कर डालना चाहिए किन्तु ध्यान रहे कि यह क्रिया जिस ऋतु में वातादि दोषों के निर्हरणार्थ की जाय तो उस ऋतु को उस दोष के निर्हरण-काल (साधारण ऋतु) का रूप कृत्रिम विधि से देकर, शीतोष्ण-वर्षा का प्रतीकार करके फिर दोष का निर्हरण किया जाय। भावार्थ यह है कि जिस ऋतु में दोष की वृद्धि हुई है उस ऋतु को उस दोष के निर्हरणकाल का कृत्रिम रूप देकर के भी दोष का निर्हरण करना चाहिए अर्थात् उस क्रियाकाल की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

सप्ताहेन गुणालाभे क्रियामन्यां प्रयोजयेत्।
पूर्वस्यां शान्तवेगायां न क्रियासंकरो हितः।
गुणेऽल्पेऽपि तु तामेव विशेषोत्कर्षलब्धये ॥

सप्ताह में लाभ न हो तो—यदि क्रिया (चिकित्सा) करने पर सात दिन में गुण न दिखाई दे तो फिर वहां अन्य क्रिया की योजना करनी चाहिए परन्तु दूसरी क्रिया का प्रारम्भ पहली क्रिया का वेग शान्त होने पर ही करना चाहिए। इसलिए कि क्रियासंकर हितकारी नहीं होता। यदि क्रिया के करने पर थोड़ा गुण या लाभ दिखाई दे तो उसी क्रिया को अधिक लाभ की इच्छा से करता रहे किन्तु उसकी जगह अन्य क्रिया को न करे।।

भेषजं नृपतेर्हृद्यमल्पमल्पात्ययं शुचि[1]।
सिद्धागमं बहुगुणं बहुकृत्वः प्रयोजितम् ॥
अनन्यकार्योऽवहितस्तन्मन्त्रिगुरुसंमतम्[2]।
आस्वादितं परिचरैः स्वयं चानुप्रयोजयेत् ॥

राजा की चिकित्सा में विशेषता—यदि राजा को औषध देना हो तो इन बातों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए अर्थात् राजाको दी जानेवाली ओषधि ऐसी चाहिए कि जो हृद्य (मनोहर-हृदय को भानेवाली), अल्प (मात्रा में थोड़ी), अल्पात्यय (देश-कालादि के अनुकूल न होकर भी (हितकारी), शुद्ध, शास्त्रसिद्ध, (सिद्धागम-आयुर्वेदोपदेशानुसार तैयार की हुई), बहुगुणवाली, अनेक बार प्रयोग करके अनुभव की हुई, राजा-राजा के मन्त्री और राजा के गुरु की संमति से बनाई गई हो। इतना ही नहीं, वह ओषधि राजा के सेवकों को देकर चखाई हुई तथा स्वयं वैद्य की चखी हुई हो। सारांश, वैद्य को चाहिए कि वह स्थिरचित्त एवं सावधान होकर उस ओषधि को सेवकों को चखाकर, स्वयं चखकर फिर राजा को देनी चाहिए ताकि किसी प्रकार के अपाय की संभावना न हो।

१. शुचिः २. तथा तन्मन्त्रिसंमतः ३. 'अल्पात्ययं देशकालाद्य-पायेऽपि निरपायम्' इतीन्दुः।

उचितो यस्य यो देशस्तज्जं तस्यौषधं हितम्।
देशेऽन्यत्रापि वसतस्तत्तुल्यगुणजन्म च ॥
वीर्यवद्भावितं सम्यक्स्वरसैरसकृल्लघु।
रसगन्धादिसंपन्नं काले जीर्णं च मात्रया ॥
एकाग्रमनसा युक्तं भैषज्यममृतायते।

इति भेषजावचारणीयोनाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥

अमृतफला ओषधि—रोगी को जो उचित (अभ्यस्त) देश होता है, उसी देश की उत्पन्न ओषधि रोगी के अन्य देश में रहते हुए भी हितकारी होती है अथवा रोगी के उचित देश के समान अन्य किसी देश की उत्पन्न हुई ओषधि भी हितकारी होती है। यह व्यवस्था उचित देशोत्पन्न ओषधि के न मिलने पर निर्दिष्ट की गई है। इस प्रकार की ओषधि प्रयोग करनेवाले के लिए बलवान्, अमृत के तुल्य गुण करनेवाली होती है जो कि भलीभांति सजातीय-विजातीय द्रव्यों के स्वरसों से बारंबार भावना दी हुई, लघु, रस-गन्धादि-सम्पन्न (रस, गंध, वर्ण, स्पर्श, पाक आदि से सम्पन्न), अनुकूल मात्रा में दी जाने पर समय पर जीर्ण होनेवाली (पचनेवाली) तथा एकाग्र मन करके प्रयोग की जाती है।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिका-
हिन्दीव्याख्यायां भेषजावचारणीयो नाम
त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

# अथ चतुर्विंशोऽध्यायः।

अथातो द्विविधोपक्रमणीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

द्विविधोपक्रमाध्याय—इसके पूर्वाध्याय में व्याधिनिर्घातन (रोगनाशन) बताया गया किन्तु रोगनाशन दो प्रकार से किया जाता है अतः जिसमें दो प्रकार से उपक्रमण (चिकित्सा) वर्णन किया गया है उस द्विविधोपक्रमणीय नामक अध्याय का अब व्याख्यान करेंगे जैसे कि आत्रेयादि महर्षियों ने पहले किया।

उपक्रमस्य हि द्वित्वाद् द्विधैवोपक्रमो मतः[1]।
एकः संतर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पणः ॥
बृंहणो लङ्घनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ।
बृंहणं यद् बृहत्त्वाय लङ्घनं लाघवाय यत् ॥
देहस्य भवतः प्रायो भौमाप्यमितरच्च ते।
स्नेहनं रूक्षणं कर्म स्वेदनं स्तम्भनं च यत् ॥
भूतानां तदपि द्वैध्याद् द्वितयं नातिवर्तते।
शोधनं शमनं चेति द्विधा तत्रापि लङ्घनम् ॥

उपक्रम के दो प्रकार—साम और निराम अवस्था के कारण

१. 'उपक्रम्यस्य रोगस्य द्वित्वात्-सामनिरामभेदेन, इति हेमाद्रिः।

उपक्रम के दो प्रकार होने से चिकित्सा भी दो प्रकार की मानी गई है, यथा-एक संतर्पण और दूसरी अपतर्पण चिकित्सा। इन्हीं के क्रम से बृंहण और लङ्घन ये दो पर्याय हैं अर्थात् संतर्पण के लिए बृंहण तथा अपतर्पण के लिए लङ्घन पर्याय-वाची शब्द हैं। इनमें बृंहण चिकित्सा शरीर को मोटा या स्थूल करने के लिए है और लङ्घन लाघव (कृशता) लाने के लिए है। इनमें बृंहण प्रायः भूमि तथा जल-गुण-विशिष्ट है अर्थात् जल-मिश्रित भूमि-गुण-विशिष्ट बृंहण है और इतरत् (अवशिष्ट) भूमि-जल के अतिरिक्त अग्नि, वायु और आकाश-गुणविशिष्ट लङ्घन है। यहां प्रायोग्रहण इस लिए है कि कुछ भूमि-जल-गुण-विशिष्ट अपतर्पण (लङ्घन) भी होता है और इसी प्रकार अग्नि-पवन-गुण-विशिष्ट संतर्पण भी होता है। जैसे कि यवक, मसूर, मकुष्ठ (मोठ) और चौलाई आदि भूमि-जल-गुण-विशिष्ट होते हुए भी अपतर्पण हैं और शुण्ठी-पिप्पली आदि अग्निवायु-गुण-विशिष्ट होकर भी वृष्यत्व के कारण संतर्पण कार्य को करती हैं।

स्नेहादि का बृंहण तथा लङ्घन में अन्तर्भाव—यद्यपि स्नेहन, रूक्षण, स्वेदन और स्तम्भन ये चार प्रकार के कर्म बताए गये हैं किन्तु पञ्चमहाभूतों के बृंहण और लङ्घन ऐसे दो भेद होने से उक्त चारों कर्म बृंहण तथा लङ्घन इन दोनों से बाहर नहीं जा सकते। बृंहण और लङ्घन इन दोनों में, लङ्घन भी शोधन और शमन भेद से दो प्रकार का कहा है।

यदीरयेद्बहिर्दोषान् पञ्चधा शोधनं तु तत्।
निरूहो वमनं कायशिरोरेकोऽस्रविस्रुतिः॥

शोधन के लक्षण और भेद—जो औषध शरीर में पहुँचकर बढ़े हुए कुपित वातादि दोषों को शरीर से बाहर निकालता हैं, उसे शोधन कहते हैं। इस शोधन के पांच प्रकार हैं यथा निरूह (गुदा द्वारा शरीर में प्रविष्ट किया जानेवाला क्वाथ स्नेहादि औषध) जिसे बस्ति भी कहते हैं। पाश्चात्य वैद्य-शास्त्र में इसका नाम एनिमा है। वमन (कफ के निर्हरणार्थ वामक औषध का प्रयोग), विरेचन (शरीर और मस्तक से विरेचन देकर दोषों को बाहर निकालना) तथा रक्तमोक्षण कराना। ध्यान रहे कि यहां निरूह, वमन और विरेचन का निर्देश क्रम से वायु, कफ और पित्त के लिए किया गया है। सुश्रुत के मतानुसार रक्तविस्रुति को दिखाया गया है।

न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि।
समीकरोति विषमान् शमनं तच्च सप्तधा॥
पाचनं दीपनं क्षुत्तृड्व्यायामातपमारुताः।
बृंहणं शमनं त्वेव वायोः पित्तानिलस्य च॥

शमन के लक्षण और भेद—जो औषध (द्रव्य) सम दोषों को न शरीर से बाहर निकालता और न उन्हें उदीर्ण करता है अर्थात् उनको नहीं छोड़ता है परन्तु विषम दोषों को साम्यावस्था में ले जाता है, उसको शमन कहते हैं और यह सात प्रकार का है जैसे कि (१) पाचन (२) दीपन (३) भूखा रहना (४) पानी नहीं पीना (५) व्यायाम करना (६) सूर्य की धूप का सेवन और (७) वायु का सेवन करना परन्तु यहां एक विशेष बात है, उसे भूलना नहीं चाहिए। वह विशेष यह है कि वायु की वृद्धि में बृंहण भी शमन कहलाता है इस लिए कि वायु की की हुई रूक्षता तथा कृशता का शमन बृंहण द्वारा होता है। यहां तु और च शब्द का भाव यह है कि केवल वायु के लिए बृंहण शोधन है और वही पित्तयुक्त वायु के लिए शमन है।

बृंहयेद्व्याधिभैषज्यमद्यस्त्रीशोककर्शितान्।
भाराध्वोरःक्षतक्षीणरूक्षदुर्बलवातलान्॥
गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धान् ग्रीष्मेऽपरानपि।
मांसक्षीरसितासर्पिर्मधुरस्निग्धबस्तिभिः॥
स्वप्नशय्यासुखाभ्यङ्गस्नाननिर्वृतिहर्षणैः।

बृंहण के योग्य पुरुष—जो रोग के कारण कृश हो गये हों, ओषधि करके कृश हो गये हों, अति मद्यपान करके अथवा स्त्रीसङ्ग तथा शोक के कारण कृश हो गए हों और जो भार उठा उठाकर क्षीण हो गये हों, मार्ग के चलने से क्षीण हो गए हों या उरःक्षत रोग के कारण क्षीण हों, जो रूक्ष, दुर्बल एवं वातप्रकृति के हों, जो गर्भिणी स्त्री हो, जो प्रसूता हो, जो बालक या वृद्ध हों, इन सबका बृंहण करना चाहिए। इतना ही नहीं, ग्रीष्म ऋतु में सबका बृंहण करना चाहिए।

बृंहण के योग्य कर्म—मांस, दूध, मिश्री एवं घृत का सेवन कराकर, मधुर-स्निग्ध बस्तियों को देकर, स्वप्न (सोना), शय्यासुख (खटिया या पलङ्ग से मिलनेवाला सुख अथवा निद्रारहित खटिया का सेवन), अभ्यङ्ग (उबटन आदि), स्नान, सन्तोष (चित्त की स्थिरता) और हर्षण (आनन्द) के देनेवाले कर्मों द्वारा बृंहण करना चाहिए।

बृंहण योग्य पुरुषों का वर्णन करके अब क्रमप्राप्त लङ्घन के योग्य पुरुषों के विषय में कहते हैं कि—

मेहामदोषातिस्निग्धज्वरोरुस्तम्भकुष्ठिनः।
विसर्पविद्रधिप्लीहशिरःकण्ठाक्षिरोगिणः॥
स्थूलांश्च लङ्घयेन्नित्यं शिशिरे त्वपरानपि।
तत्र संशोधनैः स्थौल्यबलपित्तकफाधिकान्॥
आमदोषज्वरच्छर्दिरतीसारहृदामयैः।
विबन्धगौरवोद्गारहृल्लासादिभिरातुरान्॥
मध्यस्थौल्यादिकान् प्रायः पूर्वं पाचनदीपनैः।
एभिरेवामयैरार्तान् हीनस्थौल्यबलादिकान्॥
क्षुत्तृष्णानिग्रहैर्दोषैस्त्वार्तान्मध्यबलैर्दृढान्।
समीरणातपायासैः किमुताल्पबलैर्नरान्॥

लङ्घन के योग्य पुरुष—जो प्रमेहरोगी हो, जिसमें आमदोष हों, जो अति स्निग्ध हो अर्थात् जिसे अति-स्नेहन दिया गया

---

१. प्रायोग्रहणात्किञ्चिद्भूम्यापमप्यपतर्पणम्। यथा-यवकमसूरमकुष्टतण्डुलीयादि। तथा-अग्निपवनोत्कटस्य कटुकस्यापि शुण्ठीपिप्पल्यादेः सन्तर्पणत्वम्, वृष्यत्वेन संतर्पणकार्यदर्शनादित्यरुणदत्तः।

१. शय्यासुखं-खट्वाजनितं शर्म इत्यरुणदत्तः। शय्यासुखं-निद्रां विना शयनेऽवस्थानमिति हेमाद्रिः। २. निर्वृतिः—चित्तस्यानाकुलत्वमित्यरुणः। निर्वृतिः-संतोष इति हेमाद्रिः।

हो, जो ज्वर रोगी हो, जो ऊरुस्तम्भ-कुष्ठ-विसर्प-विद्रधि-प्लीह-शिर-कण्ठ और नेत्र का रोगी हो और जो स्थूल हो इनको नित्य लङ्घन देना चाहिए तथा शिशिर ऋतु में और भी सबको लङ्घन देना चाहिए।

लङ्घन देने में विशेष—लङ्घन कर्म में यह विशेष है कि जो स्थूल हो, बलवान् हो, जिसमें पित्त और कफ की अधिकता हो, आमदोषी हो, ज्वर, छर्दि, अतीसार, हृद्रोग से पीडित, विबन्ध ( मलावरोध ), गौरव ( जड़ता ), उद्गार ( डकार का रोगी ) तथा हल्लास ( उबकाई ) आदि से पीडित हो तो उसे संशोधन ( वमन-विरेचनरूप ) लङ्घन देना चाहिए किन्तु यदि इन रोगों से पीडित रोगी मध्यस्थूल है अर्थात् अतिस्थूल नहीं है तो उसे पहले दीपन-पाचन देकर फिर संशोधन ( वमन-विरेचन ) देना चाहिए। यदि रोगी हीन-स्थूल ( कम स्थूलता ) और कम बलवाला हो तो उपवास, प्यास का जीतना इन लंघनों को देकर दोषों को जीतना चाहिए। मध्यबल और मध्यस्थूल हो तो उनको वायुसेवन, सूर्य की धूप का सेवन तथा व्यायामरूप लङ्घन देकर शुद्ध करना चाहिए और जो अल्प बलवाले हैं, उनके लिए तो बिना किसी हिचकिचाहट के वायुसेवन, धूपका सेवन तथा व्यायामरूप लङ्घन देना चाहिए।

न बृंहयेल्लङ्घनीयान् बृंह्यांश्च मृदु लङ्घयेत्[1] ।
युक्त्या वा देशकालादिबलतस्तानुपाचरेत्[2] ॥

लङ्घन योग्य के लिए बृंहण का निषेध—जो रोगी लङ्घन कराने योग्य है, उसके लिए बृंहण न करे क्योंकि बृंहण के स्वल्प बल को पाकर भी लङ्घन के योग्य व्याधि परम-वृद्धि को प्राप्त होती है। बृंहण योग्य रोगी को मृदु लङ्घन देना चाहिए इस लिए कि इस मृदु लङ्घन का उपयोग बृंहण में बहुत अच्छा होता है। भावार्थ यह है कि यह मृदु लङ्घन अग्नि को प्रदीप्त करता, शरीर में स्फूर्ति लाता और बृंहणकार्य में सहायक होता है। अथवा इन लङ्घन-योग्यों और बृंहण-योग्यों का उपचार युक्ति से या देश-कालादि के बलानुसार करे। सारांश, देशकालादि की अपेक्षा से लंघनवाले को बृंहण एवं बृंहणवाले को लङ्घन भी दे सकते हैं अर्थात् जहां जैसी युक्ति उचित जान पड़े वैसे ही कर सकते हैं।

बृंहिते स्याद् बलं पुष्टिस्तत्साध्यामयसंक्षयः[1] ।
विमलेन्द्रियता सर्गो मलानां लाघवं रुचिः ॥
क्षुत्तृट्सहोदयः शुद्धहृदयोद्गारकण्ठता ।
व्याधिमार्दवमुत्साहस्तन्द्रानाशश्च लङ्घिते ॥

सम्यग्बृंहित के लक्षण—बृंहण औषध के भली भांति सेवन कराने पर मनुष्य में बृंहग होता है अर्थात् वह पुष्ट होता है। सम्यक् बृंहण होने पर मनुष्य में बल और पुष्टि की प्राप्ति होती है। इनके अतिरिक्त बृंहण से साध्य होनेवाले रोगों का नाश हो जाता है।

सम्यक् लङ्घित के लक्षण—भली भांति मनुष्य के लंघित होने पर विमलेन्द्रियता ( इन्द्रियों में पटुता-फुर्ती ), मल, मूत्र और अधोवायु की प्रवृत्ति बराबर होना, शरीर में लघुता ( हल्कापन ), अन्न पर रुचि, भूख और प्यास का एक ही साथ उत्पन्न या भूख और प्यास का यथोचित लगना, हृदय, डकार और कण्ठ का शुद्ध ( निर्मल ) होना, लंघनसाध्य व्याधियों का कम हो जाना, उत्साह और तन्द्रा का नाश होता है।

विशेष कथन—इस ग्रन्थ के टीकाकार इन्दु 'विमलेन्द्रियता सर्गो मलानां लाघवं रुचिः' इस आधे पद्य को सम्यग्बृंहित-लक्षणों में मानते हैं और सम्यक् लंघित के लक्षण 'क्षुत्तृट्सहो-दया'दि से मानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि चक्रदत्त, अरुणदत्त तथा हेमाद्रि ने विमलेन्द्रियता से लेकर तन्द्रानाश तक के लक्षणों को सम्यक् लङ्घित के माने हैं और यह इनका मानना नितान्त योग्य भी है।

अनपेक्षितमात्रादिसेविते कुरुतस्तु ते ।
अतिस्थौल्यातिकार्श्यादीन् वक्ष्यन्ते ते च सौषधाः ॥

अयुक्त बृंहण और लंघन के दोष—अनपेक्षित अर्थात् जिनकी आवश्यकता नहीं है ऐसे बिना विचार के मात्रादि सेवन से ( मात्रा, देश और काल का विचार न करके बृंहण लंघन के सेवन से ) बृंहण-लङ्घन अतिस्थौल्य तथा अतिकार्श्यादि रोगों के करनेवाले होते हैं जिनका वर्णन औषध-सहित आगे किया जायगा।

रूपं तैरेव च ज्ञेयमतिबृंहितलङ्घिते ॥

अतिबृंहित-लंघित के लक्षण—अतिबृंहण एवं अतिलङ्घन-कारक ओषधि के सेवन से वेही अतिस्थौल्य और अतिका-र्श्यादि लक्षण होते हैं जो अनपेक्षित मात्रादि के सेवन में बताए गए हैं।

तत्र शोधनमुद्दिश्य स्थौल्याद्याः प्रागुदाहृताः ।
गुर्वादिवृद्धसंलीनश्लेष्मसिश्रोऽन्नजो रसः ॥
आम एव श्लथीकुर्वन् धातून् स्थौल्यमुपानयेत् ।
अतिस्थौल्यादतिक्षुत्तृट्प्रस्वेदश्वासनिद्रताः ॥
आयासाक्षमताजाड्यमल्पायुर्बलवेगता ।
दौर्गन्ध्यं गद्गदत्वं च भवेन्मेदोऽतिपुष्टितः ॥
स्रोतःसु मेदोरुद्धेषु वायुः कोष्ठे विशेषतः ।
चरन् प्रज्वलयत्यग्निं क्षुत्तृषौ स्तस्ततोऽधिकम् ॥
स्थूलं कोटरवद् वृद्धौ दहतोऽग्न्यनिलौ च तम् ।
स्वेदवाहिसिरामूलभवाद्विष्यन्दनादपि ॥
मेदसः श्लेष्मयोगाच्च भवति स्वेदभूरिता ।

---

१. लङ्घनार्हान् व्याधीन् न कदाचन बृंहयेत्, यतस्ते बृंहणेन स्वल्पेनापि परां वृद्धिमायान्ति। ये तु व्याधयो बृंहणीयास्तान्मृदु स्वल्पं लङ्घयेत्, बृंहणोपयोगयोग्यतापादनायाग्निसंधुक्षणाय च लघु-तातिशयोत्पत्तये, इतीन्दुः। २. देशकालाद्यपेक्षया लङ्घनीयानपि बृंहयेत् बृंहणीयानपि च लङ्घयेदितीन्दुः।

१. बृंहणसाध्यानामामयानां संक्षयश्च स्यात्। विमलेन्द्रियतादीनां च स्यादित्यनेन संबन्धः। लङ्घिते किमित्याह-क्षुत्तृडित्यादीतीन्दुः। अरुणहेमाद्रिप्रमुखास्तु-विमलेन्द्रियतादिस्तन्द्रानाशश्चेत्यन्तो ग्रन्थो लङ्घितलक्षणम्। इति वदन्ति।

कोष्ठ एव विपकेऽस्य संरुद्धस्रोतसो रसे ॥
सर्वत्रालब्धवृत्तित्वात्प्रायो मेदः प्रचीयते ।
तच्छेषोऽल्परसोऽल्पत्वान्नालं रक्तादिपुष्टये ॥

अन्नरस से स्थूलता की उत्पत्ति— शोधन के विषय को लेकर स्थौल्यादि का वर्णन पहले रोगानुत्पादनीय अध्याय में कह चुके हैं। अब उसी स्थूलता आदि को बतलाने के लिए कहते हैं कि—गुरु आदि द्रव्यों के सेवन से बढ़ा हुआ, शरीरान्तर्गत कफ से मिश्रित होकर अन्न से उत्पन्न हुआ कच्चा रस ही सब धातुओं को ढीला करता हुआ स्थूलता उत्पन्न करता है। अतिस्थूलता से अति क्षुधा, अति तृषा, अति पसीना, श्वास, अति नींद, श्रम करने में असमर्थता, जड़ता, अल्पायु, अल्पबल, अल्पवेग, दुर्गन्धता, गद्गदत्व तथा अति पुष्टि के कारण मेद की वृद्धि होती है। मेद से शरीर के स्रोत रुक जाने से वायु को सर्वत्र विचरने के लिए मार्ग नहीं मिलता अतः कोष्ठ (पेट) में विशेषतः फिरता हुआ वायु अग्नि को प्रज्वलित करता है और उससे भूख और प्यास में आगे से भी अधिक वृद्धि होती है। इतना ही नहीं, वे बढ़े हुए अग्नि और वायु उस स्थूल पुरुष को, वृक्ष के कोटर (रन्ध्र भाग) में स्थित अग्नि वायु की तरह उसके महास्रोत में स्थित होकर जलाते हैं और शिरामूल में रहनेवाला मेद उससे पिघलकर कफ के साथ बहने लगता है अतः उस स्थूल पुरुष में पसीने की भी अधिकता हो जाती है। उस स्थूल पुरुष में मेद बहुत बढ़ जाता है, इसका मुख्य कारण यह होता है कि मेद के कारण स्रोतों के मुख बन्द हो जाने से कोष्ठ में ही अन्नरस पकता रहता है और वह सब धातुओं में नहीं पहुँच सकता किन्तु गुरु-मधुरादि रसों के संयोग से वह भी मेद के रूप में परिणत हो जाता है। इस लिए उस स्थूल पुरुष में इस रस से भी मेद की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है अतः यह मेदोरूप में परिणत हुआ रक्तादि धातुओं की पुष्टि करने में समर्थ नहीं होता।

तुल्योऽपि वाय्वादिचये प्राक्चितं चीयतेतराम् ।
मेदस्तेनासमत्वेन धातूनां विदधाति तत् ॥
श्वासादीनचिराच्चान्यान् ज्वरोदरभगन्दरान् ।
मेहोरुस्तम्भपिटिकाविद्रधिप्रभृतीन् गदान् ॥
अयथोपचयोत्साहश्चलस्फिगुदरस्तनः ।
अतिस्थूलः स्मृतो योज्यं तत्रान्नं मारुतापहम् ॥

मेदोवृद्धि से अनेक रोग—रसरक्त की वृद्धि के बिना कैसे मेद बढ़ सकता है और मेदोवृद्धि होते हुए कैसे अस्थि आदि धातुओं की वृद्धि नहीं होती जब कि कहा गया है कि 'पूर्वो धातुः परः कुर्याद् वृद्धः क्षीणश्च तद्विधम्' एवमेव 'धात्वाहाराश्च धातवः' अर्थात् पूर्वधातु वृद्ध या क्षीण जैसा होता है, वह पर धातु को भी अपनी तरह वृद्ध या क्षीण करता है। यही नियम 'धातु ही धातुओं के आहार हैं' इससे भी सिद्ध होता है। सारांश, सब धातुओं की क्षय-वृद्धि चलती ही रहती है अतः मेदोवृद्धि के साथ साथ वायु आदि का तथा रस-रक्त का भी चय होता ही है परन्तु इस चय के होते हुए भी पहले से बढ़ा हुआ मेद अधिकाधिक वृद्धि को प्राप्त होता है। धातुओं की समता भी वैसी अवस्था में नहीं होती। इस लिए बढ़ा हुआ मेद धातुओं की असमता के सहयोग को प्राप्तकर श्वासादि (श्वास, निद्रता, श्रम न कर सकना, जडता, आयु-बल और वेग की अल्पता, दौर्गन्ध्य, गद्गदत्व-अस्पष्ट भाषण) इन रोगों तथा ज्वर, उदर, भगन्दर, प्रमेह, ऊरुस्तम्भ, पिटिका, विद्रधि आदि रोगों को करता है।

अतिस्थूल पुरुष के लक्षण—शरीर का उपचय (संगठन) यथायोग्य न होने से जिसमें उत्साह न हो और जिसके चूतड़, उदर और स्तन चलते-फिरते हिलते हों उसे अतिस्थूल जानना चाहिए। ऐसे पुरुष के लिए वायुनाशक आहार की योजना करनी चाहिए।

श्लेष्ममेदोहरं यच्च कुलत्था यवका यवाः ।
जूर्णश्यामाकमुद्गाद्याः पानेऽरिष्टो[1] मधूदकम् ॥
मस्तु तक्रं च तीक्ष्णोष्णं रूक्षं छेदि च भेषजम् ।
चिन्ताव्यवायव्यायामशोधनास्वपनं भजेत् ॥
देहापेक्षी तथा रूक्षं स्नानमुद्वर्तनादि च ।
मधुना त्रिफलां लिह्याद् गुडूचीमभयां घनम् ॥
रसाञ्जनस्य महतः पञ्चमूलस्य गुग्गुलोः ।
शिलाजतोः[2] प्रयोगश्च साग्निमन्थरसो हितः ॥
विडङ्गं नागरं क्षारः काललोहरजो मधु ।
यवामलकचूर्णं च योगोऽतिस्थौल्यदोषजित् ॥
मदनं त्रिफलामुस्तसप्ताहारिष्टमस्तुकम्[3] ।
सपाठारग्वधं पीतमतिबृंहणरोगजित् ॥
तद्वद्वत्सकशम्पाकदेवदारुनिशाद्वयम् ।
समुस्तपाठाखदिरत्रिफलानिम्बगोक्षुरम् ॥
[मदनादीनि चालेपः स्नानादिष्वपि योजयेत् ।
हिङ्गुगोमेदकव्योषकुष्ठक्रौञ्चास्थिगोक्षुरम् ] ॥
एलावृषभषड्ग्रन्थाखराश्वोपलभेदकम् ।
तक्रेण दधिमण्डेन पीतकोलरसेन वा ॥
मूत्रकृच्छ्रं कृमीन्मेहं स्थूलतां च व्यपोहति ।
कृमिघ्नत्रिफलातैलासक्तुव्यूषणदीप्यकैः ॥
लोहोदकाप्लुतो मन्थः शस्तो बृंहणरोगिणाम् ।
व्योषकट्वीवराशिग्रुविडङ्गातिविषास्थिराः ॥
हिङ्गुसौवर्चलाजाजीयवानीधान्यचित्रकाः ।
निशे बृहत्यौ हपुषा पाठा मूलं च केम्बुकात् ॥
एषां चूर्णं मधु घृतं तैलं च सदृशांशकम् ।
सक्तुभिः षोडशगुणैर्युक्तं पीतं निहन्ति तत् ॥
अतिस्थौल्यादिकान् सर्वान् रोगानन्यांश्च तद्विधान् ।
हृद्रोगकामलाश्वित्रश्वासकासगलग्रहान् ॥
बुद्धिमेधास्मृतिकरं सन्नस्याग्नेश्च दीपनम् ।
योज्यं तथा यथाव्याधिः स्वेदासृक्स्रावणान्यपि ॥

अतिस्थूल की चिकित्सा—ऊपर कह आए हैं कि अतिस्थूल के लिए वायुनाशक अन्न की योजना करे इसी प्रकार कफ और

१. पानेऽरिष्टम् २. शिलाह्वस्य ३. वत्सकम् ४. इन्दुटीकापुस्तकेऽधिकोऽयं पाठः ५. वृक्षक ६. त्रिफलं।

मेद के हरनेवाले कुलथी, यवक, यव, जूर्ण ( तृणधान्य विशेष ), सांवा और मूंग आदि अन्नों का सेवन करावे, नाना प्रकार के अरिष्ट एवं शहद और जल पिलावे। मस्तु ( दही के ऊपर का जल ), छाछ, तीक्ष्ण-उष्ण-रूक्ष और छेदी ( कफ की नाशक ) ओषधियां सेवन करावे। स्थूलता को शीघ्र हटानेवाले हैं इसलिए चिन्ता, मैथुन, व्यायाम, शोधन ( वमनविरेचनादि ) और जागरण करावे। शरीर के लिए जैसी आवश्यकता हो वैसे रूक्ष स्नान और उबटन आदि करावे। त्रिफला, गिलोय, हरड तथा नागरमोथा इनमें से किसी एक का सेवन शहद के साथ करावे। रसोत, बृहत्पञ्चमूल, गूगल और शिलाजीत इनमें से किसी एक प्रयोग को अग्निमन्थ ( अरनी ) के रस के साथ सेवन करावे।

विडंगादि चूर्ण—वायविडङ्ग, सौंठ, जवाखार, तीक्ष्णलोह-भस्म, शहद, जौ और आमला इन सबको समभाग लेकर चूर्ण करके सेवन करावे। यह योग अतिस्थौल्य-दोष आदि को नष्ट करनेवाला है।

मदनफलादि चूर्ण—मैनफल, त्रिफला ( हरड़-बहेड़ा-आंवला ), नागरमोथा, सप्ताह्व ( सातला-थूहर या सतौना-सप्तपर्ण ), निम्ब, कुड़ाछाल, पाठ और अमलतास इन दस ओषधियों का समभाग चूर्ण या क्वाथ अतिस्थूलता को जीतनेवाला है।

कुटजादि चूर्ण—कुड़े की छाल, अमलतास, देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, नागरमोथा, पाढ़, खदिर (खैर की छाल या कत्था), हरड़, बहेड़ा, आंवला, निम्ब और गोखरू भी अतिस्थूलता को दूर करनेवाले हैं। पहले कहे हुए मदनादि ( मैनफल-त्रिफला-नागरमोथा-सातला-निम्ब-कुड़ा-पाठा और अमलतास ) इन दस ओषधियों के क्वाथ का उपयोग लेप, स्नान आदि में भी करे।

हिंग्वादि चूर्ण—हींग, गोमेद, सौंठ, मिरच, पीपल, कूट, क्रौञ्चपक्षी की हड्डी, गोखरू, इलायची, अडूसा, बच, अजमोदा और पषाणभेद इन सबके समभाग चूर्ण का सेवन छाछ, दही के माँड या बेर के रस के साथ करने से यह मूत्र-कृच्छ्र, क्रिमि, प्रमेह और स्थूलता का नाश करता है।

विडङ्गादि मन्थ—बायविडङ्ग, हरड़, बहेड़ा, आमला, तेल, सक्तु=यव-चावल-चावल की खील इनमें से किसी एकका[1] चूर्ण, सौंठ, मिरच, पीपल और अजवायन इन दस को सम-भाग लेकर षडङ्गविधान से तयार किया हुआ मन्थ काले अगर के जल से युक्त अथवा जिसमें लोहा तपा कर बुझाया[2] गया हो ऐसा यह मन्थ स्थूलरोगियों के लिए सेवन कराने से हितकारी होता है।

व्योषादि मन्थ—सौंठ, मिरच, पीपल, कुटकी, त्रिफला, सहँजने के मूल की छाल, वायविडङ्ग, अतीस, शालपर्णी या आखुपर्णी, हींग, काला नमक, जीरा, अजवायन, धनियां, चित्रक, हल्दी, दारुहल्दी, छोटी बड़ी दोनों कटेली, हाऊबेर, पाढ, सुपारी या केऊकी जड़ इन सबको समभाग लेकर चूर्ण करके इस चूर्ण के समान शहद ले, इसी मान से घी और तेल लेवे। भावार्थ यह है कि पूर्वोक्त २४ ओषधियों का एक भाग तथा इसी भाग के बराबर शहद, घी और तेल के भाग ले और चारों भागों से १६ गुना जव का सत्तू ले। इन सबको जल में घोल-कर मन्थ तयार करे। इस मन्थ के पीने से अतिस्थौल्यादि पहले वर्णन किए गये सब रोग तथा इसी प्रकार के अन्य सब हृद्रोग, कामला, श्वित्र ( श्वेत कोढ़ ), श्वास, खांसी और गल-ग्रह ( कण्ठरोध या गलगण्ड ) रोगों का नाश होता है। इतना ही नहीं, इस प्रयोग के सेवन करने से मनुष्यों की बुद्धि, धारणशक्ति और स्मरणशक्ति बढ़ती है तथैव मन्द पड़ी हुई अग्नि प्रदीप्त होती है। इसी प्रकार जैसी व्याधि हो उसके अनुसार स्वेदन और रक्त का परिस्रावण भी कराना चाहिए।

अतिकार्श्यं भ्रमः कासस्तृष्णाधिक्यमरोचकः।
स्नेहाग्नि-निद्राहक्श्रोत्र-शुक्रौजःक्षुत्स्वरक्षयः ॥[1]
वस्तिहृन्मूर्द्धजङ्घोरुत्रिकपार्श्वरुजा ज्वरः।
प्रलापोर्ध्वानिलग्लानिच्छर्दिपर्वास्थिभेदनम् ॥
वर्चोमूत्रग्रहाद्याश्च जायन्तेऽतिविलङ्घनात्।
अतिकार्श्येन नायासवर्षशीतोष्णक्षुत्तृषः[2] ॥
तृप्तिव्याध्योषधिमान् सहतेऽल्पबलत्वतः।
श्वासकासक्षयप्लीहगुल्मार्शोवह्निमन्दताः ॥
कृशं प्रायश्च धावन्ति रक्तपित्तज्वरामयाः[3] ।

अतिलङ्घन से अतिकार्श्यादि दोष—अतिस्थूल की चिकित्सा जो पंहले कह आए हैं उससे अतिस्थूलता का नाश होकर मनुष्य में कृशता आती है और इस कृशता को लाने के लिए मुख्य उपाय लङ्घन है परन्तु ध्यान रहे कि लङ्घन भी देहापेक्षी करना चाहिए। इसलिए कि अतिलङ्घन के कारण अतिकार्श्य ( अतिदुबलापन ), चक्कर आना, खांसी, प्यास की अधिकता और अरोचक पैदा होता है, स्नेह ( शरीर की चिकनाई )-अग्नि-निद्रा-दृष्टि-श्रोत्र ( देखना-सुनना )-वीर्य-ओज-क्षुधा और स्वर इनका नाश होता है, बस्ति ( पेड़ू ) तथा हृदय में पीड़ा, सिर, जङ्घा, ऊरु, त्रिकस्थान और पसवाड़ों में पीड़ा होती है, ज्वर भी होता है। इनके अतिरिक्त अतिलङ्घन से प्रलाप, ऊर्ध्वश्वास या डकार में विकृति, ग्लानि, वमन, अंगु-लियों के पर्वों में तथा अस्थियों में फूटने की सी पीड़ा (पर्वों में पीड़ा और हड़फूटन ), मल ( पुरीष ) मूत्र का रुकना आदि अर्थात् नाना प्रकार के वायु के रोग उत्पन्न होते हैं। इतना ही नहीं, अतिकार्श्य ( अति दुबलाई ) से मनुष्य परिश्रम, वर्षा, शीत, उष्णता, क्षुधा, तृषा, तृप्ति, व्याधि और औषध का मद इनको सहन नहीं कर सकता। अल्प बलत्व के कारण उस कृश पुरुष में श्वास, कास, क्षय, प्लीह, गुल्म, अर्श, अग्नि-मान्द्य, रक्तपित्त, ज्वर और वायु के रोग प्रायः दौड़कर आ जाते हैं अर्थात् आक्रमण करते हैं।

कार्श्यमेव वरं स्थौल्यान्न हि स्थौल्यस्य भेषजम्।
बृंहणं लङ्घनं नालमतिमेदोऽग्निवातजित् ॥
मधुरस्निग्धसौहित्यैर्यत्सौख्येन च नश्यति।
क्रशिमास्थविमास्यन्तविपरीतनिषेवणैः ॥

१. 'यवतण्डुललाजादिचूर्णे सक्तुः प्रकीर्तितः॥' २. लोहोदकाप्लुत इत्यगुरूदकाप्लुतः। उदककरणं च षडङ्गविधानेन, इति चक्रदत्तः। लोहोदकेन शस्त्रभाजनोषितपानीयेनाप्लुतः। इतीन्दुः

१. हृङ् २. तृट्क्षुधः ३. पित्तानिलामयाः। ४. 'मूत्रग्रहाद्याश्चे-त्यत्रादि ग्रहणेन नानाविधानां वातजानां रोगाणां ग्रहणम्' इतीन्दुः।

स्थौल्य से कार्श्य की श्रेष्ठता—ऊपर बताया गया है कि कार्श्य से अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है किन्तु इतना होते हुए भी स्थौल्य से कार्श्य (दुबलापन) अच्छा है। इसलिए कि स्थौल्य की ओषधि नहीं है। स्थौल्य के लिए वही औषध ठीक है जो बढ़े हुए मेद, वायु और अग्नि को जीतनेवाला हो परन्तु बढ़े हुए मेद, वायु और अग्नि को जीतने में न तो बृंहण ही पर्याप्त होता है और न लङ्घन ही। भावार्थ यह है कि बृंहण के देने से वायु और अग्नि शान्त हो सकते हैं परन्तु मेद का नाश नहीं होता। इसी प्रकार यदि लङ्घन दिया जाता है तो उससे मेद का नाश हो सकता है परन्तु वायु और अग्नि का नाश न होकर विपरीत इसके वृद्धि अवश्य होती है। सारांश यह कि स्थौल्य बड़ा दुश्चिकित्स्य (बड़ी कठिनाई से जीता जानेवाला) है। विपरीत इसके मधुर, स्निग्धादि तृप्तिदायक बृंहण को देकर कृशिमा (कार्श्य) का नाश सुख से हो सकता है अतः स्थौल्य की अपेक्षा कार्श्य ही श्रेष्ठ है। फिर भी स्थविमा (स्थौल्य) को जीतना चाहें तो इसके अत्यन्त विपरीत पदार्थों के सेवन कराने से जीता जा सकता है। इसीलिए स्थौल्य को दुश्चिकित्स्य कहा गया है।

शुष्कस्फिगुदरग्रीवः स्थूलपर्वा सिरा ततः ।
उच्यतेऽतिकृशस्तत्र प्रागुक्तो बृंहणो विधिः ॥
अश्वगन्धाविदार्याद्या वृष्याश्चौषधयो हिताः ।
अचिन्तया हर्षणेन ध्रुवं संतर्पणेन च ॥
स्वप्नप्रसंगाच्च कृशो वराह इव पुष्यति ।
लङ्घनोत्थेषु रोगेषु शेषेष्वप्युपकल्पयेत् ॥
यत्तदात्वे समर्थं स्याद्यच्चाभ्यासेन पुष्टये ।
सद्यः क्षीणो यतः सद्यो बृंहणेनोपचीयते ॥
चिरं क्रमेण च क्षीणस्तदाभ्यासेन तत्र च ।
बृंहणं तत्र मात्राग्निबलादीन् वीक्ष्य योजयेत् ॥

अतिकृश के लक्षण और चिकित्सा—जिसके स्फिक् (चूतड़), पेट और ग्रीवा (गर्दन) सूख गए हों, अस्थियों की सन्धियें स्थूल दिखाई दें तथा जिसकी सिरा (नसें) फैली हुई ऊपर उठी हुई दिखाई दें उसको कृश कहते हैं। इसके लिए पहले बृंहण-विधि कहा गया है, वही चिकित्सा है। सारांश, असगन्ध, विदारीकन्द आदि जो वृष्य ओषधियाँ हैं वे कृश के लिए हितकारी हैं। किसी भी प्रकार की चिन्ता न करने से, हर्ष से, तृप्तिदायक पदार्थों से तथा सुख की नींद सोने से निश्चय ही वराह (शूकर) की तरह कृश मनुष्य पुष्ट होता है। कार्श्य के अतिरिक्त लङ्घन से उत्पन्न होनेवाले रोगों के लिए भी इसी प्रकार कल्पना करनी चाहिए। उस समय में जो तत्काल कृश को पुष्ट करने में समर्थ हो उसी ओषधि का अभ्यास कराना चाहिए। इसलिए कि सद्यः क्षीण पुरुष सद्यो बृंहण से पुष्ट होता है और चिरकाल से क्षीण हुआ हो तो वह चिरकाल तक बृंहण के अभ्यास से क्रम से पुष्ट होता है किन्तु ध्यान रहे कि बृंहण का प्रयोग मात्रा, अग्नि, देश, काल, बल आदि को देखकर करना चाहिए।

न हि मांससमं किंचिदन्यद्देहबृंहत्वकृत् ।
मांसादमांसं मांसेन संभृतत्वाद्विशेषतः ॥
क्रव्यान्मांसरसास्तस्माद्दकलावणिकाँल्लघून्[1] ।
वेसवारीकृतैस्तद्वज्जाङ्गलैश्च[2] कृताकृतान्[3] ॥
रसांस्तथा च क्षीरादींस्तर्पणांस्तर्पणान्[4] पुनः ।
युञ्ज्यात्कृशानां ज्वरिणां कासिनां मूत्रकृच्छ्रिणाम्[5] ॥
तृष्यतामूर्ध्ववातानां मूढमारुतवर्चसाम् ।

बृंहण में मांस की प्रधानता—शरीर को पुष्ट करनेवाला मांस है, ऐसा कोई भी अन्य पदार्थ नहीं है। मांसाहारियों के लिए मांसदमांस अर्थात् मांस खानेवाले सिंहादि पशुओं का मांस विशेष हितकारी है जब कि वह मृग आदि के मांस से मिलाकर दिया जाय। लङ्घन से उत्पन्न रोगों में पशु-पक्षियों के दकलावणिक मांसरसों का सेवन कराना अच्छा है क्योंकि दकलावणिक मांसरस लघु (हल्के) होते हैं। दकलावणिक उस मांसरस के यूष-विशेष को कहते हैं—'जो अल्पमांस, नमक, स्नेह और जल से बनाए गये हों तथा जो पतले हों।' इनकी व्याख्या पहले भलीभांति कर चुके हैं। तथा लङ्घनोत्पन्न-व्याधियों में जाङ्गल देश के पशुपक्षियों के बेसवारमिश्रित कृत और अकृत (स्नेह-शुण्ठी आदि से युक्त और स्नेह-शुण्ठी आदि से रहित) मांसरस यूषों का सेवन करावे। यहां बेसवार उस अस्थिरहित उबाले हुए मांस का नाम है जो उबलने के बाद शिला पर पीसा जाकर उसमें पीपल, खांड, मरिच, गुड़ और घृत मिलाकर पकाया जाता है। अथवा कृश, ज्वररोगी, खांसी का रोगी, मूत्रकृच्छ्र का रोगी, तृष्णारोगी, ऊर्ध्ववाती (ऊर्ध्वश्वास या डकार के विकार का रोगी), अपानवायु तथा मल (पुरीष) का अवरोध हो गया है जिसको ऐसे रोगियों को तृप्तिकारक क्षीर आदि (दूध, ईख का रस आदि) तर्पणों का सेवन कराना चाहिए। यहां तर्पण शब्द से सत्तुओं का भी ग्रहण करना चाहिए।

समकृष्णासितातैलक्षौद्राज्यो हि सतर्पणः[6] ।
मन्थस्तद्वत्सिताक्षौद्रमदिरासक्तुयोजितः ॥
फाणितं सक्तवः सर्पिर्दधिमण्डोऽम्लकाञ्जिकम् ।
तर्पणं मूत्रकृच्छ्रघ्नमुदावर्तहरं परम् ॥
मन्थः खर्जूरमृद्वीकावृक्षाम्लाम्लीकदाडिमैः ।
परूषकैः सामलकैः सद्यस्तृष्णार्तिरोगजित्[7] ॥
स्वादुरम्लो जलकृतः सस्नेहो रूक्ष एव च ।
सद्यः संतर्पणो मन्थः स्थैर्यवर्णबलप्रदः ॥

१. 'नातिमांसास्तनुरसा दकलावणिकाः स्मृताः' किंवा 'अल्पमांसपट्वस्नेहा दकलावणिकाः स्मृताः' इति। २. अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना। विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः संयुतं कृतम्" इति सुश्रुतः। ३. मांसं निरस्थि सुस्विन्नं पुनर्दृषदि पेषितम्। पिप्पलीखण्डमरिचगुडसर्पिःसमन्वितम्। ऐकध्यं विपचेत्सम्यग् वेसवार इति स्मृतः॥ ४. तथा च क्षीरादीन् अत्रादिग्रहणेनेक्षुरसादीनां ग्रहणम्। इतीन्दुः। ५. कृशानां ज्वरितादीनां तर्पणादीन्यपि युञ्ज्यादनेन हि तर्पणशब्देन सक्तव उच्यन्त इत्यपीन्दुः। ६. समैः कृष्णासितातैलक्षौद्राद्यैर्द्व्यशतर्पणैः। ७. सद्यस्तृष्णादिरोगजित्॥

पिप्पल्यादि मन्थ—अथवा पीपल, मिश्री, तेल, शहद और घृत ये सब समभाग लेकर इन सबके बराबर सत्तू मिलाकर ( चरक के कथनानुसार सबसे दुगुने सत्तू मिलाकर ) मन्थ तैयार करे और सेवन करे तो यह मन्थ बड़ा प्रशस्त, वीर्यवर्धक एवं वृष्य है। इससे लङ्घन से उत्पन्न हुए ज्वर, खांसी, मूत्रकृच्छ्र, तृष्णा, ऊर्ध्ववात, मलमूत्र तथा अपान वायु का अवरोध नष्ट होता है।

सितादि मन्थ—इसी प्रकार मिश्री, शहद, मदिरा और सत्तू से बनाया हुआ मन्थ उपर्युक्त रोगों का हरनेवाला है। चरक में इसी को अपान वायु, विट् ( पुरीष ), मूत्र, कफ और पित्त को अनुलोमन करनेवाला कहा है।

फाणितादि—अथवा गुड़ की राब ( फाणित ), सत्तू, घृत, दही का जल और खट्टी काञ्जी से बना हुआ मन्थ पीवे तो इससे तृप्ति होती है तथा मूत्रकृच्छ्र और उदावर्त के नाश करने में यह परम श्रेष्ठ है।

खर्जूरादि—खजूर, मुनक्का या किसमिश, विषाम्बिल ( कोकम ), इमली, अनारदाना, फालसा और आंवला इनसे युक्त मन्थ ( जल में घोला हुआ सत्तू ) तृष्णा आदि रोगों को जीतनेवाला होता है। चरक में—तृष्णादिरोगजित्-की जगह-मद्यविकारनुत्-अर्थात् मद्य के विकारों को नष्ट करनेवाला कहा है। मीठा और खट्टा, स्निग्ध या रूक्ष जल के साथ बनाया हुआ मन्थ शीघ्र ही तृप्ति करनेवाला और स्थिरता, वर्ण और बल को देनेवाला है।

विशेष वक्तव्य—इन सब मन्थों में जहां प्रमाण न कहा गया हो अथवा केवल सत्तू का नाम निर्देश हो अथवा न भी हो तो भी प्रयोग में कहे हुए सब द्रव्यों से सत्तू द्विगुणित लेने चाहिए। जहां किसी द्रव का घोलने का निर्देश न हो तो जल के साथ घोलना चाहिए। जल भी यदि अर्धक्वथित ठंडा करके लिया जाय तो श्रेष्ठ होता है।

गुरु चातर्पणं स्थूले विपरीतं हितं कृशे ।
यवगोधूममुभयोस्तद्योग्यं हितकल्पनम् ॥
स्थौल्यकार्श्ये प्रकृत्यापि स्यातां तत्राप्ययं विधिः ।
सततं व्याधिततया सदा योज्यो विभज्य च ॥

स्थूल और कृश की चिकित्सा में भेद—स्थूल के लिए गुरु अपतर्पण ( बलवान् लङ्घन ) तथा उसी के अनुकूल आहार की योजना करनी चाहिए और इसके विपरीत कृश के लिए बलवान् संतर्पण एवं तदनुकूल आहार की कल्पना करनी चाहिए। जौ और गेहूँ दोनों को देना चाहिए परन्तु उनके योग्य कल्पना से तयार किए हुए देने चाहिए। भावार्थ यह है कि स्थूल के लिए जौ और गेहूं अपतर्पण की कल्पनानुसार तयार कर देना चाहिए और कृश को देना हो तो संतर्पण की कल्पनानुसार बनाकर देने चाहिए। बहुत से मनुष्य प्रकृति से भी स्थूल और कृश देखे जाते हैं अर्थात् वे अपने को रोगी नहीं मानते किन्तु वास्तव में वे रोगी ही हैं अतः उनके लिए भी यही विधि करनी चाहिए। जो जैसा रोगी हो, उसकी भली भांति चिन्ता करके उसी के अनुसार सदैव औषधि का विभाजन करके चिकित्सा करनी चाहिए।

मात्रादियुक्ते सेवेत यस्तु बृंहणलङ्घने ।
समधातुरग्निदेहोऽसौ समसंहननो भवेत् ॥
दृढेन्द्रियबलत्वाच्च न द्वन्द्वैरभियुज्यते ।
दोषगत्यातिरिच्यन्ते ग्राहिभेद्यादिभेदतः ॥
उपक्रमा न तु द्वित्वाद्भिन्ना अपि गदा इव ।

इति चतुर्विंशोऽध्यायः ॥

मात्रादियुक्त लङ्घनबृंहणोपदेश—अतियोग-अयोग आदि से बचता हुआ जो मनुष्य मात्रादियुक्त ( मात्रा, देश, काल, बल आदि का विचार करके ) बृंहण और लङ्घन का सेवन करता है, वह समधातु, समाग्नि तथा समसंहनन होता है अर्थात उसके देह में विषमावस्था दूर होकर वातपित्तादि धातु साम्यावस्था में रहते हैं। अग्नि भी मन्द, तीक्ष्ण और विषम न रहकर समाग्नि रहती है और शरीर भी सम संघटनवाला होता है, कहीं स्थूल तो कहीं कृश ऐसा नहीं रहता। भावार्थ यह है कि सुश्रुत के 'समधातुमलक्रियः' इस कथनानुसार युक्ति से लङ्घन-बृंहण का सेवक सर्वथा स्वस्थ रहता है। इतना ही नहीं, उसकी दृढ इन्द्रियों एवं बलत्व के कारण वह शीत, वात, आतपादि दुःखों से युक्त नहीं होता है।

अध्यायोपसंहार—यद्यपि वातादि दोषों की गति के कारण ग्राही, भेदी आदि अनेक उपक्रम शास्त्रों में दिखाई देते हैं परन्तु रोगों की तरह उपक्रम भी दो प्रकारों से बाहर नहीं है अपितु बृंहण और लङ्घन ऐसे दो ही प्रकार उपक्रम (चिकित्सा) के निश्चित हैं। भवार्थ यह कि व्याधियें अनेक रहती हुई भी चिकित्सा में वे बृंहणीय या लङ्घनीय होने से अग्निसोमत्व के बाहर नहीं जा सकतीं इसी प्रकार लङ्घन-बृंहण ये दो ही वस्तुतः ग्राही, भेदी आदि विशेष को प्राप्त होते हैं। इस लिए उपक्रम के दो ही प्रकार हैं।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिका-हिन्दीव्याख्यायां द्विविधोपक्रमणीयो नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

# अथ पञ्चविंशोऽध्यायः।

इसके पूर्वाध्याय में द्विविध उपक्रम ( चिकित्सा के दो प्रकार ) कहे गए जिन्हें लङ्घन और बृंहण कहा गया है। इनमें लङ्घन के शोधनात्मक होने से और शोधन के स्नेह-स्वेद-पूर्वक होने से तथा स्नेह-स्वेद इन दोनों में भी दोषों को मृदु करना स्नेह के आधीन होने से स्नेह के विशेष ज्ञान की आवश्यकता है। इसी लिए द्विविधोपक्रम के अनन्तर क्रमप्राप्त इस अध्याय का आरम्भ करते हुए वाग्भटाचार्य कहते हैं कि—

अथातः स्नेहविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति हस्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

स्नेह विधि—अब इसके आगे हम जिसमें स्नेह-विधि का वर्णन है उस स्नेहविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया।

स्नेहादिषूपयोगाय तद्व्यापच्छमनाय च ।
कुर्यात्प्रागेव तद्योगिद्रव्यसंभारसंग्रहम्

स्नेहादि उपयोगी संग्रहः—स्नेह आदि में उपयोग के लिए तथा देश, काल आदि की विपरीतता में स्नेहादि की व्यापत्ति को शमन करने के लिए पहले ही से उसके उपयोगी घृत, तेल, वसा, शराव, ढक्कनादि की सामग्री का संग्रह करना चाहिए।

गुरुशीतसरस्निग्धमन्दसूक्ष्ममृदुद्रवम् ।
औषधं स्नेहनं प्रायो विपरीतं विरूक्षणम् ॥

स्नेहन और विरूक्षण के लक्षण—जो द्रव्य गुरु, शीत, सर, स्निग्ध, मन्द, सूक्ष्म, मृदु और द्रवगुणवाला होता है वह प्रायः स्नेहन औषध जानना चाहिए। इन गुणों से विपरीत गुणवाला भी स्नेहन औषध हो सकता है जैसे कि सरसों का तेल, बकरी का दूध, विष्किर, प्रतुद और मृग ये लघु होकर भी स्नेहन करनेवाले हैं। इसी प्रकार मत्स्य तथा मांस उष्ण होते हुए भी स्नेहन हैं। इसीलिए यहां प्रायः शब्द का कथन किया है। उपर्युक्त गुरु, शीत, सर आदि गुणों से विपरीत अर्थात् लघु, उष्ण, स्थिर, रूक्ष, तीक्ष्ण, स्थूल एवं कठिन गुणवाले औषध प्रायः रूक्षण हैं। यहां भी प्रायः कथन से यह बताया गया है कि इन लघु, उष्ण आदि गुणों से विपरीत द्रव्य भी रूक्षण होते हैं जैसे कि यव गुरु, शीत और सर होकर भी रूक्षण करता है। सारांश, स्नेहन और रूक्षण द्रव्यों के लिए यह साधारण नियम है।

सर्पिर्मज्जा वसा तैलं स्नेहेषु प्रवरं मतम् ।
तत्रापि चोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात् ॥
माधुर्यादविदाहित्वाज्जन्माद्येव च शीलनात् ॥

स्नेहों में चतुर्विध स्नेह की श्रेष्ठता—घृत, मज्जा, वसा और तेल ये चार स्नेह सब स्नेहों में उत्तम हैं। इसीलिए इन चारों को महास्नेह कहा गया है। इनमें भी घृत सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि घृत संस्कारानुवर्ति है अर्थात् घृत के साथ जैसा संस्कार किया जाता है, वह तदनुकूल फल देता है जैसे कि उष्ण ओषधियों के साथ संस्कृत घृत उष्ण होता है और शीतादि ओषधियों के साथ संस्कार करने से शीतादि गुणवाला होता है। इतना ही नहीं, जन्म से ही घृत मधुर और अविदाही होने के कारण सब स्नेहों से उत्तम है। सबसे बड़ा गुण घृत में यह है कि वह अन्य द्रव्यों के साथ संस्कृत होने पर उन ओषधियों का सहायक बनकर गुणवृद्धि करता है परन्तु अपने असली धर्म या गुण को नहीं छोड़ता जैसे कि अन्य तेल आदि स्नेह अन्य ओषधियों के साथ संस्कृत होने पर उनके गुणवाले हो जाते हैं और अपने असली गुण को छोड़ देते हैं।

पित्तघ्नास्ते यथापूर्वमितरघ्ना यथोत्तरम् ।
घृतात्तैलं गुरु वसा तैलान्मज्जा ततोऽपि च ॥
द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिस्तैर्यमकस्त्रिवृतो महान् ।
स्नेहाशया दधिः क्षीरं मांसास्थि फलदारु च ॥

चतुःस्नेहों के गुण—घृत आदि ये चार स्नेह यथापूर्व पित्तनाशक हैं और यथोत्तर वातनाशक हैं (यहां इतर शब्द से केवल वात का ही ग्रहण उचित है क्यों कि स्नेह प्रायः कफवर्धक हैं।) यथापूर्वका भावार्थ यह है कि तैल से पूर्व वसा, वसा से पूर्व मज्जा और मज्जा से पूर्व घृत है अतः तैल से वसा विशेष पित्तनाशक है, वसा से भी विशेष पित्तनाशक मज्जा है और मज्जा से भी घृत विशेष पित्तनाशक है। इसी प्रकार यथोत्तर अर्थात् घृत से भी विशेष वातकफनाशक मज्जा है, मज्जा से भी वसा विशेष वातकफनाशक है तथा वसा से भी विशेष वातकफनाशक तैल है। ध्यान रहे कि यहां तैल से वसा विशेष पित्तनाशक है, इससे तेल भी पित्तनाशक है यह दिखाई देता है सो अन्नादियोनिवशात् यथा कथंचित् ठीक भी है परन्तु वस्तुतः तेल पित्तनाशक नहीं है, इसलिए कि इसके पहले पूर्वत्व का अभाव है।

घृतादि स्नेहों की उत्तरोत्तर गुरुता—घृत से तेल गुरु (भारी) है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर तेल से वसा गुरु है और वसा से मज्जा गुरु है।

चतुःस्नेहों की यमकादि संज्ञा—इन चार स्नेहों में से उत्तरोत्तर दो स्नेहों के योग से यमक स्नेह संज्ञा होती है, तीन स्नेहों के मिलने से त्रिवृतस्नेह और सब स्नेह मिलकर महास्नेह कहलाता है जैसे कि घृततैल से यमक, घृततैल वसा से त्रिवृत और घृततैलवसा और मज्जा इन चारों के मिलने से महास्नेह होता है। यह हेमाद्रिका मत है किन्तु अरुणदत्तका कहना है कि दो दो स्नेहों के मिलने से यमक स्नेह होता है, जैसे कि घृत-वसा, घृत-तेल एवं घृत-मज्जा। त्रिवृत अर्थात् घृत, तेल, वसा और मज्जा इन चारों में से तीन २ स्नेहों के मिलने से और सब के मिलने से महास्नेह होता है।

स्नेहों के आशय—दधि और क्षीर, मांस, अस्थि, फल और काष्ठ ये क्रम से स्नेहों के आशय अर्थात् स्नेह की योनियां हैं। भावार्थ यह है कि दही और दूध ये घृत के आशय हैं। मांस वसा (चर्बी) का आशय है। अस्थि मज्जा का आशय है और फल तथा काष्ठ ये तेल के आशय हैं अर्थात् घृत, वसा, मज्जा और तेल इन चारों की उत्पत्ति इनसे होती है।

स्वेद्यसंशोध्यमद्यस्त्रीव्यायामासक्तचिन्तकाः।
वृद्धबालाऽबलकृशा रूक्षाः क्षीणास्त्ररेतसः ॥
वातार्तस्यन्दतिमिरदारुणप्रतिबोधिनः ।
स्नेह्याः— ॥

स्नेहन के योग्य रोगी—जिसका स्वेदन करना हो, जिसका वमन विरेचनादि संशोधन करना हो, जो मद्यपान से, स्त्रीसङ्गसे व्यायाम से तथा चिन्ता से क्षीण हो, जो वृद्ध हो, बालक हो, निर्बलता के कारण कृश हो गया हो, जो रूक्ष हो, जिसका रक्त और वीर्य क्षीण हो गया हो, जो वायु से पीडित हो, जो नेत्राभिष्यन्द रोगवाला हो, जो तिमिर-रोगी हो (जिसकी आंखों के सामने अँधियारी आती हो) और जो दारुण प्रतिबोधी

१. स्वगुणानजहत् संस्कारगुणान् गृह्णातीति संस्कारानुवर्ती। न ह्येतत्तैलादिषु संभवति। ते हि स्वगुणांस्त्यजन्तीतीन्दुः।

१. श्लेष्मणः स्नेहप्रतिषेधादितरशब्देन वातघ्ना इति गम्यते। द्रव्यान्तरसंस्कृतसर्पिराद्यपेक्षया इतरशब्देन कफस्यापि ग्रहणम् इत्यपीन्दुः। २. यमकादि संज्ञात्रयमाह—द्वाभ्यामिति। तैः—गुरुत्वोक्तक्रमैः। तेन घृततैलाभ्यां यमकः, घृततैलवसाभिस्त्रिवृतः, सर्वैर्महानिति हेमाद्रिः। द्वाभ्यां स्नेहाभ्यां—सर्पिर्वसाभ्यां सर्पिस्तैलाभ्यां सर्पिर्मज्जभ्यामित्यादि, द्वाभ्यां द्वाभ्यां यमको नाम्ना स्नेहः। एवं त्रिभिः स्नेहैस्त्रिवृत इत्यरुणदत्तः।

कृच्छ्रोन्मीलन वर्त्मरोगवाला अर्थात् जिसकी आंखें कष्ट से खुलती हों ) ये सब स्नेहन के योग्य हैं अर्थात् इन सबका स्नेहन कराना चाहिए।

न त्वतिमन्दाग्निनितीक्ष्णाग्निस्थूलदुर्बलाः ।
ऊरुस्तम्भातिसारामगलरोगगरोदरैः ॥
मूर्च्छाच्छर्द्यरुचिश्लेष्मतृष्णामद्यैश्च पीडिताः ।
अपप्रसूता युक्ते च नस्ये वस्तौ विरेचने ॥

स्नेह के अयोग्य प्राणी—जो अतिमन्दाग्निवाला या अति तीक्ष्णाग्निवाला हो, जो अति स्थूल हो, अति दुर्बल हो, जो ऊरुस्तम्भ-अतिसार-आम-गलरोग-गर (कृत्रिम विष)-उदर-मूर्च्छा-छर्दि-अरुचि-कफ-तृष्णा और मदात्यय इन रोगों में से किसी रोग से पीडित हो, अपप्रसूता ( जिस स्त्री का गर्भस्राव या गर्भपात हो गया हो ), जिसके नस्य, बस्ति और विरेचन देने पर दोष शान्त न हुए हों ऐसे प्राणियों को स्नेहन नहीं कराना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—अति मन्दाग्निवाले को स्नेहन कराने से उसकी रही सही जठराग्नि नष्ट हो जाने का भय होता है। अति तीक्ष्णाग्नि स्नेहको प्राप्त कर और भी अधिक भड़क जाने का डर है। अतिस्थूल को स्नेहन कराने से अग्नि और मेद की वृद्धि होगी। अति दुर्बल को स्नेहन कराने से स्नेह दुर्जर होगा अर्थात् वह स्नेह को पचा नहीं सकेगा अतः उसमें स्नेह व्यापत् होने का डर होता है। स्नेह स्निग्ध-शीत होने से उससे ऊरुस्तम्भादि रोगों में और अधिक वृद्धि होने का संभव रहता है। इसीलिए इन सबको स्नेहन नहीं कराना चाहिए।

तत्र धीस्मृतिमेधाग्निकाङ्क्षिणां[1] शस्यते घृतम् ।
ग्रन्थिनाडीकृमिश्लेष्ममेदोमारुतरोगिषु ॥
तैलं लाघवदार्ढ्यार्थिक्रूरकोष्ठेषु देहिषु ।
वातातपाध्वभारस्त्रीव्यायामक्षीणधातुषु ॥
रूक्षक्लेशक्षमात्यग्निवातावृतपथेषु च ।
शेषौ, वसा तु सन्ध्यस्थिमर्मकोष्ठरुजासु च ॥
तथा दग्धाहतभ्रष्टयोनिकर्णशिरोरुजि ॥

घृत स्नेह का उपयोग—बुद्धि, स्मृति, मेधा ( धारणा शक्ति ) और जठराग्नि की कामनावाले प्राणियोंको इन चार स्नेहों में से घृत का स्नेहन कराना श्रेष्ठ है। मेधादि पाठान्तर से स्वर, आयु तथा वर्ण आदि की आकाङ्क्षावालों को भी घृत का स्नेहन देना हितकर है।

तैलस्नेह का उपयोग—ग्रन्थिरोग, नाडी (भगन्दरादि नासूरवाले रोग ), कृमिरोग, कफरोग, मेदोवृद्धि तथा वातव्याधिवालों को एवं शरीर में हलकापन ( लाघव-स्फूर्ति ) और दृढता की कामनावालों को तथा क्रूरकोष्ठवालों को तैल का स्नेहन देना श्रेष्ठ है।

वसा और मज्जा-स्नेह का उपयोग—वायु से, धूप से, मार्ग के चलने से, भार के उठाने से, स्त्रीसङ्ग से और व्यायाम से जो क्षीण हो गए हों, जिनका वीर्य या रसरक्तादि धातु क्षीण हो गए हों, इन सबको तथा जो रूक्षशरीरवाले हों, जिनमें क्लेश के सहन करने की शक्ति हो, जिनकी जठराग्नि अतितेज हो तथा जिनके शारीरस्रोत वायु से रुक गए हों, इन सबको शेष ( वसा और मज्जा का ) स्नेहन कराना श्रेष्ठ है। ध्यान रहे कि इनमें भी जो सन्धि-अस्थि-मर्म और कोष्ठस्थान के रोगी हों, जो जल गए हों, जिनको चोट लग गई हो, जिस स्त्री की योनि स्थानभ्रष्ट[1] ( योनि ने अपनी जगह छोड़ दी हो ) हो गई हो, जो कान और सिर के रोगी हों इन सबको वसा का स्नेहन कराना विशेष हितकारी है।

तैलं प्रावृषि वर्षान्ते सर्पिरन्यौ तु माधवे ।
सर्वं सर्वस्य च स्नेहं युञ्ज्याद्भास्वति निर्मले ॥
ऋतौ साधारणे...................... ।

कालविशेष से स्नेह का उपयोग—शोधन के प्रसङ्गमें[2] प्रावृट् अर्थात् श्रावण मास में तैल से स्नेहन कराना चाहिए और घृत का स्नेहन वर्षान्त ( शरद्-ऋतु ) के कार्तिक मास में तथा अन्य वसा और मज्जा-स्नेह माधव ( वसन्त ऋतु ) के चैत्र मास में प्रयुक्त कराना चाहिए। घृत, तैल, मज्जा और वसा ये चारों स्नेह सबके लिए साधारण ऋतुओं ( वसन्त-शरत्-प्रावृट् ) में अर्थात् चैत्र, कार्तिक और श्रावण मास में जब सूर्य निर्मल हो (अभ्राच्छादित न हो) तब प्रयुक्त करने चाहिए।

विशेष—यहां तैल का स्नेहन वर्षा में, घृत का शरहद् में और अन्य वसा तथा मज्जा का स्नेहन माधव ( वसन्त ) में ही क्यों बताया गया है? क्या अन्य ऋतुओं में इन सब स्नेहों का उपयोग नहीं कर सकते? अवश्य कर सकते हैं जैसे कि कहा गया है कि निर्मल सूर्य के रहने पर साधारण ऋतुओं में से सब स्नेहों का उपयोग कर सकते हैं किन्तु यहां तैल आदि स्नेहों की विशेषता बताई गई है। प्रावृट् ( वर्षा ) में वायु का प्रकोप होता है और तैल वायुनाशक है अतः तैल का स्नेहन वर्षा में विशेष फलप्रद है करके बताया गया है। घृत पित्त का प्रकोप शरद् ऋतु में होता है। इस घृत का स्नेहन शरद् ऋतु में बताया गया है। इसी प्रकार कफ का कोपकाल वसन्त है और वसा तथा मज्जा का स्नेह यद्यपि कफ के सदृश है तो भी वमन के प्रयोग में कफ का उत्क्लेशन करने में ये दोनों ( वसा और मज्जा ) समर्थ हैं अतः कफ का निर्हरण हो सकता है। इसीलिये वसा और मज्जा का स्नेहन वसन्त में उपयुक्त माना गया है।

..........दोषसाम्येऽनिलकफे कफे ।
दिवा निश्यनिले पित्ते संसर्गे पित्तवत्यपि ॥

रात्रि और दिन में स्नेह का नियम—दोष-साम्य ( दोषों की साम्यावस्था ) में अर्थात् वायु, कफ या केवल कफ ये प्राकृतावस्था में हों, चाहे विकृत हों तो पूर्वोक्त साधारण ऋतुओं ( श्रावण, कार्तिक, चैत्र ) में दिन को ही स्नेहन कराना चाहिये। इसी प्रकार प्राकृत या विकृत वायु और पित्त में

१. मेधादिकाङ्क्षिणाम्, इत्यन्ये पठन्ति। आदिशब्देन स्वरायुर्वर्णादिपरिग्रह इत्यरुणदत्तः।

१. 'भ्रष्टयोनिः—स्थानच्युतयोनिः' इति हेमाद्रिः। २. शोधनप्रसङ्गे प्रावृषि तैलं वातजयप्राधान्यात्। शरदि घृतं पित्तजयाय। वमनप्रयोगे कफोत्क्लेशनशक्तत्वात्सदृशेऽपि काले वसाया मज्जश्चोपयोग इतीन्दुः।

तथा पित्तसंसर्ग ( पित्त वायु-पित्त कफ ) साधारण कही हुई ऋतुओं में स्नेहन रात को ही कराना चाहिए।

त्वरमाणे तु शीतेऽपि दिवा तैलं च योजयेत् ।
उष्णेऽपि रात्रौ सर्पिश्च दोषादीन् वीक्ष्य चान्यथा ॥
निश्यश्नुते वातकफाद्रोगानहनि पित्ततः ॥

रात्रि दिन के स्नेह-नियम का अपवाद—यद्यपि तैल और घृत के स्नेहपान कराने का साधारण नियम रात्रि और दिन का ही है अर्थात् तैल-स्नेहन रात्रि में और घृत-स्नेहन दिन में ही देना चाहिए परन्तु किसी व्याधिवश स्नेहन करने की शीघ्र आवश्यकता हो तो दोषादि का विचार करे शीतकाल में भी और रात्रि में नहीं, दिन में तैल स्नेह की योजना करनी चाहिए और इसी प्रकार उष्णकाल होते हुए रात्रि में घृतस्नेह की योजना करनी चाहिए। भावार्थ यह है कि शीतकाल में भी कोई वातप्रधान ऐसा रोग हो गया हो जिसमें तुरन्त स्नेहपान कराना आवश्यक हो तो वहां दिन में आकाश के स्वच्छ रहने पर तैल के स्नेहपान की योजना करनी चाहिए। ऐसे ही यदि पित्तवृद्धि हुई हो, किसी पित्तप्रधान व्याधि में वात-विकार में या पित्तसहित वातविकार में संशोधन की आवश्यकता हो तो ग्रीष्म ऋतु में भी रात्रि के समय घृतपान कराकर स्नेहन कराना चाहिए। पित्तकफ-व्याधि में भी इस नियम से ही घृतस्नेहन रात्रि में देना हितकर होता है।

अन्यथा अर्थात् इसके विपरीत रात्रि में घृत का तथा दिन में तैल का पान कराकर स्नेहन दिया जायगा तो क्रम से उसमें वातकफ रोगों की और पित्तरोगों की उत्पत्ति होगी इसलिए वैद्य को चाहिये कि वह नियमानुसार ही स्नेहपान की योजना किया करे।

युक्त्याऽवचारयेत्स्नेहं भक्ष्याद्यन्नेन बस्तिभिः ।
नस्याभ्यञ्जनगण्डूषमूर्धकर्णाक्षितर्पणैः ॥

स्नेहावचारणविधि—युक्ति अर्थात् मात्रा, काल, क्रिया, देश, देह, दोष और स्वभाव इन सब का भली भांति विचार करके भक्ष्यादि ( भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और पेय ) के साथ तथा बस्तियों द्वारा, नस्य, अभ्यञ्जन, गण्डूष ( कुल्ली कराकर ), शिरस्तर्पण ( शिरोबस्ति देकर, कान में स्नेहपूरण करके और आंख के तर्पणपुटपाक विधि) द्वारा स्नेह का अवचारण (सेवन) करावे। यहां भक्ष्यादि के साथ स्नेहपान कराने का निर्देश है जिसका अर्थ भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और पेय होता है। इन सब का स्पष्टीकरण करने के लिए चरक ने लिखा है कि भक्ष्यादि का भावार्थ वस्तुतः ओदन ( भात ), विलेपी ( दलिया ), मांसरस, मांस, दूध, दही, यवागू, दाल, शाक, काम्बलिक और खलयूप, चावल यवादि के सत्तू, तिल का पिष्ट, मद्य, लेह ( नाना प्रकार के चाटन ), भक्ष्य, अभ्यञ्जन, बस्ति तथा उत्तरबस्तियां ये सब हैं। बस्तिभिः इस बहुवचन का निर्देश भी निरूह, अन्वासन और उत्तर इन तीनों, बस्तियों के लिये जानना चाहिए।

रसभेदैककत्वाभ्यां चतुःषष्टिर्विचारणाः ।
स्नेहस्यान्याभिभूतत्वादल्पत्वाच्च क्रमात्स्मृताः ॥
यथोक्तहेत्वभावाच्च नाच्छपेये विचारणा ।
स्नेहस्य कल्पः स श्रेष्ठः स्नेहकर्माशुसाधनात् ॥

स्नेह की ६४ विचारणा—पीछे रसों के भेद-प्रदर्शक अध्याय में कह चुके हैं कि रसों के कुल भेद ६३ होते हैं। उक्त एक २ रसभेद के साथ स्नेह के मिलाने से स्नेह के भी रसभेदमिश्रित ६३ भेद होते हैं। इनमें केवल स्नेहरूप एक भेद मिलने से स्नेह विचारणा ६४ प्रकार की होती है। यद्यपि भक्ष्यादि पदार्थों के साथ अभिभूत होने से स्नेह की हीनवीर्यता, अल्पता आदि क्रम से स्नेह की अनन्त कल्पना हो सकती हैं तथापि मुख्य कल्पना ६४ प्रकार की ही आयुर्वेदज्ञों ने बताई हैं। मूर्धादितर्पणविचारणा की तरह विचारणाहेतु के अभाव के कारण केवल स्वच्छ स्नेह के पान करने में किसी भी प्रकार की विचारणा की आवश्यकता नहीं रहती। इस लिए कि स्वच्छ स्नेहपान का प्रयोग शीघ्र ही तर्पणकारक होने से वह श्रेष्ठ माना गया है।

द्वाभ्यां चतुर्भिरष्टाभिर्यामैर्जीर्यन्ति याः क्रमात् ।
ह्रस्वमध्योत्तमा मात्रास्तास्ताभ्यश्च कनीयसीम् ॥
कल्पयेद्वीक्ष्य दोषादीन् प्रागेव तु ह्रसीयसीम् ।
अज्ञातकोष्ठे हि बहुः कुर्याज्जीवितसंशयम् ॥

स्नेह की मात्रा के तीन भेद– जठराग्नि के बल के अनुसार स्नेह की जो मात्रा दो प्रहर में पच जाती है। उसे ह्रस्व मात्रा कहते हैं। जो मात्रा पिलाई जाने पर चार प्रहर में पचती है वह मध्यम मात्रा कहलाती है और जो मात्रा आठ प्रहर में जाकर पचती है वह उत्तम मात्रा होती है। सारांश, दो प्रहर में पचनेवाली से चार प्रहर में पचनेवाली, चार प्रहर में पचने वाली से आठ प्रहर में पचनेवाली मात्रा का प्रमाण उत्तरोत्तर अधिक समझना चाहिए। वैद्य को चाहिए कि वह दोषादि (दोष, देश, काल, बल, औषध, सत्त्व, सात्म्य, प्रकृति आदि ) का विचार कर इन मात्राओं में से ह्रस्व, मध्य और उत्तम जो मात्रा उचित प्रतीत हो उसकी योजना करे। इन मात्राओं में से सब से कम मात्रा का नाम ह्रसीयसी है। प्रथम दिन तो वैद्य को ह्रसीयसी या कनीयसी मात्रा का ही प्रयोग करना चाहिए। इसलिए कि रोगी के कोष्ठ का पहले दिन हमें पता नहीं रहता। अज्ञात कोष्ठ में बिना विचारे मात्रा के देने से बड़े डर का सम्भव होता है। इतना ही नहीं, दुर्बल कोष्ठ में अधिक स्नेहमात्रा के पहुंच जाने से रोगी के जीने में भी सन्देह होता है। इस लिए जहां तक बने स्नेह की मात्रा आरम्भ में कम से कम देनी चाहिए। कोष्ठ का पता लग जाने पर फिर जितनी मात्रा उचित हो उतनी देनी चाहिए।

---

१. 'युक्त्या-मात्राकालक्रियाभूमिदेहदोषस्वभावया'।

२. 'भक्ष्याद्यन्नेन। आदि शब्देन भोज्यलेह्यपेयस्य त्रिविधस्याप्यन्नस्य ग्रहणम्।' ३. भक्ष्यादि-आदिग्रहणादोदनादयो मुन्युक्ता गृह्यन्ते। तथा च मुनिः-"ओदनश्च विलेपी च रसो मांसं पयो दधि। यवागूः सूपशाके च यूषः काम्बलिकः खलः॥ सक्तवस्तिलपिष्टं च मद्यं लेहास्तथैव च। भक्ष्यमभ्यञ्जनं बस्तिस्तथैवोत्तरबस्तयः॥ इति" बस्तिभिरिति बहुवचननिर्देशो बस्तित्रयग्रहणार्थः। तेन निरूहोऽन्वासनं बस्तिरुत्तर इति।" इत्यरुणदत्तः सर्वाङ्गसुन्दराटीकायामष्टाङ्गहृदयस्य।

भावार्थ यह है कि स्नेह की मात्रा का आधार वस्तुतः जठराग्नि के बलाबल पर है।

विशेष वक्तव्य—जिनका कहना है कि स्नेह की मात्रा दो पल, चार पल या छः पल तक की रहनी चाहिए सो ठीक नहीं है। जठराग्नि के बलाबल का विचार न करते हुए स्नेह मात्रा का दे देना अनर्थ के लिये है न कि लाभ के लिये। महर्षि चरक का भी यह मत नहीं है कि जठराग्नि के बल का विचार न करते हुये स्नेह की मात्रा पिला दी जाय। महर्षि चरक अहोरात्र, पूरे दिन और आधे दिन में पच-जानेवाली स्नेह-मात्रा की प्रधान, मध्यम तथा ह्रस्व मात्रा मानते हैं[1]। सारांश, चरक के मत से अहोरात्र अर्थात् २४ घण्टे में पचनेवाली मात्रा प्रधान (Maximum) मात्रा है, एक दिन अर्थात् १२ घण्टे में पचनेवाली मध्यम मात्रा और आधे दिन अर्थात् ६ घण्टे में पचनेवाली मात्रा ह्रस्व (Minimum) होती है।

तत्र दुर्बलमन्दाग्निबालवृद्धसुखात्मकैः ।
अपथ्यरिक्तकोष्ठैश्च ज्वरातीसारकासिभिः ॥
ह्रस्वा पेया सुखा सा हि परिहारेऽनुवर्तते ।
चिराच्च बल्या न रुजे व्यापन्नापि प्रकल्प्यते ॥
मेहारुपिटिकाकुष्ठवातशोणितपीडितैः ।
मध्यमा मृदुकोष्ठैश्च स्नेहनी स्यात्सुखेन सा ॥
न बलक्षपणी मन्दविभ्रंशा शुद्धयेऽप्यलम् ।
महादेहानलबलक्षुत्तृट्क्लेशसहिष्णुभिः ॥
गुल्मोदावर्तवीसर्पसर्पदंशाभिपीडितैः ।
उन्मत्तैः कृच्छ्रमूत्रैश्च महती शीघ्रमेव सा ॥
सर्वमार्गानुसारेण जयेद्व्याधीन् सुयोजिता ।

अब यह बताते हैं कि स्नेह की ह्रस्व, मध्यम और उत्तम मात्रा किन २ रोगियों के लिए हित करनेवाली होती है।

ह्रस्वमात्रा के योग्य रोगी—जो दुर्बल हैं, जो मन्दाग्निवाले हैं, जो बालक हैं, वृद्ध हैं और जो सुखात्मा हैं अर्थात् जो अल्प दुःखको भी सहन नहीं कर सकते, जो अपथ्य करनेवाले हैं, जिनका कोष्ठ (पेट) बिलकुल खाली है और जो ज्वर, अतीसार तथा खांसीरोग से पीडित हैं, इन सबको ह्रस्वमात्रा में स्नेहपान करना चाहिए क्यों कि यह (ह्रस्व) मात्रा सुख देनेवाली है, रोगपरिहार के बाद भी यह मात्रा चिरकाल तक शरीर में रहती है। निर्बलों को बल देनेवाली है और इस ह्रस्वमात्राकी व्यापत्ति होने पर भी वह रोगकी करनेवाली नहीं होती।

मध्यम मात्रा के योग्य प्राणी—जो प्रमेह रोगी हों, ऊरुस्तम्भवाले हों, प्रमेहपिटिका से पीडित हों, कुष्ठ तथा वातरक्त से पीडित हों और मृदुकोष्ठवाले हों इनको स्नेह की मध्यम मात्रा पीनी चाहिए क्यों कि यह मध्यम मात्रा सुख से स्नेहन करनेवाली है और न बल का ही नाश करती है। इतना ही नहीं, यह व्यापत्ति होने पर भी मन्दविभ्रंशा अर्थात् स्वल्प अपाय करनेवाली[1] तथा संशोधन के लिए भी पर्याप्त होती है।

उत्तम मात्रा के योग्य रोगी—जो महादेह (शरीर से भारी) हों, महानल (जिनकी जठराग्नि अत्यन्त तेज) हो, महाबल (अति बलवान्) हों, भूख, प्यास और क्लेश के सहन करनेवाले हों तथा जो गुल्म, उदावर्त तथा वीसर्प रोगी हों, सर्पदंश से पीडित हों, उन्माद रोगी हों और मूत्रकृच्छ्र से पीडित हों तो इन्हें स्नेह की महती अर्थात् उत्तमा मात्रा पिलानी चाहिए। यह उत्तमा मात्रा शरीर के सब मार्गों (स्रोतों) में जाकर व्याधियों को जीतनेवाली है। ध्यान रहे कि यहां सुयोजिता पद पड़ा हुआ है। इसका भाव यह है कि भलीभांति विचार कर उत्तमा मात्रा की योजना की जायगी तो यह अवश्य सर्व-स्रोतोगामिनी होकर सब रोगों को नष्ट करेगी परन्तु विपरीत इसके बिना विचार के यह स्नेह-मात्रा पिलाई जायगी तो रोगों को न जीतकर यह अजीर्णादि व्याधियों की उत्पन्न करनेवाली होगी[2]।

ह्यस्तने जीर्ण एवान्ने स्नेहोऽच्छः शुद्धये बहुः ।
शमनः क्षुद्धतोऽनन्नो मध्यमात्रश्च शस्यते ॥
बृंहणो रसमद्याद्यैः सभक्तोऽल्पो हितः स च ॥

शोधनार्थ अच्छस्नेहपानविधि—शोधन अर्थात् वमन-विरेचनार्थ स्नेहपान करना हो तो वह अच्छस्नेह प्रथम दिन के किए हुए भोजन के पच जाने पर ही, जब कि क्षुधा की प्रवृत्ति नहीं हुई हो तब प्रातःकाल में उत्तम मात्रा में पिलाना चाहिए। विपरीत इसके अन्न के जीर्ण न होने पर स्नेहपान कराया जायगा तो वमन होकर उसके विफल हो जाने का संभव होता है। इसी प्रकार यदि क्षुधा के चेतने पर स्नेहपान कराया जायगा तो वह जठराग्नि की तीक्ष्णता के कारण जल्दी पच जायगा और उससे सम्यक् शोधन नहीं हो सकेगा[3]। इस लिए शोधनार्थ स्नेहपान प्रथम दिन के किए भोजन के जीर्ण होने पर, भूख की प्रवृत्ति नहीं हुई है, ऐसे समय में ही प्रातःकाल में कराना चाहिए।

शमनार्थ स्नेहपान की विधि—यदि किसी को दोषों के शमनार्थ स्नेहपान कराना हो तो वह भूखे को मध्यम मात्रा में पान कराना चाहिए तथा वह स्नेहपान अनन्न हो अर्थात् भक्ष्यादि आहार से रहित केवल स्वच्छ स्नेह ही का पान हो। दूसरे टीकाकार अनन्न का अर्थ ऐसा करते हैं कि इस किए हुए स्नेहपान का जब तक पचन न हो जाय तब तक भोजन न किया जाय[4]। ध्यान रहे कि शोधनार्थ स्नेहपान की तरह यह

---

१. अन्यैस्तु पलद्वयपलचतुष्टयपलषट्कसङ्ख्यावच्छिन्ना मात्रा उक्ताः। न चैतद्युज्यते। यतो जठरानलशक्तिमुपेक्ष्य स्नेहमात्राः प्रयुज्यमाना अनर्थायैव। अतोऽस्माभिः पलद्वयादिसङ्ख्यावच्छिन्ना नोक्ताः। मुनेरपि नैतन्मतम्। तद्ग्रन्थो हि—'अहोरात्रमहः कृत्स्नमर्द्धाहं च प्रतीक्षते। प्रधाना मध्यमा ह्रस्वा स्नेहमात्रा जरां प्रति ॥' इत्यरुणदत्तः।

१. 'मन्दविभ्रंशा व्यापन्नापि सती स्वल्पापायेत्यर्थः' इतीन्दुः।
२. सुयोजिता सती शीघ्रमेव व्याधीन् जयेत्। दुर्योजिता त्वजीर्णादीन् व्याधीनावहतीति तात्पर्यार्थं इतीन्दुः। ३. संजातबुभुक्षेण तु पीतो जाठरानलस्य दीप्तत्वाच्छोधनकार्यमकुर्वाणस्तद्योग्यतां चानुत्पादयन्नाश्वेव जरामुपैति। वमनमपि बुभुक्षितस्य न सम्पद्यते, कफापचितेः पूर्वोक्ताच्च हेतोरित्यरुणः। ४. अनन्नः—केवल एव भक्ष्यादिनाऽऽहारेण रहितः, अच्छ एव पेय इत्यरुणः। हेमाद्रिस्तु अनन्नः अन्नसम्बन्धरहितः, यावदेष न जीर्यति तावन्न भोक्तव्यमित्यर्थं इति।

शमनार्थ स्नेहपान प्रथम दिन के भोजन के जीर्ण होने पर ही भूख न लगी हो ऐसे समय में न कराया जाय। इसलिए कि भूख की प्रवृत्ति न होने की अवस्था में शमनार्थ स्नेहपान कराया जायगा तो स्रोतों के कफादि से लिप्त रहने के कारण वह स्नेह कफ के साथ मिलने से सब शरीर में व्याप्त नहीं हो सकेगा तथा सर्व शरीर में व्याप्त हुए विना दोषों का शमन भी नहीं कर सकेगा। इस लिए भूखे को ही शमनार्थ स्नेहपान कराना प्रशस्त है।

बृंहणार्थ स्नेहपानविधि - यदि बृंहणार्थ (शरीरपुष्टि के लिए) स्नेहपान कराना हो तो वह अल्प से भी अल्पमात्रा[2] में मांसरस, मद्यादि अर्थात् मद्य, खीर, खांड आदि द्रव पदार्थों के साथ या चावल के भात के साथ कराना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—स्नेहपान की विधि में उत्तम तथा मध्यम मात्रा सेवन के समय पथ्य-विधि को नहीं भूलना चाहिए। उत्तम मात्रा का सेवन इस प्रकार से किया जाय कि उत्तम मात्रा में स्नेहपान कराने के अनन्तर रोगी को पथ्य दिया जाय और फिर स्नेहपान कराया जाय तथा दूसरे दिन पुनः पथ्य दिया जाय। मध्यम मात्रा में स्नेहपान करनेवाले स्वल्पाहारीको तो एक प्रहर मात्र बीतने पर अन्न की इच्छा होती है। उक्त स्नेहपान के प्रसङ्ग में रात्रि के आरम्भ में या आधा प्रहर रात के बीतने पर रोगी को स्वल्प प्रमाण में भोजन कराया जाय। स्वयं ग्रन्थकार आगे कहेंगे कि शमनार्थ किए हुए स्नेहपान में विरिक्त ( विरेचन दिए हुए रोगी ) की तरह उपचार करना चाहिए अर्थात् पेयादि क्रम से पथ्य देना चाहिए। सुश्रुत ने भी कहा है कि स्नेह के जीर्ण होने पर उसे उष्ण जल से परिषिच्य अर्थात् गरम जल पिलाकर फिर अच्छी पकाई हुई, जिसमें अल्प चावल पड़े हों ऐसी उष्ण यवागू पिलावे अथवा पिलाने योग्य मांसरस, कृत या अकृत यूष एवं विलेपी ( दलिया ) पिलावे। यहां अकृत यूष सुगन्धियुक्त और कृत यूष अल्पघृतयुक्त होना चाहिए।

बालवृद्धपिपासार्तस्नेहद्विण्मद्यशीलिषु ।
स्त्रीस्नेहनित्यमन्दाग्निसुखितक्लेशभीरुषु ॥
मृदुकोष्ठाल्पदोषेषु काले चोष्णे कृशेषु च ।
स्नेहप्राग्भोजनात्कुर्यादूरुजङ्घाकटीबलम् ॥

१. यदि पुनर्जीर्णमात्र एवान्नं स्नेहोऽयमबुभुक्षितस्यैवोपयुज्यते, तदानीं स्रोतसां कफाद्युपलेपानिवर्तनात् तत्संपृक्तः स स्नेहो न सर्वं शरीरं व्याप्नुते, अव्याप्नुवंश्च दोषं न शमयेदित्यरुणः।
२. एष च स्नेहोऽल्पो-ह्रसीयसीतोऽपि मात्रातोऽल्प इत्यरुणः।
३. अत्र चोत्तमया मात्रया स्नेहपानानन्तरं पथ्यं कार्यम्। पुनः स्नेहप्रयोगः। पुनरन्यस्मिन्नहनि पथ्यं कार्यम्। मध्यममात्रया स्नेहपाने तु लघुभोजिनो याममात्रेऽन्नाकाङ्क्षा भवति। तदा च स्नेहोपयोगे रात्र्यारम्भे रात्रियामार्द्धे गते वा रक्षकौदनप्रायं भोजनं भोज्यं मात्रयैव। ग्रन्थकारो हि शमने स्वल्पभोजनमेवानुजज्ञे। वक्ष्यति हि-'उपचारस्तु शमने कार्यः स्नेहे विरिक्तवत्।' इति। सुश्रुते चोक्तम्--'परिषिच्याद्भिरुष्णाभिर्जीर्णस्नेहं ततो नरम्। यवागूं पाययेदुष्णां सुक्लिन्नामल्पतण्डुलाम्'। पेयो यूषो रसो वा स्यादकृतः सौरभायुतः। कृतौ वाल्याल्पसर्पिष्कौ विलेपी वा विधीयते॥" इति। अरुणदत्तः।

वेगानुलोम्यमारोग्यमधःकायगदक्षयम् ।
मध्ये बृहत्त्वाग्निबलस्थिरताकुक्षिरुक्शमान् ॥
इन्द्रियस्थिरतामूर्ध्वमूर्ध्वजत्रुगदक्षयम् ॥

बृंहणार्थ स्वल्पस्नेहपानका फल—उष्णकाल में कराया हुआ स्वल्प स्नेहपान बालक, वृद्ध, तृषार्त तथा जिनको स्नेह से द्वेष है तथा मद्य पीनेवाले इन सब के लिए, इसी प्रकार नित्य स्त्रीसङ्ग करनेवालों के लिए, नित्य स्नेहपान करनेवालों के लिए, मन्दाग्निवालों के लिए, जो सुखी हैं, क्लेश से डरते हैं, जिनका कोठा नरम है और जिनके वातादि दोष अल्प हैं, इन सबके लिए परम हितकारी है।

भोजन के आदि, मध्य और अन्त में स्नेहपान का फल—भोजन के पहले किया हुआ स्नेहपान ऊरु, जङ्घा और कटी को बल प्रदान करता है, मल-मूत्र-अपान-वायु आदि के विपरीत वेग को अनुलोमन ( सीधा ) करता है शरीर के अधोभाग के रोगों को दूर करता तथा आरोग्यता प्रदान करता है। भोजन के मध्य में किया हुआ स्नेहपान पुष्टि करता, अग्नि और बलको स्थिर रखता और पेट के रोगों को शमन करता है। भोजन के ऊपर ( अनन्तर ) किया हुआ स्नेहपान इन्द्रियों में स्थिरता लाता है और ऊर्ध्वजत्रुगत ( मुख, नाक, कान, नेत्र, सिर आदि ) रोगों को नष्ट करता है।

वाते सलवणं सर्पिः पित्ते केवलमिष्यते ।
बैद्यो दद्याद्बहुकफे क्षारत्रिकटुकान्वितम् ॥

दोषानुसार घृतपानविधि—दोषों को शमन करने के लिए वैद्य को चाहिए कि वह बढ़े हुए वायु में नमक के साथ घृतको पिलावे, पित्त के कोप में केवल घृत का पान करावे और कफ की अधिकता में जवाखार, सोंठ, मरिच और पीपल के चूर्ण के साथ घृतपान करावे।

वार्युष्णमच्छेऽनुपिबेत्स्नेहे तत्सुखपक्तये ।
आस्योपलेपशुद्ध्यै च तौवरारुष्करे न तु ॥
उष्णोपचारः स्नेहे स्याद्दुष्णो ह्युष्णैर्विरुद्ध्यते ।

स्नेह के अनुपान—अच्छा स्नेह पीने के बाद वह सुख से पच जाय तथा मुख में स्नेह लिपटा न रहे इसलिए उष्ण जल का पान करना चाहिए परन्तु तुवरक तेल या भिलावे के तैलपान करने के बाद गरम जल नहीं पीना चाहिए। इसलिए कि तौवरक तथा आरुष्कर ये उष्णस्नेह हैं अतः उष्ण के लिए उष्णोपचार विरुद्ध होता है।

ततो गुरुप्रावरणो निर्वातशयनस्थितः ।
जरणान्तं प्रतीक्षेत तृष्यन्नुष्णाल्पवारिपः ॥
शिरोरुग्भ्रमनिष्ठीवमूर्च्छासादारतिक्लमैः ।
जानीयाद्द्वेषजं जीर्यज्जीर्णं तच्छान्तिलाघवात् ॥
अनुलोमानिलस्वास्थ्यक्षुत्तृष्णोद्गारशुद्धिभिः ।
जीर्णाजीर्णविशङ्कायां पुनरुष्णोदकं पिबेत् ॥
तेनोद्गारविशुद्धिः स्यात्ततश्च रुचिलाघवम् ।
भोज्योऽन्नं मात्रया पास्यन् श्वः पिबन् पीतवानपि ॥
द्रवोष्णमनभिष्यन्दि नातिस्निग्धमसङ्करम्[1] ॥

१- लघुता शुचिः।

स्नेहपान के पश्चात् कर्त्तव्य—पूर्वोक्त उष्णोदक पान करने के बाद भारी उष्ण वस्त्र धारण कर निर्वातस्थान में शय्यापर स्थित होकर स्नेह के जीर्ण होने की प्रतीक्षा करे। प्यास लगने पर थोड़ा उष्ण जल पीवे। सिर में पीड़ा, चक्कर आना, थूक का वारंवार आना, मूर्च्छा, अङ्गसाद, अरति ( बेकली ) और ग्लानि ये लक्षण हों तो जान ले औषध जीर्ण हो रहा है तथा उक्त लक्षणों के शान्त होने और शरीर की लघुता (हल्कापन-फुर्ती) का अनुभव होने पर पान किया हुआ स्नेह या औषध जीर्ण हो गया है ऐसे जाने। इतना ही नहीं, स्नेहपान के जीर्ण होने पर वायु का अनुलोमन, शरीर की स्वस्थता, क्षुधा, तृषा तथा डकार की शुद्धि हो जाती है अतः इन लक्षणों के होने पर भी जान ले कि पान किया हुआ स्नेह जीर्ण हो गया है। यदि यह शङ्का हो कि पान किया हुआ स्नेह जीर्ण हो गया है अथवा नहीं हुआ है तो पुनः उष्ण जल पी लेना चाहिए। इसलिए कि उष्णोदक के पीने से डकार शुद्ध आने लगती है, शरीर की कान्ति बढ़ती है और उसमें फुर्ती ( लघुता ) आती है। उपयुक्त मात्रा में जिसने कल स्नेहपान किया है या आज किया है या करनेवाला है, उसे स्नेहपान कराने के बाद द्रव, उष्ण, अनभिष्यन्दी, जो अति स्निग्ध न हो और जो नाना जाति के अन्नोंवाला न हो ऐसा भोजन कराना चाहिए।

उष्णोदकोपचारी स्याद् ब्रह्मचारी क्षपाशयः ।
व्यायामवेगसंरोधशोकवर्षहिमातपान्[1] ॥
प्रवातयानयानाध्वभाष्यात्यशनसंस्थितीः[2] ।
नीचात्युच्चोपधानाहःस्वप्नधूमरजांसि च ॥
यान्यहानि पिबेत्तानि तावन्त्यन्यान्यपि त्यजेत् ।
सर्वकर्मस्वयं प्रायो व्याधिक्षीणेषु च क्रमः ॥

स्नेहपानोपयोगी नियम—स्नेहपान करनेवाले को चाहिए कि वह पीने तथा अन्य व्यवहार में भी उष्ण जल का उपचार करे। ब्रह्मचर्य से रहे। रात में ही सोवे अर्थात् दिन में न सोवे और न रात में जागरण ही करे। व्यायाम न करे। मलमूत्रादि के वेगों को न रोके। शोक और क्रोध न करे। वर्षा, हिम एवं आतप तथा अधिक वायु का सेवन न करे। घोड़े आदि की सवारी, मार्ग का चलना, बहुत बोलना, अतिभोजन या अति बैठना, सिर के नीचे अति नीचा या अति ऊंचा तकिया रखना, दिन में सोना, अति धुँवां और अति रज इन सबका जितने दिन स्नेहपान करे उतने ही दिन और परित्याग करे। यह नियम या क्रम केवल स्नेहपानोपयोग में ही नहीं है अपितु वमन-विरेचनादि सब कर्मों में और व्याधि से क्षीण पुरुषों के अर्थ प्रायः यही क्रम समझना चाहिए।

उपचारस्तु शमने कार्यः स्नेहे विरिक्तवत् ।

शमनार्थ स्नेहपान में उपचार—जिसको शमनार्थ स्नेहपान कराया जाय उसके सब उपचार विरिक्तवत् कराने चाहिए। भावार्थ यह है कि प्रायः जो उपचार स्नेहपान के उपयोग में कहे हैं, उनसे जो पेयापान आदि विरेचनोपयोग में कहे हैं वे भी सब शमनार्थ स्नेहपान के उपयोग में करने चाहिए।

१. क्रोधहिमातपान् । २. भाष्यात्यासनसंस्थितीः ।

स्नेहस्य पानात्पूर्वं च दातव्यं मृदुभोजनम् ।
उत्तेजनं हुताशस्य कोष्ठलाघवकारि च ॥

स्नेहपान के पहले मृदु भोजन—स्नेहका पान कराने के पहले मृदु भोजन कराना चाहिए। इसलिए कि यह मृदु भोजन जठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाला और कोष्ठ ( पेट ) को हल्का करनेवाला है।

त्र्यहमच्छं मृदौ कोष्ठे क्रूरे सप्तदिनं पिबेत् ।
सम्यक् स्निग्धोऽथवा यावदतः सात्म्यीभवेत्परम्[1] ॥
सात्म्यीभूतो[2] हि कुरुते न मलानामुदीरणम् ।
अतियोगेन वा व्याधीन् यथाम्ब्वोघोऽतियोजनात्[3] ॥
विहत्य सेतुं मृत्कोष्ठात्स्रवति क्षपयन्मृदम् ।
स्नेहोऽप्यग्निं तथा हत्वा स्रवति क्षपयंस्तनुम् ॥

स्नेहपान में दिनमर्यादा—जो मृदु कोष्ठवाला हो, उसे तीन दिन तक अच्छे स्नेह का पान करना चाहिए। क्रूर कोष्ठवाले को सात दिन तक स्नेहपान करना चाहिए अथवा जब तक सम्यक् स्नेहन न हो जाय तब तक स्नेहपान करना चाहिए। इससे आगे स्नेह सात्म्य हो जाता है अर्थात् शरीर के अनुकूल हो जाता है और सात्म्यीभूत स्नेह मलों का उदीरण ( शोधन ) नहीं करता। अथवा अतियोग से जल का वेग जैसे सेतु को तोड़ मिट्टी के कोष्ठ से मिट्टी को ह्रास करता हुआ स्रवने ( झरने ) लगता है, ठीक इसी प्रकार अति प्रयुक्त किया हुआ स्नेह भी अग्नि का नाश करके शरीर को क्षीण करता हुआ झरने लगता है।

विशेष वक्तव्य—यहां मृदु और क्रूर कोष्ठवाले रोगी को क्रम से ३ और ७ दिन तक स्नेहपान कराना कहा है परन्तु मध्यम कोष्ठ की चर्चा नहीं की है तथापि उसे इसी उपर्युक्त अनुमान से ४ या ५ दिन तक स्नेहपान कराना चाहिए। यदि मृदु कोष्ठवाले को तीन दिन में ठीक स्नेहन न हो तो उसे भी चार या पांच दिन तक स्नेहपान कराना चाहिए। मध्य कोष्ठवाला भी ६ दिन तक स्नेहपान करे जैसे कि कहा है—जब तक ठीक स्नेहन न हो तब तक स्नेहपान कराया जाय। इससे तो स्नेहपानक कोई नियम ही नहीं दिखाई देता। यही नियम ठीक प्रतीत होता है कि जब तक सम्यक् स्निग्ध के लक्षण न दिखाई दे तब तक स्नेहपान कराना चाहिए। इससे यह भी सिद्ध हो रहा है कि सप्ताह से अधिक भी स्नेहपान कराना चाहिए, जब कि सात दिन में भली-भांति स्नेहन के लक्षण न दिखाई दें। सद्वैद्यों का यह भी मत है कि सात दिन में अच्छी तरह स्नेहन न हो तो बीच में एक दिन विश्राम करके फिर स्नेहपान कराना चाहिए[4]।

१. सात्मी २. सात्मीभूतो ३. यथाऽम्भो ह्यतियोजनात् ४. मध्यकोष्ठस्त्वत एव लक्षणादधिगम्यते । यथा—'चत्वार्यहानि पञ्च वा स्नेहं पिबेदिति। यदि च ( मृदुकोष्ठे ) त्र्यहेण सम्यक् स्निग्धलक्षणं न स्यात् तदा चतुष्पञ्चरात्रमपि स्नेहं पिबेत्। मध्यकोष्ठस्तु षड्रात्रमपि पिबेदित्याह—सम्यक् स्निग्धोऽथवायावदित्यादि। अथवा नैष नियमः, सम्यक्स्निग्धलक्षणोत्पत्तिरेव नियमः।' इत्यारुणटीकावलोकनीया।

वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम् ।
मृदुस्निग्धाङ्गता ग्लानिः स्नेहोद्वेगोऽथ लाघवम् ॥
विमलेन्द्रियता सम्यक् स्निग्धे रूक्षे विपर्ययः ।
पाण्ड्वामयाङ्गसदनघ्राणवक्त्रगुदस्रवाः ॥
गुददाहारुचिच्छर्दिमूर्च्छातृष्णाप्रवाहिकाः ।
शुष्कोद्गारभ्रमश्वासकासाः स्नेहातिसेवनात् ॥

सुस्निग्ध के लक्षण—वातानुलोमन (लोम या विकृत वायु का ठीक होना), जठराग्नि का प्रदीप्त होना, वर्च (मल-पुरीष) का स्निग्ध और असंहत (शिथिल) होना, शरीर में मृदुता और स्निग्धता का होना, कुछ ग्लानि सी होना या पाठान्तर से ग्लानि का न होना, स्नेह का उद्वेग, शरीर में लाघव (हल्कापन या फुर्ती) तथा इन्द्रियों की विमलता अर्थात् स्वकार्य में पटुता ये सब लक्षण सुस्निग्ध (भलीभांति स्निग्ध) के हैं।

अस्निग्ध के लक्षण—जिसका स्नेहन ठीक नहीं हुआ है उसके लक्षण सुस्निग्ध लक्षणों से विपरीत होते हैं अर्थात् वायु की लोमता, मन्दाग्नि, मल (पुरीष) का रूखा और कड़ा होना, शरीर की कठोरता तथा खरता, ग्लानि, स्नेह का अनुद्वेग, अङ्ग की जड़ता एवं इन्द्रियों की मलिनता (स्वकर्म में अपटुता) ये लक्षण होते हैं।

अतिस्निग्ध के लक्षण—अति स्नेहपान के कारण पाण्डुरोग, शरीर में शिथिलता, नाक का झरना, मुख से लार टपकना, गुदा से स्राव का होना, गुदा में दाह होना, अरुचि (अन्न की इच्छा न होना), छर्दि (वमन रोग), मूर्च्छा (बेहोशी), तृष्णा, प्रवाहिका (अतीसार विशेष), सूखी जलती डकार का आना, भ्रम (चक्कर आना), श्वास और कास (खांसी) ये लक्षण होते हैं।

अमात्रयाहितोऽकाले मिथ्याहारविहारतः ।
स्नेहः करोति शोफार्शस्तन्द्रानिद्राविसंज्ञताः ॥
कण्डूकुष्ठज्वरोत्क्लेशशूलानाहबलक्षयान् ।
जठरेन्द्रियदौर्बल्यजाड्यामस्तम्भवाग्ग्रहान् ॥
तांस्तान् स्वदोषहेतूत्थान् पाण्ड्वादींश्चातियोजनात् ।

अमात्रादि स्नेहपान के दोष—दोष (वात, पित्त, कफ) के बिना विचार किये ठीक मात्रा में न सेवन किया हुआ स्नेह, इसी प्रकार, स्नेहपान के नियत काल को छोड़कर पान कराया स्नेह मिथ्या आहार-विहार के कारण सूजन, बवासीर, तन्द्रा, निद्रा, बेहशी, कण्डू, कोढ़, ज्वर, दोषों को कुपित करना या उबकाई, शूल, आनाह, बल का क्षय, जठर (उदर) और इन्द्रियों की दुर्बलता, जडता, आमप्रकोप, ऊरुस्तम्भ, वाग्ग्रह (जिह्वास्तम्भ) इन रोगों को तथा स्नेह के अतिसेवन से भिन्न भिन्न दोषों से उत्पन्न होने वाले पाण्डु आदि रोगों को करता है।

क्षुत्तृष्णोल्लेखनस्वेदरूक्षपानान्नभेषजम् ।
तक्रारिष्टखलोद्दालयवश्यामाककोद्रवाः ॥
पिप्पलीत्रिफलाक्षौद्रपथ्यागोमूत्रगुग्गुलु ।
यथास्वं प्रतिरोगं च स्नेहव्यापदि साधनम् ॥

स्नेहव्यापत्ति के उपाय—क्षुधा, तृषा, उल्लेखन (वमन[1]), स्वेदन, रूक्ष पान, रूक्ष अन्न, रूक्ष औषध, तक्र, अरिष्ट, खल (यूष विशेष), उद्दालक (चावल विशेष, हेमाद्रि के मत से जङ्गली कोदो), यव, श्यामाक, कोदो, पीपल, त्रिफला, शहद, हरड़, गोमूत्र और गूगल ये पूर्वोक्त शोफादि यथास्व (जिस वात, पित्त एवं कफ दोष के कारण हुए हों तथा जिस जिस रोग के अध्याय में जो जो उपाय कहे हों वे वे) प्रतिरोग के स्नेहव्यापत्ति में साधन अर्थात् उपाय हैं।

विरूक्षणे लङ्घनवत्कृतातिकृतलक्षणम् ॥

विरूक्षण के लक्षण—स्नेह की व्यापत्ति में विरूक्षण की आवश्यकता होती है अतः जहां विरूक्षण करना हो तो वहां विरूक्षण की मात्रा भी लङ्घन की मात्रा के समान जाननी चाहिए अर्थात् अतिलङ्घन के समान कृशता आदि अतिविरूक्षण के लक्षण जानने चाहिए और सम्यक् लङ्घन के लघुता, विमलेन्द्रियता आदि लक्षण के समान सम्यक् विरूक्षण के लक्षण जानने चाहिए। सारांश, सम्यक् एवं अतिलङ्घन के लक्षण ही सम्यक् विरूक्षण तथा अतिविरूक्षण के होते हैं।

स्नेहेन पैत्तिकस्याग्निर्यदा तीव्रतरीकृतः ।
स्नेहमाशु जरां नीत्वा पुनरोजोऽभितश्चरन् ॥
उदीरयेत्सोपसर्गां पिपासामस्य चाधिकाम् ।
सोऽसूंस्त्यजेद्यद्युदकं न पिबेदाशु शीतलम् ॥
शीतसेकावगाहान्वा तत्तृष्णापीडितो भजेत् ।
स्नेहाग्निना दह्यमानः स्वविषेणेव पन्नगः ॥

स्नेहपान में पित्तप्रकृतिवाले का विशेष—पित्तप्रकृतिवाले मनुष्य की जठराग्नि स्नेहसे तीव्रतर (अतितीव्रता को प्राप्त) होकर स्नेह को शीघ्र पचाकर वह फिर ओज धातु के चारों ओर फैल कर उपद्रव सहित ऐसी पिपासा (प्यास) को पैदा करता है कि यदि शीघ्र ही शीतल जल न पिया जाय तो वह रोगी प्राणों को त्याग देता है अतः इस प्रकार की तृष्णा से पीडित प्राणी को चाहिए कि वह शीतल जल का सेक (तरेड़ा) तथा स्नानादि का सेवन करे। नहीं तो अपने बढ़े हुए विष से पन्नग (सर्प) की तरह अपनी बढ़ी हुई स्नेहाग्नि से जलता हुआ वह रोगी अपने प्राणों को त्याग देता है।

अजीर्णबलवत्यां तु शीतैर्दिह्याच्छिरोमुखम् ।
छर्दयेत्तदशान्तौ च पीत्वा शीतोदकं पुनः ॥
रूक्षान्नमुल्लिखेद् भुक्त्वा तादृश्यां तु कफानिले ।
समदोषं च निश्शेषं स्नेहमुष्णाम्बुनोद्धरेत् ॥
ततो दोषातिबलतः पूर्वोक्तं च विधिं श्रयेत् ॥

स्नेहपान के अजीर्ण से उत्पन्न तृषा का उपाय—स्नेहपान के अजीर्ण में यदि बलवती तृषा उत्पन्न हो जाय और यदि वह तृषा पित्तदोष से हो तो शीतोपचारों द्वारा मस्तक और मुख को तृप्त करे। यदि इससे भी उस तृषा की शान्ति न हो

१. स्नेहोद्वेगोऽङ्गलाघवम्। २. शुक्तोद्गार।

१. उल्लेखनं वमनमितीन्दुः। २. बाधिकाम्।

तो फिर शीतल जल पिलाकर या पीकर उल्टी ( वमन ) करे ताकि अजीर्ण स्नेह का निर्हरण हो जाय। यदि उक्त तृषा कफ-वायु के कारण हो तो रूक्षान्न खाकर तथा उष्ण जल पीकर वमन करे। यदि समदोष की अवस्था में तृषा द्वारा अजीर्ण स्नेह हो तो उस सम्पूर्ण स्नेह का निर्हरण गरम जल पिलाकर वमन द्वारा करे। इसके अनन्तर जिस दोष का अधिक बल रहा हो उसी दोष के अनुरूप अन्न-पानादि विधि का आचरण करे।

विशेष वक्तव्य—चरक का कथन है कि 'स्नेह के अजीर्ण से तृषा हो तो उसकी शान्ति रूक्षान्न खिलाकर और फिर शीतल जल पिला कर वमन द्वारा स्नेह निर्हरण करके करे'। विपरीत इसके सुश्रुत का कहना है कि 'इस प्रकार तृषा की शान्ति न हो तो गरम जल पिलाकर वमन द्वारा स्नेह का निर्हरण करे[1]।' वाग्भटाचार्य ने इस विरोध का परिहार इस प्रकार से किया है कि पित्तदोष की अवस्था में रूक्षान्न और शीतल जल देकर वमन करावे और यदि समदोष या कफवायु दोष से तृषा हो तो अजीर्ण स्नेह का निर्हरण गरम जल पिला वमन कराकर करे। सारांश, यहां कोई शङ्का न करे कि वाग्भट चरक तथा सुश्रुत से भिन्न इस मत का प्रदर्शन कर रहे हैं। वस्तुतः अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वाग्भट का काम जहां तक बने स्वतन्त्र एवं परतन्त्रगत विरोध का निवारण करना है।

न सर्पिः केवलं पित्ते पेयं सामे विशेषतः।
सर्वं ह्यनुरुजं देहं हत्वा संज्ञां च मारयेत्॥

निराम और सामपित्त में केवल घृतपान का निषेध—केवल अर्थात् ओषधियों द्वारा असंस्कृत घृत का पान केवल पित्त में न कराना चाहिए और सामपित्त में तो विशेषतः केवल घृत नहीं पिलाना चाहिए क्योंकि वह किया हुआ घृतपान सब देह भर में व्याप्त होकर संज्ञा का नाश करके ( बेहोशी लाकर ) मनुष्य को मार डालेगा।

विशेष वक्तव्य—उपर्युक्त कथन का भावार्थ यह है कि यदि केवल ( निराम ) पित्त में केवल घृतपान कराया जायगा तो स्नेह की सहायता को प्राप्त कर पित्त सब देह में व्याप्त होकर रोग को बढ़ायगा। यदि सामपित्त की अवस्था में केवल घृत का पान कराया जायगा तो सामपित्त स्नेह की सहायता को प्राप्त कर स्रोतों को बन्दकर देगा अर्थात् ढक देगा और इससे संज्ञा का नाश होकर मनुष्य मर जायगा। इससे सिद्ध हुआ कि केवल पित्त में केवल घृत का पान कराना अधिकाधिक रोगों को बढ़ाना है और सामपित्त में तो केवल घृतपान कराना मनुष्य को बेहोश करके मार डालना है परन्तु इससे स्वतन्त्र एवं परतन्त्र इन दोनों के कथन से गहरा विरोध दिखाई देता है। वाग्भट पहले लिख आए हैं कि 'पित्तघ्नास्ते यथा पूर्वम्' तथा 'सर्पिः पित्ते केवलमिष्यते' अर्थात् घृत पित्तघ्न है। पित्त में केवल घृतपान श्रेष्ठ है। इस प्रकार यह स्पष्ट स्वतन्त्र विरोध दिखाई दे रहा है। चरक-सुश्रुत ने भी यही लिखा है अतः इससे परतन्त्रविरोध भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है परन्तु यह विरोध नहीं है, केवल शमन और शोधन विषय की बात है। केवल पित्त में केवल घृत पिलाना यह शमन के विषय में कहा है केवल या सामपित्त में केवल घृत का पान नहीं कराना यह पित्ताशय के शोधन विषय में कहा गया है। इससे 'पित्तघ्नास्ते यथापूर्वम्' और 'सर्पिः पित्ते केवलमिष्यते' इत्यादि ग्रन्थविरोध भी नहीं रहता[1]।

स्निग्धद्रवोष्णधन्वोत्थरसभुक् स्वेदमाचरेत्।
स्निग्धस्त्र्यहं स्थितः कुर्याद्विरेकं वमनं पुनः॥
एकाहं दिनमन्यच्च कफमुत्क्लेश्य तत्करैः।
तिलमाषदधिक्षीरगुडमत्स्यरसादिभिः॥

स्वेदनादिक्रम—जिसको स्वेदन की आवश्यकता हो तो वह स्निग्ध, द्रव और उष्ण जाङ्गल देशोत्पन्न मांस का रस सेवन करके करे। जिसकी इच्छा वमन के विना केवल विरेचन की ही हो तो वह पूर्वोक्त जाङ्गल देशोत्पन्न स्निग्ध, द्रव तथा उष्ण मांसरस का सेवन कर तीन दिन ठहर जाय और फिर विरेचन करे और जो वमन करना चाहे तो वह प्रथम दिन स्निग्ध, द्रव और उष्ण जांगल मांसरस का सेवन कर स्नेहन और स्वेदन करे और फिर दूसरे दिन कफका उत्क्लेशन करनेवाले तिल, माष, दही, दूध, गुड़, मत्स्य और मांसरसादिका सेवन कर वमन करे।

मांसला मेदुरा भूरिश्लेष्माणो विषमाग्नयः।
स्नेहोचिताश्च ये स्नेह्यास्तान्पूर्वं रूक्षयेत्ततः॥
संस्नेह्य शोधयेदेवं स्नेहव्यापन्न जायते।
अलं मलानीरयितुं स्नेहश्चासात्म्यतां गतः॥

मांसल आदि प्राणियों का स्नेहनक्रम—मांसल ( जिनका मांस अति बढ़ा हुआ हो), मेदुर (जो मेदस्वी हो अर्थात् जिनका मेद बढ़ा हुआ हो ), जो अतिकफप्रकृतिवाले हों, जिनकी जठराग्नि सम न हो तथा जो स्नेहन के योग्य हों, इनको स्नेहन करना हो तो पहले रूक्षण देकर फिर स्नेहपान कराकर शोधन करे क्योंकि इस क्रम से स्नेह में होनेवाली व्यापत्ति का संभव नहीं होता और सात्म्यता को प्राप्त हुआ स्नेह भी इस क्रम से मलों के संशोधन करने में पर्याप्त होता है।

बालवृद्धादिषु स्नेहपरिहारासहिष्णुषु।
योगानिमाननुद्वेगान् सद्यः स्नेहान् प्रयोजयेत्॥
प्रभूतमांसनिःक्वाथान् जाङ्गलानूपजान् रसान्।
स्नेहभृष्टेषु वा तेषु यवागूं वातिसंहताम्॥
तिलचूर्णं च सस्नेहं फाणितं कृशरां तथा।
तिलकाम्बलिकं भूरिस्नेहं सर्पिष्मतीमपि॥
पेयां सुखोष्णां क्षैरेयीं पात्रे वा ससिताघृते।

१. अजीर्णे यदि तु स्नेहे तृष्णा स्याच्छर्दयेद्भिषक्। शीतोदकं पुनः पीत्वा भुक्त्वा रूक्षान्नमुल्लिखेत्। इति चरकः, सुश्रुतस्तु 'एवं चानुपशाम्यन्त्यां स्नेहमुष्णाम्बुना वमेदि'ति।

१. केवले पित्ते सर्पिषि पीते पित्तं स्नेहसहायं सत्सर्वं देहं मनुव्रजेत्। ततश्चाधिकं रोगसमीरणा, सामे पित्ते पीतं सामं स्नेहसहायं पित्तं स्रोतःपिधानेन संज्ञां हत्वा मारयेत्। इदं च शोध्यपित्ताशयं, 'पित्तघ्नास्त' इति शमनीयम्। तेन ग्रन्थविरोधो न भवति। 'पित्ते केवलमिष्यत' इत्येतच्चोपपन्नं भवति। इतीन्दुः।

२. निष्क्वाथान्। ३. कृसराम्।

सर्पिर्लवणयुक्तं वा सद्यःस्निग्धं तथा पयः ॥
पेयां च पञ्चप्रसृतां स्नेहैस्तण्डुलपञ्चमैः ।
पायसं माषमिश्रं च बहुस्नेहसमायुतम् ॥
तैल शुण्ठीगुडसुरं[1] जीर्णे मांसरसाशिनः ।
स्नेहं वैकं सुराच्छेन दध्नो वा सगुडं सरम् ॥
वसां वराहजां सर्पिः पिप्पलीं लवणं तिलान् ।
पिप्पलीं लवणं स्नेहांश्चतुरो दधि मस्तुकम् ॥
दध्ना सिद्धं व्योषगर्भं धात्रीद्राक्षारसे घृतम् ।
यवकोलकुलत्थाम्बुक्षारक्षीरसुरादधि ॥
घृतं च सिद्धं तुल्यांशं सद्यःस्नेहनमुत्तमम् ।
सिद्धांश्च चतुरः स्नेहान् बदरत्रिफलारसैः ॥
योनिशुक्रामयहरान् सद्यः स्नेहान् प्रयोजयेत् ।
लवणोपहिताः स्नेहाः स्नेहयन्त्यचिरान्नरम् ॥
तद्धि विष्यन्द्यरूक्षं च सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च ।
गुडानूपामिषक्षीरतिलमाषसुरादधि ॥
कुष्ठशोफप्रमेहेषु स्नेहार्थं न प्रकल्पयेत् ।
त्रिफला पिप्पलीपथ्यागुग्गुल्वादिविपाचितान् ॥
स्नेहान् यथास्वमेतेषां योजयेदविकारिणः ।
क्षीणानां त्वामयैरग्निदेहसन्धुक्षणक्षमान् ॥

बालवृद्धादिके लिए स्नेहकल्पना—जो स्नेहके परिहार ( पथ्य-क्रम अर्थात् शीतोदकपानवर्जनादि ) को सहन ( पालन ) नहीं कर सकते उन बालकों तथा वृद्धों के लिए उद्वेग न करने वाले ऐसे सद्यः स्नेहों की योजना करनी चाहिए। वे सात प्रकार के स्नेह हैं, यथा—(१) जाङ्गल तथा अनूपदेश के मांस से पुष्ट ऐसे प्राणियों के अधिक मांस तथा अल्प जल से सिद्ध किए हुए मांसरस (२) अथवा उन मांसरसों के साथ स्नेह-भर्जित सिद्ध की हुई पतली यवागू या पेया, अथवा (३)फाणित ( गुड़ की राब ) और स्नेह से युक्त तिलों का चूर्ण, अथवा (४) इन्हीं फाणित आदि से युक्त कृशरा अर्थात् स्निग्ध खिचड़ी, अथवा (५) घृत सहित दूध में सिद्ध की हुई उष्ण पेया, अथवा (६) गुड़ तथा अच्छस्नेह सहित दही का सर ( ऊपर का पानी ), अथवा (७) घृत, तैल, वसा, मज्जा और चावल ये पांचों एक एक प्रसृति प्रमाण ( दस दस तोले मान ) लेकर सिद्ध की हुई 'पञ्चप्रसृता' नामक पेया।ये सातों प्रयोग अनुद्वेग-कारक एवं सद्यः स्नेहन करनेवाले हैं अतः बालक तथा वृद्धों के लिए हितकारी हैं। इनके अतिरिक्त और भी स्नेहों का वर्णन यहां किया गया है, अब उन सबका वर्णन करते हैं। यथा—अधिक स्नेहयुक्त तिलों का काम्बलिक यूष पान करावे अथवा शर्करा घृत सहित पात्र में घृत और लवण सहित ताजे दूध का पान करावे। अथवा शर्करा घृत सहित पात्र में केवल ताजे दूध का पान करावे। अथवा दूध के साथ सिद्ध किया हुआ बहुस्नेह तथा माष ( उड़द ) मिश्रित ओदन ( भात ) का सेवन करावे। मांसरस के अभ्यासी स्नेह के जीर्ण होने पर घृतादि स्नेहों में से किसी एक स्नेह का पान तेल, सौंठ और गुड़ से युक्त करे। अथवा सुरायुक्त अच्छ स्नेहपान करे। अथवा दही का सर गुड़ सहित पीवे। तथा वराह की ( शूकर की ) चर्बी घृत, पीपल, नमक और तिल युक्त पीवे। इसी प्रकार घृतादि चार स्नेह अलग २ पीपल, नमक, दही और मस्तुको मिलाकर पान करे। अथवा द्राक्षा और आंवले के रस में सोंठ, मिरच, पीपल पड़े हों जिसमें ऐसे दही के साथ सिद्ध किए हुए घृत का पान करे। इस प्रयोग में दही, द्राक्षारसादि सब समान भाग में लेना चाहिए। अथवा जौ, बेर, कुलथी, खस, जवाखार, दूध, मद्य और दही इन सबके बराबर घृत लेकर सिद्ध करे। यह परमोत्तम सद्यः स्नेहन है।

योनिशुक्ररोगहर स्नेह—घृत,तैल,वसा और मज्जा ये चारों स्नेह अलग २ बेर और त्रिफला के रस के साथ सिद्ध किए हुए योनिगत तथा वीर्यगत रोगों के हरनेवाले सद्यः स्नेह हैं। इनका प्रयोग करने से शीघ्र ही योनि तथा वीर्य सम्बन्धी रोगों का नाश होता है।

लवणयुक्त स्नेहों की विशेषता—नमक से मिश्रित स्नेह पान बहुत जल्दी स्नेहन करनेवाले होते हैं। इसलिए कि नमक विष्यन्दि-स्रोतोंमें स्राव उत्पन्न करनेवाला, अरूक्ष, सूक्ष्म ( सूक्ष्म स्रोतों तक में प्रविष्ट होनेवाला ), उष्ण और व्यवायि ( समस्त शरीर में व्याप्त हो कर फिर पचनेवाला ) है।

कुष्ठ, शोथ और प्रमेह में गुडादिस्नेह का निषेध—गुड़, अनूप देश के प्राणियों का मांस, दूध, तिल, उड़द और दही की योजना कोढ, सूजन तथा प्रमेह के अर्थ पान कराए जानेवाले स्नेहों में नहीं करनी चाहिए किन्तु कुष्ठादिहारक स्नेह त्रिफला पीपल, हरीतकी और गूगल आदि के साथ पका कर सिद्ध करना चाहिए।

रोगों से क्षीणों के लिए स्नेहपान—जो नाना प्रकार के रोगों से क्षीण हो गए हैं उन्हें ऐसे स्नेहों का पान कराना चाहिए कि जो शरीर और जठराग्नि के बढ़ाने वाले हों।

दीप्तान्तराग्निः परिशुद्धकोष्ठः प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्तः ।
दृढेन्द्रियो मन्दजरः शतायुःस्नेहोपसेवी पुरुषः प्रदिष्टः ॥

इति पञ्चविंशोऽध्यायः।

—ःःःः—

स्नेहपान का फल—आयुर्वेदज्ञों का कथन है कि जो पुरुष नित्य स्नेह का सेवन करता है, उसकी जठराग्नि प्रदीप्त रहती है, उसका कोष्ठ ( पेट ) शुद्ध रहता है, उसके शरीर में रस-रक्तादि सब धातु नित्य नये पैदा होते हैं, वह बलवान् और शरीर से सुन्दर रहता है, उसकी सब इन्द्रियें दृढ ( बलवान् ) रहती हैं, उसको बुढ़ापा नहीं सताता और वह पूरी सौ वर्ष की आयुवाला होता है।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी-व्याख्यायां स्नेहविधिर्नाम पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥

१. गुडरसम्।

# अथ षड्विंशोऽध्यायः।

शोधन के प्रसङ्ग में प्रथम स्नेह का उपयोग किया जाता है। स्नेहन के योग्य कौन कौन हैं, किन किनको स्नेहन नहीं करना चाहिए, इत्यादि विषयों को लेकर स्नेहन विधि आदि का वर्णन इसके पूर्वाध्याय में भलीभांति किया गया। स्नेहन हो जाने के बाद शारीरिक दोषों को मृदु करने के लिये स्वेदन की आवश्यकता होती है अतः अब क्रम प्राप्त उस अध्याय का आरम्भ करते हुए आचार्य करते हैं कि—

अथातः स्वेदविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

स्वेदविधिकथन—अब हम यहां से जिसमें स्वेदविधि का वर्णन है, उस स्वेदविधिनामक अध्याय की व्याख्या करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने की।

चतुर्विधोऽग्निस्वेदो भवति। तापोपनाहद्रवोष्म-भेदेन। तत्र तापस्वेदः पाणिकांस्यफालबालुकावस्त्र-घटिकादिभिः।

अग्निस्वेदके चार प्रकार—वस्तुतः स्वेद दो भागों में विभक्त है यथा अग्निकृत स्वेद और अनग्निकृत स्वेद। इनमें पहले अग्निकृत (अग्निद्वारा किए जाने वाले) स्वेद के चार प्रकार हैं (१) तापस्वेद, (२) उपनाह स्वेद, (३) द्रव स्वेद और (४) ऊष्म स्वेद। अब इन सबका क्रमसे वर्णन करते हैं।

तापस्वेद—तापस्वेद उस स्वेद का नाम है जो हस्त (हाथकी हथेली), कांस्य (कांसे का पाट या पात्र), फाल (लोह से बना हुआ फालिया शस्त्र आदि), बालुका (रेती), वस्त्र तथा घटिका (मिट्टी या तांबा-पीतल आदि का बना पात्र) और साक्षात् अग्निद्वारा प्रयुक्त होता है।

उपनाहस्तु सर्वगन्धधान्यसर्षपकिण्ववचादेवदारु-रास्नैरण्डमूलमधुकशताह्वासुराकिण्वादिवातहरद्रव्यचूर्णै-र्यवगोधूमशकलैरानूपास्रुक्पित्तशिरःपादामिषवेसवारै-श्च। तथा श्लेष्मसंसृष्टे वायौ सुरसादिभिः। पित्त-संसृष्टे च पद्मकादिभिः। पृथक् सहितैर्वा क्षीरशुक्त-धान्याम्ललवणमस्तुप्रगाढैः सुस्निग्धैः सुखोष्णैः साल्वणा-भिधानैर्बहुशः प्रदिह्योष्णवीर्यापूतिमृदुरोमचर्मभिस्तद-भावे घनवातहरपत्राविककौशेयैरुपनद्धमङ्गमहःस्थितं विदाहपरिहारार्थं निशि मुञ्चेद्दिवा वा निशि बद्धं दोष-देशकालवशेन वा।

उपनाहस्वेद—सर्वौषधियों को तैयार कर किसी कपड़े या चमड़े आदि से पाटा बांधने या आधुनिक एलोपैथी चिकित्सा-नुसार पुल्टिस (Poultice) बांधने का नाम उपनाह स्वेद है। केवल वायुविकार में—सर्वगन्ध (सुगन्धिवर्ग के] कूट आदि सब द्रव्य), धान्य (उष्णवीर्य वाले तिल आदि सब धान्य), सरसों, किण्व (सुरा तथा कांजी के सन्धान में अधोभागस्थित पदार्थ), वच, देवदारु, रास्ना, एरण्डमूल, मुलेठी, महुआ, सौंफ, सुरा के नीचे बैठा हुआ जगलक द्रव्य तथैव मद्य आदि वायु को हरनेवाली ओषधियों के चूर्ण, यवगोधूमशकल (जौ और गेहूं का दरदरा-अश्लक्ष्ण पिसा हुआ चूर्ण), अनूप देश के पशु आदि के रक्त, पित्ते, सिर तथा पांव के मांस के बेसवार (सूक्ष्म कूटे हुए मांस), इनमें से अलग २ या सबको लेकर तथा कफयुक्त वायु की दशा में—सुरसादि गण अर्थात् कृष्ण और श्वेत दोनों तुलसी, फणिज्जक (लाल मिरच), कृष्णार्जक, वाय-विडङ्ग, मरुवा, उन्दिरकन्नी, कायफल, कसौन्दी, नकछिकनी, सरसी, भारङ्गी, कामुका, मकोय, गोरखमुण्डी, कुचला, भूस्तृण (तिखाड़ी नामक सुगन्धित घास) तथा जटामांसी इन ओष-धियों को लेकर और पित्तयुक्त वायु के विकार में—पद्मकादि गण अर्थात् पद्माख,प्रपौण्डरीक, वृद्धि, वंशलोचन, ऋद्धि, काकड़ा-सिङ्गी, गिलोय, जीवनीय गण अर्थात् काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि, जीवक, ऋषभक, जीवन्ती और मुलेठी।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के (वातहरण, वातकफहरण तथा वातपित्तहरण) उपनाहस्वेद के द्रव्यों को लेकर (अलग २ या सब) चूर्ण बनाकर उसे स्नेहों से भलीभांति सुस्निग्ध करके दूध, शुक्त, धान्याम्ल (धान की काञ्जी), नमक और मस्तु से मिश्रित करके सुखोष्ण (इतना उष्ण की जो सुहावे या जिससे सुख का अनुभव हो) ऐसा उक्त ओषधियों का पाटा बांधे कि जो उष्णवीर्य-दुर्गन्धिरहित, कोमल रोम या चमड़े से बांधा जावे। रोम और चर्म के अभाव में घनवात-हरपत्र (वायु के हरने वाले एरण्ड आदि के मोटे पत्तों) में रखकर ऊनी कम्बल या रेशम के कपड़े से बांधा जावे—इन्दु के मतानुसार भलीभांति पिसे हुए वातहारक द्रव्यों की मात्रा से युक्त पत्तों से बांधा जावे। शरीर पर इस बँधे हुए पाटे को दिन भर रखकर रात में खोल दे तथा रात के बांधे हुए पाटे को दिन में खोल दे, अथवा दोष, देश, काल और बल की अवस्था जैसी हो उसके अनुसार बर्ताव करे। अथवा साल्वण नामक स्वेद का बारंबार लेप करके अथवा पाटा बांधकर उपचार करे। यहां मूल में साल्वण उपनाह का नाम मात्र निर्दिष्ट किया है किन्तु वह किन किन द्रव्यों से किस प्रकार तयार होता है, यह नहीं लिखा है। अष्टाङ्ग-संग्रह के टीकाकार इन्दु ने भी अपनी टीका में नाममात्र का निर्देश किया है। इस साल्वणोपनाह का उपदेश भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत को किया है और सुश्रुत के मूल पाठ का स्पष्टीकरण हेमाद्रि ने अष्टाङ्गहृदय की स्वनि-र्मित आयुर्वेद रसायन टीका में बहुत अच्छा किया है। तद-नुसार पाठकों के लाभार्थ साल्वणोपनाह का वर्णन हम यहां करते हैं।

साल्वण उपनाह—इस साल्वण नामक उपनाह-स्वेद में काकोल्यादिगण (अष्टवर्गसंज्ञक नहीं, किन्तु जीवनीयगण सहित पद्मकादि गण अर्थात् पद्माख, प्रपौण्डरीक, वृद्धि, वंश-लोचन, ऋद्धि, काकड़ासिङ्गी, गिलोय तथा जीवनीय गण की दस ओषधियां (काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि, जीवक, ऋषभक, जीवन्ती और मुलेठी

---

१. स्वेदविधिनामाध्यायम् २. साल्वलाभिधानैः ३. उपनाह उष्ण-पिण्डबन्ध इतीन्दुः। उपनाहो बन्धनमिति हेमाद्रिः। उपनह्यते बध्यते चर्मपटादिभिरित्यन्वर्थं नामास्योपनाह इत्यरुणः।

तथा वातघ्न ( भद्रदार्वादि ) गण की ओषधियें ( देवदारु, तगर, कूट, दशमूल = शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, छोटी और बड़ी दोनों कटेरी, गोखरू छोटे, बेल, अरणी, अरलू, खम्भारी, पाटला इन दशों के मूल, बला, अतिबला, वीरतरादि गण अर्थात् उशीर-मुञ्ज या वेल्लन्तर, अरणी, बूक ( बकपुष्प-ईश्वरमल्लिका ), अडूसा, पाषाणभेद, गोखरू, ईख, पीतपुष्प की कटसरैया, नीले पुष्प की कटसरैया, काश-कुश विशेष, कामवृक्ष या वृक्ष का बांदा, नल ( मुञ्ज ), सूक्ष्म और स्थूल भेद से दोनों प्रकार के दर्भ, गुण्ठ ( वृत्ततृण ), गौंदी, अरलू विशेष ( भल्लूक ), क्षीरमोरट, कुरण्ट ( सितिवारक-श्वेतपुष्पा कटसरैया ), उत्तरणवेल और सूरजमुखी तथा विदार्यादिगण अर्थात् विदारीकन्द, एरण्ड, वृश्चिकाली, श्वेतपुनर्नवा, देवदारु, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, कौंच बीज, जीवन पञ्चमूल अर्थात् सतावर, काकोली, जीवन्ती, जीवक और ऋषभक तथा ह्रस्व पञ्चमूल ( छोटी और बड़ी दोनों कटेली, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी और गोखरू, अनन्तमूल तथा हंसराज, दाडिमादि अम्लवर्ग (दाडिम, गूलर, फालसा, चिरौञ्जी, जौ, साठी चावल, ईख, बेर, अङ्गूर और खजूर), सर्वस्नेह ( घृत, तेल, वसा और मज्जा ), सैन्धव, सौवर्चल, सामुद्र, बिड और खारी ये पांचों नमक तथा आनूप देशोत्पन्न प्राणियों के सुस्विन्न मांस ये सब द्रव्य समाविष्ट होकर इसका उपर्युक्त विधि से उपयोग किया जाता है।

**द्रवस्वेदस्तु द्विविधः परिषेकोऽवगाहश्च । तत्र शिग्रुवरणाम्रातकमूलकसर्षपसुरसार्जकत्रासावंशाश्मन्तकाशोककिशिरीषार्ककरञ्जैरण्डमालतीपत्रभङ्गपूतीकैर्दशमूलादिवातहरद्रव्यैःसलिलसुराक्षीरशुक्तादिक्वथितैः पूर्वोक्तैश्च यथादोषं पृथक् सहितैर्वा कुम्भीर्वर्षणिकाः प्रणालीर्वा पूरयित्वा वातहरसिद्धस्नेहाभ्यक्तमनभ्यक्तं वोपविष्टं किलिञ्जे वा शयानमेकाङ्गे सर्वाङ्गे वा वस्त्रावच्छन्ने परिषेचयेत् । तैरेवाभिपूर्णे महति कटाहे कुण्डे द्रोण्यां वाऽवगाहयेत् ।**

द्रवस्वेद—द्रव स्वेद के दो प्रकार हैं ( १ ) परिषेक और ( २ ) अवगाह।

परिषेक स्वेद—इसका विधान इस प्रकार है कि सहजना, बरना, आम्रातक ( अम्बाडा ) पाठभेद से गिलोय, मूली, सरसों, तुलसी दोनों प्रकार की, अर्जक (श्वेत पर्णास), अडूसा, बांस, अश्मन्तक, अशोक, सिरस, आक, कञ्जा (लता करञ्ज), एरण्ड और चमेली इन सब के पत्र, पूतीक ( गन्धा करञ्ज ), दशमूल ( शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, छोटे गोखरू, बेल, अरणी, अरलू, खम्भारी और पाटला ) इन सब के मूल आदि प्रथम उपनाह स्वेद में कहे हुए वातहर सर्वगन्ध, धान्य आदि द्रव्य इन सब को यथादोष ( वातादि जो दोष हो उसके अनुसार अलग अलग, कभी दोष के अनुसार दो, तीन, चार अथवा सब ( जितने मिल सकें ) को जल, मद्य, दूध, शुक्त आदि द्रव द्रव्यों के साथ क्वथित करके कुम्भी ( छिद्रवाली मिट्टी की छोटी गागर[1] ) या जिसमें से जल टपकता या बरसता रहे ऐसी बांस की बनी हुई प्रणाली में वह काढ़ा बना हुआ भरकर उसका सिद्ध किये हुए वातहारक स्नेह से स्निग्ध अथवा अस्निग्ध, बांस-वेत-तृण आदि की बनी हुई चटाई[2] पर बैठे हुए या शयन किए हुए वस्त्र से आच्छादित रोगी के किसी एक अङ्ग पर या सारे शरीर पर परिषेचन करे अर्थात् तरेड़ा देवे।

अवगाह स्वेद—अथवा उपर्युक्त सिद्ध किए हुए काढ़े को किसी बड़ी लोहे की कड़ाही, कुण्ड या मिट्टी की बड़ी द्रोणी में भरकर अर्श आदि रोगपीडित रोगी उसमें अवगाहन करे अर्थात् पीडावाले भाग को उसमें डुबाकर बैठे।

**ऊष्मस्वेदः पुनरष्टधा भिद्यते । पिण्डः संस्तरो नाडी घनाश्मा कुम्भी कूपः कुटी जेन्ताकश्च ।**

ऊष्मस्वेद के आठ प्रकार—ऊष्मस्वेद आठ प्रकारों में विभक्त है। यथा-पिण्ड स्वेद, संस्तर स्वेद, नाडी स्वेद, घनाश्म स्वेद, कुम्भी स्वेद, कूप स्वेद, कुटीस्वेद और जेन्ताक स्वेद। अब इन सब का क्रम से वर्णन करते हैं।

**तत्र कपाल[4]पाषाणलोष्टलोहपिण्डानग्निवर्णान् संदंशेन गृहीत्वाऽम्भस्यम्ले वा निमज्जयेत् । तैरार्द्राविकवस्त्रेण वेष्टितैः श्लेष्ममेदोभूयिष्ठं सरुजमङ्गं ग्रन्थिमद्वा स्वेदयेत् । पांसुसिकतागवादिपुरीषधान्यबुसपुलाकपललैर्वाऽम्लोत्कथितैः पूर्ववद्वेष्टितैर्गवादिशकृतार्द्रेण पिण्डीकृतेनोपनाहद्रव्योत्कारिकाकृशरापायसपिण्डैर्वा वातरोगेष्विति पिण्डस्वेदः । स एव सङ्कराख्यः ।**

पिण्ड अथवा सङ्करस्वेद—मिट्टी का ठीकरा ( मृत्कपाल ), पाषाण ( पत्थर की शिला ), लोष्ट ( मिट्टी का ढेला ), लोहपिण्ड ( लोहे का गोला ) इनको तपाकर अग्नि के समान वर्ण हो जाय तब इनको संडासी से पकड़ कर स्वेद्य दोषादि ( वात, पित्त, कफादि ) के अनुसार उसको जल में अथवा शुक्त, काञ्जी आदि में डुबावे अर्थात् बुझावे और बुझाने से उत्पन्न होने वाली गीली बाफ से गीले ऊनी कम्बल या रेशमी कपड़े से

१. बूकः—ईश्वरमल्लिकेत्यरुणः । बकपुष्प इति हेमाद्रिः ।
२. वृक्षादनी—कामवृक्ष इत्यरुणो हेमाद्रिस्तु वृक्षवन्दाक इति ।
३. अभीरुवीराजीवन्तीजीवकर्षभकैः स्मृतम् । जीवनाख्यम् ।
४. ह्रस्वं बृंहत्यंशुमतीद्वयगोक्षुरकैः स्मृतम् । ५. उपनाहः साल्वणाख्यः । उक्तं च सुश्रुतेन-'काकोल्यादिः सवातघ्नः सर्वाम्लद्रव्यसंयुतः । सानूपमांसः सुस्विन्नः सर्वस्नेहसमन्वितः । सुखोष्णः स्पृष्टलवणः साल्वणः परिकीर्तितः । तेनोपनाहं कुर्वीत सर्वदा वातरोगिणाम् ॥' इति, तद्व्याख्यानं च-'काकोल्यादिर्गणो ग्राह्यो नाष्टकवर्गसंज्ञितः । वातघ्नो भद्रदार्वादिवर्गोऽम्लो दाडिमादिकः ॥ सर्वस्नेहश्चतुःस्नेहो लवणं सैन्धवादिकम् । अम्लादिभिश्च संस्कार्यः काकोल्यादिरयं त्रिभिः ॥' इति । पद्मकादिरेव तन्मते काकोल्यादिः । इति हेमाद्रिरायुर्वेदरसायने । ६. वरणामृतक । ७. भूतिक । ८. वातहरैर्द्रव्यैर्मस्तुसलिल । ९ शुक्तादिभिः क्वथितैः । १०. तैरेवाद्भिः पूर्णे ।

१. कुम्भीः स्थालीः, इतीन्दुरुणौ, कुम्भीः-सच्छिद्रा घटिकाः । नाडीः-वंशादिनलिका इति हेमाद्रिः । २. किलिञ्जं-तृणैर्बद्धा शय्येतीन्दुः । किलिञ्जं वैणवास्तरणमित्यन्ये । ३. मृत्कपाल । ४. कृसरमांसपिण्डैर्वा ।

ढके हुए रोगी के कफ-मेदो दूषित पीडाकारक अङ्ग का स्वेदन करे। इसी प्रकार जिस अङ्ग में ग्रन्थियां ( गांठें ) उठी हुई हों, उस का भी स्वेदन करे। अथवा गीले ऊनी वस्त्र या रेशमी वस्त्र से वेष्टित उस अङ्ग का पांसु-रेती-गाय आदि के गोवर अर्थात् अश्व, गर्दभ, हाथी आदि के गोवर या लीद, धान्य ( तिल-बाजरी आदि ), बुस ( तुष ), पुलाक ( अच्छी तरह से पाचित अन्नसिक्थ ) तथा मांस कांजी आदि अम्लद्रव में पकाकर पिण्डी बांधकर भली भांति स्वेदन करे। तथैव वायु के रोगों में पूर्वोक्त गाय, भैंस, घोड़ा, हाथी के गीले गोवर या लीद इनमें से किसी एक से या पिण्डी में बांधे हुए गाय आदि के गोवर, लीद तथा उपनाहार्थ बनाई हुई उत्कारिका ( जव, उड़द, एरण्ड बीज, अलसी, कुसुम्भ अर्थात् करड़ी के बीज आदि से बनाई हुई रोटी ), पिण्डी ( पुल्टिश ) या लोपसी, खिचड़ी, मांस एवं पूर्वोक्त वेसवार आदि में तयार की हुई पिण्डी से स्वेदन करे। पिण्डी से स्वेदन किया जाता है, इसी लिए इसका नाम पिण्डस्वेद है। यही संकर नामक स्वेद है।

यथार्हस्वेदद्रव्याणि पिहितमुखायामुखायां[3] सम्यगुपस्वेद्य निवातशरण[4]शयनस्थे किलिञ्जे प्रस्तीर्या[5]विककौशेयवातहरपत्रान्यतमोत्तरप्रच्छदे रौरवा[6]जिनप्रावारादिभिः स्वच्छन्नं स्वेदयेदिति संस्तरस्वेदः।

संस्तर स्वेद - वात, पित्त, कफादि दोषों की अपेक्षानुसार एरण्डमूलादि तथा मांसादि जितने स्वेदन द्रव्य मिल सकें उनको लेकर जौ कुट कर ढके हुए मुखवाली छिद्ररहित हांडी में डालकर भली भांति सिजावें। जब अच्छी तरह सीज जावें तब इन स्वेदित द्रव्यों को निवातशरण ( निर्वात जिसमें हवा न आती हो ऐसे घर[7] में ) तृणादि से बनी हुई चटाई पर बिछा कर उसे ऊनी वस्त्र, रेशमी वस्त्र तथा वायुनाशक एरण्डादि के पत्र इनमें से किसी एक से ढक दे। उस पर सुलाये हुए रोगी को रौरव-रुरुर्मृगस्तस्येदं रौरवम् ( मृगछाल ), ऊनी वस्त्र आदि ओढ़ाकर उसका स्वेदन करे। इस प्रकार के स्वेदन का नाम संस्तर स्वेद है।

पूर्ववदेव वोपस्वेद्योखामुखेनाधोमुखीं[8] नाडीं मूलच्छिद्रप्रमाणपार्श्वच्छिद्रामभिसंधायावलिप्य च पार्श्वच्छिद्रस्थया नाड्या शरेषिकावंशदलकिलिञ्जकरञ्जपत्रान्यतमकृतया गजाग्रहस्तसंस्थानया व्यामदीर्घयाऽध्यर्द्धव्यामदीर्घया वा स्वायामचतुर्भागाष्टभागपरिणाहमूलाग्रस्रोतसा सर्वतो वातहरपत्रसंवृतच्छिद्रया द्विस्त्रिर्वा विनामितया[9] सुखोपविष्टस्य स्वभ्यक्तप्रावृतेऽङ्गे बाष्पमुपहरेत्। बाष्पो ह्यनृजुगामी विहतचण्डवेगस्त्वचमविदहन् सुखं स्वेदयतीति नाडी स्वेदः[10]।

नाडी स्वेद—पूर्ववत् अर्थात् संस्तर स्वेद की तरह ही स्वेदन करके द्रवद्रव्यपूर्ण हांडी या घड़े के मुख में अन्य हांडी या घड़े को उलटा कर उसका मुख जोड़ दे। जोड़ को शालिपिष्ट या कपड़मिट्टी से लेपन कर पक्का कर देवें। ध्यान रहे कि नीचे की हण्डी के वायुहारक द्रवद्रव्यों की वाफ ऊपरवाली हण्डी में जाने के लिए ऊपरवाली हण्डी के अधोभाग की ओर पसवाड़े में छिद्र करे। इसी छिद्र में से शर ( मूंज ), ईषिका ( तूल-कपास ) तथा बांस के पत्र, वीरण घास, करञ्जपत्र इनमें से किसी एक के पत्रों से हाथी के सूंड के आकार की, जिसकी लम्बाई एक व्याम या डेढ़ व्याम की तथा सुश्रुत के मतानुसार आधे व्याम[1] की हो ऐसी नाली ( आधुनिक नल के आकार की ) बनावे। इस नाली के मूल स्रोत के अग्रभाग की चौड़ाई नाली की लम्बाई का चौथा या आठवां भाग हो तथा तृण-पत्रादि से निर्मित होने के कारण नाली में कहीं छिद्र दिखाई देते हों तो वे एरण्ड के पत्रों से ढक दिए गए हों और उक्त नाडी दो या तीन जगह नीचे की ओर मुड़ी हुई हो। इस प्रकार से नाडी यन्त्र का निर्माण कर उसे चूल्हे पर चढ़ावे और नीचे अग्नि जलावे। अच्छी तरह स्निग्ध रोगी को ऊनी कम्बल से ढक कर कुर्सी आदि पर बिठाकर इस यन्त्र की वाफ से स्वेदन करे। यह वाफ एकदम सीधी आनेवाली न होने से तथा प्रचण्ड वेगवती न होने से चमड़ी को न जलाती हुई सुख से स्वेदन करती है। नालिका या नाडिका द्वारा स्वेदन किया जाने के कारण इसका नाम नाडीस्वेद है।

व्याम प्रमाण उसे कहते हैं जो दोनों बाहुओं के तिर्छे फैलाने पर दोनों के बीच में जितना अन्तर होता[2] है।

पुरुषायाममात्रमधिकं वा घनं समं च शिलातलं भूप्रदेशं वा वातहरदारुदीप्तेनाग्निना सर्वतस्तापयित्वाग्निमपोह्योष्णोदकाम्लादिभिरभ्युद्य यथोक्तप्रच्छदे संस्तरवत्स्वेदयेदिति घनाश्मस्वेदः।

घनाश्मस्वेद—पुरुषायाममात्र अर्थात् एक पुरुष ( साढ़े तीन हाथ ) या इससे भी अधिक मोटा ( घन-अभङ्गुर अर्थात् टूटा फूटा न हो, सम ( जो ऊंचा नीचा न हो ) ऐसा शिलातल अथवा भूमि पर वायुनाशक ओषधियों के काष्ठ से अग्नि जलावे। इस प्रकार भली भांति शिलातल एवं भूमि को तपाकर, अग्नि को हटाकर गरम जल, अम्ल ( काञ्जी ) आदि से उस पर छिड़काव कर, उस ( शिलातल या भूप्रदेश ) को यथोक्त मृगछाला, कम्बल आदि से ढक कर उस पर रोगी को बिठा या सुलाकर उसे-उष्ण वस्त्रादि ओढ़ाकर संस्तर स्वेद की तरह स्वेदन करे। इसे घनाश्म स्वेद कहते हैं।

पूर्ववत्स्वेदद्रव्याणि कुम्भ्यामुत्काथ्योपरिलिप्योपविष्टस्तद्दूष्माणं गृह्णीयात् भूमौ वा तां निखाय तदूर्ध्वमासनं शयनं वा नातिघनप्रच्छदं परितः प्रलम्बमानकुथाकम्बलगोणिकं निधाय तत्रस्थस्योष्माणं गृह्णतः कुम्भ्या-

१. आदिग्रहणेनाश्वगर्दभहस्त्यादीनां ग्रहणमितीन्दुः। २. उत्कारिका लप्सिकेति डल्हनः। रोटिकेति हेमाद्रिः। यवमाषैरण्डबीजातसीकुसुम्भबीजादिभिः पिष्टस्विन्नैर्लप्सिकाकृतिर्यः स्वेदनोपायः सा उत्कारिका, इत्यरुणदत्तः। ३. पिहितमुखायां कुम्भ्याम्। ४ [निवातशरण शयनकिलिञ्जे। ५. प्रस्तार्य ६ कुथकाजिन। ७. शरणं गृहरक्षित्रोरित्यमरः। ८. मुखेनान्यामुखां। ९. विनमितया। १०. नालीस्वेदः।

१. व्यामार्धमात्रा त्रिर्वक्रा हस्तिहस्तसमाकृतिरिति। २. 'व्यामो बाह्वोः सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम्' इत्यमरः।

मग्निवर्णानयोगुडानुपलांश्च शनैर्निमज्जयेदिति । कुम्भीस्वेदः ।

कुम्भीस्वेदः—पूर्ववत् अर्थात् नाडीस्वेद की तरह स्वेदन ओषधियों को एक हांडी में डालकर अच्छी तरह काढ़ा करे और उबली हुई ओषधियों सह क्वाथ से पूर्ण हांडी को अपने पास लेकर अथवा उस हांडी के बिलकुल पास बैठ कर उसकी बाफको ग्रहण करे उस बाफ से स्वेदन करे। यह एक प्रकार हुआ। दूसरा विधान इस प्रकार है कि भूमि को खोदकर उसमें उस औषधक्वाथपूर्ण हांडी को रखकर उस पर एक जानुभर ऊँचा हो ऐसा आसन ( चारपाई आदि ) बिछावे। उस चारपाई पर अधिक मोटा नहो ऐसा कपड़ा ( ऊनी ) बिछाकर रोगी उस पर बैठे या सो जावे। चारो-ओर भूमिभाग तक लटकते हुए हाथी के पीठ पर की झूल, कम्बल या गोणी ( सन की बुनी हुई कम्बल ) से रोगी को ढक दे। हण्डी से निकलने वाली बाफ से स्वेदन करे। स्वेदन करते समय उस हांडी में तपाकर अग्निवर्ण किए हुए लोहे के गोले या पत्थर डालकर बुझावे ताकि बाफ उठती रहे। इस स्वेदनविधि को कुम्भीस्वेद कहते हैं।

शयनस्याधो विस्तारद्विगुणखाते कूपे वातहरदारुकरीषान्यतरपूर्णदग्धे विगतधूमे स्वास्तीर्णशयनस्थं स्वेदयेदिति कूपस्वेदः ।

कूपस्वेद—स्वेदनार्थ जिस पर लेटना हो उस चारपाई के नीचे चारपाई के प्रमाण से द्विगुणित गहरे भूमि में खोदे हुए कूप को वायुनाशक ओषधियों के काष्ठ, करीष ( बकरी की मेंगनी ) इनमें से किसी एक से पूर्ण कर जलावे। अच्छी तरह काष्ठादि के जल जाने पर तथा धुंवां निकल जाने पर पूर्वोक्त नातिघन ऊनी वस्त्र से आच्छादित चारपाई पर लेट कर या बैठ कर पसीना ले या अपना स्वेदन करे। इस स्वेदन विधि को कूपस्वेद कहते हैं।

कुटीं नात्युच्चविस्तारां वृत्तामच्छिद्रामुपनाहकल्कघनप्रदिग्धकुड्यां सर्वतो विधूमप्रदीप्तखदिराङ्गारपूर्णहसन्तिकासमूहपरिवृतां विधाय तन्मध्ये च शय्यां तत्रस्थं स्वेदयेदिति कुटीस्वेदः ।

कुटीस्वेद—जो न अति ऊँची हो, आकार में गोल हो, जिसकी भीत में छिद्र, झरोखा न हो, जिसकी भीत उपनाह स्वेद के द्रव्यों के कल्क से पुती हुई हो और जिसमें चारों ओर धूम्र रहित खैर के कोयलों या लकड़ियों की अङ्गार से पूर्ण ऐसी सिगडियें रक्खी हुई हों ऐसी कुटी बनाकर उसके मध्य भाग में शय्या ( खटिया, तख्तपोश आदि ) बिछा कर उस पर स्थित रोगी का स्वेदन करे। इस स्वेद का नाम कुटीस्वेद है।

अथ जेन्ताकं चिकीर्षुर्भूमिं परीक्षेत। पूर्वस्यामुत्तरस्यां वा दिशि गुणवति प्रशस्तभूमिभागे देशे कृष्णमृत्तिके सुवर्णवर्णमृत्तिके वा परीवापपुष्करिण्यादीनां जलाशयानामन्यतमस्य कूले दक्षिणे पश्चिमे वा सुतीर्थे समसुविभक्तभूमिभागे सप्ताष्टौ वाऽरत्नीरुपक्रम्योदकात्प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वाऽभिमुखतीर्थं कूटागारं कारयेत्। उत्सेधविस्तारतः परमरत्नीः षोडश समन्तात्सुवृत्तं मृत्कर्मसम्पन्नमनेकवातायनम्। अस्य च कूटागारस्यान्तः समन्ततो भित्तिमरत्निविस्तारोत्सेधां पिण्डिकां कारयेदाकपाटात्। मध्ये चास्य कूटागारस्य किष्कुमुक्तं द्विपुरुषप्रमाणं मृन्मयं कन्दुसंस्थानं बहुसूक्ष्मच्छिद्रमङ्गारकोष्ठकस्तम्भं सपिधानं कारयेत्। तं च खादिराणामाश्वकर्णानां वा काष्ठानां पूरयित्वा दीपयेत्। स यदा जानीयात्साधुदग्धानि काष्ठानि विगतधूमान्यवतप्तं सर्वमग्निना तदग्निगृहं स्वेदयोग्येन चोष्मणा युक्तमिति। तत्रैनं वातहराभ्यङ्गाभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं प्रवेशयेत्। अनुशिष्यात्सौम्य प्रविश कल्याणायारोग्याय च। प्रविश्य चैनां पिण्डिकामारुह्य पार्श्वापरपार्श्वाभ्यां यथासुखं शयीथाः। न च त्वरया स्वेदमूर्च्छापरीतेनापि पिण्डिकैषा विमोक्तव्याऽऽप्राणोच्छ्वासात्। अश्यानो ह्यतः पिण्डिकावकाशाद् द्वारमनधिगच्छन् स्वेदमूर्च्छापरीततया सद्यः प्राणान् जह्याः। तस्मात्पिण्डिकामेनां न कथञ्चन मुञ्चेथाः। त्वं यदा जानीयाः विगताभिष्यन्दमात्मानं सम्यक्प्रस्रुतस्वेदपिच्छं सर्वस्रोतोविमुक्तं लघुभूतमपगतविबन्धस्तम्भसुप्तिवेदनागौरवमिति। ततः पिण्डिकानुसारेण द्वारं प्रपद्येथाः। निष्क्रम्य च चक्षुषोः परिपालनार्थमतिस्विन्नोऽपि न सहसा शीतोदकमनुप्रविशेथाः। सम्यक्स्विन्नस्त्वपगतसंतापक्लमो मुहूर्त्तात्सुखोष्णेन वारिणा यथान्यायं परिषिक्तोऽश्नीयादिति जेन्ताकस्वेदः।

जेन्ताक स्वेदः—जेन्ताक स्वेद की इच्छावाले को चाहिए कि वह पहले भूमि की परीक्षा करे। पूर्व या उत्तर दिशा में उपजाऊ श्रेष्ठ भूमि के भाग में जहां की मिट्टी काली या सुनहली ( पीली ) हो, जहां पर बावली या पुष्करिणी ( पोखर ) जलाशय हो, इन जलाशयों में से किसी एक के किनारे ( दक्षिण या पश्चिम तटपर ), जहां अच्छे सोपान या घाट बने हों, उक्त समतल भूमि पर जहां निश्चय किया हो, जल से सात आठ हाथ के अन्तर पर पूर्वमुख या उत्तर मुख; जलाशय के सामने द्वारवाला कूटागार ( चारों ओर से कमरों से आच्छादित गर्भ गृह की तरह ) घर बनावे। इसकी ऊंचाई-चौड़ाई १६ हाथ की हो और यह चारों ओर से गोलाकारवाला हो, अच्छी तरह मिट्टी से लीपा पोता हो और जिसमें अनेक वातायन ( झरोखे ) हों। इस कूटागार के भीतर चारों ओर से भीत के सहारे एक हाथ ऊंची और चौड़ी कपाटों से लेकर मिट्टी की पिण्डिका ( थड़ी ) बनावे। सारांश, केवल द्वार में थड़ी नहीं बनावे। इस कूटागार के मध्य में, भीत के सहारे बनी हुई पिण्डिका ( थड़ी ) से किष्कु ( एक हाथ के अन्तर पर किन्तु इन्दु के मतानुसार चार हाथ के अन्तर पर ) दो

१. तत्रैनं पुरुषमिति चरकसंमतः पाठः। २. त्वया। ३. किष्कुः हस्ते वितस्तौ चेलमरः। किष्कुर्द्वयोर्वितस्तौ च सप्रकोष्ठकरेऽपि चेति।

पुरुष ( सात हाथ ) प्रमाण लम्बा चौड़ा अर्थात् ढाई हाथ से कुछ अधिक ऊंचा और चौड़ा मिट्टी का लोहार की भट्टी या तन्दूर के समान अङ्गारकोष्ठकस्तम्भ ( जिसके कोष्ठ में अङ्गार रहे ऐसा स्तम्भ ) बनावे। इसके चारों ओर सूक्ष्म छिद्र भी रक्खे जावें। इसका ढक्कन भी मिट्टी का बनावे। उसे खैर या अश्वकर्ण पलाश के काष्ठ से भर कर जला दे। वैद्य जब जान ले कि भलीभांति लकड़ी जलचुकी है, धुँवां भी नहीं है और वह सारा गृह स्वेद-योग्य ऊष्मा के योग्य अग्नि से तप्त हो चुका है या गरम हो गया है, तब वायुहारक अभ्यङ्ग से अभ्यक्त शरीरवाले वस्त्र ओढ़े हुए उस पुरुष को अर्थात् वायु-नाशक तेल की मालिश किए हुए तथा ऊनी वस्त्र ओढ़े हुए रोगी को उस घर में प्रविष्ट करावे। प्रवेश के समय उसको उपदेश कर दे कि 'हे सौम्य! अपने कल्याण एवं आरोग्य के लिए तू इसमें प्रवेश कर। प्रवेश करके इस भीत के सहारे बनी हुई थड़ी पर चढ़कर दाहिने या बाँएं पसवाड़े से जैसे अच्छा प्रतीत हो शयन कर। उसे सूचित कर दे कि गरमी से पसीना तथा मूर्च्छा तक हो जाय तो भी तुमको प्राणों के कण्ठ में आने तक इस थड़ी को नहीं छोड़ना चाहिए। यदि भूलकर थड़ी को छोड़ दिया तो स्वेद और मूर्च्छा के कारण उस थड़ी के सहारे तुम द्वार तक न जासकोगे। इतना ही नहीं, स्वेद और मूर्च्छा के कारण तुम शीघ्र ही प्राणों तक को खो बैठोगे। इसलिए कदापि पिण्डिका ( थड़ी ) का त्याग नहीं करना चाहिए। जब तुम यह समझ लो कि मेरे में अब अभिष्यन्द ( कफ की लिप्तता ) बिलकुल नहीं रही है। पसीना भी अच्छी तरह बहकर शरीर से बाहर निकल गया है। संपूर्ण स्रोत खुलकर साफ हो गये हैं; शरीर में लघुता स्फूर्ति प्रतीत हो रही है। मलका अवरोध अर्थात् बद्धकोष्ठता, जड़ता, सुप्ति ( स्पर्श का अज्ञान ), वेदना तथा गौरव (भारीपन ) प्रतीत नहीं हो रहे हैं, तब उक्त थड़ी (पिण्डिका) के सहारे सहारे चलकर द्वार पर आ जाना परन्तु आंखों की रक्षा का ध्यान रखते हुए सहसा शीतल जल से स्नान नहीं करना। इतना ही नहीं शीतल, जल का स्पर्श तक नहीं करना। जब सन्ताप अर्थात् उष्णता तथा ग्लानि न रहे, तब सुखोष्ण ( कुनकुने ) जलसे एक मुहूर्त के बाद अर्थात् दो घड़ी ठहर कर यथाविधि स्नानकर पथ्यसेवन ( भोजन ) करे। इस स्वेदनविधि का नाम जेन्ताक स्वेद है।

**तेषां विशेषतस्तापोष्मस्वेदौ कफे प्रयोजयेत्।**
**उपनाहमनिले किञ्चित्पित्तसंसृष्टेऽन्यतरस्मिन् द्रवमिति।**

यथादोष अग्निस्वेद की योजना—इन सब स्वेदों में से जहां कफदोषकी अधिकता हो, वहां पर तापस्वेद या ऊष्मस्वेद की योजना करे। जहां केवल वायुदोष बढ़ा हुआ हो तो उपनाहस्वेद की योजना करनी चाहिए और जहां किञ्चित् पित्त से युक्त वायु हो तो तथैव अन्य केवल प्राकृत कफवायु में भी द्रवस्वेद की योजना करनी चाहिए।

मेदिनी। किष्कुः—द्वादशाङ्गुलपरिमाणे हस्ते ( Arundo tibialis ) इति वैद्यकशब्दसिन्धुः। किष्कुर्हस्तचतुष्टयम्, इतीन्दुः। १. कन्दु-संस्थानं-कन्दुः कुम्भकाराग्निस्थानमिति। अङ्गारार्थं कोष्ठोऽवकाशो विद्यतेऽस्मिन् सोऽङ्गारकोष्ठकः स एव स्तम्भ इति चक्रदत्तः।

विशेष वक्तव्य—उपर्युक्त उपनाहस्वेद में दोषानुसार जिन जिन द्रव्यों को स्वेदित करना लिखा है, जहां सुरसादि-गण, जीवनीयगण, भद्रदारु आदि गणों के द्रव्य कहे हैं वहां इन गणों के अनुसार तथा पहले जो द्रव्य गद्य में आ चुका है और उसी के साथ गण लिए गए हैं, उनमें भी वह द्रव्य है। यह देख कर किसी को पुनरुक्ति की शङ्का कर एक ही द्रव्य नहीं डालना चाहिए किन्तु जिसका नाम दो बार या तीन बार आया हो तो उस द्रव्य का प्रमाण द्विगुण या त्रिगुण करना चाहिए जैसे कि आयुर्वेद की परिभाषा में बताया गया है। अन्तिम जेन्ताक स्वेद में जहां कुनकुने जल से स्नान करने में यथाविधि का उपदेश किया गया है, इसका भावार्थ केवल अधःकाय के स्नान से है अर्थात् यदि स्नान करे तो सर्वाङ्ग पर जल डाल कर न करे अपि तु नीचे के भाग को भिगोना चाहिए।

यहां तक अग्निकृत ( आग्नेय ) स्वेदों का वर्णन किया गया। अब आचार्य अपने कथनानुसार अनाग्नेय (अग्निरहित) स्वेदों का वर्णन करते हैं।

**अनाग्नेयं पुनर्मेदःकफावृते वायौ निवातसदनगुरु-प्रावरणबहुमद्यपान[2]व्यायामक्षुदातपनियुद्धाध्वभारभरणा[3]-मर्षभयैः। उपनाहं च पित्तान्वये पूर्वोक्तेनैव विधिना-ग्निरहितमिति।**

अनाग्नेय स्वेद—मेद और कफसे आवृत वायु की दशा में अनाग्नेय स्वेद की योजना करनी चाहिए। उसके लिए घर ऐसा चाहिए कि जिसमें सीधी हवा न आती हो, मोटा ऊनी कपड़ा ओढ़ा हुआ हो, बहु या बारम्बार मद्यपान, व्यायाम, क्षुधा, धूप, नियुद्ध ( बाहुयुद्ध जो तलवार तथा धनुष द्वारा किया जाता है ), भारका उठाना, क्रोध करना या भय दिखाना इत्यादि जिनसे स्वेद ( पसीने ) की प्रवृत्ति हो वह कर्म किया जाय। पित्तयुक्त वायु में पूर्वोक्त विधिसे अग्नि-स्वेदविधि को छोड़कर केवल अग्निरहित उपनाह स्वेद की योजना करनी चाहिए।

विशेष वक्तव्य—यहां निवातसदनादि गद्यमें दस प्रकारके अनाग्नेय स्वेद बताये हैं। चरकने निवातसदन के स्थान पर उष्णसदन कहा है जो कि अग्नि-संताप-रहित, गवाक्षादिरहित तथा मोटी भीतोंवाला होनेसे मनुष्यको स्वेदित करता है।

भवन्ति चात्र।

**निवातेऽन्तर्बहिः स्निग्धो जीर्णान्नः स्वेदमाचरेत्।**
**व्याधिव्याधितदेशर्तुवशान्मध्यवरावरम्॥**
**कफार्तो रूक्षणं रूक्षो रूक्षस्निग्धं कफानिले।**

१. उष्णाम्बुनाधःकायस्येत्यादिस्नानन्याय इतीन्दुः। २. मद्य-मद्यपान। ३. भारहरणा। ४. नियुद्धं बाहुयुद्धमसिधनुष्काण्डादिने-तीन्दुः। ५. व्यायाम उष्णसदनं गुरुप्रावरणं क्षुधा। बहुपानं भय-क्रोधावुपनाहाहवातपाः॥ ६ स्वेदयन्ति दशैतानि नरमग्निगुणादृते॥ इति चरकः। 'उष्णसदनमिति अग्निसंतापव्यतिरेकेण निर्जालिकतया घनभित्तितया च यद्गृहं स्वेदयति तद्बोद्धव्यमिति चक्रदत्तः।

आमाशयगते वायौ कफे पक्वाश्रयाश्रिते ।।
रूक्षपूर्वं तथा स्नेहपूर्वं स्थानानुरोधतः ।
अल्पं वंक्षणयोः स्वल्पं दृङ्मुष्कहृदये न वा ।।
पद्मोत्पलादिभिः सक्तुपिण्ड्या वाच्छाद्य चक्षुषी ।
शीतैर्मुक्तावलीपद्मकुमुदोत्पलभाजनैः ।।
मुहुः करैश्च तोयार्द्रैः स्विद्यतो हृदयं स्पृशेत् ।
शीतशूलक्षये स्विन्नो जातेऽङ्गानां च मार्दवे ।।
स्याच्छनैर्मृदितः स्नातस्ततः स्नेहविधिं भजेत् ।

स्वेदविधि—जिसको स्वेदन करना हो उसको प्रथम दिनका किया हुआ आहार पच जाने पर, भीतर और बाहर से स्निग्ध करके अर्थात् अन्दर से स्नेह पिलाकर बाहर से स्नेह का अभ्यङ्ग कराकर भलीभांति स्निग्ध करके निर्वात स्थान में स्वेदन करना चाहिए। स्वेदन उत्कृष्ट, मध्यम या निकृष्ट में से कौनसा करना चाहिए इसकी कल्पना रोग, रोगी, देश तथा ऋतु का विचार करके करनी चाहिए। ध्यान रहे कि यह स्वेदन प्रथम दिन के किए हुए आहार के जीर्ण होने तथा क्षुधा के चैतन्य होने पर प्रथम काल में ही करना चाहिए। आमाजीर्णादिकी अवस्था में स्वेदन कदापि नहीं करना चाहिए।

वातादि दोषों के भेद से स्वेदन—कफार्त (कफरोगी) को चाहिए कि वह विना स्नेहपान तथा स्नेहाभ्यङ्ग के रूक्ष स्वेदन करावे और जो रूक्ष हो उसे स्निग्धस्वेदन करावे और जो स्निग्ध हो उसे रूक्षस्वेदन करावे। जो कफवात से पीड़ित हो तो उसे रूक्षस्निग्धस्वेदन कराना चाहिए। स्थानानुरोध से जैसे कि आमाशयगत वायु हो तो रूक्षणपूर्वक स्वेद तथा पक्वाशयगत कफ हो तो स्नेहपूर्वक स्वेद करावे। भावार्थ यह है कि आमाशय कफ का स्थान है और वायु वहां आगन्तुक है। इसी प्रकार पक्वाशय वायुका स्थान है और कफ आगन्तुक है इसलिए शास्त्र की आज्ञानुसार प्रथम स्थानीय की चिकित्सा (प्रतीकार) करके फिर आगन्तुक का उपाय (शमन) करना चाहिए। इसी आशय को लेकर आमाशयगत वायु का रूक्षपूर्वक और पक्वाशयगत कफ का स्निग्धपूर्वक स्वेदन कहा गया है।

विशेष वक्तव्य—यहां 'आमाशयगते वायौ' इस विधान पर कई लोग आपत्ति करते हैं कि—'वायु का आमाशय में कोप नहीं हो सकता क्योंकि वायु लघु आदि गुणों से युक्त है और विपरीत इसके आमाशय गुरु, मृदु तथा पिच्छिलादि गुणयुक्त है अतः आमाशय में तो वायु का शमन ही हो सकता है।' किन्तु यह आपत्ति उठाना ठीक नहीं है। जो वलवान् होता है, उसका अन्याश्रय में जाने पर भी कोप हो सकता है। मार्गरोध अर्थात् स्रोतों के रोकने के कारण वायु का आमाशय में भी कोप हो सकता है। कहा भी है कि 'आमाशय में जाकर रुद्धगति होकर वायु प्रायः कुपित होता है।' इसी प्रकार और भी कहा है कि 'वायु आदि दोष काल-देश-बल आदि के बल को पाकर अन्याश्रयों में भी कुपित होते हैं।' इन प्रमाणों से 'आमाशय में जाकर वायु कुपित नहीं हो सकता' इस शङ्का का खण्डन हो जाता है।

वङ्क्षणादि में स्वेद—वंक्षण अर्थात् सक्थियों की संधियों में स्वेदन करना हो तो अल्पस्वेद करना चाहिए। नेत्र, अण्डकोष और हृदय पर स्वेदन करना हो तो अति अल्प स्वेदन करना चाहिए। जहां तक बने नेत्र, अण्डकोष तथा हृदय पर स्वेदन नहीं करना चाहिए। यदि अत्यावश्यकता ही हो तो कमल के पत्र आदि से जो स्वभावतः शीत हैं, नेत्रों को ढक कर फिर नेत्रों को सत्तू की पिण्डी से स्वेदन करना चाहिए। हृदय को स्वेदन करना हो तो स्वभावतः शीत ऐसे मोतियों की माला, कमल तथा कुमोदिनी पत्रों को हाथों में ले इनसे स्वेदन करे। स्वेदन करता हुआ बारंबार जल से गीले हाथों से हृदय का स्पर्श करता रहे।

सम्यक् स्वेदित के लक्षण और कर्त्तव्य—स्वेदन हो जाने पर जब यह अनुभव हो जाय कि शीत और पीड़ा का नाश हो गया है, सारे अङ्ग-उपाङ्ग मृदु (कोमल) हो गये हैं तब जान ले कि सम्यक् स्वेद निष्पन्न हो गया है क्योंकि स्वेद के सम्यग्योग के लक्षण ये ही हैं। सम्यक् स्वेदित हो जाने पर मनुष्य को चाहिए कि वह धीरे धीरे शरीर का मर्दन कर सुखोष्ण जल से स्नान करे तथा स्नेह-पान में वर्णित पथ्यविधि का सेवन करे।

पित्तास्रकोपतृण्मूर्च्छास्वराङ्गसदनभ्रमाः ।
सन्धिपीडा ज्वरः श्यावरक्तमण्डलदर्शनम् ।।
स्वेदातियोगाच्छर्दिश्च तत्र स्तम्भनमौषधम् ।
विषक्षाराग्न्यतीसारच्छर्दितमोहातुरेषु च ।।

अतिस्विन्न के दोष और उनका उपाय—पित्तरक्त या रक्तपित्त का कोप तृषा, मूर्च्छा (बेहोशी), स्वरभेद, अङ्गसाद (शरीर की शिथिलता), भ्रम (चक्कर आना), सन्धियों में पीड़ा, ज्वर, काले और लाल धब्बों का शरीर पर दिखाई देना और छर्दि (वमन) ये स्वेद के अतियोग से होते हैं। ऐसी अवस्था में स्तम्भन ओषधियों का देना ही हितकारी है। विष, क्षार, अग्नि से जलना, अतीसार, छर्दि, मूर्च्छा के रोगियों के लिए भी स्तम्भन ओषधियों को देना चाहिए।

स्वेदनं गुरु तीक्ष्णोष्णं प्रायः स्तम्भनमन्यथा ।
तत्र स्थिरसरस्निग्धरूक्षसूक्ष्मं च भेषजम् ।।
स्वेदनं स्तम्भनं श्लक्ष्णरूक्षसूक्ष्मसरद्रवम् ।
प्रायस्तिक्तं कषायं च मधुरं च समासतः ।।

द्रव्यगुणवशात् स्वेदनस्तम्भनका कथन—जो द्रव्य गुरु, तीक्ष्ण और उष्ण गुणवाला होता है, वह प्रायः स्वेदन होता है। यहां प्रायः ग्रहण से भय, शोकादि लघुगुणवालों का भी ग्रहण किया गया है। पूर्वोक्त गुरु, तीक्ष्ण और उष्ण के विपरीत लघु, मन्द

१. 'तत्रान्यस्थानसंस्थेषु तदीयाम्' इति। अथवा 'आगन्तुं शमयेद्दोषं स्थानिनं प्रतिकृत्य वा' इति।

१. ननु वायोरामाशये कोपोऽनुपपन्नः। यतो मरुत् लघ्वादिगुणयुक्तः। आमाशयस्तु गुरुमृदुपिच्छिलादियुक्तः। अतः शम एवोपपन्न इति केचित्। एतच्चायुक्तम्। बलिनो ह्यन्याश्रयस्थस्यापि कोपो युक्तः। मार्गरोधाच्च वायोरामाशयेऽपि प्रकोपसम्भव इति। तथा च वक्ष्यति-'प्रायोऽनिलो रुद्धगतिः कुप्यत्यामाशये गतः।' इति, तथा चोक्तम्—'ते कालादिबलं लब्ध्वा कुप्यन्त्यन्याश्रयेष्वपि।' इत्यरुणदत्तः। २. प्रायो ग्रहणात् भयशोकादिकमगुर्वपि गृह्यत इत्यप्यरुणः।

और शीतगुण-प्रधान द्रव्य स्तम्भन होता है। जो द्रव्य स्थिर, सर, स्निग्ध, रूक्ष और सूक्ष्मगुण-प्रधान होता है वह स्वेदन होता है और जो श्लक्ष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, सर और द्रव्यगुण-प्रधान औषध होता है, वह स्तम्भन होता है।

रसभेद से स्तम्भन का कथन—जो द्रव्य तिक्त, कषाय और मधुर रसवाला होता है वह भी प्रायः स्तम्भन होता है। यहां भी प्रायो ग्रहण है अतः तिक्त, कषाय और मधुर रसप्रधान कुछ द्रव्य स्तम्भन नहीं भी होते हैं।

स्तम्भितः स्याद्बले लब्धे यथोक्तामयसंक्षयात् ।
स्तम्भत्वक्स्नायुसङ्कोचकम्पहृद्वाग्घनुग्रहैः ॥
पादौष्ठत्वक्करैः श्यावैरतिस्तम्भितमादिशेत् ॥

स्तम्भित के लक्षण—स्तम्भन औषध के देने पर जब बलकी प्राप्ति हो जाय तथा अतिस्वेद के योग से होनेवाले जैसे कि पित्तरक्त या रक्तपित्तकोप, तृषा, मूर्च्छा, स्वरभेद, अङ्गशैथिल्य, भ्रम, सन्धिपीडा, ज्वर, लाल और काले मण्डलों का शरीर पर दिखाई देना, इन रोगों का नाश हो जाय तब जान लेना चाहिए कि स्तम्भन का सम्यग्योग हो गया है।

अतिस्तम्भित के लक्षण—स्तम्भन औषध के अतियोग हो जाने पर शरीर का जकड़ जाना, त्वचा और स्नायु का संकोच, कम्प, हृदय का बद्ध-सा हो जाना, बोलने में रुकावट तथा हनुग्रह का होना, पांव-होंठ-त्वचा और हाथों का वर्ण काला हो जाना, ये लक्षण होते हैं।

न स्वेदयेदतिस्थूलरूक्षदुर्बलमूर्च्छितान् ।
स्तम्भनीयक्षतक्षीणक्षाममद्यविकारिणः ॥
तिमिरोदरवीसर्पकुष्ठरोगाढ्यरोगिणः[१] ।
पीतदुग्धदधिस्नेहमधून् कृतविरेचनान् ॥
भ्रष्टदग्धगुदग्लानिक्रोधशोकभयार्दितान् ।
क्षुत्तृष्णाकामलापाण्डुमेहिनः पित्तपीडितान् ॥
गर्भिणीं पुष्पितां सूतां मृदु चात्ययिके गदे ।

स्वेदके लिए अयोग्य प्राणी—जो अतिस्थूल हो, जो अतिरूक्ष, दुर्बल तथा मूर्च्छित हो, जिसको स्तम्भन औषध देना हो, जो उरःक्षतरोगी हो, जो क्षीण (क्षयरोगी) हो, जो कृश हो, जो मद्यरोगी (मदात्ययी) हो, जिसके सामने अँधियारी आती हो, जो उदररोग से पीड़ित हो, विसर्परोगी हो, कुष्ठ-रोगी हो, शोषरोगी हो, जो आढ्यरोगी (वातरक्तवाला) हो, जो दुग्ध, दही, स्नेह (घृतादि) तथा मधु पिया हुआ हो, जिसको विरेचन कराया गया हो, जो अतीसार से भ्रष्ट-गुद (गुदभ्रंशरोगी) हो, जो क्षार-अग्नि आदि से दग्ध-गुद हो, जो ग्लानि-क्रोध-शोक-भय से पीड़ित हो, जो क्षुधा और तृषा से पीडित हो, कामला-पाण्डु तथा प्रमेह का रोगी हो, जो पित्त से पीडित हो, जो गर्भिणी हो, रजस्वला हो और जो प्रसूता हो, इन सबको स्वेदन नहीं कराना चाहिए। यदि विसूचिका आदि रोगी की आत्ययिक अवस्था हो तो मृदु स्वेदन कराना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—इन सबके लिए स्वेदन का निषेध इसलिए है कि अतिस्थूल का मेद स्वेद से पिघलकर शरीर में उपद्रव पैदा करेगा। रूक्षादि के स्वेद से अतिकृशता होगी। क्षुधित के स्वेदन से अत्यन्त ग्लानि होगी। कामला और पाण्डु रोग में स्वेद से पित्तवृद्धि होकर रोग में अधिक वृद्धि होगी। प्रमेही की स्वेदवृद्धि होकर रोग की वृद्धि होगी। गर्भिणी का स्वेद से गर्भपात होगा। रजस्वला को स्वेदित करेंगे तो रक्त की अति प्रवृत्ति हो जायगी तथा प्रसूता को स्वेदन करने से वह कृश हो जायगी। इस लिए उक्त प्राणियों को स्वेदन कदापि नहीं कराना चाहिए।

श्वासकासप्रतिश्यायहिध्माध्मानविबन्धिषु ।
स्वरभेदानिलव्याधिपक्षाघातापतानके ॥
अङ्गमर्दकटीपार्श्वपृष्ठकुक्षिहनुग्रहे ।
महत्त्वे मुष्कयोः खल्ल्यामायामे वातकण्टके ॥
मूत्रकृच्छ्रार्बुदग्रन्थिशुक्राघाताढ्यमारुते ।
वेपथुश्वयथुस्वापस्तम्भजृम्भाङ्गगौरवे ॥
कर्णमन्याशिरःकोष्ठजङ्घापादोरुरुक्षु च ।
स्वेदं यथायथं कुर्यात्तदौषधविभागतः ॥

स्वेदन के योग्य प्राणी—जो खांसी, श्वास, प्रतिश्याय (जुकाम), हिचकी, अफारा, मलावरोध, स्वरभेद, वातव्याधि, पक्षाघात, अपतानक, अङ्गमर्द, कटी-पार्श्व-पृष्ठ (पीठ) कुक्षि और हनुका जकड़ना, अण्डवृद्धि, खल्ली (हाथ और पांव का ऐंठना), आयाम (बहिरायाम, अन्तरायाम) तथा वातकण्टक जो वातव्याधि में कहे हैं, मूत्रकृच्छ्र, अर्बुद, ग्रन्थि, शुक्राश्मरी, मूत्राघात, ऊरुस्तम्भ, वेपथु (कम्प), शोथ, त्वचा की सुप्ति, जीभ का जकड़ना, अङ्ग की जड़ता, इसी प्रकार कान, मन्या (गर्दन), सिर, कोष्ठ, जङ्घा, पांव और ऊरु के रोग इन सब में यथायोग्य (कहीं तापस्वेद, कहीं उपनाह स्वेद, कहीं ऊष्म स्वेद तो कहीं द्रव स्वेद) उन उन रोगों या दोषों के औषधविभागानुसार स्वेदन कर्म करे या करावे।

स्विन्नोऽन्नं पथ्यमश्नीयाद्दोषरोगानुरोधतः ।
तदहः स्निग्धसर्वाङ्गो व्यायामं सुतरां त्यजेत् ॥

स्वेद के पश्चात् कर्म—स्वेदकर्म यथाविधि करके दोष (वातादि) तथा रोगों के अनुसार पथ्य अर्थात् उस उस रोग एवं दोष में जो हितकारी हो ऐसे अन्न का सेवन करे। जेन्ताकादि सर्वाङ्ग स्वेदवाले को चाहिए कि वह उस दिन (एक दिन) या जबतक बल की प्राप्ति न हो तबतक व्यायाम का परित्याग करे।

अग्नेर्दीप्तिं मार्दवं त्वक्प्रसादं
भक्तश्रद्धां स्रोतसां निर्मलत्वम् ।
कुर्यात्स्वेदो जाड्यतन्द्रापहारं
स्तब्धान् सन्धींश्चेष्टयत्याशु चास्य ॥
स्नेहक्लिन्नाः कोष्ठगा धातुगा वा
स्रोतोलीना ये च शाखास्थिसंस्थाः ।

१. कुष्ठशोषाढ्यरोगिणः ।

दोषाः स्वेदैस्ते द्रवीकृत्य कोष्ठं
नीताः सम्यक् शुद्धिभिर्निर्ह्रियन्ते ॥

इति षड्विंशोऽध्यायः।

स्वेद के प्रभाव का कथन—स्वेद जठराग्नि को प्रदीप्त करता, त्वचामें मृदुता लाकर उसे सुन्दर बनाता, भोजन में इच्छा पैदा करता, स्रोतों को निर्मल करता, जड़ता और तन्द्रा को नष्ट करता है। इतना ही नहीं, स्वेदरोगी की कूर्परादि सन्धियों को जो कि दोषों के कारण स्तब्ध (निकम्मी) हो गई हों तो भी उनमें चेष्टा पैदा कर उन्हें कार्य में प्रवृत्त करता है। स्नेहन कर्म करने के कारण स्नेह से क्लिन्न कोष्ठ, रस-रक्तादि धातुओं में गए हुए, स्रोतों में लीन एवं शाखास्थि (बाहुओं की नलिका तथा अस्थियों में) गत वातादि दोषों को पूर्वोक्त स्वेद पिघलाकर कोष्ठ में ले आते हैं और फिर वे दोष-संशोधन (वक्ष्यमाण वमन-विरेचन) द्वारा भलीभांति निर्हरण किए जाते हैं। भावार्थ यह है कि स्नेहन से क्लिन्न कोष्ठ, धातु, स्रोत, शाखा और अस्थिगत दोष स्वेद के प्रभाव से पिघल कर कोष्ठ (पेट) में आते हैं और फिर संशोधन द्वारा उनका निर्हरण भलीभांति होता है।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी-व्याख्यायां स्वेदविधिर्नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

## अथ सप्तविंशोऽध्यायः।

इसके पूर्व अध्याय के अन्त में कह आये हैं कि 'दोषाः शुद्धिभिर्निर्ह्रियन्ते' अर्थात् स्नेहन से क्लेदित कोष्ठ, धातु, स्रोत, शाखा और अस्थियों में स्थित दोष स्वेदन द्वारा पिघलकर कोष्ठ में आ जाते हैं और फिर उनका निर्हरण शुद्धि (वमन-विरेचन) द्वारा भली भांति होता है, अतः अब वमन-विरेचन-वस्ति आदि के निरूपणार्थ इस अध्याय का आरम्भ करते हैं। वमन और विरेचन इन दोनों का एक ही रूप होने से दोष तथा संस्थानक्रम से इस एक ही अध्याय द्वारा उनके निर्णयार्थ आचार्य कहते हैं कि—

अथातो वमनविरेचनविधि-नामाध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

वमनविरेचनाध्याय—अब हम यहां से वमन-विरेचन-विधिनामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जिसमें वमन-विरेचन का वर्णन जैसे पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया उसी प्रकार किया गया है।

दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनाख्यमधोभागं विरेचनाख्यमुभयं वा मलविरेचनाद्विरेचनमित्युच्यते।

वमन-विरेचन की विरेचन संज्ञा—शरीर के ऊर्ध्वभाग या पूर्वभाग का मुख के द्वारा जो दोषहरण किया जाता है, वह वमन है और इसी प्रकार शरीर के अधोभाग या अपर भागस्थ दोष का निर्हरण गुदा द्वारा किया जाता है वह विरेचन है अथवा वमन और विरेचन ये दोनों मलविरेचन करनेवाले हैं इसलिए विरेचन कहे जाते हैं।

तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्मव्यवायिविकाषीण्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य सौक्ष्म्याद्व्यवायित्वाच्च धमनीरनुसृत्य स्नेहेन मृदुकृस्थान्तःशरीरे स्वोष्मणार्द्रदारुवद्विष्यण्णो स्थूलाणुस्रोतोभ्यः सकलमपि दोषसंघातमौष्ण्यात्पुनर्विष्यन्दयन्ति। तैक्ष्ण्याद्विकाषित्वाच्च विच्छिन्दन्ति। स विष्यण्णोविच्छिन्नो दोषसंघातः परिप्लवः स्नेहाक्तभाजनस्थ इवोदकाञ्जलिरसज्जन्नणुप्रवणभावादामाशयमागम्योदानप्रणुन्नोऽग्निवाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागप्रभावाच्चौषधस्योर्ध्वं प्रवर्तते। सलिलपृथिव्यात्मकत्वादधोभागप्रभावाच्चौषधस्याधः। उभयतश्चोभयगुणात्मकत्वादुभयभागप्रभावाच्च।

दोषों का ऊर्ध्व और अधोभाग में आगमन—उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायि और विकाषी औषधियें अपने बल से हृदय में आकर अपने सूक्ष्म एवं व्यवायी गुण से धमनियों में पहुँचकर स्नेहन द्वारा मृदु किए हुए शरीर में स्वेद की उष्णता से गीली लकड़ी की तरह चुहते हुए (स्रावसहित) शरीर में के स्थूल तथा सूक्ष्म स्रोतों से समस्त दोषों के समूह को पुनरपि चुहाती अर्थात् दोषों में स्राव पैदा करती हैं। इतना ही नहीं, दोषों के ठोसपने को अपने तीक्ष्ण तथा व्यवायी गुण से छिन्न-भिन्न कर डालती हैं। वह स्राव को प्राप्त छिन्न-भिन्न हुए दोषों का संघात (समूह) नितान्त पतला होकर, स्नेह से चुपड़े हुए चिकने बासन में जैसे पानी नहीं चिपकता ठीक उसी प्रकार शरीर में न चिपकता हुआ स्रवीभूत होकर आमाशय में आता है और वहां से उदान वायु द्वारा प्रेरित होकर अग्नि-वायु के गुणधर्मवाली अर्थात् अग्नि-वायु के समान अपने प्रभाव से ऊपर की ओर जानेवाली औषधियों द्वारा वह दोषों का समूह ऊपर की ओर प्रवृत्त होता है। सारांश यह कि यह दोष-संघात ऊपर की ओर जाकर वमन के रूप से मुख के द्वारा बाहर निकलता है। इसी प्रकार जल और पृथिवी तत्त्व के गुण-धर्मवाली अर्थात जल और पृथ्वी की तरह स्वभावतः नीचे की ओर जानेवाली ओषधियों से तथा अपान वायु से प्रेरित दोषसंघात नीचे की ओर जाकर गुद मार्ग से बाहर निकलता है। इनमें से ऊपर की ओर जाकर मुख से बाहर निकलनेवाले दोष-संघात के प्रकार को वमन कहते हैं और नीचे की ओर आकर गुद द्वारा बाहर निकलनेवाले दोषों के इस व्यापार को विरेचन कहते हैं। कुछ ओषधियां उभय-गुण-प्रभाववाली होने से उनका प्रभाव ऊर्ध्व और अधोभाग इन दोनों में होता है। सारांश यह है कि वे वमन एवं विरेचन इन दोनों कर्मों द्वारा दोषों को शरीर से बाहर निकाल सकती हैं।

तत्रोत्क्लिष्टे श्लेष्मणि पित्तसंसृष्टे वा तत्स्थानगते वा पित्तेऽनिले वा श्लेष्मोत्तरे वमनमाचरेत्। पित्ते तु

१. मृदूकृतेऽन्तरश्शरीरे। २. स्वेदोष्मणा। ३. विष्यन्न। ४. प्रसरणभावा। ५. मनुगम्य। ६. तत्रोत्क्लिष्टे।

विरेकं श्लेष्मसंसृष्टे वा तत्स्थानगते वा श्लेष्मणीति।

दोषानुसार वमनविरेचन व्यवस्था—अपने स्थान में स्थित बढ़े हुए केवल कफ की अवस्था में वमन कराना चाहिए। स्वल्पपित्तयुक्त कफ में तथा कफ के स्थान में गये हुए पित्त और वायु की कफोत्तर ( बढ़े हुए कफ की ) अवस्था में भी वमन देना चाहिए। स्वस्थान में स्थित बढ़े हुए पित्त में विरेचन कराना चाहिए। केवल यही नहीं, स्वल्प कफयुक्त पित्त में भी विरेचन कराना चाहिए तथा पित्त के स्थान में कफ के जाने पर भी विरेचन कराना।

तत्र वमनसाध्या विषपीतदष्टदग्धविद्धविरुद्धाजीर्णान्ननवज्वरराजयक्ष्मातिसाराधोरक्तपित्तविसूचिकालसकाविपाकारोचकापचीग्रन्थ्यर्बुदश्लीपदमेदोगरोन्मादापस्मारश्वासकासहृल्लासविसर्पकुष्ठपाण्डुवर्त्ममुखघ्राणकपालरोगकर्णकोथशोफस्तन्यदोषादयो दोषभेदीयोक्ताश्च श्लेष्मव्याधयो विशेषेणैते हि परं वमनेन नाशमुपयान्ति। सलिलापगमेनानिष्पन्नशाल्यादिवत्।

वमनसाध्य रोगी—जिसने साक्षात् विष का पान किया हो, सर्प आदि ने जिसको डसा हो, दिग्धविद्ध ( विष से लिप्त बाणादि से बींधा जाना ), विरुद्धान्न का अजीर्ण, नवज्वर, राजयक्ष्मा, अतिसार, गुद द्वारा रक्त का जाना, रक्तपित्त, विसूचिका, अलसक, अजीर्ण, अरोचक, अपची, ग्रन्थि, अर्बुद, श्लीपद, मेदोरोग, गर ( कृत्रिम विष ), उन्माद, अपस्मार, श्वास, कास, हृल्लास ( उबकाई ), विसर्प, कोढ, पाण्डुरोग, वर्त्म ( नेत्र रोग विशेष ), मुख के रोग, नासिका के रोग, शिरोरोग, कर्णकोथ, शोथ, स्तन्य ( स्त्रियों के दुग्ध में दोष ) आदि तथा दोषभेदीय अध्याय में वर्णित रोग एवं विशेषतः कफ के रोग ये सब वमन कराने से नाश को प्राप्त होते हैं जैसे कि बिना पानी के अनिष्पन्न ( नया बोया हुआ ) चावल धान्य नष्ट हो जाता है। यहां शालिधान्य का दृष्टान्त अभिनव ( तुरन्त के उत्पन्न हुए ) रोगों में वमन की उपयुक्तता दिखाने के लिए है।

अवाम्यास्तु गर्भिणीसुकुमारान्यकार्यव्यग्ररूक्षरूक्षाशनप्रायातिदीप्ताग्निभाराध्वकर्मनित्यक्लान्तक्षतक्षीणातिस्थूलकृशवृद्धबालदुर्बलश्रमभयशोकक्रोधमदमूर्च्छाक्षुत्पिपासार्त्तोपवासव्यवायव्यायामाध्ययनचिन्ताप्रसक्तच्छर्दिरूर्ध्वरक्तपित्तवातास्थापितानुवासितसंवृतकोष्ठदुश्छर्दितहृद्रोगोदावर्तमूत्राघातगुल्मप्लीहोदराष्ठीलार्शःस्वरोपघाततिमिरभ्रमानिलार्तार्दिताक्षेपकाक्षिशिरःशंखकर्णपार्श्वशूलिनोऽनास्थापितकृमिणकोष्ठ इति। अन्यत्रामगरविषविरुद्धाभ्यवहारेभ्यः शीघ्रकारित्वादेषाम्।

वमन के अयोग्य प्राणी—जो गर्भिणी हो, जो सुकुमार हो, जो अन्य कार्य में व्यग्र हो, जो रूक्ष हो, जिसने रूक्ष भोजन किया हो, जिसकी जठराग्नि प्रायः अति प्रदीप्त रहती हो, जो नित्य प्रति भार उठाने–मार्ग के चलने–कार्य के करने से थक जाते हों, उरःक्षत का रोगी होने से जो दुर्बल हो, जो अतिस्थूल हो, अतिकृश हो, जो वृद्ध हो या बालक हो, जो दुर्बल हो, जो श्रम–भय–शोक–क्रोध–मद–मूर्च्छा–क्षुधा तथा प्यास से पीडित हो, जिसने उपवास किया हो, मैथुन किया हो, व्यायाम ( कसरत ) किया हो, अध्ययन करके उठा हो, चिन्ता में मग्न हो, जिसको छर्दिरोग हो, जो ऊर्ध्व रक्तपित्त का रोगी हो, वातरक्ती हो, आस्थापन ( निरुह ) और अनुवासन वस्ति–प्रयोग किया हुआ हो, जो उदावर्तरोगी हो, प्रकुपित छर्दिरोगवाला, मलावरोधी, हृद्रोग से पीडित, मूत्राघात, गुल्म, प्लीह, उदर, अष्ठीला, अर्श, स्वरभङ्ग, तिमिर, भ्रम, वातव्याधि, अर्दित, आक्षेपक एवं नेत्ररोग, शिरोरोग, शंख ( कनपटीगत पीडा ), कर्णरोग, पार्श्वशूल तथा अस्थापन रहित क्रिमिकोष्ठ ( जिसके पेट में बहुत क्रिमि हों ) इन सब रोगों में वमन नहीं कराना चाहिए। यदि आमदोष, गर अर्थात् कृत्रिम विष, विष और विरुद्ध भोजन की अवस्था में हो तो उक्त गर्भिणी आदि सब को वमन कराना चाहिए क्योंकि ये आम, गर, विष आदि आशुकारी ( तुरन्त मार डालनेवाले ) हैं।

तत्र गर्भिण्या गर्भव्यापदामगर्भभ्रंशाच्च दारुणरोगप्राप्तिः स्यात्। सुकुमारस्य हृदयविकर्षणादूर्ध्वमधो वा रुधिरप्रवृत्तिः। अन्यकार्यव्यग्रस्यौषधं न प्रवर्तते। कृच्छ्रेण वा प्रवर्तमानमयोगदोषान् कुर्यात्। रूक्षस्य वायुरङ्गग्रहणम्। रूक्षाशनप्रायस्य वायुना। क्षपितदेहत्वाद्बलक्षयः स्यात्। तथातिदीप्ताग्नेरग्निबलेन, भाराध्वकर्मनित्ययानक्लान्तानां चायासेन, क्षतस्य भूयः क्षणनाद्रक्तातिप्रवृत्तिः। क्षीणादीनामौषधबलाक्षमत्वाद्देहबलोपरोधोऽन्तःक्षतभयं च। प्रसक्तच्छर्द्यूर्ध्वरक्तपित्तयोरुदान उत्क्षिप्य प्राणान् हरेद्रक्तं चातिप्रवर्तयेत्। ऊर्ध्ववातास्थापितानुवासितानामूर्ध्वं वातातिप्रवृत्तिः। संवृतकोष्ठस्य दुश्छर्दितस्य वातिप्रवाहणादन्तःकोष्ठसमुत्क्लिष्टैर्दोषैर्विसर्पस्तम्भजाड्यवैचित्यानि मरणं वा। हृद्रोगिणी हृदयोपरोधः। उदावर्तादिभिरार्तानामर्दितादिभिश्च यथायथमामयप्रवृद्धिर्मरणं वा। कृमिणकोष्ठस्यास्थापनेनाधःपूर्वमनिर्हृतैः कृमिभिरतिबहुत्वादशेषा निस्सरेण हृदयमतिकर्षद्भिश्छर्दिषोऽतिप्रवृत्तिः स्यात्।

गर्भिणी आदि के वमननिषेध में हेतु—प्रथम कह आए हैं कि गर्भिणी से लेकर अनास्थापित क्रिमिकोष्ठ तक के रोगियों को वमन नहीं देना चाहिए। क्यों वमन नहीं देना चाहिए? इसमें अवश्य कुछ हेतु होना चाहिए क्योंकि बिना प्रयोजन के कोई भी बात नहीं कही जाती। अतः अब आचार्य गर्भिणी आदि को वमन न देने का मुख्य हेतु बताते हैं। यदि गर्भिणी को वमन कराया जायगा तो उसके कच्चे

१. मेदोगदपरो २. कर्णरोध। ३. शालिदृष्टान्त एतेषां रोगाणामभिनवानां वमनयोग्यताप्रदर्शनार्थमितीन्दुः।

१. योगाद्दोषान्। २. भाराध्वकर्मनित्यानां। ३. वातादिप्रवृत्तिः। ४. दुश्छर्दस्य। ५. चातिमात्रप्रवाहणादन्तःकोष्ठे। ६. निर्हृतैः।

गर्भ की व्यापत्ति से गर्भपात होकर उसे दारुण रोग की प्राप्ति होगी। सुकुमार को वमन कराने से उसके हृदय में खिंचाव होकर ऊर्ध्व एवं अधोमार्ग (मुख तथा गुदा) से मूत्र की प्रवृत्ति होगी। अन्य कार्य में व्यग्र मनुष्य को दी हुई औषधि प्रथम तो उसे न लेने के कारण वह कुछ काम ही न करेगी। यदि बड़ी कठिनाई से ओषधि दे दी जायगी तो वह सम्यग्योग न होकर अयोग के दोषों को पैदा करेगी। रूक्ष को दी हुई वमन ओषधि से वायु बढ़कर उस का शरीर जकड़ सा जायगा। प्रायः रूखा भोजन करनेवाले को दिया हुआ वमन वायु को बढ़ाकर उसके द्वारा देह को क्षीण करके बल का नाश करेगा। तथैव अतिदीप्त अग्निवाले को दिया हुआ वमन अग्नि को बलवान् करके, नित्य भार उठानेवाले–मार्ग चलनेवाले, सवारी करनेवाले को दिया हुआ वमन उसके परिश्रम से, उरःक्षती को दिया हुआ वमन पुनरपि उसके क्षत को खोद–गहरा करके रक्त की अतिप्रवृत्ति को उत्पन्न करेगा। क्षीण बल आदि को कराया हुआ वमन औषध बल को सहने में असमर्थ होने से उसके शारीरिक बल के घटने तथा भीतर क्षत हो जाने का भय रहेगा। छर्दि और रक्तपित्त से पीडित रोगी को कराया हुआ वमन उदान वायु के द्वारा प्राणों का उत्क्षेपण करके प्राणों को हरण करेगा (मार डालेगा) तथा रक्त की अतिप्रवृत्ति को पैदा करेगा। ऊर्ध्ववात की अवस्था में आस्थापन–अनुवासन बस्ति दिए हुए को वमन कराना ऊर्ध्ववात की प्रवृत्ति और अधिक बढ़ायेगा। संवृतकोष्ठ–दुश्छर्दित को कराया हुआ वमन अतिप्रवाहित होकर अन्तःकोष्ठस्थ दोषों को प्रकुपित कर विसर्प, जड़ता, उरुस्तम्भ, मूर्च्छा तथा मरण को करेगा। हृद्रोगी को कराया हुआ वमन उसके हृदय का उपरोध (हृदय को जकड़ दिया सा) करेगा। उदावर्तादि रोगों से पीडित रोगियों को दिया हुआ वमन अर्दित आदि भयङ्कर रोगों को करके, उन उन रोगों को बढ़ाता हुआ रोगियों को मार डालेगा। निरूहबस्ति दिए बिना क्रिमिकोष्ठवाले को दिया हुआ वमन आस्थापन द्वारा पहले निर्हरण न होने से बढ़े हुए क्रिमियों को अधोभाग से बाहर न निकाल कर, उन्हें निश्शेष न करके हृदय को आकर्षण करके अथवा हृदय में अतिखिंचाव पैदा करके वमन की अतिप्रवृत्ति करेगा। इन सब कारणों से गर्भिणी आदि को आम, गर, विषबाधा विरुद्ध भोजन के अतिरिक्त कदापि वमन नहीं कराना चाहिए।

चिन्ताप्रसक्ताश्चात्र[1] धूमान्तैः प्रायः सर्वकर्मभिर्वर्ज्य-माणैः परिहर्त्तव्याः। अजीर्णी तु सर्वैरेव[2] वमनवर्जैराम-दोषभयात्। नवज्वरस्य दोषस्तम्भभयादिति।

गर्भिणी आदि में विशेष—पूर्वोक्त गर्भिणी से लेकर चिन्ता-प्रसक्त तक वमन के अयोग्य रोगी (गर्भिणी, सुकुमार, अन्य कार्यव्यग्र, रूक्ष, रूक्षाशनप्राय, अतिदीप्ताग्नि, भारक्रान्त, मार्गक्रान्त, नित्यकर्मक्रान्त, क्षती, क्षीण, अतिस्थूल, कृश, वृद्ध, बाल, दुर्बल, श्रमार्त, भयार्त, शोकार्त, क्रोधार्त, मदार्त, मूर्छित, क्षुधार्त, पिपासार्त, उपवासी, व्यवाय–व्यायाम–अध्ययन–चिन्ताप्रसक्त, इन सब को वमनादि धूमान्त सब कर्मों से अर्थात् वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, शिरोविरेचन और धूमपान से वर्जित रखना अर्थात् इन सब को ये वमनादि कर्म नहीं कराना चाहिए। अजीर्णी को भी एक वमन को छोड़कर अन्य विरेचन–आस्थापनादि कर्म नहीं कराने चाहिए। इसलिए कि आमदोष का भय न हो। नवज्वर की दशा में भी ये वमनादि कर्म इसलिए नहीं कराने चाहिए कि उसमें दोषों का पचन न होकर स्तम्भन का भय है।

अथ विरेचनसाध्या जीर्णज्वरोर्ध्वरक्तपित्तगुल्म-विद्रधिप्लीहाऽर्शोभगन्दरक्रिमिणकोष्ठमूत्राघातरेतोयोनि-दोषवातशोणितहलीमकव्यङ्गतिमिरकाचाभिष्यन्दाक्षि-पाकक्षाराग्निदग्धदुष्टव्रणशिरःपक्वाशयशूलोदावर्तविबन्ध-च्छर्दिविस्फोटादयो वम्योक्ताश्च विसूचिकादयो दोष-भेदीयोक्ताश्च पित्तव्याधयो विशेषेण। एते हि परं विरेचनेन नाशमुपयान्त्यग्न्यपनयनेनाग्निगृहतापवत्।

विरेचन से साध्य रोग—जीर्ण ज्वर, ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त, वायगोला, विद्रधि, प्लीह, अर्श, भगन्दर, उदर, क्रिमिकोष्ठ, मूत्राघात, वीर्यदोष, योनिदोष, वातरक्त, हलीमक (पाण्डु विशेष) व्यङ्ग, तिमिर–काच–अभिष्यन्द और अक्षिपाक (नेत्र के रोग विशेष), क्षारदग्ध, अग्निदग्ध, दुष्टव्रण, शिरोरोग, पक्वाशय के रोग, शूल, उदावर्त, मलावरोध, छर्दि, विस्फोटकादि, वमन के योग्य कहे हुए विसूचिकादि रोग, दोषभेदीय अध्याय में कहे हुए पित्त के रोग, ये सब विशेषतः विरेचन से नाश को प्राप्त होते हैं, जैसे कि अग्नि के नष्ट करने से अग्नि से सन्तप्त घर का सन्ताप नष्ट हो जाता है। यहां अग्नि-सन्तप्त घर के संताप नष्ट होने का दृष्टान्त इस बात के प्रदर्शनार्थ है कि शरीर में से परिपक्व दोष ही विरेचन द्वारा निर्हरण करने चाहिए।

अविरेच्याः पुनर्नवज्वरातिसारार्धोरक्तपित्तक्षतगु-दलङ्घितरात्रिजागरितास्थापितालपाग्निराजयक्ष्ममदात्य-याध्मातसशल्याधिहतातिस्निग्धरूक्षक्रूरकोष्ठाः। तत्र नवज्वरस्याविपक्वान् दोषान्न निर्हरेद्वा[2] तानेव तु कोपयेत्। अतिसारार्धोरक्तपित्तयोरतिप्रवृत्त्या हन्यात्। क्षतगुदस्य गुदे प्राणोपरोधकरीं रुजं[3] जनयेत्। लङ्घिता-दयो भेषजवेगं न सहेरन्। राजयक्ष्मार्तस्य क्षीण-धातुतया मलबलत्वं तदभावादेहनाशः स्यात्। मदात्य-यार्त्तस्य मद्यक्षीणे देहे वायुः प्राणोपरोधाय। आध्मा-तस्य पुरीषाशये निचितो वायुर्विसर्पन् सहसा तीव्रतर-माध्मानं मरणं वा जनयेत्। सशल्याभिहतयोः क्षते वायुराश्रितो जीवितं हिंस्यात्। अतिस्निग्धस्यातियोगो भवेत्। क्रूरकोष्ठस्य औषधोद्धता दोषा ह्यप्रवर्तमाना हृदयशूलपर्वभेदानाहहृच्छर्दिमूर्च्छाक्लमान् जनयित्वा प्राणान् हन्युः। गर्भिण्यादीनां पूर्वोक्तदोषा स्यात्।

१. गर्भिण्यादिचिन्ताप्रसक्तान्ताश्चात्र। २. वर्ज्यं।

१. धूमान्तैः कर्मभिर्वमनविरेचनास्थापनानुवासनशिरोविरेचन-धूमैरितीन्दुः॥ २. वातमेव च कोपयेत्। ३. रुजां।

विरेचन के अयोग्य रोगी—नवज्वरी, अतीसारी, अधोभागप्रवृत्तरक्तपित्ती, जिसकी गुदा में क्षत हो, जिसने लङ्घन किया हो, जागरण किया हो, निरूहवस्ति दी गई हो, अल्पाग्नि ( जिसकी अग्नि मन्द हो ), जिसको क्षयरोग हो, जो मदात्ययरोगी हो, जिसको आध्मान हो, जिसे शल्य लगा हुआ हो, जिसको चोट लगी हो, अतिस्निग्ध-अतिरूक्ष तथा जो क्रूर कोष्ठवाला हो, इनमें से किसी को भी विरेचन नहीं देना चाहिए। इसलिए कि नवज्वरी को विरेचन देने से उसके अपक्व दोषों का निर्हरण हो जायगा जो कि ठीक नहीं है। नवज्वरवाले के अपक्व दोषों को बाहर निकाल कर उन्हें कुपित नहीं करना चाहिए अथवा अपक्व दोषों का निर्हरण कर वायु को कुपित नहीं करना चाहिए। अतीसारवाले को या अधोगामी रक्तपित्तवाले को विरेचन दिया जायगा तो उससे अतिसार तथा रक्त की अतिप्रवृत्ति होकर उस रोगी का नाश हो जायगा। गुदा में क्षतवाले को विरेचन देने पर उसकी गुदा में प्राणों को हरनेवाली पीड़ा पैदा होगी। लङ्घित, रात्रिजागरित, आस्थापित और अल्पाग्निवालों को विरेचन देने से ये ओषधि के वेग को सहन नहीं कर सकेंगे। राजयक्ष्मा से पीडित रोगी के धातु क्षीण हो जाते हैं तब उसका बल केवल मल ही पर अवलम्बित रहता है अतः विरेचन दे उसके मल का नाश करने से उसके शरीर का नाश हो जायगा। मदात्यय के रोगी को विरेचन दिया जायगा तो मद्यक्षीण हो जायगा—मद्य के क्षीण होने पर वायु कुपित होकर रोगी के प्राणों को हर लेगा। आध्मान रोगी को विरेचन देंगे तो उसके पुरीषाशय में संचित वायु है वह इधर उधर पेट में पसर कर तीव्र आध्मान रोग की उत्पत्ति करेगा या मार डालेगा। जिसको शल्य लगा हो या चोट आई हो तो उसे भी विरेचन न देना चाहिए क्योंकि विरेचन देने से उसके क्षत ( जख्म ) के आश्रय में रहनेवाला वायु कुपित होकर जीवित ( जीवन या प्राणों ) का नाश करेगा। अतिस्निग्ध को विरेचन देने से अतियोग हो जायगा। क्रूरकोष्ठवाले रोगी को विरेचन देने से ओषधि से कुपित हुए दोष शरीर में भलीभांति संचार नहीं कर सकेंगे और वे हृदयशूल, पर्वभेद, आनाह, छर्दि, मूर्च्छा और ग्लानि को पैदा कर प्राणों का नाश करेंगे। गर्भिणी आदि को विरेचन देने से वे ही दोष उत्पन्न होंगे जिनका वर्णन वमन प्रकरण में कर चुके हैं। भावार्थ यह है कि वमन कराने से गर्भिणी आदि में जिन दोषों का होना बताया है, वे ही विरेचन कराने में होंगे अतः उक्त रोगियों के लिए वमन या विरेचन का निषेध किया गया है।

अथ साधारणे काले सम्यक् स्निग्धस्विन्नमनुपहतमानसं सुच्छर्दयितव्यमिति[1] ग्राम्यानूपौदकश्रृतमांसरसक्षीरदधिमाषतिलपललशाकादिभिर्द्रवप्रायैः समुत्क्लेशितश्लेष्माणं सुखोषितं जीर्णाहारं पूर्वाह्णे स्नातानुलिप्तं स्रग्विणमहतवाससं देवताग्निद्विजगुरुवृद्धवैद्यानर्चितवन्तं कृतहोमबलिमङ्गलप्रायश्चित्तस्वस्तिवाचनं जानुसमसंस्तृतमहोपधानोपाश्रयासनोपविष्टं[2] निरन्नमीषत्स्निग्धं वा यवागूमण्डेन घृतमात्रां पीतवन्तं भीरुकृशबालवृद्धसुकुमारान्वा दोषानुरूपेणाकण्ठं[1] पीतक्षीरतक्रयूपेक्षुमांसरसमद्यतुषोदकयवागूमण्डान्यतमं नक्षत्रतिथिकरणमुहूर्त्तोदये प्रशस्ते यथाव्याधिदोषदूष्यादिविहितामौषधमात्रां मधुसैन्धवयुक्तां सुखोष्णां ब्राह्मणप्रयुक्ताभिराशीर्भिरभिमन्त्रितां पुनश्च—

ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः ।
ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसङ्घाश्च पान्तु वः ॥
रसायनमिवर्षीणाममराणामिवामृतम् ।
सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ॥

नमो भगवते भैषज्यगुरवे वैदूर्यप्रभराजाय[2] तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय। तद्यथा—'ॐ भैषज्ये भैषज्ये महाभैषज्ये भैषज्यसमुद्गते स्वाहा।'

इत्येवमभिमन्त्र्योदङ्मुखः प्राङ्मुखमातुरं पाययेत्।

वमनविरेचनविधि—दोषनिर्हरण के लिए जो साधारण काल पहले कह आए हैं जैसे कि कफ, वायु और पित्त संशोधन के लिए क्रमशः वसन्त, प्रावृट् और शरद् ऋतुएं, इनमें भी क्रमशः चैत्र, श्रावण और कार्तिक मास में अर्थात् जिस दोष का संशोधन ( वमन-विरेचन ) करना हो तो उनके नियमित इस ऊपर बताये हुए साधारण काल में भलीभांति स्नेहन और उसके बाद स्वेदन किए हुए, प्रसन्न एवं स्थिरचित्त रोगी को वमन-विरेचन कराना चाहिए।

वमन कराना हो तो उसके एक दिन पहले ग्राम्य-अनूप जल से स्वेदित या कथित मांसरस, दूध, दही, उड़द, तिल, मांस, शाक आदि प्रायः द्रव पदार्थों को पिलाकर जिसके कफ को उत्क्लेशित ( स्थान से विचलित ) कर दिया गया है, जो रात में अच्छी तरह सोया है, जिसका प्रथम दिन का किया हुआ आहार भलीभांति पच गया है, जिसने स्नान और अनुलेपन किया है, श्रेष्ठ वस्त्र और पुष्पमाला धारण की है, देवता, अग्नि, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध तथा वैद्य का जिसने पूजन किया है, होम-बलि-मङ्गल-प्रायश्चित्त एवं स्वस्तिवाचन कराया है, उस समान जानुओं के बल तकिए के सहारे बैठे हुए, निरन्न ( निराहार ) या किञ्चित् स्नेहपान किए हुए, यवागू सहित घृतपान किए हुए रोगी को तथा यदि रोगी डरपोक, कृश, बाल, वृद्ध एवं सुकुमार हो तो उन्हें आकण्ठ ( कण्ठ तक ) दोषानुसार दूध, छाछ, यूषरस, ईख का रस, मांसरस, मद्य, तुषोदक, यवागू, मण्ड इनमें से किसी एक को पिलाकर व्याधि-दोष-दूष्य आदि का अच्छी तरह विचार करके शुभ नक्षत्र-तिथि-करण-मुहूर्त्त में प्रातःकाल में रोगी के अनुकूल शहद और सैन्धवलवणयुक्त, सुखोष्ण ( किञ्चित उष्ण ) ऐसी ओषधि-मात्रा को ब्राह्मणों के आशीर्वाद से अर्थात्—'ब्रह्मा, दक्षप्रजापति, अश्विनीकुमार, शिवजी, इन्द्र, भूमि, चन्द्र, सूर्य, वायु, अग्नि, सब ओषधियों को लिए महर्षिगण तथा सब प्राणी तुम्हारी रक्षा करें तथा तेरे लिए प्रयुक्त की जानेवाली यह ओषधि की मात्रा महर्षियों के रसायन की

१. श्वः छर्दितव्यमिति। २. सोपधानो।

१. दोषानुरोधेन। २. वैडूर्य।

तरह, देवताओं के अमृत की तरह तथा श्रेष्ठ नागों की सुधा के तुल्य फल देनेवाली हो, इस आशीर्वादात्मक मन्त्र से अभिमन्त्रित करके और इसी प्रकार ॐ नमो भगवते भैषज्य-गुरवे वैडूर्यप्रभराजाय तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय' तथैव—'भैषज्ये भैषज्ये महाभैषज्ये भैषज्यसमुद्गते स्वाहा' इन मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके उत्तरमुख या पूर्वमुख बैठे हुए रोगी को पिलावे।

विशेष वक्तव्य—ध्यान रहे कि यहां वमनविरेचनार्थ जो 'अथ साधारणे काले' अर्थात् दोषानुसार पूर्वोक्त साधारण काल ( वसन्त-प्रावृट्-शरद् ऋतु और इनमें भी चैत्र-श्रावण-कार्तिक मास ) का जो निर्देश किया है, उसे स्वस्थ मनुष्य के लिए जानना चाहिए अर्थात् यदि स्वस्थ पुरुष दोषनिर्हरण करना चाहे तो वह इस साधारण काल में ही करे किन्तु तात्कालिक रोगी के लिए यह नियम नहीं है। उसके लिए तो जब व्याधि की प्रबलता हो तभी उसके दोषों का संशोधन कर देना चाहिए क्योंकि रोग की उपेक्षा की जायगी तो उसके बढ़ जाने का भय होता है। ओषधिमात्रा को अभिमन्त्रित करने के लिए आचार्य ने यहां जो–'ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रादि, तथा 'ॐ नमो भगवते, आदि दो प्रकार बताए हैं वे क्रम से वैदिक तथा बौद्धमतावलम्बियों के लिए हैं'। सारांश, वैदिक मतवाले औषधिमात्रा को 'ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रादि' मन्त्रों से और बौद्धमतवाले 'ॐ नमो भगवते' आदि मन्त्रों से अभिमन्त्रित करे।

**पीतवांनूरुन्यस्तभुजो वमनानुगतमानसोऽग्नितप्तैः पाणिभिरुपतप्यमानो मुहूर्त्तमनुपालयेत्। स यदा जानीयात्स्वेदप्रादुर्भावेन दोषं प्रविलयमापद्यमानं रोमहर्षेण वा स्थानेभ्यः प्रविचलितं कुक्ष्याध्मानेन च कुक्षिमनुसृतं क्रमात् हृदयोपमर्दहृल्लासास्यसंस्रवणैश्चोर्ध्वमभिमुखीभूतम्। समुपस्थितानेकप्रतिग्राहः पार्श्वललाटोपग्रहेण, नाभिप्रपीडनेन पृष्ठप्रतिलोममर्दनेन च प्रवृत्ताव्यपत्रपाणीयपुरुषो विवृतौष्ठतालुकण्ठो नातिमहता व्यायामेन वेगानुदीरयन्नप्रवृत्तान् प्रवर्तयन् प्रवृत्तांश्चानुवर्तयन् सुपरिलिखितनखाभ्यामङ्गुलीभ्यामुत्पलकुमुदैरण्डनालैर्वा कण्ठमभिस्पृशन् वमेन्नात्युन्नतो नात्यवनतः पार्श्वापवृत्तो वा। तत्रात्युन्नतस्य पृष्ठहृदयपीडा भवति। अत्यवनतस्य शिरःकोष्ठपीडा। पार्श्वापवृत्तस्य पार्श्वकोष्ठहृदयोर्ध्वजत्रुपीडेति।**

वमनौषधपान के पश्चात्कर्म—जिसने वमन-ओषधि का पान किया है, उसको चाहिए कि वह औषधपान के बाद अपनी जानुओं पर दोनों भुजाओं को रखता हुआ, वमन में मन लगाकर, अपने हाथों को अग्नि से तपाकर एक मुहूर्त्त अर्थात् कच्ची दो घड़ी ( ४८ मिनिट ) तक वमन की प्रतीक्षा करे। उसे ज्ञान हो जाय कि पसीने आए हैं तो दोष पिघलने लगे हैं, रोमहर्ष से जान जाय कि दोष अपने स्थानों से प्रचलित हो रहे हैं और इसी प्रकार पेट में आध्मान होने से जान ले कि दोष कुक्षि ( पेट ) में आ गए हैं तथा हृदयोपमर्द, इसके बाद उबकाई और उबकाई के बाद मुंह से पानी छूटना-लारों का बहना ये एक के बाद एक दिखाई दे तो समझ लेना चाहिए कि दोष पेट से ऊपर की ओर उठकर वमन द्वारा निकलना ही चाहते हैं तो पास में रखे हुए अनेक प्रतिग्राह ( पीकदान ) वाला वह रोगी, अथवा पीकदान पकड़नेवाले अपने निर्यन्त्रण-निश्शङ्क सेवकों से पसवाड़े तथा मस्तक को पकड़ाकर, नाभि को मसलाकर, पीठ को उलटा वमन की ओर मर्दन कराकर होंठ, तालु तथा गले को फाड़कर या फैलाकर अति परिश्रम करके नहीं, किन्तु धीरे धीरे वमन के वेगों को बाहर लाता हुआ, अप्रवृत्त वेगों को हठात् या बलात् बाहर न निकालता हुआ, आते हुए वमन के वेगों को भलीभांति बाहर लाता हुआ, अच्छी तरह से कटाए हुए नखोंवाली दो अङ्गुलियों से अथवा कमल, कुमुद एवं एरण्ड के नाल से कण्ठ को स्पर्श कराता हुआ, न अति ऊंचा होकर और न अति नीचा झुककर वमन करे तथा न एक पसवाड़े की ओर झुककर ही वमन करे। इसलिए कि अति ऊंचा होकर वमन करने से पीठ और हृदय में पीड़ा होती है, अति नीचा झुककर वमन करने से सिर और पेट आदि में पीड़ा होती है तथा पसवाड़े की ओर एक तरफ झुककर वमन करने से पसवाड़े, कोष्ठ, हृदय ( छाती ) और ऊर्ध्वजत्रु ( कण्ठ, मुख, नासिका, कान, नेत्र और मस्तक ) में पीड़ा होती है।

**एवं कटुतीक्ष्णैः कफे छर्दयेत्। स्वादुभिः पित्तयुते। अम्लैः सस्नेहैरनिलसंसृष्टे। यावत्कफच्छेदः, केवलौषधप्रवृत्तिः पित्तदर्शनं वा। हीनवेगस्तु पिप्पल्यामलकसर्षपकल्कलवणोष्णोदकैः पुनः पुनः प्रवर्तयेत्।**

वमनवेग के अयोग का लक्षण—औषध पीने पर भी वमन का न होना दोष के बिना केवल पान किये हुए औषध का बाहर निकलना अथवा विबन्धों वेगानाम् ( बिलकुल थोड़ा थोड़ा वेगों का आना ) ये वेगों के अयोग के लक्षण हैं। इस प्रकार वमन के वेगों का अयोग होने से अरोचक, गौरव ( जड़ता ), आध्मान ( पेट का फूलना ), कण्डू, स्फोट, कोठ ( शरीर पर काले-लाल मण्डलों का उठना ), आलस्य, शूल, प्रतिश्याय, रोमहर्ष, प्रसेक ( मुँह से लारों का गिरना ), शोथ, शीतज्वर आदि विकार होते हैं।

**योगलक्षणं पुनः काले क्रमात्कफपित्तानिलप्रवृत्तिर्नातिमहती व्यथा स्वयं चावस्थानं ततश्च स्वस्थता मनःप्रसादः स्वरविशुद्धिररोचकादिवैपरीत्यं च।**

वमनवेग के योग का लक्षण—वमनवेग के सम्यक् योग में काल अर्थात् वमनौषधपान के एक मुहूर्त्त के बाद क्रम से

---

१. 'साधारण इति स्वस्थवृत्तोपलक्षणम्। आतुरवृत्ते तु व्याध्यादिवशाद्वमनमाचरेत्।' २. 'ब्रह्मेत्याद्यभिमन्त्रितामिति। ब्रह्मेत्यादिर्वैदवादिनां मन्त्रः। ॐनमो भगवत इत्यादि सौगतानामित्यादीन्दुः।' ३. ततः पीतवान् ४. अथ समुपस्थितानेक ५. प्रवृत्तव्यपत्रपणीय ६. कण्ठमनभिस्पृशन् कण्ठमभिमृशन्

१. 'प्रतिग्राहः पतद्ग्रहः' इत्यमरः। २. कटुतीक्ष्णोष्णैः ३. स्वादुभिर्हिमैश्च। इत्यादिपाठान्तराणि। ४. 'यावत्प्रथममेव कफः क्षीणस्तावद्यत्नेनाङ्गुल्यादिना छर्दयेत्।' इतीन्दुः

[ पृ० २४० के दूसरे कालम के पङ्क्ति ३० ( मूल 'पुनः पुनः प्रवर्तयेत्' ) के आगे १४ पङ्क्तियाँ तथा टिप्पणी संख्या ४ यह भ्रम से आगे का पाठ चला गया है जो ( इसी २४१ पृ० में ) यथा स्थान सन्निवेशित है अतः कृपया वहां उसे न पढ़ें ]

प्रभूततमनासहिष्णुर्द्व्यहं त्र्यहं वा विश्रम्य । असात्म्यबीभत्सदुर्दर्शदुर्गन्धानि वमनानि विदध्यात् विपरीतानि तु विरेचनानि । सर्वेषु च वमनेषु सैन्धवं मधु च विदध्यात्कफविलयनविच्छेदनार्थम् । वेगांश्चास्य प्रतिग्राहगतानवेक्षेत ।

दोषानुरोध से वमनौषध—इस प्रकार केवल कफ में कटु रसवाले तथा तीक्ष्णोष्ण गुणवाले द्रव्यों से वमन करावे, पित्तयुक्त कफ में मधुर रसवाले तथा शीत गुणवाले ओषधियों को सेवन कराकर वमन करावे और वायु-युक्त कफ में अम्ल-रसप्रधान एवं स्नेहनगुणप्रधान द्रव्यों को मिला सेवन कराकर वमन करावे।

इस प्रकार वमन करते हुए जबतक कफ का नाश न हो जाय तबतक अङ्गुली आदि कण्ठ में डालकर वमन करता रहे। कफ का ह्रास हो जाने के अनन्तर जबतक केवल ओषधिमात्र के वमन में दर्शन न हों तबतक तथा इसके अनन्तर भी जबतक केवल पित्त निकला हुआ वमन में न दिखाई दे, तबतक वमन करे किन्तु यह सब व्याधि, दोष-दूष्यादि के बलाबल का विचार करके करे।

हीनवेग में कर्त्तव्य—वमन का हीन वेग हो, अर्थात् अच्छी तरह से वमन न होता हो तो पीपल, आमला, सरसों का कल्क, नमक और गरम पानी पिलाकर बारंबार वमन की प्रवृत्ति हो, ऐसा प्रयत्न करे।

दो या तीन दिन के अन्तर से वमन—अधिक वमन न सह सकता हो तो दो दिन या तीन दिन बीच में विश्राम लेकर वमन करे। नहीं तो वमनव्यापत्ति का सम्भव होता है।

वमन और विरेचन में ओषधिवैपरीत्य—वमन के लिए असात्म्य ( जिसे अपनी आत्मा न मानती हो ), बीभत्स ( जिसको देखने से घृणा प्राप्त होती है ), दुर्दर्श ( जिसे देखना अभीष्ट न हो ) तथा जो दुर्गन्ध हो, ऐसे पदार्थों की वमन में योजना करनी चाहिए। इस लिए कि वमन की अधिकाधिक प्रवृत्ति हो। विरेचन में इससे विपरीत अर्थात् जो सात्म्य, निर्घृण, शुभदर्शन तथा सुगन्धित हो ऐसे पदार्थों की योजना करनी चाहिए। ध्यान रहे कि वमन में प्रयोज्य पदार्थों से वैपरीत्यदर्शनार्थ यद्यपि यहां विरेचनार्थ अन्य पदार्थों के साथ सात्म्य का भी निर्देश किया गया है परन्तु आगे इसी अध्याय के अन्त में विरेचन में सात्म्य का निषेध किया गया है।

वमन में सैन्धव और मधु की प्रधानता—सब अर्थात् केवल कफ, पित्तयुक्त तथा वातयुक्त कफ में दिए जाने वाले वमनों में कफ को पतला कर बाहर निकालने के लिए सैन्धा नमक और शहद की योजना आवश्यक है। वमन के वेगों का निश्चय प्रतिग्राहगत ( पीकदान में पड़े हुए ) वामित कफ को देखकर करना चाहिए।

तत्राप्रवृत्तिः केवलस्य वा भेषजस्य प्रवृत्तिर्विबन्धो वा वेगानामयोगलक्षणम्। ततश्चारोचकगौरवाध्मानकण्डूस्फोटलोठालस्यशूलप्रतिश्यायलोमहर्षप्रसेकशोफशीतज्वरादयः।

वमनवेग के अयोग का लक्षण—औषध पीने पर भी वमन का न होना दोष के बिना केवल पान किये हुए औषध का बाहर निकलना अथवा विबन्धो वेगानाम् ( बिलकुल थोड़ा थोड़ा वेगों का आना ) ये वेगों के अयोग के लक्षण हैं। इस प्रकार वमन के वेगों का अयोग होने से अरोचक, गौरव ( जड़ता ), आध्मान ( पेट का फूलना ), कण्डू, स्फोट, कोठ ( शरीर पर काले-लाल मण्डलों का उठना ), आलस्य, शूल, प्रतिश्याय, रोमहर्ष, प्रसेक ( मुँह से लारों का गिरना ) शोथ, शीतज्वर आदि विकार होते हैं।

योगलक्षणं पुनः काले क्रमात्कफपित्तानिलप्रवृत्तिर्नातिमहती व्यथा स्वयं चावस्थानं ततश्च स्वस्थता मनःप्रसादः स्वरविशुद्धिररोचकादिवैपरीत्यं च।

वमनवेग के योग का लक्षण—वमनवेग के सम्यक् योग में काल अर्थात् वमनौषधपान के एक मुहूर्त्त के बाद क्रम से कफ, पित्त और वायु की प्रवृत्ति होती है। शरीर में स्वल्प व्यथा होती है तथा स्वयं वेगों का अवरोध होता है अर्थात् वेगावरोध के लिए किसी स्तम्भन ओषधि के देने की आवश्यकता नहीं होती। वेगावरोध के अनन्तर स्वस्थता प्रतीत होती है। मन प्रसन्न होता है। स्वर विशुद्ध होता है तथा पहले अयोग में वर्णित अरोचकादि के विपरीत अर्थात् अन्न में रुचि, लघुता-शरीर में फुर्ती आदि लक्षण होते हैं।

अतियोगे तु फेनिलरक्तचन्द्रिकोद्गमनम्। ततश्च क्षामतास्वरक्षयदाहकण्ठशोषभ्रममोहोन्मादमूर्च्छाशिरःशून्यताहृद्धूमायनगात्रशूलसुप्तितृष्णोर्ध्वानिलप्रकोपकर्णशूलार्दितवाक्सङ्गहनुसंहननजिह्वाप्रवेशनिर्गमाक्षिव्यावृत्तिविसंज्ञतानिद्राबलाग्निहानयो भवन्ति। जीवशोणितप्रवृत्त्या मरणं वा। एषां सिद्धिषु साधनं वक्ष्यते।

वमनवेग के अतियोग के लक्षण—वमन का अतियोग हो जाने पर मयूरपिच्छ के सदृश, फेनसहित रक्त का वमन होता है और इसके अनन्तर अत्यन्त दुर्बलता, स्वरभेद या स्वर का न निकलना, दाह, कण्ठ सूखना, भ्रम, वैचित्य, उन्माद, मूर्च्छा, सिर में शून्यता, हृदय ( छाती ) में धुँवें उठना, शरीर में पीडा, स्पर्श का ज्ञान न होना, तृष्णा, ऊर्ध्व-वात-ऊर्ध्वश्वास का प्रकोप, कर्णशूल, अर्दित ( मुंह का टेढ़ा हो जाना ), जिह्वास्तम्भ, हनुस्तम्भ, जीभ का भीतर घुस जाना या बाहर निकलना, आँखें फटना, संज्ञा का नाश, निद्रा, बल और अग्नि का नाश ये लक्षण होते हैं। इतना ही नहीं, जीवशोणित ( शरीर-इन्द्रिय-मन और आत्मा के संयोग

१. 'यावत्प्रथममेव कफः क्षीणस्तावद्यत्नेनाङ्गुल्यादिना छर्दयेत्।' इतीन्दुः। २. अप्रवृत्त्या मलान् द्रव्यं सात्मीभूतं हि जीर्यति। वमनं वा विरेकं वा तस्मात्सात्म्यं न योजयेदिति।

के आश्रय में रहनेवाला विशुद्ध रक्त या ओज) के बाहर निकलने के कारण मरण तक हो जाता है। इन सबके उपाय आगे सिद्धि में अर्थात् कल्पस्थान के वमनविरेचनव्यापत्सिद्धि में 'वमनातियोगे' इत्यादि ग्रन्थ से विशेषतः वर्णन करेंगे।

**योगेन तु खल्वेनं छर्दितवन्तं सुविशोधितपाणिपादमुखं मुहूर्त्तमाश्वास्य धूमयत्रस्यान्यतमं सामर्थ्यतः पाययित्वा पुनरुपस्पृष्टोदकं समानितसुरभिताम्बूलं निवातागारशय्यास्थितं स्नेहोक्तेनाचारविधिनाऽनुशिष्यात्।**

सम्यग्योग के बाद कर्त्तव्य—**सम्यक् योग से वमन किए हुए रोगी को चाहिए कि वह हाथ, पग और मुख को अच्छी प्रकार से शुद्ध कर, एक मुहूर्त्त भर ठहरकर, रोगी के बलाबल को देखकर धूमत्रय (मृदु, मध्य, विरेचन अथवा स्निग्ध, मध्य, तीक्ष्ण) इनमें से किसी एक का पान कराकर पुनः जल के स्पर्श से हाथ, पग और मुख को शुद्धकर सुगन्धित ताम्बूल का सेवन कराकर, जहां वायु न हो ऐसे घर में शय्यापर स्थित रोगी को स्नेहविधि में वर्णित आचारविधि का (उष्णोदकपान, ब्रह्मचर्य, रात्रिशयन आदि विधि का) उपदेश करे।**

**ततोऽग्निबलमवेक्ष्य क्षुधं च सायाह्ने सुखोदकपरिषिक्तः पुराणानां रक्तशालितण्डुलानां सुसिद्धमन्नमस्नेहलवणकटुकमल्पस्नेहलवणकटुकं वा द्रवप्रायमुष्णोदकानुप्रायं सायंप्रातरुपयुञ्जानो विधिमिममवेक्षेत। पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रीनुभयं तथैकम्। क्रमेण सेवेत नरोऽन्नकालान् प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः॥**

संशुद्ध रोगी को पथ्यसेवन प्रकार—**सम्यक् संशोधन हो जाने पर क्षुधित रोगी के अग्निबल को निरीक्षणकर सुखोदक (सुहाने योग्य कदुष्ण जल) से स्नानादि कराकर अग्नि बलवान् हो तो उसी दिन सायंकाल में तथा अग्निबल स्वल्प हो तो दूसरे दिन पुराने रक्तशालि चांवलों का भली भांति सिद्ध किया हुआ अन्न स्नेहरहित (घृतादि की चिकनाई से रहित) लवण कटुक (नमकीन चरपरा) या अल्प स्नेहसहित नमकीन और चरपरा, प्रायः द्रव (पतला), जिसके बाद उष्णोदक पान किया जावे ऐसा भोजन सायंकाल एवं प्रातः काल में करावे। इस प्रकार भोजन करनेवाला निम्नलिखित विधि का पालन करे।**

पथ्यसेवन का क्रम—**उपर्युक्त प्रधान, मध्य और अवरशुद्धि से शुद्ध मनुष्य पेया, विलेपी, अकृतयूष, कृतयूष और मांसरस इन पांचों का तीनों कालों में, दोनों कालों में तथा एक ही काल में क्रम से सेवन करे। इस कथन का भावार्थ यह है कि यद्यपि भोजन के मुख्य काल दो ही हैं तथापि जो आगे कही जानेवाली प्रधान शुद्धि द्वारा शुद्ध हुआ हो, वह पहले दिन केवल एक सायंकाल में पेया का सेवन करे। दूसरे दिन दोनों कालों में अर्थात् प्रातः और सायंकाल में पेया का सेवन करे। इस प्रकार तीन कालों में पेया का उपयोग होता है। इसके बाद तीसरे दिन दोनों अन्नकालों अर्थात् प्रातः और सायंकाल में विलेपी की योजना करे तथा चौथे दिन केवल प्रातः काल में ही विलेपी की योजना करे। इस प्रकार तीन अन्नकालों में विलेपी का उपयोग होता है। चौथे दिन केवल सायंकाल में अकृतयूष (स्नेहादिरहित यूष) की योजना करे और फिर पांचवें दिन दोनों प्रातः और सायंकाल में अकृतयूष की योजना करे। इस प्रकार अकृतयूष का उपयोग तीनों कालों में हो जाता है। छठे दिन दोनों अन्नकाल अर्थात् प्रातः काल और सायंकाल में कृतयूष (सस्नेहादि यूष) की योजना करे और सातवें दिन केवल एक प्रातः काल में कृतयूष पिलावे। इस प्रकार कृतयूष का उपयोग होता है। सातवें दिन केवल एक सायंकाल में मांसरस की योजना करे और आठवें दिन प्रातः सायं दोनों काल मांसरस की योजना करने से मांसरस भी तीनों कालों में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार यह प्रधान शुद्धि द्वारा शुद्ध का तीनों कालों में पेया आदि पांचों का सेवनक्रम हुआ।**

**इसी प्रकार मध्यम शुद्धि द्वारा शुद्ध के लिए पेयादि प्रत्येक का प्रत्येक दिन दोनों कालों में सेवन कराना चाहिये अर्थात् प्रथम दिन दोनों (सायं प्रातः) कालों में पेया, दूसरे दिन दोनों कालों में विलेपी, तीसरे दिन दोनों कालों में अकृत यूष, चौथे दिन दोनों कालों में कृतयूष और पांचवें दिन दोनों कालों में मांसरस की योजना करना चाहिये।**

**तथैव स्वल्पशुद्धि द्वारा शुद्ध के लिए प्रत्येक दिन केवल एक ही काल में चाहे वह प्रातः काल हो चाहे सायंकाल, दिन में एक ही बार पेया, विलेपी, अकृत यूष, कृतयूष और मांसरस की क्रम से योजना करनी चाहिए।**

**यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः संधुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण। महान् स्थिरः सर्वपचस्तथैव शुद्धस्य पेयादिभिरन्तरग्निः॥**

संशोधन का फल—**जिस प्रकार बाह्य अग्नि का अत्यल्प अणुमात्र कण तृण, गोमय (सूखे गोबर के कण्डे), वृक्षों की पत्तियों आदि से धुखाने (सुलगाने) पर क्रम से महान्, स्थिर (चिरस्थायी) तथा सर्वपच (सबको पकाने वाला) होता है, ठीक इसी प्रकार मनुष्य की अन्तराग्नि (जठराग्नि) पेयादि उत्तरोत्तर गुरु इन्धन को पाकर स्वल्प से महान्, महान् से स्थिर और स्थिर से सर्वपच (किए हुए सब आहार को पचानेवाली) हो जाती है। यहां बाह्य अग्नि को सुलगाने के लिए जैसे पहले तृण, हल्का इन्धन और तदनन्तर गोमयादि (तृण से उत्तरोत्तर गुरु) इन्धन कहा है तथैव स्वल्प जठराग्नि के लिए पहले हलके तृण की तरह पेया और फिर गुरु गोमयादि की तरह विलेपी, कृताकृत यूष और मांसरस का निर्देश किया गया है।**

**ऊपर 'प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्ध'—अर्थात् प्रधान शुद्धि,**

१. जीवशोणितं शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगाश्रयं विशुद्धं शोणितमिति डल्हनः। जीवशोणितम्—ओज इति हेमाद्रिः। २. सिद्धिषु कल्पस्थाने वमनविरेचन व्यापत्सिद्धौ वक्ष्यते विशेषेण तु वमनातियोग इत्यादिना ग्रन्थेन। इतीन्दुः। ३. खल्विमम्। ४. स्नेहोक्तेनाहारविधिना। ५. धूमत्रयस्यान्यतमं मृदुं मध्यं विरेचनं वेतीन्दुः। हेमाद्र्यरुणौ तु स्निग्धं मध्यं तीक्ष्णं चेति। ६. सायाह्ने अपरे वाह्नि।

१. रन्तराग्निः।

मध्यम शुद्धि और अल्पशुद्धि से शुद्ध रोगी का उल्लेख किया गया है परन्तु यह नहीं बताया गया कि प्रधानशुद्धि, मध्यम शुद्धि या स्वल्पशुद्धि किसे कहते हैं अर्थात् क्रमशः इनके लक्षण क्या हैं ? इसके स्पष्टीकरणार्थ आचार्य कहते हैं कि—

जघन्यमध्यप्रवरे तु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ ।
दशैव ते द्वित्रिगुणा विरेके प्रस्थस्तथा स्याद् द्विचतुर्गुणश्च ॥

स्वल्प, मध्य और प्रधानशुद्धि का स्पष्टीकरण—वमन-विरेचन में स्वल्प, मध्यम तथा प्रधान शुद्धि वमन एवं विरेचन के वेगों पर निश्चित की गई है। जिसमें वमन के ४ वेग (चार बार वमन) होते हैं, वह जघन्य-अवर या स्वल्प शुद्धि है। जिसमें ६ वेग होते हैं, वह मध्यमशुद्धि है तथा जिसमें वमन के ८ वेग होते हैं, उसे प्रधान या प्रवर शुद्धि कही है। इसी प्रकार जिस विरेचन में १० वेग (दस्त) होते हैं, वह स्वल्पशुद्धि है, द्वित्रिगुणा अर्थात् जिसमें २० वेग या दस्त होते हैं, वह मध्यमशुद्धि है और जिसमें ३० वेग (दस्त) होते हैं वह विरेचन की प्रधानशुद्धि है। बाहर निकले हुए मल के तोल पर भी स्वल्प, मध्य तथा प्रधान शुद्धि का निश्चय किया जाता है, जैसे कि विरेचन द्वारा बाहर आया हुआ मल तोल में एक प्रस्थ हो तो स्वल्पशुद्धि, दो प्रस्थ हो तो मध्यमशुद्धि और चार प्रस्थ हो तो वह प्रधान शुद्धि कही जाती है।

ध्यान रहे कि यहां प्रस्थ का मान ३२ पल का नहीं है, अपितु १३॥ तेरह पल का है। बुद्धिमानों ने कहा है कि 'वमन में, विरेचन में और इसी प्रकार रक्तमोक्षण में प्रस्थ का मान १३॥ पल का मानना चाहिये।

पित्तावसानं वमनं विरेकादर्द्धं कफान्तं च विरेकमाहुः ।
द्वित्रान्सविट्कानपनीयवेगान्मेयं विरेके वमने तु पीतम् ॥

वमन-विरेचन की प्रवराप्रवरता का प्रमाण—जिसके अन्त में पित्त निकले वह वमन श्रेष्ठ कहा है और इसी प्रकार जिस विरेचन के अन्त में कफ निकले वह श्रेष्ठ जानना चाहिये। भावार्थ यह है कि वमन में प्रथम मल, फिर कफ और फिर पित्त का आना श्रेष्ठ है और विरेचन में प्रथम मल, फिर पित्त और फिर अन्त में कफ का निकलना श्रेष्ठ होता है। वमन द्वारा निकले हुए मल का प्रमाण विरिक्त मल से आधा होना चाहिए। अर्थात् विरेचन का प्रमाण ऊपर कह आए हैं कि विरिक्त मल क्रम से एक, दो और चार प्रस्थ (सेर) कनिष्ठ, मध्य और श्रेष्ठ होता है। वमन की कनिष्ठता, मध्यता और श्रेष्ठता इससे आधे प्रमाण में कही गई है अर्थात् वान्तमल आध सेर हो तो कनिष्ठ, एक सेर हो तो मध्य तथा दो सेर हो तो श्रेष्ठ है।

वमन-विरेचन की मापविधि—वमन के वेगों की गणना पिए हुए औषध के निकल जाने के बाद करनी चाहिए तथा विरेचन के वेगों की गिन्ती पहले मल (पुरीष) सहित आनेवाले दो तीन दस्तों को छोड़ कर करनी चाहिए।

१. प्रस्थोऽत्र न द्वात्रिंशत्पलः। 'वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः।' इति हेमाद्रिः।
२. पीतमिति।

अथ वमितवन्तं पुनरेव स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्य श्वो विरेचयितव्य इति सुजरमश्लेष्मलं स्निग्धं फलाम्लमुष्णमुष्णोदकानुपानं जाङ्गलरसौदनं भोजयेत्। ततः सुखोषितं पूर्वोक्तेन विधिनाऽतीतश्लेष्मकाले निरन्नं विभज्य कोष्ठं यथार्हौषधमात्रां पाययेत्। न त्वकृतवमनमन्यत्रातिक्रूरकोष्ठात्। अकृतवमनस्य हि श्लेष्मणोपहतमौषधमूर्ध्वं प्रवर्तते। उरसि वाऽवरुद्धमवतिष्ठते। ततो नालं विरेकाय। सम्यग्विरिक्तस्यापि चाधःस्रस्तः श्लेष्मा ग्रहणीं छादयित्वा गौरवमापादयति प्रवाहिकां वा। न त्वेष दोषोऽतिक्रूरकोष्ठस्य वाय्वात्मकत्वात्।

विरेचनविधि—जिसको कल विरेचन कराना है तो उसके एक दिन पहले वमन कराए हुए रोगी को पुनः स्नेहन-स्वेदन कराकर ऐसा जाङ्गलरसौदन=जाङ्गल मांसरससहित भात का भोजन करावे जो सुजर (सुख से जल्दी पचनेवाला), जो कफकारक न हो, स्निग्ध हो, दाडिमादि फलों द्वारा अम्ल किया हुआ, उष्ण और जिसके अनन्तर उष्ण जल का पान किया हो। इस प्रकार का भोजन करके रात को सुख से सोया हो उसे दूसरे दिन पूर्वोक्त मङ्गल-स्वस्तिवाचनादि विधि करके, कफकाल के बीतने पर अर्थात् दिन का तृतीयांश जाने पर पूर्वाह्न में निरन्न (जिसने अन्न न खाया हो) रोगी को उसके मृदु-मध्य-क्रूर कोष्ठ का भलीभांति विचार करके उसके योग्य विरेचन-ओषधिमात्रा का उसे पान करावे। ध्यान रहे कि अतिक्रूर कोष्ठवाले को छोड़ कर मृदु-मध्य कोष्ठवाले रोगी को पहले वमन कराए विना विरेचन की मात्रा न पिलावे। इसलिए कि विना वमन कराए रोगी को दी हुई विरेचन ओषधि कफ की मारी कफ के साथ ऊपर की ओर प्रवृत्त होगी। ओषधि के ऊपर प्रवृत्त होने से उससे वमन होगा किन्तु विरेचन नहीं होगा। अथवा कफ के कारण वह वमनौषध छाती में रुक कर पड़ी रहेगी किन्तु वह विरेचन के लिए समर्थ नहीं होगी। कदाचित् सम्यक् विरेचन होने पर भी उससे नीचे की ओर आया हुआ कफ ग्रहणी को आच्छादन करके अर्थात् ग्रहणी से लिपट कर शरीर में गौरव (जडता) को पैदा करेगा अथवा प्रवाहिका नामक व्याधि हो जायगी। किन्तु यह दोष अधिक वायुवाले क्रूरकोष्ठ में नहीं होता। वायु करके कफ आप ही शुष्क हो जाता है। इसीलिए क्रूर कोष्ठवाले के विरेचन के पहले वमन का निषेध किया गया है।

श्लेष्मकाले त्वकृतवमनदोषाः शूलाध्मानगौरवाणि वा कृत्वा छर्दिक्षीणे श्लेष्मण्यपराह्णे रात्रौ वा विरेचयेत्। तेनान्नावृतमपि तुल्यम्। छर्दिं च पुनस्तज्जनयति। अविरिक्तस्य तु श्लेष्मकाले च वमनं निरन्नं योज्यम्। तथोर्ध्वं सुखेन निर्हरणात्।

कृतवमन को भी कफकाल में विरेचनौषधनिषेध—प्रथम वमन दिए हुए रोगी को भी कफ के काल में (सूर्योदय से लेकर दिन के तृतीयांश काल तक अर्थात् अनुमान १० घटिका या १० बजे तक) विरेचन की ओषधि नहीं देनी चाहिए

१. बिधिनाऽतीते श्लेष्मकाले।

क्योंकि बिना वमन कराए विरेचन-ओषधि देने में जो दोष कहे हैं वे इसमें भी होंगे अर्थात् कफ से मिल कर वमनौषधि की प्रवृत्ति ऊपर की ओर होकर उससे वमन होगा किन्तु विरेचन नहीं होगा अथवा वह ओषधि कफ से अवरुद्ध होकर छाती में पड़ी रहेगी। इतना ही नहीं, वमन कराए हुए को भी कफ-काल में दी हुई वमनौषधि शूल, आध्मान ( अफारा ) तथा जड़ता को लाकर पहले वमन से क्षीण हुए कफ के कारण अपराह्ण ( तीसरे प्रहर ) या रात में विरेचन करेंगी अर्थात् उसे तीसरे पहर या रात में दस्त होंगे। कफ-काल में सेवन किया हुआ यह विरेचन अन्नावृत विरेचन के समान होगा अर्थात् अन्नाहार करने के बाद सेवन किया हुआ विरेचन जैसे दस्त न लाकर वमन कराता है अथवा तीसरे प्रहर दिन में या रात में दस्त लाता है, ठीक यही बात इस कफकाल में सेवन किए विरेचन में होगी। तात्पर्य यह है कि जिसको विरेचन न दिया गया हो, ऐसे रोगी को निरन्न ( निराहार पेट ) कफकाल में वमनौषध सेवन करना चाहिए इसलिए कि वह सुख से ऊर्ध्व भाग से कफ को निकाल देता है।

कोष्ठस्तु त्रिविधो भवति मृदुः क्रूरो मध्यश्च। तत्र बहुपित्तो मृदुः। स विरिच्यते क्षीरेक्षुरसाम्लतक्रमस्तुगुडकृशरा[१]सर्पिर्नवमद्योष्णोदकपीलुद्राक्षापूगफलादिभिरपि। बहुवातः क्रूरः स दुर्विरेच्यस्त्रिफलातिल्वकत्रिवृन्नीलिनीफलादिभिर्बहुश्लेष्मा समदोषश्च मध्यः स साधारणः। ये च स्निह्यन्त्यच्छपानेन[२] प्रायशस्त्रिसप्तपञ्चरात्रैरिति।

कोष्ठ के तीन प्रकार—कोष्ठ तीन प्रकार का होता है जैसे कि मृदु, क्रूर और मध्यकोष्ठ।

मृदुकोष्ठ के लक्षण—मृदुकोष्ठ उसे कहते हैं जिसमें पित्त की अधिकता रहती है और दूध, ईख का रस, खट्टी छाछ, मस्तु ( दही का तोड़ ) गुड़, कृशरा ( तिल-चावल आदि से सिद्ध की हुई खिचड़ी ), घृत, नवीन ताजा मद्य, गरम जल, पीलु ( जाङ्गल देश के पीलु या जालवृक्ष के फल ), द्राक्षा ( मुनक्का ) तथा सुपारी आदि ( अमलतास आदि[३] ) के सेवन से जिसे विरेचन हो जाता है।

क्रूरकोष्ठ के लक्षण—जिसमें वायु की अधिकता होती है, उसे क्रूरकोष्ठ कहते हैं। क्रूरकोष्ठ पुरुष दुर्विरिच्य होता है अर्थात् उसे विरेचन बड़ी कठिनाई से होता है और होता भी है तो वह त्रिफला, तिल्वक ( लोध या लोध के आकार का रक्तछाल वाला विरेचक[४] वृक्ष ), निशोत, नीलिनी फल अर्थात् नील के बीज किन्तु हमारे मत से बृहद्दन्ती ( जयपाल-हब्बुल् नील यूनानी ) आदि ( कङ्कुष्ठ, थूहर आदि[५] ) से होता है।

मध्यकोष्ठ के लक्षण—मध्यकोष्ठ वह है जिसमें कफ की बहुलता रहती है अथवा जो समदोष वाला होता है। यह विरेचन में साधारण होता है अर्थात् न दुर्विरेच्य ही होता है और न मृदुकोष्ठवत् सुखविरेच्य रहता है। भावार्थ यह है कि इसका विरेचन मृदु और क्रूरकोष्ठ में कहे हुए पदार्थों के मिश्रीभाव से होता है।

प्रकारान्तर से मृदु आदि कोष्ठों की पहचान—अच्छस्नेह के पान कराने से जिसका स्नेहन तीन दिन में होता है वह प्रायः मृदुकोष्ठ होता है। जिसका अच्छस्नेहपान से ७ दिन में स्नेहन होता है वह क्रूरकोष्ठ है और जिसका स्नेहन ५ दिन में होता है वह मध्यकोष्ठ है।

तत्र कषायमधुरद्रव्यैः पित्ते विरेचनम्। मूत्रकटूष्णैः कफे। स्निग्धोष्णलवणैर्वाते। पीतमात्र एव चौषधे छर्दिविघाताय शीताम्बुना मुखमस्य सहसा सिञ्चेत्। ततश्चोष्णोदकेन सोऽन्तर्मुखं विशोध्यार्द्रसुरभिमृन्मातुलुङ्गजम्बीरसुमनःसौगन्धिकादिहृद्यगन्धानुपजिघ्रेत्। निवातसुखशय्यास्थितश्चाविबन्धार्थमल्पाल्पमुष्णोदकमनुकण्ठयंस्तन्मना[१] वेगान्न धारयन् ईरयमाणश्च शय्यासन्ने प्रतिग्राहेऽशीतस्पृशा विरिच्येत। यथा च वमने स्वेदप्रसेकौषधकफपित्तानिलाः क्रमेण प्रवर्तन्ते तथा विरेचने वातमूत्रपुरीषपित्तकफाः। पुनश्चान्ते वायुः। दोषाणां हि देहे तथा सन्निवेशान्मार्गवैपरीत्याच्च शोधनयोरिति।

दोषानुरोध से विरेचन—पित्त के कोप में कषाय और मधुर रसवाले द्रव्यों से विरेचन करावे। कफ के कोप में मूत्र ( गोमूत्र ), कटुरसवाले द्रव्यों तथा उष्णवीर्य ओषधियों से विरेचन करावे और यदि वायु का कोप हो तो स्निग्ध, उष्ण और लवण रसवाले औषधों से विरेचन करावे।

विरेचनौषधपान के पश्चात् कर्त्तव्य—विरेचन औषध के पान करने के बाद तुरन्त वमन न हो जाय इसलिए रोगी के मुख पर शीतल जल सिञ्चन करे या लगावे। इसके बाद उष्ण जल का किंचित् पान कर भीतर से मुख को शुद्ध कर आर्द्रसुरभि ( गीली गुलाबजल आदि से सुगन्धित ), गीली मिट्टी, बिजौरा, जम्बीरी निम्बु, मालती-चमेली तथा गुलाब आदि हृद्य ( हृदय को हितकारी तथा मनोहर ) सुगन्धियों को सूँघे और फिर निर्वात स्थान में शय्या पर बैठकर मल का अवरोध न हो इसलिए थोड़ा उष्ण जल पान कर, अपने मन को विरेचन की ओर लगा कर, आते हुए वेगों ( दस्तों ) को न रोकता हुआ किन्तु वेग ( दस्त ) आने का प्रयत्न करता हुआ शय्या ( खटिया ) के समीप स्थित प्रतिग्राह (दस्त करने की जगह) में दस्त करे। ध्यान रहे कि विरेचन-ओषधि-पान किए हुए रोगी को शीतल पदार्थों का स्पर्श नहीं करना चाहिए। इसलिए कि शीतल पदार्थ मल के अवरोध करनेवाले होते हैं। जैसे कि वमन में पहले क्रम से स्वेद, प्रसेक ( लार ), औषध, कफ, पित्त और वायु की प्रवृत्ति होती है अर्थात् पहले पसीना आता है, फिर मुख से लार निकलती है, इसके बाद पिया हुआ औषध निकलता है फिर कफ, फिर पित्त और फिर वायु निकलता है। इसी प्रकार विरेचन में

१. कृसरस। २. स्निग्धास्त्वच्छपानेन। ३. आदिशब्दग्रहणेनाऽऽरग्वधादीनां ग्रहणम्। इत्यरुणः। ४. तिल्वको रोध्रः, अन्ये तिल्वको रोध्राकारो बृहत्पत्रो रक्तत्वको वैरेचनिक इति डल्हनः। ५. आदिशब्दग्रहणेन कङ्कुष्ठासुधादीनां ग्रहणमित्यरुणः।

१. 'अनुकण्ठयन् स्तोकमात्रं पिबन्' इतीन्दुः।

पहले वायु ( अपानवायु ) निकलता है, फिर मूत्र, फिर पुरीष ( मल ), फिर पित्त, फिर कफ और इसके बाद पुनः वायु निकलता है। वमन में वायु की प्रवृत्ति अन्त में होती है और विरेचन में इसके विपरीत पहले वायु निकलता है। यह सब दोषों की शरीर में सन्निकटता के कारण तथा मार्ग वैपरीत्य के कारण होता है। भावार्थ यह है कि वमन मुख के द्वारा ऊर्ध्वमार्ग से होता है क्योंकि उसके समीप रहने से पहले कफ निकलता है, उसके बाद पित्त और फिर वायु निकलता है। विरेचन इसके विपरीत अधोमार्ग गुदद्वारा होता है तथा इसके समीप रहने से इसमें पहले वायु, फिर मध्य भागवाला पित्त और अन्त में कफ निकलता है और फिर अपतर्पण के कारण वायु निकलता है। इस प्रकार यह वमन-विरेचनात्मक संशोधन में मार्गवैपरीत्य है।

अप्रवृत्तौ[1] तु भेषजोत्तेजनार्थमुष्णोदकं पाययेत्। पाणितापैश्च जठरं स्वेदयेत्। प्रवृत्ते च दीप्ताग्नेः स्निग्धवपुषो बहुदोषस्याल्पदोषे नैव वा प्रवृत्तेऽल्पदोषस्यापि जीर्णभैषज्यस्याहःशेषं बलं चापेक्ष्य भूयो मात्रां विदध्यात्। न त्वजीर्णौषधस्यातियोगभयात्। तदहर्वा भुक्तवतोऽन्येद्युरदृढस्नेहं वा दशरात्रादूर्ध्वमुपस्कृतदेहमवहितो भूयः पाययेत्।

मल की अप्रवृत्ति में उष्णोदकपानादि—विरेचन ओषधि के सेवन करने पर भी यथासमय मल की प्रवृत्ति न हो अर्थात् दस्त न आवे तो पान किए हुए औषध को उत्तेजन देने के लिए उष्ण जल पिलाना चाहिए। इतना ही नहीं, हाथ की हथेलियों को तपा-तपाकर उनसे जठर ( उदर ) का स्वेदन करना चाहिए। जिसकी अग्नि प्रदीप्त हो, जिसका शरीर स्नेहन देकर स्निग्ध किया गया हो और जो बहुदोषवाला हो अथवा जो अल्पदोषवाला हो, इनको औषध देने पर अल्प मल की प्रवृत्ति होती हो या मल की प्रवृत्ति बिल्कुल न होती हो तो उस दिन दी हुई जीर्ण ओषधि के शेष बल का विचार कर पुनः औषध-मात्रा देनी चाहिए किन्तु प्रथम दी हुई ओषधि के अजीर्ण की अवस्था में पुनः औषधमात्रा नहीं देनी चाहिए। इसलिए कि अल्पबली मनुष्य को प्रथम ओषधि के जीर्ण न होते हुए ओषधिमात्रा के देने से विरेचन के अतियोग का अर्थात् बहुत दस्त हो जाने का भय होता है। अथवा मल की प्रवृत्ति न हुई हो ऐसे रोगी को उस दिन भोजन कराकर दूसरे दिन औषधमात्रा पिलावे। यदि उसका ठीक स्नेहन न हुआ हो तो फिर भलीभांति स्नेहन करके सावधानतया दस दिन के बाद विरेचन ओषधि का सेवन करावे।

ह्रीभयलोभैश्च वेगाघातशीलाः प्रायशः स्त्रियो राजसमीपस्था वणिजश्च भवन्ति। तस्मादेते वेगधारणात् प्रवृद्धवातत्वात्[2] सदातुरा दुर्विरेच्याश्च। तान् सुस्निग्धान् शोधयेत्। अन्यानपि चाकालनिर्हारविहाराहारान्। अतश्चैषां[3] सदातुरत्वादल्पोऽप्यामयो दुःसाध्यो[4] भवति तेषां पुनः क्रियाविधिः स्नेहव्यापत्सिद्धावुपदेक्ष्यते।

स्त्री आदि को विशेष स्नेहन की आवश्यकता- क्रम से लज्जा, भय और लोभ से अर्थात् प्रायः स्त्रियें लज्जा की मारी, राजाओं के पास रहनेवाले भय से तथा व्यापारी लोभ के मारे समागत वेगों को रोकनेवाले होते हैं। इसलिए ये वेगों को धारण करने के कारण वायु की अतिवृद्धि होकर सदा रोगी रहते हैं और इनको विरेचन भी बड़ी कठिनाई से होता है अतः इनको प्रथम भलीभांति स्निग्ध करके ( स्नेहपान कराकर ) फिर शोधन करना चाहिये अर्थात् वमन-विरेचन देना चाहिए।

केवल उपर्युक्त स्त्रियों, राजकीय पुरुषों तथा व्यापारियों को ही नहीं, अपितु यथासमय न करके समय के बीत जाने पर निर्हार ( मूत्रादि का विसर्जन ), विहार (डोलना-फिरना) और आहार के करनेवाले हैं जिनका सदैव रोगी रहने के कारण अल्प रोग भी कष्टसाध्य हो जाता है। इन सबका संशोधन भी प्रथम भलीभांति स्नेहन करके कराना चाहिए। इनकी चिकित्सा पुनः स्नेहव्यापत्सिद्धि नामक अध्याय में कही जायगी।

तत्रासम्यग्विरेकात्कुक्षिहृदयाविशुद्धिराध्मानमरुचिः प्रसेकः कफपित्तोत्क्लेशश्छर्दिर्भ्रमाः कण्डूः पिटका विदाहो गौरवमग्निसादस्तन्द्रा स्तैमित्यं प्रतिश्यायो वातविण्मूत्रसङ्गश्च। सम्यग्विरेकाद्व्याध्युपशमो यथोक्तविपर्ययश्च। अतिविरेकात्तु केवलं दोषरहितमुदकं रक्तं वा मेदोमांसधावनोपमं कृष्णं वा प्रवर्त्तते। परिकर्तिका हृदयोद्वेष्टनं गुदनिःसरणं नयनप्रवेशः पिपीलिकासंचारइवाङ्गे वमनातियोगतुल्यता च।

रेचन के अयोग के लक्षण—विरेचन देने पर भी रेचन के ठीक न होने को अयोग या असम्यग्योग कहते हैं। असम्यक् योग होने पर रोगी का पेट और हृदय साफ नहीं होता अर्थात् कुक्षि और छाती में जडता बनी रहती है, पेट फूलता है, अन्नादि पर अरुचि, मुँह से लारों का टपकना, कफ और पित्त की उबकाई आकर वमन होना, चक्कर आना, खाज, फोड़े-फुन्सियों का होना, छाती और पेट में जलन, शरीर में जडता, अग्निमान्द्य, तन्द्रा, स्तैमित्य ( शरीर को गीले कपड़े से लपेट दिया है ऐसी प्रतीति होना ), प्रतिश्याय ( जुकाम ) का होना, अपानवायु-मल और मूत्र का अवरोध होना ये लक्षण होते हैं।

रेचन के सम्यग्योग या योग के लक्षण—विरेचनमात्रा का योग्य उपयोग होने का नाम योग या सम्यग्योग है। सम्यक् योग के होने पर विरेचन से दूर होनेवाली व्याधियों का नाश होता है तथा असम्यक् योग के जो लक्षण कहे गए हैं उन सबके विपरीत लक्षण होते हैं यथा कुक्षि और हृदय की शुद्धि, पेट का न फूलना, अन्नादि में रुचि आदि आदि।

विरेचन के अतियोग के लक्षण—रेचन के अतियोग हो जाने पर केवल मलरहित पानी का बाहर निकलना, अथवा केवल रक्त के दस्त होना, मेद और मांस के धोवन सदृश अथवा काले रङ्ग के पानी या मल का निकलना, प्रवाहिका या

१. अप्रवृत्तौ भेषजो। २. वेगधारणप्रवृद्धवातत्वात् ३. ततश्चैषां। ४. दुःसाध्यो।

१. 'निर्हारो मूत्राद्युत्सर्गः' इति-इः। २. द्रष्टव्यः कल्पस्थानीयः स्नेहादिव्यापत्सिद्ध्याख्योऽध्यायः सप्तमः'।

परिकर्तिका अर्थात् मलरहित पेट से केवल आम का निकलना तथा पेट में कतरनी से काटने जैसी पीड़ा का होना, छाती या हृदय जकड़ गया है ऐसा प्रतीत होना, गुदभ्रंश ( गुदा का बाहर निकलना ), आँखों का भीतर की ओर पैठ जाना, शरीर पर चींटियें फिर रही हैं ऐसा भास होना तथा वमन के अतियोग में जिन लक्षणों को कह आए हैं, उन सबका होना ये लक्षण होते हैं ।

सम्यग्विरिक्तं चैनं वमनोक्तेन धूमवर्ज्येन विधिनोपपादयेत् । अथ वमितवानिव क्रमेणान्नान्युपयुञ्जानः प्रकृतिभोजनमागच्छेदिति ।

सम्यग्विरेचन के पश्चात्कर्म— जिसको भलीभांति विरेचन हो गया हो, उस रोगी को चाहिए कि वह केवल धूमवर्जित करके वमन के अन्त में दिए जानेवाले पेया आदि क्रम से अन्न का सेवनकर अपनी प्रकृति के अनुकूल आहारादि का उपयोग करे।

जीर्णान्ने वमनं योज्यं कफे जीर्णे विरेचनम् ।

वमन-विरेचन में उचित निर्देश— अन्न जीर्ण होने पर वमन तथा कफ के जीर्ण होने पर विरेचन देना चाहिए। भावार्थ यह है कि प्रथम दिन के किए हुए आहार के पच जाने पर ही दूसरे दिन वमनौषध की मात्रा पिलावे और जब तक कफ का निर्हरण ठीक न हो जाय तब तक वमन करावे। इसी प्रकार कफ के जीर्ण होने पर ही विरेचन-ओषधि का उपयोग करना चाहिए। सारांश यह है कि शास्त्र की आज्ञानुसार उपर्युक्त अवस्था में ही पहले वमनात्मक और विरेचनात्मक संशोधन करे।

मन्दवह्निमसंशुद्धमक्षामं दोषदुर्बलम् ।
अदृष्टजीर्णलिङ्गं च लङ्घयेत्पीतभेषजम् ।
स्नेहस्वेदौषधोत्क्लेशसङ्गैरिति न बाध्यते ॥

पीतभेषज को लङ्घन का निर्देश— औषध-सेवन करने पर भी जिसका संशोधन न हुआ हो, जो मन्दाग्नि वाला हो, जो कृश न हो, जो वातादि दोषों करके दुर्बल हो और जिसमें दोष-पाक के लक्षण न दिखाई देते हों तो ऐसे रोगी को लङ्घन कराना चाहिए। इसलिए कि लङ्घन कराने से स्नेहन और स्वेदन के औषधपान करने से होनेवाले उबकाई और सङ्ग ( मलमूत्रादि-सङ्ग ) की बाधा न होकर दोषों का पाक हो जाता है।

संशोधनास्रविस्रावस्नेहयोजनलङ्घनैः ।
यात्यग्निर्मन्दतां तस्मात्क्रमं पेयादिमाचरेत् ॥
स्रुताल्पपित्तश्लेष्माणं मद्यपं वातपैत्तिकम् ।
पेयां न पाययेत्तेषां तर्पणादिक्रमो हितः ॥

संशोधन में अवस्थाभेद से पेया का विधि-निषेध— संशोधन ( वमन-विरेचन ), रक्तमोक्षण, स्नेहपान, तथा लङ्घन से जठराग्नि मन्द हो जाती है इसलिए पेयादिक्रम ( पहले पेया, फिर विलेपी और फिर मांसरसौदन ) का आचरण करे अर्थात् इस क्रम के उपयोग से मन्द हुई अग्नि को पुनः प्रदीप्त कर लेवे। किन्तु जिनका पित्त और कफ निकल जाने के कारण अल्प रह गया हो, जो नित्य मद्य पीता हो तथा जो वात-पित्त-प्रकृतिवाला हो तो इनको पेया न पिला कर तर्पणादि क्रम का आचरण कराना चाहिए अर्थात् प्रथम अन्नकाल में लाजा के सत्तु से बनाया हुआ तर्पण, दूसरे अन्नकाल में पुराने शाली चावलों का भात और तीसरे अन्नकाल में यूप-मांसरसयुक्त पुराने चावलों का भात देकर तर्पणक्रम का आचरण कराना चाहिए क्योंकि इनके लिए यही हितकारी है।

विशेष वक्तव्य— यहां पर शङ्का होती है कि—'ग्रन्थकार यहां संशोधनादि से अग्नि का मन्द हो जाना कहते हैं और इसी अध्याय के अन्त में संशोधन के फल का बखान करते हुए कहते हैं कि-संशोधन से बुद्धि का प्रसादन, इन्द्रियों में बल, धातुओं की स्थिरता, अग्नि की प्रदीप्तता आदि होती है।' एक जगह संशोधन से अग्नि का मन्द होना और दूसरी जगह वही ग्रन्थकार संशोधन से अग्नि का प्रदीप्त होना कहते हैं। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष स्वतन्त्र-विरोध दिखाई दे रहा है किन्तु यह वस्तुतः विरोध नहीं है। अग्निमान्द्य एवं अग्निप्रदीप्त की बात ग्रन्थकार ने समय के अनुरोध से कही है। अग्निमान्द्य की बात उस समय की है जब कि संशोधन किया जाता है और अग्नि प्रदीप्त होने की बात उस समय की है जब कि भलीभांति संशोधन हो चुकने पर पेयादिक्रम का सेवन करके अग्नि प्रदीप्त हो जाती है। सारांश, क्रियमाण संशोधन में अग्निमान्द्य होता है और संशोधन के यथोपदेश हो चुकने पर अग्नि प्रदीप्त हो जाती है। इसलिए यह केवल विरोधाभास है किन्तु वस्तुतः विरोध नहीं है।

अपक्वं वमनं दोषान् पच्यमानं विरेचनम् ।
निर्हरेद्वमनस्यातः पाकं न प्रतिपालयेत् ॥

वमन में दोषपाक की उपेक्षा— वमनौषधि अपक्व रहते हुए दोषों का निर्हरण करती है अतः वमन में दोषपाक की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए अपितु आमाशय में पहुँचे हुए दोष को तुरन्त वमनद्वारा बाहर निकाल देना चाहिए। विपरीत इसके विरेचनौषधि पच्यमान अवस्था में दोषों का निर्हरण करती है अतः पके हुए दोष का ही विरेचन द्वारा निर्हरण करना चाहिए।

ऊर्ध्वाधोरेचनं युक्तं वैपरीत्येन जायते ।
यदा तदा च्छर्दयतः सिञ्चेदुष्णेन वारिणा ।
पादौ शीतेन चोर्ध्वाङ्गं विपरीतं विरेचने ॥

वमन-विरेचन की विपरीतता में कर्त्तव्य— ऊर्ध्वरेचन (वमन) और अधोरेचन ( विरेचन ) के प्रयुक्त करने पर यदि विपरीत परिणाम हो अर्थात् वमनौषधि के सेवन कराने पर विपरीत विरेचन ( दस्त ) होने लग जाएँ और विरेचन-ओषधि के सेवन कराने पर दस्त न होकर विपरीत वमन होने लग जायँ तो यह विधि करे। उपर्युक्त प्रकार से यदि वमन हो रहा हो तो रोगी के पगों को उष्ण जल से सिञ्चन करे और ऊर्ध्वाङ्ग ( मस्तक ) को शीतल जल से सिञ्चन करे। यदि विरेचन

१. ननु शुद्ध्याऽग्निमान्द्यमिहोच्यते। वक्ष्यति च-'बुद्धिप्रसादम्' इत्यादिना 'ज्वलनस्य दीप्तिं संशोधनं करोति' इति। तदिमे वचसी परस्परं व्याहन्याते। कालभेदाददोषः संशोधने क्रियमाणेऽग्निमान्द्यं भवति। कृते च संशोधनेऽथ पेयादिक्रममासेवमानस्याग्निदीप्तिरिति न कश्चिदत्र व्याघातः।' इत्यरुणदत्तः।

( दस्त ) हो रहा हो तो इससे विपरीत अर्थात् रोगी के पगों को शीतल जल से सिञ्चन करे और ऊर्ध्वाङ्ग ( मस्तक ) को उष्ण जल से सिञ्चन करे।

दुर्बलो बहुदोषश्च दोषपाकेन यः स्वयम् ।
विरिच्यते भेदनीयैर्भोज्यैस्तमुपपादयेत्[1] ॥

दुर्बल के स्वयं विरेचन में कर्त्तव्य— बढ़े हुए दोषवाले दुर्बल मनुष्य के दोषों का पाक होकर बिना औषध के यदि स्वयं उसे दस्त होने लगें तो उसे भेदनीय भोजन ( यवक्षारादियुक्त ) देकर शुद्ध करे किन्तु उसको ग्राही ( दस्त को रोकनेवाला ) औषध न दे।

दुर्बलः शोधितः पूर्वमल्पदोषः कृशो नरः ।
अपरिज्ञातकोष्ठश्च पिबेन्मृद्वल्पमौषधम् ॥
वरं तदसकृत्पीतमन्यथा संशयावहम् ॥

दुर्बलादि के लिए मृदु औषध—जो दुर्बल है, जिसे वमन-विरेचन देकर शुद्ध किया गया है, जो पहले ही से अल्पदोष वाला है, जो कृश है और जिसके कोष्ठ का पता नहीं है कि यह मृदु, मध्य और क्रूरकोष्ठ में से कैसे कोष्ठवाला है, इन पांच प्रकार के मनुष्यों का यदि शोधन करना हो तो पहले इनके मृदु तथा अल्पमात्रावाली ओषधि देनी चाहिए। इनको वारंवार मृदु और अल्पौषधि देकर इनके दोषों का हरना श्रेष्ठ है किन्तु विपरीत इसके एक ही बार में औषध सेवन कराकर इनके सब दोषों को निकाल देना संशयावह है ऐसा करने से मृत्यु आदि का भय हो सकता है।

हरेद्बहूंश्चलान्दोषानल्पानल्पान् पुनः पुनः ।
दुर्बलस्य मृदुद्रव्यैरल्पान् संशमयेत्तु तान् ॥
क्लेशयन्ति चिरं ते हि हन्युर्वैनं[2] तमनिर्हृताः ।

दुर्बल के दोषहरण का प्रकार—दुर्बल के अपने स्थान से चलित बहुत से दोषों को वारंवार थोड़ा थोड़ा कर के मृदु ओषधियों का सेवन कराकर निकालना चाहिए। यदि दुर्बल के दोष अल्प हों तो उसको संशोधन न देकर केवल शमनौषधि द्वारा शमन करना चाहिए किन्तु बढ़े हुए दोषों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए इसलिए कि बढ़े हुए दोषों को न निकालने से वे चिरकाल तक क्लेशकारक बने रहेंगे या वे उस रोगी को मार डालेंगे।

मन्दाग्निं क्रूरकोष्ठं च सक्षारलवणैर्घृतैः ।
संधुक्षिताग्निं विजितकफवातं च शोधयेत्[3] ॥

मन्दाग्नि और क्रूरकोष्ठ का शोधनप्रकार—यदि मन्दाग्निवाले को शुद्ध करना हो तो पहले क्षार एवं लवणों से युक्त घृतों द्वारा उसकी जठराग्नि को चेतन करे और फिर कफ को जीतकर संशोधन करे। यदि क्रूरकोष्ठ को शुद्ध करना है तो पहले क्षार और लवणों से युक्त घृतों द्वारा उसकी जठराग्निको चेतन करे और फिर वायु को जीतकर उसे संशोधन-ओषधि पिलावे।

रूक्षबह्वनिलक्रूरकोष्ठव्यायामशीलिनाम् ।
दीप्ताग्नीनां च भैषज्यमविरेच्यैव जीर्यति ॥
तेभ्यो बस्तिं पुरो[1] दद्यात्ततः स्निग्धं विरेचनम् ।
शकृन्निर्हृत्य वा किञ्चित्तीक्ष्णाभिः फलवर्तिभिः ॥
प्रवृत्तं हि मलं स्निग्धो विरेको निर्हरेत्सुखम् ।

रूक्षादि का संशोधनप्रकार—जो रूक्ष हैं, वायु के बाहुल्य-वाले हैं तथा वायु के आधिक्य से क्रूरकोष्ठवाले हैं, जो व्यायाम करनेवाले हैं और जिनकी जठराग्नि बहुत तेज है, इनको दी हुई ओषधि विरेचन न करती हुई पच जाती है, इसलिए इनको पहले बस्ति देकर फिर स्निग्ध विरेचन देना चाहिए। सारांश बस्ति देकर फिर एरण्ड-बादामादि तेल पिलाकर विरेचन कराना चाहिए। अथवा मैनफलादि द्वारा निर्मित तीक्ष्ण फलवर्तियें गुदा में देकर मल की प्रवृत्ति करनी चाहिए और फिर स्निग्ध विरेचन देकर सुख से मल का निर्हरण करना चाहिए।

विषाभिघातपिटकाकुष्ठ[2]शोफविसर्पिणः ।
कामलापाण्डुमेहार्तान्नातिस्निग्धान्विशोधयेत् ॥
सर्वान् स्नेहविरेकैश्च रूक्षैस्तु स्नेहभावितान् ।

विषार्तादि को विरेचन—जो विष से पीडित हो, जिसे चोट लगी हो, जो कोढ़ी हो, जिसके फोड़े-फुन्सी निकले हुए हों, जो शोथरोगी हो, जो विसर्प, कामला, पाण्डु तथा प्रमेह रोग से पीडित हो इन सब को अतिस्निग्ध कर के विरेचन नहीं देना चाहिए किन्तु अल्पस्निग्ध करके विरेचन कराना चाहिए। अथवा सबको अर्थात् पूर्वोक्त विषार्तादि सबको स्नेहविरेक ( एरण्डआदि के तेल आदि का ) देकर शोधन करना चाहिए। जिनको स्नेहन दिया हो तो उन्हें निशोत आदि रूक्ष विरेचन देकर शुद्ध करना चाहिए।

कर्मणां वमनादीनां पुनरप्यन्तरेऽन्तरे ।
स्नेहस्वेदौ प्रयुञ्जीत स्नेहमन्ते बलाय च ॥

वमनादि में स्नेहस्वेद की आवश्यकता—वमनादि[3] ( वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन तथा शिरोविरेचन ) कर्मों के बीच बीच में कुछ अन्तर से स्नेहन और स्वेदन की योजना करनी चाहिए तथा इन कर्मों के अन्त में भी बलाधानार्थ स्नेह की योजना करनी चाहिए।

ऊषादिभिर्यथोत्क्लेश्य ह्रियते वाससो मलः ।
तथैव वपुषः स्नेहस्वेदमाषतिलादिभिः ॥

स्नेहादि द्वारा मलहरण में उदाहरण—ऊषादि ( क्षारमृत्तिकादि[4] ) द्वारा जैसे उत्क्लेशन कर वस्त्र का मलहरण किया जाता है, ठीक इसी प्रकार स्नेह, स्वेद, माष और तिलादि से शरीर का मल साफ किया जाता है।

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य कुर्यात्संशोधनं तु यः ।
दारुशुष्कमिवानामे शरीरं तस्य दीर्यते ॥

स्नेहन-स्वेदन के बिना संशोधन से हानि—जो स्नेहन तथा

१. भेदनीयैः-यवक्षारादिभिरिति हेमाद्रिः। २. हन्युश्चैनं। ३. विशोधयेत्।

१. पुरा। २. पिटिका ३. वमनादीनां वमनविरेचनास्थापनानुवासनशिरोविरेचनानामितीन्दुः। ४. 'ऊषः क्षारमृदि प्रोक्तम्' इति मेदिनीकरः।

स्वेदन के बिना किए ही संशोधन करता है, वह सूखे लक्कड़ की तरह है अर्थात् सूखा लक्कड़ नवाने से जैसे टूट जाता है, ठीक इसी प्रकार बिना स्नेहन-स्वेदन के संशोधन करनेवाले का लक्कड़वत् शरीर हानि को प्राप्त होता है । भावार्थ यह है कि बिना स्नेहन और स्वेदन के संशोधन ( वमन-विरेचन ) न करे ।

सुखं [1]क्षिप्रं महावेगमसक्तं यत्प्रवर्तते ।
नातिग्लानिकरं नापि हृदि पायौ च रुक्करम् ॥
अन्तराशयगं क्लिन्नं कृत्स्नं दोषं निरस्यति ।
विरेचनं निरूहं वा तत्तीक्ष्णमिति निर्दिशेत् ॥

तीक्ष्णौषध के लक्षण– विरेचन हो चाहे निरूह ( बस्ति ) हो, जो सुख से, जल्दी जल्दी, महावेगवाला, अंतड़ियों आदि से न चिपकता हुआ खुला प्रवृत्त होता है अर्थात् अतिवेग से जो विरेचन या निरूह औषध सुख से, जल्दी और खुला दस्त लाता है, जो अतिग्लानिकारक नहीं होता और न जिससे हृदय तथा गुदा में पीड़ा ही होती है, जो आशय के भीतर के क्लिन्न एवं संपूर्ण दोष ( मल ) को बाहर निकाल देता है, उसे तीक्ष्ण औषध समझना चाहिए ।

जलाग्निकीटैरस्पृष्टं देशकालगुणान्वितम् ।
नवं मात्राधिकं किञ्चित्तुल्यवीर्यैः सुभावितम् ॥
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य तीक्ष्णत्वं याति भेषजम् ।
अतो विपर्यये मन्दं मन्दतां च प्रपद्यते ॥

ओषधि में तीक्ष्णत्वप्राप्ति के कारण—जो औषध जल, अग्नि और कीड़ों से बची रहती है अर्थात् जिसे जल आदि स्पर्श नहीं करते, जो योग्य देश एवं काल में उत्पन्न होने से नाना गुणोंवाली है, जो नवीन और मात्रा में कुछ अधिक होती है और अपने तुल्यवीर्य द्रव्यों से भली भांति भावना दी हुई होती है उसमें स्नेहन-स्वेदोपपन्न प्राणी के योग्य तीक्ष्णत्व आ जाता है अर्थात् उपर्युक्त सब कारणों से औषध तीक्ष्णत्व को प्राप्त होता है । इसके विपरीत कारणों से औषध मन्द एवं मन्दता को प्राप्त होता है । सारांश, मन्द ओषधि तीक्ष्ण की तरह कार्य नहीं कर सकती ।

तीक्ष्णो मध्यो मृदुर्व्याधिः सर्वमध्याल्पलक्षणः ।
बलापेक्षं हितं तेषु तीक्ष्णं मध्यं मृदु क्रमात् ॥

त्रिविध व्याधि में त्रिविधौषधोपयोग—तीक्ष्ण, मध्य और मृदुभेद से व्याधि तीन प्रकार की होती है और इनके सर्व, मध्य तथा अल्प ये लक्षण क्रम से होते हैं जैसे कि तीक्ष्ण व्याधि सर्वलक्षणोंवाली है, मध्यव्याधि मध्यलक्षणोंवाली और मृदुव्याधि अल्पलक्षणोंवाली होती है अतः इन व्याधियों के बल की अपेक्षा के अनुसार इन में तीक्ष्ण, मध्य और मृदु औषध क्रम से हितकारी होते हैं । भावार्थ यह है कि तीक्ष्ण ( प्रबल ) व्याधि के लिए औषध भी तीक्ष्ण देना चाहिए । इसी प्रकार मध्यव्याधि में मध्य एवं मृदु ( स्वल्प ) व्याधि में औषध भी मृदु देना चाहिए किन्तु ध्यान रहे कि यह औषधयोजना रोगी के बलाबल को देखकर करना चाहिए अर्थात् स्वल्पबलवाले को तीक्ष्ण व्याधि के होने पर भी तीक्ष्ण औषध जिसे कि वह सहन नहीं कर सकेगा नहीं देना चाहिए। इस प्रकार यहां सर्वत्र व्यभिचरण की कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिए।

वमन-विरेचन में सात्म्य द्रव्य नहीं देना चाहिए, अब आचार्य इसका कारण बताते हैं ।

अप्रवृत्त्या[1] मलान् द्रव्यं सात्म्यीभूतं हि जीर्यति ।
वमनं वा विरेकं वा तस्मात्सात्म्यं न योजयेत् ॥

संशोधन में सात्म्य द्रव्य का निषेध—जो द्रव्य मनुष्य का सात्म्यीभूत आहाररूपेण अभ्यस्त होता है, वह देने से मलों की प्रवृत्ति नहीं करता किन्तु पच जाता है । इस लिए वमन और विरेचन में सात्म्य द्रव्य की योजना नहीं करनी चाहिए।

विभ्रंशो विषवत्सम्यग्[2]योगो यस्यामृतोपमः ।
कालेऽवश्यं प्रयोज्यं च यस्माद्यत्नेन तत्पिबेत् ॥

शास्त्रोक्तविधि से ही संशोधन का समर्थन—संशोधन शास्त्रोक्तविधि से ही करना चाहिए । इस लिए कि शास्त्रविधि से विपरीत संशोधन विष के तुल्य होता है और शास्त्र के अनुसार करने से संशोधन का सम्यग्योग अमृत की तरह मनुष्य को जीवन का देने वाला होता है । इतने पर भी कदाचित् व्याधि के भय से काल की उपेक्षा भी करनी पड़ती है अर्थात् जिस काल में व्याधि भयङ्कर हो जाय तो उस काल में भी बड़े यत्न के साथ ( काल का कृत्रिम प्रतीकार करके ) संशोधनौषध का सेवन अवश्य करना चाहिये।

बुद्धिप्रसादं बलमिन्द्रियाणां
धातुस्थिरत्वं ज्वलनस्य दीप्तिम् ।
चिराय[3] पाकं वयसः करोति
संशोधनं सम्यगुपास्यमानम् ॥

इति सप्तविंशोऽध्यायः ।

संशोधन का फल—सम्यक् प्रकार से सेवन किया हुआ संशोधन बुद्धि को निर्मल एवं तेज करता है, इन्द्रियों को बलवान् करता है, धातुओं को क्षीण नहीं होने देता अपि तु उनमें स्थिरता प्राप्त करता है, जठराग्नि को प्रदीप्त करता है और आयु को दीर्घ करता अर्थात् जल्दी बुढ़ापे को नहीं आने देता है ।

इति श्रीवाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिका-
हिन्दीव्याख्यायां वमनविरेचनविधिर्नाम
सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

१. क्षिप्तं

१. अप्रवर्त्य २. सम्यग्यो हि ३. चिराच्च ।

# अथाष्टाविंशोऽध्यायः ।

इसके पूर्व अध्याय में ( वमनविरेचनविधि-नामक अध्याय में ) कफदोष के नाशार्थ वमनविधि बताई गई और इसी प्रकार पित्तदोष के शमनार्थ विरेचनविधि भी बतला दी गई है परन्तु सब दोषों से प्रबल जो वायु है, उसका शमन-विषय शेष रह गया है अतः आचार्य अब उसकी पूर्ति के लिए इस अध्याय का आरम्भ करते हुए कहते हैं कि—

अथातो बस्तिविधिं नामाध्यायं[1] व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

बस्तिविधान—अब हम यहां से जिसमें वस्तिविधि का वर्णन है, उस वस्तिविधिनामक अध्याय की व्याख्या करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियोंने की है ।

बस्तिरनिलप्रधानेषु ( दोषेषु ) प्रयुज्यते । बस्तिना दीयते बस्तिं वा पूर्वमन्वेत्यतो बस्तिः । स च सर्वोपक्रमाणां प्रधानतमः शीघ्रं बृंहणादिकारित्वाद्विकृतानिलोच्छेदित्वाच्च ।

बस्ति की अन्वर्थसंज्ञा और प्रधानता—जिनमें वायु की प्रधानता रहती है ऐसे दोषों में बस्ति का प्रयोग किया जाता है। बस्तिसंज्ञा वस्तुतः अन्वर्थक है अर्थात् बकरा, मेंढ़ा, भैंसा, गाय, हरिण, वराह आदि की बस्ति ( मूत्राधार चर्मपेशी ) द्वारा दी जाती है इसलिए इसका नाम बस्ति है, अथवा देने पर यह पहले बस्ति में पहुँचती है अतः इसकी बस्ति संज्ञा नितान्त अन्वर्थक है। विकृत वायुके दोषको नाश करने तथा शीघ्र ही बृंहणादि कार्य करने के कारण बस्ति सब चिकित्साओं में प्रधान ही नहीं, किन्तु प्रधानतम चिकित्सा है ।

अनिलो हि दोषाणां नेता स्वतन्त्रः सर्वशरीरचेष्टैककारणम्, पञ्चात्मतया अङ्गप्रत्यङ्गव्यापी[3], विधाता विविधबाह्याध्यात्मिकभावानाम्, सर्गस्थितिप्रलयानां हेतुर्मार्गत्रयजानामपि रोगाणामिति ।

वायु की सर्वत्र प्रधानता—वायु स्वतन्त्र एवं दोषों का नेता है अर्थात् वात, पित्त एवं कफादि दोष-दूष्यों को वायु से ही चालना प्राप्त होती है। कहा भी है कि पित्त, कफ तथा रस-रक्तादि धातु और मल ये सब पङ्गु हैं। वायु जैसे मेघ को चाहे जहां ले जा सकता है, ठीक इसी प्रकार दोषों का यथायथ संचालन कर के अकेला वायु ही नेतृत्व करता है। इसी लिए यहां कहा गया है कि वायु दोषों का नेता है। शारीरिक नानाविध जितनी चेष्टाएं ( उठना, बैठना, बोलना, हँसना, खाना, पीना आदि ) होती हैं उन सबका वायु ही एक-मात्र कारण है। वायु पञ्चात्मतया अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान और व्यानरूप से सारे शरीर के अङ्ग ( सिर आदि ) और प्रत्यङ्ग ( नेत्र, कान, अङ्गुलियें आदि ) में व्याप्त रहता है। वायु वृक्ष आदि बाह्य भावों एवं देहस्थ समस्त आध्यात्मिक भावों का विधाता है। इतना ही नहीं, वायु सर्गस्थिति-प्रलय ( सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय तक ) का हेतु है और इसी प्रकार मार्गत्रय (अन्तर्मार्ग, बहिर्मार्ग तथा मध्यमार्ग ) से उत्पन्न होनेवाले रोगों का कारण भी वायु है ।

सुखत्वादेव च बस्तिर्बालवृद्धकृशस्थूलक्षीणधात्विन्द्रियेषु च स्त्रीषु चानिलोपसर्गादप्रजासु कृच्छ्रप्रजासु चोपदिश्यते । तथाग्निबलवर्णमेधास्वरायुस्सुखप्रदो वयःस्थापनः पङ्गूरुस्तम्भभग्नसंकुचितानिलाध्मानशूलारोचकोदावर्तपरिकर्तिकादिषु हित इति ।

बस्ति देने का मुख्य हेतु और उसका फल—बस्तिचिकित्सा सुखदायिनी है। इसीलिए इसका उपयोग बालक, वृद्ध, कृश, स्थूल, धातुक्षीण, इन्द्रियक्षीण एवं वायु के कोप से जो स्त्रियें अप्रजा ( सन्ततिहीन ) हैं अथवा कृच्छ्रप्रजा अर्थात् बड़े कष्ट से प्रजा की उत्पत्ति करती हैं, इन सब के लिए बस्ति-चिकित्सा का उपदेश किया जाता है। इनके अतिरिक्त बस्तिचिकित्सा जठराग्नि, बल, वर्ण, मेधा ( बुद्धि ), स्वर, आयु और सुख की देनेवाली तथा वयःस्थापन करनेवाली (जल्दी जरावस्था को न आने देनेवाली ) है। इतना ही नहीं, बस्तिचिकित्सा पङ्गु, ऊरुस्तम्भ, भग्न, वायु का अवरोध, आध्मान, शूल, अरोचक, उदावर्त, परिकर्तिका ( विरेचन में व्यापद्विशेष, पेट में कतरने की सी पीड़ा ) आदि रोगों में भी हितकारिणी है।

स तु बस्तिस्त्रिविधः । आस्थापनमनुवासनमुत्तरबस्तिश्च । तत्रास्थापनं दोषदूष्याद्यनुसारेण नानाद्रव्यसंयोगादिनिर्वृत्तम् । तस्य भेदाः, उत्क्लेशनं संशोधनं संशमनं लेखनं बृंहणं वाजीकरणं पिच्छाबस्तिर्माधुतैलिकमित्यादयः । माधुतैलिकस्य पर्याया यापनो युक्तरथो दोषहरः स्निग्धबस्तिरिति[1] । तेषां नामभिरेव स्वरूपमाख्यातम् । तद्वयःस्थापनाद्दोषस्थापनाद्वास्थापनमित्युच्यते ।

बस्ति के तीन प्रकार और उनके भेद—आस्थापन, अनुवासन तथा उत्तरबस्ति भेद से बस्ति के तीन प्रकार हैं।

आस्थापन बस्ति—दोष ( वातादि ) और दूष्य ( रक्तादि ) के अनुसार नाना ओषधियों के संयोग से जो बस्ति दी जाती है उसे आस्थापन बस्ति कहते हैं। उत्क्लेशन, संशोधन, संशमन, लेखन, बृंहण, वाजीकरण, पिच्छाबस्ति और माधुतैलिक इत्यादि ये आस्थापन बस्ति के भेद हैं। इन में से माधुतैलिक के पर्याय यापन, युक्तरथ, दोषहर और स्निग्ध ( सिद्ध ) बस्ति हैं। इनके नामसे ही इनके स्वरूपको कहा गया है। जैसे कि नाना द्रव्यों के संयोगादि कारण से जो दोषों का उत्क्लेशन करती ( जो दोषों को अपने स्थान से च्युत या चलित करती ) है उसे उत्क्लेशन बस्ति कहते हैं। जो

१. बस्तिविधिमध्यायं। २. बस्तिना-अजादिमूत्राधारेण यतो दीयतेऽतो बस्तिरितीन्दुः। अजाविमहिषादीनां बस्तिमित्यष्टाङ्गहृदयम्। आदिशब्देन गोहरिणवराहादयः। बस्तिं मूत्राधारचर्मपेशीमिति हेमाद्रिः। ३. स प्रत्यङ्गाङ्गव्यापी। ४. पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥ इति।

१. सिद्ध ।

बस्ति-सेवन से दोषों का शमन करती है अतः उसे संशमन बस्ति कहा गया है। दोषों को शरीर से बाहर निकाल कर संशोधन करती है अतः उस का नाम संशोधन बस्ति है। जो कफ, मेद आदिको लेखन करती है, अतः वह लेखन बस्ति कहलाती है। जो मनुष्य को बृंहण (पुष्ट) करती है और जो वाजीकरण करती है अतः इनके बृंहण और वाजीकरण बस्ति नाम हैं। पिच्छासदृश स्वरूप होने से पिच्छाबस्ति नाम है। जिस में मधु (शहद) और तेल प्रधान द्रव्य हैं अतः उसे माधुतैलिक बस्ति कहते हैं। इसी प्रकार माधुतैलिक के यापनादि पर्यायों के स्वरूप को भी जानना चाहिए। अथवा वयःस्थापन और दोषस्थापन करनेवाली होनेसे इसे आस्थापन बस्ति कहते हैं।

शरीररोहणाद्दोषनिर्हरणादचिन्त्यवीर्यप्रभावतया चा[1]स्मिन्नूहासंभवान्निरूह[2] इति।

निरूहबस्ति—अपने अचिन्त्य वीर्य एवं प्रभाव से जो शरीर में अपूर्व शक्ति पैदा करती है, दोषों का निर्हरण करके शरीर की वृद्धि करती है, इसके अचिन्त्य वीर्य-प्रभाव के कारण ऊहापोह भी असंभव होता है, इसी लिए इसका निरूह नाम है।

अनुवासनं यथार्हौषधसिद्धः स्नेहनार्थे स्नेहः। स्नेहविधौ स चतुर्धाभिहितः। तस्य भेदो मात्राबस्तिः स पेयस्नेहह्रस्वमात्रातुल्यः सेव्यः सदा च माधुतैलिकवद्बालवृद्धाध्वभारयानव्यायामचिन्तास्त्रीनित्यस्त्रीनृपेश्वरसुकुमारदुर्बलानिलभग्नाल्पाग्निभिर्निष्परिहारतया सुखो बल्यो वर्ण्यः सृष्टमलो दोषघ्नश्च। तथापि तौ नाजीर्णे योज्यौ न च दिवास्वप्नरतयोः सेव्यः[3]। यतश्चासावनुवसन्नपि[4] न दूष्यत्यनुवासरमपि।वा दीयत इत्यनुवासनम्।

अनुवासन बस्ति—जिसमें दोष तथा व्याधि के अनुसार औषधियों से सिद्ध किया हुआ स्नेह दिया जाता है, उसे अनुवासन बस्ति कहते हैं। इसमें जिस स्नेह के द्वारा स्नेहन होता है, वह स्नेह स्नेहविधि में घृतादिभेद से चार प्रकार का बताया हुआ है। इसी का भेद मात्राबस्ति है। इस मात्राबस्ति में पेय स्नेह की ह्रस्व मात्रा के तुल्य स्नेह की मात्रा रहती है और यह माधुतैलिक बस्ति की तरह सदा बालक, वृद्ध, मार्ग के चलने-भार के उठाने-सवारी के करने-व्यायाम के करने से थके हुए, चिन्ताग्रस्त, नित्य स्त्रीसेवी, स्त्री, राजा, ऐश्वर्यवान्, सुकुमार, दुर्बल, वातरोगी, भग्नरोगी और अल्पाग्नि इन सबके रोगों का हरण करता है इस लिए, तथा यह मात्राबस्ति सुखदायक, बलप्रद, वर्ण को सुन्दर बनाकर बढ़ानेवाली, मलों को शरीर से बाहर करनेवाली एवं वातादि दोषों का नाश करनेवाली होने से सेवन करने योग्य है। इस प्रकार गुणवाली है तथापि अनुवासन बस्ति और मात्राबस्ति इन दोनों का सेवन अजीर्ण में तथा दिवास्वप्न (दिन में सोने की अवस्था) में नहीं करना चाहिए। यह अनुवसन्नपि (बासी रहने पर भी) दूषित नहीं होती है और अनुवासर अर्थात् जो प्रतिदिन दी जा सकती है। इसी लिए इसका नाम अनुवासन बस्ति है।

उत्तरबस्तिरपि स्नेहनेऽनुवासनवच्छोधने निरूहवदपि च केचिदाहुः। स निरूहादुत्तरमुत्तरेण वा मार्गेण दीयत इत्युत्तरबस्तिः। तत्रास्थाप्या गुल्मप्लीहानाहशूलशुद्धातीसार[1]जीर्णज्वरप्रतिश्यायाढ्यरोगहृदयकुक्षिपार्श्वग्रहपर्वाभितापपार्श्वयोनिशूलाङ्गसुप्तिशोषकम्पगौरवातिलाघवान्त्रकूजवातविण्मूत्रशुक्रसङ्गाश्मरीशर्करावृद्धिशुक्रार्तवस्तन्यनाशरजःक्षयोन्माददोषक्रिमिणकोष्ठविषमाग्निसशब्दाल्पाल्पोग्रगन्धोत्थानादयो दोषभेदीयोक्ताश्च वातव्याधयः। विशेषेणैते[2] हि परं बस्तिना नाशमुपयान्ति मूलच्छेदेन वृक्षवत्।

उत्तरबस्ति—स्नेहन करने में पूर्वोक्त अनुवासन बस्ति की तरह ही उत्तरबस्ति है और कुछ लोगों का कहना है कि केवल पूर्वोक्त अनुवासन बस्ति की तरह ही नहीं, किन्तु संशोधन में निरूह बस्ति की तरह भी उत्तरबस्ति है। निरूह के उत्तर (पश्चात्) दी जाती है, इस लिए तथा जो उत्तर मार्ग से दी जाती है अतः इसका अन्वर्थक नाम उत्तरबस्ति है।

उत्तरबस्ति में आस्थाप्य रोग—गुल्म, प्लीह, आनाह, शूल, शुद्धातीसार (आमातिसार एवं रक्तातिसार के अतिरिक्त अतीसार[2]), जीर्णज्वर, प्रतिश्याय, आढ्यरोग (ऊरुस्तम्भ), हृदयग्रह-कुक्षिग्रह और पार्श्वग्रह अर्थात् हृदय-कुक्षि-पार्श्व का जकड़ जाना, पर्वस्थान में सन्ताप, पार्श्वशूल, योनिशूल, अङ्गसुप्ति (स्पर्श के ज्ञान का न होना), शोष, कम्प, गौरव (जड़ता) या गौरवातिलाघव (वायु के कारण गौरव में अति लघुत्व प्राप्त होना), अन्त्रकूजन, वातविण्मूत्रशुक्रसङ्ग (अपान वायु का रुकना, मलावरोध, मूत्र का रुकना, वीर्य का अवरोध), अश्मरी (पथरी), शर्करा, अण्डवृद्धि, शुक्रनाश, स्त्रियों के आर्त्तव का नष्ट होना, स्तन्यनाश (स्त्रियों के स्तन्य (दुग्ध) का नाश), रजःक्षय, उन्माद, क्रिमिकोष्ठ, विषमाग्नि, थोड़े थोड़े उग्र गन्धयुक्त वात का उत्थान आदि तथा दोषभेदीय अध्याय में वर्णित वातव्याधियें इन सबका आस्थापन (नियोजन) उत्तरबस्ति में करना चाहिए अर्थात् इन समस्त वातप्रधान व्याधियों के लिए उत्तरबस्ति की योजना करनी चाहिए क्योंकि इन समस्त व्याधियों का नाश बस्ति द्वारा इस प्रकार होता है जैसे कि मूल (जड़) के काट देने से वृक्ष का नाश हो जाता है।

अनास्थाप्यास्त्वतिस्निग्धोत्क्लिष्टदोषक्षतोरस्कातिकृशा निरन्नाः कृतवमनविरेकै[4]नस्यप्रसक्तच्छर्दिनिष्ठीविकाकासश्वासहिध्मा[5]र्शोबद्धछिद्रदकोदराध्मानालसकविसूचिकामातीसारारोचकाल्पाग्निगुदशोफकुष्ठमदमेहार्त्ता

१. दचिन्त्यप्रभावतया २. यस्मिन्नूहा ३. दिवास्वप्नः सेव्यः ४. सोऽन्नमनुवसन्नपि

१. वर्चोमूत्र २. शुद्धश्चासावतीसारस्तथोक्तः शुद्धशब्देनामरक्तयोः प्रतिषेध इतीन्दुः। ३. एतेष्वास्थापनो योज्य इत्यर्थः, इतीन्दुः। ४. विरेचनस्य ५. हिक्का।

गर्भिणी चाप्रवृत्ताष्टममासा। तत्रातिस्निग्धोत्क्लिष्टदोषयोर्दोषानुत्क्लेश्योदरं मूर्च्छां श्वयथुं वा निरूहो जनयेत्। क्षतोरस्कस्यातिकृशस्य च क्षोभव्यापन्नशरीरमाशु पीडयेत्। निरन्नस्य वक्ष्यते। कृतवमनविरेकयोस्तु रिक्तं देहं क्षतं क्षार इव दहेत्। स्नेहबस्तिस्तु सद्योऽग्निमवसाद्य श्लेष्मामयाय स्यात्। कृतनस्यस्यास्य विभ्रंशं विवृतोर्ध्वस्रोतस्तया कुर्यात् अनुवासनं तु दोषोत्क्लेशनम्। प्रसक्तच्छर्द्यादीनां वायुर्निरूहमूर्ध्वं नयेत्। अर्शसस्यावृतमार्गत्वादनागच्छन्बस्तिः प्राणान्हिंस्यात्। स्नेहः पुनरर्शोऽस्यभिष्यन्द्याध्मानाय स्यात्। बद्धोदराद्याध्मातानां भृशतरमाध्मानान्मृत्युः। अलसकार्तादीनां चामदोषात्। अरोचकार्तादीनां यथास्वमामयवृद्धिः। गर्भिण्याः पूर्वोक्तो दोषः।

अनास्थाप्य—जो अतिस्निग्ध (अति स्नेहपान किया हुआ) हो, जिसके दोष उत्क्लिष्ट हों, जो उरःक्षतरोगी हो, जो निराहार न हो, जिसको वमन-विरेचन कराया गया हो, जिसे नस्य दिया गया हो, जिसे वमन होता हो, जिसको थूकनी हो रही हो, जिसको खांसी, श्वास, हिचकी, बवासीर, छिद्रोदर (क्षतोदर), बद्धोदर (बद्धगुदोदर), दकोदर (जलोदर), आध्मान, अलसक, विसूचिका, आमातिसार, अरोचक, अल्पाग्नि, गुदशोथ, कुष्ठ और मधुमेह से पीडित हो, जिसको आठवाँ महीना न लगा हो ऐसी गर्भिणी, इन सबके लिए बस्ति की योजना न करे क्योंकि अतिस्निग्ध तथा जिसके दोष उत्क्लिष्ट हैं, इन दोनों को दिया हुआ निरूह बस्ति दोषों का उत्क्लेशन करके उदर, मूर्च्छा और शोथ (सूजन) को उत्पन्न करेगा। उरःक्षत तथा अतिकृश रोगी को दिया हुआ बस्ति क्षोभ को अर्थात् प्रकोप को प्राप्त होकर शीघ्र ही शरीर के लिये पीडाकारक होगा। निरन्न (खाली पेट) दिया हुआ बस्ति जो दोष करता है वह इसी अध्याय के 'निरूहश्च समीरश्च' आदि श्लोक द्वारा आगे कहेंगे। वमन-विरेचन कराए हुए को बस्ति देने से जैसे क्षत (घाव) को क्षार जलाता है उसी प्रकार वह बस्ति निरन्न के देह को जलावेगा तथा वमन-विरेचनवाले को दिया हुआ स्नेहबस्ति शीघ्र ही अग्निमान्द्य करके कफ रोगों को पैदा करनेवाला होगा। सारांश, जिनको आस्थापन बस्ति दी जाय उन्हींको अनुवासन बस्ति दी जाय जैसे कि आगे कहेंगे। जैसे ऊपर कहा गया है, ठीक उसी प्रकार नस्य कर्म किए हुए व्यक्ति को दिया हुआ आस्थापन बस्ति मुख का विभ्रंश करेगा। इस लिए कि वह ऊर्ध्व स्रोतों में जाता और फैलता है। इसी को दिया हुआ अनुवासन बस्ति दोषों का उत्क्लेशन करेगा। प्रसक्त वमन आदि (वमन, निष्ठीवन, कास, श्वास, हिचकी आदि) में दिया हुआ निरूह और अनुवासन बस्ति को वायु ऊपर की ओर ले जायगा। अर्शोरोग (बवासीर) में दिया हुआ बस्ति अर्शके कारण मार्ग बन्द रहने से बस्ति न लगकर या विपरीत होकर प्राणों को हरण करनेवाला होगा। इतना ही नहीं, वह स्नेह अर्श में अभिष्यन्द पैदा करके आध्मान (पेट फूलना) को करनेवाला होगा। बद्धोदर से आध्मान तक अर्थात् बद्धगुदोदर, क्षतोदर, जलोदर और आध्मान रोगी को दिया हुआ बस्ति अधिकाधिक आध्मान को करके मृत्यु को देनेवाला होगा। अलसक, विसूचिका तथा आमातिसारी को दिया हुआ बस्ति और भी आम की अधिक वृद्धि करने वाला होगा। अरोचक, अल्पाग्नि, गुदशोथ, कुष्ठ तथा मधुमेह के रोगियों को बस्ति देने से वह वह रोग जिनमें बस्तिप्रयोग किया जायगा अधिकाधिक बढ़ेगा। गर्भिणी को दिया हुआ बस्ति पूर्वोक्त (पहले कहे हुए वमन प्रकरण में के) आमगर्भभ्रंश (कच्चे गर्भ का पतन) आदि दोष होंगे। भावार्थ यह कि उपर्युक्त रोगियों को बस्ति का देना हानिकारक है अतः इन्हें बस्ति न दी जाय।

य एवास्थाप्यास्त एवानुवास्याः। रूक्षातिदीप्ताग्नयः केवलानिलार्ताश्च विशेषेण। ते हि परमनुवासनेनाप्यायन्ते मूलसेकेन वृक्षवत्। य एवानास्थाप्यास्त एवाननुवास्याः। तथा निरन्नपाण्डुरोगकामलाप्रमेहप्रतिश्यायप्लीहकफोदराढ्यवातवर्चोभेदार्त्तपीतविषगरपित्तकफाभिष्यन्दगुरुकोष्ठातिस्थूलश्लीपदगलगण्डापचीकृमिणकोष्ठाः। तत्रातिस्निग्धादीनां यथास्वमुक्ताः पृथग्दोषाः।

आस्थापन और अनुवासनमें अभेद—जो पहले गुल्म, प्लीह, आनाह, शूलादि रोग आस्थापनके योग्य कहे गए हैं वे ही अनुवासन के योग्य समझने चाहिए किन्तु इनमें रूक्ष, अतिदीप्ताग्नि एवं केवल वायु से पीडित हैं वे विशेष करके अनुवासन के योग्य हैं। इस लिए कि ये रूक्ष, अतिदीप्ताग्नि एवं वायु से पीडित अनुवासन से भलीभांति ऐसे हृष्टपुष्ट हो जाते हैं, जैसे कि मूल में जल के सींचने से वृक्ष हरा भरा हो जाता है। इसी प्रकार जिनके लिए आस्थापन बस्ति का विधान नहीं है उनके लिए अनुवासन भी नहीं देना चाहिए अर्थात् अतिस्निग्ध, उत्क्लिष्टदोष, उरःक्षतादि जिन रोगों के लिए आस्थापनवर्जित है उनके लिए अनुवासन भी वर्जित है किन्तु विशेष करके निरन्न (खाली पेट), पाण्डुरोग, कामला, प्रमेह, प्रतिश्याय, प्लीह, कफोदर, ऊरुस्तम्भ, वर्चोभेद (जिसका मल फूटा हुआ पतला है), जिसने विष पी लिया है, जिसने विषाक्त कृत्रिम विष पी लिया है, जिसको पित्ताभिष्यन्द या कफ का अभिष्यन्द हुआ है, जिसका कोठा भारी है, जो अतिस्थूल है, जो श्लीपद, गलगण्ड, अपची तथा कृमिकोष्ठ-रोग से पीडित है उसे अनुवासन बस्ति नहीं देना चाहिए। आस्थापन देने से अतिस्निग्धादिको जिन जिन दोषों का होना पहले बताया गया है, प्रत्येक रोग के अनुसार वे ही दोष अनुवासन देने में भी समझ लेने चाहिए।

अपि च—

अभुक्ते रिक्तकोष्ठस्य प्रयुक्तमनुवासनम्।
सरदूरगसूक्ष्मत्वैः क्षिप्रमूर्ध्वं प्रपद्यते॥
तेन वायोर्जयो न स्याद्वातधामन्यतिष्ठता।

१. एते। २. निरन्ननवज्वरपाण्डुरोग। ३. वातस्थाने ह्यतिष्ठता।

कायाग्नेराशु नाशश्च विशेषादनिवर्तिना[1] ॥
स्नेहः सद्योऽशिताहाररुद्धे त्वामाशयेऽनिलम् ।
पक्वस्थं हन्ति पक्वस्थश्च्यवते चान्नपाकतः ॥
निरूहश्च समीरश्च तीक्ष्णवेगावुभावपि ।
तावन्न मूर्च्छितौ तीक्ष्णावधोऽन्नेन सहागतौ ॥
ऊर्ध्वं वा शकृता सार्द्धं संस्थितौ कोष्ठ एव वा ।
समलाहारविष्टब्धौ हरेतामाशु जीवितम् ॥
भुक्त एवानुवास्योऽस्मान्न[2] निरूह्योऽत्र[3] भुक्तवान् ।
पाण्डुरोगार्तादीनां दोषानुत्क्लेश्य स्नेहबस्तिरुदरं जनयेत् । प्रतिश्यायादिवतां भूय एव दोषं वर्धयेत् ।

आस्थापनविधि का अनुवासन में अपवाद—**यद्यपि पहले निरन्न को भी अनास्थाप्य बताया है अर्थात् खाली पेट (निरन्न) को निरूहवस्ति नहीं देने का विधान किया है परन्तु अनुवासन में इसका अपवाद वर्णन करके बताया है कि निरन्न को अनुवासन नहीं देना चाहिए किन्तु निरूहवस्ति देना चाहिए। भावार्थ यह है कि अनुवासन भोजन किए हुए को देना चाहिए और निरूह निरन्न को देना चाहिए। इसका समर्थन आचार्य इस प्रकार करते हैं कि—**

अभुक्त ( निरन्न ) का कोठा ( पेट ) खाली रहने से उसको दिया हुआ अनुवासन ( स्नेह ) अपने सरत्व, दूरगत्व और सूक्ष्मत्व के कारण शीघ्र ऊर्ध्व अर्थात् ऊपर की ओर पूर्वकाय में चला जाता है। उस ऊपर की ओर जानेवाले अनुवासन स्नेह के इस प्रकार पक्वाशय में न पहुंचने या ठहरने से वायु को जीतना नहीं होगा और उस अनुवासन के अर्थात् स्नेह के वहां न पड़ने से विशेषतः शरीर के जठराग्नि का शीघ्र ही नाश होगा। इस लिए भोजन किए हुए को ही अनुवासन देना चाहिए क्यों कि सद्यः किए हुए आहार से आमाशय के अवरुद्ध हो जाने से पक्वाशय में स्थित अनुवासन स्नेह पक्वाशय में रहने वाले वायु का नाश करेगा तथा अन्नपाक होने से वह पक्वाशयस्थ स्नेह चुहने लगेगा और स्नेह के चुहने से अग्नि का नाश न होकर वह प्रदीप्त होगी। इस लिए भी भोजन किए हुए को ही अनुवासन देना चाहिए। विपरीत इसके यदि भोजन किए प्राणी को निरूहवस्ति दिया जायगा तो फल भी विपरीत होगा। इस लिए कि निरूह और वायु इन दोनों के तीक्ष्ण वेगवाले होने से जब तक इनका शमन न होगा तब तक ये दोनों तीक्ष्ण स्वभाववाले निरूह और वायु अन्न के साथ अधोभाग की ओर बड़े तीक्ष्ण वेग से गुदा से बाहर निकलेंगे अथवा बड़े तीक्ष्ण वेग से पुरीष ( विष्ठा ) के साथ ऊपर की ओर आते हुए मुख से बाहर निकलेंगे अथवा मल और आहार के साथ कोष्ठ में रहते हुए विष्टब्धता (पेट फूलना) को प्राप्त हुए शीघ्र ही प्राणों का हरण करेंगे अर्थात् मनुष्य को मार डालने में विलम्ब नहीं करेंगे। इसलिये भोजन किये हुए प्राणी को ही अनुवासन देना चाहिए अपि तु भोजन किए हुए को निरूह नहीं देना चाहिए।

पाण्डुरोगार्तादि ( पाण्डु रोग, कामला और प्रमेहरोगी ) को भी अनुवासन नहीं देना चाहिए क्यों कि इनको दिया हुआ अनुवासन दोषों का उत्क्लेशन करके उदर रोग को उत्पन्न करेगा और प्रतिश्यायादि ( प्रतिश्याय, प्लीह, कफोदर, ऊरुस्तम्भ, वर्चोभेद, विष, गर, पित्ताभिष्यन्द, कफाभिष्यन्द, गुरुकोष्ठ, अतिस्थूल, श्लीपद, गलगण्ड, अपची तथा क्रिमिकोष्ठार्त[1] ) को दिया हुआ अनुवासन बस्ति पुनरपि दोषों की अधिक वृद्धि करेगा।

तयोस्तु नेत्रं सुवर्णादिधातुमणिशङ्खश्रृङ्गदन्तास्थिवेणुनलखदिरकदरतिनिशतिन्दुकादिदारुसारमयमृजुश्लक्ष्णं गोपुच्छाकृति गुटिकामुखमूनवर्षवार्षिकसप्तद्वादशषोडशवर्षाणां विंशतिप्रभृतिषु च क्रमात्पञ्चषट्सप्ताष्टनवद्वादशाङ्गुलप्रमाणं, मूलेऽग्रे चाङ्गुष्ठकनिष्ठिकापरिणाहमर्द्धाङ्गुलात्प्रभृत्यर्द्धार्द्धाङ्गुलप्रवृद्धं[2] त्र्यङ्गुलपर्यन्तप्रवेशमूलच्छिद्रं, वनमुद्गमाषकलायक्लिन्नकलायकर्कन्धु[3] वा[4] ह्यग्रच्छिद्रं, मूलच्छिद्रप्रमाणमङ्गुलैरग्रे[5] यथास्वं सन्निविष्टकर्णिकं, कर्णिकान्तःप्रतिबद्धसूत्रान्तर्गृहीताग्रपिधानघनचैलवर्तिं, मूले व्यङ्गुलान्तराले कर्णिकाद्वयं कारयेत् । वर्षान्तरेषु च वयोबलशरीराण्यवेद्य नेत्रप्रमाणमुत्कर्षयेत् ।

वस्तियन्त्रनिर्माणविधि—**उपर्युक्त निरूह एवं अनुवासन वस्ति इन दोनों के लिए यन्त्र का नेत्र अर्थात् नली स्वर्णादि ( सुवर्ण, रजत, पीतल, लोह, कांसा, शीशा, कथीर इनमें से किसी भी ) धातु की या मणि, शंख, सींग, दांत-अस्थि ( हस्तिदन्तादि ), बांस, नल ( नरसल ), खैर, कदर, तिनिश, तिन्दुक आदि ( शीशम आदि किसी ) वृक्ष के दारुसारमय ( पक्के काष्ठ ) की बनी हुई, सरल, चिकनी, गाय की पूँछ के आकारवाली तथा जिसका प्रवेशमुख गुटिका के आकारवाला गोल और चिकना हो जो कि गुद-द्वार में न चुभ सकें ऐसी बनी हुई होनी चाहिए तथा इसकी लम्बाई ऊनवर्ष, वर्ष, सप्त, द्वादश, षोडश तथा विंशति वर्ष अवस्था के प्रमाण से क्रम से पांच, छः, सात, आठ, नव और बारह अङ्गुल की चाहिए अर्थात् एक साल के भीतर की अवस्थावाले के लिए पांच अङ्गुल लम्बी और एक वर्ष की अवस्थावाले के लिए छः अङ्गुल, सात वर्ष तक की अवस्थावाले के लिए सात अङ्गुल, आठ से बारह वर्ष की अवस्था तक के लिए आठ अङ्गुल, तेरह से सोलह वर्ष तक वयवाले के लिए नव अङ्गुल तथा सतरह से बीस वर्ष तक की अवस्थावाले के लिए बारह अङ्गुल लम्बी नली होनी चाहिए। इस नली के मूल एवं अग्रभाग ( निचले तथा ऊपर वाले भाग ) की मोटाई रोगी के अङ्गुष्ठ तथा कनिष्ठिका अङ्गुली के बराबर क्रम से होनी चाहिए। आधे अङ्गुल से लेकर आधा आधा अङ्गुल बढ़ा कर तीन अङ्गुल तक अवस्थानुसार वस्ति के प्रवेश-मूल-छिद्र को बनाना चाहिए अर्थात् एक वर्ष के भीतर की अवस्थावाले के लिए प्रवेश-मूल-छिद्र का प्रमाण आधा अङ्गुल, एक वर्षवाले**

१. वर्तनात् २. भुक्तवाननुवास्योऽस्मान्न । ३. निरूह्यस्तु ।

१. एकेनादिशब्देन प्रमेहान्तानां ग्रहणम् । अन्येन क्रिमिकोष्ठान्तानामितीन्दुः । २. अर्द्धाङ्गुलप्रवृद्धत्र्यङ्गुल । ३. वनमुद्गमुद्गमाष । ४. कलायं कर्कन्धु वा । ५. प्रमाणाङ्गुलैरग्रे ।

के लिए एक अङ्गुल, सात वर्षवाले के लिये डेढ़ अङ्गुल, बारह वर्ष के लिए दो अङ्गुल, सोलह साल की अवस्था के लिए ढाई अङ्गुल और बीस वर्ष की आयु वाले के लिए तीन अङ्गुल प्रमाण प्रवेश-मूल-छिद्र का चाहिए। यह सब प्रमाण रोगी के अङ्गुल मान से ही जानना चाहिए। गोपुच्छाकार कहने से इस नली का अग्रभाग कनिष्ठिका अङ्गुली के समान मोटा बताया गया है। इस अग्रभाग के आगे गुदा में सुख से प्रविष्ट हो सके ऐसा गुटिका के समान गोल और चिकना मुख बनाना चाहिए। इसके बीच में तैल-क्वाथादि औषध प्रविष्ट करने के लिए वनमुद्ग (मोठ), मूँग, उड़द, मटर, भिगाए हुए फूले मटर या जंगली छोटे बेर के समान छिद्र बनाना चाहिए। यह छिद्र पूर्वोक्त वय के अनुसार क्रम से बनाना चाहिए जैसा कि एक वर्ष के भीतर की अवस्थावाले बालक के लिए वनमुद्ग (मोठ) के समान, एक वर्ष की अवस्थावालों के लिए मूंग के समान, सात वर्ष की अवस्थावालों के लिए उड़द के समान, बारह वर्ष की अवस्था में मटर के समान, सोलह वर्ष की अवस्था में भिगोने पर फूले हुए मटर के समान और बीस वर्ष की अवस्था में छोटे जंगली बेर के समान छिद्र बनाना चाहिए। इस कही हुई अवस्था के अनुसार रोगी के तीन अङ्गुल (सुश्रुत के मतानुसार साढ़े तीन अङ्गुल[1]) अन्तर से प्रवेश-छिद्र के पहले सचिक्कण किनारेवाली कर्णिका बनानी चाहिए। यह कर्णिका इसलिए है कि कर्णिका के आगे की तीन-साढ़े तीन अङ्गुल नली ही गुद द्वार में जा सके, इससे अधिक न जा सके। इस कर्णिका के अन्त में वस्ति की नली से, नली का अग्रभाग चर्म, रबर आदि की बनी हुई वस्ति के भीतर प्रविष्ट करके इस सन्धि को जाड़े कपड़े से ढककर खूब कसकर सूत से बाँध देवे। मूल से दो अङ्गुल के अन्तर पर और दो कर्णिका बनावे। रोगी की अवस्था जितने वर्ष की हो उसके अनुसार वय, बल, शरीरादि का भलीभाँति निरीक्षण करके वस्तिनेत्र (वस्ति की नली) के प्रमाण को बढ़ावे।

विशेष वक्तव्य—यहाँ यन्त्र का नाम जो 'वस्तिनेत्र' कहा है, वह सार्थक है अर्थात् जो स्नेह-कल्कादि को अपान के प्रति या अपान में ले जाता है उसे नेत्र (नेता) कहते हैं। प्रवेशमूल-छिद्र अर्थात् गुदा में जानेवाली नली का प्रमाण यद्यपि यहां तीन अङ्गुल कहा है परन्तु रोगी के अङ्गुलों से वह साढ़े तीन अङ्गुल ही अधिक उचित प्रतीत होता है क्योंकि गुदान्तर्गत तीन वलियों का प्रमाण भी साढ़े तीन अङ्गुल का ही है।

ततोऽजाविवराहहरिणगोमहिषान्यतमजं स्नेहमुद्[3]विमृदितं विगतच्छिद्रशिराग्रन्थिस्कन्धं नातिवर्तुलं मृदु दृढं कषायरक्तं सुखसंस्थाप्यौषधप्रमाणं न्युब्जं विवृताननं विवेश्य बस्तिं कर्णिकयोर्दृढेन सूत्रेण घनं समं च बद्ध्वा परिवर्त्य पुनश्चान्यद्बस्तिमुखबन्धनार्थं सूत्रमुपधायानुगुप्तं निधापयेत्।

इसके अनन्तर अर्थात् स्वर्णादि धातुओं में से किसी धातु की या सचिक्कण काष्ठ आदि की वस्तिनलिका बन जाने पर बकरी, भेड़, शूकर, हरिण, गाय तथा भैंस इनमें से किसी एक की मूत्राधार चर्ममय वस्ति जो कि बारम्बार तेल और मूंगों से मल कर चिकनी की हुई हो, जिसमें कहीं छिद्र न हो, जिसमें सिरा, ग्रन्थि और स्कन्ध न हो, जो अतिगोल न हो, जो नरम, दृढ़ और हरीतकी-कषाय द्वारा धोने पर रक्तवर्ण हो गई हो, जिसमें औषधमात्रा सुख से समा सके, उसको नली के मूल में न्युब्ज (औंधी) इस प्रकार प्रवेश करे कि उसका चौड़ा मुँह ऊपर को खुला रहे और तङ्ग मुँह नली से बँध सके। प्रविष्ट करके उसे कर्णिकाओं में सम (ऊँचीनीची न हो इस प्रकार) खूब मजबूत बाँधकर, पुनः सीधी करके वस्ति के मुख को बांधने के लिए अन्य जगह पर सूत को बांधकर फिर सुरक्षित जगह में रक्खे।

बस्त्यभावे प्लवनीजगलाङ्कपादमसूच्छिद्रोपदिग्धघनसूक्ष्मतान्तवान्यतमं निवेशयेत्।

वस्ति के अभाव में—यदि उपर्युक्त बकरी, भेड़, शूकर आदि की वस्ति (मूत्राधारचर्मपेशी) न मिले तो प्लवनी (जलचर पक्षी विशेष[2]), छाग (बकरा), अङ्कपाद (विपाटित मेषकृत्तिपाद[3]) के सूक्ष्म चर्म की बनावे या मोमजामा कपड़े की बनाकर वस्तिनेत्र के साथ नियोजित कर दृढ़ बांधे। इस गद्य में इन्दु तथा अरुणदत्त की व्याख्या कुछ सन्दिग्ध प्रतीत होती है। सुश्रुत तथा हेमाद्रिकृत व्याख्यानुसार भावार्थ यह है कि वस्ति के अभाव में प्लवनी नामक जलचर के चर्म, बकरे के चर्म, भेड़ के चर्म या पादचर्म, सूत्र के बने सूक्ष्म वस्त्र का मोमजामा बना कर इनमें से किसी एक से वस्ति की योजना करे।

आस्थापनमात्रा तु प्रथमे वर्षे प्रकुञ्चः। ततः परं प्रतिवर्षं प्रकुञ्चमभिवर्धयेदाषट्प्रसृतास्ततश्चोर्ध्वं प्रसृताभिवृद्धिः। प्राप्तानतीताष्टादश सप्ततेस्तु द्वादशप्रसृताः परं चातो दशैव। अन्ये पुनर्द्वादशप्रसृतस्याप्यष्टाविच्छन्ति। यथास्वमास्थापनमात्रा पादहीनाम घृततैलिके प्रयोज्या। अनुवासने त्वेवमेवास्थापनस्य पाद इति।

आस्थापन आदि वस्ति की मात्रा—आस्थापन (निरूह) वस्ति की कषायस्नेहसहित मात्रा प्रथम वर्ष में एक प्रकुञ्च (पल) की और इसके अनन्तर प्रतिवर्ष एक एक पल मात्रा बढ़ावे जब तक छः प्रसृत अर्थात् बारह पल हो जावे। सारांश यह है कि प्रथम वर्ष एक पल, द्वितीय वर्ष दो पल तथा तृतीय वर्ष में तीन पल, इस प्रकार बारहवें वर्ष तक एक एक पल की वृद्धि मात्रा में करे। इस प्रकार बारहवें वर्ष में प्रसृत या बारह पल की मात्रा निरूहवस्ति में होगी। इसके ऊपर अर्थात् तेरहवें वर्ष से लेकर अट्ठारहवें वर्ष तक एक एक प्रसृति (दो दो पल) मात्रा बढ़ावे। इस प्रकार १८वें वर्ष में निरूह मात्रा १२ प्रसृति या २४ पल के बराबर होगी। इस अट्ठारहवें

१. अर्धतृतीयाङ्गुलसन्निविष्टकर्णिकानीति। २. 'नीयते प्राप्यते स्नेहकल्काद्यपानमिति नेत्रम्' इत्यरुणः। ३. मुहुः स्नेहविमर्दितमिति सुश्रुतसंमतपाठः।

१. च्छागलाङ्क। २. प्लवनी जलचरो विहङ्गविशेषः। ३. अङ्कपादो विपाटितमेषकृत्तिपाद इतीन्दुः। अङ्कपादश्चरणावयवविशेष इत्यरुणः। अङ्कपादः—ऊरुचर्म पादचर्म वेति हेमाद्रिः।

वर्ष से लेकर सत्तर ( ७० ) वर्ष की अवस्था तक मात्रा का प्रमाण बारह प्रसृत किंवा २४ पल समझना चाहिए और सत्तर वर्ष के आगे मात्रा का प्रमाण दस प्रसृति अर्थात् २० पल ही समझना चाहिए। कई आचार्य १२ प्रसृति की जगह ८ प्रसृति ही मात्रा का प्रमाण मानते हैं। सारांश, वे २४ पल की जगह १६ पल की मात्रा ही मानते हैं।

भिन्न भिन्न अवस्था के अनुसार आस्थापन या निरूहमात्रा का प्रमाण जितना बताया गया है उससे चौथाई कम मात्रा माधुतैलिक बस्ति में देनी चाहिए। उदाहरणार्थ आस्थापन बस्ति की मात्रा चार पल हो तो माधुतैलिक में वही पादहीन ( चतुर्थांशहीन ) अर्थात् तीन पल देनी चाहिए। इसी प्रकार आस्थापन मात्रा १० पल हो तो माधुतैलिक मात्रा ७॥ पल देनी चाहिए।

इसी प्रकार जिस अवस्था में आस्थापनमात्रा का प्रमाण जितना हो उससे चौथाई प्रमाण अनुवासन में स्नेहमात्रा का चाहिए। उदाहरणार्थ आस्थापनमात्रा का प्रमाण ४ पल हो तो अनुवासन में एक पल और आस्थापनमात्रा एक पल की हो तो अनुवासन में स्नेहमात्रा एक कर्ष की देनी चाहिए। इस प्रकार सर्वत्र विचार करके आस्थापन, माधुतैलिक एवं अनुवासन बस्ति में मात्रा की योजना करनी चाहिए।

अथास्थापनीयमातुरं स्नेहस्वेदोपपन्नं कृतवमन-विरेकमासेवितपेयादिसंसर्गक्रममुपजातबलमनुवासनार्हं पूर्वमेवानुवासयेत्। शीतवसन्तयोर्दिवा अन्यथा रात्रावपेक्ष्य वा दोषादीन्। अन्यथा हि स्नेहोक्तामयप्रादुर्भावः। धान्वन्तरीयाः पुनराहुः।—

न रात्रौ प्रणयेद्बस्तिं स्नेहोत्क्लेशो हि रात्रिजः।
स्नेहवीर्ययुतः कुर्यादाध्मानं गौरवं ज्वरम् ॥
अह्नि स्थापनस्थिते दोषे वह्नौ चान्नरसान्विते।
स्फुटस्रोतोमुखं देहं स्नेहो यत्परिसर्पति ॥
अल्पपित्तकफं रूक्षं भृशं वातरुजार्दितम्।
भुक्तं जीर्णाशनं कामं रात्रावप्यनुवासयेत् ॥

आस्थापन की विधि— जिसको स्नेहन-स्वेदन कराया गया हो, जिसको वमन-विरेचन दे दिया गया हो और फिर जिसने पेयादिसंसर्गक्रम का सेवन कर लिया हो और जिसमें बल की प्राप्ति हो गई हो, जिसके लिए अनुवासन की आवश्यकता हो तो उसे पहले अनुवासन देवे। यहां 'अनुवासन की आवश्यकता हो तो अनुवासन दे' इसका भाव यह है कि दोष और व्याधि की अपेक्षा यदि बिना अनुवासन के भी आस्थापन करना चाहें तो कर सकते हैं। आस्थापन या निरूह-वस्ति देना हो तो पहले अनुवासन दे और शीत तथा वसन्त ऋतु हो तो दिन में और अन्य ऋतुओं में रात्रि में अनुवासन दे अथवा दोष, दूष्य, और व्याधि के अनुसार दिन में या रात्रि में अनुवासन दें। अन्यथा अर्थात् शीत-वसन्त में रात्रि में तथा ग्रीष्म आदि अन्य ऋतुओं में दिन में अनुवासन देने से स्नेहपानविधि में जिन व्याधियों का होना बताया गया है, उन्हीं व्याधियों के उत्पन्न होने का सम्भव होगा।

वस्तिकर्म में धान्वन्तर संप्रदायका मत—धान्वन्तरियों का कहना है कि किसी भी प्रकार की बस्ति रात में नहीं देनी चाहिए, अपि तु दिन में ही देनी चाहिए। रात्रि में वस्तिकर्म करने से स्नेह या दोषों का उत्क्लेशन होकर तथा रात्रि में स्नेह बलवान् होकर आध्मान, जड़ता और ज्वर को करता है। किन्तु दिन में सब दोष अपने स्थान में रहने से, अग्नि के अन्नरस से युक्त रहने से तथा स्रोतों के मुख खुले रहने से स्नेह का बल सर्वत्र गमन करता है अर्थात् श्रेष्ठ फलदायक होता है।

जिस का पित्त और कफ अल्प अर्थात् क्षीण हो, जो रूक्ष हो और जो वायु से अत्यन्त पीडित हो तथा जिसका भोजन किया हुआ पच गया हो तो ऐसी अवस्था में रात्रि में भी अनुवासन ( बस्तिकर्म ) यथेच्छ कर लेना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—उपर्युक्त क्षीण पित्त और कफ की अवस्था में रात्रि में बस्तिकर्म करने का मत धान्वन्तर संप्रदाय का कहा है परन्तु वर्तमान में उपलब्ध सुश्रुतसंहिता में पित्त के आधिक्य तथा कफ के क्षीण होने से रूक्ष एवं वायु से पीडित को बस्तिकर्म उष्ण काल में रात्रि में करना लिखा है। अन्तर इतना ही है कि सुश्रुत में पित्त को अल्प न लिखकर अधिक लिखा है और साथ में उष्ण काल का भी निर्देश किया है। शेष बातें वे ही हैं जो यहां लिखी हैं।

केवलानिलनिपीडितं त्वशुद्धमप्यनिरूपितवेलं चाप्यनुवासयेदात्ययिकत्वाद्व्याधेः। तस्य विधिर्वमनादधिकतरं कृतमङ्गलमनुसुखमभ्यक्तमुष्णाम्बुस्नातं युक्तस्नेहमुचितात्पादहीनं द्रवपूर्वं लघूष्णं सानुपानमशनमशितवन्तं कृतचङ्क्रमणमुत्सृष्टविण्मूत्रमशनार्द्रहस्तमशङ्कनीयपरिचारं निवाते वेश्मनि प्रतते शयने नात्युच्छ्रिते स्वास्तृत ईषदुन्नमितपाददेशे वामपार्श्वेन प्राक्शिरसं संवेशयेत्। अतिस्निग्धाशिनो ह्युभयमार्गसंसर्गात्स्नेहो मदमूर्च्छाग्निसादहृल्लासान् जनयति। रूक्षाशिनो विष्टम्भं बलवर्णहानिं वा। अल्पमात्रद्रवाशिनो विसृष्टविण्मूत्रस्य चान्नावृतेन तदावरणाद्व्यापदम्। चिरमशितवतो विदाहाभिमुखभक्तस्य ज्वरं कुर्यात्। यतश्च वामपार्श्वाश्रयाणि वह्निग्रहणीगुदवलीमुखानि तानि तत्पार्श्वशायिनो निम्नानि भवन्ति। अतस्तथौषधमस्खलितमाप्नोति प्रवेशनिर्गमाविति। संविष्टं चैनमृजुस्थितदेहं स्वबाहूपधानं प्रसारितवामसक्थिमाकुञ्चितेतरं तस्यैव चोपरि प्रसारितदक्षिणबाहुं कारयेत्। पूर्वमेव तु वैद्यो वर्त्यां सुपिहिताग्रच्छिद्रं नेत्रं भाजनस्योपरि कृत्वा

१. धन्वन्तरीयाः। २. दोषोत्क्लेशो, इत्यपि पाठः।
३. अनुवासनार्हमित्यनेनैतद्दर्शयति। दोषव्याध्यपेक्षया कदाचिदकृतानुवासन एवास्थाप्य इतीन्दुः।

१. पित्तेऽधिके कफे क्षीणे रूक्षे वातरुगर्दिते। नरे रात्रौ च दातव्यं काले चोष्णेऽनुवासनम् ॥ इति। २. निरूपितबलं। ३. त्ययिकत्वा। ४. परिचारकं। ५. दुन्नतपाद। ६. तदावृताद्व्यापदम्।

दक्षिणपादाङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां कर्णिकाया उपरिष्टान्निष्पीड्या-विबन्धाय शताह्वासैन्धवचूर्णावचूर्णितं प्रागेव नेत्रस्पर्शात्पूर्ववदभिमन्त्रितं यथार्हं यथार्हौषधविपक्वं सुखोष्णं बस्तौ स्नेहमासिच्यावलीकोच्छ्रासं निस्सारितवातबुद्बुदमौषधान्ते सूत्रेण द्विस्त्रिर्वा बस्तिमुखमावेष्ट्य दक्षिणपाणौ नेत्रमुपनिधाय तिष्ठेत् । ततो घृताभ्यक्ते पायौ वामहस्तप्रदेशिन्याऽभ्यक्तप्रवेशप्रदेशमपनीतवर्त्त्युत्तानवामहस्ताङ्गुष्ठोदरपिहिताग्रं मध्यमाप्रदेशिन्युपगृहीतकर्णिकमृज्वनुपृष्ठवंशमनुसुखमेकमना लाघवेन निष्कम्पमद्रुतमविलम्बितं नेत्रमाकर्णिकं प्रवेशयेत् । आतुरोऽपि तदनुलोमसंवलम्बेत[1] । ततश्च वैद्यो बस्तिमुखं दक्षिणहस्ताङ्गुष्ठप्रदेशिनीभ्याममुञ्चन्नेत्रमचालयन् हस्तद्वयेनोत्तानेनैकग्रहणेनैवानिलाधिष्ठानभूतं किञ्चिदवशेषयन् शनैः[2]रवेगमनुपीडयेत् । अन्यथा हि व्यापदो भवन्ति । ताः ससाधनाः सिद्धिषु वक्ष्यन्ते ।

केवल वात में बस्तिविधि—जो केवल वात से पीडित हो और व्याधि की प्रबलता हो तो उस रोगी को समय की अपेक्षा न करते हुए, अशोधित को ही अनुवासन ( बस्ति ) दे देना चाहिए । इसका विधि वमनविधि से भी अधिकतर करके मङ्गलोच्चारपूर्वक उसे प्रथम स्नेह से अभ्यक्त होकर फिर उष्ण जल से स्नान करना चाहिए । फिर प्रतिदिन के उचित ( नियमित ) भोजन से पादहीन ( चौथाई कम ) ऐसा भोजन करना चाहिए कि जो स्नेह ( घृतादि ) से युक्त, जिस के प्रथम द्रव पदार्थ सेवन किया हो, जो लघु ( हलका ) और उष्ण हो, अनुपान-सहित अर्थात् जिसके पश्चात् अनुपान ( जल आदि ) का सेवन किया गया हो । भोजन के बाद कुछ टहल कर मल-मूत्र का त्याग कर के तुरन्त भोजन के गीले हाथ जिस के न सूखे हों, उस निश्शङ्क परिवार या सेवकवाले रोगी को निर्वात स्थान के घर में ऐसे शयन ( खटिया या आसन ) पर पूर्व की ओर सिर करके बायें पसवाड़े के बल सुलावे कि जिस पर अच्छा बिस्तर बिछा हुआ हो, जो अधिक ऊंचा न हो और जो पगों की तरफ कुछ नीचा हो । ध्यान रहे कि अतिस्निग्धभोजी, रूक्षभोजी, अल्पद्रवभोजी, तथा चिरकाल के भोजन किए हुए को अनुवासन या बस्ति न दे क्यों कि अतिस्निग्धभोजी को दिया हुआ बस्तिस्नेह मुख और गुदा इन दोनों मार्गों का संसर्ग होने के कारण मदात्यय, मूर्च्छा, अग्निमान्द्य और हृल्लास ( उबकाई ) को पैदा करता है । रूक्षभोजी को दिया हुआ स्नेह विष्टम्भ ( मलावरोध-अफारा ) करके बल और वर्ण की हानि करता है । अल्पद्रवभोजी को दिया हुआ स्नेह मल-मूत्र-विसर्जन हो जाने से अन्नावृत होकर उस के आवरण से व्याधि का सम्भव होता है । चिरकाल अर्थात् बहुत विलम्ब से भोजन करनेवाले के विदाहाभिमुख अन्न के होने से ज्वर की उत्पत्ति होगी । इस लिए उक्त दोषों से बचता हुआ रोगी को बांएं पसवाड़े से सुलावे क्यों कि वामपार्श्व के आश्रय में रहनेवाले अग्नि, ग्रहणी तथा गुदा की वलियों के मुख उस पसवाड़े से सोनेवाले के निम्न ( नीचे की ओर ) हो जाते हैं अतः वह औषध अस्खलित ( इधर-उधर स्खलित न होकर ) प्रवेश और निर्गम को प्राप्त होता है अर्थात् सीधा प्रवेश करता और निकलता है । अग्नि, ग्रहणी आदि उसका विरोध नहीं करते । अग्नि निराकार ( अमूर्त ) रहता हुआ भी नीचे की ओर न रहने से प्रतिघात करता ही है ।

उपर्युक्त प्रकारसे जो सीधे शरीर से सोया हुआ है, अपने वांयें बाहुको मोड़ कर उसीको तकिया बनाया है जिसने, वामसक्थि ( जानु के उपरि भाग ) को जिसने फैला दिया है और दाहिने सक्थि भाग को सङ्कुचित कर अर्थात् सुकड़ कर उसी पर अपने दाहिने हाथ को जिसने प्रसारित कर रक्खा है ऐसे रोगी को मलावरोध न हो इस लिए पहले ही से सौंफ और सैन्धव नमक के बनाए चूर्ण सह, यथायोग्य ओषधियों के साथ विपक्व स्नेह को पूर्ववत् अभिमन्त्रित करके जो कि सुखोष्ण ( कुनकुना ) और रोगी के व्याधि के अनुकूल बनाया गया हो उस ( स्नेह ) को बस्ति में भर कर, बस्ति के अवलीगत वायु को दूर कर, औषध के अन्तिम भाग को दो तीन आंटे देकर सूत से दृढ़ बांध दे । वैद्य को चाहिए कि वह पहले ही से बस्तिनलिका के अग्रछिद्र को बत्ती से बन्द कर उसे बर्तन पर रख कर दाहिने पग के अंगूठा और अङ्गुली से कर्णिका के ऊपर के भाग को दबा कर दाहिने हाथ में बस्तिनेत्र को लेकर बैठे और फिर घृत से चुपड़ी हुई गुदा में, बांएं हाथ की प्रदेशिनी ( तर्जनी अंगुली ) से प्रवेश करने वाले बस्तिनलिका के अग्र भाग को चुपड़ कर उसके छिद्र में दी हुई बत्ती को निकाल कर बामहस्त के अंगूठे से बन्दकर, उसकी कर्णिका को मध्यमा तथा तर्जनी से पकड़, रोगी को कष्ट न हो इस लिए हाथ को न कँपाता हुआ, न अति जल्दी एवं न अति विलम्ब करके सीधी पृष्ठवंश की ओर लक्ष्य करके एकाग्र मनसे हलके हाथ से बस्तिनलिका के कर्णिका तक के भाग को एक ही बार गुदा में प्रविष्ट करे । रोगी को भी चाहिए हि वह स्नेह सीधा पहुंच जाय, इधर-उधर स्खलित न हो इस लिए उसी प्रकार लेटे जैसे कि शास्त्र में वर्णित है । इसके बाद वैद्य को चाहिए कि वह बस्ति के मुख को दाहिने हाथ के अंगूठे और तर्जनी से न छोड़ता हुआ अर्थात् दृढ़ पकड़ कर बस्तिनलिका को इधर उधर न हिलाता हुआ दोनों हाथों से धीरे से दबाता हुआ एक ही बार गुदा में छोड़े । ध्यान रहे कि इस प्रकार एक बार में छोड़ने से जितना स्नेह प्रविष्ट हो उतना जाने दे परन्तु जो थोड़ा सा शेष स्नेह रहे उसको वायु के अधिष्ठानभूत शेष स्थान में अवशिष्ट रहने दे । भावार्थ यह है कि बस्तिनेत्र को एक से अधिक बार दबाकर वायु को भीतर घुसने का मौका न दे, अपि तु वायु के अधिष्ठानभूत शेष स्थान में एक बार दबाने से अवशिष्ट रहे स्नेह से वायु को शान्त कर दे । अन्यथा बारंबार बस्तिमुख के दबाने की या अन्य भूल से अनेक व्यापत्तियें होती हैं जिनका कि उपचार आगे सिद्धिस्थान में कहा जायगा ।

अन्ये तु त्रिंशन्मात्राः पीडनकालमाहुः । न च बस्तौ दीयमाने क्षवकासहासजृम्भास्पन्दनान्याचरेत् । विण्मूत्रानिलवेगे तु नेत्रमाकृष्य वेगान्ते शेषं प्रणयेत् ।

---

१. लोमयन्नवलम्बेत । २. शनैश्शनैरवेग ।

अन्ते चोत्तानस्य स्फिजौ पाणितलेन त्रिचतुरो वारास्ताडयेत्। तथा तत्पार्ष्णिभ्यां पादतश्च शय्यां त्रिरुत्क्षिपेत्। सोपधानस्य च प्रसारितसर्वाङ्गस्य पार्ष्णिके मुष्टिना हन्यात्। तथा पाष्ण्यङ्गुलिपादतलपिण्डिकाः सरुजं चाङ्गं स्नेहेन प्रतिलोमं वाक्शतमात्रं शनैर्विमृद्नीयात्। एवमाशु स्नेहो न निवर्तते। समनुगच्छति चासमन्तात्सिराः। ततः परन्तु स्नेहोक्तमाचारमनुवर्तते।

बस्ति देने पर कर्त्तव्य—कई आचार्य बस्तिपीडनकाल तीस मात्रा ( बस्तिमात्रा ) का कहते हैं। बस्ति के देने पर छींकना, खांसना, हँसना, जम्भाई लेना और हिलना नहीं चाहिए। बस्ति प्रवेश करने पर यदि पुरीष, सूत्र और अपान वायु की प्रवृत्ति हो जाय तो इनके वेग के अन्त में फिर बस्ति-नलिका को प्रविष्ट कर शेष स्नेह को भीतर छोड़ना चाहिए। अन्त में चित्त लेटे हुए रोगी को दोनों फींचों ( चूतडों ) पर हाथों की हथेलियों से तीन चार बार ताडन करे। पगों की एडियों तथा पगों को तीन बार शय्या से ऊपर उठावे। तकिया लगाए तथा शरीर को पसारे हुए उस रोगी की दोनों एडियों को मुष्टि ( मुक्की ) से ताडन करे तथा एडी, अंगुलि, पगथली, पिण्डियों तथा पीडासहित शरीर में सीधी ओर सौ शब्द उच्चारण करने तक धीरे धीरे तेल से मालिश करे। इस प्रकार करने से स्नेह जल्दी बाहर नहीं निकलता किन्तु समस्त सिराओं की ओर चला जाता है। इसके अनन्तर स्नेहविधि में कहे हुए आचार का पालन करे।

दीप्ताग्निं च सायं लघ्वन्नं भोजयेत्। नैव चानागतस्नेहमपि द्वितीयेऽहनि। न च तमनुवासयेत्। आगमनकालस्तु परो यामत्रयं ततः परमनागच्छन्तमहोरात्रमुपेक्षेत। तदाप्यनिवर्तमाने फलवर्तिभिर्लवणारनालप्रायैर्वा तीक्ष्णबस्तिभिः शोधयेत्। स्नेहव्यापत्सिद्धिं चेक्षेत। अतिरौक्ष्यादनागच्छन्न चेज्जाड्याद्युपद्रवाय स्यात्। ततस्तथाऽप्युपेक्षेत। शीघ्रनिवृत्ते तु विना मलेन केवले स्नेहे स्नेहमन्यं पुनर्योजयेत्। न ह्यसावतिष्ठन् कार्यं करोति। सुखोषितं चैनं तथा कृतवमनविरेकास्थापनान्यतमं प्रातः शुण्ठीधान्यकाथमिश्रं स्वोष्णोदकं वा स्नेहशेषजरणाय वातकफोपशान्तये च पाययेत्।

बस्ति के अन्त में आचारविधि—बस्ति का प्रयोग करने के अनन्तर अर्थात् स्नेह के वापिस आकर सर्वथा निवृत्त हो जाने पर यदि अग्नि प्रदीप्त हो तो रोगी को सायंकाल में लघु ( मात्रा और गुण इन दोनों प्रकारों से हलके ) अन्न का भोजन करावे। जिसका बस्ति द्वारा प्रयुक्त स्नेह पुनः बाहर न आया हो तो उसे सायंकाल में लघु भोजन न करावे किन्तु दूसरे दिन भी जब तक स्नेह की निवृत्ति न हो भोजन न करावे। स्नेह की निवृत्ति हो गई हो, परन्तु अग्निमान्द्य हो तो उसे दूसरे दिन लघु अन्न का भोजन दे। अनागतस्नेह अर्थात् जिस के स्नेह की निवृत्ति न हुई हो तो उसे दूसरे दिन अनुवासन भी न दे। स्नेहबस्ति देने के बाद तीन प्रहरतक स्नेह के पुनरागमन का काल है अर्थात् तीन प्रहर में पुनरागमन होकर स्नेह की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है अतः तीन प्रहर बीत जाने पर भी यदि पुनरागमन हो कर स्नेह की निवृत्ति न हो तो एक अहोरात्रतक ठहर जाय। इतने पर भी स्नेह की निवृत्ति न हो तो उस की शुद्धि अर्शश्चिकित्सोक्त फलवर्तियों तथैव कल्पस्थानोक्त नमक और कांजीमिश्रित तीक्ष्ण बस्तियों द्वारा करे। इतना ही नहीं, स्नेहव्यापत्सिद्धि नामक प्रकरण को देखकर उस का उपाय करे। अतिरूक्षता के कारण स्नेह की निवृत्ति न हो कर यदि जाड्य ( जडता ), अग्निमान्द्यादि उपद्रव न हो तो भी उपेक्षा करे अर्थात् स्नेह के निकालने का प्रयत्न न करे। यदि स्नेहकी निवृत्ति विना मलके जल्दी हो जाय अर्थात् केवल स्नेह बाहर आजाय और मल न आवे तो उस के लिए पुनः स्नेहबस्तिकी योजना करनी चाहिए क्यों कि कोठेमें न ठहरनेवाला ( विना मल के तुरन्त बाहर आनेवाला ) स्नेह कार्य करनेवाला नहीं होता। सारांश, पुनः बस्ति देकर कोठे में कुछ कालतक स्नेह ठहरे ऐसा प्रयत्न करना चाहिए क्यों कि कोठे में ठहर कर ही स्नेह कार्य कर सकता है।

शेष स्नेहके लिए पाचन—जो सुखसे सोया हो, जिस को वमन, विरेचन या आस्थापन ( बस्ति ) दिया गया हो, इन में से किसी के भी शेष रहे स्नेह के पाचन एवं वात-कफकी शान्ति के लिए प्रातःकाल में शुण्ठी और धनियाका काढ़ा बनाकर पिलाना चाहिए अथवा केवल उष्णोदक (गरम जल) पिलाना चाहिए ता कि उस के उपर्युक्त दोषों का पचन हो जाय।

ततोऽन्नकाले यथोक्तमन्नमश्नीयात्। न चानुवासितं पेयां पाययेत्। सा हि सस्नेहकोष्ठमेनमभिष्यन्दयति। पुनश्च तृतीयेऽहन्यनुवासयेत्पञ्चमे वा। यथा वा स्नेहपक्तिः स्यात्। अतश्च दीप्ताग्निरूक्षवातोल्बणव्यायामनित्यान् प्रत्यहम्। एवममुना क्रमेण दोषाद्यनुसारतस्त्रिचतुरैः स्नेहबस्तिभिरुपस्निग्धं शोधनेनास्थापनेन स्रोतोविशुद्ध्यर्थमास्थापयेत्। वाताधिक्यादस्निग्धं तु स्नेहनेन।

स्नेहपाचन के अनन्तर कर्म—शेष स्नेह पाचन के अनन्तर भोजन के समय में यथोक्त अन्नका आहार करावे किन्तु अनुवासन दिए हुए रोगी को पेया न पिलावे क्योंकि वह पिलाई हुई पेया स्नेह को साथ लेकर कोठेको अभिष्यन्दित करती है। पुनः उस रोगी को तीसरे या पांचवें दिन अनुवासन देवे अथवा जितने समय में स्नेह का पाचन हो जाय तब तक अर्थात् तृतीय, पंचम एवं सातवें दिन भी अनुवासन देवे। अथवा अग्निके बलाबल को देखता हुआ सातवें दिन से न्यूनाधिक में भी अनुवासन देवे। इसके अतिरिक्त जो दीप्ताग्नि हो—जिसकी जठराग्नि तेज हो, रूक्ष हो,

१. स्नेहं द्वितीयेऽहनि। २. चावेक्षेत। ३. कार्यकरो भवति। ४. तद्वोष्णमुदकं।

१. आर्यंतारा।

वाताधिक्य हो और जो नित्य व्यायाम करनेवाला हो, इन सबको प्रतिदिन अनुवासन देना चाहिए। इस प्रकार उपर्युक्त क्रम से दोषादि की दुष्टि के अनुसार तीन चार स्नेहनबस्तियें देकर स्निग्ध किए हुए रोगी को उसके स्रोतों की विशुद्धि के लिए निरूहबस्ति देकर शुद्ध करे किन्तु वायु की अधिकता से जो अस्निग्ध अर्थात् रूक्ष हो तो उसे स्नेहन बस्ति देकर ही शुद्ध करे।

अथैनं तृतीये पञ्चमे वाऽहनि किञ्चिदावृत्ते मध्याह्ने कृतमङ्गलस्वस्त्ययनमभ्यक्तदेहं स्वेदितमुत्सृष्टमलमनाशितं नातिक्षुधितमवेक्ष्यातुरमार्यावलोकितं नाथमार्यं[1] तारामात्मभुवं धातारमश्विनाविन्द्रमात्रेयं सप्त मुनीन् काशिविदेहपतिप्रभृतीनग्निवेशादींश्च[2] तन्त्रकारान्दीपगन्धपुष्पफलबलिधूपैर्यज्ञ इव प्रकल्पितभागान् कृत्वौषधीवृद्धवैद्यद्विजातींश्च संपूज्य तद्विद्यसहितो दोषौषधादिबलेन यथार्हमुपकल्पयेद्बस्तिम्।

आस्थापन विधि—वैद्य को चाहिए कि वह अनुवासन के अनन्तर तीसरे या पांचवें दिन मध्याह्न काल के कुछ बीत जाने पर जिसने मङ्गलाचरण-स्वस्तिवाचन किया है, जो स्नेहन और स्वेदन करा चुका है, जो मल का विसर्जन कर चुका है, जिसने भोजन नहीं किया है और जो अतिक्षुधित नहीं है ऐसे रोगी को आर्यावलोकित (भगवान् बुद्ध), आर्यनाथ, भगवती तारा, ब्रह्माजी, अश्विनीकुमार, इन्द्र, आत्रेय, सप्तमुनि, काशिपति (भगवान् धन्वन्तरि), विदेहपति (जनक) तथा अग्निवेशादि (अग्निवेश, पराशर, जतुकर्ण, भेल, क्षारपाणि आदि) शास्त्रकारों का दीप, गन्ध, धूप, पुष्प, फल, आदि से यज्ञ की तरह इन सबके भागों की कल्पना करके ओषधियों, वृद्ध वैद्य और द्विजाति की पूजा करके उस विषय के जानने वाले वैद्य को साथ लेकर दोष (वातादि) तथा ओषधी (हरीतकी-गुडूच्यादि) के बलाबल का विचार कर यथायोग्य निरूह बस्ति को तयार करे।

तत्र विंशतिमात्राणि पलान्यौषधानां मदनफलाष्टकं च क्वाथकल्पेन विपचेत्। क्वाथाच्चतुर्थांशं स्नेहमनिले षष्ठांशं पित्ते स्वस्थवृत्ते चाष्टमांशं तु कफे। सर्वत्र चाष्टमंशं[3] कल्कस्य स्याद्यावता वा नात्यच्छसान्द्रता भवेत्। गुडस्य पलं युक्त्या मधुसैन्धवे यथायोग्यं च शेषाणि कल्पयेत्[1]। सर्वाणि चैकध्यमुष्णोदककुम्भीबाष्पाभितप्तानि खजमथितानि बस्तौ प्रक्षिप्यानुवासनवन्निरूहं प्रणयेन्नात्युष्णशीतं नातिमृदुतीक्ष्णं नातिस्निग्धरूक्षं नातितनुसान्द्रं न हीनातिमात्रं नालवणातिलवणं नात्यम्लं च। तत्र बाष्पमात्रानुतापादौषधस्य विदाहो न भवति। खजप्रमथनात्तु क्वाथस्नेहादयः सम्यक् संप्रयुक्ताः सम्यगेव योगमारभन्ते। अन्यथा पुनः क्वाथादीनामुल्बणोऽन्यतमं[4] यथास्वं दोषमीरयेत्। अत्युष्णादीनां तु पृथग्व्यापदः साधनानि च सिद्धिषूत्तरकालमुपदेक्ष्यन्ते।

आस्थापन में क्वाथ की कल्पना—जितनी ओषधियें मिल सकें वे सब मिलाकर २० पल लें और मैनफल गिनती से आठ फल या दाने लें। इन सबको क्वाथकल्प के अनुसार पकावें। क्वाथ के सिद्ध हो जाने पर वायु दोष के लिए क्वाथ से चौथाई स्नेह (तेल) लेवे, पित्त दोष के लिए छठवां भाग क्वाथ का स्नेह लेवे तथा रोगी की कफ की अवस्था में स्नेह आठवाँ भाग लेवे और स्वस्थ अवस्था में भी निरूह बस्ति लेना हो तो क्वाथ से छठवाँ भाग स्नेह लेकर उस क्वाथ में मिलावे। सर्वत्र अर्थात् वात, पित्त, कफ एवं स्वस्थावस्था में ओषधियों का कल्क मिलाना हो तो क्वाथ का अष्टमांश मिलावे अथवा कल्क इतना मिलावे कि जिससे क्वाथ बिलकुल स्वच्छ न रहे अर्थात् न बिलकुल पतला और न गाढ़ा ही हो। क्वाथ में गुड़ एक पल मिलावे और यथायोग्य युक्ति से शहद और सैन्धा नमक मिलावे अर्थात् शहद ४ पल मिलावे और सैन्धा नमक एक अक्ष (एक तोला) मिलावे। शेष जवखार, मांसरस, सुरा, आसव, सुक्त, क्षीर और कांजी भी युक्ति से यथादोष मिलाना चाहिए। इन सबको मिलाने के अनन्तर मथनी से मथ डाले और फिर गरम जल भरे हुए घड़े की बाफ से इन्हें किंचित् गरम करके बस्ति में भर कर अनुवासन बस्ति की तरह निरूहण करे। ध्यान रहे कि यह बस्ति के अर्थ प्रयुक्त किया जानेवाला क्वाथ न अति उष्ण और न अति शीत हो, न अति मृदु एवं तीक्ष्ण हो, न अति स्निग्ध और रूक्ष हो, न अति पतला और गाढ़ा ही हो, न अति हीन मात्रा और न अधिक मात्रा में हो, न लवणरहित और अतिलवणयुक्त हो, और न अति अम्ल (खट्टा) ही हो। यहाँ इस विधान का सार यह है कि जल की बाफ से तपाया हुआ वह क्वाथ विदाहकारक नहीं होता, मथनी से मन्थन करने पर क्वाथ में स्नेहादि द्रव्य सब मिल जाते हैं और वे योग में अच्छे फल के देनेवाले होते हैं, विपरीत इसके क्वाथादि का प्रयोग तदन्तर्गत द्रव्यों के अनुसार यथास्व अर्थात् वात, पित्त और कफ इनमें से किसी भी दोष के करनेवाले होते हैं। अति उष्ण, अति शीत, अति मृदु एवं अति तीक्ष्ण आदि की अलग अलग व्यापत्तियों (दोषों) का वर्णन तथा उनके उपाय आगे सिद्धियों के वर्णन में कल्पस्थान में कहेंगे।

अपि च—

तिर्यक्प्रणीते हि न याति धारा
गुदे व्रणः स्याच्चलिते च नेत्रे।
दत्तः शनैर्नाशयमेति बस्तिः
कण्ठं प्रधावेदतिपीडितस्तु॥
स्तम्भं विधत्तेऽतिमृदुर्हिमश्च
तप्ताम्लतीक्ष्णो भ्रमदाहमोहान्।

१. आर्यतारा. २. वेश्यादींश्च ३. चाष्टमाङ्कम् ४. उत्त्वलणोऽन्यतमम्।

१. तत्रेयं युक्तिः। माक्षिकस्य पलचतुष्टयम्, सैन्धवस्य च कर्षः, आदिग्रहणाद् यवक्षारस्य कर्षः, तथा मांसरससुरासवसुक्तक्षीरकाञ्जिकानां ग्रहणमित्यरुणः।

स्निग्धोऽति जाड्यं पवनं तु रूक्ष-
स्तन्वल्पमात्रालवणस्त्वयोगम् ॥
करोति मात्राभ्यधिकोऽतियोगे
क्षोभं तु सान्द्रः सुचिरेण चैति ।
दाहातिसारौ लवणोऽतिकुर्या-
त्तस्मात्सुयुक्तं सममेव दद्यात् ॥

अन्यथावस्ति के दोष—बस्ति तिर्छी रहने से उसकी धारा ठीक गुदा में नहीं जाती, यदि बस्ति देते समय चलित होगी—हिल जायगी तो गुदा में फोड़ा पैदा करेगी, यदि बिलकुल धीरे से बस्ति दी जायगी तो वह ठीक आशय में नहीं पहुंचेगी, अति जोर से दबाई जायगी तो शीघ्र ही ओषधि आमाशय में पहुंचेगी परन्तु वायु के जोर से औषधि कण्ठ की ओर दौड़ेगी, वह मुख और नाक से निकलने लगेगी, बस्ति अतिमृदु तथा ठण्डी होगी तो उसका स्तम्भन होकर क्वाथ आमाशय में नहीं पहुँचेगा, बस्ति का क्वाथ उष्ण, खट्टा और तीक्ष्ण होगा तो उससे भ्रम, दाह और मोह (बेहोशी) पैदा होगी, अतिस्निग्ध बस्ति के होने से जडता तथा रूक्ष होने से वायु का कोप होगा, बिलकुल तनु (हल्की) होने से आशय में अत्यल्प मात्रा पहुँचेगी, नमक अत्यल्प होगा तो बस्तिप्रयोग ठीक नहीं होगा, अतिमात्रा होगी तो अतियोग दोष और क्षोभ पैदा होगा, अति गाढ़ी (सान्द्र) बस्ति के होने से बहुत विलम्ब से बस्तिप्रयोग होगा तथा नमकका अतियोग होने से दाह और अतीसार पैदा होंगे इस लिए वैद्य को चाहिए कि वह बस्तिप्रयोग समरीत्या एवं जिस प्रकार उपयुक्त हो वैसे बड़ी सावधानतापूर्वक करे ।

अन्ये पुनराहुः—

मात्रां त्रिपलिकां कुर्यात्स्नेहमाक्षिकयोः पृथक् ।
कर्षार्धं माणिमन्थस्य स्वस्थे कल्कपलद्वयम् ॥
सर्वद्रवाणां शेषाणां पलानि दश कल्पयेत् ।
माक्षिकं लवणं तैलं कल्कं क्वाथमिति क्रमात् ॥
आवपेत निरूहाणामेष संयोजने विधिः ।

अन्य मत से निरूहविधि—कई आचार्य तो कहते हैं कि स्नेह ३ पल, शहद ३ पल, सैन्धा नमक आधा कर्ष, कल्क २ पल और क्वाथ, दुग्ध, गोमूत्रादि द्रव पदार्थ सब मिलकर १० पल लेवे । इन सबमें प्रथम शहद, फिर नमक, फिर तेल, फिर कल्क और फिर क्वाथ इस क्रमसे सबको मिलावे। निरूहबस्ति की संयोजनविधि यही है ।

दत्तमात्रे तूत्तानः सोपधानो निरूहवीर्येण देहव्याप्तये तन्मनास्तिष्ठेत् । उदीर्णवेगश्चोत्कटको विसृजेत् । आगमनकालस्तु परो मुहूर्त्तः । तदाप्यनागच्छन्नाशु मृत्यवे स्यात् । अतस्तत्रानुलोमिकस्नेहक्षारमूत्राम्लस्निग्धतीक्ष्णोष्णमन्यं प्रयोजयेत् । फलवर्तिस्वेदभयोत्त्रासादींश्च । बस्तिव्यापत्सिद्धिं चेक्षेत । स्वयं निवृत्ते तु पूर्ववद् द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं च दद्यावद्वा सुनिरूढः स्यात् ।

बस्ति देने के पश्चात्कर्त्तव्य—निरूहण बस्ति को लेकर चित्त लेटा हुआ, सिरहाने तकिया लगाकर, निरूहबस्ति के बल से द्रव्य शरीर में व्याप्त हो रहा है, इस प्रकार उसमें मन लगाकर लेट जावे और जब वेग आवे तब पांवों के बल उत्कटासन (उकरू) से बैठकर निरूहण द्रव्य को बाहर निकाल दे । निरूहण द्रव्य के पुनः बाहर निकल आने का समय अधिक से अधिक एक मुहूर्त्त अर्थात् दो घड़ी का माना गया है । इस समय तक भी यदि निरूहण द्रव्य बाहर न निकले तो वह शीघ्र ही मृत्यु का कारण होता है अतः वैसी अवस्था में अनुलोमन करने वाले स्नेह (तैलादि), क्षार, गोमूत्र, अम्ल, स्निग्ध, तीक्ष्ण और उष्ण इनमें से किसी एक का प्रयोग करे । इतना ही नहीं, निरूह द्रव्य का अनुलोमन करने के लिए फलवर्तियों का प्रयोग करे, स्वेद दे, भय दिखावे तथा उत्त्रासादि देवे ताकि निरूह द्रव्य बाहर आ जावे । फिर भी अनुलोमन न हो तो बस्तिव्यापत्सिद्धि में बताए हुए उपाय करे । यदि स्वयं निरूहण द्रव्य बाहर निकल जाय तो पूर्ववत् द्वितीय बस्ति दे, फिर तृतीय बस्ति दे और फिर चतुर्थ बस्ति दे । अथवा भलीभांति निरूहण न हो जाय तब तक नियमानुसार बस्तिप्रयोग करे ।

तत्राद्योऽनिलं स्वमार्गादपकर्षति द्वितीयः पित्तं तृतीयः श्लेष्माणमिति । तस्य हीनसम्यगतियोगास्तु विरिक्तवत् ।

प्रथम-द्वितीयादि बस्तिदान-फल—प्रथम बस्ति के देने से केवल वायु अपने स्थान से खींचा जाकर बाहर आता है। सारांश, इससे वायु का दोष दूर होता है। इसी प्रकार द्वितीय बस्ति से पित्त का दोष तथा तृतीय बस्ति से कफ का दोष दूर किया जाता है। चतुर्थादि बस्ति की आवश्यकता तो तब होती है जब कि संयोगादि के कारण कुपित तीनों दोषों का अपकर्षण नहीं होता । भावार्थ यह है कि चतुर्थबस्ति त्रिदोष को दूर करनेवाली है ।

इन प्रथम, द्वितीय आदि बस्तियों का हीन, सम्यक् और अतियोग हो जाने पर वैद्य को चाहिए कि वह उनकी चिकित्सा विरेचन के हीन, सम्यक् एवं अतियोग के अनुसार करे ।

सम्यङ्निरूढं तु कोष्णसलिलावसिक्तं तनुना जाङ्गलरसेन भोजयेत् । स्नाताशितस्यास्य चला दोषशेषाः स्वस्थानमाश्रयन्ते ।

सम्यक् निरूहण के पश्चात् सुखोष्ण जल से स्नान कराकर रोगी को जाङ्गल मांसरस के साथ हलका भात का भोजन करावे। इस प्रकार स्नान कराने एवं भोजन कराने से रोगी के निरूहण द्वारा चलित वातादि दोष अपने स्थान में आकर स्थित हो जाते हैं ।

१. अतिप्रपीडितो बस्तिः प्रयात्यामाशयं ततः । वातेरितो नासिकाभ्यां मुखतो वा प्रपद्यते ॥ इति सुश्रुतः । २. स्नेह ३. श्चोत्कटुको

१. चावेक्षेत २. यत्र च दोषा एवं नापकृष्टाः संयोगादिवशात् तत्र चतुर्थादीनां विषय इतीन्दुः ।

ततः पुनर्वातार्तमातुरं बृंहणीयमन्यं वा तद्विधमशितानन्तरं सायं वा पुनरल्पलब्धशितं यथास्वमनिलादिषु दशमूलादिसाधितेन तैलेनानुवासयेत् । तस्य हीनसम्यगतियोगाः स्नेहपीतवत् ।

उपर्युक्त प्रकार से भली भांति निरूहण हो जाने के बाद पुनः वातरोगी को द्विविधोपक्रमणीय अध्याय में कहे अनुसार बृंहण देना चाहिए। इसी प्रकार अन्य वातादि के रोगियों को जिनको हल्का भोजन कराया गया है पुनः सायंकाल में हल्का भोजन देकर वातादि में दशमूलादि से साधित तेल से अनुवासन करे। यहां आदि ग्रहण से यह भाव निकलता है कि पित्तरोगी को न्यग्रोधादि या पद्मकादिगण के साथ साधित तैल से तथा कफ के रोगी को वत्सकादि गण के साथ पाचित तेल से अनुवासन देवे। अनुवासन कर्म में हीन, सम्यक् तथा अतियोग हो जाय तो उसकी चिकित्सा स्नेहपानव्यापत्तियों के अनुसार करनी चाहिए।

विशेषतस्तु सम्यगनुवासिते किञ्चित्कालं स्थित्वा स्नेहः सपुरीषोऽनिलानुगतः प्रवर्तत इति ।

सम्यक् अनुवासन में विशेषता—सम्यक् अर्थात् भलीभांति अनुवासित होने पर यह विशेषता होती है कि स्नेह कुछ काल तक पेट में ठहर करके फिर वही पुरीष तथा अपान वायु के पीछे आप ही बाहर आ जाता है।

भवन्ति चात्र ।

एवं कफे स्नेहबस्तिमेकं त्रीन्वा प्रयोजयेत् ।
पञ्च वा सप्त वा पित्ते नवैकादश वाऽनिले ॥
पुनस्ततोऽप्ययुग्मांस्तु पुनरास्थापनं ततः ।
कफपित्तानिलेष्वन्नं यूषक्षीररसैः क्रमात् ॥

दोषपरत्व स्नेहबस्तिसंख्या—इस प्रकार कफ रोग में एक या तीन स्नेहबस्तियों का प्रयोग करे। पित्तप्रधान रोग में पांच या सात स्नेहबस्ति दे और वातप्रधान व्याधि में नव या ग्यारह स्नेहबस्ति प्रयुक्त करे। यदि और भी आवश्यकता हो तो एक, तीन, पांच आदि अयुग्म बस्ति देवे। अरुणदत्त का कथन है कि वातप्रधान रोग में युग्मसंख्याक अर्थात् ८,१०,१२ बस्ति भी दे सकते हैं। इसके अनन्तर पुनः आस्थापन अर्थात् निरूहण बस्ति देनी चाहिए। ध्यान रहे कि कफ के लिए अनुवासनबस्ति दी गई हो तो उसे मूंग आदि के यूष के साथ अन्न या भात देना चाहिए। पित्त के अर्थ अनुवासनबस्ति में दूध के साथ अन्न देना चाहिए और वात के लिए दी गई बस्ति में उष्ण एवं स्निग्ध मांसरस के साथ अन्न देना चाहिए।

वातघ्नौषधनिःक्वाथस्त्रिवृतासैन्धवैर्युतः ।
बस्तिरेकोऽनिले स्निग्धः स्वाद्वम्लोष्णो रसान्वितः[3] ॥
न्यग्रोधादिगणक्वाथ-पद्मकादिसितायुतौ ।
पित्ते स्वादुहिमौ साज्यक्षीरेक्षुरसमाक्षिकौ ॥

आरग्वधादिनिःक्वाथवत्सकादियुतास्त्रयः ।
रूक्षाः सक्षौद्रगोमूत्रास्तीक्ष्णोष्णकटुकाः कफे ॥
त्रयश्च सन्निपातेऽपि दोषान् घ्नन्ति यतः क्रमात् ।
नाचार्यचरकस्यातो बस्तिस्त्रिभ्यः परं मतः ॥
न हि दोषश्चतुर्थोऽस्ति पुनर्दीयेत यं प्रति ।
उत्क्लेशनं शुद्धिकरं दोषाणां शमनं क्रमात् ॥
त्रिधैव कल्पयेद्बस्तिमित्यन्येऽपि प्रचक्षते ।
दोषौषधादिबलतः सर्वमेतत्प्रमाणयेत् ॥

दोषपरत्व-निरूहबस्तिकल्पना—वात दोष में निरूहबस्ति देना हो तो दशमूलादि वातनाशक ओषधियों के काढ़े में निशोत का कल्क तथा सैन्धव नमक मिलावे और उसमें मधुर, अम्ल और उष्ण रस मिलावे। उसको एरण्ड तैल आदि के मिश्रण से स्निग्ध करके इसकी एक निरूहणबस्ति करे।

पित्त में निरूहबस्ति देना हो तो न्यग्रोधादि गण और पत्रकादि अर्थात् दूर्वादि गण के क्वाथ में मिश्री, घृत, दूध, ईख का रस और शहद मिलावे और यह जिस प्रकार मधुर और शीतल हो वैसे करके इसकी दो निरूहणबस्ति देनी चाहिए।

यदि निरूहणबस्ति कफ दोष में देना हो तो आरग्वधादि गण तथा वत्सकादि गणकी ओषधियों के काढ़े में शहद, गोमूत्रादि तीक्ष्ण, रूक्ष, तीक्ष्ण और कटु रसवाले द्रव्य मिलाकर इसकी तीन निरूहणबस्ति देनी चाहिए।

सन्निपात में भी यथादोष कही हुई तीन ही बस्ति देनी चाहिए इस लिए कि उपर्युक्त तीनों बस्ति क्रम से देने से तीनों दोषों की शमनकारक होगी। हेमाद्रि लिखते हैं-कि वातपित्त, वातकफ और पित्तकफ की अवस्था में दो दो बस्तियां देनी चाहिए।

चतुर्थादि बस्तियों का निषेध—वस्तुतः दोषों की संख्या तीन ही है इस लिए आचार्य चरक तीन ही बस्तियों को मानते हैं। वे कहते हैं कि कोई चतुर्थ दोष ही नहीं है जिसके लिए बस्ति दी जावे। बस्तियों द्वारा दोषों का उत्क्लेशन, शुद्धि और शमन ये तीन ही कर्म किए जाते हैं अतः अन्य चिकित्सकों का भी मत है कि बस्ति तीन ही माननी चाहिए।

दोष और ओषधियों के बलाबल का विचार कर के ही बस्तियों की कल्पना करना चाहिए। सारांश यह है कि रोग की प्रबलता में बस्ति के लिए ओषधियाँ भी उतनी ही प्रबल लेनी चाहिए, साधारण अवस्था में साधारण और सूक्ष्मावस्था में ओषधियाँ भी सूक्ष्म बल करें वैसे प्रमाण से लेनी चाहिए।

सम्यङ् निरूढलिङ्गं तु नासंभाव्यं निवर्तयेत् ।

जब तक भलीभांति निरूहण के लक्षण स्पष्ट न प्रतीत हों अर्थात् निरूहण ठीक न हुआ हो तब तक निरूहबस्ति के प्रयोग को बन्द न करना चाहिए।

प्राक् स्नेह एकः पञ्चान्ते द्वादशास्थापनानि च ।

१. वातादिषु दशमूलादिसिद्धेन तैलेन, आदिग्रहणेन पित्ते न्यग्रोधादिपद्मकादीनां कफे वत्सकादीनां च परिग्रह इतीन्दुः। २. निष्क्वाथ। ३. स्वाद्वम्लोष्णरसान्वितः।

१. सन्निपाते त्रीण्येव पुटानीत्यत आह त्रयश्चेति। वातपित्ते, वातकफे, पित्तकफे तु उक्तन्यायादेव द्वौ इति।

सान्वासनानि कर्मैवं बस्तयस्त्रिंशदीरिताः ॥

कर्मसंज्ञक तीस बस्तियां—बस्तिसमुदाय तीन प्रकार के हैं १ कर्म, २ काल और ३ योग। इनमें कर्म ३० बस्तियों के समुदाय का नाम है। कर्मसमुदाय से आधा अर्थात् १५ या १६ बस्तियों की संज्ञा काल है तथा इससे आधा ८ का नाम योग है। देखें चरक संहिता, सिद्धिस्थान का प्रथम अध्याय। कर्म समुदाय का स्पष्टीकरण यह है कि जिसमें प्रथम एक स्नेहबस्ति हो और ऐसे ही अन्त में पांच स्नेहबस्तियां हों जैसे कि छब्बीसवीं, सत्तावीसवीं, अट्ठावीसवीं, उन्तीसवीं और ३० वीं तथा जिसमें १२ आस्थापन ( निरूहबस्तियाँ ) अनुवासन सहित हों जैसे द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम, द्वादश, चतुर्दश, षोडश, अष्टादश, विंशतितम, द्वाविंशतितम और चतुर्विंशतितम निरूहबस्तियां और तृतीय, पञ्चम, सप्तम, नवम, एकादश, त्रयोदश, पञ्चदश, सप्तदश, ऊनविंशति, एकविंशति, त्रयोविंशति और पञ्चविंशति ये १२ अनुवासन (स्नेह बस्तियां) हों। सारांश, क्रमशः १+५+१२+१२=३० स्नेह और निरूह मिल कर कर्मबस्तियों का योग ३० बताया गया है। अब काल और योग समुदाय को कहते हैं कि—

कालः पञ्चदशैकोऽत्र प्राक्स्नेहोऽन्ते त्रयस्तथा ।
षट् पञ्चबस्त्यन्तरिता योगोऽष्टौ बस्तयोऽत्र तु ॥
त्रयो निरूहाः स्नेहाश्च स्नेहावाद्यन्तयोरुभौ ।

काल संज्ञक १५ बस्तियाँ—कालसंज्ञक बस्तिसमुदाय में १५ बस्तियाँ इस प्रकार होती हैं कि जिनमें प्रथम एक स्नेह ( अनुवासन ) बस्ति और अन्तमें तीन स्नेहबस्तियोंके अतिरिक्त बीच बीच में ६ निरूह और ५ या ६ स्नेहबस्तियाँ होती हैं। इनका योग १५ या १६ होता है। यथा प्रथम एक स्नेहबस्ति और इसी प्रकार अन्त की तीन चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सोलहवीं स्नेहबस्तियां। इनके सिवाय दूसरी, चौथी, छठी, आठवीं, दसवीं और बारहवीं निरूहबस्तियां और तीसरी, पांचवीं, सातवीं, नवमी, ग्यारहवीं तथा तेरहवीं स्नेहबस्तियां। यद्यपि वाग्भटने १५ ही योग कहा है परन्तु १५ का आधा ठीक आठ नहीं होता अपि तु ७॥ होता है। इसलिए हमने आचार्य जतूकर्ण एवं चक्रदत्त के मतानुसार यहां १५ तथा १६ भी माना है।

योगसंज्ञक आठ बस्तियां—योगसंज्ञक बस्तिसमुदाय की संख्या आठ है और उसकी पूर्ति इस प्रकार से की जाती है कि आदि अन्त में एक एक स्नेहबस्ति अर्थात् पहली और आठवीं स्नेहबस्ति तथा बीच में एक एक के अन्तर से तीन तीन निरूह और स्नेहबस्तियां अर्थात् दूसरी, चौथी और छठी निरूहबस्तियां तथा तीसरी, पांचवीं और सातवीं स्नेहबस्तियां। इस प्रकार कुल योग ८ होता है।

स्नेहबस्तिं निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत् ।
उत्क्लेशाग्निवधौ स्नेहान्निरूहान्मरुतो भयम् ॥
तस्मान्निरूढः स्नेह्यः स्यान्निरूह्यश्चानुवासितः ॥

केवल एक ही प्रकार के बस्ति सेवन में दोष—केवल एक ही प्रकार की बस्तिका सेवन नहीं करना चाहिए अर्थात् अकेले निरूह ही निरूह या अनुवासन ही अनुवासन बस्तिका सेवन नहीं करना चाहिए क्योंकि केवल स्नेहन ( अनुवासन बस्ति ) का सेवन किया जायगा तो उत्क्लेश ( उबकाई ) पैदा होगी और जठराग्नि मन्द हो जायगी। इसी प्रकार केवल निरूह बस्ति के सेवन करने से वायु के प्रकोप का भय होगा। इसलिये जिसे निरूह बस्ति दी गई हो तो उसके बाद उसे स्नेहबस्ति देना चाहिए और जिसको अनुवासन बस्ति दी गई हो तो उसके अनन्तर उसको निरूहबस्ति अवश्य देनी चाहिए।

स्नेहशोधनयुक्त्यैवं बस्तिकर्म त्रिदोषजित् ।
अष्टादशाष्टादशकान् बस्तीनां यो निषेवते ॥
विधिना ना यथोक्तेन स भवेदजडोऽरुजः ।
सहस्रायुः श्रुतधरो वीतपाप्मामरप्रभः ॥
वाजिस्यदो नागबलः स्थिरबुद्धीन्द्रियानलः ॥

युक्तिपूर्वक बस्तिसेवन का फल—इस प्रकार स्नेहन-शोधन युक्ति से अर्थात् स्निग्ध का शोधन, शुद्ध का स्नेहन तथा स्निग्ध का पुनः संशोधन इस प्रकार के युक्तिपूर्वक सेवन किया हुआ बस्तिकर्म त्रिदोष को जीतने वाला होता है। इतना ही नहीं, जो पुरुष पूर्वोक्त कर्मकालयोगादि विधि से अष्टादशाष्टादशकान् अर्थात् १८×१८=३२४ बस्तियों का सेवन करता है वह अजड ( बुद्धिमान् ) अथवा अजर और अरुज होता है अर्थात् वह जल्दी वृद्धावस्था को प्राप्त नहीं होता और न रोगी ही होता है। किं बहुना, वह सहस्रायु ( हजार वर्ष की आयुवाला या दीर्घायुवाला ), श्रुतधर ( सुनी हुई बात को कभी भी न भूलने वाला ), या श्रुतिधर ( वेदों को धारण करनेवाला ), पाप से रहित, देवता के समान कान्तिवाला, घोड़े के समान स्त्रियों में रमण करनेवाला, हाथी के समान बलवान्, स्थिरबुद्धिवाला, इन्द्रियों को जीतने वाला तथा स्थिराग्नि ( अच्छी जठराग्निवाला ) होता है।

बस्तौ रोगेषु नारीणां योनिगर्भाशयेषु च ।
द्वित्रास्थापनशुद्धेभ्यो विदध्याद्बस्तिमुत्तरम् ॥
आतुराङ्गुलमानेन तन्नेत्रं द्वादशाङ्गुलम् ।
वृत्तं गोपुच्छवन्मूलमध्ययोः कृतकर्णिकम् ॥
सिद्धार्थकप्रवेशाग्रं श्लक्ष्णं हेमादिसंभवम् ।
कुन्दाश्वमारसुमनः पुष्पवृन्तोपमं दृढम् ॥

उत्तरबस्तिका विधान—गुदा से उत्तर मार्गसे अर्थात् लिङ्ग या योनिद्वारा दी जानेवाली बस्ति को उत्तरबस्ति कहते हैं। पुरुषों के बस्तिगत रोगों में और स्त्रियों के बस्ति, योनि तथा

१. त्रिंशत्स्मृताः कर्मसु बस्तयो हि कालस्ततोऽर्धेन ततश्च योगः। इति। २. 'बस्तयस्त्रिंशत् षोडशाष्टौ च कर्मकालयोगाः।' इति जतूकर्णः।

१. भवेदजरो २. श्रुतिधरो ३. स्नेहशोधनयुक्त्येति। स्निग्धस्य शोधनं, शुद्धस्य स्नेहनं, स्निग्धस्य पुनः शोधनमित्यादि युक्तिरिति हेमाद्रिः। ४. कियतोऽष्टादशकानित्याह अष्टादशेति। एवमष्टादशभिरष्टादशकैर्बस्तीनां त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि भवन्तीतीन्दुः। ५. वाजस्यदो योऽश्व इव स्त्रीषु स्रवतीति इन्दुः। ६. गुदादुत्तरेण मार्गेण दीयत इत्युत्तरबस्तिः।

गर्भाशय के रोगों में दो तीन वार निरूहवस्ति देने के बाद उत्तरवस्ति देनी चाहिए। पुरुषों के लिए इस उत्तरवस्ति-यन्त्रका प्रमाण रोगी के अङ्गुलों से बारह अङ्गुल लम्बा होना चाहिए और वह गाय की पूँछ के समान गोल होना चाहिए। उसके मूल और मध्य में कर्णिका अटकाव के लिए बनानी चाहिए तथा इसका प्रवेशवाला अग्रभाग जिसमें सरसों समा जावे इतना चौड़ा होना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह यन्त्र नितान्त चिकना और सोना चांदी आदि धातु का बना हुआ कुन्द, कनेर और मालती पुष्प के वृन्त के समान और मजबूत बना हुआ होना चाहिए।

तस्य बस्तिर्मृदुर्लघुर्मात्रा शुक्तिर्विकल्प्य वा।

नेत्रवस्ति के मात्रा का प्रमाण—उत्तरवस्ति में प्रयोगार्थ बस्ति हल्की तथा नरम लेनी चाहिए और वह ऐसी हो जिसमें शुक्ति अर्थात् दो तोले स्नेहादि आ सकें। इसके अतिरिक्त वैद्यको चाहिए कि वह देश, काल, बलाबल आदि का विचार करके बस्ति एवं उसकी मात्रा का निश्चय करे। बस्तियन्त्र धातुनिर्मित श्लक्ष्ण ( चिकना ) होना चाहिए जैसे कि पहले कह आए हैं।

अथ स्नाताशितस्यास्य स्नेहबस्तिविधानतः ।
ऋजोः सुखोपविष्टस्य पीठे जानुसमे मृदौ ॥
हृष्टे मेढ्रे स्थिते चर्जौ शनैः स्रोतोविशुद्धये ।
मालतीपुष्पवृन्ताग्रपरिणाहां घनामृजुम् ॥
श्लक्ष्णां शलाकां प्रणयेत्तया शुद्धेऽनुसेवनि ।
आमेहनान्तं नेत्रं च निष्कम्पं गुदवत्ततः ॥
पीडितेऽनुगते स्नेहे स्नेहबस्तिक्रमो हितः ।
बस्तीननेन विधिना दद्यात्त्रींश्चतुरोऽपि वा ॥
अनुवासनवच्छेषं सर्वमेवास्य चिन्तयेत् ॥

पुरुषों के लिए उत्तरवस्तिविधि—पुरुष को उत्तरवस्ति देना हो तो उसको प्रथम स्नेहबस्ति की तरह मङ्गलाचरण करके और फिर स्नान किए हुए तथा भोजन किए हुए, जानुसम ऊंचे मृदु आसन पर सरल एवं सुख से बैठे हुए, लिंग की हर्षित एवं सरल अवस्था में, धीरेसे उसमें स्रोतों की शुद्धि के लिए, मालतीपुष्प के वृन्त के अग्रभाग के समान, लम्बी, मजबूत, सीधी तथा चिकनी शलाका को सीवन के अनुसार लिङ्गके अन्त तक हाथ न हिलाते हुए गुदा की स्नेहबस्ति की तरह चलावे और फिर यन्त्र को दबावे ताकि स्नेह ठीक स्थान तक पहुँच जाय। स्नेह के पुनः लौट कर बाहर आने तक वही क्रम करे जो कि स्नेहबस्ति में वर्णन किया गया है। इस विधि से तीन या चार उत्तरवस्ति देवे। शेष सब विधि अनुवासन बस्ति की तरह करे।

स्त्रियों के लिए उत्तरवस्ति-विधि आदि को बताते हुए आचार्य कहते हैं कि—

स्त्रीणामार्तवकाले तु योनिर्गृह्णात्यपावृते: ।
विदधीत सदा तस्मादनृतावपि चात्यये ॥
योनिविभ्रंशशूलेषु योनिव्यापद्यसृग्दरे ।
नेत्रं दशाङ्गुलं मुद्गप्रवेशं चतुरङ्गुलम् ॥
अपत्यमार्गे योज्यं स्याद्द्व्यङ्गुलं मूत्रवर्त्मनि ।
मूत्रकृच्छ्रविकारेषु बालानां त्वेकमङ्गुलम् ॥
प्रकुञ्चो मध्यमा मात्राबालानां शुक्तिरेव तु ॥

स्त्रियों के लिए उत्तरवस्तिविधि—यदि स्त्रियों को उत्तरवस्ति देना हो तो उनके ऋतुकाल में ही देना चाहिए क्योंकि ऋतुकाल में स्त्रियोंके गर्भाशय का मुख खुला रहने से गर्भाशय के समस्त दोषों का संशोधन हो जाता है। परन्तु योनिभ्रंश, योनिशूलादि व्यापत्तियों में तथा रक्त एवं श्वेतप्रदर की अवस्था में ऋतु-काल के विना भी उत्तरवस्ति देनी चाहिए।

स्त्रियों के अर्थ उत्तरवस्तियन्त्रका प्रमाण आदि—स्त्रियों के लिए उत्तरवस्तियन्त्र उनही के अङ्गुलमानसे दस अङ्गुल लम्बा, उसका मुख ऐसा हो जिसमें एक मूंग आ सके। इसका प्रवेश चार अङ्गुल तक करना चाहिए अर्थात् प्रवेश करनेवाले मुखसे चार अङ्गुल पहले एक कर्णिका का यन्त्र में होना आवश्यक है। चार अङ्गुल तक प्रवेश करने का विधान गर्भाशय की शुद्धि के लिए है। मूत्रकृच्छ्रादि विकारों में यदि मूत्राशय की शुद्धि अभीष्ट हो तो दो अङ्गुल तक ही यन्त्र का प्रवेश योनि में करना चाहिए।

अल्पवयस्क लड़कियों के मूत्रकृच्छ्रादि विकारों में उत्तर-वस्तियन्त्र का प्रवेश एक अङ्गुल तक ही करना चाहिए। इसलिए कि इससे अधिक प्रवेश करने में योनि में क्षत हो जाने का संभव होता है।

स्त्रिय.के उत्तरवस्तिमात्रा का प्रमाण—प्रौढ़ा स्त्रियों के गर्भाशय की शुद्धि के लिए उत्तरवस्ति की स्नेहादि मात्रा मध्यमा अर्थात् एक पल ( चार तोले ) की होनी चाहिए और छोटी लड़कियों के मूत्रमार्ग की शुद्धि के लिए उत्तरवस्ति के स्नेहादि की मात्रा एक शुक्ति ( दो तोले ) की होनी चाहिए।

उत्तानायाः शयानायाः सम्यक् संकोच्य सक्थिनी ।
ऊर्ध्वजान्वास्त्रिचतुरानहोरात्रेण योजयेत् ॥
बस्तींस्त्रिरात्रमेवं च स्नेहमात्रां विवर्धयेत् ।
त्र्यहमेव च विश्रम्य प्रणिदध्यात्पुनस्त्र्यहम् ॥

स्त्रियों के लिए उत्तरवस्तिका क्रम—उत्तरवस्ति जिस स्त्रीको देना हो तो उसे उत्तान ( सीधी ) लेटा कर उसकी दोनों सक्थियों अर्थात् ऊरूके ऊपरवाले भागों को सुकोड़ कर दोनों जानु ( गोड़े ) ऊपर की ओर कर देवे और फिर उत्तरवस्ति-यन्त्रद्वारा स्नेहादि उसकी योनि में प्रविष्ट करे। इस प्रकार एक दिन रातमें तीन या चार उत्तरवस्तियां दे। इस क्रमको तीन दिन बराबर चलाते रहे परन्तु स्नेह की मात्रा को कुछ कुछ बढ़ाता जावे। इसके बाद तीन दिन विश्राम लेकर फिर तीन दिन तक उत्तरवस्ति के क्रम को करे।

पक्षाद्विरेको वमिते ततः पक्षान्निरूहणम् ।
सद्यो निरूढश्चान्वास्यः सप्तरात्राद्विरेकितः ॥

वमनविरेचनादिका कर्म—जिसको वमन दिया हो तो उसे एक पक्ष ( पन्द्रह दिन ) ठहर कर फ़िर विरेचन देवे अर्थात्

१. शुद्धेऽनुसेवनीम्, शुद्धेऽनुसीवनीम्, इत्यपि पाठः। २. पावृता

निरूहण देवे। परन्तु जिसको निरूहण दिया हो उसे तुरन्त अनुवासन ( स्नेहबस्ति ) दे देना चाहिए। यहां तुरन्त का भावार्थ उस वातप्रधान अवस्था से है जिसके लिए पहले कह आए हैं कि 'अथ वातार्दितं भूयः सद्य एवानुवासयेत्' अर्थात् वायु की प्रबलता में निरूह के अनन्तर तुरन्त ही अनुवासन देना चाहिए। उचित तो यह है कि विरेचन के बाद सातवें दिनसे अनुवासन देना चाहिए।

यथा कुसुम्भादियुतात्तोयाद्रागं हरेत्पटः ।
तथा द्रवीकृताद्देहाद्बस्तिर्निर्हरते मलान् ॥

इत्यष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥
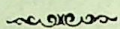
बस्ति के मलहरण में दृष्टान्त—जिस प्रकार कुसुम्भपुष्पादि युक्त जलमें से कपड़ा रंग को हरण कर लेता है किन्तु पुष्पादि के बक्कस को ग्रहण नहीं करता, ठीक इसी प्रकार द्रवीभूत शरीर में से समस्त शारीरिक मलों ( दोषों ) को बस्ति हरण कर लेती है किन्तु अदूषित रस-रक्तादि धातुओं का हरण नहीं करती।

इति श्रीवाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी-व्याख्यायां बस्तिविधिर्नामाष्टाविंशोऽध्यायः।

# अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः।

अथातो नस्यविधिर्नामाध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

नस्यविधि-अध्याय—इसके पहले अध्यायों में वातादि दोषों के निर्हरणार्थ वमन विरेचनादि कर्मों का वर्णन किया गया। किन्तु शिरोगत दोषादि का निर्हरण उक्त वमनविरेचनादि नहीं कर सकते जैसे कि नस्यविधि कर सकता है। नासा सिर का द्वार है अतः उसके द्वारा प्रयुक्त औषधि शीघ्र ही मस्तक के समस्त दोषों को दूर करती है अतः उसके परिज्ञानार्थ अध्याय का आरम्भ करते हुए आचार्य कहते हैं कि अब हम नस्यविधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने की है।

नासायां प्रणीयमानमौषधं नस्यम्। नावनं नस्तःकर्मेति च संज्ञा लभते। नासा हि शिरसो द्वारम्। तत्रावसेचितमौषधं स्रोतश्शृङ्गाटकं प्राप्य व्याप्य च मूर्धानंनेत्रश्रोत्रकण्ठादिसिरामुखानि च मुञ्जादिषीकामिवासक्तामूर्ध्वजत्रुगतां वैकारिकीमशेषामाशु दोषसंहतिमुत्तमाङ्गादपकर्षति।

नस्यकर्म की व्याख्या और विशिष्टता—नासिका द्वारा दी जानेवाली ओषधि का नाम नस्य है। नावन और नस्तःकर्म भी इसी नस्यकर्म के पर्यायवाची शब्द हैं। शिरोरोग एवं ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों के निर्हरणार्थ जो ओषधि दी जाती है वह नासा द्वारा इसलिए दी जाती है कि नासा ही मस्तक का द्वार है। नासिका द्वारा दी जानेवाली औषधी स्रोतःशृङ्गाटक ( सिर के मध्य[1] ) में जाकर समस्त सिर में व्याप्त होकर अर्थात् नेत्र, कान, कण्ठ आदि की सिराओं के भीतर प्रविष्ट होकर ऊर्ध्वजत्रुगत समस्त वैकारिक दोषसमूह को मस्तक में से खींचकर इस प्रकार बहुत जल्दी बाहर फेंकती है जैसे कि मुंज के साथ अटकी हुई दर्भशलाका खींचकर दूर कर दी जाती है। दोनों अंसस्थानों के अक्षक नामक अस्थियों की सन्धि का नाम जत्रुमर्म[2] है। इस जत्रुमर्म के ऊपर नेत्र, नासिका, कान आदि के रोगों का नाम इसीलिए ऊर्ध्वजत्रुगत रोग है।

तत्तु त्रिविधं विरेचनं वमनं शमनं च। तेषां विरेचनं जत्रूर्ध्वगौरव[3]शोफोपदेहकण्डूस्तम्भाभिष्यन्दपाक-प्रसेक[4]वैरस्यारोचकस्वरभेदक्रिमिप्रतिश्यायापस्मारगन्धाज्ञानग्रन्थ्यर्बुददद्रुकोठादिषु श्लेष्मजेषु तीक्ष्णेन स्नेहेन शिरोविरेचनद्रव्यैर्वा सिद्धेन तेषां वा क्वाथचूर्णस्वरसैस्तैरेव वा यथार्हद्रव्यैश्श्लक्ष्णकल्कितालोडितैर्मधुसैन्धवासवपित्तमूत्रैर्यथास्वं चोपदिष्टैर्योज्यम्।

नस्य के तीन प्रकार और उनका उपयोग—उपर्युक्त नस्यकर्म के तीन प्रकार हैं जैसे कि विरेचन नस्य, बृंहण नस्य और शमन नस्य। विरेचननस्य-विरेचन नस्य का उपयोग उनके लिए किया जाता है जो ऊर्ध्वजत्रुगत गौरव, शोथ, उपदेह ( उपजिह्वा ), कण्डू, स्तम्भ (मन्यास्तम्भ), (अभिष्यन्द), पाक, स्राव, प्रसेक, मुखवैरस्य, अरोचक, स्वरभेद, क्रिमि, प्रतिश्याय, अपस्मार, गन्धाज्ञान ( गन्ध का ज्ञान न होना ), ग्रन्थि, अर्बुद, दद्रु, कोठ ( लाल-श्वेत दाग ) आदि कफजनित विकारों से पीड़ित हैं। इनको विरेचन नस्य इस प्रकार दिया जाता है जो सरसों आदि के तीक्ष्ण तेल से, शिरोविरेचनकारक तीक्ष्ण द्रव्यों से तयार किए हुए तेल से, इन द्रव्यों के क्वाथ, चूर्ण और स्वरसों से सिद्ध किए हुए तेल से या क्वाथ से अथवा इन्हीं द्रव्यों के सूक्ष्म पिसे हुए कल्क से जो कि शहद, सैन्धव नमक, मद्य, पित्त और गोमूत्र इनमें से किसी एक के साथ आलोडित ( घोल लिया ) हो। जिस जिस व्याधि के प्रकरण में जिन-जिन द्रव्यों का वर्णन है, उन्हीं द्रव्यों के साथ सिद्ध किए हुए तेल, क्वाथादि का उपयोग उस उस व्याधि में यथोपदेश करे।

तत्र भीरुस्त्रीकृशसुकुमारेषु स्नेहः। गलरोगसन्निपातज्वरातिनिद्रामनोविकारक्रमिशिरोरोगाक्षिस्पन्दनतिमिरकृच्छ्रविषाभिपन्नाभिष्यन्दसर्पदष्टविसंज्ञेषु [5]शेषौ। तेष्वेव च भूयसि दोषे शीघ्रकारिणि च चूर्णः। स हि नासायामावेगकरतरो भवति।

भीरु स्त्री आदि को विरेचननस्य में विशेष—डरपोक, स्त्री, कृश ( दुर्बल ) और सुकुमारको विरेचन नस्य देना हो तो स्नेह ( ओषधि साधित तेल या घृतादि ) का देवे। गलरोग, सन्निपातज्वर, अतिनिद्रा, मनोविकार, कृमि, शिरोरोग, अक्षिस्पन्दन, तिमिर, कृच्छ्र, विष से व्याप्त, अभिष्यन्द तथा सर्पदंश

१. 'स्रोतःशृङ्गाटकं शिरसोऽन्तर्मध्यम्'। २. अक्षकाख्ययोरस्थ्नोः सन्धिर्जत्रुनाम मर्मेतीन्दुः। ३. जत्रूर्ध्वगतेऽधिगौरव। ४. स्रावप्रसेक। ५. द्रव्यश्लक्ष्ण।

के कारण बेहोशी में विरेचन नस्य देना हो तो क्वाथ, कल्कादि द्वारा देवे। इनमें भी दोषों की प्रबलता होने से यदि शीघ्र मारकता दिखाई देती हो तो विरेचन नस्य चूर्ण द्वारा दे। इसलिए कि चूर्ण नासिका में पहुँच कर बहुत जल्दी अपना वेग दिखानेवाला है।

बृंहणं सूर्यावर्ताद्धविभेदकक्रिमिशिरोरोगाक्षिसंकोचस्पन्दनतिमिरकृच्छ्रावबोधदन्तकर्णशूलनादनासामुखशोथवाक्सङ्गस्वरोपघातमन्यारोगापतानकावबाहुकनिद्रानाशादिष्वनिलोत्थेषु स्निग्धमधुरद्रव्यैस्तत्सिद्धैर्यथायथं चोपदिष्टैः स्नेहैर्निर्यासैर्धान्यमांसरसरक्तैश्च।

बृंहण नस्य—बृंहण नस्य उनको दिया जाता है जो सूर्यावर्त, अर्द्धावभेदक, क्रिमि, शिरोरोग, अक्षिसंकोच, अक्षिस्पन्दन, तिमिर, कृच्छ्रावबोध (नेत्र का कष्ट से खुलना), दन्तशूल, कर्णशूल, कर्णनाद, नासाशोष, मुखशोथ, वाक्सङ्ग (तुतलाकर बोलना), स्वरभेद, मन्यारोग (मन्यास्तम्भादि गर्दन के रोग), अपतानक और अवबाहुक (वातव्याधि विशेष), निद्रानाश आदि वातविकार से उत्पन्न व्याधिवाले हैं। इन्हें जो बृंहण नस्य दिया जाय वह स्निग्ध, मधुर रसवाले द्रव्यों से अथवा इस प्रकार के मधुरादि से सिद्ध किए हुए स्नेहों (तैल घृतादि) से तथैव उक्त द्रव्यों के निर्यासों से एवं धान्य, मांसरस और रक्त के साथ सिद्ध किए स्नेहों से जिस जिस रोग में जिनका उपदेश किया गया है उनसे दिया जाय।

शमनमकालवलीपलितखलतिदारुणकरक्तराजीव्यङ्गनीलिकारक्तपित्तादिषु यथास्वमुपदिष्टैः स्नेहैर्भेषजस्वरसादिभिः क्षीरोदकाभ्यां वा समदोषे वाणुतैलेनेति।

शमन नस्य—शमन नस्य उनके लिए है जो अकाल में ही वली-पलितपीडित होते हैं अर्थात् जिनकी चमड़ी में अकाल में ही झुर्रियां पड़ती हैं और बाल सुफेद हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त जो खलति (खल्वाट, इन्द्रलुप्त, गञ्ज, टाट) रोगवाला होता है और जो दारुणक, रक्तराजी (नेत्रों में रक्त रेखा), व्यङ्ग, नीलिका, रक्तपित्त आदि (पित्तदोषोत्पन्न) रोगवाले हैं। उस उस रोग में जैसे उपदिष्ट किए गए हैं उन स्नेहों से जिन्हें पित्तनाशक द्रव्यों, द्रव्योंके स्वरसों तथा दूध और जल के साथ सिद्ध किए गए हों शमन नस्य देना चाहिए अथवा समदोष की अवस्था में शमन नस्य अणु तैल द्वारा देना चाहिए।

तत्र स्नेहो मात्राभेदाद् द्विधा मर्शः प्रतिमर्शश्च। विरेचनः शमनो वा नासया प्रणीयमानः कल्कोऽवपीडसंज्ञो विरेचनचूर्णस्तु प्रधमनाख्यः। परिशेषं तु नावनमवपीडकसंज्ञम्। कल्कीकृतादौषधादवपीडितः स्रुतो रसोऽवपीड इत्यपरेषाम्। तत्र पुनस्तीक्ष्णो वैशेषिकी शिरोविरेचनसंज्ञा। तथाऽन्ये सर्वमेव विरेचनं नस्यमित्याहुः सद्यः श्लेष्मविरेचनसामान्यात्।

मात्राभेद से स्नेह के दो प्रकार—मात्राभेद से स्नेह के दो प्रकार होते हैं १ मर्श और २ प्रतिमर्श। मर्श और प्रतिमर्श ये दो भेद केवल मात्रा के प्रमाण से हैं, न कि द्रव्यभेद से। मर्श प्रतिमर्श की मात्रा का प्रमाण आगे बताया जायगा।

नस्य की अवपीड और प्रधमन संज्ञा—विरेचन नस्य हो चाहे शमन नस्य हो जो कल्क द्वारा दिया जाता है उसकी अवपीड संज्ञा है और जो चूर्ण द्वारा विरेचन नस्य दिया जाता है उसकी प्रधमन संज्ञा है। शेष नस्यकर्म (क्वाथादि द्वारा) भी अवपीडक कहलाता है। कल्क किए हुए औषध को अवपीडन कर (निचोड़कर) परिस्रुत किया जाता है इस लिए कुछ आचार्य उसी को अवपीड मानते हैं। यहां फिर तीक्ष्ण द्रव्यों द्वारा दिए हुए नस्य की विशेष करके विरेचन संज्ञा है। अन्य कुछ आचार्य सब प्रकार के शिरोविरेचन को नस्य ही कहते हैं इस लिए कि उससे तुरन्त कफका विरेचन हो जाता है। सारांश, तीक्ष्ण द्रव्यों के कल्क द्वारा दिए जानेवाले नस्य को अवपीडन कहते हैं और तीक्ष्ण चूर्ण द्वारा दिए जानेवाले नस्य को प्रधमन कहते हैं।

अणुतैलविधानं तु मञ्जिष्ठामधुकप्रपौण्डरीकजीवकर्षभककाकोलीद्वयपयस्यासारिवानन्तानीलोत्पलाञ्जनरास्नाविडङ्गतण्डुलमधुपर्णीश्रावणीमेदाकाकनासासरलसालभद्रदारुचन्दनैः सुपिष्टैरष्टगुणं षड्गुणेन पयसा तैलं पचेत्। घृतं वा पित्तोल्बणेषु दोषेषु।

अणुतैल की विधि—मजीठ, मुलेठी, पुंडरी (पुण्ड्रक), जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, पयस्या (विदारीकन्द), सारिवा (अनन्तमूल), धमासा, नीलोफर, अञ्जन (रसाञ्जन, रसोत), रास्ना, वायविडङ्ग, मधुपर्णी (गिलोय), श्रावणी (गोरखमुण्डी), मेदा, कौआठोडी, सरल (चीड़), देवदारु, सालई तथा रक्तचन्दन इन सबको समान भाग लेकर अच्छी तरह पीसकर कल्क बनावे और उससे आठ गुना तिल्ली का तेल तथा छः गुने दूध (बकरी का हो तो अत्युत्तम) के साथ पकावे। बराबर तैल विधि के अनुसार पाक होने पर उतार लेवे। यह अणुतैल तयार हो गया। यदि पित्तप्रधान व्याधि हो तो इन पूर्वोक्त द्रव्यों के घृत का पाककर काम में लावे अर्थात् नस्य दे।

अथवा चन्दनागुरुपत्रदार्वीत्वङ्मधुकबलाद्वयबिल्वोत्पलपद्मकेसरप्रपौण्डरीकविडङ्गोशीरह्रीवेरवन्यत्वङ्मुस्तसारिवाबृहतीद्वयांशुमतीद्वयजीवन्तीदेवदारुसुरभिशतावरीः शतगुणे दिव्येऽम्भसि दशभागावशिष्टं क्वाथयेत्। ततस्तस्य क्वाथस्य दशमांशेन समांशं तैलं साधयेत्। दशमे चात्र पाके तैलतुल्यमाजमपि पयो दद्यात्। एतदप्यणुतैलं पूर्वस्माद्विशेषेणेन्द्रियदार्ढ्यकरं केश्यं त्वच्यं कण्ठ्यं प्रीणनं बृंहणं दोषत्रयघ्नं च।

अणुतैल की द्वितीय विधि—चन्दन, अगर, पत्रज, दारुहल्दी, दालचीनी, मुलेठी, बलाद्वय अर्थात् बला (खिरेटी), महाबला (कंघी), बेल, नीलोफर, कमल की केसर, पुंडरी, वायबिडङ्ग, खस, हाऊबेर, नेत्रबाला, नागरमोथा, तज, केवटीमोथा, अनन्तमूल, छोटी और बड़ी दोनों कटेरी, शालपर्णी,

१. कापवाड्क। २. धन्वमांसरस।

पृष्ठपर्णी, जीवन्ती (डोडी), देवदारु, ब्राह्मी और सतावर इन सबको समभाग लेकर इन सबके वजन से १०० गुने दिव्य (आकाश से बरसे हुए) जल के साथ पकावे, जब दशमभाग शेष रहे तब उतारकर छान ले। इस क्वाथ का दशम भाग जितना हो उतना तेल लेकर क्वाथ के दशम भाग के बराबर जल के साथ पकावे अर्थात् दशमांश क्वाथके साथ उतना ही तेल पकावे। जब तेलमात्र शेष रहे उतार ले। पुनः शेष क्वाथ के नव भागों में से एक भाग लेकर पूर्व सिद्ध तेल को उसके साथ पकावे। इस प्रकार ९ बार क्वाथ के एक एक दशमांश के साथ पकावे। दशम भाग क्वाथ का शेष रहेगा उसमें पुनः उस तेल को तथा तेल के बराबर बकरी का दूध मिलाकर पकावे। तैलमात्र शेष रहने पर यथाशास्त्र परीक्षा कर उतार कर सुरक्षित रख ले। यह अणु तेल पहले कहे हुए अणु तेल से विशेष इन्द्रियों को दृढ़ करनेवाला, केशों के लिए हितकारी अर्थात् केशों को बढ़ाकर सुन्दर बनानेवाला, चमड़ी को नरम एवं सुन्दर बनानेवाला, कण्ठ को सुधारनेवाला, तृप्ति और पुष्टि का करनेवाला तथा तीनों दोषों का हरनेवाला है।

अनस्याहा[1]स्तु भुक्तभक्तस्नेहमद्यगरतोयपीतपातुकामशिरःस्नातस्नातुकामसिरादिव्यधस्रुतरक्तमूत्रितोच्चारिताभिहतकृतवमनविरेकबस्तिकर्मगर्भिणीसूतिकानवप्रतिश्यायश्वासकासिनोऽनार्तवदुर्दिनेष्वपि।

नस्य के अयोग्य प्राणी—जिसने भोजन किया हो, जिसने स्नेह-मद्य,गर और जल का पान किया हो या पीना चाहता हो, जिसने सिर से स्नान किया हो या स्नान करना चाहता हो, सिरादि वेध करने से जिसके शरीर से रक्त निकाला गया हो, जिसको मलमूत्र का वेग आया हुआ हो, जिसको चोट आई हो, जिसने वमन-विरेचन और वस्तिकर्म किया हो, जो गर्भिणी हो, जो प्रसूता हो, जो नये प्रतिश्याय-श्वास और कास से पीडित हो, इन सबको नस्य नहीं देना चाहिए। इसके अतिरिक्त विना ऋतु के तथा दुर्दिन (बादलों से ढके हुए दिन) में भी नस्य का देना निषिद्ध है।

तत्र भुक्तभक्तस्य नस्येरितो दोष ऊर्ध्वस्रोतांस्यावृत्य छर्दिश्वासकासप्रतिश्यायान् जनयेत्। स्नेहादिपीतपातुकामानामक्षिनासास्यस्यन्दोपहतितिमिरशिरोरोगान्। शिरःस्नातस्य शिरोऽक्षिकर्णशूलकण्ठरोगपीनसहनुमन्यास्तम्भार्दितशिरःकम्पान्। स्नातुकामस्य मूर्धस्तैमित्यजाड्यारुचिपीनसान्। स्रुतरक्तस्य क्षामतामरुचिमग्निसादं च। मूत्रितोच्चारितयोर्भृशतरवेगधारणजान्विकारान्। अभिहतस्य तीव्रतरां रुजम्। कृतवमनादीनां श्वासकासस्वरेन्द्रियहानिशिरोगौरवकण्डूकृमिदोषान्। गर्भिण्या भक्तद्वेषज्वरमूर्च्छार्द्धावभेदकाः स्युरपत्यं च व्यङ्गं विकलेन्द्रियमुन्मादापस्मारयुक्तं वा। सूतिकायाः स्रुतरक्तोक्तान् दोषान्। नवप्रतिश्यायस्य स्रोतोरोधाद्दुष्टप्रतिश्यायकेशशातकृमिकण्डूविचर्चिकाः। श्वासकासिनोव्याधिविवृद्धिः। अकाले दुर्दिने सहसैव शैत्याच्छिरोरुग्वेपथुस्तैमित्यतालुनेत्रकण्डूपाकमन्यास्तम्भकण्ठरोगप्रतिश्यायारुंषिकाः। तेषु यथास्वमायतनं दोषोद्रेकं चापेक्ष्य स्नेहस्वेदशिरोवक्त्रलेपसेकतीक्ष्णावपीडधूमगण्डूषादीनाचरेत्। विशेषेण तु गर्भिणी रूक्षे नस्य-कर्मणि वर्षाभूकाकोलीकपिकच्छुभिः शृतं पयः पिबेत्। बलाविदार्यंशुमतीमेदाभिर्वा। एभिरेव च शृतं हविः। वातहरसिद्धश्च स्नेहः शिरोबस्तौ कर्णपूरणे च योज्यः। एवं च बृंहणमन्नपानम्। भुक्तभक्तादिष्वपि चात्ययिकव्याध्यातुरमपेक्षेत।

अयोग्यों को नस्यदान में दोष और उनके उपाय—भुक्तभक्त (भात खाए हुए या भोजन किए हुए) को नस्य देने से वह उसके ऊर्ध्व स्रोतों को ढककर छर्दि, श्वास, खांसी और प्रतिश्याय को पैदा करेगा। स्नेहादि (स्नेह, मद्य, गर और जल) के पिये हुए या पीने की इच्छावाले को नस्य दिया जायगा तो आंख, नाक और मुख से स्राव, तिमिर और शिरोरोग होगा। सिरसे स्नान किए हुए को नस्य दिया जायगा तो सिर, आंख और कान में शूल, कण्ठ रोग, पीनस, हनुस्तम्भ, मन्यास्तम्भ, अर्दित और सिरका कांपना ये रोग होंगे। स्नान की इच्छा वाले को नस्य देने से मस्तक में जडता, आलस्य, अरुचि और पीनस ये रोग होंगे। सिरावेध के कारण जिसका रक्त शरीर से बाहर निकल गया है उसे नस्य देने से क्षामता (दुर्बलता), अरुचि और मन्दाग्नि ये रोग होंगे। मल-मूत्र के प्राप्त वेग में यदि नस्य कर्म किया जायगा तो वह वेगधारण से होनेवाले बहुत से विकारों को पैदा करेगा। चोट खाए हुए को नस्य दिया जायगा तो तीव्र पीडाका करनेवाला होगा। वमन-विरेचन-बस्तिकर्म किए हुए को नस्य देना श्वास, खांसी, स्वरभेद, इन्द्रियोपघात, मस्तक का भारी रहना, खुजली और कृमिरोग का कारण होगा। गर्भिणी को दिया हुआ नस्य अन्न से द्वेष, ज्वर, मूर्च्छा तथा आधासीसी रोग को करेगा और उससे होनेवाली सन्तान व्यङ्गवाली, विकलेन्द्रियवाली एवं उन्माद और अपस्मार रोगवाली होगी। प्रसूता स्त्रीको नस्य दिया गया तो उसको वे विकार होंगे जो रक्तस्रुति में दुर्बलता, अरुचि, मन्दाग्नि आदि विकार होते हैं। नवीन उत्पन्न प्रतिश्याय में नस्य देने से वह उसके स्रोतों को रोक कर दुष्ट प्रतिश्याय को करेगा और बालों का गिरना, कृमिरोग, खुजली तथा बेवांची रोग पैदा होंगे। श्वास तथा कासरोगी को नस्य देने से उसका रोग और अधिक बढ़ेगा। नस्यदान के शास्त्रोक्त समय को छोड़ कर अकाल में या दुर्दिन (बादलों से व्याप्त दिन) में नस्य देने से सहसा (यकायक) शैत्य पैदा होकर उससे सिरमें पीडा, कम्प, स्तैमित्य (शरीर भीगा सा प्रतीत होना), तालु और नेत्रों में खुजली-पाक, मन्यास्तम्भ, कण्ठरोग, प्रतिश्याय तथा अरूंषिका (सिरमें छोटे छोटे दाने से फोड़ों का निकलना) ये रोग उत्पन्न होंगे।

यदि भूल से नस्य के अयोग्य प्राणियों को नस्य देने से उपर्युक्त रोगों की प्राप्ति हो जाय तो वैद्य को चाहिए कि वह

1. अस्यानर्हास्तु इ० पा०।

उन उन व्याधियों, निदान, दोष-विशेषादि कोदे खकर स्नेह, स्वेद, सिर तथा मस्तक पर लेप, सेक ( तरेड़ा ), तीक्ष्ण अवपीड, धूमपान, गण्डूष आदि का आचरण कर उपचार करे। विशेषतः गर्भिणी रूक्ष नस्यकर्म में पुनर्नवा, काकोली और केवांचबीज के साथ क्वथित दूध का पान करे अथवा खिरेटी, विदारीकन्द, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी और मेदा के साथ सिद्ध किए हुए दूध का पान करे तथा इन्हीं ओषधियों से सिद्ध किए हुए घृत का पान करे। अथवा वायुनाशक सिद्ध स्नेह का उपयोग शिरोबस्ति तथा कर्णपूरण में करे। इसी प्रकार बृंहण अन्नपान का उपयोग करे। गर्भिणी के अतिरिक्त भुक्तभक्तादिकों के विषय में भी यदि व्याधिका जोर अधिक हो जाय तो रोगी की उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिए।

मर्शप्रमाणं तु प्रदेशिन्यङ्गुलीपर्वद्वयान्निमग्नोद्धृताद्यावत्पतति स बिन्दुः। अमी दशाष्टौ षड्बिन्दव उत्तमसध्यमकनीयस्यो मात्राः। क्काथादीनामष्टौ षट् चत्वारः। प्रधमनस्य तु षडङ्गुलद्विमुखया नाड्या मुखानिलेरितस्याकण्ठगते दोषानुरोधतश्च पुनः पुनर्योजनमिति।

मर्शसंज्ञक नस्य का प्रमाण—स्नेह आदि में प्रदेशिनी (तर्जनी) अङ्गुली के दो पर्व डुबाकर उठाने से जितना पड़े उसे बिन्दु ( बूंद ) कहते हैं। इस प्रमाण के १० बूंद की उत्तम, आठ बूंद की मध्यम और छः बूंद की कनिष्ठ मात्रा ( मर्श नामक नस्य की ) मानी गई है। इसी मर्शनस्य की क्काथ, स्वरस आदि की मात्रा आठ, छः और चार क्रम से जानना चाहिए अर्थात् क्काथादि की आठ बूंद की उत्तम, छः बूंद की मध्यम तथा चार बूंद की कनिष्ठ मात्रा जाननी चाहिए। यदि मर्शनस्य की चूर्ण द्वारा प्रधमनविधि की जाय तो वह दो छिद्रवाली छः अङ्गुल लम्बी नली द्वारा नाक में नस्य दी जाय जो कि मुख की फूँक से रोगी के कण्ठ तक पहुँच जाय अथवा दोष के अनुरोध से अर्थात् दोष की जैसी प्रबलता हो उसके अनुसार मर्शनस्य की बारम्बार योजना की जाय ताकि दोषनिस्सरण सम्यक्तया हो जाय।

अथ नस्यार्हं नरमभ्याहतवेगं धौतान्तर्बहिर्मुखं स्निग्धस्विन्नशिरसं नातिक्षुधितं प्रायोगिकधूमपानविशुद्धस्रोतसं स्वास्तीर्णनिवातशयनस्थमुत्तानशीर्षमीषदुन्नतपादं प्रसारितकरचरणं जत्रूर्ध्वं पाणितापेन पुनः पुनः स्वेदयेत्। ततः कनकरजतताम्रान्यतमशुक्तिस्थितं प्रदेयमौषधत्रिभागमुष्णाम्बुप्रतप्तं किञ्चित्प्रलम्बितशिरसो वामहस्ताङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यामाक्रम्य नयनप्रच्छादनं चतुर्गुणं वासो मध्यमया नासाग्रमुन्नमय्य प्रदेशिन्यनामिकाभ्यां चैकैकं नासापुटं पर्यायेण पिधायेतरस्मिन्नासास्रोतसि दक्षिणहस्तेन प्रनाड्या[1] पिचुना वाऽनवच्छिन्नधारमासिञ्चेत्[2]।

नस्यग्रहणविधि—नस्य देने के योग्य प्राणी को नस्य देना हो तो ऐसे पुरुष को देना चाहिए कि जो मल-मूत्रादि के वेगों से निवट चुका हो, भीतर और बाहर से जिसने मुँह को साफ कर लिया हो, जिसने पहिले मस्तक को स्निग्ध कर स्वेदित कर लिया हो, जो अधिक भूखा न हो, जिसने वक्ष्यमाण ( आगे कहे जाने वाले ) धूमपान को कर अपने मस्तक के सब स्रोतों को शुद्ध कर लिया हो, जो निर्वात स्थान में अच्छे बिछौने पर हो, जिसका सिर उत्तान अर्थात् सीधा हो, जिसने अपने मञ्च को पगों की ओर से कुछ ऊँचा कर लिया हो, जिसने हाथ-पाँव पसार दिए हों ऐसे मनुष्य के जत्रूर्ध्वभाग को प्रथम हाथों को तपा तपा कर स्वेदन करे। इसके अनन्तर सुवर्ण, रजत, ताम्र आदि किसी भी धातु आदि की बनी शुक्ति ( सीप ) में स्थित, दिए जानेवाले औषध के तीसरे भाग को जिसे उष्ण जल से कुछ गरम कर लिया हो उस स्नेह आदि को, जिसने अपने सिर को कुछ पीछे की ओर कर लिया है, अपने बाँयें हाथ के अंगूठे और कनिष्ठिका अङ्गुली से नेत्रों पर चौगुने कपड़े से ढक दिया है जिसने, मध्यमा अङ्गुली से नासिकाके अग्रभाग को कुछ ऊपर की ओर उठा कर, तर्जनी और कनिष्ठिका से एक एक नासापुट को पर्याय से ढककर अर्थात् ढके हुए नासापुट के दूसरे नासापुट में दाहिने हाथ से किसी नलिका या कपास के फाहे से अविच्छिन्न धारा छोड़े। इस सारे कथन का सार यह है कि जिसको नस्य देना है प्रथम उसके सिर का स्नेहन और स्वेदन करके मल-मूत्रादि उपर्युक्त सब बातों से निपट कर निर्वातस्थान में ऊर्ध्वजत्रुभाग को स्वेदन करे। फिर सीधा लेटा कर, हाथ-पाँव पसरवा कर उसके पलङ्ग को पाँवों की तरफ से कुछ ऊँचा और सिरहाना नीचा करके फिर यथाविधि जिस ओषधि का नस्य देना हो उस स्नेह के तीन भाग करे प्रत्येक भाग को सोना, चाँदी, ताँबा आदि की कटोरी में डाल, गरम जल पर कुछ गरम कर नली से या रुई के फाहे से ओषधि नासिका में छोड़े। ध्यान रहे कि एक नासापुट को उंगलियों से बन्द करके दूसरे नासापुट में स्नेह का नस्य देवे। फिर इसको बन्द कर पहले नासापुट में नस्य दे और इसको किंचित् काल तक बन्द करे। नस्य देते समय रोगी के सिर को कुछ पीछे की ओर नवा देना चाहिए।

वातपित्तकफामयेषु क्रमेणापराह्णमध्याह्नपूर्वाह्णेषु। लालास्रावसुप्तप्रलापदन्तकटकटायनक्रथनकृच्छ्रोन्मीलनपूतिमुखकर्णनादतृष्णार्दितशिरोरोगश्वासकासोन्निद्रेषु रात्रौ। स्वस्थवृत्ते तु शीते मध्याह्ने शरद्वसन्तयोः प्राह्णे ग्रीष्मेऽपराह्णे वर्षास्वादित्यदर्शने। पञ्चकर्माण्याचरतो बस्तिकर्मोत्तरकालमेव।

नस्य देने का काल—वात, पित्त और कफरोग में क्रम से अपराह्ण, मध्याह्न और पूर्वाह्ण में नस्य देना चाहिए अर्थात् वातरोगी को अपराह्ण ( तीसरे प्रहर), पित्त रोगी को मध्याह्न तथा कफ के रोगी को पूर्वाह्ण ( मध्याह्न से पहले ) प्रातः काल में नस्य देना चाहिए। लालास्राव ( लार टपकना ), सुप्तता, प्रलाप, दाँतों का कटकटाना, क्रथन ( सहसा श्वास का रुक जाना ), आँखों का कष्ट के साथ खुलना, मुख की दुर्गन्ध, कर्णनाद, तृष्णा, अर्दित, शिरोरोग, श्वास, कास और उन्निद्रा

१. प्रणाड्या २. नानवच्छिन्नमासिञ्चेत्।

( नींद का न लगना या न नींद का आना ) इन रोगों में रात्रि में नस्य देना चाहिये। स्वस्थवृत्त ( नीरोगावस्था ) में शीतकाल अर्थात् शिशिर और हेमन्त ऋतु में मध्याह्नकाल में, शरत् और वसन्त ऋतु में पूर्वाह्न में और ग्रीष्म ऋतु में अपराह्न ( सायंकाल ) में नस्य देना चाहिए। वर्षा ऋतु में सूर्य के खुला रहने पर नस्य देना ठीक होता है। पञ्चकर्म किए हुए को बस्ति के उत्तर काल में (पीछे) नस्य दे देना चाहिए।

न च हीनाधिकं सकृदेव सर्वमत्युष्णशीतमत्युन्नतावनतशिरसे संकुचितगात्रावयवाय देयम्। तत्र हीनं दोषमुत्क्लेश्य न निर्हरेत्। गौरवारुचिकासप्रसेकपीनसछर्दिकण्ठरोगान् कुर्यात्। अधिकमतियोगदोषान्। सकृदेव सर्वं दत्तमुत्स्नेहनशिरोरोगप्रतिश्यायघ्राणक्लेदातुच्छ्वासोपरोधं च। अत्युष्णं दाहपाकज्वररक्तागमशिरोरुग्दृष्टिदौर्बल्यमूर्च्छाभ्रमान्। नातिशीतं हीनदोषान्। अत्युन्नतशिरसोऽपि सम्यक्शिरोऽप्रतिपद्यमानं तानेव। अत्यवनतशिरसोऽतिदूरगमनान्मूर्च्छाजाड्यकण्डूदाहज्वरान्। संकुचितगात्रस्य सम्यग्धमनीरव्याप्नुवद्दोषोत्क्लेशं वेदनां स्तम्भं वा। यदि च नस्ये दीयमाने भेषजवेगादसात्म्यतया वा मूर्च्छा स्यात्ततः शिरोवर्जं शीताम्भसा सिञ्चेत्। न च नस्ये निषिच्यमाने कोपहास्यव्याहारस्पन्दनोच्छिन्दनान्याचरेत्[1]। तथा हि शिरोरुक्प्रतिश्यायकासतिमिरखलतिपलितव्यङ्गतिलकालकमुखदूषिकाणां संभवः।

न्यूनाधिकादि नस्यदान में दोष और उनके उपाय—हीनाधिक, एकदम, अत्युष्ण, शीत, अत्युन्नत और अवनत सिर के रहते हुए, संकुचित गात्रावयव में नस्य नहीं देना चाहिए क्योंकि हीन नस्य देने से वह दोषों को उत्क्लेशन कर नहीं निकलेगा किन्तु जडता, अरुचि, खांसी, लार टपकना, पीनस, छर्दि ( वमन ) तथा कण्ठरोग को करेगा। अधिक दिया हुआ नस्य अतियोग के दोषों को करेगा। एकदम समस्त नस्य स्नेहादि का देना अतीव स्नेहन, शिरोरोग, प्रतिश्याय, नासिका में क्लेदन ( साड़ ), ऊर्ध्वश्वास या श्वास का रुकना इन रोगों को पैदा करेगा। अत्युष्ण नस्य दिया जायगा तो वह दाह, पाक, ज्वर, रक्तागम ( मुख आदि से रक्त का निकलना ), सिर में पीडा, दृष्टि की दुर्बलता, मूर्च्छा और भ्रम, इन रोगों का करनेवाला होगा। अतिशीत नस्य दिया जायगा तो वह अतिहीन नस्य में कहे हुए रोगों को करेगा। सिर को अत्युच्च रखते हुए नस्य दिया जाने पर वह उन्हीं दोषों का करनेवाला होगा जो अतिहीन नस्य में कहे गए हैं क्योंकि इसमें भी स्नेह समस्त सिर में व्याप्त नहीं होगा। सिर को अति नीचा करके नस्य देंगे तो वह स्नेह को मस्तक में अति दूर तक पहुँचाकर मूर्च्छा, जडता, कण्डू, दाह और ज्वर को पैदा करेगा। संकुचित गात्र में नस्य के देने से वह भली भांति धमनियों में न पहुँचकर दोषों के उत्क्लेशन, वेदना और मन्यास्तम्भ को पैदा करेगा। यदि नस्य के देने पर ओषधि के वेग से अथवा रोगी को असात्म्य होने से उसे मूर्च्छा आ जायगी इस लिए मूर्च्छा आ जाने पर सिर को छोड़ कर अन्य शरीर को शीतल जल से सिंचन करना चाहिए। नस्य देने के बाद कोप ( क्रोध करना ), हास्य ( हंसना ), अधिक बोलना, हिलना, छींकना या किसी वस्तु को तोड़ना-फोड़ना आदि आचरण न करे क्योंकि इनके कारण सिर में पीडा, प्रतिश्याय, कास, तिमिर, खल्वाट, बालों का जल्दी पकना, व्यङ्ग, तिलकालक और मुखदूषिका रोगों की उत्पत्ति हो जायगी।

दत्तमात्रे तु नस्ये कर्णललाटकेशभूमिगण्डमन्यास्कन्धपाणिपादतलान्यनुसुखं मर्दयेत्। शनैश्चोच्छिङ्घेत्[1]। अनभ्यवहरंश्च वामदक्षिणपार्श्वयोरौषधं निष्ठीवेत्। सकफं हि तदभ्यवहृतमग्निमवसादयेत्। दोषं च संवर्धयेत्। एकपार्श्वनिष्ठीवने न सर्वाः सिरा भेषजेन सम्यग्व्याप्यन्ते। पुनःपुनश्चैनं स्वेदयेदाभेषजदर्शनान्नोच्छिन्देन्निष्ठीवेच्च। ततश्चैवमेव द्वितीयमंशमनुषेचयेत्तथा तृतीयं दोषादिबलेन वा। विरेचने त्ववपीडे दोषबलमपेक्ष्य पश्चात्स्नेहमनुषेचयेत्। निवृत्तनस्यं चैवमुन्निद्रमुत्तानं वाक्शतमात्रं शाययेत्। ततः पुनरप्युत्क्लिष्टदोषशेषोपशान्तये वैरेचनिकं यथार्हं वा धूमं पाययित्वोष्णोदकगण्डूषान् धारयेत्। अथास्य स्नेहोक्तमाचारमादिशेत्। अतिद्रवपानं च वर्जयेत्। पुनश्च तृतीयेऽहनि नस्यमवसेचयेत्। हिध्मास्वरोपघातमन्यास्तम्भापतानकेषु शिरसि चानिलार्त्याद्यभिभूते प्रत्यहं सायंप्रातरुभयकालं वा। अनेन विधिना पञ्च सप्त नव वा दिनानि दद्यादासम्यग्योगाद्वा। तत्र सम्यक्स्निग्धे मूर्धनि विरिक्ते वा सुखोच्छ्वासनिश्वासस्वप्नप्रबोधे शिरोवदनेन्द्रियविशुद्धयो भवन्ति यथोक्तव्याध्युपशमश्च। अयोगातियोगयोस्तु यथास्वं वातपित्तविकारास्तान्यथास्वमेव साधयेत्। अन्यांश्च पूर्वोक्तान्विकारान्।

नस्य देने के पश्चात् कर्त्तव्य—नस्य देकर तुरन्त ही रोगी अपने कान, ललाट, मस्तक ( केशस्थान ), गण्ड ( कपोल ), मन्या ( गर्दन ), स्कन्ध ( दोनों कन्धे ), पगों तथा हाथों के तलुवों का सुहाता सुहाता मर्दन करे, दोनों नासापुटों में दिए हुए नस्य-स्नेह को श्वासद्वारा ऊपर की ओर खींचे, स्नेह के मुख में गए हुए भाग को पेट में न जाने दे किन्तु थूक दे और बांएं और दाहिने ओर के नासापुटगत स्नेह को निष्ठीवन द्वारा बाहर छोड़ दे क्योंकि कफमिश्रित वह स्नेहौषध पेट में जाने से अग्निमान्द्य करता है और दोष को बढ़ाता है। स्नेह का निष्ठीवन दोनों बाजू से करे क्योंकि एक बाजू के निष्ठीवन करने से समस्त सिराओं में औषध नहीं पहुँचता। बारंबार इस प्रकार उसको स्वेदन करे जबतक पूरी ओषधि मस्तिष्क-सिराओं में न चली जाय तबतक नासापुटों से ऊपर की ओर खींचता रहे और खींचने से जो ओषधि मुँह में चली जाय

१. नोच्छिङ्घनान्याचरेत्।

१. शनैश्चोच्छिङ्खेत्।

उसे थूकता रहे। इसी प्रकार नस्यद्रव्य के द्वितीय अंश का सेचन करे अर्थात् नस्यप्रयोग करे। दोष आदि के बल के अनुसार यदि आवश्यक हो तो तृतीय भाग का भी नस्य-प्रयोग करे। अवपीडसंज्ञक विरेचन (जो क्राथ–कल्क–स्वरसादि द्वारा दिया जाता है) के बाद दोष के बलाबल को देखता हुआ स्नेह का नस्य दे। सारांश यह कि तीक्ष्णनस्यविरेचन-जनित तीक्ष्णता की शान्ति के लिए रोगी को सीधा लेटाकर किसी सिद्ध तैल का नस्य दे। नस्यविधि से निवृत्त हो जाने पर रोगी को उन्निद्रावस्था में एक सौ की गिन्ती होने तक सीधा सुला दे। इसके अनन्तर फिर भी शेष उक्लिष्ट दोषों की शान्ति के लिए यथोचित विरेचक धूमपान कराकर गरम जल के कुल्लों को करके मुखादि शुद्ध कर लेवे। इस के बाद रोगी को पथ्यापथ्यविषय में स्नेहपानविधिनामक अध्याय में वर्णित आचार का उपदेश करे। नस्य लिए हुए पुरुष को चाहिए कि वह अतिद्रव (अत्यन्त पतले) पदार्थ का पान न करे। पुनः तीसरे दिन स्नेहनस्य लेवे। हिक्का, स्वरभेद, मन्यास्तम्भ, अपतानक (वातव्याधिविशेष) तथैव वातोत्पन्न शिरोरोगादि से पीडित मनुष्य को चाहिए कि वह प्रतिदिन सायंकाल या प्रातःकाल में नस्य का सेवन एक बार करे अथवा दोनों समय (सायंप्रातः) में नस्य का सेवन किया करे। इस विधि से पांच, सात या नव दिन तक नस्य का सेवन करे अथवा जब तक लाभ की प्राप्ति नहीं हो तबतक बराबर नस्यसेवन करता रहे।

नस्यद्वारा सम्यक् सिद्धि की परीक्षा—**शिरोविरेचन के अनन्तर नस्य द्वारा मस्तक के सम्यक् स्निग्ध होने से श्वासोच्छ्वास की प्रवृत्ति सुख से होने लगती है। भलीभांति छींक और निद्रा का आना, यथासमय जाग जाना, सिर, मुख और इन्द्रियों की शुद्धि और इस नस्यविधि में वर्णित व्याधियों की शान्ति होती है। अयोग (हीनयोग) तथैव नस्य का अतियोग होने से वातपित्तविकार जैसे हों उनकी तदनुसार चिकित्सा करनी चाहिए तथैव पूर्वोक्त अन्यान्य विकारों की भी यथोचित चिकित्सा करे।**

प्रतिमर्शस्तु क्षामक्षततृष्णामुखशोषवृद्धबालभीरुसुकुमारेष्वप्यकालवर्षदुर्दिनेष्वपि च योज्यः। न तु दुष्टप्रतिश्यायबहुदोषकृमिणशिरोमद्यपीतदुर्बलश्रोत्रेषु। एषां ह्युदीर्णदोषत्वात्तावता दोषोत्क्लेशो भवति। तस्य पञ्चदशकालास्तेषां च गुणाः। प्रातर्दन्ते भुक्तवतश्चान्ते स्रोतोविशुद्धिः शिरोलाघवं मनःप्रसादश्च भवति। विण्मूत्रशिरोऽभ्यङ्गाञ्जनकवलान्ते दृष्टिप्रसादः। दन्तधावनान्ते दन्तदृढता सौगन्ध्यं च। अध्वव्यायामव्यवायान्ते श्रमक्लमस्वेदस्तम्भनाशः। दिवास्वप्नान्ते निद्राशोषगौरवप्रणाशो मनःप्रसादश्च। अतिहसितान्तेऽनिलप्रशमः। छर्दितान्ते स्रोतोलीनश्लेष्मव्यपोहः। दिनान्ते स्रोतोविशुद्धिः सुखनिद्राप्रबोधश्च भवति।

प्रतिमर्श नस्य के योग्य और अयोग्य प्राणी—**नस्य के दो प्रकारों में से पहले मर्श नस्य का वर्णन हो चुका। अब प्रतिमर्श नस्य का वर्णन करते हैं। प्रतिमर्श नस्य उन्हीं को देना चाहिए जो क्षीण (दुर्बल) हो, उरःक्षत, तृष्णा, मुखशोष रोग से पीडित हो, जो वृद्ध, बालक, डरपोक और सुकुमार हो। इनको प्रतिमर्श नस्य चाहे जिस समय (अकाल में भी) तथा वर्षाकाल एवं बादलों से ढके हुए सूर्य की अवस्था में भी दे सकते हैं परन्तु दुष्टप्रतिश्याय, बढ़े हुए दोष, कृमि, शिरोरोग, मद्य पी लिया हो तो तथा कर्णस्रोत के बन्द होनेपर प्रतिमर्श नस्य नहीं देना चाहिए क्योंकि इनके बढ़े हुए दोषों के कारण केवल दोषों का उत्क्लेशमात्र होता है किन्तु अल्पमात्रा होने से प्रतिमर्श नस्य बढ़े हुए दोष या रोग का हरण नहीं कर सकता।**

प्रतिमर्श नस्य के १५ काल और उनके गुण—**(१) प्रातःकाल तथा (२) भोजन के अन्त में प्रतिमर्श नस्य देने से स्रोतों की शुद्धि होती है, मस्तक हलका होता है और मन प्रसन्न होता है। (३) मलत्याग के अन्त में (४) मूत्रत्याग के अन्त में (५) शिरोऽभ्यङ्ग के अन्त में (६) अञ्जन करने के अन्त में और (७) कवलग्रहक्रिया के अन्त में प्रतिमर्श नस्य के देने से दृष्टिनिर्मलता प्राप्त होती है। (८) दन्तधावन के अन्त में देने से दांत दृढ होते हैं और मुख सुगन्धित होता है (९) अध्वमार्ग चलकर (१०) व्यायाम कर के तथा (११) व्यवाय-मैथुन के अन्त में देने से श्रम, क्लम और स्वेद के अवरोध का नाश होता है (१२) दिन में सोने के बाद देने से निद्रा, शोष तथा जडता का नाश होता है और मन प्रफुल्लित होता है (१३) अति हँसने के अन्त में देने से वायु की शान्ति होती है (१४) छर्दि–वमन के अन्त में देने से स्रोतों में लीन हुए कफ का नाश होता है, और (१५) दिन के अन्त में प्रतिमर्श नस्य के देने से स्रोतों की भलीभांति शुद्धि होती है, सुख से नींद आती और जागना होता है।**

भवति चात्र[1]

प्रमाणं प्रतिमर्शस्य बिन्दुद्वितयमिष्यते।<br>
बिन्दुर्वा येन चोत्क्लेशो नानुत्क्लिष्टस्य जायते॥<br>
निष्ठ्यूते यत्र वा स्नेहो न साक्षादुपलक्ष्यते।<br>
न नस्यमूनसप्ताब्दे नातीताशीतिवत्सरे॥<br>
न चोनाष्टादशे धूमः कवलो नोनपञ्चमे।<br>
न शुद्धिरूनदशमे न चातिक्रान्तसप्ततौ॥<br>
आजन्ममरणं शस्तः प्रतिमर्शस्तु बस्तिवत्।<br>
मर्शवच्च गुणान् कुर्यात्स हि नित्योपसेवनात्॥<br>
न चात्र यन्त्रणा नापि व्यापद्भ्यो मर्शवद्भयम्।<br>
तैलमेव च नस्यार्थे नित्याभ्यासेन शस्यते॥<br>
शिरसः श्लेष्मधामत्वात्स्नेहाः स्वस्थस्य नेतरे।<br>
आशुकृच्चिरकारित्वं गुणोत्कृष्टावकृष्टता॥<br>
मर्शे च प्रतिमर्शे च न विशेषो भवेद्यदि।<br>
को मर्शं सपरीहारं सापदं च भजेत्ततः॥<br>
अच्छपानविचाराख्यौ कुटीवातातपस्थिती।<br>
अन्वासमात्राबस्ती च तद्वदेव च निर्दिशेत्॥

इत्येकोनत्रिंशोऽध्यायः॥ २९॥

१. भवन्ति चात्र इ. पा.

प्रतिमर्शनस्यका प्रमाण—प्रतिमर्श नस्य का प्रमाण दो बूंद या एक बूंद है। इतनी अल्प मात्रा होने से अनुक्लिष्ट दोष का उत्क्लेश नहीं होता इस लिए वह चाहे जैसे निर्बल रोगी को भी दुःखदायी नहीं होता और अत्यल्प मात्रा के कारण नाक सींकने पर न प्रत्यक्ष स्नेहका अंश ही दिखाई देता है।

प्रतिमर्श नस्यकी कालमर्यादा—इस प्रकार का यह नस्य सात वर्ष से कम अवस्था में और अस्सी वर्ष से अधिक आयु में नहीं देना चाहिए।

धूम और कवल की कालमर्यादा—अठारह वर्ष से कम आयु-वाले को धूमसेवन नहीं कराना चाहिए तथा पांच वर्ष से कम अवस्था में कवलग्रहविधि नहीं करनी चाहिए।

वमन—विरेचनादि संशोधन की कालमर्यादा—दस वर्ष से कम आयु में और सत्तर वर्ष से अधिक आयु में वमन विरेच-नादि संशोधन का देना निषिद्ध है।

प्रतिमर्श नस्य सेवनका फल—जन्म से लेकर मरण पर्यन्त नित्य सेवन करने से प्रतिमर्श नस्य वस्तिकी तरह तथा मर्श नस्य की तरह फल देनेवाला है। विशेषता यह है कि मर्श नस्यकी तरह प्रतिमर्श नस्यमें न किसी प्रकार का नियम है और न कष्ट होता है तथा न मर्शकी तरह व्यापत्तियों का ही भय रहता है।

प्रतिमर्श में तेलका महत्त्व—नस्य में तैल ही नित्याभ्यास के लिए श्रेष्ठ है। इस लिए कि सिर कफ का स्थान है। कफ-शान्ति के लिए जितना तेल श्रेष्ठ है उतने घृतादि अन्य पदार्थ नहीं हैं।

मर्श नस्यकी विशेषता—मर्श नस्य का फल तुरन्त होता है वही प्रतिमर्श के प्रयोग से विलम्ब में होता है। मर्श नस्य अधिक गुणकारी है त्यों प्रतिमर्श उस की अपेक्षा अल्प गुण-कारी है। मर्श और प्रतिमर्श में यदि अन्तर न होता तो फिर कौन व्यक्ति है जो परीहार ( नियमादि ) युक्त तथैव व्यापत्ति-युक्त मर्श नस्य का सेवन करता? अर्थात् कोई भी नहीं करता। मर्श तथा प्रतिमर्श की तरह अच्छस्नेहपान और विचारणास्नेहपान में अन्तर नहीं होता तो कोई भी अच्छ-स्नेह का पान नहीं करता। इसी प्रकार कुटीप्रवेश और वातातपरसायन में भी अन्तर नहीं होता तो कोई भी निय-मादिरहित सरल वातातपरसायन को छोड़ नियमवाले कुटी-प्रावेशिक रसायन का सेवन नहीं करता। तात्पर्य यह है कि नियन्त्रण-व्यापत्तियों के रहते हुए भी प्रतिमर्श की अपेक्षा मर्श, विचारणास्नेह की अपेक्षा अच्छ स्नेह तथैव वातात-परसायनकी अपेक्षा कुटीप्रावेशिक रसायन अधिक गुणों के देने वाले हैं।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी-व्याख्यायां नस्यविधिर्नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः।

# अथ त्रिंशोऽध्यायः।

अथातो धूमपानविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

धूमपानाध्याय—इस से पहले अध्याय में कथित नस्य-विधि की तरह धूमपान भी मस्तक के दोषों को हरण करता है अतः उस के अध्याय का आरम्भ करते हुए आचार्य कहते हैं कि अब हम जिस में धूमपानविधि का वर्णन है उस धूम-पानविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि आत्रेय आदि महर्षियोंने पहले किया है।

धूमो हि शिरोऽक्षिकर्णशूलाभिष्यन्दगौरवार्द्धावभे-दकपीनसकासश्वासास्यवैरस्यप्रसेकवैस्वर्यपूतिघ्राणमुख-हिध्मागलरोगदन्तशूलदौर्बल्यारुचिहनुमन्याग्रहकृमिक-ण्डुपाण्डुत्वक्केशदोषक्षवथुनाशबाहुल्यतन्द्राऽतिनिद्राक्र-थनातिजत्रूर्ध्वगतवातकफव्याधिप्रशमाय प्रयुज्यते। तथा शिरःकपालेन्द्रियमनोबृंहणप्रसादनाय च। शीत-द्रव्यनिवृत्तोऽप्यग्निसंयोगादुष्णतया पित्तरक्तविरुद्धः। स त्रिविधो भवति शमनो बृंहणः शोधनश्च। तथा कासघ्नो वामनो व्रणधूपनश्च। तत्र शमनः प्रायोगिको मध्यम इति पर्यायः। बृंहणः स्नेहनो मृदुरिति। शोधनो विरेचनस्तीक्ष्ण इति च।

धूमपान के योग्य प्राणी—जो शिरःशूल, आंख और कान के शूल से पीडित हैं, नेत्राभिष्यन्द, जडता ( आलस्य ), अर्धावभेदक ( आधासीसी ), पीनस, कास, श्वास, मुखवैरस्य, प्रसेक ( मुख से लार टपकना ), स्वरभेद, नासिका और मुख से दुर्गन्ध, हिचकी, कण्ठरोग, दांतों की पीडा, दुर्बलता, अरुचि, हनुग्रह ( ठोडी का जकड़ जाना ), मन्यास्तम्भ ( गर्दन का अकड़ना ), कृमिरोग, कण्डू ( खुजली ), पाण्डुत्वक् ( त्वचा का पीला या श्वेत हो जाना ), केशरोग, छींक का न आना या बहुत आना, तन्द्रा, अतिनिद्रा, सोते समय श्वास का रुकना, ऊर्ध्वजत्रुगत भाग में वायु और कफ का अतिकुपित होना, इन रोगों से पीडित हैं इन के लिए धूमपान का प्रयोग किया जाता है। इन के अतिरिक्त मस्तक, कपाल, इन्द्रिय और मन की पुष्टि तथा प्रसन्नता के लिए भी धूमपान का प्रयोग करना ठीक होता है। शीतल पदार्थों से बनाया जाने पर भी अग्निसंयोगद्वारा उष्ण होने से धूमपान पित्त और रक्त विकार में विरुद्ध होने से निषिद्ध है।

धूमपान के तीन प्रकार और उन के पर्याय—धूमपान के तीन प्रकार हैं ( १ ) शमन, ( २ ) बृंहण और ( ३ ) शोधन। तथैव ( १ ) कासघ्न ( २ ) वामन और ( ३ ) व्रणधूपन ये भी धूमपान के तीन प्रकार हैं। शमन, प्रायोगिक और मध्यम ये शमन के पर्याय हैं। बृंहण, स्नेहन और मृदु ये तीन बृंहण के पर्याय हैं। इसी प्रकार शोधन, विरेचन और तीक्ष्ण ये तीनों शोधन के पर्याय हैं।

अधूमार्हास्तु विरिक्तदत्तबस्तिरात्रिजागरिताभिह-तशिरोमधु-दधि-दुग्ध-मद्यस्नेहयवागूविषपयःपीतमत्स्या-

शितपाण्डुरोगप्रमेहोदराध्मानोर्ध्ववाततिमिररोहिणिका-रक्तपित्तिनोऽत्युष्णेऽन्येऽपि च । एतेषां हि भ्रम-ज्वरशिरोऽभितापेन्द्रियोपघाततालुशोषपाकधूमायनच्छ-र्दिमूर्च्छारक्तपित्तार्दितानि मृत्युं वा धूमो जनयति अतिमात्रश्चान्येषामपि ।

धूमपान के अयोग्य प्राणी—जिसने विरेचन लिया हो, जिसे बस्ति दी गई हो, रात्रि में जो जागरण किया हो, जिस के सिर में चोट लगी हो, जिसने शहद, दही, दूध, मद्य, स्नेह (तैल घृतादि) यवागू और विष पिया हो, जल पिए हुए, मछली खाए हुए, पाण्डुरोग, प्रमेह, उदर, आध्मान, ऊर्ध्ववात, तिमिर, रोहिणि का (कण्ठजिह्वामूलगत रोग), रक्तपित्तरोगी इन सबको तथा अत्युष्ण काल आदि अन्यान्य समयों में भी धूमपान नहीं कराना चाहिए।

धूमपान के अयोग्य प्राणियों को धूमपान कराने में दोष—उपर्युक्त रोगियों को धूमपान कराने से वह भ्रम, ज्वर, सिर का तपना, इन्द्रियोपघात ( इन्द्रियों के धर्म का नष्ट होना ) तालु का सूखना तथा पक जाना, आगे अंधियारी का आना, छर्दि, मूर्च्छा ( बेहोशी ), रक्तपित्त ( मुख, गुदा आदि से रक्त का निकलना ) और अर्दित अर्थात् मुंह का टेढ़ा हो जाना ये रोग होते हैं। इतना ही नहीं, धूमपान के अयोग्य प्राणियों को धूमपान कराने से वह उनको मार डालता है। इनके अतिरिक्त धूमपान के योग्य प्राणियों को धूमपान का यदि अतियोग हो गया तो वह भी मृत्यु का देनेवाला होता है।

तत्र वातकफान्यतरसंसृष्टं पित्तमुपलक्ष्य यथास्वं सर्पिःकषायपाननस्यास्यालेपाञ्जनपरिषेकान् स्निग्धरूक्ष-शीतान् प्रयुञ्जीत । एतेन सर्वधूमोपघातप्रतीकारा व्याख्याता ।

विशेषतस्तु सर्वस्रोतोऽभिगते धूमे ( तीव्रतरा वेदना ) भवत्योषाध्माननेत्ररागश्वासकासपीनसाङ्गस्व-रसादाम्लकाः[१] । तत्र घृतक्षीरेक्षुरसद्राक्षाशर्करोपयोग-स्तद्विधैरेव वमनं कटुतिक्तैरपि च नस्यगण्डूषाः ।

धूमपानजनित भ्रमज्वरादि की चिकित्सा—उपर्युक्त भ्रम, ज्वर आदि उपद्रवों का कारण सर्वथा पित्तप्रकोपक ही होता है अतः वायु और कफ करके संयुक्त उस पित्त का ठीक ध्यान रखते हुए उन उन रोगों की यथायोग्य चिकित्सा घृतपान, कषायपान, नस्य, मुख पर लेप, अञ्जन, परिषेकादि द्वारा करे जो कि स्निग्ध, रूक्ष और शीतल हों। सारांश यह है कि वात दोष प्रधान हो तो स्निग्ध, कफ दोष की प्रधानता में रूक्ष तथा पित्त के लिए शीतल कषायपानादिद्वारा उपचार करे।

सर्वस्रोतोगत धूम की चिकित्सा—धूम यदि सर्वस्रोतों में व्याप्त हो जाय तो उसकी विशेष चिकित्सा करे क्योंकि सर्व-स्रोतोगत धूम की अवस्था में वेदना तीव्रतर ( भयङ्कर ) होती है। यह तीव्र वेदना ओष ( दाह ), आध्मान ( पेट का फूलना ), नेत्ररोग ( आंखों का लाल हो जाना ), श्वास, कास, पीनस, शरीर और स्वर में जड़ता, अम्लपित्तादि द्वारा होती है। इनकी यथायोग्य चिकित्सा घृत, दूध, ईख का रस, अङ्गूर ( द्राक्षा ) और शर्करा ( मिश्री ) के उपयोग को करके करे और इसी प्रकार वमन, कटुतिक्त पदार्थों के नस्य और गण्डूष ( कुल्ले ) कराकर करना चाहिए।

पानकालास्त्वष्टौ प्रायोगिकस्य निशामूत्रशकृद्दन्त-धावनस्वेदनस्याहारशस्त्रकर्मान्ताः । एकादश मृदोः क्षुत-व्यवायहसितचिरासितजृम्भितमूत्रशकृद्दन्तधावनतर्पण-पुटपाकशस्त्रकर्मान्ताः । पञ्च तीक्ष्णस्य नस्याञ्जनछ-र्दितस्नानाहःस्वप्नान्ताः । एषु हि कालेषु वातकफो-त्क्लेशो भवति ।

प्रायोगिक धूमपान के काल—प्रायोगिक धूमपान करने के आठ काल हैं यथा (१) रात्रि के अन्त में, (२) सूत्रोत्सर्ग के अन्त में, (३) मलोत्सर्जन के अन्त में, (४) दातुन करने के बाद, (५) स्वेद लेकर, (६) नस्य लेने के अन्त में, (७) भोजन करने के बाद और (८) शस्त्रकर्म के अन्त में।

मृदु धूमपान के काल - मृदु धूमपान के ग्यारह काल हैं। यथा—(१) छींक लेने के बाद, (२) मैथुन के अन्त में, (३) हँसने के बाद, (४) चिरकाल तक बैठने के अनन्तर, (५) जृम्भा अर्थात् जम्भाई लेने के पश्चात्, (६) मूत्रोत्सर्जन करके, (७) मलविसर्जन के अनन्तर, (८) दतुवन करने के बाद, (९) तर्पणक्रिया के अनन्तर (१०) पुटपाकक्रिया के अनन्तर और (११) शस्त्र कर्म के अनन्तर।

तीक्ष्ण धूमपान के काल—तीक्ष्ण धूमपान के काल पांच हैं। यथा—(१) नस्य के अन्त में, (२) अञ्जन करने के अन्त में, (३) वमन के अन्त में, (४) स्नान करने के बाद तथा (५) दिन में शयन करने के बाद।

इन बताए हुए कालों में धूमपान करने से कुपित वायु और कफ का उत्क्लेशन होता है अर्थात् वात और कफ ढीले होकर उनका निस्सरण होता है।

नेत्रं तु बस्तिनेत्रद्रव्यभवं गोपुच्छाकारमग्रमूलयोः कनिष्ठिकाङ्गुष्ठाग्रपरिणाहं राजमाषधूमवर्तिप्रवेशच्छिद्र-मृजु त्रिकोशं श्लक्ष्णं शिथिलशलाकागर्भं शमनादिषु क्रमादातुराङ्गुलमानेन चत्वारिंशद्द्वात्रिंशच्चतुर्विंशत्यङ्गुलं कुर्यात् । कासघ्ने वमने च दशाङ्गुलं व्रणधूपनार्थेऽष्टा-ङ्गुलं कलायपरिमण्डलं कुलत्थवाहि स्रोत इति । एवं हि धूमो दूरात्प्रवृत्तो नेत्रस्य पर्वच्छेदादूर्ध्वं तनुतया च शनैः श्लिष्यन्न बाधको भवति ।

धूमपानयन्त्र का प्रमाण—धूमयन्त्र-बस्तियन्त्र जिन स्वर्णादि धातु तथा काष्ठादि से बनाया जाता है। उन्ही का बनाया हुआ, गोपुच्छ के आकार का अर्थात् ऊपर (मोटा) और नीचे पतला, जिसका अग्रभाग और मूलभाग ( नीचे और ऊपर का भाग ) कनिष्ठिका और अङ्गुष्ठ के प्रमाण मोटे छिद्र-वाला अर्थात् अग्र नीचे का भाग कनिष्ठिका अङ्गुली के अग्र भाग के बराबर छिद्रवाला होना चाहिए जिसमें धूमवर्ति

१. अंशोऽयं नास्त्यपरपुस्तके २. भवन्त्योषा ।

प्रविष्ट की जाती है और मुख्य अर्थात् ऊपर वाला वह भाग जिसमें धूमद्रव्य भरा जाता है वह अंगूठे के अग्रभाग के बराबर छिद्रवाला होना चाहिए। धूपवर्ति का प्रवेश-छिद्र ऐसा होना चाहिए कि जिसमें राजमाष (चवलासंज्ञक धान्य) का दाना समा सके और सरल सीधा होना चाहिए। इसमें तीन कोश (पर्व) ऊपर की ओर से उत्तरोत्तर सूक्ष्म छिद्र या विवरवाले होने चाहिए। यह चिकना होना चाहिए और इस यन्त्र का गर्भ ऐसा हो कि जिसमें शलाका डाल कर उसमें के द्रव्य को शिथिल या पोला किया जा सके। शमनादि अर्थात् मध्यम, स्नेहन और तीक्ष्ण धूमपान करने के लिए धूमनलिका क्रमसे रोगीके अंगुल-मानसे ४०, ३२ और २४ अंगुलकी बनानी चाहिए। कासघ्न और वमन-संज्ञक धूमनलिका १० अंगुलकी तथा व्रणके धूपन करनेके लिए धूमनलिका ८ अङ्गुल की और कलाय (मटर) के समान चौड़े मुख्य छिद्रवाली तथा नीचे का छिद्र जिसका ऐसा हो कि जिसमें कुलथी का दाना समा सके। इस प्रकार करने से धूम की प्रवृत्ति दूरसे होने से, धूमयन्त्र के तीनों पर्व ऊपर से उत्तरोत्तर नीचे की ओर सूक्ष्म होने से धूम की प्रवृत्ति शनैः शनैः होकर वह (धूम) बाधाकारक नहीं होता।

कासघ्नादिषु तु नेत्राभावे देवनलवंशैरण्डादीनामन्यतमां नाडीं[३] योजयेत्।

धूमपान यन्त्र के अभाव में—कासघ्न आदि धूमपान में यदि धूमपानयन्त्र का अभाव हो तो वैद्य नल, बांस और एरण्ड आदि की नलिका लेकर भी उससे काम चला सकता है।

यथास्वं च धूमद्रव्याणां कल्केन श्लक्ष्णेनाक्षमात्रेण द्वादशाङ्गुलामिषीकामम्भस्यहोरात्रोषितां कृत्वा लेपयेत्। तत्र च नवाङ्गुलगर्भां पञ्चप्रलेपामङ्गुष्ठस्थूलां यवमध्यां छायाशुष्कां वर्तिं कृत्वा विगतेषीकां च स्नेहाक्तामङ्गारेषु प्रदीप्य नेत्रमूलच्छिद्रे च निधाय यथार्हं पानायोपनयेत्।

धूमवर्तिनिर्माणविधि—जिस दोष की शान्ति के लिए धूमपान कराना हो उस दोष के नाशक औषधों को एक कर्ष-प्रमाण में लेकर भलीभाँति महीन पीस कर कल्क बनावे। उस कल्क को एक दिन-रात भर जल में भिंगोई हुई इषीका (दर्भ या काश की शलाका) पर नव अङ्गुल तक गर्भ में रख कर पांच बार सुखा-सुखाकर लेप करे। तात्पर्य यह है कि १२ अङ्गुलवाली इस शलाका के आद्य और अन्त्य भाग को डेढ़-डेढ़ अङ्गुल खुली छोड़ कर बीच में ९ अङ्गुल के बराबर मोटी रहे और बीच गर्भ में एक जव के बराबर मोटी यह शलाका रहे। इसके भलीभांति सूख जाने पर बीच में से खींचकर शलाका निकाल लेवे और फिर स्नेह से चुपड़ कर अङ्गारों से प्रदीप्त कर धूमपानयन्त्र के मूल (नीचे के) छिद्र में रखकर जैसे उचित समझे पान करावे। वैद्य को चाहिये कि वह धूमपान का उतना ही उपदेश करे कि जिससे अति-योग-हीनयोग की व्यापत्ति न होने पावे।

१. त्रयः कोशाः पर्वाणि यस्य तत्त्रिकोशमित्यरुणः। २. त्रिकोशं यस्य वंशस्यान्तःस्तोकस्तोकेन त्रीणि सूक्ष्मच्छिद्राणीतीन्दुः। ३. नालीं इ० पा०

अथ धूमार्हः सुमना ऋजूपविष्टः प्राक्कृतोच्छ्वासनिश्वासो विवृतौष्ठदशनो नेत्राग्रनिविष्टदृष्टिः पर्यायेणैकैकं नासापुटं पिधायेतरेणाक्षिप्य मुखेनोत्सृजेत्। मुखेन तु मुखेनैव न नासया दृग्विघातभयात्।

धूमपान विधि—जिसको धूमपान करना है, उसे चाहिए कि वह उस समय चित्त को शुद्ध (प्रफुल्लित) रक्खे, सीधा बैठे, पहले अच्छी तरह श्वास-निश्वास ले लेवे, होठ और दांतों को खुला रक्खे, नेत्र (धूमपान यन्त्र) के अग्रभाग में दृष्टि रक्खे फिर पर्याय से एक एक नासापुट को ढककर और खुला रखकर धूमपान करे। तात्पर्य यह है कि जिस नासापुटको बन्द करे उसके दूसरे नासापुट से धूमपान करे। पर्यायेण (एक के बाद एक) अर्थात् जिससे धूमपान किया गया हो तो दूसरी बार दूसरे नासापुट से धूमपान करे। इसी प्रकार पर्यायेण फिर पहले नासापुट से धूमसेवन करे और दूसरे को बन्द रक्खे। नासापुटद्वारा पान किया हुआ धूम मुख के द्वारा बाहर छोड़े। इसी प्रकार मुख के द्वारा पान किया हुआ धूम भी मुख ही के द्वारा बाहर छोड़े किन्तु नासिका द्वारा कदापि बाहर न छोड़े क्योंकि नासिका द्वारा सेवन किया धूम बाहर छोड़ने से नेत्रों के विघात का भय होता है। इसलिए चाहे नासापुटद्वारा तथा चाहे मुखद्वारा धूमसेवन किया हो तो उसे मुख के द्वारा ही बाहर छोड़ना चाहिए।

तत्र प्रायोगिकं द्वौ द्वौ त्रींस्त्रीन्वाऽऽपानांस्त्रींश्च पर्यायात्कण्ठाच्चोर्ध्वमुत्क्लिष्टे दोषे पूर्वं नासया ततो मुखेन। कण्ठे तु पूर्वमास्येन परं चाहोरात्रस्य द्विः पिबेत्। स्नैहिकं त्रींस्त्रींश्चतुरश्चतुरो वाऽऽपानान् यावद्वाऽऽशुप्रवृत्ति[१]स्तथाहोरात्रस्य। तीक्ष्णं नासाभ्यामेव चतुरश्चतुरश्चापानान् यावद्वा स्रोतोलाघवं तथा त्रिश्चतुर्वाहोरात्रस्य। तत्राक्षेपविसर्गावापान इत्याहुः।

प्रायोगिक धूमपान का प्रमाण—प्रायोगिक धूमपान दो-दो बार पर्याय से करे। कण्ठ से ऊर्ध्वभाग में दोष के उत्क्लिष्ट होने पर पहले नाक से और फिर मुख से दो-दो या तीन-तीन बार धूमपान करे। यदि कण्ठ में ही दोष उत्क्लिष्ट हो तो पहले मुख से और फिर नाक से धूमपान करे दो-दो या तीन-तीन बार। इस प्रकार अहोरात्र में दो ही बार धूमपान करना प्रायोगिकविधि में श्रेष्ठ माना गया है। पहले कह आए हैं कि नासिका या मुख में से किसी के द्वारा धूमपान किया गया हो उसका उद्वमन (छोड़ना) मुख ही के द्वारा होना चाहिए नेत्रों में रोग हो जाने का भय होने से पिया हुआ धूम कदापि नासिका द्वारा बाहर नहीं छोड़ना चाहिए।

स्नैहिक धूमपान का प्रमाण—स्नैहिक धूमपान नासिकादि पर्याय से तीन-तीन या चार-चार बार करना चाहिए अथवा रात-दिन में इतनी बार स्नैनिक धूमपान करना चाहिए कि जिससे स्रोतों में उसकी शीघ्र ही प्रवृत्ति हो जाय अथवा जब तक रक्तप्रवृत्ति न हो जाय। स्नैहिक धूमपान अहोरात्र में एक ही बार करे।

१. यावद्वास्रप्रवृत्ति २. सकृदहोरात्रस्य।

तीक्ष्णधूम का प्रमाण—तीक्ष्ण धूमपान पर्याय से चार चार बार नासिका-पुटों ही के द्वारा करना चाहिए। जबतक कि स्रोतो-लाघव ( लघुता ) प्राप्त न हो जाय, तबतक तीक्ष्ण धूमपान करे। धूमपानविधि में यहां जो दो दो, तीन तीन तथा चार चार बार का निर्देश किया गया है सो आपानों का है। धूम को खींचकर पीछे छोड़ देने का नाम आपान है। तात्पर्य यह है कि धूम के दो दो, तीन तीन या चार चार आपान पर्याय से नासिका और मुख में करे।

कासघ्नं तु चूर्णं गुलिकां वा निर्धूमदीप्तस्थिराङ्गार-पूर्णे सुसंस्थिते शरावे प्रक्षिप्यान्येन बुध्नवृत्तच्छिद्रेण[1] शरावेणापिधाय निधाय च तत्र[2] स्रोतसि नेत्रं[3] मुखेनैव धूमं पिबेत्। उरःप्राप्तं च मुखेनैवोद्वमेत्। प्रशान्ते च धूमे पुनः क्षिपेत्पिबेच्चादोषशुद्धेर्लाघवाद्वा। तद्वद्वामन-मपि तिलकृशरामप्यनतिघनां[4] पीत्वा पिबेत्। तद्वच्च व्रणमपि धूपयेद्वैशद्याय क्लेदवेदनोपशमाय[5] च।

कासघ्न तथा वामन धूमपान की विधि—कासघ्न धूमपान के द्रव्यों के कूटे हुए चूर्ण तथा बनाई हुई गुटिका को निर्धूम ( जिसमें धुँवा न हो ), प्रदीप्त ( सुलगी हुई ) स्थिर अंगार से पूर्ण एक मिट्टी के शराव में डालकर उस पर दूसरे ऐसे शराव को रक्खे जिसके बीच में छिद्र किया हुआ हो। उस छिद्र में धूमपानयन्त्र के मुख को रखकर मुँह से ही धूमपान करे। छाती तक व्याप्त हुए उस धूम को मुख ही से बाहर निकाल देवे। धूम के शान्त होनेपर पुनरपि धूमपानद्रव्यचूर्ण-गुलिकादि प्रदीप्त अङ्गारों पर डाले और तबतक यथाविधि धूमपान करे जब तक कि दोष शुद्ध होकर शरीर में लाघव ( फुर्ती ) न आजाय। इसी प्रकार तिलकृशरा ( तिल की थूली ) जो विशेष गाढ़ी न हो उसे पान कर के फिर धूमपान करे। इसी प्रकार व्रणको धूपन करे। इस लिए कि व्रण को धुँवाँ देने से व्रण साफ हो जाय, उसमें का क्लेद (पूय-कीचड़) और वेदना का शमन हो जाय।

धूमस्यायोगे दोषोत्क्लेशाद्रोगवृद्धिः। अतियोगे प्रागुक्तमिति।

धूम के अयोग तथा अतियोग के दोष—धूमपान का यदि अयोग ( हीनयोग ) होगा तो उससे दोषों का उत्क्लेशन होकर रोग की वृद्धि होगी तथा धूम के अतियोग में वे दोष होंगे जो पहले कथन कर चुके हैं।

भवति चात्र।

हृत्कण्ठेन्द्रियसंशुद्धिः शिरसो लाघवं शमः।
यथेरितानां दोषाणां सम्यक्पीतस्य लक्षणम्॥
शमनो वातकफयोः संसर्गे स्वस्थकर्मणि।
बृंहणो मारुते शस्तो धूमः संशोधनः कफे॥

इति त्रिंशोऽध्यायः॥ ३०॥

१. मूर्धिन प्रवृत्तच्छिद्रेण २. तत्स्रोतसि ३. नेत्रं कृत्वा ४. कृसरा ५. शमनाय च।

सम्यक्पीतधूमपान के लक्षण—सम्यक् धूमपान होने के लक्षण ये होते हैं कि उस किए हुए धूमपान से हृदय, कण्ठ एवं इन्द्रियों की शुद्धि हो जाती है, मस्तककी जड़ता दूर होकर जो दोष कुपित होता है उस का शमन हो जाता है। स्वस्थ अवस्था में भी धूमपान वात और कफ के संसर्ग में शमन करता है। इतना ही नहीं, वातविकार में धूमपान करना बृंहण ( पुष्टिकारक ) होता है और कफ के संशोधन करने में भी श्रेष्ठ है।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाख्य-हिन्दीव्याख्यायां धूमपानविधिर्नाम त्रिंशोऽध्यायः॥ ३०॥

## अथैकत्रिंशोऽध्यायः।

अथातो गण्डूषादिविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

गंडूषविधि अध्याय—अब जिस में गण्डूषादिविधिका वर्णन है हम उस 'गण्डूषादिविधि' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियोंने किया है।

चतुर्विधो भवति गण्डूषः स्नैहिकः शमनः शोधनो रोपणश्च। तेषामाद्यास्त्रयः क्रमेण वातपित्तकफामयघ्नाः। रोपणस्त्वास्यव्रणघ्नः शमनः स्तम्भनः प्रसादनो निर्वापण इति पर्यायाः।

गण्डूष के चार प्रकार—गण्डूष के चार प्रकार हैं (१) स्नैहिक, (२) शमन, (३) शोधन और (४) रोपण। इनमें के पहले तीन वात, पित्त और कफ रोग के नाश करने वाले हैं अर्थात् स्नैहिक गण्डूष वात का शमन करता है, शमन गण्डूष पित्त का शमन करता है तथा शोधनसंज्ञक गण्डूष कफनाशक है। रोपणनामक गण्डूष मुख में हुए व्रण को नष्ट करनेवाला है अर्थात् व्रण का रोपण करता है—शमन, स्तम्भन, प्रसादन और निर्वापण ये इसके पर्याय हैं।

तत्र स्वाद्वम्ललवणोष्णैरौषधैः सिद्धो युक्तो वा नात्युष्णः स्नेहो मांसरसस्तिलकल्कोदकं क्षीरं वा स्नैहिकः। तिक्तकषायमधुरशीतैः पटोलारिष्टजम्ब्वाम्रमालतीपल्लवोत्पलमधुककाथसितोदकक्षौद्रक्षीरेक्षुरसघृतादिभिः शमनः। कट्वम्ललवणोष्णैः शिरोविरेचनद्रव्यैः शुक्तमद्यधान्याम्लमूत्रान्यतमकल्किताविलोडितैः शोधनः। रोपणस्तु कषायमधुरशीतैर्यथास्वं चोपदिष्टैः।

स्नैहिक गण्डूष के लक्षण—मधुर, अम्ल, लवण रसवाले उष्ण औषधों से तयार किया हुआ या इन ओषधियों से युक्त किंचित् उष्ण स्नेह ( तैल-घृतादि ), मांसरस, तिल के कल्क से तयार किया हुआ जल तथा दूध से जो कुल्ले कराए जाते हैं उसे स्नैहिक गण्डूष कहते हैं।

शमन गण्डूष के लक्षण—जो तिक्त, कषाय, मधुर रसवाली शीत ओषधियों से, परवल, नीम, जामुन, आम और मालती

( जाति ) के पत्तों तथा नीलोफर, मुलेठी के काढ़े के शीतल किए हुए जल, सितोदक ( शरबत-मिश्री का जल ), शहद, दूध, ईख ( सांठे ) का रस और घृतादि द्वारा कराया जाता है, उसे शमन गण्डूष कहते हैं।

शोधन गण्डूष के लक्षण— कटु, अम्ल और लवण रसवाली ओषधियों तथा उष्ण ओषधियों से एवं शिरोविरेचन द्रव्यों से तयार किया हुआ या युक्त शुक्त, मद्य, धान्याम्ल ( कांजी ) और गोमूत्र इनमें से किसी भी एक के साथ कल्कित या मिश्रितकर किया जानेवाला गण्डूष शोधन गण्डूष कहलाता है।

रोपण गण्डूष के लक्षण— जो कषाय, मधुर और शीतवीर्य ओषधियों के साथ दोषों के अनुसार यथायोग्यरीत्या शास्त्रीय उपदेशानुसार तयार कर गण्डूष ( कुल्ले ) कराए जाते हैं, उसे रोपण गण्डूष कहते हैं।

अपि च।

दन्तहर्षे दन्तचाले मुखरोगे च वातिके।
सुखोष्णमथवा शीतं तिलकल्कोदकं हितम्॥
गण्डूषधारणे नित्यं तैलं मांसरसोऽथवा।
ऊषदाहान्विते पाके क्षते चागन्तुसम्भवे॥
विषे क्षाराग्निदग्धे च सर्पिर्धार्यं पयोऽथवा।
वैशद्यं जनयत्यास्ये संदधाति मुखे व्रणान्॥
दाहतृष्णाप्रशमनं मधुगण्डूषधारणम्।
धान्याम्लमास्यवैरस्यमलदौर्गन्ध्यनाशनम्॥
तदेवालवणं शीतं मुखशोषहरं परम्।
आशु क्षाराम्बुगण्डूषो भिनत्ति श्लेष्मणश्चयम्॥

तिलकल्कोदक गण्डूष के लाभ— तिल का कल्क तयार कर उसको सुखोष्ण अथवा शीतल जल में मिलाकर कुल्ले कराने से दन्तहर्ष, दांतों का हिलना तथा वायु का मुखरोग शान्त होता है।

तेल और मांसरसगण्डूष के लाभ— नित्य प्रति तेल या मांसरसगण्डूष के धारण करने से मुख में की चसक, दाह, मुखपाक, मुँह में का क्षत अथवा आगन्तुसंभव क्षत शान्त होता है।

घृत और दुग्धगण्डूष के लाभ— मुख में घृत तथैव दुग्ध के गण्डूष धारण करने से विषविकार, क्षारदग्ध, अग्निदग्ध, शान्त होता है, मुख निर्मल होता है तथा मुख में के व्रणों का रोपण होता है।

मधुगण्डूष के लाभ— मधु ( शहद ) का गण्डूष मुख में धारण करने से दाह और तृषा का शमन होता है।

धान्याम्लगण्डूष का फल— धान्याम्ल ( कांजी ) का गण्डूष मुख में धारण करने से मुख-वैरस्य ( मुख का फीकापन ), मुख का मल, मुख की दुर्गन्धि इन सब का नाश होता है। यही विना नमक के ठण्डा गण्डूष मुखशोष के दूर करने में श्रेष्ठ है।

क्षाराम्बु-गण्डूष से लाभ— जवाखार या सज्जीखारादि युक्त जल के गण्डूष धारण करने से शीघ्र ही जमे हुए कफ के संचय का नाश होता है।

अथ निवाते सातपे सुखोपविष्टस्तन्मनाः स्विन्न-मृदितगलकपोलललाटदेशो वरमध्यावरां क्रमादर्धत्रिभागचतुर्भागपूर्णां द्रवमात्रां कल्कं वा कोलप्रमाणं किञ्चिदुन्नमितास्योऽनभ्यवहरन् धारयेत्[1]। कवले तु पर्यायेण कपोलौ कण्ठं च संचारयेत्। अयमेव च कवलगण्डूषयोर्विशेषः।

मुखे संचर्यते या तु सा मात्रा कवलः स्मृतः।
असंचार्या तु या मात्रा स गण्डूषः प्रकीर्तितः॥

पुनश्चास्य स्वेदमर्दनान्याचरेत्। एवमुत्क्लिष्टः कफो वक्त्रं प्रतिपद्यते। तावच्च धार्यो यावत्कफपूर्णकपोलता स्रवद्घ्राणनेत्रता भेषजस्य वाऽनुपहतिः कफेन। एवं त्रीन् पञ्च सप्त वा गण्डूषान् धारयेत्। यावद्वा सम्यग्धूमपीतलिङ्गोत्पत्तिः।

गण्डूषधारणविधि— जिसके कण्ठ, कपोल और ललाट स्वेदित एवं मृदित किए गए हों उस गण्डूष धारण करनेवाले को चाहिए कि वह निर्वात स्थान में जो कि गरम हो, भली भांति सुख से बैठकर, उस धारण किए हुए गण्डूष में मन लगाकर गण्डूष द्रव्य की द्रवमात्रा को श्रेष्ठ, मध्यम और हीनप्रमाण से मुख में धारण करे जिस के धारण करने से क्रम से मुख का आधा, तीसरा या चौथाई भाग व्याप्त हो जाय अथवा गण्डूषकल्क एक कोल ( बड़े बेर ) के मान मुख में धारण करे। यह गण्डूष या कवलधारणा किंचित् मुख को नीचाकर गण्डूष-द्रव्य न खाते हुए करनी चाहिए।

कवल और गण्डूष में विशेष— कवल और गण्डूष में यही अन्तर है कि कवलमात्रा को पहले कपोलों की ओर और फिर कण्ठ की ओर मुख में ही फिरानी चाहिए। कहा भी है कि- 'जिस मात्रा को मुख में संचारण की जाती है अर्थात् इधर उधर फिराई जाती है उसे कवल कहते हैं। जिस मात्रा को मुख में धारण कर स्थिर रक्खी जाती है उसे गण्डूष कहते हैं'। गण्डूष तथा कवल धारण करने के अनन्तर पुनः स्वेदन-मर्दन करे इस लिए कि स्वेदन-मर्दन से कफ उत्क्लिष्ट हो कर मुख में आ जाता है। गण्डूष एवं कवल तबतक धारण करे जबतक कि कपोलों में भली भांति कफ न भर जाय, नाक और नेत्रों से स्राव न होने लग जाय और कफ से ओषधि निर्बल न पड़ जाय। इस प्रकार तीन, पांच या सात गण्डूष धारण करना चाहिए अथवा जबतक सम्यक् धूमपान के लक्षणोंकी उत्पत्ति न हो जाय।

तस्य स्वास्थ्येन योगं, जाड्यरसाज्ञानारुचिप्रसेकोपलेपैरयोगं, मुखशोषपाकक्लमारुचिहृदयद्रवस्वरसादकर्णनादैरतियोगमुपलक्षयेत्।

गण्डूष के योग, अयोग और अतियोग की परीक्षा— गण्डूष धारण करने पर यदि सर्वथा स्वास्थ्य अच्छा प्रतीत हो तो जान लेना चाहिए कि गण्डूष का सम्यक् योग हुआ है अर्थात् गण्डूषधारण यथाशास्त्रोपदेश हुआ है। इस के विपरीत

[1] किञ्चिदुन्नतास्य इत्यष्टाङ्गहृदयपाठः।

यदि गण्डूष धारण के अनन्तर आलस्य, जीभपर डालने से किसी भी मधुर, लवण, कटुकादि रस का ज्ञान न होना, अरुचि, प्रसेक (लार टपकना), उपलेप ( मुख में कुछ लिपटा हुआ प्रतीत होना ), ये लक्षण हों तो जान लेना चाहिए कि गण्डूषविधि का अयोग हुआ है अर्थात् गण्डूषसेवनविधि ठीक नहीं हुई। यदि गण्डूषसेवन के बाद मुखशोष, मुखपाक, क्लम ( बेचैनी ), अरुचि, हृदय की धड़कन, स्वर का बैठ जाना और कर्णनाद ( कानों में नाद सुनाई देना ) ये लक्षण हों तो समझ लेना चाहिए कि गण्डूष का अतियोग हो गया है।

तेषां यथास्वं प्रतिकुर्वीत। प्रतिसारणं तु त्रिविधं गण्डूषोदितानां द्रव्याणां रसक्रिया कल्कश्चूर्णश्च। तदभिष्यन्दाधिमन्थगलशुण्डिकादिषु युक्त्या प्रयोज्यम्। अतिप्रसारणादूपाशोषदाहक्लेदशोफादयो भवन्ति।[1]

गण्डूष के अयोगातियोग की चिकित्सा—गण्डूषधारण के अनन्तर अयोग और अतियोग के कारण होनेवाले रोगों का निर्देश पहले कर चुके हैं, उनके होनेपर उन की चिकित्सा उस उस रोग के अनुसार करनी चाहिए।

प्रतिसारण के प्रकार और उस से लाभालाभ—प्रतिसारण के तीन प्रकार हैं ( १ ) गण्डूषक्रिया में वर्णित ओषधियों की रसक्रिया, ( २ ) कल्क और ( ३ ) चूर्ण। इन का उपयोग नेत्राभिष्यन्द, नेत्राधिमन्थ, गलशुण्डिकादि रोगों में युक्तिपूर्वक करना चाहिए। अतिप्रसारण भी हानि कारक होता है अर्थात् अतिप्रसारण मुख में चसक-चीस चलना, मुखशोष, दाह, क्लेद तथा सूजन आदि रोगों का करनेवाला होता है अतः अतिप्रसारण कदापि नहीं करना चाहिए।

मुखालेपोऽपि त्रिविधो दोषघ्नो विषघ्नो वर्ण्यश्च। त्रिप्रमाणश्चतुर्भागत्रिभागार्द्धाङ्गुलोत्सेधः। न चातिप्रमुखोऽतिभाष्यहास्यक्रोधशोकरोदनस्वेदनाग्न्यातपदिवास्वप्नान् सेवेत।[2] कण्डूत्वक्शोषपीनसदृष्ट्युपघातभयात्। न च शुष्यन्तुपेक्षितव्यः। शुष्को हि छविं दूषयति तमार्द्रयित्वापनयेत्। आलेपान्ते च मुखमभ्यञ्ज्यात्। न तु योज्यो रात्रिजागरिताजीर्णदत्तनस्यारुचिहनुग्रहप्रतिश्यायिनाम्।

मुखालेप के तीन प्रकार और विधि—मुखालेप ( मुख पर लेप करना ) तीन प्रकार का है यथा दोषघ्न, विषघ्न और वर्ण्य। दोषघ्न मुखालेप वातपित्तादि दोषों का शमन करता है। विषघ्न मुखालेप नाना प्रकार के विषों को शान्त करता है और वर्ण्य मुखालेप मुख के वर्ण या कान्ति को बढ़ाता है। मुख पर किए जानेवाले लेप के तीन प्रमाण बताए गए हैं जैसे कि चौथाई अङ्गुल, अङ्गुल की तिहाई के मान या आधा अङ्गुल जो लेपभूमि से ऊपर की ओर उठा हुआ या गाढ़ा हो। मुख पर लेप करके फिर मनुष्य को चाहिए कि वह अतिभाषण, अति हँसना, अतिक्रोध, अतिशोक, रुदन, स्वेदन, अग्नि पर तापना और दिन में सोना इनको वर्जित करे क्योंकि मुखालेप के बाद इनके करने से कण्डू, त्वचा का शोष, पीनस और दृष्टि के नाश होने का भय होता है। लेप के सूख जाने पर फिर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए इसलिए कि सूखा हुआ लेप मुखकी कान्ति को नष्ट करता है अतः उसे पानी से आर्द्र ( गीला ) कर तुरन्त दूर कर देना चाहिए। आलेप के अन्त में मुंह को धोकर साफ करना चाहिए।

मुखालेपके अयोग्य प्राणी—रात्रि में जिसने जागरण किया हो, जिसको अजीर्ण हुआ हो, जिसको नस्य दिया गया हो, जो अरुचि, हनुस्तम्भ और प्रतिश्याय का रोगी हो, इन सबके लिए मुखालेप ( मुखपर लेप लगाना ) वर्जित है।

सम्यक्प्रयुक्तश्चाकालवलीपलिततिमिरव्यङ्गतिलकादीन् प्रशमयति। स्वस्थस्य तु दृष्टिबलं पुण्डरीककान्तवक्त्रतां च करोति।

सम्यग्योग मुखालेपके लक्षण—सम्यक्तया मुखालेपके प्रयुक्त करने से वह अकाल में अर्थात् वृद्धावस्था के बिना जो शरीर में झुर्रियां पड़ना, बालों का श्वेत होना इन लक्षणों को नहीं होने देता ( युवावस्था में बुढ़ापे के चिह्न नहीं होने देता ) तथा इनके अतिरिक्त तिमिर ( मुखके सामने अंधियारी आना ), व्यङ्ग, तिल आदि मुख रोगों को शमन करता है। स्वस्थावस्था में मुखालेप करने से वह दृष्टि के बल को बढ़ाता है और कमल के समान सुन्दर मुख की कान्ति को करता है।

मूर्धतैलं पुनश्चतुर्धा भिद्यते, अभ्यङ्गः परिषेकः पिचुर्बस्तिरिति। यथोत्तरं ते बलिनः। तेष्वभ्यङ्गादयः प्रसिद्धस्वरूपाः। शिरोबस्तिविधिस्तु बस्तिं सुमृदितं द्विमुखं शिरःप्रमाणमाकर्णप्रवेशं[1] द्वादशाङ्गुलविस्तारं कुर्यात्। अथ शुद्धतनोः सायं रात्रौ वा स्वभ्यक्तस्विन्नस्य जानुसमसोपाश्रयासनोपविष्टस्य केशान्ते श्लक्ष्णं त्र्यङ्गुलं सुसूक्ष्मेण माषपिष्टेन सद्यः सुखाम्बुमृदितेनोभयतः प्रदिग्धं वस्त्रपट्टं बध्नीयात्। ततस्तस्योपरि सन्धाय बस्तिमाकर्णं बस्तिमूलं च[2] दृढमवलीकं समं चैलवेणिकया बध्वा पुनर्माषपिष्टेनापरिस्रावि कृत्वा यथाव्याधिदोषदूष्यहितं सिद्धमन्यतमं स्नेहं सुसुखोष्णमासेचयेद्यावत्केशभूमेरुपर्यङ्गुलम्।[3] तावच्च धार्यो यावत्कर्णमुखनासास्रुतिर्वेदनोपशमो वा भवति। विशेषतो वातजेषु विकारेषु दशमात्रासहस्राणि। पित्तरक्तजेष्वष्टौ। षट् कफजेषु। सहस्रमरोगकर्मणि। ततोऽपनीते स्नेहे विमुच्य बस्तिं शिरसः स्कन्धग्रीवापृष्ठललाटादीन्यनुसुखं मर्दयेत्। उष्णाम्बुना स्नातं च यथार्हं भोजयेत्। स्नेहोक्तं चास्याचारमादिशेत्। एवं त्रीणि पञ्च सप्त वा दिनानि योजयेदिति।

मूर्धतैलके चार प्रकार—मूर्ध अर्थात् सिरपर उपयोग किये

१. दूषाप्लोषदाहक्लेदशोषादयो भवन्ति।
२. खादनाग्न्यातप।

१. प्रदेशं। २. बस्तिं बस्तिमूलं च। ३. सुखोष्ण।

जानेवाले तेलको मूर्धतैल कहते हैं, इसके चार प्रकार हैं जैसे कि अभ्यङ्ग, परिषेक, पिचु और बस्ति। ये यथोत्तर बलवान् हैं अर्थात् अभ्यङ्ग (तैलमर्दन) से परिषेक (तैलसेचन) बलवान् है। तैलसेचन से पिचु (तैल से तर रुई का फाहा रखना) बलवान् है और फाहे से भी शिरोवस्ति अधिक बलवान् है। इनमें से अभ्यङ्गादि (अभ्यङ्ग, सेचन और पिचु) प्रसिद्ध हैं। शिरोबस्ति को कहते हैं।

शिरोबस्तिविधि—जिसके सिर पर तैलबस्तिका प्रयोग करना हो तो प्रथम उसके लिए नरम और दो मुखवाली १२ अङ्गुल चौड़ी किसी चर्म की ऐसी वस्ति बनावे जो कि सिर के ऊपर लिपट सके। लिपटना इस प्रकार चाहिए कि कानों के ऊपर के भाग तक आ सके। यहां दो मुखों से अभिप्राय यह है कि एक मुख से तेल भरा जा सके और दूसरे मुख से तेल सिर पर छोड़ सके। इसके अनन्तर स्वेदनस्नेहन किए हुए मनुष्य को सायंकाल या रात्रि के समय उसके जानु बराबर ऊंचे आसन पर बिठा कर उसके मस्तक के केशों के अन्तिम भाग से तीन अङ्गुल प्रमाण कपड़े की ऐसी पट्टी बांधे जो सूक्ष्म पिसे हुए तथा सुखोष्ण जल से भली भांति साने हुए उड़द के आटे से दोनों ओर से लिप्त हो। इसके अनन्तर उस पर वस्ति को रखकर कानों तक वस्तिमूल को कपड़े की पट्टी या डोरी से मजबूत बांध दे ता कि सूक्ष्म सन्धि से मस्तक पर का तेल बाहर न आ सके। यह सब हो जाने के बाद व्याधि के अनुसार अर्थात् भिन्न भिन्न रोग के दोष-दूष्य-शामक द्रव्यों द्वारा सिद्ध किया हुआ किसी भी जाति का सुखोष्ण तेल वस्तिद्वारा मस्तक पर तबतक सेचन करे जबतक कि केश भूमि से एक अङ्गुल मान तेल ऊपर न हो जाय। बस्ति द्वारा सेचित तेल को मस्तक पर तबतक धारण करे जबतक कि कान, नाक और मुख से स्राव न होने लगे तथा कान, मुख और नासिका की वेदना शान्त न हो जाय। वात से उत्पन्न विकारों में विशेषतः तेल को दस हजार मात्रोच्चारण तक मस्तक पर धारण करे। तात्पर्य यह है कि वातजन्य विकारों में पूर्वोक्त वेदनाशमनादि न हो तो दस हजार गिनती तक तेल को मस्तक पर रक्खे। इसी प्रकार पित्त और रक्तज विकारों में आठ हजार गिनती हो तबतक तथा कफ से उत्पन्न विकारों में छः हजार गिनती तक तेल को मस्तक पर धारण करे। नीरोग (स्वस्थ) अवस्था में एक हजार गिनती तक मस्तक पर तेल को रहने देवे। इसके अनन्तर मस्तक से तेल को दूर कर, बस्ति को खोल दे और स्कन्ध, ग्रीवा, पीठ, ललाट आदि को सुहाता सुहाता मर्दन करे और फिर गरम जल से स्नान करा कर यथास्व (दोष दूष्यादि के अनुसार) भोजन करावे। स्नेहविधि में कहे हुए आचरण का उपदेश करे। इस प्रकार तीन, पांच या सात दिन तक बस्ति की योजना करे।

भंवति चात्र।[1]

तत्राभ्यङ्गः प्रयोक्तव्यो रौक्ष्यकण्डूमलादिषु।
अरुंषिकाशिरस्तोददाहपाकव्रणेषु च ॥
परिषेकः पिचुः केशशातस्फुटनधूपने।
नेत्रस्तम्भे च, बस्तिस्तु प्रसुप्त्यर्दितजागरे॥
नासास्यशोषे तिमिरे शिरोरोगे च दारुणे।
कचशातनसितत्वपिञ्जरत्वं
परिस्फुटनं[2] शिरसः समीररोगान्।
जयति जनयतीन्द्रियप्रसादं
स्वरहनुमूर्धबलं च मूर्धतैलम्॥

अभ्यङ्गादि प्रयोग—रूक्षता, कण्डू और मल आदि विकार हों तो मस्तक पर अभ्यङ्ग (तेल का मर्दन) करना चाहिए। अरुंषिका (शिर में सूक्ष्म फोड़ों का निकलना), सिर में पीडा, दाह, पाक और व्रणों की अवस्था में सिर पर परिषेक (तैलसेचन) करना चाहिए। केशशात (बालों का झड़ना), केशों का फूटना, मस्तक में धुवां निकलने का-सा भास होना तथा नेत्रस्तम्भ इन रोगों की अवस्था में मस्तक पर पिचु (तेल में तर किया हुआ रुई का फाहा) रखना चाहिए। यदि प्रसुप्ति (सिर में स्पर्श करने का ज्ञान न होना), अर्दित, जागरण, नासाशोष, मुखशोष, तिमिर और तीव्र मस्तक की पीडा हो तो उसे शिरोबस्ति का देना हितकारी होता है।

मूर्धतैल के लाभ—बालों का झड़ना, बालों का श्वेत तथा पीले पड़ना, बालों का फूटना अर्थात् चिरना, मस्तक के वायुजन्य रोग इन सबको मूर्धतैल जीतता (नाश करता) है। इतना ही नहीं, इन्द्रियों में प्रसन्नता, स्वर में सुधार, हनुस्तम्भ का शमन और मस्तिष्क को मूर्धतैल बलवान् बनाता है।

धारयेत्पूरणं कर्णे कर्णमूलं विमर्दयन्।
रुजः स्यान्मार्दवं यावन्मात्राशतमवेदने ॥
यावत्पर्येति हस्ताग्रं दक्षिणं जानुमण्डलम्।
निमेषोन्मेषकालेन समं मात्रा तु सा स्मृता ॥

इत्येकत्रिंशोऽध्यायः॥ ३१॥

कर्णपूरणविधि—ओषधियों से सिद्ध तल को कान में भर कर कान के मूल में अंगुली से धीरे धीरे मर्दन करे। कान में तब तक तेल भरा हुआ रहने दे जब तक कि कान की पीडा शमन न हो जाय। स्वस्थ-अवस्था में कर्णपूरण तैल को सौ मात्रा तक अर्थात् सौ गिनने तक कान में रहने देना चाहिए।

मात्रा का प्रमाण—हाथ का अग्रभाग जितने समय में दक्षिण जानु को स्पर्श कर वापिस आ जाय उतने समय का नाम मात्रा है। यह मात्रा निमेष और उन्मेष काल के समान होती है।

इति वाग्भटकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी-व्याख्यायां गण्डूषादिविधिर्नामैकत्रिंशोऽध्यायः॥३१॥

[1] भवन्ति चात्र।

[2] परिपुटनं।

# अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः ।

अथात आश्च्योतनाञ्जनविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

आश्च्योतनाद्यध्याय—शिरोरोग या ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों का विषय चल रहा है। ऊर्ध्वाङ्ग में नेत्र सब में प्रधान है। उसको लेकर शालाक्यतन्त्र की रचना हुई है अतः अब नेत्रोपचारार्थ अध्याय का आरम्भ करते हुए आचार्य कहते हैं कि अब हम जिसमें आश्च्योतन तथा अञ्जनविधि बताई गई है उस 'आश्च्योतनाञ्जनविधि' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया है।

आश्च्योतनं सर्वाक्षिरोगेष्वाद्य उपक्रमः। नानाद्रव्यकल्पनया च रागाश्रुघर्षरुग्दाहतोदभेदपाकशोफकण्डूघ्नम्। अव्यक्तेष्वेवं गुणमेव पक्ष्मपरिहारेणाक्षिकोशालेपनम्। तच्च पुनर्बिडालकसंज्ञम्।

अक्षिरोगशामकों में आश्च्योतन की प्रधानता—सब प्रकार के नेत्र रोगों में प्रथम उपचार आश्च्योतन है जो कि नाना ओषधियों की कल्पना करके तयार किया जाता है और जो नेत्र रोग (नेत्रों की ललाई), नेत्रों से आंसुओं का निकलते रहना, नेत्रघर्ष, नेत्रपीडा, नेत्रों में जलन, नेत्रतोद, नेत्रभेद, नेत्रपाक, नेत्रों की सूजन और नेत्रों की खुजली को दूर करता है। इन रोगों के पूरे प्रगट न होने पर, नेत्रपलकों के गिरने पर पूर्वोक्त गुण को करनेवाला जो लेप नेत्रकोश पर किया जाता है अर्थात् नेत्रों में ओषधि न डालते हुए आजू बाजू में केवल लेप किया जाता है उसे बिडालक कहते हैं।

तयोरकालो रात्रिः। कालस्तु सर्वमहर्दिनोत्पत्तिर्वा। निवातशरणशयनस्थस्य विरोध्य नेत्रमपाङ्गेऽभ्यञ्जनं कृत्वा वामहस्तेनोन्मील्य दक्षिणहस्तेन शुक्त्यवसक्तया पिचुवर्त्या दश द्वादशाष्टौ वा बिन्दून् कनीनकदेशे द्व्यङ्गुलादवसेचयेत्। एवमनासन्नबिन्दुपातेनाक्षिताडनाद्रागादयो जायन्ते।

आश्च्योतन-बिडालक समय और विधि—आश्च्योतन और बिडालक इन दोनों के लिए रात्रि अकाल है अर्थात् रात्रि में ये कर्म नहीं करने चाहिए। आश्च्योतन एवं बिडालक के लिए सारा दिन तथा जिस दिन में पीड़ा की उत्पत्ति हो, वही काल उपयुक्त जानना चाहिए।

निवातशरण अर्थात् निर्वातगृह में शय्या पर स्थित रोगी के नेत्रों को बन्द कर पहले अपाङ्ग में अभ्यञ्जन (तैलमर्दन) करके फिर बाँयें हाथ से नेत्र को खोल कर दाहिने हाथ से आश्च्योतनार्थ द्रवयुक्त सीप में आधी निमग्न रूई की बत्ती या फाहे से कनीनक देश (नासिका से लगे हुए नेत्रभाग) में दो अङ्गुल ऊपर से दस, बारह या आठ बूँद नेत्र में अवसेचन करे अर्थात् छोड़े। जैसे कहा गया है, इस प्रकार न बैठ कर नेत्रों में बिन्दुपात करने से नेत्रों में पीडा होकर रागादि (नेत्रों का लाल हो जाना आदि) उपद्रव होते हैं अतः आश्च्योतनकर्म विधिवत् ही करना चाहिए।

आश्च्योतितं च मृदुना चैलेन शोधयेत्। अन्येन चोष्णाम्बुप्लुतेन वातकफयोः स्वेदयेत्। आश्च्योतनं च तयोः कोष्णम्। सुशीतं पित्तरक्तविकारेषु। तत्तु नात्यर्थं तीक्ष्णमुष्णं शीतं वा प्रभूतमूनमपरिस्रावितं वा योजयेत्।

आश्च्योतन के पश्चात् कर्म आदि—आश्च्योतन (सेचन) करके फिर मृदु (बारीक) कपड़े से पोंछ लेना चाहिए। वात और कफविकार हो तो गरम जल से भिगोए हुए कपड़े से स्वेदन करना चाहिए। इन वातकफ-विकारों में आश्च्योतनद्रव भी कोष्ण (सुहाने योग्य गरम) होना चाहिए और पित्तरक्त विकारों में अच्छा शीतल आश्च्योतन-द्रव होना चाहिए। अतितीक्ष्ण, अति उष्ण, अतिशीत, प्रभूत (अत्यधिक), ऊन (कम), अपरिस्रावि (जिसके बूँद टपक कर न पड़ सके) ऐसा आश्च्योतन नहीं होना चाहिए।

अतितीक्ष्णमुष्णं वा दाहरागपाकदृष्टिदौर्बल्यानि करोति। अतिशीतं स्तम्भाश्रुघर्षनिस्तोदान्। अतिमात्रं कषायवर्त्मतासंकोचस्फुरणोन्मीलनप्रवातासहत्वघर्षान्। ऊनप्रमाणान्न रोगशान्तिः। अपरिस्रुतमश्रुघर्षवेदनाः।

अतितीक्ष्ण और उष्णादि आश्च्योतन के दोष—अतितीक्ष्ण या उष्ण आश्चोतन के देने से नेत्र में दाह, राग (ललाई), पाक (नेत्रों का पकना) तथा दृष्टि में दुर्बलता पैदा होती है। अतिशीत आश्च्योतन से अक्षिस्तम्भ, अश्रुस्राव, घर्ष (नेत्रकर्करिका) और अक्षितोद (नेत्रों में टोंचने की सी पीड़ा) होती है। आश्च्योतन की अतिमात्रा होने से कषायवर्त्मता(नेत्रमार्ग का सूख जाना), नेत्रसङ्कोच, नेत्रों का फड़कना, नेत्र का कठिनता से बन्द होना और वायु का सहन न होना तथा घर्ष ये विकार होते हैं। न्यून प्रमाण में आश्च्योतन करने से रोग का शमन नहीं होता है आश्च्योतन द्रव के अपरिस्रावि होने से अश्रुपात और घर्षवेदना होती है।

नेत्रे च प्रणिहितमौषधं कोषसन्धिसिराशृङ्गाटकघ्राणास्यस्रोतांसि गत्वोर्ध्वं प्रवृत्तमपवर्त्तयति दोषम्।

नेत्र में आश्च्योतन द्रव्य के पहुँचने के लाभ—आश्च्योतन द्वारा नेत्र में प्रविष्ट किया हुआ औषध कोष, सन्धि, सिरा, शृङ्गाटक, घ्राण (नासिका) और आस्य (मुख) के स्रोतों में पहुँच कर ऊर्ध्व (जत्रूर्ध्व भाग) में प्रवृत्त हुए वातादि समस्त दोषों का निर्हरण करता है।

यदा चाश्च्योतनेनं पित्तश्लेष्मशोणितोत्थेषु नयनामयेषु संशोधनैर्विशुद्धस्य दूषिकाघनत्वपैच्छिल्यकण्डूद्रेकश्वयथुम्लानतारागविच्छेदैः पक्वलिङ्गमुपलक्षितं भवति तदा नेत्रमात्राश्रये व्याधावञ्जनं प्रयोज्यम्। न दोषवेगोदये न चानिर्हृतदोषे। तत्र हि दोषोत्क्लेशेन रागादिवृद्धिः शुक्रपाकतिमिरोत्पत्तिश्च।

१. आश्चोतना। २. एवमस्य न बिन्दु। ३. शरणं गृहरक्षित्रोर्वधरक्षणयोरपीति मेदिनी।

१. 'कषायवर्त्मतामिति रूक्षवर्त्मत्वम्' इति हेमाद्रिः। २. चाश्च्योतनेन ३. नेत्रपाक इ० पा०।

अञ्जन का विधिनिषेध—जब आश्च्योतन से पित्त, कफ और रक्त से उत्पन्न नेत्र-रोगों में संशोधन से विशुद्ध हुए प्राणी के दूषिका ( नेत्रमल ) के घनत्व, पैच्छिल्य, कण्डू के आधिक्य, शोथ, ग्लानता तथा राग के विच्छेद ( नष्ट ) हो जाने से दोषों के पक्वलिङ्ग ( पाक के चिह्न ) दिखाई दे तो केवल नेत्रमात्र के आश्रय में रहनेवाले रोगों में अञ्जन का प्रयोग करना चाहिए। ध्यान रहे कि दोषों के वेग में तथा दोषों का निर्हरण न हुआ हो तो अञ्जन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि दोषों के वेग एवं दोषों के रहते हुए अञ्जन का प्रयोग किया जायगा तो दोषों का उत्क्लेश होकर नेत्रों में राग आदि की वृद्धि, नेत्रपाक और तिमिर रोग की उत्पत्ति हो जायगी।

तत्तु लेखनं रोपणं स्नेहनं प्रसादनमिति चतुर्विधं भवति। तत्राम्लादिभी रसैः पञ्चभिः शुक्रार्मादिषु लेखनम्। तिक्तकषायैः सस्नेहैरभिष्यन्देषु रोपणम्। सर्पादिवसादिभिर्वाततिमिरादिषु स्नेहनम्। स्वादुशीतैः सस्नेहैरभिष्यन्दान्ते सूर्योपरागाशनिविद्युत्संपातभूतपिशाचात्यद्भुतदर्शनाद्युपहतायां दृष्टौ स्वस्थवृत्ते च प्रसादनम्। प्रसादन एव च चूर्णस्तीक्ष्णाञ्जनातिसंतप्ते चक्षुषि प्रयुज्यमानः प्रत्यञ्जनसंज्ञां लभते। षड्विधं वा प्रतिरसभेदादञ्जनम्। द्विविधमेव वा तीक्ष्णं मृदु च।

अञ्जन के चार प्रकार—लेखन, रोपण, स्नेहन और प्रसादन ये अञ्जन के चार प्रकार होते हैं।

लेखनाञ्जन—इनमें से लेखन अञ्जन वह होता है जो मधुर के अतिरिक्त अम्लादि अर्थात् अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय इन पांचों रसों द्वारा बनाया जाता है और जो शुक्रार्म आदि नेत्ररोगों में हितकारी है।

रोपणाञ्जन—रोपण अञ्जन वह है जो तिक्त और कषाय रसवाले औषधों में स्नेह ( घृततैलादि ) मिश्रित कर बनाया जाता है और जो अभिष्यन्दसंज्ञक नेत्र रोगों में प्रयुक्त होता है।

स्नेहनाञ्जन—स्नेहन अञ्जन वह है जो सर्प आदि प्राणियों की चर्बी आदि द्वारा बनाया जाता है और वात, तिमिर आदि रोगों में प्रयुक्त होता है।

प्रसादनाञ्जन—जो मधुर तथा शीत द्रव्यों द्वारा निर्मित तथा स्नेहों करके मिश्रित होता है वह प्रसादन अञ्जन कहलाता है। इसका उपयोग सूर्यग्रहण-वज्रपात-विद्युत् ( बिजली ) पात के कारण तथैव भूत-पिशाच-अत्यद्भुतदर्शन आदि से नष्ट हुई दृष्टि में तथा स्वस्थवृत्त ( नीरोगावस्था ) में किया जाता है। इसी प्रसादन अञ्जन की प्रत्यञ्जन संज्ञा होती है जब कि तीक्ष्ण अञ्जन से संतप्त नेत्रों में इसका चूर्णरूप से उपयोग किया जाता है।

अञ्जन के ६ प्रकार—प्रत्येक मधुरादि रसों के मान से अञ्जन के छः प्रकार होते हैं।

अञ्जन के दो प्रकार—तीक्ष्णांजन और मृदु अञ्जन ऐसे मोटे भेद करने से अञ्जन दो प्रकार का भी माना गया है।

कल्पना तु त्रिविधा पिण्डो रसक्रिया चूर्णश्च। यथापूर्वं ते बलिनः। तस्मात्प्रबलमध्यबलेष्वामयेषु क्रमात्तान् प्रयोजयेत्। तत्र पिण्डो हरेणुमात्रस्तीक्ष्णस्य। रसक्रिया विडङ्गमात्रा। तद्द्विगुणा मृदोः। चूर्णे द्विशलाकः। मृदोस्त्रिशलाकः।

अञ्जनकल्पना के तीन प्रकार—पिण्ड, रसक्रिया और चूर्ण इस प्रकार अञ्जन के लिए तीन प्रकार की कल्पना की गई है। ये यथापूर्वक बलवान् हैं अर्थात् चूर्ण से रसक्रिया और रसक्रिया से पिण्ड बलवान् है। इसलिए इनकी योजना प्रबल, मध्यम बल और अबल ( हीनबल ) में क्रम से करनी चाहिए। सारांश, नेत्ररोग की प्रबलता में पिण्ड, मध्यम बलता में रसक्रिया और व्याधि की हीनता में चूर्ण की योजना करनी चाहिए।

नेत्रों में डालने के लिए पिण्डादि की मात्रा का प्रमाण—तीक्ष्ण द्रव्यों द्वारा निर्मित पिण्ड में से एक हरेणु (निर्गुण्डी) के बीज के बराबर घिसकर नेत्रों में मात्रा डालनी चाहिए। यदि रसौत आदि द्वारा रसक्रिया तयार की हो तो उसमें एक वायविडङ्ग के बराबर मात्रा नेत्रों में डालनी चाहिए। और मृदु द्रव्यों द्वारा पिण्ड तथा रसक्रिया तयार हो तो दो वायविडङ्ग के बराबर उसकी मात्रा नेत्रों में डालनी चाहिए। यदि तीक्ष्ण द्रव्यों से चूर्ण ( अञ्जन-सुर्मा ) बना हुआ हो तो उसकी दो सलाई मात्रा नेत्रों में आंजनी चाहिए। यदि अञ्जन मृदु ओषधियों से बनाया गया हो तो तीन सलाई मात्रा नेत्रों में आंजनी चाहिए।

पात्रे तु कुर्यात्सौवर्णे मधुरं, राजतेऽम्लं, मेषशृङ्गमये लवणं, कांस्ये तिक्तं वैदूर्यमयेऽश्ममये वा कटुकं, ताम्रमय आयसे वा कषायम्। नलपद्मकपद्मकस्फटिकशङ्खान्यतमे शीतम्। एवमव्यापन्नगुणं भवति।

अञ्जनोपयोगी रसक्रिया के पात्र—रसक्रिया यदि मधुर रस से करनी हो तो पात्र सुवर्ण का लेवे। अम्लरसवाली रसक्रिया रजत ( रौप्य ) पात्र में तयार करे। इसी प्रकार लवण रस के लिए मेष ( मेंढे ) के सींग का पात्र करे। तिक्त रस के लिए कांसे का पात्र, कटुक रस के लिए वैडूर्यमणि या पत्थर का पात्र, कषाय रस के लिए तांबे या लोहे का पात्र लेवे। इसी प्रकार यदि शीत रसक्रिया करनी हो तो नल, पाखर, पद्मक ( पद्माख ), स्फटिक और शङ्ख इनमें से किसी के द्वारा बने हुए पात्र में तयार करे। इस प्रकार करने से रसक्रिया द्रव में किसी प्रकार का विकार पैदा नहीं हो सकता।

वर्तिघर्षणार्था च शिलातिश्लक्ष्णा निम्नमध्या[2]द्वारिणी पञ्चाङ्गुलायता त्र्यङ्गुलविस्तीर्णा।

वर्ति घिसने के लिए शिला—रस बनाने के अर्थ ओषधि की बनी बत्ती को घिसने के लिए शिला खरदरी न हो, अपि तु अति श्लक्ष्ण ( चिकनी ) हो, उसका मध्यभाग कुछ निम्न अर्थात् गहरा हो जिसमें घिसी हुई ओषधि रह सके, वह पांच अंगुल चौड़ी और तीन अंगुल मोटी होनी चाहिए।

१. पद्मकं स्यात्पद्मकाष्ठबिन्दुजालकयोरपीति मेदिनी।
२. निम्नमध्यानुकारिणीत्यपि पाठः।

शलाकाः पञ्च कनकरजतताम्रलोहोद्भवा अङ्गुली च । तत्राद्ये प्रसादनेऽञ्जने स्नेहने च । मध्या लेखने । अन्त्ये रोपणे । मृदुत्वादङ्गुल्येव प्रधानम् । अतःस-रुजेऽक्ष्णि सैव प्रयोज्या । शेषा दशाङ्गुला राजमाष-स्थूलाः सुश्लक्ष्णास्तनुमध्या मुखयोर्मुकुलाकाराः कलाय-परिमण्डलाश्च ।

अञ्जनार्थ सलाई का प्रमाण—अंजन के लिए सलाई (शलाका) पांच प्रकार की मानी गई है यथा-सुवर्ण, रजत, ताम्र और लोहे (शीशे) की बनी हुई और अङ्गुली। इनमें से पहली दो अर्थात् सोने और चांदी की सलाई का उपयोग प्रसादन और स्नेहाञ्जन में करना चाहिए, मध्या (तांबे की सलाई) का उपयोग लेखन संज्ञक अंजन में करे और अन्त्य की दो अर्थात् लोहे (शीशे की सलाई) की और अङ्गुली का उपयोग रोपण संज्ञक अंजन में करना चाहिए। मृदु है इसलिए सलाइयों में अङ्गुली ही प्रधान है अतः नेत्र में पीडा के समय अङ्गुली का ही उपयोग करना चाहिए। अङ्गुली के अतिरिक्त शेष सोने आदि की बनी चार सलाइयों का प्रमाण दस अङ्गुल लम्बी, राजमाष (चवला या मटर) के समान मोटी, बहुत चिकनी, बीच में जरा मोटी, अविकसित पुष्प की कली के समान मुखवाली अर्थात् मुख की जगह तीक्ष्णता-रहित चिकनी होनी चाहिए।

अथाञ्जनं नातिशीतोष्णाभ्रवातायां वेलायामुभय-कालं च योज्यम् । तथा सततं नैव वा ।

अञ्जन डालने का समय—जब अति शीत एवं अति उष्ण काल न हो, अति बद्दल एवं अति वायु न हो ऐसे समय में सायं प्रातः इन दोनों समय में अञ्जन का प्रयोग करना चाहिए तथा सतत (सदैव) अञ्जन का प्रयोग करना चाहिए या नहीं करना चाहिए। 'सतत अञ्जन' का प्रयोग करना या नहीं करना चाहिए। इसका भावार्थ स्वस्थवृत्त से है। जिसको स्वस्थ अवस्था में सतत अंजन के लगाने से अच्छा लाभ होता है, उसको सतत अर्थात् नित्यप्रति सायं-प्रातः अंजन का सेवन करना चाहिए और किसी किसी को सतत अंजन लगाने से लाभ के विपरीत कष्ट होता है उसको सतत अंजन सेवन नहीं करना चाहिए। सारांश यह है कि जिसके लिए उचित हो वह सतत अञ्जन लगावे किन्तु जिसको अनुचित प्रतीत होता हो वह अञ्जन न लगावे। यह देखा जाता है कि जिनको उचित नहीं होता उनको अञ्जन पीडाकारक होता है और जिनके लिए उचित होता है उनको सदैव सुख देता है। यह बात स्कन्दरचितसंस्कृत 'वैदेहीसंहिता' में लिखी हुई भी है। (देखिए टिप्पणी)

१. मृदुत्वादङ्गुल्यत्र प्रधानतमा। २. अन्तः।

३. सदोभयकालं च योजयेत्। नैव वा कस्यचिदञ्जनं योज-येत्। एतावता एतदुक्तं भवति। उचिताञ्जनाय सततमञ्जनं देयम्। अनुचिताञ्जनाय नैव देयमिति। तथा च वैदेह्यां संहितायां स्कन्दरक्षितसंस्कृतायां पठ्यते—'अनञ्जनेनाभ्युचितान्मनुष्यान् प्रबा-धते दत्तमिहाञ्जनं तत्। अथाञ्जनेनाभ्युचितानेकाननञ्जनाद्व्याधि-रुपैति कृच्छ्रः॥ तस्माद्धि नित्याञ्जनमेव पथ्यमनञ्जनं चानुचितस्य पथ्यम्। अनञ्जनात्वञ्जनमेव भूयस्तस्माद्धि नित्याञ्जनमेव कुर्यात्॥ अनञ्जनो यस्तु पुनर्मनुष्यः कथं सुखी स्यात्पुनरञ्जनेन॥' इतीन्दुः।

सरुजे चाक्ष्णि प्राक् पश्चादितरस्मिन् । अन्यथाक्ष-नोद्वेगसंकुचितेन्तःसम्यगौषधं नानुप्रविशेत् । तत्रैव-मतिशीतादिषु यथास्वं दोषोत्क्लेशाद्विकारपरिवृद्धिः ।

अञ्जन का विशेष नियम—जिस आंख में पीडा हो अर्थात् एक आंख में पीडा हो और दूसरी आंख में पीडा न हो तो जिसमें पीडा हो उस आंख में पहले अञ्जन करे और उसके बाद दूसरी आंख में अंजन करे। यदि इसके विपरीत अर्थात् पहले जिसमें पीडा नहीं है, उसमें अंजन कराया जायगा तो पीडावाली आंख में संकोच होकर वह नहीं खुलेगी और उसमें ओषधि प्रविष्ट नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार यदि अतिशीत, अत्युष्ण आदि समय में अञ्जन कराया जायगा तो वह दोषों को कुपित कर विकार में वृद्धि करनेवाला होगा।

न च योज्यं क्रुद्धभीतशङ्कितशोकितश्रान्ताशित-मात्रविरिक्तधूमपमद्यपीतदत्तनस्यरात्रिजागरितवेगितरुदि-तपिपासितज्वरितच्छर्दितार्तताान्तनेत्राभिहतशिरोरुजा-र्तशिरःस्नातानुदितादित्येषु । एष्वञ्जनाद्धूमोर्ध्वगः संरम्भाश्रुवेदनाविलत्वोपारागदूषिकानिस्तोदकृच्छ्रोन्मी-लनश्वयथुशुक्रतिमिरादीन् जनयेत् ।

अञ्जन के अयोग्य प्राणी—जिसे क्रोध व्याप्त हुआ हो, जो डर गया हो, शङ्कित हो, शोकयुक्त हो, परिश्रम से थका हुआ हो, तुरन्त भोजन किया हुआ हो, जिसे विरेचन (जुलाब) दिया गया हो, धूमपान किया हुआ, मद्य पिया हुआ, जिसे नस्य दिया गया हो, रात में जागरण किया हुआ, मलमूत्रादि का वेग आया हुआ, रुदन किया हुआ, प्यासा, ज्वर से पीडित, वमन से पीडित, तान्तनेत्र (उष्णता आदि से जिसके नेत्रों में ग्लानि आ गई हो), जिसे चोट आई हो, सिर में पीडा हो, सिर से नहाया हुआ इन सबको आदित्य (सूर्य) के उदय न होते हुए अञ्जन नहीं कराना चाहिए।

अयोग्यों को अञ्जन कराने में दोष—अञ्जन अयोग्य प्राणियों का निर्देश ऊपर कर चुके हैं। इनको अञ्जन दिया जायगा तो अञ्जन के कारण उत्पन्न हुई ऊष्मा गरमी ऊपर की ओर जाकर दोषों को कुपित कर अश्रुपात, नेत्रपीडा, नेत्रों में मालिन्य, नेत्रों में चसक, नेत्रों का लाल हो जाना, नेत्रों में मल आना, निस्तोद (नेत्रों में तोड़ने के समान पीडा) बड़े कष्ट से नेत्रों का खुलना, नेत्रशोथ, शुक्र (नेत्र रोगविशेष), और तिमिर इन विकारों को पैदा करता है।

अथ समसुखोपविष्टस्योपविष्टो वामाङ्गुष्ठेन वर्त्मो-त्तरमुत्क्षिप्य कृष्णभागस्याधःकनीनकादपाङ्गं यावदञ्जनं नयेदनल्पमप्रभूतमनतितीक्ष्णमनच्छमसान्द्रमकर्कशम-द्रुतमविलम्बितमतिर्यग्दृष्ट्यकम्पितमघट्टितमनाक्रान्तं च । चूर्णे तु गतागतं कुर्यात् । अन्यथा हि रागाश्रुशुक्रा-द्युत्पत्तिः । ततोऽञ्जनानुगमनायानुन्मीलयन् शनै-

१. श्रान्ताशितविरिक्त। २. छर्दितान्ततान्त।

शनैरन्तश्चक्षुः संचारयेत्। एवमन्यनुगच्छति। वर्त्मनी किंचिच्चालयेत्। न तु सहसोन्मेषणनिष्पीडनप्रक्षालनानि कुर्यात्। बाष्पोत्क्लिष्टदोषस्तम्भभयात्।

अथाञ्जन विधि—भलीभांति बैठा हुआ वैद्य सुखपूर्वक बैठे हुए रोगी के नेत्र की पलक को बायें हाथ के अंगूठे से ऊपर की ओर उठाकर नेत्र के काले भाग के नीचे (बीनाई के नीचे) कनीनक ( कान के समीपवाले भाग ) तक अञ्जन को ले जाय। अञ्जन अनल्प ( बिल्कुल कम न हो ), अप्रभूत (अधिक भी न हो ), अतितीक्ष्ण न हो, अनच्छ ( अच्छ–नितान्त श्वेत न हो ), असान्द्र ( गाढ़ा न हो ), अकर्कश ( खरदरा–कण के रह जाने से चुभनेवाला न हो ), अद्रुतं ( डालने में अतिशीघ्रता न की गई हो ) और न विशेष विलम्ब ही किया गया हो, सीधी किन्तु तिर्छी दृष्टि करके न डाला गया हो, विशेष कठोर और चुभनेवाला न हो। पिण्ड अथवा रस क्रिया के अतिरिक्त अञ्जन चूर्णरूप हो तो उसे गतागत ( आंख में इधर से उधर और उधर से इधर की ओर लाना चाहिए। अन्यथा चूर्णरूप अञ्जन के एक ही जगह रहने से राग ( नेत्रों में ललाई ), आंसुओं का स्राव और शुक्रसंज्ञक नेत्र रोग की उत्पत्ति होती है। इसके बाद धीरे धीरे नेत्रोंको चलावे ताकि नेत्रोंमें अंजन प्रविष्ट हो जाय। किंचित् भौंहें भी चलावे परन्तु सहसा खोलना, दबाना, धोना नहीं चाहिए क्योंकि इससे दोषशमन नहीं होगा।

अपेतौषधसंरम्भं निर्वृतं नयनं यदा ।
व्याधिदोषर्तुयोग्याभिरद्भिः प्रक्षालयेत्तदा ॥
सुचैलेनाथ नयनं सव्याङ्गुष्ठेन दक्षिणम् ।
ऊर्ध्ववर्त्मनि संगृह्य शनैश्शोध्यं समन्ततः ॥
दक्षिणाङ्गुष्ठकेनैवं शोध्यं सव्यं च लोचनम् ।
वर्त्मप्राप्ताञ्जनाद्दोषो रोगान्कुर्यादतोऽन्यथा ॥

अञ्जन के अनन्तर प्रक्षालनादि कर्म—अञ्जन ओषधिका क्षोभ आपोआप शान्त हो जाने पर व्याधि, दोष और ऋतु के योग्य जल से नेत्रों का प्रक्षालन करे। प्रक्षालन करके फिर वाम अङ्गुष्ठ से जिसमें स्वच्छ वस्त्र लिपटा हुआ हो दक्षिण नेत्रको चारों ओर से साफ करे। ऊर्ध्व पलकको उठाकर इसी प्रकार दक्षिण अङ्गुष्ठ से ( जिसमें कपड़ा लगा हो ) वाम नेत्र को साफ करे। ध्यान रहे कि यह शोधन कर्म शनैः शनैः ( धीरे धीरे ) करे। नहीं तो वर्त्मभाग में प्राप्त हुआ अञ्जन बाहर न निकलने के कारण अनेक रोगों का करनेवाला होगा।

तीक्ष्णाञ्जनान्ते चैनं धूमं पाययेत्। यस्याञ्जिते कण्डूजाड्योपदेहाः स्युः। तस्य तीक्ष्णमञ्जनं धूमं वा पुनरवचारयेत्। एतदेव दुर्विरिक्ताक्षिलक्षणं साधनं च। अतिविरेकात्संतापनिस्तोदशूलस्तम्भघर्षाश्रुदारुणप्रतिबोधकषायवर्त्मताशिरोरुग्दृष्टिदौर्बल्यानि। तत्र शीतमाश्च्योतनं प्रत्यञ्जनं वा। सम्यग्विरेकाद्यथास्वमामयोपशमः। सुखोन्मीलननिमीलनवातातपसहत्वानि चेति।

तीक्ष्णाञ्जन के अनन्तर धूमपानादि कर्त्तव्य—तीक्ष्णाञ्जन देने के बाद धूमपान करावे। अञ्जन के करने पर भी यदि कण्डू जड़ता और प्रलेप की उत्पत्ति जान पड़े तो उसे तीक्ष्ण अञ्जन एवं धूमपान का फिर सेवन करावे। यही दुर्विरिक्त नेत्र के लक्षण और साधन हैं अर्थात् कण्डूजाड्यादिका होना दुर्विरिक्त नेत्र के लक्षण हैं और पुनरपि रोगी को तीक्ष्ण अञ्जन और धूमपान का सेवन कराना उसका साधन ( उपाय ) है।

अतिविरिक्त नेत्रके दोष और उनके उपाय—नेत्रका अतिविरेक होने से सन्ताप, टोंचने की सी पीड़ा, शूल, स्तम्भ, घर्ष, अश्रु, दारुण प्रतिबोध ( कठिनाई से देख पड़ना ), कषायवर्त्मता ( नेत्र के पलक शुष्क हो जाना ), सिर में पीड़ा तथा दृष्टि की दुर्बलता ये विकार होते हैं। इसके लिए शीतल आश्च्योतन (सेचन) और प्रत्यञ्जनका देना हितकारी होता है।

सम्यग्विरिक्त नेत्र के लक्षण—नेत्रों का भलीभांति सम्यक् विरेचन होने से उत्पन्न हुई व्याधियों का उपशम ( नाश ) हो जाता है। इतना ही नहीं, नेत्रों का सुख से खुलना—मींचना तथा वायु और धूपके सहने की शक्ति प्राप्त होती है।

भवति चात्र।

रोपणादिष्वपि तथा योगादीननुचिन्तयेत्।
दोषोदयानुसारेण प्रतिकुर्वीत तेषु च ॥

इति द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

उपसंहार—रोपणादि अञ्जनकर्म करते हुए वैद्य को चाहिए कि वह दोषों के अनुसार योगादि ( ओषधिप्रयोगादिक ) का विचार कर तयार करे तथा उक्त रोगों की चिकित्सा करे।

इति वाग्भटकृतावष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यायामाश्च्योताञ्जनविधिर्नामद्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

# अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः।

अथातस्तर्पणपुटपाकविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

तर्पणपुटपाकाध्याय—अब हम तर्पण और पुटपाक की विधि जिसमें वर्णित है उस तर्पण–पुटपाक–विधिनामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया है।

यन्नयनं परिताम्यति परिशुष्कं रूक्षं स्तब्धं जिह्मं निम्नमाविलमवनद्धं शीर्णपक्ष्म[2] तथा कृच्छ्रोन्मीलशिरोत्पात[3]सिराहर्षार्जुनशुक्र[4]तिमिराभिष्यन्दाधिमन्थान्यतोवातवातपर्याय[5]शुष्काक्षिपाकाल्पशोफादिरोगातुरमपगतरागाश्रुदूषिकावेदनं तत्र तर्पणं योजयेत्। न त्वशान्तोपद्रवेऽक्षिणि नातिशीतोष्णवर्षदुर्दिने न नस्यानर्हेषु च। तद्वत्पुटपाकमपि।

तर्पण और पुटपाक की आवश्यकता—ताम्यति[6] अर्थात् नेत्रों में देखने की असमर्थता होने या अन्धकारमय देखने पर, नेत्रों के

१. विधिर्नामाध्यायं। २. जीर्णपक्ष्म। ३. शिरोत्पात। ४. शुक्र। ५. पर्यय। ६. ताम्यति–'अवलोकनासमर्थे' इति हेमाद्रिः। ताम्यति—'अन्धकारमिव पश्यति, इति डल्हणः।

सूखने अर्थात् अश्रुरहित होने पर, रूखे-स्तब्ध टेढ़े रहने पर, नेत्रों के अधिक भीतर बैठ जाने पर, मलिन, अवनद्ध (जकड़ से जाना), नेत्रों के पलक गिरने पर तथा कष्ट के साथ खुलने, शिरोत्पात एवं नेत्र सिराओं के फड़कने, अर्जुन-शुक्र-तिमिर-अभिष्यन्द-अधिमन्थ-अन्यतोवात-वात—पर्याय-शुष्काक्षि—अक्षिपाक-अल्पशोथ आदि नेत्र रोगों के होने पर तथा जिस रोगी के नेत्रों की ललाई, अश्रुपात तथा दूषिकामलकी वेदना दूर हो गई है उसके लिए तर्पण की योजना करनी चाहिए। किन्तु जिसके नेत्रों के उपद्रव शान्त न हुए हों, अतिशीत—अत्युष्ण-वर्षा और दुर्दिन अर्थात् बद्दलों से छिपे हुए सूर्य या दिन में और जो नस्य देने के योग्य नहीं है, इन सबके लिए तर्पण की योजना नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार पुटपाक की योजना भी इनके लिए नहीं करनी चाहिए।

अथ दिवसस्याष्टमे भागे गते शेषे वा निर्वातातप-रजोधूमे[1] कृतनीलपीतान्यतरजवनिके[3] वेश्मनि जीर्णभक्तस्य सुखशयनगतस्योत्तानस्य सुमृदित[4]माषपिष्टकल्केन नेत्रकोशाद्बहिर्द्व्यङ्गुलोच्छ्रायावाधारौ परिमण्डलावसम्बाधौ समावपरिस्राविणौ कृत्वा तत्रोष्णोदकप्रविलीनं निमीलिते नेत्रे यथास्वौषधविपक्वं क्षीरं सर्पिः सर्पिर्मण्डं वावसेचयेद्यावन्निमग्नान्यक्षिपक्ष्माणि भ्रूरोमाणि च। ततः शनैरस्योन्मेषमाचरतो मात्रां[5] गणयेत्। वर्त्मजेषु विकारेषु शतं सन्धिजेषु त्रीणि शुक्लजेषु पञ्च कृष्णजेषु सप्त दृष्टिजेष्वष्टौ सहस्रमधिमन्थेषु। प्रतिदोषं तु वाते सहस्रं पित्ते षट् शतानि कफे पञ्च स्वस्थकर्मणि च।

तर्पणविधि—दिन का आठवां भाग गत हुआ हो या शेष हो अर्थात् प्रातःकाल या सायंकाल में (पौने चार घटि दिन चढ़ने तक या शेष रहने तक) उस घर में जिसमें वायु, धूप, धूलिकण और धुँवां न हो और जिसमें नील, पीत या अन्य किसी हरे रंग आदिका पर्दा लगा हो ऐसे स्थान में जिसका भोजन किया हुआ पच गया हो ऐसे भली भांति उत्तान (सीधे) लेटे हुए मनुष्य के नेत्रों के बहिर्भाग में चारों ओर दो अङ्गुल ऊंची अच्छे पिसे हुए उड़द के आटे की पाली बनावे जो कि दोनों नेत्रों के चारों ओर घिरी हुई एकसी हो और ऐसी हो कि जिसमें से नेत्रों पर डाला हुआ तर्पण द्रव चुहकर बाहर न आ सके। पाली बनाने के बाद मूंदे हुए नेत्रों पर यथोक्त औषधियों के साथ परिपक्व किया हुआ दूध, घृत जो कि गरम जल में रखकर पिघलाया हुआ हो अथवा घृत-सहित मण्ड इतना सेचन करे कि जिसमें नेत्रों के पलक और भौंहें दबी हुई रहें। अवसेचन करके तर्पण द्रव्यको आगे कही हुई मात्रा की गिनती तक भिन्न भिन्न रोगों की अवस्था में नेत्रों पर रहने दे। मात्रा का प्रमाण एक, दो, तीन गिनती करने में एक संख्या के उच्चार करने में जितना समय लगता है उतना समझना चाहिए अथवा आंख बन्द कर खोलने में जितना समय लगता है उसके बराबर जानना चहिए। तर्पण द्रव्य को नेत्रों पर वर्त्मज विकारों में एक सौ तक गिन्ती धीरे धीरे करे तब तक, संधिज विकारों में तीन सौ की गिन्ती तक, शुक्ल भागगत रोगों में पांच सौ गिनने तक, कृष्णभागगत रोगों में सात सौ गिनने तक, दृष्टिज रोगों में आठ सौ गिनने तक और अधिमन्थ विकारों में एक हजार मात्रा गिनने तक रखना चाहिए। दोषों के अनुसार वातजन्य व्याधियों में एक हजार मात्रा गिनने तक, पित्तोत्पन्न नेत्र रोगों में छः सौ मात्रा गिनने तक, कफजनित नेत्र व्याधियों में पांच सौ गिनने तक तथा स्वस्थावस्था में भी तर्पण द्रव्य इतने ही समय तक अर्थात् पांच सौ मात्रा गिनने तक रखना चाहिए। ध्यान रहे कि तर्पण द्रव्य के नेत्रों पर रहते हुए नेत्रों को धीरे धीरे खोलते और बन्द करते रहना चाहिए।

ततोऽस्यापाङ्गदेशे शलाकयाऽऽधारद्वारं[1] कृत्वा स्नेहं भाजने स्रावयेत्। आधारौ चापनीय कल्केनाक्षिकोशौ[2] प्रमृज्य स्नेहेरितकफोपशान्तये विरेचनं यथार्हं धूमं पाययेत्। सुखोदकप्रक्षालितमुखं चैनं यथाव्याधि भोजयेत्। आतपाकाशभास्वद्दर्शनानि च परिहरेत्। अनेन विधिना प्रत्यहं वायावेकान्तरं रक्तपित्तयोर्द्व्यन्तरं कफे स्वस्थे च। यथादोषोत्कर्षं संसर्गसन्निपातयोः। एवमेकाहं त्र्यहं पञ्चाहं वा कुर्यादाप्तेर्वा। तृप्तातृप्तातितृप्तलिङ्गानि तु क्रमात्स्वास्थ्यवातपित्तकफ[3]विकारैरादिशेत्।

तर्पण के पश्चात् कर्त्तव्य—भलीभांति तर्पण के हो जाने पर रोगी के नेत्रों के अपाङ्गदेश (कान के सामनेवाले) नेत्र के भाग की ओर बनाई हुई पाली में शलाका से छेद करके स्नेह को उसके द्वारा बर्तन में ले लेवे फिर दोनों नेत्रों के चारों ओर बनाई हुई उड़द के आटे की पालियों को दूर कर नेत्रकोश को यवकल्क से मर्दन कर स्नेह के कारण प्राप्त कफ की शान्ति के लिए वातपित्तादि दोषों के अनुसार विरेचन धूमपान करावे। इसके बाद सुहाते हुए गरम जल से मुँह को प्रक्षालित कराकर व्याधि के अनुसार रोगी को भोजन करावे। धूप और आकाश में भास्वत् (सूर्यादि) का देखना वर्जित कर दे। इस विधि से वात प्रधान रोग में प्रतिदिन, रक्तपित्त-जन्य रोगों में एक-एक दिन के अन्तर से तथा कफ और स्वस्थवृत्त में दो-दो दिन के अन्तर से तर्पण का सेवन करावे।

तृप्तातृप्तातितृप्त के लक्षण—तपर्ण करने के अनन्तर भलीभांति तृप्त, अतृप्त और अतितृप्त के लक्षण क्रम से स्वास्थ्य, वात, पित्त और कफ विकारों से जानना चाहिए अर्थात् सम्यक् तृप्त होने से मनुष्यको स्वास्थ्य का लाभ होता है। अतृप्त होने से वायु विकार की उत्पत्ति होती है और अतितृप्त होने से कफ विकार होता है।

यदा तु सम्यग्योगप्राप्तं तर्पणं भवति तदा तद्विधेष्वेव रोगेषु पुटपाकं विदध्यात्। स त्रिविधः स्नेहनो लेखनः प्रसादनश्च।

पुटपाक और उसके प्रकार—जब सम्यक्तया तर्पण संपन्न

१. 'मेघे च्छिन्नेऽह्नि दुर्दिनम्' इत्यमरः। २. निवातातप। ३. यवनिके। ४. मृदित। ५. मात्रां।

१. शलाकया द्वारं कृत्वा। २. यवकल्केनाक्षिकोशौ। ३. वातकफविकारैरादिशेत्।

हो जाय तब ही जिस नेत्रव्याधि के लिए तर्पण किया गया हो उस उस रोग के लिए पुटपाक का सेवन करावे। सम्यक् तर्पण के न होने पर पुटपाक न करे यही एव शब्द का तात्पर्य है। पुटपाक तीन प्रकार का है स्नेहन पुटपाक, लेखन पुटपाक और प्रसादन पुटपाक।

तत्र स्नेहनमानूपसाधारणमांसमेदोमज्जवसाभिस्तथा स्वादुद्रव्यैश्च क्षीरपिष्टै रूक्षेऽक्षिण प्रयोजयेत्। लेखनं जाङ्गलमृगपक्षिमांसयकृद्भिर्मुक्ताप्रवालशङ्खताम्रायस्समुद्रफेनकासीसस्रोतोजसैन्धवादिभिश्च लेखनद्रव्यैर्दधिमस्तुमधुपिष्टैः स्निग्धे। प्रसादनीयं तु जाङ्गलमृगपक्षियकृद्धृदयमज्जवसाभिर्मधुरद्रव्यैश्च स्त्रीस्तन्यक्षीराज्यपिष्टैः। स तु वातपित्तरक्तदृष्टिदौर्बल्यव्रणनाशनः कफविरुद्धः।

स्नेहन पुटपाक के लक्षण—स्नेहन पुटपाक वह होता है जो अनूप और साधारणदेश के प्राणियों के मांस, मेद, मज्जा तथा वसा द्वारा मधुर द्रव्यों एवं दूध के साथ पीस कर बनाया जाता है। इसकी योजना रूक्ष नेत्रों में करनी चाहिए।

लेखन पुटपाक के लक्षण—लेखन पुटपाक जाङ्गल देश के पशु-पक्षियों के मांस, यकृत् (कलेजा), मोती, मूंगा, शंख, ताम्र, लोह, समुद्रफेन, हीराकसी, स्रोतोञ्जन और सैन्धव नमक आदि को लेखन द्रव्यों तथा दही, मस्तु और शहद के साथ पीसकर तयार किया जाता है। इसका प्रयोग स्निग्ध-नेत्रों में किया जाता है।

प्रसादन पुटपाक के लक्षण—प्रसादन पुटपाक वह है जो जाङ्गल देश के पशुपक्षियों के यकृत्, हृदय, मज्जा और वसा (चर्बी) को मधुर द्रव्यों के साथ स्त्रियों के दूध, दूध और घृत से पीसकर बनाया जाता है और जिसका प्रयोग वात, पित्त, रक्त, दृष्टि की दुर्बलता तथा व्रण के नाशनार्थ किया जाता है।

अथ बिल्वमात्रं वेशवारीकृतं मांसपिण्डं तन्मात्रेणैवौषधपिण्डेन संसृज्यैरण्डपटोलपत्रैः[1] स्नेहनादिषु क्रमाद्वेष्टयित्वा कुशमुञ्जसूत्रान्यतमेन वेष्टयेत्[2]। मृत्प्रलेपनं चात्र द्व्यङ्गुलोत्सेधं कृत्वा धवधन्वनमधूकन्यग्रोध[3]काश्मर्यराजादनार्जुननक्तमालपाटलीनामन्यतमैः काष्ठैः शकृता वा गोमहिषयोः पचेत्। अग्निवर्णं चैनमपनीय विगतमृत्सूत्रपत्रं कृत्वा वस्त्रेण पीडयेत्। तेन रसेन सायं तर्पणवत्पूरयेन्नेत्रे। धारयेच्च स्निग्धे[4] शतद्वयं मात्राणां लेखने शतं प्रसादने त्रीणि शतानि। तर्पणवदेव धूपपानं प्रसादनवर्जम्[5]। सुखोष्णौ च पूर्वौ। शीतः प्रसादनः। पुटपाकस्त्वेकाहं द्व्यहं त्र्यहं वा योज्यः। द्विगुणश्च तर्पणपुटपाकयोः परिहारः। बद्धाक्षश्च[6] मालतीमल्लिकाकुसुमैर्निशां निवसेत्[7]। तथा पक्वातिसारेऽपि पुटपाकस्यायमेव विधिरिति।

पुटपाकविधि—एक बिल्व अर्थात् पल (चार तोले) भर भली भांति कूटे हुए या छिन्न भिन्न किए हुए मांसपिण्ड को उसी के बराबर ओषधिपिण्ड में मिलाकर एरण्ड, पटोल और कमल के पत्तों में स्नेहनादि पुटपाक में क्रम से लपेटकर अर्थात् स्नेहन पुटपाक करना हो तो एरण्ड के पत्तों में, लेखन पुटपाक करना हो तो पटोल के पत्तों में तथा प्रसादन पुटपाक करना हो तो उत्पल (कमल) के पत्तों में लपेट कर उस पिण्ड को मूंज, कुश या सूत इनमें से किसी से वेष्टन कर (बांधकर) उस पर दो अङ्गुल ऊंची रहे इतनी गीली चिकनी मिट्टी लेप देवे। इस के अनन्तर इस मृतिकालिप्त पिण्ड को धव, धावड़ा, महुआ, बड़, गम्भारी, चार, अर्जुन, करञ्ज (लता करञ्ज) और पाटली इनमें से किसी भी वृक्ष के काष्ठ की अग्नि में अथवा गाय-भैंस के गोबर की सूखी गोबरियों की आंच में पकावे। जब ऊपर की मिट्टी अग्निवर्ण (लाल) दिखाई दे तब निकालकर मिट्टी, सूत और पत्तों को दूर कर कपड़े में लेकर निचोड़ लेवे और उस रस से सायंकाल में तर्पण की तरह नेत्र पर रखकर पुटपाक करे तथा उसे स्निग्ध (स्नेहन पुटपाक) हो तो दो सौ मात्रा की गिनती तक, लेखन पुटपाक में एक सौ मात्रा की गिनती तक और प्रसादन पुटपाक हो तो तीन सौ मात्रा की गणना तक नेत्रपर रहने दे।

पुटपाक के पश्चात्कर्म—तर्पण की तरह प्रसादन पुटपाक के अतिरिक्त स्नेहन और लेखन पुटपाक करने के बाद शेष दोष निर्हरणार्थ रोगी को धूमपान करावे। पूर्वौ अर्थात् पहले दो स्नेहन और लेखन पुटपाक सुखोष्ण (सुहावे इतने उष्ण) करे परन्तु प्रसादन पुटपाक ठण्डा होने पर करना चाहिए।

पुटपाक की मर्यादा—पुटपाक एक दिन, दो दिन अथवा तीन दिन तक करे।

पुटपाक और तर्पण में पथ्यापथ्यपालन—तर्पण और पुटपाक जितने दिन तक करे उससे द्विगुण समय तक उसमें वर्ज्यावर्ज्य की पालना करे। सारांश, तर्पण या पुटपाक दो दिन तक किया हो तो चार दिन तथा तीन दिन तक किया हो तो छः दिन तक उसके पथ्यापथ्य की पालना करनी चाहिए। मालती (जूही) और मोगरे के पुष्पों से बांधे हुए नेत्र को एक रात तक रक्खे।

पक्वातिसार में जो पुटपाक कहे गए हैं, उनकी भी पाकविधि यही है।

भवति चात्र[1]।

सेकेऽञ्जने तर्पणे च पुटपाके च ये गदाः।
जायरेन् विधिविभ्रंशाद्यथास्वं तान् प्रसाधयेत्॥

इति त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३३॥

विधिविभ्रंश से होनेवाले रोगों का उपचार—सेक, अञ्जन, तर्पण और पुटपाक के विधान में भूल हो जाने से जिन जिन रोगों की उत्पत्ति होती है, उन उन रोगों के प्रकरण में जो जो उपचार कहे हैं, उन्हीं उपायों द्वारा इन होनेवाले रोगों की चिकित्सा करनी चाहिए।

इति वाग्भटाचार्यविरचिताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्ययां तर्पणपुटपाकविधिर्नामत्रयस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३३॥

१. पटोलोत्पलपत्रैः। २. बध्नीयात्। ३. धवधन्वमधूक। ४. स्नेहने। ५ प्रसादनवर्जनम्। ६. बद्धाक्षश्च। ७. कुसुमैर्निवसेत्।

१. चात्र श्लोकः।

# अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ।

अथातो यन्त्रशस्त्रविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

यंत्रशस्त्राध्याय—आयुर्वेदशास्त्र में निज और आगन्तुभेद से दो प्रकार के रोगों की चिकित्सा वर्णित है। इन दोनों प्रकार के रोगों की चिकित्सा में यन्त्रों और शस्त्रों का भी उपयोग होता है अतः आचार्य कहते हैं कि अब, हम जिसमें यन्त्रों और शस्त्रों का वर्णन है उस 'यन्त्रशस्त्रविधि' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया है। यन्त्रशस्त्रोपायसाध्य रोग में पहले शल्यनिर्हरणार्थ यन्त्र का उपयोग किया जाता है और बाद में शस्त्रप्रयोग किया जाता है अतः पहले यन्त्रों का वर्णन करते हैं।

मनःशरीराबाधकराणि शल्यानि। तेषां नानाविधानानां ( शल्यानां ) नानादेशनिविष्टानामाहरणेऽभ्युपायो यन्त्राण्यर्शोभगन्दरादिषु शस्त्रक्षाराग्न्यवचारणे शेषाङ्गरक्षणे च। तथा बस्तिप्रणयनादौ शृङ्गालाबुघटिकादयो जाम्बवौष्ठादीनि। अन्यान्यपि चानेकरूपाण्यनेककर्माणि[1] स्वस्थातुरोपकरणानि। अतः कर्मवशात्तेषामियत्तावधारणमशक्यम् ।

यन्त्र की परिभाषा—शरीर के नाना भागों में प्रविष्ट होनेवाले शस्त्र, वेणु, पाषाणादि मन और शरीरको नाना प्रकार से पीडा देनेवाले जो शल्य हैं, उनके निकालने या दूर करने में जो उपाय किया जाता है अथवा जिनके द्वारा किया जाता है उसको यन्त्र कहते हैं। ये यन्त्र शरीर में प्रच्छन्न कण्टक, पूय आदि को देखने में अर्श, भगन्दरादि रोगों में शस्त्र, क्षार, अग्नि आदि के प्रयोग करते समय शेष अङ्गों का रक्षण करने के लिए तथैव बस्ति आदि कर्मों में काम में लाए जाते हैं जैसे कि शृङ्ग, अलाबु, घटिकादि, जाम्बवौष्ठादि तथा और भी अनेक प्रकार के अनेक कार्य करनेवाले स्वस्थ और आतुर के लिए उपकरण हैं अतः उनके अनेक कर्म होने से, उनकी इयत्तावधारणा ( गिनती करना ) अशक्य एवं असम्भव है। तात्पर्य यह है कि इन यन्त्रों के कर्मवशात् अनेक प्रकार एवं रूप होते हैं।

अन्ये पुनरेकोत्तरं यन्त्रशतमित्याचक्षते। इह तु समासतः षोढा निर्दिश्यन्ते। स्वस्तिकसंदंशतालनाडीशलाकाख्यान्यनुयन्त्राणि च।

संक्षेप से यन्त्रों के ६ प्रकार—कई आचार्य यन्त्रों की संख्या एक सौ एक कहते हैं परन्तु यहां ( इस अष्टाङ्गसंग्रह में ) संक्षेपतः छः ही प्रकार के यन्त्रों का निर्देश किया जाता है। इसलिए कि इन छः प्रकारों में सब प्रकार के यन्त्रों का समावेश हो जाता है। ऐसा कोई भी यन्त्र नहीं है जो इन छः प्रकारों में न आता हो। वे छः प्रकार स्वस्तिक, सन्दंश, ताल, नाडी, शलाका और उपयन्त्र हैं।

तत्र स्वस्तिकयन्त्राणि[2] कङ्कसिंहगृध्रकुररादिविविधव्यालमुखान्याकारानुगताभिधानानि प्रायशो लौहान्यष्टादशाङ्गुलानि। मसूराकारप्रान्तैः कण्ठे कीलैरवबद्धानि मूलेऽङ्कुशवदावृत्तवाराङ्गाण्यस्थिविनष्टशल्योद्धरणार्थानि। तेषां सिंहव्याघ्रभुजङ्गमकरादिमुखानि दृश्यवाराङ्गेषु शल्येषु प्रयोजयेत्। इतरेषु तु यथायोगं व्रणाकारानुरोधेन कङ्ककाककुररादिमुखानि।

स्वस्तिकयन्त्रवर्णन-- ऊपर यन्त्रों के छः प्रकार बताए गए हैं जिनमें १०१ यन्त्रों का समावेश हो जाता है। इनमें प्रथम प्रकार स्वस्तिकयन्त्रों का है अतः उनका वर्णन करते हैं। स्वस्तिकयन्त्र कङ्क ( बक Heron ), सिंह, गृध्र ( गीध Taloon ), कुरर ( टिटिहरी Osprey ), आदि विविध व्याल ( हिंस्र ) पशुपक्षियोंके मुखके आकारवाले और उनही के नामवाले जैसे कि कङ्कमुखयन्त्र, सिंहमुख-गृध्रमुख-कुररमुखयन्त्रादि कहलाते हैं और ये प्रायः लौहानि अर्थात् लोहधातुके बने हुए, अठारह अङ्गुल लम्बे होते हैं। यहां प्रायः शब्दका भाव यह भी है कि ये यन्त्र लोहधातुके अतिरिक्त काष्ठ आदिके भी बनाए जा सकते हैं। इन यन्त्रों की जोडपर मसूर की दाल की आकृतिवाली चिपटी मजबूत कीलें लगी हुई होती हैं और इनके मूल ( हाथ की ओर ) में ये अङ्कुश की तरह मुड़े हुए होते हैं अर्थात् इनकी मूठ कुछ मुड़ी हुई मजबूत होती है। ये हड्डियों में चुभे हुए लोहकील ( शल्य ) को निकालने के काम में आते हैं। इनमें से सिंहमुख, व्याघ्रमुख, सर्पमुख, मकरमुखाकृतिवाले यन्त्र दृश्यवाराङ्ग ( मूठ अलग बनी हुई दिखाई देनेवाले ) होते हैं। ये ऊपर से दिखाई देनेवाले शल्यों को निकालनेके काम में आते हैं और जो भीतरके नहीं दिखाई देनेवाले शल्योंको निकालनेके काम में आते हैं वे अदृश्यवाराङ्ग होते हैं। उनकी मूठ का अलग पता नहीं चलता। वे सर्वथा चिकने होते हैं क्योंकि वे शरीर के भीतर प्रविष्ट किए जाते हैं और वे व्रण के आकारप्रकारानुसार यथायोग्य काकमुख, कङ्कमुख, कुररमुखादि आकृतिवाले बनाए जाते हैं।

सनिबन्धनो निर्निबन्धनश्च षोडशाङ्गुलौ संदंशौ द्वौ भवतः। तौ त्वङ्मांससिरास्नायुगतशल्योद्धरणार्थमुपदिश्येते। तथान्यः संदंशः षडङ्गुलोऽर्द्धाङ्गुलविस्तृतो वक्रद्विबाहुरङ्गुष्ठाङ्गुलिप्रान्तसमागमाकृतिः सूक्ष्मशल्याक्षिपक्ष्मव्रणाधिमांसाहरणे। तद्वच्च मुचुण्डी[1] सा तु ऋजुश्लक्ष्णा सूक्ष्मदन्ता सक्तद्विभुजा[2] मूले रुचकनद्धा वलयपीडनाच्छिन्नार्मशेषगम्भीरव्रणाधिमांसाहरणे।

संदंशयन्त्रवर्णन—सनिबन्धन और निर्निबन्धन अर्थात् कीलयुक्त और कीलरहित ऐसे सोलह अङ्गुल लम्बे दो संदंशयन्त्र होते हैं। ये दोनों संदंश त्वचा, मांस, सिरा और स्नायुगत शल्यके निकालनेके लिए कहे गए हैं। एक और छोटा संदंश भी होता है जो कि छः अङ्गुल लम्बा और आधे अङ्गुल के विस्तारवाला होता है और ये अङ्गुष्ठ और अङ्गुलीके समागम की आकृतिवाला तथा दोनों बाहुओं से टेढ़ा होता है। यह सूक्ष्म शल्य, आंख; आंख की पलकें तथा व्रण के ऊपर

१. कार्याणि। २. तद्यथा-स्वस्तिक

१. मुचुटी। २. सा तु सूक्ष्मदन्तर्जुर्द्विभुजा।

आए हुए मांस के निकालने में काम आता है। इसीके आकार की मुचुण्डी अर्थात् चिमटी होती है। यह पतली, सरल, चिकनी, सूक्ष्म दांतोंवाली, दो भुजावाली, मूल में रुचकनद्धा (वलयाकारा) गोल होती है। इसके गोलाकारपीडन से (दबाने से) उसके बीचमें आया हुआ शल्य छूट नहीं सकता। इससे अर्श, गम्भीर व्रणादिके ऊपर का मांस निकाला जाता है। सुश्रुत इसके पूर्वलिखित सकील और निष्कील इन दो संदंशयन्त्रों को ही मानता है किन्तु वाग्भट षडङ्गुलवाले अन्य संदंश और मुचुण्डीको मिलाकर चार प्रकारके संदंश मानता है।

तालयन्त्रे अपि द्वे द्वादशाङ्गुले। मत्स्यगलतालकवदेकतालकद्वितालके कर्णनाडीशल्याहरणार्थे।

तालयन्त्रवर्णन—तालयन्त्र भी दो ही प्रकारके बारह अङ्गुल लम्बे होते हैं। मछलीके गलेके या तालु के समान एक तालवाले तथा दो तालवाले होते हैं। ये कान, नासिका, नाडी आदिके शल्यनिर्हरणार्थ काम आते हैं।

वक्तव्य—यहां ताल शब्दके अर्थ में बड़ी गड़बड़ी हो सकती है। ताल या तल का मुख्य तात्पर्य है कुछ निम्न या गहरा मध्यप्रदेश यथा ताल (तालाब) या हस्ततल (हथेली) होता है। वर्तमानमें एलोपैथबन्धु इस तालयन्त्र को (Scoop) और स्पुन (Spoon) भी कह सकते हैं। एकताल (Single scoop) और द्विताल (Dauble scoop) है।

नाडीयन्त्राणि सुषिराण्यनेकप्रकाराण्यनेकप्रयोजनान्यनेकतोमुखान्येकतोमुखानि च भवन्ति। स्रोतोगतशल्यदर्शनाहरणार्थं रोगदर्शनार्थं क्रियासौकर्यार्थमाचूषणार्थं चेति। तानि स्रोतोद्वारपरिणाहानि यथायोगप्रदीर्घाणि च कुर्यात्। कण्ठशल्यदर्शनार्थं नाडीं दशाङ्गुलायतां पञ्चाङ्गुलपरिणाहाम्। द्विकर्णस्य तु वारङ्गस्य संग्रहार्थं त्रिच्छिद्रमुखां नाडीं तत्प्रमाणतः कुर्यात्। तथा चतुष्कर्णस्य पञ्चच्छिद्रमुखाम्। शल्यनिर्घातनीं[1] तु पद्मकर्णिकाकारशीर्षां द्वादशाङ्गुलां त्र्यङ्गुलसुषिराम्।

नाडीयन्त्रवर्णन—नाडीयन्त्र भीतर से पोले, अनेक प्रकार के, अनेक रोगों में प्रयुक्त होनेवाले, अनेक मुखवाले और एक मुखवाले होते हैं। इनका उपयोग स्रोतोगत शल्य के देखने में, उन शल्यों के निकालने में, रोग की परीक्षा करने में, चिकित्सा करते समय शस्त्रक्रिया में मदद के लिए तथा दोष के चूस लेने में होता है। ये इतने विस्तृत अर्थात् चौड़े-मोटे होते हैं जितने कि स्रोत में प्रविष्ट हो सकें और लम्बे इतने होते हैं जितनी कि आवश्यकता होती है। कण्ठ का अवलोकन करने के लिए नाडीयन्त्र दस अङ्गुल लम्बा और पांच अङ्गुल विस्तृत होना चाहिए। द्विकर्णवाले वारङ्ग (शर) को पकड़ने के लिए तीन छिद्र और तीन मुखवाला नाडीयन्त्र बनाना चाहिए तथैव चार कर्णवाले वारङ्ग (शर) के ग्रहणार्थ पांच छिद्र और मुखवाला नाडीयन्त्र उसी प्रमाण का बनाना चाहिए जितनी कि शल्य की जगह हो। शल्यनिर्घातन नाडीयन्त्र कमल की कर्णिका के आकारवाले सिर का, बारह अङ्गुल का तथा तीन अङ्गुल सुषिर (पोला) बनाना चाहिए।

अर्शोयन्त्रं त्रिविधं तल्लौहं[1] दान्तं शार्ङ्गं वार्क्षं वा गोस्तनाकारं चतुरङ्गुलायतं हस्तितलायतमेकं पञ्चाङ्गुलानि परिणाहेन पुंसां षडङ्गुलानि स्त्रीणाम्। द्विच्छिद्रं दर्शनार्थमेकच्छिद्रं कर्मणि। तथाहि—सुखेन दर्शितं[2] शस्त्रक्षाराग्न्यनतिक्रमश्चाच्छिद्रं तु त्र्यङ्गुलायतमङ्गुष्ठोदरविस्तारम्। यदङ्गुलमवशिष्टं तस्याधोऽर्द्धाङ्गुलमुपरि तथार्द्धाङ्गुलोच्छ्रितोद्वृत्तकर्णिकम्। तृतीयं तु तादृशमेव शम्याख्यं पार्श्वच्छिद्ररहितं पीडनार्थम्। भगन्दरे तु छिद्रादूर्ध्वमोष्ठमपनीय कुर्वीत। तद्वच्च घ्राणार्शोऽर्बुदयन्त्रं नाड्याकारं द्व्यङ्गुलायतमेकच्छिद्रं प्रदेशिनीपरिणाहम्। तथाङ्गुलित्राणकमङ्गुलिप्रवेशनं किञ्चित्स्थूलवृत्तौष्ठमूर्ध्वाधश्छिद्रं गोस्तनाकृति चतुरङ्गुलं दान्तं शार्ङ्गं वार्क्षं वा तद् दृढेन सूत्रेण मणिबन्धप्रतिबद्धमास्यविस्रावणे योज्यम्।

अर्शोयन्त्र—अर्श अर्थात् बवासीर के मस्से काटने के लिए जो यन्त्र बनाया जाता है उसे अर्शोयन्त्र कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है और यह सुवर्ण, ताम्र, लोह, हस्तिदन्तादि दन्त, सींग, लकड़ी आदि से बनाया जाता है। यह गाय के स्तन के आकार का गोल, चार अङ्गुल लम्बा, हाथ की हथेली के तलभाग के समान विस्तृत, पांच अङ्गुल के दायरे का पुरुषों के लिए और यदि स्त्रियों के लिए बनाया जाय तो छः अङ्गुल दायरे का बनाना चाहिए। इसके भी दो प्रकार होते हैं जैसे कि एक दोनों ओर छिद्रोंवाला और एक एक छिद्रवाला। दो छिद्रवाला देखने के काम में आता है और एक छिद्रवाला यन्त्र अर्श पर क्षार आदि लगाने के काम आता है। सारांश यह कि दो छिद्रवाले यन्त्र से भलीभांति शल्य का अवलोकन हो सके और एक छिद्रवाले से क्षार तथा अग्निकर्म का अतिक्रम न हो सके। इस अर्शोयन्त्र के बीच में तीन अङ्गुल लम्बा, अंगूठे के मध्यभाग के समान मोटा छिद्र होता है। तीन अंगुल में से अवशिष्ट तीसरे अंगुल के नीचे मूल भाग से नीचे आधा अंगुल और ऊपर किनारे पर आध अंगुल प्रमाण गोल कर्णिका बनी हुई होती है। अर्शोयन्त्र के तीन प्रकारों में दो प्रकार कह चुके जैसे कि एक पार्श्व में एक छिद्रवाला और दूसरा दोनों पार्श्वों में एक एक अर्थात् दो छिद्रवाला। तीसरा अर्शोयन्त्र शमीयन्त्र कहाता है। पूर्व यन्त्रों की तरह इसके पार्श्वभाग में छिद्र नहीं होता अर्थात् यह छिद्ररहित होता है और यह अर्श के पीडनार्थ काम आता है। भगन्दर के लिए भी जो यन्त्र होता है वह अर्शोयन्त्र के समान होता है परन्तु अन्तर यह होता है कि भगन्दरयन्त्र का ओष्ठ छिद्र से आध अंगुल ऊपर को ले जाकर बनाया जाता है। घ्राणार्श और घ्राणार्बुदयन्त्र जो कि नासिकागत अर्श (मस्से) तथा अर्बुद को दूर करने में काम आता

१. शल्यनिर्घातिनी।

१. ताम्रायोहैमं। २. दर्शनं।

है। यह नाड़ी के आकार का एक छिद्रवाला, दो अंगुल लम्बा और मोटाई में प्रदेशिनी ( तर्जनी ) अंगुली के बराबर होता है। इसी प्रकार एक अंगुलित्राण यन्त्र होता है। इससे अंगुलियों की रक्षा होती है अर्थात् यह रोगी के मुख में अंगुली डालते समय अंगुली में पहना जाता है जिससे रोगी अंगुली को काट नहीं सकता। यह किंचित् स्थूल ( मोटा ), गोल ओष्ठवाला, ऊर्ध्व और अधोभाग में छिद्रवाला, गाय के स्तन के आकारवाला, चार अंगुल प्रमाण, दांत, सींग या काष्ठ का बना हुआ होता है। यह दृढ़ सूत से मणिबन्ध-स्थान से बांधा हुआ मुँह खोलने के काम में आता है।

योनिव्रणदर्शने यन्त्रं षोडशाङ्गुलं मध्ये सुषिरं चतुर्भित्तं चतुःशलाकं संचारिण्या मुद्रयोर्ध्वं निबद्ध-मुत्पलमुकुलवक्त्रं मूले शलाकाक्रमणादूर्ध्वविकासि च। नाडीव्रणप्रक्षालनाभ्यञ्जनयन्त्रे षडङ्गुले बस्तियन्त्रा-कारे मुखतोऽकर्णिके मूलमुखयोरङ्गुष्ठकलायप्रवेश-स्रोतसी। दकोदरे नाडीमुभयतो द्वारां पिच्छनाडीं वा युञ्ज्यात्। स्नेहबस्त्युत्तरबस्तिप्रधमनधूममूत्रवृद्धिरुद्ध-मणिकप्रभृतिषु यथास्वमेव च यन्त्राण्युक्तानि। शृङ्गं तु ह्रस्वमध्यदीर्घमष्टदशद्वादशाङ्गुलायतं त्र्यङ्गुल-प्रवेशमुखमग्रे सर्षपोपमच्छिद्रं तनुचर्मनद्धं चूचुकाकारं च। तद्वातविषरक्ताम्बुदुष्टस्तन्याचूषणार्थम्। श्लेष्मरक्त-चूषणार्थस्त्वलाबुः। स द्वादशाङ्गुलदीर्घोऽष्टादशाङ्गुल-परिणाहश्चिचतुरङ्गुलवृत्तसमुच्छ्रितमुखः। परिवेष्टित-प्रदीप्तकुशबल्वजपिचुगर्भश्च प्रयोज्यः। तद्वदेव च मान-कर्मभ्यां घटी। सा तु गुल्मोन्नमनविलयनार्थं च।

योनिव्रणदर्शनादियन्त्र—योनि के भीतर के व्रणों को देखने के लिए यह यंत्र बनाया जाता है। यह सोलह अङ्गुल लम्बा, भीतर से पोला, चार भीत्तोंवाला, चार शलाकावाला अर्थात् मुख की ओर से खुलनेवाली चार भित्तियों से संचारिणी मुद्रा से ऊपर बन्द, कमल की कली के समान मुखवाला, मूल की ओर से चार शलाकाओं को दबाने से योनि के भीतर खुल जानेवाला। इसके खुलने से योनिगतव्रणों को देख सकते हैं। इसीलिए इसका नाम योनि-व्रण-दर्शन यन्त्र रक्खा गया है। नाडी-व्रण-प्रक्षालनयन्त्र और नाडीव्रणाभ्यञ्जन-यन्त्र—ये दोनों छः अंगुल लम्बे, बस्तियन्त्र के समान आकार-वाले, मुख पर कर्णिका से रहित, मूल और मुख में क्रम से अङ्गुष्ठ और कलाय ( मटर ) प्रवेश के समान छिद्रवाले होते हैं। दकोदर अर्थात् जलोदरार्थ नाडीयन्त्र—दोनों ओर से मुख-वाली किसी काष्ठ की बनी हुई अथवा मोर या किसी पक्षी के पिच्छ से बनी हुई नाँडी का प्रयुक्त किया जाता है। स्नेह-बस्तियन्त्र, उत्तरबस्तियन्त्र, प्रधमनयन्त्र, धूमयन्त्र, मूत्र-वृद्धियन्त्र, रुद्धमणियन्त्र प्रभृति यन्त्र जैसे कहे गए हैं, उसी प्रकार के बनाने चाहिए।

१. पिच्छ। २. निरुद्धमणिप्रभृतिषु। ३. मष्टादश। ४. चूचुका-कारमुखं। ५. स्तन्यचूषणार्थम्। ६. श्लेष्मरक्ता। ७. दीप्त। ८. 'मयूरपिच्छजा' इत्यरुणः 'पक्षिपिच्छजेत्यर्थः' इति हेमाद्रिः।

शृङ्गयन्त्र—अर्थात् सिंगीयन्त्र ह्रस्व, मध्य और दीर्घसंज्ञक तीन प्रकार के होते हैं अर्थात् ह्रस्व सिंगीयन्त्र आठ अंगुल का, मध्यसिंगीयन्त्र दस अंगुल का तथा दीर्घसिंगीयन्त्र अट्ठारह अंगुल का होता है। उसका प्रवेशमुख-भाग तीन अंगुल चौड़ा, अन्त में सरसों के बराबर छिद्रवाला, सूक्ष्म चमड़े से मढ़ा हुआ और स्त्री के स्तन के ऊपर के चूचुक के आकारवाला होता है और यह दूषित वायु, रक्त, विष, जल, दुष्टस्तन्य को चूसने के काम में आता है।

अलाबुयन्त्र—अर्थात् तुम्बीयन्त्र कफ और रक्त के चूसने में काम आता है। यह बारह अंगुल दीर्घ ( लम्बा ), अठारह अंगुल विस्तृत तथा तीन या चार अंगुल गोल ऊंचे मुखवाला होता है। इसमें परिवेष्टन कर कुशा, बल्व ( काश की एक जाति विशेष ) और रुई ( कपास ) सुलगा कर रक्खी जाती है। इसके धूम से दुष्ट रक्त एवं दुष्ट कफ का आकर्षण होता है। सारांश, आकर्षण होकर दुष्ट रक्त और कफ की शान्ति हो जाती है।

घटीयन्त्र—'तद्वदेव मानकर्मभ्यां घटी' अर्थात् अलाबु-यन्त्र के समान ही प्रमाण तथा कार्य का करनेवाला घटीयन्त्र होता है। यह वातगुल्म को धूम के आकर्षण द्वारा खींच कर ऊपर लानेवाला और विलयन ( शान्त ) करनेवाला है। आजकल धरण के टल जाने तथा वायगोले की अवस्था में पेट पर शराव किंवा लोटा चढ़ाया जाता है, वही वस्तुतः घटीयन्त्र है।

विशेष वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि यन्त्रों की संख्या १०१ बताते हुए कहते हैं कि इन सब यन्त्रों में हाथ ही प्रधानतम यन्त्र है क्योंकि बिना हाथ के यन्त्रों की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। हाथ ही के आधीन संपूर्ण यन्त्रकर्म है। यहां एको-त्तरशत ( १०१ ) का अर्थ यन्त्रों की इयत्तानिर्धारण नहीं समझना चाहिये। यह बात नहीं है कि यन्त्रों की संख्या एक सौ एक ही है अपितु सहस्रशीर्षा के भावार्थ की तरह यन्त्रों की तथा शस्त्रों की संख्या भी चाहे जितनी हो सकती है। इसी ग्रन्थ के सूत्रस्थान के तृतीय अध्याय में आचार्य कह चुके हैं कि—'अपने बुद्धिबल से कल्पना करके विविध प्रकार के कर्म करनेवाले यन्त्रों एवं शस्त्रों का निर्माण करना चाहिए। कर्म अनेक प्रकार के हैं अतः इन ( यन्त्रशस्त्रों ) की संख्या का ठहराना अशक्य है। हाथ को प्रधान यन्त्र मानना भी बिलकुल ठीक है। प्राचीन एवं अर्वाचीन काल में अपरेशन ( शस्त्रकर्म ) करनेवाले का हस्तकौशल ही मुख्य माना गया है। जिसका हाथ अपने वश में नहीं है—जो हस्तकौशल से हीन है उसके पास नाना प्रकार के यन्त्र तथा शस्त्र रहते हुए भी वह किसी काम का नहीं है। वह शस्त्रकर्म करके रोगियों को सुखी नहीं कर सकता।

१. अथो काशमस्त्रियाम्। इक्षुगन्धा पोटगलः पुंभूमनि तु बल्व-जाः॥ इत्यमरः। २. यन्त्रशतमेकोत्तरम्, अत्र हस्तमेव प्रधान-तमं यन्त्राणामवगच्छ, किं कारणं? यस्माद्धस्तादृते यन्त्राणामप्रवृ-त्तिरेव तदधीनत्वाद्यन्त्रकर्मणामिति। ३. स्वबुद्ध्या च विकल्प्य विविधानि यन्त्रशस्त्राणि तत्कर्माणि च उपकल्पयेत्। अतः कर्मवशा-त्तेषामियत्तावधारणमशक्यम्। इति।

'मनःशरीराबाधकराणि' अर्थात् मन और शरीर को पीडा देनेवाले शल्य हैं। यहां मन को शल्य किस प्रकार पीडा कर सकते हैं? शल्य तो शरीर को पीडा देनेवाले हैं अतः मन का उल्लेख भी साथ में क्योंकर कर दिया गया? यह शङ्का करना व्यर्थ है। आधाराधेयभाव से देखा जाय तो शरीरगत शल्य मन को तथा मनोगत शल्य शरीर को अवश्य पीडाकारक होता है। जैसे आधार रूप कटाह के तपने से उसमें स्थित घृतादि पदार्थ भी तप जाते हैं। इसी प्रकार आधेयरूप लोहे के गोले के तपने से कड़ाही भी तप जाती है। तात्पर्य यह है कि शरीर आधार है और मन आधेय है। इसलिए इन दोनों में से किसी एक को प्राप्त हुआ दुःख दूसरे को भी पीडा देता है। शरीर पर शस्त्रक्रिया करने के पहले नाना प्रकार के प्रोत्साहनों द्वारा रोगी का मनःशल्य दूर कर फिर क्रिया में प्रवृत्त होना पड़ता है। इससे भी मानसिक शल्य की सिद्धि प्रत्यक्ष है।

समस्त यन्त्रों का मुख्य कार्य है आहरणोपाय अर्थात् शल्य के अंश को शेष न रहने देते हुए उसे निकाल बाहर करना। विशेषतः यह कथन केवल स्वस्तिक तथा तालयन्त्रों के लिए किया गया है। इसके अतिरिक्त यन्त्रों द्वारा अवलोकन, क्रियासौकर्य तथा विशोधन कार्य भी होते हैं। रोग एवं शल्य का अवलोकन करना यह यन्त्रों का पहला कार्य है जैसे कि योनिगतव्रणदर्शनयन्त्र, कण्ठशल्यावलोकनयन्त्र। वर्तमान काल में सुधरे हुए शल्यशस्त्र के अनुसार दर्शनयन्त्रों में सब प्रकार के स्पेक्यूलम (Speculum) और स्कोपयन्त्र (Scope) आते हैं। उदाहरणार्थ जैसे कि—Laryngoscope, Pharynscope, Urethroscope, Cystoscope, Auroscope, Proctoscope, Sigmoidoscope आदि आदि। क्रियासौकर्य—शस्त्रकर्म के समय क्रिया में सौकर्य (मदद) प्राप्ति के लिए तथा शेष अङ्गों की रक्षा के लिए नाना प्रकार के यन्त्र काम में लाए जाते हैं जैसे कि अर्शोयन्त्र-अंगुलित्राणक यन्त्र आदि। संप्रति ऐलोपैथ डाक्टर अपनी यन्त्रसामग्री में सब प्रकार के स्पेक्यूलम डायरेक्टर जैसे कि—Probe director, Hernia director, Tracnum director, Lithotomy director आदि तथैव रिट्राक्टर जैसे कि Eye lid retractor, Wound retractor, Abdominal retractor इत्यादि तथा होल्डर जैसे कि Caustic Holder, Needle Holder Tongue holder आदि आदि। विशोधन-शल्यस्थान के विशोधन एवं खोज के लिए काम में आनेवाले यन्त्र जैसे कि मूत्रमार्गविशोधन, तालयन्त्र आदि। नव्य शल्यशास्त्रके ज्ञाता एतदर्थ नवीन आविष्कृत यन्त्रों में डायलेटर्स जैसे कि Uterine dilator, Urethral dilator, Bectal dilator, Prepuce dilator इत्यादि, कैथेटर (Catheter), साउण्ड (Sound) स्पून (Spoon), स्कोप (Scope) आदि को काम में लाते हैं।

स्वस्तिक आदि जो यन्त्रों के छः प्रकार बताए हैं, नवीन शल्यशास्त्रविशारद प्रायः इन ही को काम में लाते हैं। नव्य शल्यशास्त्र में स्वस्तिकयन्त्रों को Cruci form instruments, संदंशयन्त्रों को Pincher-like forceps तालयन्त्रों को Pick scoop instruments तथा शलाकायन्त्रोंको Probes कहते हैं।

यहां वाग्भटाचार्य ने संदंशयन्त्र चार, नाडीयन्त्र तेईस, शलाकायन्त्र चौतीस और उपयन्त्र उन्नीस कहे हैं किन्तु सुश्रुत में संदंशयन्त्र दो, नाडीयन्त्र बीस, शलाकायन्त्र अट्ठाईस और उपयन्त्र पच्चीस ही माने हैं[१]।

आधुनिक यन्त्रसमुदाय में स्वस्तिकयन्त्रों का समावेश Forceps वर्ग के यन्त्रों में किया गया है। हड्डी पकड़ने, बन्दूक की गोली निकालने, दांत निकालने, कान तथा नाक के शल्य को निकालने तथा अन्यान्य कार्यों में भी पशुपक्षियों के मुखाकृतिवाले स्वस्तिकयन्त्र काम में आते हैं परन्तु उनके नाम सर्वथा प्राचीनों के कथानुसार नहीं है। क्वचित् इनके नाम अन्वेषक के नाम पर, क्वचित् प्राणियों के अङ्गसादृश्यानुसार और अधिकतर स्थानिक कार्यानुसार रक्खे गए हैं। अन्वेषक के नाम पर यथा Ferguson's forceps, Farabeuf's forceps Bedfordr's forceps इत्यादि। प्राणियों के अङ्गसादृश्यानुसार यथा–सिंहमुख (Lionforceps), शशघाती मुख (Dental hawk bill forceps), मूषकमुख (Mouseteeth forceps), मकरमुख (Crocodile forceps), श्वामुख (Bulldog volsalla ets) इत्यादि तथा स्थानिक कार्य के अनुसार यथा—Aural forceps, Dental forceps और Bone forceps आदि आदि।

संदंश यन्त्रों में सनिबन्धन अर्थात् कीलयुक्त (With a catch) यन्त्र अंगरेजी V के आकार का होता है और निर्निबन्धन (कीलरहित Without catch) अँगरेजी U के आकार का होता है। तीसरा संदंश सूक्ष्म शल्य तथा उपपक्ष्म (नेत्रों को कष्ट देनेवाले पलकों) के बालों को उखाड़ने के काम आता है। आधुनिक नेत्रविज्ञान में पक्ष्मकोपको Trichiasis और Distichiasis कहते हैं। पलक निकालने की विधि को Epilation कहते हैं और तदर्थ संदंश को Epilation forceps कहते हैं। चतुर्थ मुचुण्डीसंज्ञक संदंश गम्भीर व्रण के मांस (Granulations) एवं अर्म (Pterygium) के शेष मांस को निकालने के लिए काम में आता है।

वर्तमान ऐलोपैथ तालयन्त्र को स्कूप (Scoop) कह सकते हैं और स्पून (Spoon) का भी समावेश तालयन्त्र में हो सकता है। एकताल (Single scoop) और द्विताल (Dauble scoop) होता है।

नाडीयन्त्रों में अलाबु एक-मुख नाडीयन्त्र का उदाहरण है तथा मूत्रवृद्धियन्त्र, दकोदरयन्त्र और धूमनलिका यन्त्र ये दो मुखवाले नाडीयन्त्र के उदाहरण हैं। योनिव्रणदर्शन यन्त्र तथा अर्शोयन्त्र ये रोगदर्शनयन्त्र के उदाहरण हैं। आधुनिक शल्यशास्त्र में रोगदर्शनार्थ व्यवहार में आनेवाले नाडीयन्त्रों को स्पेक्यूलम (Speculum) कहते हैं जैसे कि Vaginal speculum, rectal speculum, Ear speculum, Nasal speculum इत्यादि। इनके अतिरिक्त रोगदर्शनार्थ और भी नाडी यन्त्र होते हैं जिनमें प्रकाश का विशेष प्रबन्ध रहता है। ऐसे यन्त्रों को स्कोप (Scope) कहते हैं जैसे कि Auro scope, Cysto scope आदि आदि। अलाबु-श्रृङ्गयन्त्र की तरह आजकल

१. तत्र चतुर्विंशतिः स्वस्तिकयन्त्राणि द्वे संदंशयन्त्रे द्वे एव तालयन्त्रे विंशतिर्नाड्यः अष्टाविंशतिः शलाकाः पञ्चविंशतिरुपयन्त्राणि। इति।

दूषित दुग्ध ( स्तन्य ) निकालने के लिए ब्रेस्ट पम्प ( Breast-pump ) नामक नाडीयन्त्र काम में लाया जाता है। उरस्तोय (छाती में सञ्चित जल) को निकालने के आधुनिक प्ल्युरिसी (Plaurisy with effusion ) रोग में पोटेनस् अस्पिरेटर ( Potains aspirator ) नाडीयन्त्र का और पथरी फोड़ने के बाद उसके कण निकालने के लिए इवैक्युएटर ( Eva Cuator ) नाडीयन्त्र काम में लाते हैं। क्रियासौकार्यार्थ आजकल बहुत से नाडीयन्त्र काम में लाए जाते हैं। इनको डायरेक्टर ( Director ) कहते हैं। यथा—Probe director, Hernia director, lithotomy director, fistula director इत्यादि।

प्राचीन व्रणप्रक्षालन नाडीयन्त्र की जगह सम्प्रति सिरिंज ( Syringe ) तथा इरिगेटर ( Irrigator ) से काम लेते हैं। बस्तिविधि को अँगरेजी में एनेमा ( Enema ) कहते हैं। बस्तिविधि के लिए आजकल दो यन्त्र काम में आते हैं। पहला बस्तियन्त्र के समान रबड़ बाल एनेमा सिरिंज ( Rubber ball enema syringe ) है और दूसरा इरिगेटर जो कि दीवाल के साथ टांगा जाता है। उत्तर बस्ति यन्त्र आज कल का रबड़ बाल व्हजायनल डूश ( Rubber ball vaginal douche ) है। मूत्रवृद्धि ( Hydrocele ) और जलोदर ( Ascites ) में पानी निकालने के लिए प्राचीनों के मतानुसार आजकल भी एक लोहे की नलिका होती है जिसको क्यानूला ( Canula ) कहते हैं। शिश्नचर्मसंकोच तथैव गुदसंकोच की अवस्था में स्रोतनिस्तार करने के लिए निरुद्धप्रकश और सन्निरुद्धगुदयन्त्रों की जगह आजकल प्रेप्यूस या यूरेथ्रल डायलेटर ( Prepuce or urethral dilator ) शिश्नचर्म संकोच की चिकित्सा में तथा रेक्टल डायलेटर या बूजी ( Rectal dilator or bougie ) गुदसंकोच की चिकित्सा के काम में आते हैं। आधुनिक शस्त्रचिकित्सा में तो गर्भाशय और ग्रीवा के संकोच में भी नाडीयन्त्रों अर्थात् Uterine dilators का उपयोग करके ग्रीवा की वृद्धि की जाती है। छोटे से मोटे तक इन यन्त्रों की संख्या बारह होती है और प्रत्येक यन्त्र पर उसकी मोटाई और नम्बर लगा रहता है।

व्रणधूपन ( Fumigation ) और धूमपान ( Inhalation ) के लिए धूमयन्त्रों का उपयोग होता है किन्तु आधुनिक डाक्टरी में व्रणधूपन का आदर नहीं है। वे एतदर्थ तीव्र कीटाणुनाशक रासायनिक औषधियों के घोल व्रण धोने के लिए प्रयुक्त करते हैं परन्तु आज भी प्राचीनों की तरह राजयक्ष्मा, प्रतिश्याय, श्वास, कासादि श्वसनसंस्थान के रोगों के लिए ओषधिधूमपान का प्रयोग करते हैं और उसे आजकल इनहेलर्स ( Inhalers ) या रेस्पिरेटर्स ( Respirators ) कहते हैं। फोड़े फुन्सियों में से दुष्टरक्तादि खींच कर बाहर करने के लिए शृङ्ग-अलाबुकी तरह कपिंग ग्लासेसका उपयोग होता है परन्तु चूसने का काम मुख द्वारा न किया जाकर रबड़-बाल ( Suction balls ) द्वारा किया जाता है। अंगुलित्राणक को अँगरेजी में फिङ्गर गार्ड ( Finger guard ) और फिंगर स्टाल ( Finger stall ) भी कहते हैं। घ्राणार्बुदार्शोयन्त्र की तरह संप्रति शल्यशास्त्रका नेसल स्पेक्यूलम ( Nasal speculum ) होता है परन्तु इसमें हेण्डल द्वारा परिणाह छोटा मोटा करने का प्रबन्ध भी रहता है। पाश्चात्य वैद्यकपरिभाषा में योनिवीक्षण यन्त्रको व्हजायनल स्पेक्यूलम ( Vaginal speculum ) कहते हैं। यह अर्शोयन्त्र की तरह वृत्त यथा—Fergussons speculum, द्विभित्त यथा—Cuseo's vaginal speculum तथा चतुर्भित्त यथा—Allingham's speculum होते हैं। वाग्भटोक्त योनिव्रणेक्षणयन्त्र आजकल के चतुर्भित्त व्हजायनल स्पेक्यूलम के साथ बहुत कुछ मिलता जुलता है।

शलाकायन्त्राण्यपि नानाकृतीनि नानार्थानि यथायोगदीर्घपरिणाहानि च भवन्ति। तेषामेषणकर्मणी द्वे गण्डूपदमुखे। स्रोतोगतशल्याहरणार्थेऽष्टाङ्गुलनवाङ्गुले द्वे मसूरदलमुखे। षट् शङ्कवः। तेषां व्यूहनक्रियौ द्वादशषोडशाङ्गुलौ द्वावहिफणामुखौ। तथा चालनार्थे दशद्वादशाङ्गुलौ शरपुङ्खमुखौ। आहारार्थे बडिशमुखौ। तथा गर्भशङ्कुः शङ्कुतुल्योऽष्टादशाङ्गुलः प्रणताग्रो मूढगर्भाहरणे। तथा सर्पफणावद्वक्त्रमग्रवक्त्रं तदाख्यमश्मर्याहरणार्थम्। तथा दन्तनिर्घातनं चतुरङ्गुलं शरपुङ्खमुखं स्थूलवृत्तप्रान्तम्।

शलाकायन्त्र—शलाकायन्त्र भी नाना प्रकार के आकारवाले, नाना प्रकार के कार्यों को करनेवाले यथायोग लम्बे तथा चौड़े होते हैं। इनमें गण्डूपद ( केंचुवे ) के मुखके समान मुखवाले एषण कर्म ( नाडीव्रण आदि के मार्गका अन्वेषण ) करनेवाले दो शलाकायन्त्र होते हैं। मसूर की दाल के दलकी आकृतिवाले आठ तथा नव अंगुल प्रमाणवाले दो मसूरदलमुख शलाकायन्त्र मुख, नासा, कर्ण आदि स्रोतोगत शल्य को निकालने के लिए होते हैं। शङ्कुयन्त्र छः होते हैं। इनमें से दो व्यूहनक्रिया ( शल्य को देखने या निकालने के लिए व्रण के किनारों को खींचने ( Retraction ) के करनेवाले, बारह और सोलह अंगुल प्रमाण के सर्प के फण के समान मुखवाले अहिफणामुख तथा चालनार्थ ( शल्य को चलायमान करने या हिलाने के लिए—एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए ), दस तथा बारह अंगुल के शरपुंख ( बाण ) के समान मुखवाले शरपुंखमुख तथा दो आहरण ( व्रणस्थित शल्य को दूर करने ) के लिए बडिशमुख ( मछली पकड़ने के कांटे—आंकड़े के समान मुख ) वाले और एक शङ्कु जिसका आकार शङ्कु के समान और आठ अंगुल लम्बा, अग्रभाग में प्रणत ( मुड़ा हुआ ) होता है। इसका नाम गर्भशङ्कु है इस लिए कि इससे स्त्रियों के गर्भाशय में आड़ा टेढा आया हुआ मूढगर्भ भेदन कर निकाला जाता है। अँगरेजी में गर्भको निकालनेवाले इस शङ्कुको ब्लण्ट हुक एन्ड क्रोचेट ( Blunt hook and Crotchet ) कहते हैं। अग्रवक्र—यह सर्प के फण की तरह अग्रभाग में वक्र ( मुड़ा हुआ ) शङ्कुयन्त्र है और यह पथरी ( अश्मरी ) को निकालने के लिए काम आता है। सुश्रुत ने यद्यपि यन्त्रों का वर्णन करते हुए इसका निर्देश नहीं किया है तथापि अश्मरी के शस्त्रकर्म में इसी का अग्रवक्र या अग्रवक्र नाम से निर्देश किया है। इस अश्मरीहरणशलाका को अँगरेजी में लिथोटोमी स्कूप ( Lithotomy scoop ) कहते हैं। दन्तनिर्घातनयन्त्र—यह दांत निकालने के काम में आता

१. एषणं मार्गपर्येषणं कर्मेतीन्दुः। २. यथा च न भिद्यते न चूर्ण्यते वा तथा प्रयतेत, चूर्णमल्पमप्यवस्थितं हि पुनः परिवृद्धिमेति तस्मात्समस्तामग्रवक्रेणाददीत इति।

है। यह चार अंगुल लम्बा, शरपुंखमुख के समान तथा मोटाई में स्थूल होता है। यह आजकल के टूथ एलिवेटर ( Tooth elevator ) से मिलता जुलता होता है।

षट् कार्पासकृतोष्णीषाणि विविधव्रणक्लेदक्षारप्रमार्जनक्रियासु। तेषामपि दूरासन्नघ्राणव्रणोपयोगीनि षट्सप्ताङ्गुले द्वे। तद्वदेव कर्णेऽष्टाङ्गुलनवाङ्गुले द्वे। पायौ दशद्वादशाङ्गुले द्वे। कर्णशोधनं स्रुचमुखमश्वत्थपत्राग्रम्। तथा क्षाराग्निकर्मार्थं जाम्बवौष्ठानि द्वादशदशाष्टाङ्गुलानि क्रमाद्द्व्यङ्गुलार्धाङ्गुलफलानि।

कार्पासकृतोष्णीष षट्शलाका—कपास ( रूई ) लपेटे हुए मुखवाले अर्थात् जिनके मुख पर रूई लपेटी हुई होती है ऐसी छः शलाका नाना प्रकार के व्रणों क्लेद ( पूय ) को पोंछने तथा क्षारकर्म करने के बाद पोंछने के काम में आती हैं। इसमें भी नासागत दूर एवं समीप व्रण को पोंछने के लिए सात और छः अंगुलवाली दो, इसी प्रकार कान के व्रण पोंछने के लिए आठ और नव अङ्गुल की दो तथा गुदगत व्रण पोछने शुष्कमल शोधने के लिए दस और बारह अंगुलवाली दो शलाकाएं होती हैं। इस प्रकार ये नासा, कान और गुद के लिए दो दो मिलाकर छः शलाका हुई। अँगरेजी में इनको स्वाब प्रोब ( Swab probes ) कहते हैं।

एक कर्णशोधन—शलाकायन्त्र होता है। यह पीपल के पत्ते के अग्रभाग की तरह स्रुचमुख ( हवन करने में उपयुक्त स्रुव के समान मुखवाला ) होता है।

जाम्बवौष्ठ—तीन जाम्बवौष्ठ ( जामुन के फल के आकारवाले ) होते हैं। इनकी लम्बाई बारह, दस और आठ अंगुल की और इनके फलक क्रम से दो, एक और आध अंगुल के होते हैं। सारांश, बारह अंगुलवाली का फलक दो अंगुल, दस अंगुलवाली का एक अंगुल तथा आठ अंगुलवाली का आध अंगुल प्रमाण का होता है। इनका उपयोग क्षाराग्निकर्म में होता है।

शलाकाश्च स्थूलसूक्ष्मदीर्घह्रस्वमध्याः। अन्त्रवृद्धावर्द्धेन्दुवक्त्रा मध्योर्ध्वनिर्गतशलाकाग्रहणा। नासार्शोऽर्बुदयोः कोलास्थिदलमात्रमुखा। खल्लीतीक्ष्णोष्ठ्यो, क्षारविषौषधप्रणिधानाय च दर्व्यस्तिस्रोऽष्टाङ्गुला दर्व्याकाराः कनीनिकानामिकामध्यमाङ्गुलीनखपरिमाणनिम्नमुखाः तथाञ्जलिसंस्थानाः। उत्तरबस्त्यञ्जनादिषु यथायथमेवोपदिष्टानि।

शलाका के अनेक प्रकार—स्थूल ( मोटी ), सूक्ष्म (पतली), दीर्घ ( लम्बी ), ह्रस्व ( छोटी ) और मध्यम आकारवाली ऐसी अनेक प्रकार की शलाका यथायोग्य कार्यों में बनाई जा सकती हैं।

अर्धेन्दुवक्त्रा—अन्त्रवृद्धि रोग में दहनकर्म के लिए अर्धेन्दुवक्त्रा शलाका का उपयोग होता है। इसको पकड़ने के लिए इसके मध्य और ऊर्ध्वभाग से निकला हुआ दण्ड रहता है। इसके मुख का आकार आधे चन्द्रमा की तरह रहता है।

नासार्शोऽर्बुददहरणी—नासिकागत अर्श ( मस्से ) और अर्बुद को दहन करने के लिए यह शलाका बेर की गुठली के दलमात्र मुखवाली होती है। अँगरेजी में इसका नाम नेसल क्यूरेटी ( Naral curette ) है।

खल्लीमुखी—ये दर्वी ( कड़छी ) के आकार तीन प्रकार की दर्वियें होती हैं। इनकी लम्बाई आठ आठ अङ्गुल की रहती है और ये निम्नता तथा मोटाई में कनिष्ठिका, अनामिका और मध्यमा के नख के समान क्रम से होती हैं। इनका उपयोग क्षार एवं विषौषधि के विषय में होता है। इनका मुख तीक्ष्ण ओषधिमर्दन के खरल के आकार का होता है इसीलिए इनका नाम खल्ली या खल्लीमुखी है अथवा ये अञ्जलि संस्थाना ( अञ्जली के समान ) होती हैं। इन्दु के मतानुसार उपर्युक्त अर्धेन्दुवक्त्रा के मुख के अतिरिक्त पार्श्व में पकडने के लिए डण्डा भी होता है। तीक्ष्णोष्ठा के स्थान में इन्दुसम्मत पाठ वेल्लितोष्ठा है और चलायमान ओष्ठवाली।

उत्तरवस्ति, अञ्जनादि में भी शलाकाओं का उपयोग होता है अतः उनका यथायोग उपदेश करना चाहिए अर्थात् जहां जैसी शलाका की आवश्यकता हो, वहां वैसी ही शलाका उपयोग में लानी चाहिए। इनके विषय में यथास्थान में कह दिया गया है।

अनुयन्त्राण्ययस्कान्तरज्जुचर्मान्तरवस्त्राश्मसुद्गरपाणिपादतलाङ्गुलिजिह्वादन्तनखमुखशाखावालचलोष्मकालपाकहर्षभयानि। एतानि देहे सर्वस्मिन्देहस्यावयवेऽपि वा। सन्धौ कोष्ठे धमन्यां च यथायोगं प्रयोजयेत्॥

अनुयन्त्र—अयस्कान्त, रज्जु, चर्म, अन्तर्वस्त्र, अश्म, मुद्गर, पाणितल, पादतल, अंगुलि, जिह्वा, दन्त, नख, मुख, शाखा, बाल, चल, ऊष्मा, काल, पाक और भय ये सब अनुयन्त्र कहलाते हैं। इन सबकी योजना सर्वशरीर तथा शरीर के प्रत्येक अवयव, सन्धि, कोष्ठ तथा धमनी इन सब में यथायोग करनी चाहिए।

विशेष वक्तव्य—सुश्रुत में इन सब अनुयन्त्रों को उपयन्त्र कहा गया है। इसलिए कि ये यन्त्र शस्त्रों के उप ( पास ) रहते हुए अनेक प्रकार के कार्य कर सकते हैं और इनसे यन्त्र एवं शस्त्रक्रिया में बड़ी अच्छी सहायता मिलती है। अब हम इन सबका उपयोग यन्त्रों की तरह किस प्रकार होता है सो संक्षेप से वर्णन करते हैं।

अयस्कान्त—यह खनिज लौह विशेष है। इसे लोग चुम्बक या लोह चुम्बक नाम से पहिचानते हैं। यह लोहे को अपनी ओर आकर्षण करता या खींचता है। गाय आदि पशुओं के पेट में सुई लोहे की कील आदि चली जाने पर यह पशु के पेट आदि पर रख कर फिराया जाता है जिससे उसके फिराने के साथ साथ लोहवस्तु निकल आती है। आंखों में भी लोहकणादि के चले जाने पर इसका उपयोग होता है और लोहकण आदि बाहर निकल आते हैं। इसका उपयोग प्राचीन काल से होता आया है। अँगरेजी में इसे लोड स्टोन ( Load stone )

१. दहने नासार्शोऽर्बुदयोः २. वेल्लितोष्ठा। ३. कनिष्ठिकानामिका।

१. खल्लमौषधमर्दनपात्रमिव मुखं येषां तानि तथोक्तानीति हाराणचन्द्रः। २. इन्दुवक्त्रायां वक्त्रादन्यस्मिन् पार्श्वे दण्डो विधेयः। वेल्लन्तौ चलावोष्ठावितीन्दुः।

कहते हैं तथा कृत्रिम चुम्बक को विद्युत् चुम्बक Electro magnet कहते हैं।

रज्जु—सूत या डोरी का नाम है। सर्पविष-चिकित्सा में दंशस्थान के ऊपरवाले भाग को रस्सी से जकड़ कर बांधने की पद्धति प्राचीन समय से चली आती है[1]। रस्सी से बांधने पर विष ऊपर शरीर में व्याप्त नहीं होता है। महाराष्ट्र में यह क्रिया विशेषतः होती है और इसे धुर्बन्ध कहते हैं।

चर्म—चर्मपट्ट प्राचीन समय में सर्पदंश पर बांधा[2] जाता था। चर्म का गोफणबन्ध गुदभ्रंश रोग में प्रयुक्त होता[3] था। इतना ही नहीं, अर्श, अश्मरी, भगन्दर, सिराव्यध प्रभृति शस्त्रकर्मों में रोगी को कसकर चर्मपट्टों से बांधा जाता था। आधुनिक शस्त्र-चिकित्सा में भी अर्श, भगन्दर आदि गुद-समीपवर्ती रोगों में शस्त्रक्रिया के समय पांव निश्चल रहे इस लिए चर्मपट्टों ( Lithotomy straps ) का उपयोग होता है। जलोदर का जल निकालने के बाद भी चर्मपट्टोपयोग उदर-बन्धन के लिए होता[4] था। इसी प्रकार भिन्न भिन्न बस्तियों के लिए तो चर्म का उपयोग सर्वश्रुत ही है।

अन्तर्वस्त्र—रज्जु, वेणि का और चर्म का जहां जहां उपयोग होता था वहां रेशमी वस्त्र आदि का भी।

अश्म और मुद्गर—दीर्घ और गोल पाषाण का उपयोग अस्थिगत शल्य निकलते समय शल्यपर प्रहार करने के लिए तथा अस्थिभग्न में हस्ततल में धारण करने के लिए होता था। मुद्गर का उपयोग भी अश्म (पत्थर) की तरह किया जाता था[5]।

पाणिपादतलांगुलि—भगवान् धन्वन्तरि १०१ यन्त्रों में सबसे प्रधानतम हाथ को मानते हैं। किसी भी यन्त्र या शस्त्र का कार्य बिना हाथ के हो ही नहीं सकता। विम्लापन के लिए, ग्रासशल्य में आघात करने के लिए, अस्थिभग्न एवं भ्रंश के लिए हाथ का उपयोग प्रधानतया होता था। इसी प्रकार व्यात्तानन ( मुंह के फट जाने ) आदि को ठीक करने के लिए भी हाथ से बड़ी[6] सहायता मिलती थी, यह प्राचीन संहिताओं से स्पष्ट है। पांव का उपयोग भी अस्थिशल्य निकालने के समय हड्डी पर दबाव देने के लिए होता था[7]।

जिह्वा—नेत्रगत शल्यादि निकालने के लिए जीभ का उपयोग होता है और रोगपरीक्षा[1] भी जीभ से होती है।

दन्त—यथा हस्तिदन्त, अंगुलित्राणक, अर्शोयन्त्र आदि के बनवाने में काम आता था। इतना ही नहीं, हाथी दांत की मिस्सी के प्रयोग से व्रणस्थान पर भी बाल पैदा होना सुश्रुत ने लिखा[2] है।

नख—शस्त्रक्रिया के समय त्वचा के भिन्न भिन्न पर्त अलग करने के लिए नखों का उपयोग होता है तथैव दृश्य शल्य के निकालने के लिए नख बड़ा काम देते हैं।

मुख—आजकल चूसने की आवश्यकता होने पर रबड़ के गेंद को काम में लाते हैं परन्तु प्राचीन काल में चूसने का काम मुख से होता था। संप्रति चूसनेवाले गेंद को सक्शन बाल ( Suction Balls ) कहते हैं।

शाखा—अश्वकटक तथा वृक्षशाखा का उपयोग अस्थिगत शल्य निकालने के लिए हुआ[3] करता था। इसका उल्लेख सुश्रुत में मिलता है।

बाल—मनुष्य तथा घोड़े के बाल व्रण सीने के लिए, शिरः शल्य की चिकित्सा में, कण्ठस्थ शल्याहरणार्थ काम में आते[4] हैं।

चल—वायु का उपयोग भी यत्र तत्र होता है। शस्त्रक्रिया में संज्ञाहरणार्थ क्लोरोफार्म सुंघाया जाने पर तथा रोगी को ग्लानि, बेहोशी आदि हो जाने पर पंखे से हवा की जाती है[5]। सर्पदंश होने पर हवा की जाती है जब तक रोमाञ्च न हो जाय।

ऊष्मा—अग्नि का उपयोग अग्निकर्मादि कई[6] क्रियाओं में होता ही है।

काल—काल का उपयोग भी वमन-विरेचन-शस्त्रक्रियादि समस्त विषयों में होता है।

पाक—व्रण आदि का बिना पाक हुए आमावस्था में शस्त्रक्रिया नितान्त वर्जित है अतः पाकोपयोग का जानना वैद्य के लिए प्रथम कर्त्तव्य[7] है।

हर्ष—रोगी का मन हर्षित एवं प्रफुल्लित करने के लिए वैसी सुखदायिनी कथाएं कही जाने से शस्त्रक्रिया में बड़ा सुभीता होता है, हृदय का शल्य दूर किया जाता है अतः हर्ष का उपयोग भी होता[8] है।

---

१. 'सा तु रज्ज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी मतेति, सुश्रुतः।
२. 'दंशस्योपरि बध्नीयादरिष्टां चतुरङ्गुले। प्रोतवर्मान्त-
वल्कानां मृदुनान्यतमेन च॥' इति सुश्रुतः। ३. 'गुदभ्रंशे गुदं स्विन्नं
स्नेहाभ्यक्तं प्रवेशयेत्। कारयेद्गोफणाबन्धं मध्यच्छिद्रेण चर्मणा॥'
इति सुश्रुतः। '४. निस्रुते च दोषे गाढतरमाविककौशेयचर्मणाऽन्य-
तमेन परिवेष्टयेदुदरं तथा नाध्मापयति वायुः। इति सुश्रुतः।
५. 'अस्थिदेशोत्तुण्डितमष्ठीलाश्ममुद्गराणामन्यतमस्य प्रहारेण
विचाल्य यथामार्गमेव।' 'प्राग्गोमयमयं पिण्डं धारयेन्मृण्मयं ततः। हस्ते
जातबले चापि कुर्यात्पाषाणधारणम्॥' इति सुश्रुतः।
६. 'अभ्यज्य स्वेदयित्वा तु वेणुना वा शनैः शनैः। विमर्दयेद्धि-
षक् प्राज्ञस्तलेनाङ्गुष्ठकेन वा॥' 'ग्रासशल्ये कण्ठासक्ते स्कन्धे मुष्टिना-
भिहन्यात्।' 'कौर्परं तु तथा सन्धिमङ्गुष्ठेनानुमार्जयेत्।' 'व्यात्तानने
हनुं स्विन्नामङ्गुष्ठाभ्यां प्रपीड्य च। प्रदेशिनीभ्यां चोन्नम्य चिबुको-
न्नमनं हितम्॥' इत्यादिः सुश्रुतचरकौ। ७. 'अस्थिविवरप्रविष्टमस्थि-
विदष्टं वावगृह्य पादाभ्यां यन्त्रेणापहरेत्।' इति सुश्रुतः।

१. रसनेन्द्रियविज्ञेयाः प्रमेहादिषु रसविशेषाः। इति सुश्रुतः।
२. हस्तिदन्तमसीं कृत्वा मुख्यं चैव रसाञ्जनम्। रोमाण्येतानि जायन्ते
लेपात्पाणितलेष्वपि॥ इति ३. पञ्चाङ्ग्यामुपसंयतस्याश्वस्य वक्त्रकटिके
बध्नीयात्। अथैनं कशया ताडयेद्यथोन्नामयन् शिरोवेगेन शल्यमुद्धरति,
दृढां वा वृक्षशाखामवनम्य तस्यां पूर्ववद्बध्वोद्धरेत्। इति ४. 'सीव्ये-
त्सूक्ष्मेण सूत्रेण स्नाय्वा बालेन वा पुनः।' 'शिरसोपहते शल्ये बालवर्ति
प्रवेशयेत्।' इत्यादि सुश्रुतः ५. वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः प्रवर्तकश्चेष्टानामु-
च्चावचानां नियन्ता प्रणेता च मनस इति चरकः। ६. व्यज्यश्चालोम-
हर्षात्स्यात्। इति चरकः। ७. यश्छिनत्त्याममज्ञानाद्यश्च पक्वमुपे-
क्षते। श्वपचाविव मन्तव्यौ तावनिश्चितकारिणौ॥ इति सुश्रुतः।
८. 'हृदयस्थितमनेककारणोत्पन्नं शोकशल्यं हर्षेण' इति तथैव 'संप-
दाद्यनुकूलाभिः कथाभिः प्रीतमानसः। आशावान् व्याधिमोक्षाय
क्षिप्रं सुखमवाप्नुयादिति सुश्रुतः।'

भय—भय के कारण शरीर की समस्त पेशियां ढीली हो जाती हैं। इससे शल्य के निकालने, शस्त्रकर्म करने, टूटी अस्थि को जोड़ने-ठीक करने में बहुत सुविधा होती है। दातव्य औषधालयों में रोगी के शोर मचाने पर उसे भय दिखाया जाकर काम लिया जाता है। कभी कभी उसको पीटना भी पड़ता है। उन्माद तथा हिक्का रोग भय से तुरन्त दूर किए जा सकते हैं।

अनुयन्त्रों का उपयोग—उपर्युक्त वर्णित भिन्न भिन्न अनुयन्त्रों का उपयोग समस्त शरीर में, शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों में, सन्धि में, कोष्ठ में तथा धमनी में जिसका जहां यथायोग उपयोग होता हो वहां करना चाहिए।

**यन्त्रकर्माणि तु निर्घातनपूरणबन्धनव्यूहनवर्तनचालनविवरणपीडनमार्गशोधनविकर्षणाहरणव्यञ्जनोन्नमनविनमनभञ्जनोन्मथनाचूषणैषणदारणर्जुकरणप्रक्षालनप्रधमनाञ्जनप्रमार्जनानि बाहुल्येन चतुर्विंशतिर्भवन्ति।**

यन्त्रों के २४ कर्म—निर्घातन, पूरण, बन्धन, व्यूहन, वर्तन, चालन, विवरण, पीडन, मार्गविशोधन, विकर्षण, आहरण, व्यञ्जन, उन्नमन, विनमन, भञ्जन, उन्मथन, आचूषण, एषण, दारण, ऋजुकरण, प्रक्षालन, प्रधमन, अञ्जन और प्रमार्जन ये यन्त्रों के चौबीस कर्म बाहुल्येन कहे कए गए हैं।

विशेष वक्तव्य—निर्घातन-मुद्गर, पाषाण आदि से आघात (Hammering) करना। पूरण—योनि, गुद, व्रण आदि में नेत्रबस्ति आदि द्वारा ओषधियों का भरना। बन्धन—रज्जुवेणिका, चर्म, पट्ट (वस्त्र) आदि से बांधना अर्थात् Bandaging करना। व्यूहन—डल्हन के कथनानुसार शल्य के निकालने एवं निरीक्षण करने के लिए 'ऊर्ध्वीकरणं छिद्रोत्तुण्डितस्योद्धरणार्थम्' को व्यूहन बताया गया है परन्तु यह ठीक प्रतीत नहीं होता, इसलिए कि व्यूहनार्थं सर्पफणाशलाका का उपयोग करना बताया है। हाराणचन्द्र कहते हैं कि 'व्यूहनं तु चूर्णिताश्मर्यादीनां संग्रहणम्' अर्थात् चूर्णीभूत अश्मरी आदि के ग्रहण करने का नाम व्यूहन है। उनकी दृष्टि से यह अश्मर्यादि-विषय में ठीक प्रतीत होता है। महामहोपाध्याय श्रीगणनाथसेन का मत है कि 'व्रणौष्ठयोः सन्निहितीकरणम्' अर्थात् व्रण तथा होठ का सन्निहित (ठीक) करना व्यूहन है किन्तु आधुनिक मत से व्रणावलोकन करने या निकालने के लिए व्रण के किनारों को खींचना (Retraction) व्यूहन है। वर्तन—फटे हुए व्रण को, टूटे हुए हाड तथा शरीर के किसी भी इधर-उधर हुए अवयव को यथास्थान स्थापित करना अर्थात् Reflacement करना है किन्तु डल्हन कहते हैं कि 'विवृतस्य वर्तुलीकरणम्' अर्थात् बिगड़ी हुई गोलाई का ठीक करना वर्तन है। चालन—एक स्थान से अन्य स्थान पर ले जाना या व्रण को चलायमान करना है किन्तु हाराणचन्द्र गला आदि स्थान में अटके हुए शल्य के निकालने को चालन कहते हैं। विवरण—नाडीव्रण आदि के बन्द मुखको खोलना (Dilatation) है। पीडन—व्रण के पूय तथा स्राव को अंगुलियों तथा ओषधियों द्वारा दबाकर निकालना। मार्गविशोधन—मल-मूत्र आदि के रुक जाने पर शलाका के उपयोग से मार्ग को खोल देना। विकर्षण—'विगृह्य कर्षणम्' अर्थात् पकड़ कर बाहर खींच लेना अथवा Extraction है। आहरण—व्रण के शल्य को बाहर ले आना। व्यञ्जन—ओषधिप्रक्षालनादि द्वारा व्रण के असली रूप को प्रगट करना। उन्नमन—अधःस्थित या गहराई में पैठी हुई हड्डी या शल्यको ऊपर ले आना (Elevation) है। विनमन—ऊपर उठी हुई हड्डी को नीचे दबाना (Dipression) है। भञ्जन—शल्य को तोड़ना (खण्डित करना) अर्थात् Crushing करना। उन्मथन—शल्य को जान लेने के लिये शलाका से विलोडन अर्थात् Sounding करना। आचूषण—मुख से या सिंगी आदि से वात, दुष्टरक्त तथा स्तन्य आदि को चूसना अर्थात् Suction करना। एषण—नाडी व्रण आदि के अज्ञात मार्ग का ढूंढना अर्थात् Probing or exploration करना। दारण—कंजा, क्षार आदि दारण-द्रव्यों का लेप करके पकी हुई सूजन को फोड़ना परन्तु डल्हन के मतानुसार दारण शरकरणादिका द्विधा करना है। ऋजुकरण—सरल या सीधा करना। प्रक्षालन—त्रिफला, निम्ब आदि के काढ़े से व्रण को धोना। प्रधमन—नासिका, कान आदि में नाडीयन्त्र की सहायता से ओषधियों के चूर्ण को फूंकना अर्थात् (Isufflation करना। अञ्जन—नेत्रोंमें विविध प्रकार की ओषधियों सहित स्रोतोञ्जन आदि का शलाका द्वारा लगाना या अञ्जन करना। प्रमार्जन—अंगुली, वस्त्र आदि से व्रण का पोंछकर साफ करना। इस प्रकार यन्त्रकर्मों के भावार्थ को जान लेना चाहिए।

**विवर्तते साध्ववगाहते च ग्राह्यं गृहीत्वोद्धरते च यस्मात्।**
**यन्त्रेष्वतः कङ्कमुखं प्रधानं स्थानेषु सर्वेष्वविकारि यच्च॥**

कङ्कमुख यन्त्रकी प्रधानता—जो अच्छी तरह से चलाया जा सकता है, जो भली भांति व्रण में प्रविष्ट हो सकता है, जो पकड़ने योग्य शल्य को पकड़ कर बाहर निकाल सकता है, जो समस्त स्थानों में क्रियाकाल में किसी भी प्रकार का विकार नहीं दिखाता, इसलिए सब यन्त्रों में कङ्कमुख यन्त्र प्रधान माना गया है। पूर्वोक्त सब यन्त्रों के आकार आगे देखिए।

**शस्त्राणि षड्विंशतिर्भवन्ति। तद्यथा—दन्तलेखनमण्डलाग्रवृद्धिपत्रोत्पलपत्राध्यर्धधारमुद्रिका-कर्तरी-सर्पवक्त्रकरपत्रकुशपत्राटामुखान्तरमुखशरारिमुखत्रिकूर्चकुठारिकाव्रीहिमुखशलाकावेतसपत्रारार्कण्व्यधनसूचीसूचीकुर्चखजैषणीबडिशनखशस्त्राणि। प्रायशश्च तानि षडङ्गुलानि सुध्मातावर्तितायोघटितान्युत्पलपत्रनीलानि सुग्रहाणि सुरूपाणि सुधाराणि सुसमाहितमुखाग्राण्यकरालानि प्रत्येकं च प्रायो द्वित्राणि स्वप्रमाणार्थचतुर्थभागफलानि तानि व्याधिदेशवशात् प्रयुञ्जीत। तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण यन्त्रवद्व्याख्याताः।**

शस्त्रों के २३ प्रकार—शस्त्रक्रिया में प्रायः २६ शस्त्रों का व्यवहार होता है। उनके नाम इस प्रकार हैं। यथा—(१)

१. 'भयहर्षौ शरीरस्य सहसा भावान्तरमुत्पादयन्तौ यन्त्रकार्यं कुरुतः।' इति वाग्भटार्थकौमुदी।

१. निवर्तते इ. पा.। २. अवगाहते साधु प्रविशति, इतीन्दुः। ३. शस्त्राणि तु।

दन्तलेखन, (२) मण्डलाग्र, (३) वृद्धिपत्र, (४) उत्पलपत्र, (५) अध्यर्धधार, (६) मुद्रिका, (७) कर्तरी, (८) सर्पवक्त्र, (९) करपत्र, (१०) कुशपत्र, (११) आटामुख, (१२) अन्तर्मुख, (१३) शरारीमुख, (१४) त्रिकूर्च, (१५) कुठारिका, (१६) व्रीहिमुख, (१७) शलाका, (१८) वेतसपत्र, (१९) आरा, (२०) कर्णव्यधनसूची, (२१) सूची, (२२) कूर्च, (२३) खज, (२४) एषणी, (२५) वडिश और (२६) नख।

शस्त्रों के प्रमाण, आकार और लक्षणादि—प्रायः ये सभी शस्त्र प्रमाण में छः अंगुलवाले, अच्छे धमाए हुए आवर्तित (जल के समान पिघले या गले हुए) शुद्ध तीक्ष्ण लोहे (फौलाद) के बने हुए, नील कमल के पत्तों के समान नीलवर्णवाले, पकड़ने के लिए सुदृढ हत्थीवाले, देखने में सुन्दर, अच्छी तीखी धारवाले, सुन्दर एवं समुचित मुखाग्रवाले तथा अकराल (अभयंकर) होने चाहिए। छोटाई-मोटाई के हिसाब से इन प्रत्येक शस्त्र के दो दो या तीन तीन प्रकार होने चाहिए जैसे कि स्वप्रमाण एवं स्वप्रमाण से आधे तथा चतुर्थ भागमित फलवाले। इन शस्त्रों का प्रयोग व्याधि तथा देश के अनुसार करना चाहिए। यन्त्रोंकी तरह इन शस्त्रों की आकृतियें भी इनके नाम से ही बता दी गई हैं। यथा सर्पवक्त्र, आटामुख, व्रीहिमुख आदि आदि।

विशेष वक्तव्य—भिन्न भिन्न ग्रन्थकारों के मत से अब इन शस्त्रों का विशेष वर्णन कर देना अनुचित न होगा।

दन्तलेखन—सुश्रुत ने इसका नाम दन्तशङ्कु लिखा है। इसकी लम्बाई छः अंगुल होती है। इसका अग्रभाग तीक्ष्ण शंकुकी तरह मुड़ा हुआ होता है। इसका उपयोग दांतों की शर्करा-कपालिका आदि निकालने में लेखनक्रिया करके होता है। यह चौकोन, तीक्ष्णधार, अग्रभाग में व्रीहिमुखकी आकृति वाला होता है। अँगरेजी में इसे टूथ स्केलर (Tooth scaler) कहते हैं।

मण्डलाग्र—इसके दो प्रकार होते हैं, एक वृत्तमुख और दूसरा तीक्ष्णधारवाला छुराकृति। यह भोज एवं डल्हन का मत है। वाग्भट ने तो इसे 'तर्जन्यन्तर्नखाकृति' कहा है। इससे शंकु के आकार का मानना पड़ता है। इसका उपयोग अर्श, पोथकी, सिराजालादि नेत्ररोगों में तथा गलशुण्डिका, अधिजिह्वा और मूढगर्भचिकित्सा में भी होता है। अनुमानतः ज्ञात होता है कि छोटा-बड़ा मण्डलाग्र शस्त्र अनेक प्रकार का होना चाहिए। इसके आकार-विषय में आधुनिक विज्ञों में भी एकमत नहीं है। जैसे कि Circular knife, round read knife, razorlike roundheaded knife, decapitating knife, sh curette इत्यादि।

वृद्धिपत्र—वाग्भट ने यहां इसे छुराकार, छेदन-भेदन-पाटन में उपयोगी, उन्नतशोथ अग्रभाग में ऋजु (सरल) तथा गम्भीर व्रण में इसके विपरीत अर्थात् अग्रभाग में मुड़ाहुआ माना है। इसकी लम्बाई आचार्य के कथनानुसार 'प्रायशः षडङ्गुलानि' अर्थात् ६ अङ्गुल, वृन्त साढ़े पांच अङ्गुल और फल डेढ़ अङ्गुल होता है। वृद्धिसंज्ञक ओषधि-पत्रवत् होने से इसे वृद्धिपत्र कहते हैं। इसके दो भेद हैं, प्रयताग्र और अञ्चिताग्र। इनमें पहले प्रयताग्र को छुर कहते हैं परन्तु डल्हन अञ्चिताग्र को क्षुर मानते है। हाराणचन्द्र पर्याप्त चौड़े फलवाले शस्त्र को वृद्धिपत्र मानते हैं। इनमें से प्रयताग्र आधुनिक स्कालपेल या डिसेक्टिंग नाइफ (Scalpel, dissecting knife) के समान तथा अंचिताग्र कर्वेद बिस्टुरी (Carved bistoury) के समान होता है। इसका उपयोग विद्रधि को चीरने, व्रण के बाल काटने, लूतादंश में त्वचा विदारण करने तथा मेदोवृद्धि में पाटन कर्म करने के लिए होता है।

उत्पलपत्र—नीलकमलदल के समान फल का आकार होने से इसका नाम उत्पलपत्र है। यह तीन अङ्गुल लम्बा और एक अङ्गुल चौड़ा होता है। अँगरेजी में इसका नाम लान्सेट (Lancet) है।

अध्यर्धधार—इसकी धारा आधे से अधिक फल में होती है। अन्य आचार्य इसी को अर्धधार कहते हैं और इसकी लम्बाई आठ अंगुल होती है और फल दो अङ्गुल का होता है। कुछ लोग अर्धधार का अर्थ केवल एक ओर धारा करते हैं। यह एक प्रकार का चाकू है। इसे अँगरेजी में Single edged knife कहते हैं।

मुद्रिका—यह तर्जनी अङ्गुली के अगले पोरुवे में आ सके ऐसा मुद्रिकाकार शस्त्र है। इससे अर्धांगुल लम्बा मण्डलाग्र या वृद्धिपत्र के आकार का फलवाला शस्त्र बँधा हुआ रहता है। इसीको अंगुलिशस्त्र कहते हैं। यह गलरोग तथा मूढगर्भ के आहरण में भी काम आता है। अँगरेजी में इसे फिंगर नाइफ (Finger knife) कह सकते हैं।

कर्तरी—यह कतरनी या कैंची की तरह होता है। इसका उपयोग स्नायु, सूत्र तथा बालों के काटने में किया जाता है।

सर्पवक्त्र—अर्थात् सर्पमुखशस्त्र। इसका फल आधे अङ्गुल का होता है और यह नाक तथा कान के मस्से काटने में काम आता है।

करपत्र—यह करौती के आकार का दस अङ्गुल लम्बा, दो अंगुल चौड़ा, तीक्ष्णधारवाला, सूक्ष्म दांतोंवाला और पकड़ने के लिए मजबूत मूठवाला होता है। यह अस्थियों के काटने में काम आता है। इसके प्रमाण में आचार्यों में मतभेद है।

---

१. कार्यः षडङ्गुलायामो दन्तशङ्कुर्विजानता। शङ्कुवच्च मुखं तस्य कार्यमर्धाङ्गुलायतम्। चतुरस्रं समं चैव तीक्ष्णधारं समाहितम्। वृन्ताग्रं तस्य कर्तव्यं शस्त्रव्रीहिमुखाकृति॥ कपालिकां शर्करां च दन्तस्थां तेन शोधयेदिति भोजः। २. द्वे मण्डलाग्रे ये प्रोक्ते एकं वृत्तमुखं तयोः। तीक्ष्णधारं दृढं कार्यमेकं तच्च क्षुराकृति॥ इति भोजः।

१. अर्धपञ्चाङ्गुलं वृन्तं कार्यं सार्धाङ्गुलं फलम्। इति। २. अत्रैवायताग्रं वृद्धिपत्रं क्षुरमाहुरिति चक्रः। अनयोर्मध्येऽञ्चिताग्रं वृद्धिपत्रं क्षुरमाहुरिति डल्हनः। ३. वृद्धिपत्रमिति वृद्धिरायतत्वेन समृद्धिः पत्रे पत्राकारे फले यस्य तद् वृद्धिपत्रमिति। ४. तुल्यमुत्पलपत्रेण तीक्ष्णधारं समाहितम्। षडङ्गुलं प्रमाणेन शस्त्रमुत्पलपत्रकम्। तत्पत्रं त्र्यङ्गुलायामं कार्यमङ्गुलविस्तृतम्। ५. अर्धधारं तु कर्तव्यं शस्त्रमष्टाङ्गुलायतम्। उरस्यङ्गुलविस्तारं फले तद् द्व्यङ्गुलं भवेत्॥ इति भोजः। ६. मुद्रिकायां निबद्धं स्याद् वृद्धिपत्रसलक्षणम्। द्व्यङ्गुलं मुद्रिकाशस्त्रं क्षुरसंस्थानमेव च॥ इति

सुश्रुत इसका प्रमाण छः अंगुल बताते हैं और भोज बारह अङ्गुल कहते हैं। अँगरेजी में इसका नाम बोन सा ( Bon saw ) है।

कुशपत्र—इसकी लम्बाई दो अङ्गुल होती है और इसका फल दर्भपत्र के समान होता है। यह मुख के मसूढ़े आदि के रक्तस्रावण में काम आता है। अँगरेजी शस्त्रों में इसकी समानता पेजेट के चाकू या बिस्तुरी (Pagets knife or Bistoury) से की जा सकती है।

आटामुख—जल में तैरनेवाला आड या दलदल में विचरनेवाला आड या आडी एक पक्षिविशेष होता है। अँगरेजी में उसे टारडस गिंगिनिया मस ( Tardus ginginia mus ) कहते हैं। उसके मुख के समान मुख अर्थात् फल होने से इस शस्त्र का नाम आटामुख है। यह रक्तस्रावण के उपयोग में आता है। इसका वृन्त चार अंगुल लम्बा और फल दो अङ्गुल लम्बा होता है। परन्तु कोई इसका वृन्त सात अङ्गुल लम्बा और फल अंगूठे के समान मानते हैं। चन्द्र चक्रवर्त्ती ने 'Interpretation of A. H. Medicine' में लिखा है कि आटीमुख शस्त्र स्वस्तिमुख यन्त्र के समान दो फलवाला होता है और वे इसको हाक बिल सीजर्स Hawk bill seissors ) कहते हैं परन्तु प्राचीनों ने इसका उपयोग रक्तस्रावण बताया है अतः यह कतरनी के सदृश नहीं हो सकता। यह भी एक प्रकार का आधुनिक लान्सेट ( Lancet ) के समान शस्त्र है।

अन्तर्मुख—इसकी धारा अन्तर्भाग में होती है। यह डेढ़ अङ्गुल लम्बे फल का अर्धचन्द्राकार शस्त्र है। यह भी अँगरेजी कर्वड बिस्तुरी ( Curved bistoury ) शस्त्र के समान होता है। जी. एन. मुकर्जी अपने सर्जिकल इन्स्ट्रूमेण्ट ( Surgical instruments ) ग्रन्थ में इसको कर्तरी के समान समझते हैं।

शरारीमुख—धवलस्कन्ध और रक्तशीर्ष ऐसे दो प्रकार के लम्बी चोंचवाले पक्षी होते हैं। इनमें धवलस्कन्धवाला शरारी है। उसके मुख की तरह फलवाला होने से इसका नाम शरारीमुख है, इसी को सुश्रुत कर्तरी कहता है। और उसे दस अङ्गुल लम्बी बताता हुआ कहता है कि जो व्रण रोमाकीर्ण होने से सम्यक् उपरोह नहीं होता उसके रोम इस कर्तरी, क्षुर और संदंश से काटने चाहिए परन्तु वाग्भट शरारीमुख तथा कर्तरी को दो अलग अलग शस्त्र मानते हैं। शरारीमुख एवं त्रिकूर्च का उपयोग रक्तस्रावणार्थ तथा कर्तरी का स्नायु, सूत्र और बालों को काटने में बताया है। सम्भव है सुश्रुत का शरारीमुख कैंची की तरह दो फलवाला और वाग्भट का एक फलवाला लान्सेट या नाइफ ( चाकू ) हो।

कर्तरी को अँगरेजी में पैर आव् सीजर्स ( Pair of seissors ) कहते हैं।

त्रिकूर्च—यह शस्त्र एक गोल पीठपर तीन तीक्ष्ण शलाका या सूचियों को बैठा कर बनाया जाता है। यह हाराणचन्द्र चक्रवर्त्ती का मत है किन्तु डल्हन का मत है कि त्रिकूर्च आठ अङ्गुल लम्बा, अन्तर्मुख एक एक अङ्गुल प्रमाण तीन फलोंवाला, प्रत्येक फल के बीच एक एक यवमान अन्तरवाला, तथा पांच अङ्गुल मोटे वृन्तवाला होता है। कुछ अँगरेजी टीकाकार कूर्च का अर्थ पार्श्व (Side) करके त्रिकूर्च से अँगरेजी ट्रोकार ( Trocar ) समझते हैं परन्तु प्राचीनों के वर्णन को देखते कूर्च का अर्थ पार्श्व नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त त्रिकूर्च की तरह आगे कूर्च और खज ऐसे दो शस्त्र और भी बताए हैं। इनके वर्णन को देखते हुए त्रिकूर्च का जो वर्णन डल्हन ने किया है वही ठीक प्रतीत होता है। कूर्च का अर्थ सूची या कूंची ( Brush ) करना उचित प्रतीत होता है।

कुठारिका—यह कुठार अर्थात् कुल्हाड़ी के समान एक शस्त्र है। इसका वृन्त साढ़े सात अंगुल लम्बा, फल आध अंगुल चौड़ा होता है और यह गाय के दांत से मिलता जुलता है अँगरेजी में कुठारिका को एक्सशेपड् नाइफ ( Axeshaped Knife ) कहते हैं।

व्रीहिमुख—जिसका मुख व्रीहि ( यव ) के समान होता है उसको व्रीहिमुख शस्त्र कहते हैं। इसकी लम्बाई छः अंगुल, वृन्त दो अंगुल और फल चार अंगुल होता है किन्तु अष्टाङ्गहृदय में कुछ भिन्नता दिखाई देती है। इसका उपयोग मूत्रवृद्धि तथा जलोदरका जल निकालते समय उदरवेधनार्थ किया जाता है। अंगरेजी में इसको ट्रोकार ( Trocar ) कहते हैं।

शलाका—लिङ्गनाशवेध के काम में आती है। वाग्भट ने इसे तांबे की बनी, दो मुखवाली कहा है परन्तु सुश्रुत ने लिखा है कि यह आठ अंगुल लम्बी, मध्य में सूत से वेष्टित, अंगूठे के पोरुवे समान, दो मुखी, मुखों की जगह कुरुवक ( कमलादि पुष्प के कली ) की आकृतिवाली एवं ताम्र, लौह या सुवर्ण धातु की बनी हुई शलाका श्रेष्ठ होती है। इस लिङ्गनाशवेधनी शलाका को अंगरेजी में क्याटाराक्ट नीडल ( Cataract Needle ) कहते हैं।

वेतसपत्र—वेत के पत्र की तरह इसकी धारा तीक्ष्ण होने से इसका अन्वर्थ नाम वेतसपत्र है। इसकी धारा दन्तयुक्त (Scratted ), फल की लम्बाई चार अंगुल और वृन्त भी चार अंगुल लम्बा होता है।[5] कुछ लोग इसकी धारा दन्तुर नहीं

---

१. षडङ्गुलमिति सुश्रुतः। छेदेऽस्थ्नां करपत्रं तु खरधारं दशाङ्गुलमिति वाग्भटः। द्वादशाङ्गुलदीर्घं स्यात्तनु चाचितकण्टकम्। करपत्रं विजानीयादिति भोजः। २. वृन्तं सप्ताङ्गुल विद्यात्तस्याग्रे फलमिष्यते। आटीमुखप्रकारं हि फलमङ्गुष्ठमायतम्। आटीमुखं विजानीयात्तत्स्रावणविधौ मतम्॥ इति। ३. तद्वदन्तर्मुखं तस्य फलमध्यर्धमङ्गुलम्। अर्धचन्द्राननं चैतदिति वाग्भट एव। ४. दशाङ्गुला शरारीमुखी सा कर्तरीति कथ्यते। रोमाकीर्णो व्रणो यस्तु न सम्यगुपरोहति। क्षुरकर्तरीसंदंशस्तस्य रोमाणि कर्तयेदिति। ५. स्राव्ये शरार्यास्यत्रिकूर्चके। स्नायुसूत्रकचच्छेदे कर्तरी कर्तरीनिभा॥ इति।

१. अङ्गुलानि तथाष्टौ च शस्त्रं कार्यं त्रिकूर्चकम्। फलैरन्तर्मुखाकारैरङ्गुलैरन्वितं त्रिभिः। २. कुठारिकायां वृन्तं स्यात्सार्धसप्ताङ्गुलायतम्। फलमर्धाङ्गुलायामं गोदन्तसदृशं समम्॥ इति डल्हनः। ३. शस्त्रं व्रीहिमुखं कार्यमङ्गुलानि षडायतम्। द्व्यङ्गुलं तस्य वृन्तं स्यात्तत्फलं चतुरङ्गुलम्। तन्मुखं व्रीहिविस्तारं तनु संगूढकण्टकम्॥ इति। ४. अष्टाङ्गुलायता मध्ये सूत्रेण परिवेष्टिता। अङ्गुष्ठपर्वसमिता वक्त्रयोर्मुकुलाकृतिः। ताम्रायसी शातकौम्भी शलाका स्यादनिन्दिता॥ इति। ५. तीक्ष्णमङ्गुलविस्तारं चतुरङ्गुलमायतम्। अङ्गुलानि तु चत्वारि वृन्तं कार्यं विजानता॥ इति भोजः।

मानते हैं। अंगरेजी में इसको न्यारो क्लेडेड नाइफ या स्कालपेल ( Narrow Clad^d Knife or Scalpel ) कहते हैं।

आरा—यह चमड़ा काटने के उपयोग में आनेवाली चमार लोगों की आरी के समान होता है। वाग्भट इसे 'अर्धाङ्गुलवृत्तास्या तत्प्रवेशस्तथोर्ध्वतः । चतुरस्रा तया विध्येच्छोफं पक्वामसंशये' लिखते हुए कहते हैं कि यह आधा अंगुल लम्बा और गोल होता है, आध अंगुल ही प्रवेश के योग्य और ऊपर से चौकोन होता है। कच्चे या पक्के शोथ के संशय होने पर तथैव बहुला कर्णपाली का वेध इससे करना चाहिए परन्तु अन्य तन्त्रकार कहते हैं कि इसकी लम्बाई आठ अंगुल होनी चाहिये फल तिलके समान और वृन्त गाय की पूंछ के समान होना चाहिये। अंगरेजी में आरा का नाम आल ( Awl ) है।

कर्णव्यधनसूची—यह बालकों के कान बींधने के उपयोग में आनेवाला शस्त्र है। यहां संग्रह में यद्यपि एक ही प्रकार के इस शस्त्र का निर्देश किया गया है परन्तु अष्टाङ्गहृदय में पतली कर्णपाली के लिए सूची ( आरा ) तथा मोटी कर्णपाली के लिए तीन अंगुल की बड़ी और एक अंगुल पोली सूची का वर्णन किया है वही यह संग्रहोक्त सूची है। सूचीशस्त्र का उपयोग कर्णव्यध के अतिरिक्त अन्य कार्यों में भी होता है और ये सूचियें तीन प्रकार की बनाई जाती हैं जैसे कि थोड़े मांसवाले अंग में तथा संधियों में दो अंगुल लम्बी और गोल मुखवाली, अधिक मांसवाले अंग में तीन अंगुल लम्बी और तिधारी तथा मर्मस्थान, वृषणकोश और उदर में धनुष के समान टेढ़ी, मालतीपुष्प के वृन्ताग्रके समान मोटी, गोल, मुलायम और मजबूत, तीक्ष्णाग्रभागवाली ऐसे तीन प्रकार की सुई बनानी चाहिए। अंगरेजी में सूची को नीडल ( Needle ) कहते हैं। सीवनार्थ सूची जो कि सरल, वक्र और धनुर्वक्र होती हैं। उनके अंगरेजी नाम क्रम से Straight, Halp. Curved and Fully Curved हैं।

सूची—इसका वर्णन कर्णव्यधनसूची के उपर्युक्त वर्णन के साथ आ चुका है।

कूर्च—गोलाकार पीठ में जड़ी हुई चार अंगुल लम्बी और गोल, सात या आठ सुइयोंवाले शस्त्र को कूर्च कहते हैं। इसका उपयोग नीलिका, व्यंग और केशों के गिरानेवाले इन्द्रलुप्त आदि रोगों में कुट्टनार्थ होता है। अंगरेजी में इसे ब्रस ( Brush ) कह सकते हैं।

खज—आध अंगुल प्रमाण गोल आठ मुखवाले शस्त्र में आठ ही सुई लगी हुई होती हैं उसे खज कहते हैं। इसका उपयोग प्रथम हाथों से मर्दन की हुई नासिकासे रक्त निकालने के लिए किया जाता है। यह भी एक प्रकार का आधुनिक ब्रश ( Brush ) ही है।

एषणी—इसका उपयोग व्रण के अन्वेषण, भेदन और आनुलोमन में होता है। यह एक प्रकार की शलाका है। अन्वेषण करनेवाली एषणी ( शलाका ) का समावेश नाडीयन्त्रों में किया गया है। वहां कहा गया है कि गण्डूपदाकारमुखी शलाका का उपयोग अन्वेषण में होता है परन्तु भेदनपूर्वक अन्वेषण में तीक्ष्णमुखी एषणी अभिप्रेत है। इसके दो प्रकार हैं। इसका समावेश शस्त्रों में किया गया है। यह आठ अंगुल लम्बी होती है और इसके पीछे सूत के लिए पाश होता है। जिसका उद्देश अन्वेषणपूर्वक भेदन या भेदनपूर्वक अन्वेषण होता है। अंगरेजी में इसे शार्प प्रोब ( Sharp Probe ) अथवा नीडल शेपड प्रोब ( Needle Shaped Probe ) कह सकते हैं। एषणी का तीसरा कार्य आनुलोमन ( Directing ) होता है। इसके लिये काम में आनेवाली एषणी को अंगरेजी में डायरेक्टर ( Director ) कहते हैं। भगन्दर की शस्त्रक्रिया में एषणी का निर्देश किया गया है कि 'एषणं दत्त्वा शस्त्रं पातयेत्' वहां अनुलोमिनी एषणी अर्थात् प्रोब डायरेक्टर ( Probe director ) जानना चाहिए। शस्त्रक्रिया के समय इस अनुलोमिनी एषणी के प्रयोग से व्रणगतिके अनुसार भेदन होता है और शरीर के अन्य भाग पर शस्त्र के आघात का भय भी नहीं रहता। शस्त्रकी तरह सूत्र का अनुलोमन करने के लिए पाश्चात्य शस्त्रों में भी कुछ अनुलोमिनी एषणी काम में लाई जाती हैं जैसे कि हार्निया डायरेक्टर (Hornia director), अन्यूरिज्म नीडल ( Aneurysm needle ) इत्यादि। इनका समावेश एषणीमें ही करना चाहिए।

बडिश—अङ्कुश के आकार मछली पकड़ने के कांटे की तरह यह शस्त्र होता है। इसकी लम्बाई छः अङ्गुल, वृन्त साढ़े पांच अंगुल और फल आधा अंगुल होता है। इसके दो प्रकार होते हैं, अधिकवक्र स्वानत बडिश और नात्यानत बडिश। यह थोड़ा मुड़ा हुआ या अर्धचन्द्राकृति होता है। इसका उपयोग पकड़ने के लिए होता है। वर्तमान शस्त्रशास्त्र में पकड़ने के काम में आनेवाले भिन्न-भिन्न प्रकार के तीक्ष्णमुख संदंश ( Torcepo ) अधिक व्यवहृत होते हैं। इन्हीं के लिए प्राचीन काल में बडिश का उपयोग होता था। अँगरेजी में बडिश को हुक ( Hoak ) कहते हैं।

नख—नखशस्त्र एक ऋजु (सरल) और दूसरी वक्र धारवाला, द्विमुख अर्थात् जिसका मुख ऋजु और वक्रधार से

१. आरा ह्यष्टाङ्गुलायामा कर्तव्या तु विशांपते। तिलप्रमाणं तु फलं तस्याः कार्यं समाहितम्। दूर्वाङ्कुरपरीणाहं वृन्तं गोपुच्छसंनिभम्॥ इति। २. व्यधनं कर्णपालीनां यूथिकामुकुलाननम्। बहलायाश्च शस्यते। सूची त्रिभागसुषिरा त्र्यङ्गुला कर्णवेधनीति। ३. देशेऽल्पमांसे सन्धौ च सूची वृत्ताङ्गुलद्वयम्। आयता त्र्यङ्गुला त्र्यस्रा मांसले वापि पूजिता। धनुर्वक्रा हिता मर्मफलकोशोदरोपरि। इत्येतास्त्रिविधाः सूच्यस्तीक्ष्णाग्राः सुसमाहिताः। कार्यो मालतीपुष्पवृन्ताग्रपरिमण्डलाः॥ इति सुश्रुतः। ४. सर्ववृत्तास्ताश्चतुरङ्गुलाः। कूर्चो वृत्तैकपीठस्थः सप्ताऽष्टौ वा सुबन्धनाः। संयोज्यो नीलिकाव्यङ्गकेशशातनकुट्टने॥ इति।

१. 'अर्धाङ्गुलैर्मुखैर्वृत्तैरष्टाभिः कण्टकैः खजः। पाणिभ्यां मथ्यमानेन घ्राणात्तेन हरेदसृक्' इति। २. भेदनार्थेऽपरा सूचीमुखा मूलनिविष्टला। इति ३. बडिशे चापि कर्तव्ये प्रमाणेन षडङ्गुले। स्वानतं तु तयोरेकमेकं नात्यानतं भवेत्। अर्धपञ्चाङ्गुलं वृन्तं शेषं कार्यं मुखं तयोः। अर्धचन्द्राकृति वक्रं कार्यं नात्यानतस्य तु। स्वानतं नामयेत्तत्रं बडिशं च भिषग्वरः। वृन्ताग्रयोरन्तरं स्यादावर्दधाङ्गुलं भवेत्॥ इति भोजः।

बनता है। इसकी लम्बाई नव अङ्गुल की होती है। इसका उपयोग सूक्ष्म शल्य के पकड़ने तथा पकड़ कर निकालने, छेदन, भेदन, प्रच्छान तथा लेखन में होता है। अष्टाङ्गहृदय में इस प्रकार कहा है और यहां संग्रह में कहा है कि एक ओर का मुख अश्वकर्ण की तरह और दूसरी ओर का वत्सदन्तवत् होता है। कुछ लोग ऐसे दो शस्त्र मानते हैं, आठ अङ्गुलवाला नखशस्त्र वक्रधार तथा नव अङ्गुल का ऋजुधार[1]। डल्हन कहते हैं कि इसका फल दो अङ्गुल लम्बा और एक अङ्गुल चौड़ा होता है परन्तु एक आचार्य कहते हैं कि नखशस्त्र आठ अङ्गुल लम्बा, आधे अङ्गुल मुखवाला तथा तीक्ष्ण धारवाला बनाना चाहिए। अंगरेजी में नखशस्त्र का नाम नेल पेरर ( Nail Parer ) है।

तत्र द्वयमाद्यं[3] लेखने। वृद्धिपत्रादीनि त्रीणि पाटने चत्वारि भेदने। मण्डलाग्रादीन्यष्टौ छेदने। कुशपत्रादीनि पञ्च प्रच्छाने। कुठारिकादीनि षड् व्यधने। तेषामाराव्रीहिमुखे भेदने छेदने च। सूच्यः सीवने। सूचीकूर्चः कुट्टने। खजो मथने। एषण्येषणे भेदने च। बडिशो ग्रहणे। नखशस्त्रमुद्धरणे छेद्यभेद्यलेख्यप्रच्छानेषु च। इति द्वादशविधे कर्मण्युपयोगः।

शस्त्रों का द्वादशधा उपयोग—यों तो शस्त्रों का उपयोग अनेक प्रकार से हो सकता है परन्तु मुख्यतः शस्त्रों का उपयोग द्वादश कर्मों के लिए कहा गया है जैसे कि पहले दो अर्थात् दन्तलेखन और मण्डलाग्र का लेखनकर्म में होता है परन्तु टीकाकार इन्दु 'तत्र त्रयमाद्यं लेखने' पाठ को स्वीकार कर कहता है कि आदि के तीन अर्थात् दन्तलेखन, मण्डलाग्र और वृद्धिपत्र ये लेखनोपयोगी[4] हैं। इन्दु का यह कथन शल्यशास्त्र के आदि आचार्य भगवान् धन्वन्तरि के मतानुसार ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि उन्होंने वृद्धिपत्र का उल्लेख छेदन तथा भेदन के लिये किया है किन्तु लेखनार्थ नहीं। वृद्धिपत्रादि तीन अर्थात् वृद्धिपत्र, उत्पलपत्र और अध्यर्धधार का उपयोग पाटनकर्म में तथा वृद्धिपत्रादि चार ( वृद्धिपत्र, उत्पलपत्र, अध्यर्धधार और मुद्रिका ) का उपयोग भेदनकर्म में होता है। मण्डलाग्रादि आठ ( मण्डलाग्र, वृद्धिपत्र, उत्पलपत्र, अध्यर्धधार, मुद्रिका, कर्त्तरी, सर्पवक्त्र और करपत्र ) का उपयोग छेदनकर्म में होता है। कुशपत्रादि पांच ( कुशपत्र, आटामुख, अन्तर्मुख, शरारीमुख तथा त्रिकूर्च ) का उपयोग प्रच्छानकर्म में, कुठारिकादि छः अर्थात् कुठारिका, व्रीहिमुख, शलाका, वेतसपत्र, आरा और कर्णव्यधनसूची का उपयोग व्यधनकर्म में, इनमें आरा और व्रीहिमुख ये दो भेदन तथा छेदन के उपयोग में भी आते हैं। सूचियें सीवनकर्म में, सूचीकूर्च कुट्टन में, खज मथन में, एषणी एषण और भेदन में बडिश ग्रहण में तथा नखशस्त्र उद्धरण, छेदन, लेखन और प्रच्छानकर्म में उपयुक्त है। शस्त्रों का इस प्रकार द्वादशधा उपयोग बताया गया।

विशेष वक्तव्य—वाग्भटाचार्यने यहां शस्त्रों का उपयोग द्वादशधा अर्थात् बारह प्रकार के कर्मों में बताया है परन्तु सुश्रुत ने शस्त्रों का उपयोग अष्टधा अर्थात् आठ प्रकार के कर्मों में बताया है और वे कर्म छेदन, लेखन, भेदन, विस्रावण, व्यधन, आहरण, एषण और सीवन हैं। विचारकर देखा जाय तो वाग्भट के द्वादश कर्मों का अन्तर्भाव सुश्रुत के उक्त आठ कर्मों में ही हो जाता है[1]। यथा विस्रावण का अन्तर्भाव प्रच्छानकर्म में हो जाता है। इतना ही नहीं, डल्हन के मतानुसार आनुलोमन भी विस्रावण ही है न कि ऋजुकरण[2]। आहरण का अन्तर्भाव ग्रहण में होता है।

विशेषतस्तु दन्तलेखनं प्रबद्ध[3]वच्चतुरस्रमेकधारं दन्तशर्करालेखने। मण्डलाग्रं प्रदेशिन्यन्तर्नखविस्तृतफलं तल्लेखनविच्छेदनयो[4]र्वर्त्मरोगोत्पन्न[5]दन्तमांसदुनिविष्टव्रणगलशुण्डिकादिषु प्रयोज्यम्। वृद्धिपत्रं क्षुराकारं तत्तून्नते गम्भीरे वा श्वयथावृजु सूच्यग्रमिष्टं विपरीते तु पृष्ठतोऽवनतधारम्। अङ्गुलीशस्त्रकं मुद्रिकानिर्गतमुखं वृद्धिपत्रमण्डलाग्रान्त[6]र्धारान्यतमतुल्यार्धाङ्गुलायतधारं प्रदेशिनीप्रथमपर्वप्रमाणार्पणवृत्तमुद्रिकं दृढसूत्रप्रतिबद्धं[7] कण्ठरोगेषु प्रयुज्यते। कर्तरी त्रिभागपाशा व्रणस्नायुकेशसूत्रच्छेदनार्थम्[8]। सर्पवक्त्रं वक्रमर्धाङ्गुलफलं घ्राणकर्णार्शोऽर्बुदच्छेदनार्थम्। करपत्रं दशाङ्गुलं द्व्यङ्गुलविस्तारं सूक्ष्मदन्तं खरधारं सुत्सरुनिबद्धमस्थिच्छेदनार्थम्। कुशपत्राटामुखे द्व्यङ्गुलफले। अन्तर्मुखमर्द्धचन्द्राकाराध्यर्द्धाङ्गुलफलम्[9]। कुठारिका पृथुदण्डा गोदन्ताकारार्धाङ्गुलफलाऽस्थ्याश्रितसिरा व्यधार्था। व्रीहिमुखमध्यर्द्धाङ्गुलफलं मांसलप्रदेशसिराव्यधार्थं वध्मोंदरगुल्मविद्रध्यादिव्यधनभेदनार्थं[10] च। शलाकोभयतोमुखी कुरबकमुकुलाग्रा ताम्रमयी लिङ्गनाशव्यधार्था। आरा चतुरस्राऽर्धाङ्गुलवृत्तमुखा तावत्प्रवेशा बहलकर्णपालीव्यधार्था पक्वामशोफसन्देहभेदनार्था च। कर्णव्यधनं त्र्यङ्गुलायतमङ्गुलसुषिरं घनं वा यूथिकामुकुलाग्रम्। सूच्यस्तिस्रो वृत्ता निगूढदृढपाशाः। तत्र मांसलेष्ववकाशेषु त्र्यङ्गुला त्र्यस्रा[11]ग्रा, सन्ध्यस्थिव्रणेष्वल्पमांसेषु च द्व्यङ्गुला वृत्ता, पक्वामाशययोर्मर्मसु च सार्धद्व्यङ्गुला धनुर्वक्रा व्रीहिमुखा च। सूचीकूर्चो वृत्तैकमूलोऽग्रे सुनिबद्धसप्ताष्टसूचिकः कुष्ठश्वित्रव्यङ्गेन्द्रलुप्तादिषु। खजस्त्वर्धाङ्गुलायतोऽष्टकण्टकमुखस्ताम्रो

---

१. 'अष्टाङ्गुलं वक्रधारमृजुधारं नवाङ्गुलम्, इति। २. नखानां छेदने कार्यं शस्त्रमष्टाङ्गुलायतम्। अर्धाङ्गुलं मुखं तस्य तीक्ष्णधारं तु कल्पयेत्॥ इति भोजः। ३. त्रयमाद्यम् इ. पा.। ४. तत्राद्यं त्रयं दन्तलेखनमण्डलाग्रवृद्धिपत्राणि लेखने। इतीन्दुः शशिलेखायाम्।

१. तत्र मण्डलाग्रकरपत्रे स्यातां छेदने लेखने च.........इत्यष्टविधे कर्मण्युपयोगः शस्त्राणां व्याख्यात इति सु० सू० अ० ८।३। २. आनुलोम्यमत्र विस्रावणमभिप्रेतम्, न तु ऋजुकरणं; कस्मात् ऋजुकरणस्य शस्त्रकर्मस्वनिर्दिष्टत्वादिति। ३. सुप्रबन्धवच्चतुरस्रं। ४. छेदनयो। ५. वर्त्मरोगोत्सन्न। ६. मण्डलाग्राध्यर्धधारा। ७. प्रतिबन्धम्। ८. स्नायुच्छेदनार्था। ९. चन्द्राकारमध्यर्धाङ्गुलफलम्। १०. व्यधनार्था। ११. त्र्यस्रा।

लौहो वा नासाभ्यन्तरतः शोणितमोक्षणार्थः । एषण्यौ द्वे सुश्लक्ष्णस्पर्शे । तयोरेकाष्टाङ्गुला गतिकोशशल्यस्राववत्सु व्रणेषु सुषिरान्वेषणे । अन्या सूचीसंस्थाना क्षाराक्तसूत्रप्रतिबद्धा नाडीनां भगन्दरगतीनां च भेदने। बडिशोऽत्यवनतमुखः सूचीतीक्ष्णाग्रो ग्रहणे गलशुण्डिकार्मादेः । नखशस्त्रमष्टाङ्गुलमेकतोऽश्वकर्णमुखमन्यतो वत्सदन्तमुखं सूक्ष्मशल्योद्धृतौ ।

शस्त्रों का विशेष वर्णन—अब पूर्वोक्त शस्त्रों का विशेष वर्णन करते हैं:—

दन्तलेखन—एक ओर से बँधा हुआ, चौकोन और एक धारवाला होता है । यह दन्तशर्करा खुर्चने के काम में आता है ।

मण्डलाग्र—इसका फल तर्जनी अंगुली के नख के भीतर के भाग के समान होता है। यह वर्त्मरोगोत्पन्न तथैव दन्तमांस, दुष्टव्रण और गलशुण्डिकादि के लेखन तथा छेदन-कर्म में प्रयुक्त होता है ।

वृद्धिपत्र—यह शस्त्र क्षुराकार ( पछने या छुरे के आकारवाला ) होता है । इसके भी दो भेद हैं जैसे कि एक सीधी धारवाला और एक पीछे की ओर से कुछ मुड़ा हुआ होता है । इन में से सीधी धारवाला पके हुए शोथ में प्रयुक्त होता है और पीछे की ओर से मुड़ा हुआ गम्भीर शोथ में जो कि सूचीवत् अग्रभागवाला होता है । यह छेदन, भेदन और पाटन में विशेष काम में आता है ।

अंगुलीशस्त्र—यह तर्जनी अंगुली के प्रथम पर्व ( पोरवे ) में आने योग्य मुद्रिका के आकार का होता है । इसका मुख मुद्रिका से लगा हुआ, सूत से मजबूत बांधा हुआ, वृद्धिपत्र या मण्डलाग्र तथा अध्यर्धधार इन में से किसी एक के समान आध अंगुल फलवाला होता है । वैद्य इसका उपयोग कण्ठगत रोगों में मुद्रिका की तरह अंगुली में पहन कर किया करते हैं ।

कर्तरी—कैंची यह त्रिभागपाशा अर्थात् तृतीय भाग में ग्रहणस्थानवाली व्रण, स्नायु, कच ( बाल ) और सूत्र के छेदनार्थ प्रयुक्त होती है ।

सर्पवक्त्र—यह भी एक प्रकार की कैंची है । इसका आध अंगुल टेढ़ा फल होता है और इसका उपयोग नाक तथा कान के मस्से एवं अर्बुद के छेदनार्थ होता है ।

करपत्र—यह दस अंगुल लम्बा, दो अंगुल चौड़ा, सूक्ष्म दांतोंवाला, तीक्ष्ण धारवाला तथा मजबूत मूठवाला होता है । इसका उपयोग अस्थिच्छेदन के लिए करौतीवत् होता है ।

कुशपत्र और आटामुख—इनका वर्णन पहले हो चुका है । ये दोनों शस्त्र दो अंगुल प्रमाण फलवाले होते हैं ।

अन्तर्मुख—अर्धचन्द्राकार और डेढ़ अंगुल फलवाला होता है ।

कुठारिका—अर्थात् कुल्हाड़ी, बड़े मजबूत डंडेवाली, गोदन्त के आकार, आध अंगुल फलवाली होती है । ये अस्थि के आश्रित सिरावेध के काम में आती है ।

व्रीहिमुख—इस अध्यर्धाङ्गुल ( डेढ़ अंगुल ) फलवाले शस्त्र का वर्णन भी पहले कर चुके हैं । यह मांसल प्रदेशकी सिराओं के वेध में तथैव बध्म ( बद ), उदर, गुल्म, विद्रधि आदि के वेधन एवं भेदन के काम में आता है ।

शलाका—यह उभयतोमुखी अर्थात् दोनों तरफ धारवाली, ताम्र की बनी, कुरवक अर्थात् कटसरैया के पुष्प की कली के समान अग्र भागवाली लिङ्गनाशवेधनी होती है ।

आरा—चौकोन, आध अंगुल गोल मुखवाली, यथायोग्य प्रवेश करने योग्य, कान की स्थूल पाली ( लो ) के वेधनार्थ तथा कच्चे पक्के शोथ के सन्देह में भेदन के काम में आनेवाली है ।

कर्णव्यधन—यह तीन अंगुल लम्बी, एक अंगुल पोली, मोटी, जुही पुष्प की कली के समान मुखवाली, कान बींधने में काम आनेवाली सूची है । इन्दु टीकाकार टीका में इसे चार अंगुल लम्बी तथा पोल की जगह मेरी के आकार की बताते हैं ।

सूचियां—ये तीन प्रकार की सुइयां सीने के काम में आती हैं । ये गोल और जिस ओर सूत पिरोया जाता है उस ओर दृढ और सूत न दिखाई दे ऐसी होती हैं । ये तीन प्रकार की इस लिए होती हैं कि (१) जो मांसल अवकाश के सीने में आती हैं वे तीन अंगुल लम्बी और तिकोन होनी चाहिएं और (२) जो सन्धि, अस्थि, व्रण ( अल्पमांसवाले ) के सीवन-कर्म में उपयुक्त होती है वह दो अंगुल लम्बी तथा गोल होनी चाहिए और (३) जो पक्वाशय तथा आमाशय के सीने में तथा मर्मस्थान के सीने में काम आती है वह ढाई अंगुल लम्बी, धनुष की तरह टेढ़ी और व्रीहिमुख शस्त्र के समान होती है ।

सूचीकूर्च—यह एक प्रकार का ऐसा गोल पीठ होता है जिस में चार चार अंगुल लंबी सात या आठ सुइयां लगी रहती हैं । इससे कुष्ठ, श्वित्र, व्यङ्ग और इन्द्रलुप्त के लेखनादि कर्म होते हैं ।

खज—आध अंगुल लम्बा, आठ कण्टकयुक्त मुखवाला, तांबे या लोहे का बना हुआ होता है । इस से मन्थन कर नासिका में से रक्त निकाला जाता है ।

एषणी—यह दो प्रकार की होती हैं । ये स्पर्श में अच्छी चिकनी होनी चाहिएं । इन में से एक आठ अंगुल लम्बी होती है जो कि व्रण की गति, कोश, शल्य और स्राव तथा पोल में अन्वेषण का काम देती है तथा दूसरी सूची ( सुई ) के समान क्षार लगे हुए सूत से बांधी हुई नाडी तथा भगन्दर आदि के भेदन में काम आती है ।

बडिश—यह अति मुड़े हुए मुखवाला, सूची की तरह

---

१. नासाभ्यन्तर्गतशोणितमोक्षणार्थं इत्यादिपाठान्तराणि ।
२. कर्तर्यस्तृतीयभागे पाशो ग्रहणस्थानं कार्यमितीन्दुः ।

१. आरा दैर्घ्याच्चतुरङ्गुला मुखेऽर्धाङ्गुलवृत्ता च शोफस्य पक्वत्वसन्देहे भेदनार्था । कर्णव्यधनं सुषिरभागे भेर्याकृतिरिति । २. निगूढपाशो यस्य पाशस्य पार्श्वयोर्मध्ये सूत्रं न दृश्यत इतीन्दुः ।

अग्रभाग में तीक्ष्ण अंकुशवत् होता है। यह गलशुण्डिका तथा अर्म आदि को ग्रहण करने ( पकड़ने ) में काम देता है।

नखशस्त्र—यह आठ अंगुल लम्बा, एक ओर से घोड़े के कान के समान मुखवाला और दूसरी ओर से वत्स ( बछड़े ) के दन्त के समान मुखवाला होता है और यह सूक्ष्म शल्य को निकालने में काम आता है।

अनुशस्त्राणि तु जलौकःक्षाराग्निसूर्यकान्तकाचस्फटिककुरुविन्दनखशाकशेफालिकादिखरपत्रसमुद्रफेनशुष्कगोमयादीनि। स्वबुद्ध्या च विकल्प्य विविधानि यन्त्रशस्त्राणि तत्कर्माणि चोपकल्पयेत्। हस्त एव चात्र प्रधानतमस्तदधीनत्वाद्यन्त्रशस्त्राणाम्।

अनुशस्त्र—शस्त्र न होते हुए भी जो शस्त्रों का काम करते हैं उन्हें अनुशस्त्र कहते हैं। वे इस प्रकार हैं। यथा—जोंक, क्षार, अग्नि, सूर्यकान्त ( अथवा सूर्य और कान्त ), काच, स्फटिक, कुरुविन्द, नख, शाक ( सागवान ), शेफालिका ( निर्गुण्डी ) आदि के खरपत्र ( खरदरे पान ), समुद्रफेन और सूखा गोबर आदि ये सब अनुशस्त्र हैं। इस प्रकार के अनेक यन्त्रों तथा शस्त्रों की तथैव उनके कर्मों की कल्पना वैद्य को चाहिए कि वह अपनी बुद्धि से करे।

यन्त्रों और शस्त्रों में हाथ की प्रधानता—यन्त्र और शस्त्र ये सब हाथ के ही अधीन हैं अर्थात् हाथ के बिना यन्त्र-शस्त्रादि की प्रवृत्ति ही नहीं होती अतः यन्त्रों एवं शस्त्रों में अकेला एक हाथ ही प्रधान या मुख्य है।

विशेष वक्तव्य—वाग्भट ने इस प्रकार बारह अनुशस्त्र कहे हैं जिनमें समुद्रफेन, सूखा गोबर भी गिनाया है परन्तु सुश्रुत अनुशस्त्र तेरह मानते हैं और उनमें त्वक्सार, गोजी, करीर, बाल और अंगुली का भी समावेश किया है। अब हम इन अनुशस्त्रों का उदाहरण पूर्वक यथाशक्य उपयोग का थोड़े में वर्णन करते हैं।

जलौका—इसका उपयोग दुष्ट रक्तनिर्हरण आदि में प्राचुर्येण होता है। इसका विस्तृत वर्णन इसके आगे जलौकाविधि नामक ३५ वें अध्याय में देखिए।

क्षार—इसका उपयोग इस ग्रन्थ के इसी सूत्रस्थान के ३९वें क्षारकर्मविधि नामक अध्याय में भलीभांति वर्णित है।

अग्नि—इसका उपयोग सम्यक्तया इस सूत्रस्थान के अन्तिम अग्निकर्मविधि नामक ४० वें अध्याय में वर्णन किया गया है।

सूर्यकान्त—यह एक प्रकार का स्फटिकवत् प्राकृतिक मणि है। यह अपने ऊपर पड़ी हुई सूर्य की ज्योत्स्ना के बल सूर्यकिरणों को एकत्रित करता है जिनके बल से अग्नि का प्राकट्य होता है। इसी लिए इसे ज्वलनाश्मा-तपनमणि भी कहते हैं। अँगरेजी में इसे कानवर्जिंग ग्लास ( Converging glass ) कह सकते हैं। इसका उपयोग अग्निकर्म में त्वग्दाह के लिए कहा गया[1] है।

स्फटिक—सूर्यकान्त शीतशामक है, इसी प्रकार स्फटिक पित्त और दाहशामक[2] है।

काच—इसका उपयोग मोतियाबिन्दु के उपनेत्र-चश्मा (Affectiou of optic nerve or gutta serena) के लिए तथा नेत्र के तृतीय पटलगत रोग में होता है। यह क्षार रस, उष्णवीर्य तथा घोड़े के नेत्ररोग में भी हितकारी[3] है।

कुरुविन्द—यह एक प्रकार का अतिकठिन पाषाण है। इसी का दूसरा भेद लोहिताश्म रत्न या पद्मराग मणि या माणिक्य है। इसे अँगरेजी में रूबी ( Rugby ) तथा कुरुविन्द को कोरण्डम ( Corundum ) कहते हैं। माणिक्य का उपयोग भी अनेक प्रकार से होता है।

नख—नखों का उपयोग अनुशस्त्र की तरह सर्वविश्रुत है।

शाक शेफालिकादि खरपत्र—सागवान, निर्गुण्डी आदि खरपत्रों का लेखनकर्म में तथा रक्तविस्रावण में उपयोग होता[4] है।

समुद्रफेन—यह समुद्र के जल का शुष्क घनीभूत फेन है किन्तु सुश्रुत के हिन्दी-टीकाकार श्रीघाणेकर जी इसे समुद्र में रहनेवाले किसी प्राणि-विशेष का कंकाल ( Skeleton ) समझते हैं। यह बहुत कठिन किन्तु टूटनेवाला ( भङ्गुर ) होता है। अंगरेजी में इसको कटल फिश बोन ( Cuttle Fish bone ) कहते हैं और यह लेखनकर्म में प्रयुक्त होता है।

शुष्क गोमय—सूखे गोबर का कण्डा भी लेखनकर्म में प्रयुक्त होता है। बहुत से लोग गजकर्णादि दद्रु रोग को सूखे गोबर के कण्डे से लेखन कर ( घिसकर ) उस पर क्षार-प्रधान ओषधि लगाते हैं।

तत्र दीर्घह्रस्वस्थूलवक्रतनुवक्त्रविषमग्राह्यग्राहिशिथिलता इत्यष्टौ यन्त्रदोषाः। तत्राद्याः पञ्च कुण्ठखण्डखरधारताश्चेत्यष्टावेव शस्त्रदोषा अन्यत्र करपत्रात्।

यन्त्रों के आठ दोष—दीर्घता, ह्रस्वता, स्थूलता, वक्रता, तनुवक्त्रता, विषमग्रहणता, अग्रहणता और शिथिलता ये यन्त्र के आठ दोष होते हैं। सारांश, जो यन्त्र अतिदीर्घ, अतिह्रस्व, अतिस्थूल, टेढ़ा ( अतिवक्र ), अतिसूक्ष्म-मुख, विषमग्राही ( जिस जगह को पकड़ना हो उसे न पकड़कर अन्य स्थान को पकड़ता हो ), अग्राही ( पकड़ न सकता हो ) और शिथिल ( जिससे यन्त्रक्रिया जल्दी न हो सकती हो ) ये दोष हैं अतः यन्त्र सर्वथा दोषरहित होने चाहिए।

शस्त्रों के आठ दोष—यन्त्रदोषों में आदि के पांच अर्थात्

---

१. 'अशस्त्राण्येव शस्त्रकार्यं कुर्वन्तीत्यनुशस्त्राणि' इतीन्दुः। २. अनुशस्त्राणि तु त्वक्सारस्फटिककाचकुरुविन्दजलौकाग्निक्षारनखगोजीशेफालिकाशाकपत्रकरीरबालाङ्गुल्य इति।

१. सूर्यकान्तपिप्पल्यजाशकृद्गोदन्तशरशलाकाभिस्त्वग्दाहः।
२. पित्तदाहरोगघ्नो रत्नसमवीर्यश्चेति राजनिघण्टुर्वैद्यकशब्दसिन्धुश्च।
३. क्षाररस उष्णवीर्यश्चाञ्जनाद् दृष्टिकरः, इति राजनिघण्टुः। अश्वस्य पैत्तिकाक्षिरोगे। श्लेष्माभिष्यन्दिनोऽश्वस्य शूलं साश्रुविलोचनम्। काचः संजायतेऽश्वस्य पाण्डुता चापि चक्षुषः॥ इति तन्त्रान्तरे। ४. नेत्रवर्त्मगतरोगे-'ततः प्रमृज्य प्लोतेन वर्त्म शस्त्रपदाङ्कितम्। लिखेच्छस्त्रेण पत्रैर्वा' इति। मुखगतरोगे-संशोध्यौभयतः कार्यं शिरश्चोपकुशे तथा। काकोदुम्बरिकागोजीपत्रैर्विस्रावयेदसृक्॥ इति सुश्रुतः।

दीर्घता, ह्रस्वता, स्थूलता, वक्रता, अतिसूक्ष्ममुखता तथा कुण्ठता, खण्डता, खरधारता ये आठ शस्त्रों के दोष करपत्र शस्त्र को छोड़कर हैं। इस लिए कि अस्थिच्छेदन के लिए करपत्र की खरधारा ही काम देती है। सारांश, कुण्ठ ( जिसकी धार ठीक न चलती हो ), खण्ड ( जो शस्त्र खण्डित-टूटा हुआ हो ), खरधार ( जिसकी धार अति तेज हो ) ऐसे शस्त्रों को काम में नहीं लेना चाहिए। इस लिए कि उनसे विपरीत गुण की प्राप्ति होती है।

तत्र क्षारेण पायितं शस्त्रं शरशल्यास्थिच्छेदनेपूदकेन मांसच्छेदने तैलेन पाटनभेदनेषु सिराव्यधस्नायुच्छेदनेषु च प्रयुञ्जीत।

शस्त्रों की विविध पायना—शस्त्रों को तेज करने के लिए उन पर पानी चढ़ाया जाता है। इसको भाषा में पान देना या पानी चढ़ाना कहते हैं। इसे शल्यशास्त्र में पायना कहते हैं। यह पायना तीन प्रकार की होती है। भिन्न भिन्न कार्यों के अनुसार शस्त्र को तपाकर द्रव द्रव्य में अर्थात् क्षार, जल और तेल में बुझाया जाता है। क्षार द्वारा पानी चढ़ाए हुए शस्त्र का उपयोग शरशल्य ( बाण का शल्य ) और अस्थि के काटने में होता है या किया जाता है। जल के द्वारा पानी चढ़ाए हुए शस्त्र का उपयोग मांस के छेदन में करना चाहिए और तेल के द्वारा पानी चढ़ाए हुए शस्त्र का उपयोग पाटन, भेदन, सिराव्यध तथा स्नायु के छेदन में करना चाहिए।

वक्तव्य—संतप्त शस्त्र को भिन्न भिन्न द्रवों में बुझाने से उनकी धारा पर उन द्रवों का प्रभाव होता है, वह तेज होती है और वह भिन्न भिन्न कार्यों के करने में समर्थ होती है। वाग्भट ने यहां तेल के द्वारा पानी चढ़ाए हुए शस्त्र का उपयोग पाटन-भेदन में बताया है किन्तु सुश्रुत के कथनानुसार पाटन-भेदन उदकपायित शस्त्र के द्वारा होना चाहिए और तैलपायित शस्त्र के द्वारा केवल सिराव्यधन तथा स्नायु का छेदन होना चाहिए। अंगरेजी में पायना को टेम्परिंग ( Tempering ) कहते हैं। चन्द्र चक्रवर्ती पायना को जीवाणुनाशक समझते हैं परन्तु प्राचीनों के कथन से पायना का अर्थ जीवाणुनाशन नहीं होता।

धारा पुनश्छेदनानां मासूरी लेखनानामर्धमासूरी व्यधनानां विस्रावणानां च कैशिकी।

शस्त्रों की धारा का प्रमाण—छेदनार्थ शस्त्रों की धारा मसूर के समान, लेखन कर्म के लिए शस्त्रों की धारा अर्धमसूर के समान और व्यधन एवं विस्रावण के लिए शस्त्र की धारा केश के समान होनी चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत छेदनक्रिया के लिए शस्त्र की धारा आधे केश के समान मानते हैं तथा मसूर के समान धारा भेदनार्थ मानते हैं न कि वाग्भट की तरह छेदन के लिए। मासूरी का अर्थ मसूरदल ( मसूर की दाल ) की धारा के समान सूक्ष्म समझना चाहिए। इसी प्रकार कैशिकी और अर्धकैशिकी का भावार्थ जानना चाहिए।

तेषां छेदनभेदनलेखनानां वृन्तसाधारणे भागे प्रदेशिनीमध्यमाङ्गुष्ठैः सुसमाहितं गृह्णीयात्। वृन्ताग्रे विस्रावणानि। प्रदेशिन्यङ्गुष्ठकाभ्यां हस्ततलप्रच्छादितवृन्ताग्रं व्रीहिमुखं मुखे। मूलेष्वाहरणार्थानि। पाशस्योपरि मध्ये संदंशं कर्तरीं च। शेषाण्यपि यथायोगं क्रियासौकर्येण।

शस्त्रग्रहणविधि—अब भिन्न भिन्न शस्त्रक्रियामें शस्त्रों को पकड़ने का विधान कहते हैं। छेदन, भेदन और लेखनकर्म में वृन्त ( डण्डी ) के साधारण भाग में तर्जनी, मध्यमा तथा अंगुष्ठ से भली भांति पकड़ना चाहिए। विस्रावण में शस्त्र के वृन्ताग्र ( मूठ के अग्रभाग ) में पकड़ना चाहिए। व्रीहिमुख शस्त्र के मुख को इस प्रकार पकड़ना चाहिए कि जिससे शस्त्र के वृन्त (डण्डी) का अग्रभाग हथेली से ढका रहे तथा तर्जनी और अंगूठे से पकड़ा जावे। आहरणार्थ शस्त्र के मूल भाग को पकड़ना चाहिए। संदंश और कर्तरी को पाश के ऊपर एवं मध्यभाग में पकड़ना चाहिए। शेष शस्त्रों को भी जहां जिस प्रकार सुभीता हो, उसी प्रकार पकड़ना चाहिए जिसमें क्रिया सुगमता से की जा सके।

तेषां निशातनी तु सुश्लक्ष्णशिलिका माषमुद्गप्रभा। धारासंस्थापनं च शाल्मलीफलकम्।

शस्त्रनिशातनी शिला—उन पूर्वोक्त शस्त्रों की धारा तेज करने के लिए एक निशातनी ( जिस पर जल के बूँद डालकर शस्त्र को घिसा जाता है ) अर्थात् पत्थर की शिलिका (सिल्ली) कर्कशतारहित, सुचिक्कण तथा मूंग या माष के वर्ण की ( हरी या श्याम ) घर्षणशिला होनी चाहिए तथा उस धारा को संस्थापन करने के लिए एक शाल्मलीफलक ( शाल्मली के काष्ठ का पट्टक ) होना चाहिए।

वक्तव्य—कुण्ठित धारा को तेज करने के लिए शस्त्र को जिस चिकने पत्थर पर घिसा जाता है, उसे निशातनी कहते हैं। अंगरेजी में उसका नाम व्हेट स्टोन ( Whet stone ) है। इस पर जल के बूंद डाल कर शस्त्र की धार को घिसा जाता है ( लगाया जाता है ) और फिर उस धारा को यदि कहीं कर्कश ( खरदरी ) रह गई हो तो ठीक करने के लिए एक लकड़ी के पट्ट पर घिसा जाता है। आचार्य को वह पट्ट शाल्मलीकाष्ठ का अभीष्ट है। इसके द्वारा धारा मृदु और स्पष्ट होती है। आजकल के नापित ( नाऊ ) इस काम के लिए

---

१. अन्यत्र करपत्रात् तद्धि खरधारमस्थिच्छेदनार्थमिति सुश्रुतः।

२. पायितं द्रवेण तैक्ष्ण्यकरणे शिल्पिनां भाषा, इतीन्दुः। पायितं द्रवेण तैक्ष्ण्यकरणे शिल्पिनां भाषा... 'निवृत्तानां शस्त्राणां तत्क्षणाद् द्रवद्रव्येषु निर्वापणं पायना। सा च तत्तद्द्रवप्रभावात्कर्मविशेषोत्कर्षकरी भवति' इति हाराणचन्द्रः।

३. तत्र क्षारपायितं शरशल्यास्थिच्छेदनेषु, उदकपायितं मांसच्छेदनभेदनपाटनेषु, तैलपायितं शिराव्यधनस्नायुच्छेदनेषु। इति

१. तत्र धारा भेदनानां मासूरी, लेखनानामर्धमासूरी, व्यधनानां विस्रावणानां च कैशिकी, छेदनानामर्धकैशिकीति। २. धारासंस्थापनार्थम् इति सुश्रुतपाठः। ३. 'धारासंस्थापनार्थं स्थिरीकरणार्थं, फलकं पट्टकम्' इति डल्हनः।

एक चमड़े का पट्टा रखते हैं। अंगरेजी में इस पट्टक को स्ट्रापिंग ( Stropping ) कहते हैं।

न चाधिगतशास्त्रोऽप्यकृतयोग्यः सुबहुशो वाऽप्यदृष्टकर्मा शस्त्रकर्मणि प्रवर्त्तेत सिरास्नायुमर्मादिव्याप्तत्वाद्देहस्य । तस्मात्सरोमचर्मपुष्पफलालाबुत्रपुसोदकपङ्कपूर्णदृतिबस्तिवर्ध्ममांसपेशिकोत्पलनालादिषु यथार्हमाहरणादियोग्यां कुर्यात् । तथा घटपार्श्वस्रोतस्यम्भोभिः पूर्णेन नेत्रेण बस्तिपीडनयोग्याम् । [ मृदुमांसखण्डेष्वग्निक्षारावचरणयोग्याम् । पुस्तमयपुरुषाङ्गप्रत्यङ्गेषु बन्धनयोग्याम्[1] । ]

अनधिगतशास्त्रादि को शस्त्रकर्म में निषेध—जिसने गुरु के मुख से शास्त्र का अध्ययन किया है किन्तु जिसने योग्या अर्थात् छेदन, भेदन, विस्रावणादि शस्त्रक्रिया नहीं की है—प्रत्यक्ष कर्माभ्यास नहीं किया है और जिसने बहुत सी क्रिया प्रत्यक्ष में देखकर अनुभव नहीं किया है, उसको शस्त्र में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। इसलिये कि सारा शरीर सिरा, स्नायु, मर्म आदि से व्याप्त है। भावार्थ यह है कि शास्त्र पढ़ लेने पर भी जिसने योग्या ( प्रत्यक्ष कर्माभ्यास ) नहीं किया है उसे शस्त्रक्रिया में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। इसलिए कि उसके अज्ञान से सिरा, स्नायु और मर्मादि कट जाने से मनुष्य के मर जाने का भय होता है अतः वैद्य को चाहिए कि वह प्रत्यक्ष कर्माभ्यास करे और फिर शस्त्रकर्म में प्रवृत्त हो। अधिगतशास्त्र वैद्य को चाहिए कि वह शास्त्राध्ययन के बाद रोमसहित चर्म, पुष्प, फल, तुम्बी, ककड़ी, पानी और उसके कीचड़ से पूर्ण दृति ( चमड़े की बनी भस्त्रा–धमन ), बस्ति, वर्ध्म ( बद ), मांसपेशी, कमल की नाल आदि में आहरण आदि यथायोग्य क्रिया को करे तथा घड़े के पार्श्व के स्रोत में जल से पूरित नेत्र ( बस्तियन्त्र ) से बस्तिपीडन योग्या को करे। मृदु मांस के टुकड़ों में अग्निक्षारावचरण योग्या को करे। मनुष्य या स्त्री के बनाए हुए पुतले के अङ्ग–प्रत्यङ्ग में बन्धन योग्या को करे।

वक्तव्य—प्रत्यक्ष कर्माभ्यास करने के लिए उदाहरणार्थ यहां रोमसहित चर्म, पुष्प, फल, तुम्बी आदि के नाम बताए हैं। सारांश यह है कि भिन्न-भिन्न शस्त्रक्रिया का अभ्यास इनके द्वारा करे जैसे कि रोमसहित चमड़े पर घर्षण, पुष्पफल पर भेदन, तुम्बी और ककड़ी पर पाटन, भेदन और आहरण कर्म करें। जलपूरित भस्त्रा या मसक पर स्रावण, कीचड़पूर्ण मसक पर सीवन आदि क्रिया करे। यह इन्दु टीकाकार कहते हैं परन्तु इस विषय में सुश्रुत की सम्मति बहुत मौलिक है। सुश्रुत का कथन है कि शास्त्रपठित भी बिना कर्माभ्यास के योग्य नहीं हो सकता अतः गुरु प्रत्यक्ष क्रिया कराकर शिष्य को योग्य बनावे। पुष्प, फल, तुम्बी, तरबूज, ककड़ी आदि द्वारा छेद्यविशेष कर्मों को सिखावे उत्कर्तन-परिवर्त्तन भी इनके द्वारा बतावे। भेदन का कर्माभ्यास भस्त्रा, बस्ति, प्रसेवक प्रभृति से जलपूरित करके सिखावे। और भी बहुत कुछ कहा गया है। पाठक सुश्रुत सूत्रस्थान के ८ वें योग्यासूत्रीय अध्याय का अवलोकन करें।

अपि च । युक्तकारी भिषग्बुभुत्सुः पुरुषं संपूर्णगात्रमविषहतमदीर्घव्याधिपीडितं निष्कृष्टान्त्रमवहन्त्यामापगायां मुञ्जवल्वजवेष्टितं पञ्जरस्थमप्रकाशे देशे कोथयेत् । तं सम्यक् प्रकुथितं चोद्धृत्यायतदेहं कृत्वोशीरवेणुकूर्चादीनामन्यतमेन शनैःशनैरवघृष्य त्वगादीन् सर्वानेव बाह्याभ्यन्तरानङ्गसिरास्नाय्वादीनवयवानाचार्योपदर्शितेनागमेन चक्षुषा च लक्षयेत् ।

शरीरगत सिरा–स्नायु आदि का प्रत्यक्ष ज्ञानोपाय—अतीव उपयुक्त कार्य करने की इच्छावाले एवं श्रेष्ठ वैद्य बनने की इच्छावाले को चाहिए कि वह मनुष्य शरीर के बाह्य तथा भीतर के अङ्गों, सिराओं, स्नायुवों के ज्ञान को प्रत्यक्ष देखकर प्राप्त करे। इसकी विधि इस प्रकार है कि जो पुरुष विष से न मरा हो, तुरन्त की व्याधि से पीड़ित होकर मरा हो, जिसका कोई गात्र खण्डित न हुआ हो ऐसे मृत पुरुष के सम्पूर्ण शरीर ( शव ) को उसकी आंतें दूरकर न बहनेवाली नदी में मूंज या कुशा से वेष्टन कर किसी पंजर में रखकर किसी को प्रगट न की हुई जगह या अंधियारे में सड़ावे। वह पूरा सड़ जाय तब उसे निकाल कर, देह को सरल करके खस, बांस तथा कूर्च इनमें से किसी एक से धीरे–धीरे घिस कर फिर शरीर के त्वचादि समस्त बाह्य और भीतर के अङ्ग, सिरा, स्नायु आदि अवयवों का अवलोकन आचार्य के उपदिष्ट शास्त्र से तथा प्रत्यक्ष चक्षु ( आंखों ) द्वारा कर लेवे।

इति शास्त्रेण यद्दृष्टं दृष्टं प्रत्यक्षतश्च यत् ।
समागतं यदुभयं भूयो ज्ञानं विवर्द्धयेत् ॥

शास्त्र एवं प्रत्यक्ष दृष्टि की आवश्यकता—इस प्रकार शास्त्र से देखकर तथा प्रत्यक्ष देखकर प्राप्त उभयपक्षी ज्ञान पुनः पुनः ज्ञान को बढ़ानेवाला होता है। सरांश, आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन एवं प्रत्यक्ष कर्माभ्यास ही इस विषय में ज्ञानवृद्धि का मुख्य कारण है।

स्यान्नवाङ्गुलविस्तारः सुघनो द्वादशाङ्गुलः ।
क्षौमपत्त्रोर्णकौशेयदुकूलमृदुचर्मजः ॥
विन्यस्तपाशः सुस्यूतः सान्तरोर्णास्थशस्त्रकः ।
शलाकापिहितास्यश्च शस्त्रकोशः सुसंचयः ॥

इति चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

शस्त्रकोष का वर्णन—प्रसङ्गवशात् अब शस्त्र रखने के कोष का अर्थात् जिसमें शस्त्र रखा जाता है उस कोष या उस (म्यान) का वर्णन करते हैं। जो नव अङ्गुल चौड़ा और बारह अङ्गुल लम्बा हो, जो क्षौमवस्त्र, भोजपत्र, ऊनी वस्त्र, रेशमी वस्त्र या नरम चमड़े का बना हुआ हो, जिसमें कड़ी लगी हुई हो और जो भलीभांति सिया हुआ हो, जिसके भीतर दी हुई ऊन में शस्त्र रहता हो तथा जिसका मुख शलाका से बन्द हो, ऐसा शस्त्रकोष ( शस्त्र के लिए म्यान ) होना चाहिए जिसमें शस्त्र सुसंचित रह सके। इस शस्त्रकोश को अङ्गरेजी में सर्जिकल इन्स्ट्रूमेण्ट केस ( Surgical Instrument Case ) कहते हैं।

इति वाग्भटाचार्यकृताष्टाङ्ग संग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यायां यन्त्रशस्त्रविधिर्नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

१. पाठोऽयं नास्ति द्वितीयपुस्तके।

# अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः।

इसके प्रथम गत अध्याय में अनुशस्त्रों का वर्णन किया गया है, उनमें सबसे प्रथम जलौका का निर्देश किया है अतः तद्विषयक अध्याय का आरम्भ करते हुए आचार्य कहते हैं कि-

**अथ जलौकोविधिमध्यायं व्याख्यास्याम इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।**

जलौकावचारणाध्याय—जिसमें जलौका अर्थात् जोंक का सम्यक् वर्णन किया गया है, अब हम उस जलौकोविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया है।

**नृपाढ्यभीरुसुकुमारबालस्थविरनारीणामसृग्विस्रावणाय जलौकसो योजयेत्।**

जलौकावचारण का उद्देश्य—राजा, श्रीमान्, डरपोक, सुकुमार, बालक, वृद्ध और स्त्री ये स्वभावतः ही सुकुमार होते हैं। शस्त्रद्वारा रक्तविस्रावण से डरते हैं अतः इन सब के रक्तविस्रावण के लिए जोंकों की योजना करनी चाहिए अर्थात् जोंकें लगानी चाहिए। क्योंकि यह सब से अधिक सरल उपाय है।

वक्तव्य—संस्कृत में जोंक को जलौकस् तथा जलायु कहते हैं, अर्थात् जल ही है वर या आयु जिनकी ( 'जलमेवास्त्योकोऽस्या इति जलौकस्', जलमेवास्त्यायुरस्या इति जलायुः ) उन्हें जलौक या जलायु कहते हैं। अङ्गरेजी में जोंक को लीच या हिरुडू ( Leech, Hirudu ) कहते हैं।

**तास्तु द्विविधाः सविषा निर्विषाश्च। तत्र दुष्टाम्बुसर्पमण्डूकमत्स्यादिशवकोथमूत्रपुरीषजा रक्तश्वेतातिकृष्णतनुस्थूलचपलपिच्छिलाः स्थूलमध्या रोमशाः शक्रायुधवद्विचित्रोर्ध्वराजीचिता वा सविषाः। तद्दंशाद्दाहशोफपाककण्डुपिटिकाविसर्पज्वरमूर्च्छाश्वित्रोत्पत्तिः। तत्र विषपित्तरक्तहरां क्रियां कुर्वीत। पद्मोत्पलसौगन्धिकादिसुगन्धविमलविपुलसलिलशैवालजाः शैवालश्यावा नीलोर्ध्वराजयो वृत्ताश्च निर्विषाः।**

जोंक के सविषनिर्विष दो प्रकार—**सविष और निर्विष ऐसे जोंक दो प्रकार की होती हैं। इनमें से जो दुष्ट ( दूषित ) जल, सर्प-मेंढक और मत्स्यादि के सड़े हुए शव से तथा मूत्र और पुरीष से पैदा होनेवाली, रक्त, श्वेत और अतिकृष्ण वर्णवाली, अतिसूक्ष्म, अतिस्थूल, चपल और पिच्छिल ( हाथ में लेने से फिसल जानेवाली ), मध्यभाग में मोटी, बहुरोमवाली तथा इन्द्रधनुष की तरह ऊपरी भाग में चित्र-विचित्र धारावाली जोंकें सविषा अर्थात् विषैली होती हैं। इनके दंश से दाह, सूजन, पकना, खुजली, फुन्सियों, विसर्प, ज्वर, मूर्च्छा और श्वित्र ( श्वेत कुष्ठ ) की उत्पत्ति होती है। इनके द्वारा दाह-शोफादि होने पर विष और पित्त-रक्त को हरनेवाली क्रिया करनी चाहिए।**

**पद्म, उत्पल, सौगन्धिकादि कमल की सुगन्धि से निर्मल विपुल जल के शैवाल से पैदा होनेवाली, शैवालश्यावा ( जल** की काई के समान काले वर्णवाली ), उपरिभाग में नील रेखावाली और गोलाकार जोंकें निर्विषा ( विष से रहित ) होती हैं।

वक्तव्य—**वाग्भट इस प्रकार सविषा और निर्विषा जलौका का वर्णन करते हैं परन्तु सुश्रुत ने जलौका के १२ प्रकार माने हैं और इनमें से ६ सविषा और ६ निर्विषा मानी हैं। सविषा के नाम कृष्णा, कर्बुरा, अलगर्दा, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका और गोचन्दना बताए हैं। इसी प्रकार निर्विषा के नाम कपिला, पिङ्गला, शंकुमुखी, मूषिका, पुण्डरीकमुखी और सावरिका बताए हैं। इनके भिन्न भिन्न लक्षणादि का वर्णन भी किया है किन्तु ग्रन्थ विस्तरभय से हम विशेष न लिख कर पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वे सुश्रुत के सूत्रस्थान का १३ वां जलौकावचारणीय अध्याय का अवश्य अवलोकन करें।**

**सर्वासां च परं प्रमाणमष्टादशाङ्गुलानि। तत्र चतुःपञ्चषडङ्गुला नृषु योजयेत्। गजवाजिष्वपराः। ताः सुकुमारास्तनुत्वचोऽल्पशिरस्का बृहदधरकायाश्च स्त्रियः। विपरीताः पुमांसोऽर्द्धचन्द्राकृतिपुरोवृत्ताश्च। तत्र बहुदोषेषु चिरोत्थितेषु चामयेषु पुमांसो योजयितव्याः। स्त्रियो विपरीतेषु।**

जलौका का प्रमाण, जाति और उपयोग—**जोंक की समस्त जातियों में लम्बाई का प्रमाण अधिक से अधिक अठारह अंगुल हो सकता है। इनमें से चार, पांच तथा छः अंगुल लम्बी जोंक मनुष्य जाति में लगानी चाहिए और इससे अधिक लंबे प्रमाणवाली, ( अपरा ) हाथी-घोड़ों के लिए लगानी चाहिए। इन जलौकों में जो सुकुमार, सूक्ष्म त्वचावाली, छोटे सिरवाली एवं नीचे के भाग में मोटी होती हैं उन्हें स्त्रीजातिवाली समझनी चाहिए तथा इससे विपरीत अर्थात् असुकुमार, मोटे चमड़ेवाली, बड़े सिरवाली एवं ऊपर के भाग में मोटी ऐसी जलौका पुरुष जातिवाली समझनी चाहिए जिनका आकार ऊपरवाले भाग में चन्द्राकृति और गोल हो। बढ़े हुए चिरकाल से उत्पन्न दोषों तथा रोगों में पुरुषसंज्ञक जलौका की योजना करनी चाहिए और इससे विपरीत स्वरूप, अल्पकाल के उत्पन्न दोषों तथा रोगों में स्त्रीसंज्ञक जोंकें लगानी चाहिए।**

**जलौकसस्त्वार्द्रचर्माद्युपायैर्गृहीत्वा सुरभिपङ्कगर्भे नवे घटे स्थापयेत्। शृङ्गाटककसेरुकशालूकशैवालमृणालवल्लूरमृत्स्नापुष्करबीजचूर्णं स्वादुशीतस्वच्छं च तोयमन्नपानार्थे ताभ्यो दद्यात्। लालादिकोथपरिहारार्थमेव च त्र्यहात्त्र्यहात्पूर्वमन्नपानमपनीयान्यत्प्रक्षिपेत्। पक्षाहाच्च तद्विध एव घटान्तरे ताः संचारयेत्।**

जलौका की ग्रहण पोषणविधि—**आर्द्रचर्म ( गीला चमड़ा ) तथा तुरन्त के मारे जन्तु की मांसपेशी, मक्खन, घृत, दूध**

---

१. ता द्वादश, तासां सविषाः षट् तावत्य एव निर्विषाः॥ ९॥ तत्र सविषाः-कृष्णा, कर्बुरा, अलगर्दा, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका, गोचन्दना चेति।......अथ निर्विषाः-कपिला, पिङ्गला, शङ्कुमुखी, मूषिका, पुण्डरीकमुखी, सावरिका चेति।

आदि से लिप्त जंघा आदि अवयवों द्वारा जोंकों का ग्रहण करके उन्हें ऐसे नये घड़े में रक्खे जिसमें सुगन्धित कीचड़ डाला हुआ हो। सारांश, जिस घट में सरोवर, तालाब आदि का जल और कीचड़ डाला हुआ हो उसमें जोंकों को रक्खे। इनको खाने के लिए सिंघाड़े, कसेरू, शालूकादि जलज कन्दों का चूर्ण, शैवाल ( जल पर की काई ), मृणाल ( कमल नाल ), वल्लूर ( सूखा मांस ), मिट्टी, कमलगट्टों का चूर्ण तथा पीने के लिए मीठा, ठण्डा और स्वच्छ जल देवे। लार आदि से सड़न पैदा न हो इस लिए तीन तीन दिन के अन्तर से अर्थात् प्रति तीसरे दिन पहले दिया हुआ अन्नपान हटाकर दूसरा नया पूर्वोक्त अन्नपान उस घट में डाले। इतना ही नहीं, प्रति पांचवें दिन ( सुश्रुत के मतानुसार प्रति सातवें दिन ) उसी प्रकार के ( नये ) दूसरे घड़े में जोंकों का संचारण करता रहे अर्थात् बदलता रहे।

तासां तु दुष्टशोणितासम्यग्वमनात् प्रततपातनाच्च मूर्च्छा भवति। तासामम्भोभिः पूर्णभाजनस्थानामचेष्टयाऽऽहारानभिलाषेण च ज्ञात्वा ता विवर्जयेत्। इतरास्तु हरिद्रासर्षपकल्काम्भसि मुक्तपुरीषा अवन्तिसोमे तक्रे वा पुनश्च समाश्वासिता जले सुखोपविष्टस्य सन्निविष्टस्य वा मृद्गोमयचूर्णाभ्यामनुसुखं विरूक्ष्य दंशदेशं योजयेत्। अलगन्तीषु क्षीरघृतनवनीतरुधिरान्यतमबिन्दून्न्यसेत् प्रच्छेद्वा। अश्वखुरवच्च वक्त्रं निवेश्योन्नतस्कन्धा दशन्ति यदा च शिशुवच्छ्वसन्त्यः शिरःस्पन्दोर्मिवेगैः पिबन्ति तदा मृदुवाससा प्रच्छादयेत्। सेचयेच्चाम्भसाऽल्पाल्पम्। यथा च हंसः क्षीरोदकात्क्षीरमादत्ते तद्वदुत्क्लिष्टे रक्ते जलौकाः प्राग्दुष्टमसृक्। यदा च तद्दंशे तोदः कण्डूर्वा तदा शुद्धरक्तरक्षणार्थमपनयेत्। लौल्याच्च दंशममुञ्चन्त्याः क्षौद्रं लवणचूर्णं वा मुखे दद्यात्। पतितां तु तन्दुलकण्डनोपदिग्धगात्रां तैललवणाक्तमुखीं पुच्छादामुखमनुलोमं शनैः पीडयन् सम्यग्वामयेत्। ततः पूर्ववत्सन्निदध्यात्। सप्तरात्रं च ताः पुनर्न पातयेत्। अशुद्धे तु रक्ते मधुना गुडेन वा दंशान् किञ्चिद्विघट्टयन् स्रावयेत्। स्रुतरक्तस्य च सद्यो दंशं शीताभिरद्भिः प्रक्षाल्य सर्पिःपिचुनाऽवगुण्ठयेत्। स्थिररक्तं चोत्क्लिष्टशोणितशेषप्रसादनाय कषायमधुरशिशिरैः सघृतैः प्रदेहैः प्रदिह्यात्। ततो योगादीन् सिराव्यधवदुपलक्षयेत् प्रतिकुर्वीत च। दुष्टरक्तापगमाच्छ्वयथुशैथिल्यं दाहरागशूलोपशमश्च।

जलौकावचारणविधि—ध्यान रहे कि इन जोंकों में मूर्च्छा प्राप्त होती है अर्थात् इनका पिया हुआ दुष्ट रक्त भलीभांति वमन द्वारा न निकालने से तथा सतत लगाने से कुछ जोंकें मूर्च्छित हो जाती हैं। इसकी परीक्षा यह है कि जल से भरे हुए पात्र में छोड़ने पर ये कुछ भी चेष्टा नहीं करतीं अर्थात् जल में नहीं चलती हैं और इसी प्रकार आहार की भी उन्हें अभिलाषा नहीं रहती है। यदि इस प्रकार हो तो इन जोंकों को भी सविषा जोंकों की तरह काम में न लावे। अब सर्वथा शुद्ध निर्विषा जलौका के लगाने की विधि बताते हैं—इतरा अर्थात् विषैली तथैव मूर्च्छित जोंकों के अतिरिक्त शुद्ध निर्विष जोंकें लेकर हल्दी और सरसों के कल्क के जल में डाले अथवा अवन्तिसोम ( कांजी ) या तक्र में डाले। इनके संयोग से जोंकें मुक्तपुरीषा होती हैं अर्थात् वे मलमूत्र का त्याग करती हैं। मुक्तपुरीष जोंकों को पुनः शुद्ध जल में डाले। इसके बाद अच्छी तरह से बैठे या लेटे हुए पुरुष के उस स्थान पर जोंक लगावे जहां पर लगानी हो। ध्यान रहे कि जिस जोंक को लगाना हो उसको जल में से निकाल मिट्टी या सूखे गोबर के चूर्ण को सुहाता हुआ धीरे धीरे उस पर मर्दन कर उसे रूक्ष कर ले ( उसकी जलार्द्रता मिटा दे ) और फिर लगावे। यदि उस जगह न लगती हो तो उस स्थान पर दूध, घृत, मक्खन और रक्त इनमें से किसी एक के बूंद डालकर फिर लगावे या पछने से उस जगह को जरा छीलकर लगावे। ऐसा करने से दूध, घी, मक्खन या रक्त के लोभ से वहां जोंक अवश्य चिपक जायगी। घोड़े के खुर की तरह मुख को उस स्थान में लगाकर स्कन्ध-भाग को ऊंचा उठाती हुई जब वह दंश करती है अर्थात् चिपट जाती है—जब कि वह बालक की तरह श्वासोच्छ्वास लेती हुई, सिर को हिलाती हुई ऊर्मि ( तरङ्ग ) के वेग से रक्त पीने लगती है, तब नरम कपड़े से ढक देना चाहिए और थोड़े थोड़े जल से सेचन करना चाहिए। जैसे हंस मिले हुए दूध और पानी में से दूध को खींच लेता है, ठीक उसी प्रकार से जोंक शुद्ध और अशुद्ध उत्क्लिष्ट रक्त में से पहले दूषित रक्त को खींच कर पी जाती हैं। जब दंशस्थान में पीडा और खाज की प्रतीति हो तब शुद्ध रक्त के संरक्षणार्थ जोंक को वहां से हटा लेनी चाहिए। रक्त के लालच से दंश के स्थान को न छोड़नेवाली जोंक के मुख पर जरा शहद या नमक का चूर्ण लगा देना चाहिए। इस प्रकार करने से उस दंशस्थान से जोंक गिर जायगी। नीचे गिरी हुई उस जोंक को लेकर उसके गात्र पर तण्डुलकण-चूर्ण लगाकर, तेल-नमक लगे हुए मुखवाली उस जोंक को पूंछ से लेकर मुख तक उल्टा पीडन कर अर्थात् धीरे धीरे पीडन कर अच्छी तरह से वमन करा दे। सुश्रुत इसी बात को कहते हुए यह स्पष्टीकरण करते हैं कि 'बांयें हाथ के अंगूठे और उंगली से उसे पकड़े और दाहिने हाथ के अंगूठे और उंगली से पूंछ की ओर से मुख तक उल्टा पीडन कर वमन करा[2] दे। वमन कराने के अनन्तर फिर कीचड़ और जलवाले घड़े में पूर्ववत् रख दे। सातरात्रि ( दिन ) तक उन्हें फिर न लगावे। अशुद्ध रक्त किंचित् भी अवशिष्ट रहने की शंका हो तो शहद या गुड़ से दंशस्थान को मसल कर

१. अन्यैर्वा प्रयोगैरिति सद्योहृतजन्तुमांसपेशीनवनीतघृतक्षीराद्यभ्यक्तजङ्घाद्यवयवैर्वा। २. सरस्तडागोदकपङ्कमावाप्य, इति सुश्रुतः। ३. उत्तप्तं शुष्कमांसं स्यात्तद्वल्लूरं त्रिलिङ्गकम्। इत्यमरः। ४. सप्तरात्रात्सप्तरात्राच्च घटमन्यं संक्रामयेदिति। ५. तदाऽऽर्द्रवाससाऽवच्छादयेत् इ. पा.। ६. स्थितरक्तम् इ. पा.।

१. अवन्तिसोमः काञ्जीति हेमाद्रिः। २. अथ पतितां तण्डुलकण्डनप्रदिग्धगात्रीं तैललवणाभ्यक्तमुखीं वामहस्ताङ्गुष्ठाङ्गुलीभ्यां गृहीतपुच्छां दक्षिणहस्ताङ्गुष्ठाङ्गुलीभ्यां शनैःशनैरनुलोममनुमार्जयेदामुखाद्वामयेत्तावद्यावत्सम्यग्वान्तलिङ्गानीति।

रक्तस्राव करा दे। जिसमें से दुष्ट रक्त का विस्रावण हो चुका हो तो उस दंशस्थान को शीतल जल से धोकर घृत लगे हुए रूई के फाहे से ढक दे। रक्त के थम जाने या स्थिर हो जाने पर उत्क्लिष्ट रक्त के शेष भाग को साफ करने के लिए कषाय, मधुर और शीतल, घृतसहित लेप दंशस्थान पर करे।

जलौकावचारण (जोंकें लगाने) के सम्यग्योग, हीनयोग तथा मिथ्यायोग को उसी प्रकार से देखना चाहिए जैसे कि सिराव्यध-विधि के सम्यक्, हीन और मिथ्यायोग को देखा जाता है। अतियोग हो जाने पर इसका उपचार भी सिराव्यधविधि में कहे अनुसार करे।

दुष्टरक्तविस्रावण के लाभ—दुष्ट रक्त के निकल जाने से शोथ (सूजन) में शिथिलता आजाती है अर्थात् सूजन ढीली पड़ कर उतर जाती है, दाह, राग (ललाई) तथा शूल का शमन होता है।

रक्तं तु पित्तेन दुष्टमलाबुघटिकाभ्यां न निर्हरेदग्निसंयोगाद्वातकफाभ्यां च दुष्टं निर्हरेत्। तथा कफेन न शृङ्गेण स्कन्नत्वाद्वातपित्ताभ्यां तु दुष्टं निर्हरेत्। अथ प्रच्छायाङ्गं तनुवस्त्रपटलावनद्धप्रान्तेन शृङ्गेण चूषेत्। तथा प्रदीप्तपिचुगर्भाभ्यामलाबुघटिकाभ्यामिति।

पित्तादिदुष्ट रक्तका तूंबी आदि द्वारा निर्हरण—पित्त से दुष्ट रक्त का निर्हरण अलाबु (तुम्बी) और घटिका (मिट्टी का शराव) द्वारा न करे क्यों कि अलाबु और घटिका में अग्नि का संग होता है और वह अधिकाधिक पित्त को कुपित कर सकता है किन्तु वात और कफ से दूषित रक्त का निर्हरण तुम्बी और घटिका से करे क्यों कि इनमें अग्निसङ्ग होता है जो कि वात और कफ के लिए प्रशस्त होता है। तथा कफ से दूषित रक्त का निर्हरण शृङ्ग से न करे क्यों कि वह मधुर, स्निग्ध और शीत है और कफ भी इन्हीं गुणोंवाला है परन्तु वात और पित्तदूषित रक्त शृङ्ग से निकालना चाहिए। इस लिए कि मधुर, स्निग्ध और शीत वातपित्त के शामक हैं।

शृङ्गादि से रक्तनिर्हरणविधि—यदि शृङ्ग से रक्त-निर्हरण करना हो तो पहले सिंगी लगाने की जगह प्रच्छान (पछना) लगाकर रक्त निकाले और फिर उस पर सिंगी लगाकर उसके आजूबाजू में नरम बारीक कपड़ा से बन्द कर उस सिंगी से मुख लगाकर रक्त को चूसे। और तुम्बी तथा घटिका से रक्तनिर्हरण करना हो तो निकले हुए रक्त के ऊपर ऐसी तुम्बी और घटिका लगावे जिसमें प्रदीप्त थोड़ी रूई रखी हुई हो। धूम्र के प्रभाव से अलाबु और घटिका द्वारा दूषित रक्त आकृष्ट होकर निकल आता है।

भवंति चात्र[1]।

गात्रं बद्ध्वोपरि दृढं रज्ज्वा पट्टेन वा समम्।
स्नायुसन्ध्यस्थिमर्माणि त्यजन् प्रच्छानमाचरेत्॥
अधोदेशप्रविसृतैः पदैरुपरिगामिभिः।
न गाढघनतिर्यग्भिर्न पदे पदमाचरेत्॥
प्रच्छानेनैकदेशस्थं सुतं शृङ्गादिभिर्हरेत्।
ग्रथितं तु जलौकोभिरसृग्व्यापि सिराव्यधैः॥

प्रच्छानं पिण्डिते वा स्यादवगाढे जलौकसः।
त्वक्स्थेऽलाबुघटीशृङ्गं सिरैव व्यापकेऽसृजि॥
वातादिधाम वा शृङ्गजलौकोऽलाबुभिः क्रमात्।
सुतासृजः प्रदेहाद्यैः शीतैः स्याद्वायुकोपतः॥
सतोदकण्डूः शोफस्तं सर्पिषोष्णेन सेचयेद्॥

इति पञ्चत्रिंशोऽध्यायः॥ ३५॥
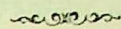
प्रच्छानविधि—जिसका सिंगी लगा कर, जोंकें लगा कर, तुम्बी से या घटीयन्त्र से दुष्टरक्त निर्हरण करना हो तो उस रक्तनिर्हरण के स्थान से कुछ ऊपर गात्र को रस्सी या कपड़े से मजबूत बांध कर फिर नीचे की ओर शरीर पर स्नायु, सन्धि, अस्थि तथा मर्मों को छोड़ कर पछना लगाकर चत करे किन्तु यह ध्यान रहे कि क्षत नितान्त सीधा हो ऐसे चत न करे जो नीचे की ओर फैले हुए हों अर्थात् ऊपरिगामी क्रमशः चत करे जो कि अति गहरे, मोटे और टेढ़े न हों। ऐसा पछना भी न चलावे जिससे पहले किए हुए चत पर और चत हो जाय। इस प्रकार चत करके एक देश में स्थित रक्त का निर्हरण पछने से करे और वात-रक्तादि विकारों के सुप्त एवं निश्चेष्ट रक्त का निर्हरण सिंगी आदि द्वारा करे। जमे हुए अर्थात् गांठ, रसौली आदि के ग्रथित रक्त का निर्हरण जोंकें लगाकर तथा सर्वशरीरव्यापी दुष्ट रक्त को सिराव्यध-विधि से निकाले अर्थात् फस्त खोलकर निकाले। अथवा पिण्डित (पिण्डीभूत) जमे हुए रक्त का पछने से, अवगाढ (अधिक गाढ़े) रक्तका जोंकें लगाकर, त्वचा के रक्त का तुम्बी, घटी और सिंगी लगाकर तथा सर्वशरीरव्यापी रक्त का सिराव्यध-विधि से ही निर्हरण करे। सारांश, सर्वशरीरस्थ रक्त का निर्हरण सिराव्यध-विधि के अतिरिक्त अन्य शृङ्ग-अलाबु, घटी आदि लगाकर न करे। अथवा वातादि-भेद से क्रम से शृङ्ग, जलौका और तुम्बी लगाकर करे अर्थात् वायुदुष्ट रक्त का शृङ्ग से, पित्तदुष्ट रक्त का जोंकें लगाकर और कफदूषित रक्तका निर्हरण तुम्बी लगाकर करे।

रक्तनिस्सरण के पश्चात्कर्त्तव्य—रक्त के निकल जाने पर वायु के कोप से पीडासहित कण्डू (खाज) और सूजन का संभव होता है अतः यदि ऐसा हो तो शीतल लेप लगावे और उष्ण घृत से उस पर सेचन करे।

इति वाग्भटाचार्यकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाख्यायां हिन्दीव्याख्यायां जलौकोविधिर्नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः॥३५॥

# अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः।

गत अध्याय में रक्तविस्रावण के प्रसंग में कहा गया है कि सर्वाङ्गव्यापी रक्त का विस्रावण सिराव्यधविधि से ही करना चाहिए। इसलिए इस विषय के अध्याय का प्रारम्भ करते हुए आचार्य कहते हैं कि—

अथातः सिराव्यधविधिं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

[1] भवन्ति चात्र।

सिराव्यधाध्याय—अब हम जिसमें सिराव्यधविधि का वर्णन है, उस सिराव्यधविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया।

बहवो हि रक्तावसेचनोपायाः प्रागभिहितास्तेषामन्येषां च विरेकादीनामुपक्रमाणां तत्साध्येष्वामयेषु सिराव्यधः प्रधानम्। अमुना हि ते समूलाः शोषमायान्ति केदारसेतुभेदेन शाल्यादय इव।

तथा हि।
सिराव्यधश्चिकित्सार्धं संपूर्णं वा चिकित्सितम्।
शल्यतन्त्रे स्मृतो यद्वद्बस्तिः कायचिकित्सिते॥

सिराव्यधविधि की प्रधानता—पहले बहुत से रक्तावसेचन के उपाय कहे गए हैं उनमें तथा विरेचनादि अन्य उपायों एवं उनसे साध्य रोगों के विषय में सिराव्यध ही प्रधान है क्योंकि इससे वे सब (रोग) इस प्रकार मूलसहित नष्ट हो जाते हैं जैसे कि केदार (जल से भरे हुए चावलों के खेत) की पाल तोड़ देने से शाल्यादि (चावल, गेहूं, जौ, चने) सूख जाते हैं। इसी लिए कहा है कि—जैसे काय-चिकित्सा में बस्ति को संपूर्ण या आधी चिकित्सा कहा गया है, उसी तरह शस्त्र किंवा शल्यतन्त्र में सिराव्यध को संपूर्ण या आधी चिकित्सा कहा गया है। सारांश, केदारसेतु-भेद की तरह सिराव्यध करने से भी दूषित रक्त शरीर से बाहर निकल जाने से समस्त रोग शान्त हो जाते हैं।

विशेष वक्तव्य—यहां सम्पूर्ण या चिकित्सार्ध का तात्पर्य यह नहीं है कि सिराव्यध से संपूर्ण या आधी चिकित्सा हो जाती है। तात्पर्य यह है कि जैसे काय-चिकित्सा में वायु को प्रधान दोष माना गया है, उसी प्रकार शल्य-चिकित्सा में रक्त का प्रधान स्थान है। कायचिकित्सा में बस्तिद्वारा बहुत कुछ चिकित्सा का कार्य हो जाता है। वैसे ही शल्य-चिकित्सा में सिराव्यध के करने से बहुत कुछ चिकित्सा का कार्य हो जाता है। रक्तशुद्धि जैसे सिराव्यध से होती है वैसे अन्य उपायों से नहीं होती। रक्त की शुद्धि नितान्त अपेक्षित है क्योंकि इसी से व्रणकी दुष्टि, पूयभवन, सन्धान और रोपण आदि सभी कार्य ठीक होते हैं।

यथा रक्तमधिष्ठानं विकाराणां विकारिणाम्।
अन्यन्नहि तथा दूष्यं कर्मेदं प्रथमं ततः॥

सब दूष्यों में रक्त की प्रधानता—समस्त रोगियों के रोगोंका अधिष्ठान जैसे रक्त है ऐसे और कोई भी दूष्य नहीं है। इसी लिए रक्तविस्रावण कर्म को प्रथम कहते हैं।

तत्राम्बु शारीरमाहारसारभूतं रसाख्यमविकृतमविकृतेन तेजसा रञ्जितमिन्द्रगोपाकारं च शशशोणितगुञ्जाफलालक्तकपद्मसुवर्णवर्णं धौतं च विरज्यमानं मधुरमीषल्लवणं स्निग्धमशीतोष्णं गुरु पित्तैकचयकोपोपशमनं सौम्याग्नेयं प्रकृत्या रक्तमाहुस्तदा दूष्यम्। दोषमिति केचित्। उभयात्मकमन्ये। तच्चैवंविधमेव विधिवदाहारविहाराभ्यासाद्विशुद्धं बलवर्णसुखायुषां योनिः।

विशुद्ध रक्त एवं उसका फल—आहार के सारभूत उस रससंज्ञक शारीरिक जल को ही आचार्यों ने रक्त कहा है जो कि अविकृत (विशुद्ध), जठराग्नि से रञ्जित, इन्द्रगोप (वर्षाकालीन वीरबहूटी-संज्ञक) के समान लाल, शश (खरगोश) के रक्त के समान, गुञ्जाफल (चिर्मिटी)-महाउर-सुन्दर रक्तकमल के समान होता है। धोने पर साफ हो जानेवाला, मधुर, किंचित् नमकीन, स्निग्ध, कुछ शीत तथा उष्ण, गुरु, केवल पित्त का चय, प्रकोप और शमन करनेवाला, सौम्य तथा आग्नेय जो प्रकृति ही से है। इसलिए चरकादि आचार्यों ने इसे दूष्य कहा है। कुछ (धन्वन्तरि आदि) आचार्य इसे दोष मानते हैं क्योंकि यह भी वातादि दोषों की तरह रोगों का उत्पादक है और वातादि दोषों के समान इसकी भी चिकित्सा है। कुछ ऐसे भी आचार्य हैं जो इसे दोष और दूष्य दोनों मानते हैं। जो कुछ हो, पूर्वोक्त विधिवत् आहार-विहार के अभ्यास से जो विशुद्ध रक्त है वही बल, वर्ण, सुख और आयु का मूल कारण है।

विशेष वक्तव्य—उपर्युक्त गद्य के आदि में 'तत्राम्बुशारीरम्' आदि विशुद्ध रक्त के लक्षण कहे गए हैं और यह भी बताया है कि वह रक्त विशुद्ध, अग्नि से रञ्जित, शारीर आहार का सारभूत रससंज्ञक द्रव्य ही है। भगवान् धन्वन्तरि ने भी यही कहा है किन्तु संक्षिप्त करके नहीं, अपितु विस्तार से कहा है। यथा—पाञ्चभौतिक अर्थात् आकाशादि पञ्चभूतात्मक, पेय-लेह्य-भक्ष्य और भोज्य रूप से चतुर्विध, मधुर-अम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषायरूपेण षड्रसवाले शीत और उष्ण होने से द्विविध तथा शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-विशद-पिच्छिल-मृदु तथा तीक्ष्ण ऐसे अष्टविध वीर्य वाले, गुरु-मन्द-हिम-स्निग्ध-श्लक्ष्ण-सान्द्र-मृदु-स्थिर-सूक्ष्म-विशद इन दस गुणों तथैव इनके विपरीत दस गुणों से युक्त अनेक गुणोंवाले विधिवत् आहार के करने से उत्पन्न 'तेजोभूत (घृत एवं शुक्र की तरह प्रसादांश), परम सूक्ष्मभूत सार, रस कहलाता है। यही आगे चलकर विशुद्ध जाठराग्नि से रञ्जित इन्द्रगोप के समान आकारवाला रक्त बन जाता है। रक्त के रूप में परिणत होनेवाले इस रस की परम सूक्ष्मता के लिए भोजन किए हुए पदार्थों के भलीभांति शोषण एवं सात्म्यीकरण की बड़ी भारी आवश्यकता रहती है। आधुनिक वैद्यक के ज्ञाता कहते हैं कि उन भुक्त पदार्थों का दांतों के सम्यक् चर्वण द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म कणों में भौतिक विघटन होना चाहिए। दांतों के चर्वण, पाचक रसों के जलांश एवं आंतों के आकुञ्चन के बिना यह कार्य नहीं हो सकता। जो भुक्त आहार इस प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म नहीं बनते वे पोषण के योग्य होते हुए भी उनका शोषण नहीं होता अतः वे अन्य त्याज्य पदार्थों के साथ गुद द्वारा बाहर निकल जाते हैं। कारण यह है कि इन भोज्य पदार्थों को शरीर के पोषणार्थ आंतों की श्लैष्मिक कला में से होकर रक्त में पहुँचना पड़ता है। उक्त श्लैष्मिक कला में से जाने योग्य जो पदार्थ सूक्ष्मातिसूक्ष्म नहीं बन पाते हैं, उनका भोजन में होना और न होना बराबर है। इन खाद्य

१ तेष्वागन्तवोऽभिघातनिमित्ताः। शारीरास्त्वन्नपानमूला वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ता इत्यादिः। सुश्रुते सूत्रस्थाने अ० १ गद्य २३।

पदार्थों की पाचन-क्रिया भी होनी चाहिए जो कि लार, जाठर रस तथा अग्न्याशय के द्वारा होती है। पचनक्रिया से खाद्य पदार्थों का रासायनिक विश्लेषण होकर छोटे-छोटे अणुवाले नये यौगिक बनते हैं। ये श्लैष्मिक कला में से होकर रक्त में पहुँचते हैं। सारांश यह है कि बिना इस क्रिया के शरीर-मन्दिर खड़ा ही नहीं हो सकता अर्थात् खाद्य पदार्थों की परिणति जब तक अणुवाले यौगिकों में नहीं होती तब तक शरीर में रहनेवाले पहले भिन्न पदार्थ इनसे मिलकर पदार्थों की सृष्टि नहीं होती। इन परिणत पदार्थों से ही शरीर के सेल अपने विशिष्ट प्रकार के पदार्थों को बना लेते हैं। शरीर के अयोग्य पदार्थ परिणति के समय अलग होकर मलरूपेण शरीर के बाहर आ जाते हैं। सारांश, उपर्युक्त रस शरीरपोषक खाद्य पदार्थों का पाचक-रसों द्वारा विश्लेपित अंश है और यही आगे चलकर रक्त के रूप में परिणत हो जाता है।

इतरथा पुनः शरत्कालस्वभावादेव वा प्रदुष्टमभिष्यन्दाधिमन्थशुक्रार्मतिमिररक्तराजीशिरस्तोदभेददाहकण्डूकर्णरोगमुखपाकपूतिघ्राणास्योपदेहत्वग्गुल्मप्लीहविद्रधिवीसर्पज्वररक्तपित्तकुष्ठपिटिकाश्लीपदोपदंशशोफवातशोणितरक्तमेहक्षुद्ररोगाग्निस्वरनाशाङ्गगौरवसादारोचकाम्लोद्गारलवणास्यताक्रोधमोहस्वेदमदमूर्च्छासंन्यासकम्पतन्द्रादीनाम् ( योनिरिति पूर्वेण सम्बन्धः )।

दूषितरक्तजन्य रोग— उपर्युक्त विशुद्ध रक्त के विपरीत अर्थात् शरत्काल के स्वभाव तथा मिथ्या आहार-विहारादि से दुष्ट हुआ रक्त अभिष्यन्द-अधिमन्थ-शुक्र-अर्म-तिमिर-रक्तराजी आदि नेत्र के रोग, सिर में टोंचने-भेदने की सी पीड़ा, दाह, कण्डू, कर्णरोग, मुखपाक, मुखपूति ( मुख में दुर्गन्ध ), कान और मुख में प्रलेपता, त्वचा-रोग, गुल्म, प्लीहा, विद्रधि, विसर्प, ज्वर, रक्तपित्त, कुष्ठ, पिटिका, श्लीपद, उपदंश, शोथ, वातरक्त, रक्तमेह, क्षुद्ररोग (अजगल्लिका-यवप्रख्या-अन्त्रालजी-विवृता-कच्छपिका-वल्मीक-इन्द्रविद्धा, गर्दभिका-पाषाणगर्दभादि ), अग्निमान्द्य, स्वरभङ्ग, अङ्गगौरव, अङ्गसाद, अरोचक, अम्लोद्गार ( खट्टी डकारें आना ), लवणास्यता ( मुँह का नमकीन रहना ), क्रोध, मोह, स्वेद, मूर्च्छा, संन्यास ( लकड़ी सा बेहोश पड़ना ), कम्प, तन्द्रा आदि का जनक (करनेवाला) होता है।

ये च शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैः सर्वदोषप्रतिपक्षैः सम्यगप्युपक्रान्ताः साध्या अपि न सिध्यन्ति ते च रक्तप्रकोपजास्तस्मात्तेष्वत्युद्रिक्तरक्तविस्रावणाय यथास्वं सिरां विध्येत्।

सिराव्यध का मुख्य उद्देश— वातादि समस्त दोषों के जीतनेवाले शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि उपायों के करने से साध्य होते हुए भी जो रोग अच्छे नहीं होते हैं तो समझ लेना चाहिए कि ये रोग रक्तप्रकोप के कारण से उत्पन्न हुए हैं। उन रोगों में अतीव दूषित हुए रक्त को निकालने के लिए उस-उस रोग के अनुसार सिरा को बेधना चाहिए। सारांश यह है कि रक्तप्रकोपजन्य रोगों का शमन सिराव्यधविधि से ही हो सकता है। रक्तप्रकोपज व्याधियों को शमन करना ही सिराव्यध का मुख्य उद्देश है।

१. देहत्वग्गुल्म। २. शंखशोफ। ३. मूर्च्छाय इ० पा०।

न तु स्नेहपीतकृतपञ्चकर्मान्यतमगर्भिणीसूतिकाजीर्णिकामलाक्लीबोनषोडशातीतसप्ततिवर्षाभिघातातिस्रुतरक्तादुष्टरक्तातिस्निग्धास्विन्नातिखिन्नाक्षेपकपक्षाघातातिसारच्छर्दिश्वासकासोदररक्तपित्तार्शःपाण्डुरोगसर्वाङ्गशोफपीडितानाम्।

सिराव्यध के अयोग्य प्राणी— जिसने स्नेहपान किया हो, वमन-विरेचनादि पञ्चकर्मों में से कोई सा भी कर्म जिसको कराया गया हो, गर्भवती या सूतिका हो, जो अजीर्ण रोगी हो, जो कामला रोग से पीड़ित हो, जो नपुंसक हो, जिसकी अवस्था सोलह साल से कम हो या सत्तर साल से अधिक हो, जिसे चोट लगी हो, जिसके शरीर से बहुत सा रक्त बाहर निकल गया हो, जिसका रक्त दूषित न हो, जो अतिस्निग्ध हो, जिसका स्वेद न निकाला गया हो, जो अतिखिन्न (दुःखी) हो, जो आक्षेपक-पक्षाघात-अतीसार-छर्दि-श्वास-कास-उदर-रक्तपित्त-अर्श-पाण्डुरोगवाला हो अर्थात् इनमें से जिसे कोई सा भी रोग हो अथवा जिसके सब शरीर में सूजन हो तो इन सबके लिए सिराव्यध नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार—

न चाव्यधनीयायन्त्रितानुत्थिताः सिरा न तिर्यङ्न चातिशीतोष्णवाताभ्रेषु।

वेध के अयोग्य सिरा— जिन सिराओं का वेध निषिद्ध है, वेधन योग्य होते हुए भी जो दिखाई न देती हों, दिखाई देती हों परन्तु जिनका उपरि भाग बांधा न गया हो और बांधने पर भी जो ऊपर को न उठ आई हों ऐसी सिराओं का वेध नहीं करना चाहिए। तिर्यक् अर्थात् तिर्छा वेध नहीं करना चाहिए और अतिशीत, अतिउष्ण, अतिवात तथा अति बादलों से छाए हुए आकाश के समय में भी सिरावेध नहीं करना चाहिए।

तत्र स्नेहपीतादिषु सम्यग्विद्धा अपि सिरा न स्रवन्त्यतिस्रवन्ति वा। सम्यक्स्निग्धस्विन्नस्य पुनर्नवीभूता दोषाः शोणितमनुप्रविष्टाः सम्यक् प्रच्यवन्ते। नत्वेवं निषेधो विषसंसृष्टोपसर्गात्ययिकव्याधिषु।

स्नेहपीतादि के सिराव्यधनिषेध का कारण— स्नेहपान किए हुए या स्वेद निकाले हुए आदि के भली भांति सिरावेध होने पर भी उसकी सिराओं से रक्त का स्रवण नहीं होता, यदि होता भी है तो अति रक्तस्राव होता है। इसी प्रकार सम्यक् स्निग्ध और स्विन्न के सिराव्यध करने से उसके पुनः नवीन उठे हुए दोष शोणित ( रक्त ) के साथ मिल कर भली भांति सिराओं से प्रच्युत नहीं होते अर्थात् बाहर नहीं निकलते। इसी लिए स्निग्ध-स्विन्नादि के लिए सिराव्यध का निषेध किया गया है परन्तु यह निषेध विष के कारण उत्पन्न हुए उपद्रवों तथा व्याधि की आत्ययिक अवस्था में नहीं समझना चाहिए। अर्थात् उक्त अवस्थाओं में सिराव्यध अवश्य करना चाहिए।

१. न च व्यधनीयाश्चायन्त्रितानुत्थिताः। २. याश्चाव्यध्याः, व्यध्याश्चादृष्टाः, दृष्टाश्चायन्त्रिताः, यन्त्रिताश्चानुत्थिता इति सुश्रुतः। ३. पुनर्द्रवीभूता। ४. न त्वेष।

विशेष वक्तव्य—सुश्रुत में इस विषय में कुछ अधिक कहा गया है। सिराव्यध के लिए निषिद्ध प्राणियों में वहां बालक, वृद्ध, रूक्ष, क्षतक्षीण, भीरु, थका हुआ, मद्य-मार्ग और स्त्रीसंग के कारण कृश, वमन-विरेचन-आस्थापन-अनुवासन और जागरण किया हुआ, नपुंसक, कृश, गर्भिणी, कास, श्वास, शोष, प्रवृद्ध-ज्वर, आक्षेपक, पक्षाघात, उपवास, तृषा और मूर्च्छा से पीडित इन सब को गिनाए हैं[१]। इन का सिरावेध क्यों नहीं करना चाहिए इसका कारण वाग्भट ने केवल इतना ही कहा है कि—'इनका भली भांति सिरावेध करने पर भी सिराओं से रक्त का स्राव नहीं होता। यदि होता भी है तो फिर अतिस्राव होता है। अतिस्निग्ध एवं स्विन्न का सिरावेध करने से पुनर्द्रवीभूत दोष रक्त के साथ मिल कर भली भांति बाहर नहीं निकलते।' परन्तु सुश्रुत के टीकाकार डल्हन ने अपनी टीका में इन सिराव्यध न करने के भिन्न भिन्न कारणों को बताए हैं। वे कहते हैं कि—बालक और वृद्ध की असंपूर्ण धातु के क्षीण हो जाने के भय से सिरावेध नहीं करना चाहिए। रूक्ष और क्षतक्षीणों के लिए वात-प्रकोप का भय रहता है अतः उनका सिरावेध नहीं करना चाहिए। यहां क्षत से तात्पर्य उरःक्षत से अथवा खड्ग आदि से हत से है। क्षीण का अर्थ धातुक्षीण समझना चाहिए। गयदास क्षत और क्षीण को अलग अलग नहीं मानते हुए क्षत से क्षीण ऐसा अर्थ करते हैं। भीरु में तमोगुण के बाहुल्य के कारण रक्त के देखते ही उसे मूर्च्छा आने का भय रहता है अतः सिरावेध न करे। श्रम करके थके हुए पुरुष का श्रमकुपित वायु रक्तमोक्षण से अति प्रबल हो कर शरीर का नाश कर सकता है इस लिए उस का सिरावेध न करे। मद्य पीनेवाले का मद्यविक्षिप्त चित्त होने से उस में तुरन्त मूर्च्छा का संभव होता है, मार्ग एवं स्त्रीसंग से कृश मनुष्य में वातप्रकोप का भय रहता है अतः मद्यपी, मार्ग चलने से थका हुआ या स्त्रीसंग से कृश इन तीनों का सिराव्यध निषिद्ध है। वमन-विरेचनादि के अन्त में भी वायुकोप का भय रहता है। इसी प्रकार आस्थापन-जागरण में भी वायुकोप होता है अतः इनका सिरावेध निषिद्ध है। अनुवासित की मन्दाग्नि के फिर भी अधिक मन्द हो जाने का डर होता है। नपुंसक की प्रधान धातु क्षीण होती है और वह निर्बल होता है अतः रक्तस्राव से निश्चित मरण हो सकता है, इस लिए उस की सिरा का वेध नहीं करना चाहिए। दुर्बल और गर्भिणी की धातु के क्षीण होने से देहनाश की शंका रहती है। इसी प्रकार कास-श्वास-क्षय-रोगियों की घटी हुई धातुओं के कारण उनके देहनाश की शंका रहती है और बढ़े हुए ज्वर की अवस्था में रक्तस्राव होने से प्रलापादि का भय रहता है। इस लिए सिराव्यध नहीं करना चाहिए।

यद्यपि सप्रमाण इस प्रकार बाल-वृद्धादि के सिरावेध का निषेध किया गया है परन्तु इस का अपवाद भी पाया जाता है। यह निषेध साधारण परिस्थिति के लिए है। रोग की आत्ययिक अवस्था में सिरावेध कर भी सकते हैं जैसे कि ऊपर कहा गया है कि 'यह निषेध विषसंसर्ग से उत्पन्न उपद्रव एवं आत्ययिक रोग की अवस्था में नहीं मानना चाहिए। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण आधुनिक शस्त्र चिकित्सा में यत्र तत्र मिलते हैं। जैसे कि बच्चों के श्वासकृच्छ्र, खांसी और तीव्र ज्वर के होने पर अर्थात् ब्रोंकोन्युमोनिया ( Broncho Pneumonia ), श्वास की कृच्छ्रता के साथ श्वासयन्त्रशोथ ( Laryingitis ) की अवस्था में गले की सिरा का वेध करने से लाभ होता है। गर्भिणी के गर्भाक्षेपक एवं गर्भापतानक ( Eclampaia ) की अवस्था में शरीरगत विष का निर्हरण करने के लिए सिरावेध करने से बहुत लाभ होता है। रक्तभार अधिक बढ़ जाने पर पक्षाघात में भी सिरावेध कर रक्त निकालने से बड़ा लाभ होता है परन्तु यदि रक्त के जमाव या अन्तःशल्यता के कारण पक्षाघात हुआ हो तो सिरावेध नहीं करना चाहिए। सारांश, पक्षाघात में सिरावेध का विधि और निषेध दोनों ही हैं।

अवेध्य सिराएं—कहा गया है कि जिन के वेध का निषेध किया गया है उन सिराओं में वेध न करें क्यों कि उनके वेध से शरीर के नाश का भय रहता है। शरीर के भिन्न भिन्न भागों में अवेध्य सिराएं इस प्रकार हैं।—

अधःशाखामें—जालधरा ( Great Sapponous Vein ), ऊर्वी ( Eomoralartery and Vein ) तथा लोहिताक्ष।

ऊर्ध्व शाखा में—जालधरा ( Ceppalio Vein ) ऊर्वी ( Brachial Vessels ) तथा लोहिताक्ष ( Axxillary Vessels ).

श्रोणी में—विटप ( Spermatic Vessels ) और कटीकतरुण ( Gluteal Vessels ).

पृष्ठ में—बृहती ( Subscapular artery ) तथा मेढ्रोपरि ( Inferior epigastric Vessels ).

वक्षःस्थल में—स्तनमूलादि ( Internal mammary and Interal thoraoic Vessels ).

ग्रीवा में—मातृका ( Carotid arteries and Jugular Veins ), कृकाटिका ( Occipital Vessels ) और विधुर ( Posterior auricular Vessels ).

हनु में—हनुसन्धि ( Internal maxillary Vessels ).

जिह्वा में—रसवहे, वाग्वहे ( Deep Lingnal Vessels ).

नासा में—औपनासिकी ( Angular Vessels ).

नेत्र में—अपाङ्ग ( Eygomaties-temporal Vessels ).

कर्ण में—शब्दवाहिनी ( Anterior tympanic Vessels ).

ललाट में—केशान्तानुगता ( Supraorbital, Superficial temporal Vessels ), आवर्त ( Frontal branch of the Superficial tempora ), स्थपनी ( Nasal branch of the frontal Vein ), शंखसन्धिगत ( Superficial temporal Vessels ), उत्क्षेप ( Parietal branch of the Superficial temporal ) तथा सीमन्त-अधिपति ( Branches of the Secipital and Superficial Vessels ).

प्रतिरोगे तु व्यधं प्रतिविभागः। शिरोनेत्ररोगेषु ललाटव्या उपनास्यापाङ्ग्या वा। कर्णरोगेषु परितः कर्णौ। नासारोगेषु नासाग्रे प्रतिश्याये तु नासाललाटस्थाः।

१. 'बालस्थविररूक्षक्षतक्षीणभीरुपरिश्रान्तमद्याध्वस्त्रीकर्शितवमितविरिक्तास्थापितानुवासितजागरितक्लीबकृशगर्भिणीनां कासश्वासशोषप्रवृद्धज्वराक्षेपकपक्षाघातोपवासपिपासामूर्च्छाप्रपीडितानां च सिरां न विध्येत्' इति।

मुखरोगेषु जिह्वौष्ठतालुहनुगाः। जत्रूर्ध्वं ग्रन्थिषु ग्रीवाकर्णशङ्खमूर्द्धगाः। अपस्मारे हनुसन्धिमध्यगाः। उन्मादे तूरोऽपाङ्गललाटगाः। विद्रधौ पार्श्वशूले च पार्श्वकक्षास्तनान्तरस्थाः। चतुर्थके स्कन्धाधोगतानामन्यतरपार्श्वाश्रयाम्। तृतीयकेंऽसयोरन्तरे त्रिकसन्धिमध्यगताम्। प्रवाहिकायां शूलिन्यां श्रोण्योः समन्ताद् व्यङ्गुले। निर्वृत्तोपदंशशुक्रव्यापत्सु मेढ्रे। गलगण्ड ऊरुमूलसंश्रिताम्। गृध्रस्यां जानुसन्धेरुपर्यधो वा चतुरङ्गुले। अपच्यामिन्द्रबस्तेरधस्ताद् व्यङ्गुले। क्रोष्टुकशीर्षसक्थिवातरुजासु गुल्फस्योपरि चतुरङ्गुले। श्लीपदेषु यथास्वं वक्ष्यते। पाददाहहर्षचिप्पवातशोणितवातकण्टकविपादिकापाददारीप्रभृतिषु पादरोगेषु क्षिप्रमर्मण उपरिष्टाद् व्यङ्गुले। एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ। विशेषतस्तु वामबाह्वाभ्यन्तरतो बाहुमध्ये प्लीहोदरे। एवमेव च दक्षिणबाहौ यकृदाख्ये। तथा कासश्वासयोरप्यादिशन्ति। गृध्रस्यामिव विश्वाच्याम्। बाहुशोषावबाहुकयोरप्येके। अदृश्यमानासु चैतास्वतिप्रवृद्धव्याधेरन्यव्याध्युक्तानामपि यथासन्नं व्यधः।

रोगानुसार सिराव्यध—अब प्रत्येक रोग के अनुसार सिरावेध को कहते हैं अर्थात् किस किस रोग में कहां कहां की किस सिरा को वेधना चाहिए, यह बतलाते हैं।

शिरोरोग तथा नेत्ररोग में—**ललाट की, उपनास्या ( नासा के समीपवर्ती ) तथा अपाङ्ग अर्थात् नेत्रों के पास की सिरा का वेध करना चाहिए।** इस विषय में अष्टाङ्गहृदय के टीकाकार चन्द्रनन्दन कहते हैं कि—'शिरोरोग तथा नेत्ररोग की अवस्था में कभी नासिका की, कभी ललाट पर की तथा कभी ललाट एवं नेत्र, ललाट एवं नासिका इन दोनों की सिरा का वेध करना चाहिए।[1]

कर्णरोग में—**कान के आस पास की सिरा का वेध करना चाहिए।**[2]

नासागत रोगों में—**नासिका के अग्रभाग की किन्तु—**

प्रतिश्याय में—**नासाललाटस्था अर्थात् नासिका और ललाट के बीच की सिरा का वेध करना चाहिए।**[3]

मुख रोगों में—**जिह्वा, होंठ, तालु और चिबुक इन में की किसी भी सिरा का वेध करे।**

जत्रूर्ध्वग्रन्थियों में—**जत्रूर्ध्व अर्थात् वक्षस्थल और कन्धों के ऊपर की ग्रन्थियों में ग्रीवा, कान, शंख और मस्तक की सिराओं का वेध करे।**

अपस्मार रोग में—**ठोडी की सन्धि के बीच की सिरा को वेधना चाहिए।**

उन्माद में—**छाती, नेत्रों के समीप की तथा सिर की सिरा का वेध करे।**

विद्रधि तथा पार्श्वशूल में—**पसवाड़े, कांख ( बगल ) और स्तनों के बीच की सिरा वेधे।**

चतुर्थक ज्वर में—**कन्धों के नीचे के भाग की सिरा को अर्थात् पसवाड़े की सिरा को तथा—**[1]

तृतीयक ज्वर में—**कन्धों की सन्धियों के बीच की सिरा को वेधना चाहिए।**

शूलसहित प्रवाहिका में—**कटि से दो अङ्गुल अन्तर की सिरा का वेध करे।**

उपदंशजनित वीर्यविकार में—**मेढ़ ( लिंगेन्द्रिय ) की सिरा को वेधना चाहिए।**

गलगण्ड में—**ऊरुमूलसंश्रिता ( दोनों ऊरुओं के मूल की )[3] सिरा का वेध करे। अष्टाङ्गहृदय के 'ऊर्वोः गलगण्डयोः' इस वाक्य के द्विवचन को देखकर हेमाद्रि ने गलगण्ड के साथ गण्डमाला का भी समावेश किया है।**[4]

गृध्रसी में—**जानुओं की सन्धियों के ऊपर और अधोभाग में चार अङ्गुल अन्तर की सिरा का वेध करना चाहिए।**

अपची में—**इन्द्रबस्ति ( जङ्घा ) के मर्मस्थान[5] के अधोभाग में दो अङ्गुल अन्तर की सिरा का वेध करना चाहिए।**

अस्थिपीडा तथा क्रोष्टुशीर्ष में—**अर्थात् ऊरुपीडा एवं जानुरोगविशेष क्रोष्टुशीर्ष में गुल्फों के ऊपर चार अङ्गुल पर की सिरा का वेध करना चाहिए।**

श्लीपद में—**सिरावेध की बात श्लीपद रोग के प्रकरण में आगे कही जावेगी।**

पाददाह, पादहर्षादि रोगों में—**अर्थात् पगों की जलन, पादहर्ष, चिप्प, वातरक्त, वातकण्टक, विपादिका, पाददारी प्रभृति रोगों में क्षिप्र नामक मर्म के उपरि भाग में दो अङ्गुल के अन्तर पर की सिरा का वेध करे। क्षिप्रमर्म अंगूठे और अङ्गुली के मध्य में होता है। इसी वर्णन से अन्य सक्थिगत तथा बाहुगत रोगों को भी जान लेना चाहिए।**

प्लीहोदर में—**बाएँ हाथ की या हाथ के मध्य की सिरा को वेधना चाहिए।**

यकृत् रोग में—**दक्षिण ( दाहिना ) हाथ की तथा बाहु के मध्य की सिरा का वेध करे।**

कास और श्वास रोग में—**पूर्वोक्त प्रकार से दोनों बाहु एवं बाहुओं के मध्य की सिरा का वेध करना चाहिए।**

विश्वाची रोग में—**विश्वाची अर्थात् बेंवची रोग में गृध्रसी रोग में जिस प्रकार कहा गया है उसी प्रकार जानुओं की सन्धियों के ऊपर और अधोभाग की चार अंगुल के अन्तर से सिरा को वेधना चाहिए।**

बाहुशोष और अवबाहुक में—**भी उपर्युक्त सिरा का ही वेध करे।**

अदृश्य सिराओं के विषय में—**यदि व्याधि बढ़ी हुई हो और अभीष्ट सिरा न दिखाई देती हो तो वैद्य को चाहिए कि वह अन्य व्याधियों में कथित उन सिराओं का वेध करे जो समीप में हों। सारांश, इस प्रकार करने से भी अभीष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है।**

---

१. कदाचिल्ललाटस्थां कदाचिन्नासास्थां कदाचिदुभयस्थामपीति। २. कर्णसमीपभवामित्यरुणः। ३. नासाललाटमध्यस्थामित्यरुणदत्तः।

१. स्कन्धस्याधोगताम्—अन्यतरपार्श्वाश्रयाम्। २. 'अंसयोर्मध्ये स्कन्धसन्धौ स्थितां सिराम्, इत्यरुणः। ३. गलगण्डयोश्चोभयोरूरुस्थानम्। ४. द्विवचनसामर्थ्याद्गण्डमालाग्रहणमिति। ५. इन्द्रबस्तिः—जङ्घामध्ये मर्मेति हेमाद्रिः। ६. क्षिप्रम्—अङ्गुष्ठाङ्गुलिमध्ये मर्मेति हेमाद्रिः।

प्रागेव चोपकल्पयेच्छयनासनोदकुम्भवस्त्रपट्टादि। तथा यथालाभं च तगरैलाशीतशिवकुष्ठपाठाविडङ्ग-भद्रदारुत्रिकटुकागारधूमहरिद्रार्काङ्कुरनक्तमालचूर्णमसृक्स्रावणाय। असृक्स्थापनाय च रोध्रमधुकप्रियङ्गु-पत्तङ्गगैरिकरसाञ्जनशाल्मलीशङ्खयवगोधूममाषचूर्णम्। वटाश्वत्थाश्वकर्णपलाशबिभीतकसर्जार्जुनधन्वनधातकी-सालसारारिमेदतिन्दुकत्वगङ्कुरनिर्यासश्रीवेष्टकमृत्कपा-लमृणालाञ्जनचूर्णम्। क्षौममषीलाक्षासमुद्रफेनचूर्णं वा तथाऽन्यच्चातिस्रुतरक्तव्यापत्प्रतीकारोपकरणम्। सज्जो-पकरणो हि न वैद्यो मोहमाप्नोति।

सिराव्यध के लिए उपकरण—वैद्य को चाहिए कि वह सिरा-व्यध कर्म की सुसंपन्नता के लिए सबसे प्रथम रोगी के लिए लेटने और बैठने की जगह, जल का घड़ा, वस्त्र, पट्ट आदि की व्यवस्था कर लेवे तथा रक्तविस्रावण के लिए यथालाभ (जो जो वस्तु मिल सके) तगर, इलायची, शीतशिव (कपूर), कूट, पाठ, वायविडंग, देवदारु, सोंठ, मिरच, पीपल, घर का धुंवाँ, हल्दी, आक के अंकुर और कंजे के बीज इन सबका चूर्ण। रक्तास्थापन के लिए लोध, मुलेठी, प्रियंगु, पतंग की लकड़ी, गेरू, रसौत, सेंम्हल (शाल्मली की छाल या पुष्प), शंख, जव, गेहूं तथा उड़द इन सबका चूर्ण तथैव वड़, पीपल, अश्वकर्ण पलास, बहेड़ा, राल, अर्जुन–धव–धातकी–सालसार–अरिमेद (खदिरविशेष), तेन्दू इन सबकी छाल, अंकुर और गोंद, श्रीवेष्ट (गन्धा विरोजा) मिट्टी का ठीकरा, कमल और सुर्मा इन सबका चूर्ण। क्षौम (पट्टवस्त्र) की स्याही, लाख, समुद्रफेन इन सबका चूर्ण तथा और भी निकलते हुए रक्त को बन्द करनेवाले उपकरण। इस लिए कि उपकरणों से सुसज्जित वैद्य मोह को प्राप्त नहीं होता अर्थात् फिर उसके सामने किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं आती।

अथ कृतस्वस्त्ययनमातुरं व्याधिबलसात्म्याद्यपेक्ष्य[1] स्निग्धं जाङ्गलरसं यवागूं च पाययित्वा मुहूर्त्तमात्रमा-श्वासितं पूर्वाह्णेऽपराह्णे वाङ्गारातपोष्णबाष्पान्यतमस्विन्नं जानूच्छ्रिते मृदावासने जानुनिहितकूर्परं समस्थितपादं प्रत्यादित्यमुपवेशयेत्। केशान्ते च प्लोतचर्मवल्क[2]पट्टा-न्यतमेन बध्नीयात्। ततश्चायतेन वस्त्राङ्गुष्ठगर्भेण मुष्टि-द्वयेनातुरो यथास्वं मन्ये निपीडयेद्दन्तैश्च दन्तान्। गण्डौ चाध्मापयेत्। पुरुषश्चैनं पृष्ठतो वस्त्रकृकाटिका-न्तरन्यस्तवामप्रदेशिनीको नातिगाढं ग्रीवायां परिक्षिप्य वेष्टयन्वस्त्रं प्राणानबाधमानो यन्त्रयेत्। इत्येषोऽन्त-र्मुखवर्ज्यानां सिराणां व्यधने यन्त्रविधिः। ततश्चास्य वैद्योऽङ्गुष्ठनिष्टब्धया मध्यमाङ्गुल्या सिरां ताडयेत्। उत्थितां च स्पन्दमानां स्पर्शादभिलक्ष्य[3] वामहस्तेन कुठारिकामूर्ध्वदण्डां कृत्वा सिरामध्ये न्यस्य लक्षयित्वा च तथैव मध्यमाङ्गुल्या ताडयेदङ्गुष्ठोदरेण वा पीडयेत्। गूढबहलत्वक्प्रतिच्छन्नायामङ्गुष्ठापीडनादुन्नमनमुपल-क्षयेत्। उत्काशनेन[1] क्रोधसंरम्भेण चापूर्यन्ते सिराः।

सिराव्यधविधि—जिसका सिराव्यधविधि द्वारा रक्तविस्रा-वण कराना हो तो उस रोगी को पहले मङ्गल–होमसहित स्वस्तिवाचन करावे और फिर उसकी व्याधि के बलाबल, साम्यासात्म्यादि को भली भांति देखकर उसको जांगल-प्राणियों का मांसरस तथा यवागू पिलाकर स्निग्ध करे। मुहूर्त्तमात्र ठहरकर फिर पूर्वाह्न या अपराह्न में अग्नि, धूप, उष्ण बाफ इनमें से किसी एक के द्वारा स्वेदित करके फिर जानुप्रमाण (गोड़े के बराबर) ऊंचे नरम आसन पर दोनों पग समान रहें, इस प्रकार सूर्य के सामने बिठावे। ध्यान रहे कि उस समय उसकी दोनों कोहनियां गोड़ों पर रहें। उसके सिर के बालों को नरम वस्त्र, चर्म, वल्कल या रेशमी वस्त्र इनमें से किसी एक से बांध देवे। इसके अनन्तर जिनमें वस्त्र और अंगुष्ठ हैं ऐसी अपनी दोनों मुट्ठियों से रोगी अपनी मन्या (गर्दन) को दोनों ओर से यथेच्छ दबावे। परस्पर दांतों से दांतों को दबावे। गालों को फुला देवे। फिर इस पुरुष को पीठ की ओर से गर्दन में वस्त्र डालकर इस प्रकार कसकर बांध दे कि उसके प्राणों को बाधा न होने पावे। ध्यान रहे कि इस वस्त्र को गर्दन पर डालते समय बांएं हाथ की तर्जनी अंगुली से उसके गर्दन की सिरा को दबाकर फिर बांधे। यह सिराव्यधविधि अन्तर्मुख अर्थात् मुंह के अन्दर की सिराओं को छोड़कर जो ऊपर से दिखाई देनेवाली सिरा हैं उनको वेधन के लिए है। वैद्य को चाहिए कि वह रोगी की सिराओं को ऊंची उठाने के लिए अंगूठे पर ठहराई हुई अपनी मध्यमा अंगुली से सिरा पर ताडन करे और फिर स्पर्श करके देखे। यदि सिरा ऊंची उठी हुई, स्पन्दमान (फड़कती) हुई देखे तो वैसे ही पूर्वोक्त प्रकार से मध्यमा अंगुली या अंगूठे से पुनरपि दबावे। इस प्रकार मध्यमा या अंगूठे से दबाने पर मोटी चमड़ी के कारण छिपी हुई या भीतर घुसी हुई सिरा ऊपर को उठ आई है, यह देखे। उत्काशन या उत्कसन अर्थात् ग्रीवागत सिरा के दबाने से वह सिरा कुपित सी होकर ऊपर को उठती है और रक्त से पूरित हो जाती है। सारांश यह है कि फिर वैद्य के लिए अच्छा सुभीता हो जाता है और वह सुख से रक्तविस्रावण कर सकता है।

अङ्गुष्ठेन तु नासाग्रमुन्नमय्य व्रीहिमुखेनोपना-सिकां विध्येत्। उन्नमितविदष्टाग्रजिह्वस्याधोजिह्वायाः। विवृतास्यस्य तालुनि दन्तमूले च। ग्रीवासिरासु स्तन-योरुपरि यन्त्रम्। उदरोरसोः प्रसारितोरस्कस्योन्नमित-शिरसः। बाहुभ्यामालम्बमानस्य पार्श्वयोः। उन्नमित-मेढ्रस्य मेढ्रे[2]। श्रोणीपृष्ठस्कन्धेषून्नमितपृष्ठस्यावाकूशिरस उपविष्टस्य। विश्वाचीगृध्रस्योरनाकुञ्चिते कूर्परे जानुनि वा सुखोपविष्टस्य गूढाङ्गुष्ठबद्धमुष्टेर्व्यधनीयप्रदेशस्यो-परि चतुरङ्गुले प्लोताद्यन्यतमेन बद्ध्वा हस्तसिराम्। एवमेकपादं सुस्थितं स्थापयित्वान्यपादमीषत्संकुचितं

१. साम्याद्यवेक्ष्य। २. वल्कल। ३. स्पर्शात् वाऽभिलक्ष्य।

१. उत्कसनेन। २. 'उत्कसनं कण्ठं निष्पीड्य कसनम्' इतीन्दुः।

तस्योपरि निधाय जानुसन्धेरधो हस्ताभ्यामागुल्फं निपीड्य पूर्ववद्बद्ध्वा पादसिरां व्यधेत् । तत्र तत्र च तैस्तैरुपायैर्विकल्प्य यन्त्रयेत् । तत्र मांसलेष्ववकाशेषु यवमात्रं व्रीहिमुखेन । अतोऽन्यथाऽर्धयवमात्रं व्रीहिमात्रं वा । अस्थ्नामुपरि कुठारिकयाऽर्धयवमात्रम् । सर्वत्र चानुत्तानावगाढमृज्वसंकीर्णं समं मर्माद्यनुपघाति सिरामध्ये शस्त्रमाशु पातयेत् ।

स्थानपरत्व सिराव्यध—अब स्थानविशेष से सिराव्यधविधि का वर्णन करते हैं । यथा—

उपनासिका पर—सिराव्यध करना हो तो अंगूठे से नासा के अग्रभाग को उठाकर व्रीहिमुख शस्त्र से वेध करे ।

मुखरोगों में—जिह्वा की सिरा का वेध करना हो तो दांतों से जीभ को तालु की ओर उलटा कर फिर जीभ के नीचे की सिरा को वेधना चाहिये ।

तालु और दन्तमूल में—सिरावेध करना हो तो रोगी के मुख को फाड़ कर फिर करे ।

ग्रीवा में—सिरावेध करना हो तो दोनों स्तनों के ऊपर की सिरा का वेध करे ।

उदर और छाती में—सिरावेध करना हो तो छाती को पसार रोगी के सिर को ऊंचा उठाकर करना चाहिए ।

पार्श्वभाग में—सिरावेध करना हो तो रोगी अपने दोनों बाहु ऊंचे उठा लेवे तब करे क्योंकि तभी पसवाड़े की सिरा ठीक दिखाई दे सकती है ।

लिङ्गेन्द्रिय में—सिरावेध करना हो तो लिङ्ग को ऊपर की ओर उठाकर फिर नवाकर वेध करे । सुश्रुत में लिखा है कि लिङ्ग को नीचे की ओर नवाकर करे परन्तु यह ठीक नहीं प्रतीत होता है । सिरावेध के समय शिश्न का हर्षित एवं रक्त से पूर्ण होना आवश्यक है । इसी लिए वाग्भट ने अष्टाङ्गहृदय में 'प्रहृष्टे मेहने' लिखा है और वैसे ही यहां 'उन्नमितमेढ्स्य मेढ्रे'[1] कहा गया है । प्रहृष्ट होने पर लिङ्ग का उत्थान होता है, तब जरा दबाकर सिरावेध किया जाता है ।

जंघा, पीठ और कन्धों में—सिरावेध करना हो तो पीठ को ऊंची उठाकर कुछ भी न बोलते हुये और सिर को न हिलाते हुये करना चाहिये ।

विश्वाची और गृध्रसीमें—विश्वाची अर्थात् बेंबची और गृध्रसी में सिरावेध करना हो तो कुहनियों तथा गोडों को संकुचित न करते हुए, भली भांति बैठे हुए, अंगूठे को भीतर लेकर, दृढ मुट्ठी बांधे हुए रोगी के सिरावेध की जगह से ऊपर की ओर चार अंगुल पर कपड़े या अन्य किसी रस्सी आदि से मजबूत बांध कर हाथ की सिरा का वेध करे ।

पादसिरा में—वेध करना हो तो इसी प्रकार एक पग को मजबूत टिका कर, दूसरे पग को कुछ मोड़ कर पहले टिकाए हुए पगपर रक्खे और फिर जानु (गोडों) की सन्धि के नीचे के भाग को गुल्फ (गिरियों) तक भली भांति पीडन कर (दबा कर या मर्दनकर) फिर हाथ की सिरा की तरह वेधस्थान से ऊपर चार अंगुल पर बांधकर पग की सिरा का वेध करे । इसी प्रकार जहां जहां उचित समझे समुचित उपायों द्वारा नियन्त्रण करे अर्थात् अनुक्त सिरावेधन के लिए भी कल्पना करके प्रयोग करे ।

मांसल आदि स्थानों में—अर्थात् जहां अधिक मांस हो उस स्थान में व्रीहिमुख शस्त्र से एक यवमात्र वेध करना चाहिए । इसके विपरीत अल्पमांसवाले स्थान में आधे यव के बराबर वेध करे ।

अस्थियों पर—वेध करना हो तो कुठारिका शस्त्र से आधे यव के बराबर वेध करे अर्थात् आधे यव से अधिक वेध करके क्षत न करे ।

शिराव्यधार्थ शस्त्र—वैद्य को चाहिए कि वह सिरावेध के लिए सर्वदा सर्वत्र ऐसे शस्त्र से काम ले जो बहुत लम्बा तथा बहुत मोटा न हो, टेढ़ा और टूटा-फूटा न हो और मर्मस्थान में घात करनेवाला न हो, ऐसे शस्त्र का ही उपयोग किया करे जिससे बहुत जल्दी कार्य सिद्ध हो जाय ।

एकप्रहाराभिहता धारया या स्रवेदसृक् ।
मुहूर्त्तरुद्धा तिष्ठेच्च सम्यग्विद्धेति तां विदुः ॥
अल्पकालं वहत्यल्पं दुर्विद्धा तैलचूर्णनैः ।
सशब्दमतिविद्धा तु स्रवेद्दुःखेन धार्यते ॥

सम्यग्विद्धादि लक्षण—एक ही बार के शस्त्रपात करने पर जो रक्त धारारूप से चलता और एक मुहूर्त्त के बाद आप ही बन्द हो जाता है, यह सम्यग्विद्ध सिराका लक्षण है । शस्त्रपात करने पर अल्पकाल तक जो थोड़ा थोड़ा रक्त चलता है तथा तैलचूर्णादि प्रयत्न करने पर भी जो रक्तस्राव स्वल्प ही होता है—सम्यक्तया रक्तविस्रावण नहीं होता यह दुर्विद्ध-सिरा का लक्षण है । शस्त्रपात करने पर जो शब्दसहित निकलता हुआ रक्त बड़े दुःख से धारण किया जाता है अर्थात् रोकने से भी नहीं रुकता, वह अतिविद्ध सिराका लक्षण है ।

सम्यग्विद्धानामपि च सिराणामवहनकारणानि मूर्च्छा भयं यन्त्रशैथिल्यमतिगाढत्वमत्याशितता क्षामत्वं कुण्ठशस्त्रव्यधो मूत्रितोच्चारित्वं दुःस्विन्नता कफावृतव्रणद्वारता चेति ।

रक्ताप्रवृत्ति के कारण—कभी कभी सम्यक् प्रकार से सिरावेध होने पर भी ऐसे कारण उपस्थित हो जाते हैं जिनसे रक्त का विस्रावण नहीं होता अपितु रक्त बहना बन्द हो जाता है । वे कारण ये हैं—मूर्च्छा, सिराव्यध के समय डरना, यन्त्र की शिथिलता, रक्त का अति गाढ़ा होना, अति आहार, दौर्बल्य (रक्त की कमी), कुण्ठित (अतीक्ष्ण) शस्त्र से सिराव्यध करना, सिराव्यध के समय में मल-मूत्र की प्रवृत्ति होना, दुःख से स्विन्नता तथा कफ से व्रण के द्वार या मुख का बन्द हो जाना ।

अथाप्रवृत्तिकारणं यथास्वमुपलक्ष्य प्रतिकुर्यात् । तगरादिचूर्णेन च तैललवणप्रगाढेन सिरामुखमवचूर्णयेत् । पृष्ठमध्ये चातुरंपीडयेत् । एवं साधु वहति । सम्यक्प्रवृत्ते कफानिलोपशमनरक्ताविच्छेदनार्थमुष्णलवणतैलबिन्दुभिः सिरामुखं सिञ्चेत् ।

[1] 'अवनामितमेढ्स्य मेढ्रे' इति

रक्तविस्रावणोपाय—उपर्युक्त रक्त की अप्रवृत्ति के कारणों को यथावत् जान कर उसके उपायको करे। तेल और नमक से मिश्रित पूर्वोक्त तगरादि चूर्ण (तगर, इलायची के दाने, कपूर, कूठ, पाढ़, बायविडंग, देवदारु, सोंठ, मिरच, पीपल, घर का धुँवां, हल्दी, आक की कोंपल और कंजे के बीजों का चूर्ण) सिरा के मुखपर छिड़के तथा रोगी की पीठ को अच्छी तरह दबावे। इस प्रकार करने से रक्त अच्छी तरह से बहने लगता है। भली भांति रक्त की प्रवृत्ति हो जाने पर कफ और वायु की शान्ति तथैव रक्त की अविच्छेदता के लिए उष्ण नमक और तेल के बूंदों से सिरा के मुख का सेचन करे।

अग्रे स्रवति दुष्टास्रं कुसुम्भादिव पीतिका ।
सम्यक् स्रुत्वा स्वयं तिष्ठेच्छुद्धं तदिति नाहरेत् ॥

शुद्ध और अशुद्ध रक्तको जानना—उपर्युक्त चूर्णादि-विधिके करने से पहले दुष्ट रक्त का स्राव ऐसे होता है जैसे कि कुसुम्भ के क्षुप से असली कुसुम्भा न निकल कर हल्दी की तरह एक पीला द्रव्य निकलता है किन्तु असली कुसुम्भा क्षुप के पुष्प में बना रहता है। ठीक इसी प्रकार सिराव्यध करने से पहले अच्छी तरह दूषित रक्त का स्राव होता है परन्तु शुद्ध रक्त स्वयं शरीर में स्थिर रहता है। उस शुद्ध रक्त का विस्रावण नहीं करना चाहिए।

यस्य तु स्रवति रक्ते मूर्च्छा जायते तस्य विमुच्य यन्त्रं शीतसलिलार्द्रपाणिस्पर्शेन व्यजनवायुना श्रोत्रसुखेन वचसा च समाश्वासयन्नुपशमय्य मूर्च्छां पुनः स्रावयेत्। पुनर्मूर्च्छत्यपरेद्युस्त्र्यहेऽपि वा। परन्तु रुधिरावसेचनप्रमाणं प्रस्थः। अतोऽन्यथा व्याधिदेहर्तुबलमपेक्षेत।

सिराव्यध के समय मूर्च्छा का उपाय—जिसको सिरावेध के समय रक्तस्रवणावस्था में मूर्च्छा आ जाय तो उसके शरीर में लगे हुए यन्त्र को हटाकर शीतल जल से आर्द्र हाथों के स्पर्श से, पंखे की हवा से, सुनने में सुख प्राप्त हो ऐसे वचनों से उसको आश्वासन देकर मूर्च्छा को दूर कर पुनः रक्तविस्रावण करे। पुनरपि मूर्च्छा आ जाय तो उस दिन को छोड़कर दूसरे या तीसरे दिन रक्तविस्रावण करे परन्तु रक्त का विस्रावण-प्रमाण एक प्रस्थ रहे। नहीं तो फिर देह, ऋतु, बलाबल तथा व्याधि का विचार भली भांति करने के अनन्तर रक्त का निर्हरण करे। ध्यान रहे कि इसमें प्रस्थ का प्रमाण १३॥ साढ़े तेरह पलका माना गया है। इसके प्रमाण में कहा है कि वमन, विरेचन तथा रक्तमोक्षण में बुद्धिमानों ने साढ़े तेरह पलका एक प्रस्थ माना है।

तत्र फेनिलमरुणं श्यावमच्छं रूक्षमस्कन्दि कषायानुरसं लोहगन्धि वेगस्रावि शीतं च रक्तं वातात्। गृहधूमाञ्जनोदककृष्णं पीतं हरितं विस्रं मत्स्यगन्धि कटुत्वान्मक्षिकानिष्टमौष्ण्यादस्कन्दि सचन्द्रकं गोमूत्राभं च पित्तात्। कोविदारपुष्पगैरिकोदकापाण्डु शीतं स्निग्धं स्कन्दि घनं पिच्छिलं तन्तुमद् व्रणद्वारावसादि लवणरसं वसागन्धि च कफात्। द्वन्द्वसंकीर्णं संसर्गात्। कंसनीलमाविलं दुर्गन्धं च सन्निपातात्। शुद्धमुक्तं प्राक्।

वातादिदूषित रक्तके लक्षण—जो फेनवाला, लाल, मलिन, श्वेत, रूखा, बिखरनेवाला, पतला जिसके पश्चात् कषाय रस हो, लोह के समान गन्धवाला, वेग से जिसका स्राव हो और ठण्डा रक्त हो तो उसे वायु से दूषित जानना चाहिए। जो घर के धुँवे के समान तथा सुर्मे के समान वर्णवाला, कृष्ण जल के समान, पीला, हरा, दुर्गन्धित, मछली की सी गन्धवाला, कटु होने से जिसको मक्खी नहीं चाहती, उष्णता के कारण न जमनेवाला, चन्द्रिका-सहित और गोमूत्र के समान जो रक्त होता है, उसे पित्त से दूषित रक्त समझना चाहिए। जो कचनारपुष्प एवं गेरू के पानी की तरह पाण्डुवर्ण हो, शीत, स्निग्ध, जमा हुआ, गाढा, फिसलनेवाला, तन्तुवाला, व्रण के द्वारा वसादि जिसमें दिखाई दे, या व्रण के द्वार पर ही रुक जानेवाला, नमकीन, चर्बी के समान गन्धवाला रक्त कफदूषित समझना चाहिए। जिसमें वात-पित्त, कफ-वात, पित्त-कफ के लक्षण मिलते हों तो उसे द्विदोषदूषित रक्त समझना चाहिए। कंस (मात्विक विशेष या कांसे) की तरह नील, आविल (मैला) और अतीव दुर्गन्धित रक्त सन्निपात अर्थात् त्रिदोष से दूषित जानना चाहिए। शुद्ध रक्त के लक्षण इसी अध्याय के आदि में कह चुके हैं।

ततः स्रुतरक्तस्य व्यधमनुलोममङ्गुष्ठेनोपरुध्य शनैर्यन्त्रमपनीयाश्वासयेत्[1]। सतैलं च प्लोतं सिरामुखे दत्त्वा बध्नीयात् संवेशयेच्चैनम्। अतिष्ठति रक्ते सिरामुखं संधातुं पूर्वोक्तैश्चूर्णैरवचूर्ण्याङ्गुल्यग्रेण पीडयेत्। शाल्युपोदकापिच्छां[2] वा व्रणमुखे दत्त्वा गाढं बध्नीयान्मधूच्छिष्टप्रलिप्तं वा पट्टम्। शीताम्बुना वा सिञ्चयेत्। शीतमधुरकषायान्नपानैः सेकप्रदेहप्रवातवेश्मभिर्वा स्कन्दनायोपचरेत्। पद्मकादिक्वाथं शर्करामधुमधुरं क्षीरमिक्षुरसमेणहरिणाजोरभ्रमहिषवराहाणामन्यतमस्य सिरां विद्ध्वा रुधिरमामं घृतभृष्टं वा पानं दद्यात्। तेनैव वा दर्भपादमृदितेनानुवासयेत्। स्निग्धैश्च यूषरसैर्भोजयेत्। व्यधादनन्तरं वा पुनस्तामेव सिरां विध्येत्। सर्वथा चानवतिष्ठमाने पाचनाय क्षारं दद्यात्। संकोचयितुं वा सिरामुखं तप्तशलाकया दहेत्। न च क्षणमप्युपेक्षेत। क्षीररक्तस्य हि वायुर्मर्माण्युपसंगृह्य मूर्च्छासंज्ञानाशशिरःकम्पभ्रममन्यास्तम्भापतानकहनुभ्रंशहिध्मापाण्डुत्वबाधिर्यधातुक्षयाक्षेपकादीन् करोति मरणं वा।

प्राणाः प्राणभृतां रक्तं तत्क्षयात्क्षीयतेऽनलः।
वर्धते चानिलस्तस्माद्युक्त्या बृंहणमाचरेत् ॥
अशुद्धं तु रक्तमपराह्णेऽन्येद्युर्वा पुनः स्रावयेत्।

१. 'वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥' इति तन्त्रान्तरे।

[1] शनैः शनैश्च इ० पा०। [2] शाल्मल्युपोदकापिच्छाम्।

ततोऽपि शेषं सर्वथा वाऽस्य विस्राव्यरक्तस्य शीतसेक-प्रदेहविरेकोपवासस्निग्धमधुरान्नपानैः प्रसादयेत्। मासमात्रं वा स्नेहादिभिरुपचर्य पुनर्विध्येत्। दुर्व्यधातिव्यधकुट्टितर्तिर्यग्व्यधादेर्व्यधदोषाद्व्यापदो या स्युस्ता यथास्वं साधयेदिति।

रक्तस्रावण में पश्चात्कर्तव्य—जब भलीभांति रक्त निकल जाय तब व्यध की जगह को सीधी अंगूठे से दबाकर, रक्त को बन्द करके, धीरे-धीरे यन्त्र को दूर कर रोगी को आश्वासन देवे। सिरा के मुख पर तेल से तर किया हुआ कपड़े का टुकड़ा बांध दे और रोगी को अच्छी तरह से बिठा दे।

रक्त के बन्द न होने पर उपाय—रक्त के बन्द न होने पर सिरा के मुख को बन्द करने का प्रयत्न करे अर्थात् सिरा के मुखपर पूर्वोक्त रक्तास्थापन चूर्ण को छिड़क कर उंगली के अग्रभाग से दबावे, शालि (चावलपिष्ट), पाठान्तर से शाल्मलि की छाल का चूर्ण तथा मोर के पङ्ख की चन्द्रिका की राख व्रण पर देकर दृढ़ बांध देवे, अथवा मोम से प्रलिप्त कपड़े का टुकड़ा व्रण पर देकर मजबूत बांध देवे। ठण्डे जल से सिंचन करे। रक्त को गाढ़ा करने के या जम जाने के लिए शीत-मधुर-कषाय अन्नपान करावे, सेक, लेप तथा हवादार मकान की योजना करे। पद्मकादि-कषाय शर्करा या शहद से मीठाकर पिलावे। दूध, ईख का रस, एण-हरिण-बकरा-भेड़-महिष और शूकर, इनमें से किसी एक की सिरा को वेध कर निकाले हुए ठण्डे या घी के साथ भुने हुए रक्त का पान करावे। अथवा दर्भमूल-मृदित उसी रक्त से अनुवासनवस्ति की योजना करे। स्निग्ध यूष एवं मांसरस का भोजन करावे। अथवा सिराव्यध के अनन्तर फिर उसी सिरा का वेध करे। किसी प्रकार से रक्त न रुकता हो तो रक्त के पाचनार्थ क्षार देवे। सिरामुख को संकुचित करने के लिए शलाका को तपाकर दाह करे परन्तु एक क्षणभर भी रक्त को बन्द करने की उपेक्षा न करे। रक्तमय ही प्राण हैं अतः जहां तक बने रक्त को जल्दी बन्द करे इसलिए कि क्षीणरक्तवाले रोगी का वायु मर्मस्थानों में जाकर मूर्च्छा, संज्ञानाश, सिर का कांपना, भ्रम, मन्यास्तम्भ, अपतानक, हनुग्रह, हिचकी, पाण्डुत्व, बधिरता, धातुक्षय और आक्षेपक आदि रोगों को करता है। इतना ही नहीं, क्षीणरक्त रोगी को कुपित हुआ वायु मार भी डालता है। तात्पर्य यह है कि समस्त प्राणियों का रक्त ही प्राण है। उस रक्त के क्षीण होने से अग्नि क्षीण होता है अतः फिर इससे वायु बढ़ता है। इसलिए युक्तिपूर्वक बृंहण-चिकित्सा करनी चाहिए ताकि उससे पुष्ट होकर रोगी का रक्त वृद्धि को प्राप्त हो जाय।

अशुद्ध रक्त को तीसरे प्रहर दिन में या दूसरे दिन पुनः स्रावण करे। इस पर भी यदि अशुद्ध रक्त शेष रह जाय तो हर तरह से अर्थात् उस विस्राव्य रक्त का प्रसादन करे। सारांश, शीत सेक, लेप, विरेचन, उपवास तथा स्निग्ध-मधुर अन्नपान देकर रक्त को शुद्ध कर देना चाहिए। अथवा एक मास पर्यन्त स्नेहादि उपचार करने के बाद फिर सिराव्यध करना चाहिए ताकि सर्वथा रक्त की शुद्धि हो जाय।

सिराव्यध के दोष और उनके उपचार—दुर्व्यध, अतिव्यध, कुट्टित, तिर्यग्व्यध आदि सिराव्यध के दोषों से अनेक व्यापद (उपद्रव एवं रोग) हो सकते हैं अतः उनकी यथायोग्य चिकित्सा करनी चाहिए।

भवति चात्र[1]

उन्मार्गगा यन्त्रनिपीडनेन
स्वस्थानमायान्ति पुनर्न यावत्।
दोषाः प्रदुष्टा रुधिरं प्रपन्ना-
स्तावद्धिताहारविहारभाक् स्यात्॥
नात्युष्णशीतं लघु दीपनीयं
रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम्।
तदा शरीरं ह्यनवस्थितास्रु-
गग्निर्विशेषादिति रक्षितव्यः॥
प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्था-
निच्छन्तमव्याहतपक्तृवेगम्।
सुखान्वितं पुष्टिबलोपपन्नं
विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति॥

इति षट्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३६॥
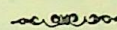
उपसंहार में हितोपदेश—सिराव्यध-विधि करते हुए शस्त्र या यन्त्र की पीडा के कारण कुपित होकर रक्ताश्रित रहते हुए वातादि दोष अपने मार्ग से च्युत होकर उन्मार्गगामी हो जाते हैं, वे जब तक अपने स्थान पर न आ जावें, तब तक रोगी को हिताहार-विहार से ही रहना चाहिए अर्थात् पथ्यसे रहते हुए उसको हितकारी आहार और विहार करना चाहिए। रक्त के निकल जाने पर अति उष्ण और अति शीत अन्न-पान हितकारी नहीं होता क्यों कि रक्तस्राव के समय रक्त और जठराग्नि की स्थिति ठीक नहीं रहती, इस लिए हितकारी आहार-विहार करते हुए शरीर का रक्षण करना चाहिए। ऐसे समय में अत्युष्ण तथा अतिशीत पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए।

विशुद्ध रक्तवाला पुरुष—जिसका वर्ण सुन्दर, इन्द्रियां प्रसन्न रहती हैं और अपने अर्थों को ग्रहण करती हैं, जिसकी पाचन-क्रिया का वेग अव्याहत (निर्विघ्न) चलता है, जो सुख से युक्त, पुष्ट और बलवान् है, उसी पुरुष को महर्षि विशुद्ध रक्त-वाला कहते हैं।

इति वाग्भटाचार्यकृताष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी-व्याख्यायां सिराव्यधविधिर्नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३६॥

## अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः।

गत अध्यायों में लोह, रक्त आदि का आहरणोपाय यन्त्र-शस्त्रादिद्वारा वर्णन किया गया परन्तु शल्याहरण-विज्ञान का वर्णन नहीं हुआ अतः आचार्य अब तद्विषयक अध्याय का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

अथातः शल्याहरणविधिनामाध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

[1] भवन्ति चात्र इत्यपि पाठः।

शल्याहरणाध्याय—अब हम यहां से जिसमें शल्य के आहरण का विधान है, उस 'शल्याहरणविधि' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया है।

त्रिविधा[1] गतिः शल्यानामूर्ध्वमधस्तिर्यक् च। सा पुनः प्रत्येकमृजुवक्रभेदेन द्विधा। तत्र ध्यामं पिडिकाचितं शोफवेदनावन्तं मुहुर्मुहुः शोणितास्राविणं बुद्बुदवदुद्गतं मृदुमांसं च व्रणं सशल्यं विद्यात्।

त्रिविध शल्यगति—शल्यों की गति तीन प्रकार की होती है जैसे कि ऊर्ध्व ( ऊंची ), अधः ( नीचे की ओर ) और तिर्यक् ( तिर्छी )। इनमें भी प्रत्येक ऊंची, नीची और तिर्छी गति में दो दो प्रकार हैं यथा—सरल और वक्र।

सशल्य व्रण की पहचान—जो व्रण ध्याम ( एक सुगन्धित तृणविशेष ) के समान आकार एवं गन्धवाला हो, जो अनेक फुन्सियों से युक्त हो, जिसमें सूजन और पीडा हो, जिसमें से वारंवार रक्त आता हो, बुद्बुद् की तरह ऊपर की ओर उठा हुआ हो और जो मृदु ( कोमल ) मांसवाला हो उसे सशल्य जानना चाहिए। सारांश, उसमें कांटा, लोह, काच आदि किसी भी प्रकार का शल्य है, यह जानना चाहिए।

विशेषतस्तु त्वग्गते शल्ये विवर्णः शोफो भवत्यायतः कठिनश्च। मांसगते शोफाभिवृद्धिः शल्यमार्गानुपसंरोहः पीडनासहिष्णुता चोषः पाकश्च। पेश्यन्तरस्थे शोफवर्जं[2]-मांसप्राप्तवत्। सिरागते सिराऽऽध्मानं शूलं च। स्नायुगे स्नावजालात्क्षेपणं[3] संरम्भश्चोग्ररुक्। स्रोतोगते स्रोतसां स्वकर्मगुणहानिः। धमनीस्थे सफेनं रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दो निर्गच्छत्यङ्गपीडा हृल्लासश्च। अस्थिगते विविधा वेदनाः शोफश्च। सन्धिगतेऽस्थिवच्चेष्टोपरोधश्च। अस्थिसन्धिगतेऽस्थिपूर्णता संघर्षो बलवांश्च। कोष्ठगते त्वाटोपानाहौ मूत्रपुरीषाहारदर्शनानि च व्रणमुखाद्भवन्ति। मर्मगते मर्मविद्धवद्व्यथायथं चोपदिष्टैः परिस्रावैस्त्वगादिषु शल्यमुपलक्षयेत्। सूक्ष्मगतिषु शल्येष्वेतान्येव लक्षणान्यविस्पष्टानि भवन्ति। शुद्धदेहानामनुलोमसन्निविष्टान्युपरुह्यन्ते। दोषप्रकोपव्य[4]धाभिघातेभ्यश्च पुनः प्रचलितानि पुनराबाधयन्ति।

त्वचागत शल्य के लक्षण—शल्य के त्वचा में जाने से चमड़ी का वर्ण विवर्णवत् हो जाता है, सूजन होती है, व्रण लम्बा और कठिन होता है।

मांसगत शल्य में—सूजन बढ़ती है किन्तु जिस मार्ग से शल्य प्रविष्ट होता है, वह जगह नहीं भरती है, दबाने पर असह्य पीडा, चोष और पाक होता है।

पेशीगत शल्य—के होने से सूजन नहीं होती परन्तु शेष सब लक्षण मांसगत शल्य के होते हैं।

सिरागत शल्य—के होने से सिरा फूल जाती है और वेदना होती है।

स्नायुगत शल्य—में स्नायुका संकोच[1] अर्थात् अवक्षेपण होता है, अत्यन्त वेगवती पीड़ा होती है। इसका उपाय भी बड़ी कठिनाई से होता है।

स्रोतोगत शल्य—के होने से स्रोत अपना कार्य नहीं कर सकते जैसे कि कण्ठगत शल्य से आहार एवं वाणी का अवरोध होता है।

धमनीगत शल्य—शब्दसहित वायुद्वारा फेनयुक्त रक्त का निकलना, शारीरिक वेदना और उबकाई ये धमनीगत शल्य के लक्षण होते हैं।

अस्थिगत शल्य—में नाना प्रकार की वेदना और शोथ होता है।

सन्धिगत शल्य—के होने से अंग-प्रसारणादि का अवरोध होता है और शेष लक्षण अस्थिगत शल्य के होते हैं अर्थात् इसमें भी नाना प्रकार की वेदना तथा सूजन होती है।

अस्थिसन्धिगत शल्य—अर्थात् हड्डियों की सन्धियों में गए हुए शल्य से अस्थिपूर्णता ( अस्थि और सन्धि इन दोनों की अस्थियों का योग[3] ) तथा अतीव व्याकुलता होती है। अस्थिसन्धि का भावार्थ यहां जानु-कूर्परादि की सन्धियों से जानना चाहिए।

कोष्ठगत शल्य—कोष्ठ अर्थात् उदरादि में शल्य के होने से आटोप और आनाह ( वेदनासहित पेट में गुडगुडाहट होना तथा आम-विष्ठामूत्र का अवरोध होकर पेट का फूलना[4] ), व्रण के मुख से मल, मूत्र एवं आहार का निकलना ये लक्षण होते हैं।

मर्मगत शल्य—में मर्मस्थान में बींधने के समान पीडा होती है।

अन्यान्य अङ्गगत शल्य—त्वचादिगत शल्यों के विषय में जैसे स्राव आदि का वर्णन किया है, उसी प्रकार विचार कर त्वचादि के अतिरिक्त अन्यान्य अंगों के शल्यका भी निश्चय करना चाहिए। सूक्ष्मगतिवाले शल्यों में भी उपर्युक्त लक्षण होते हैं परन्तु वे स्पष्ट नहीं दिखाई देते। शुद्ध शरीरवाले प्राणियों के शरीर में सीधा गया हुआ शल्य वहीं स्थित होकर भर जाता है किन्तु वही फिर सिराव्यध के करने, चोट आदिके लगने से दोष कुपित होकर बाधाकारक हो जाता है अतः वैद्य को चाहिए कि वह शल्यों का निरीक्षण और उपाय भलीभांति सोच कर करे क्यों कि सम्यक्तया विचार कर किए हुए कार्य में पुनः किसी प्रकार का भय नहीं रहता है।

तत्र त्वक्प्रनष्टे स्निग्धस्विन्नायां मृन्माषयवगोधूमगोमयचूर्णमर्दितायां त्वचि यत्र संरम्भो वेदना वा भवति यत्र वा स्त्यानं सर्पिर्निहितमाशु विलीयते प्रलेपो वा विशुष्यति तत्र शल्यं जानीयात्। मांसप्रनष्टे स्नेहा-

१. त्रिविधा हि गतिः। २. शोफवर्ज्यम्। ३. स्नावजालावक्षेपणं। ४. व्यवायव्यायामाभिघातैश्च।

१. 'अवक्षेपणं संकोचनम्' इतीन्दुः। २. 'स्नायुगे दुर्हरं चैतत्' इत्यष्टाङ्गहृदयम्। ३. 'अस्थिसन्धिर्द्वयोरस्थ्नोर्योगः' इतीन्दुः। ४. 'आटोपो गुडगुडाशब्दः प्रोक्तो जठरसम्भवः'। इति 'आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयो विबद्धं विगुणानिलेन। प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति ॥' इति माधवनिदानम्।

दिभिः क्रियाभिरातुरमुपपादयेत् । कर्शितस्य च शिथिलीभूतमनवबद्धं क्षुभ्यमाणं यत्र संरम्भं वेदनां वा जनयति तत्र शल्यम् । एवं कोष्ठास्थिपेशीविवरेष्वपि । सिरास्रोतोधमनीस्नायुप्रनष्टे खण्डचक्रं रथमश्वयुक्तमारोह्यातुरं विषमेऽध्वनि शीघ्रं नयेत् ततः संरम्भादिभिर्जानीयात् । सन्धिप्रनष्टे स्नेहस्वेदोपपन्नान् सन्धीन् प्रसारणाकुञ्चनबाधनपीडनैरुपचरन् पूर्ववदवगच्छेत् । अस्थिप्रनष्टे स्निग्धस्विन्नान्यस्थीनि बन्धनपीडनाभ्यां भृशमुपचरंस्तद्दुपलक्षयेत् । मर्मप्रनष्टेऽप्यनन्यभावान्मांसादिभ्यो मर्मणामुक्तं परीक्षणं भवति । सामान्यलक्षणं तूच्छ्रितहस्तिस्कन्धाश्वद्रुमारोहणद्रुतयानलङ्घनप्लवनव्यायामैर्जृम्भोद्गारकासक्षवथुष्ठीवनहसनप्राणायामैर्मलशुक्रोत्सर्गैर्वा यत्र संरम्भो वेदना वा भवति यत्र वा स्वल्पेऽप्यायासे स्वापो गौरवं घट्टनं शोफो वा स्यात्तत्र शल्यमादिशेत् ।

पुनः शल्यज्ञानोपाय—त्वचा को चुपड़ने, स्वेदित करने, मिट्टी-उड़द-यव-गेहूँ तथा सूखे गोबर से मर्दन करने पर जहां पर पीडा या शूल हो, जहां पर गाढा घृत लगाने से पिघल जाय, लेप किया हुआ सूख जाय तो चमड़ी के उस भाग में शल्य जानना चाहिए। मांस में प्रनष्ट शल्य के जानने की विधि यह है कि रोगी को स्नेहन-स्वेदन-वमन-विरेचनद्वारा शुद्ध करे। पंचकर्म से थके हुए रोगी के शिथिल एवं अनवबद्ध होने पर जिस जगह क्षोभ, वेग तथा वेदना का अनुभव हो उसी जगह मांस में शल्य जानना चाहिए। इसी प्रकार कोष्ठ, अस्थि, पेशी और स्रोतोगत शल्य का निश्चय करना चाहिए। सिरा, स्रोत, धमनी और स्नायु में प्रनष्ट शल्य का निश्चय इस प्रकार करे कि आतुर को खण्डित चाकवाले घोड़े के रथ में बैठाकर उसको विषम (ऊंचे-नीचे) मार्ग में जल्दी से चलावे। ऐसा करने पर जहां पर पीड़ा के वेग का अनुभव हो उसी स्थान में शल्य का निश्चय करना चाहिए। सन्धि में प्रनष्ट शल्य का निश्चय करना हो तो सन्धि में स्नेहन-स्वेदन करके फिर सन्धिस्थान के प्रसारण (पसारने), आकुंचन (सिकोड़ने), बांधने और दबाने से जहां पर पीडा हो वहीं शल्य समझना चाहिए। अस्थिप्रनष्ट शल्य में भी अस्थि का स्नेहन-स्वेदन करके फिर बांधने तथा दबाने से जहां पीड़ा हो वहीं अस्थि में शल्य जानना चाहिए। मर्मप्रनष्ट शल्य का निश्चय जैसे मांसप्रनष्ट शल्य के जानने का लिखा है उसी प्रकार जानना चाहिये।

शल्य का सामान्य परीक्षण—किसी ऊंचे स्थान पर चढ़ने, हाथी, कन्धे, घोड़े तथा वृक्ष पर चढ़ने, तेज चलनेवाले वाहन पर बैठने, कूदने, तैरने, व्यायाम करने, जम्भाई या डकार लेने, खांसने, छींकने, थूकने, हसने, प्राणायाम करने, मल-मूत्र-शुक्र विसर्जन करने पर जहां पीडा या प्रकोप का अनुभव हो, वहीं शल्य जानना चाहिए। जिसके थोड़े से परिश्रम करने पर निद्रा, गौरव, थकावट और सूजन हो जाय तो उसमें शल्य जानना चाहिए।

समासतश्चतुर्विधं शल्यं भवति वृत्तद्वित्रिचतुष्कोण-[1]भेदेन । तद्दृश्यमानं व्रणसंस्थानादनुमिमीत । सर्वशल्यानां तु महतामाहरणे द्वावेवोपायौ प्रतिलोमोऽनुलोमश्च । तत्र प्रतिलोममर्वाचीनमानयेदनुलोमं पराचीनम् । तिर्यग्गतं यतः सुखाहार्यं भवति ततश्छित्त्वोपहरेत् । प्रतिलोममनुत्तुण्डितं छेदनीयमुखं च शल्यं न निर्घातयेत् तथा कक्षावङ्क्षणोरःपर्शुकान्तरपतितानि नैव चाहरेत् विशल्यघ्नमर्मप्रविष्टं प्रनष्टं वा शोफवेदनापाकविरहितम् ।

शल्य के चार प्रकार—संक्षेप से कहें तो शल्य के चार प्रकार होते हैं यथा वृत्त, द्विकोण, त्रिकोण और चतुष्कोण। नहीं दिखाई देनेवाले शल्य का अनुमान उसके व्रणसंस्थान से कर लेना चाहिए।

शल्याहरण के दो उपाय—बड़े बड़े सब शल्यों के निकालने के दो ही उपाय हैं, एक प्रतिलोम और दूसरा अनुलोम। इन में प्रतिलोमविधि उसे कहते हैं जो कि शल्य जिस मार्ग से भीतर प्रविष्ट हुआ है, उसी मार्ग से उसे खींचकर निकालना तथा अनुलोमविधि वह है कि शल्य जिस ओर प्रविष्ट हुआ है अर्थात् शल्य का मुख जिस ओर है उसे उसी ओर से निकालना। तिर्छे शल्य का निकालना सुख से हो सकता है अतः उसे छेदन कर निकाल देना चाहिए परन्तु ध्यान रहे कि जो प्रतिलोम शल्य हो अर्थात् जिसका मुख न दिखाई देता हो और जो भीतर की ओर विशेष प्रविष्ट हुआ हो तो उसका और छेदनीयमुख शल्य का निर्घातन नहीं करना चाहिए अर्थात् उसका छेदन न करे। तथा कक्षा (कांख), वंक्षण (अण्डकोष के समीप का सन्धिभाग), छाती और पसलियों में प्रविष्ट शल्य का भी निर्घातन नहीं करना चाहिए अपि तु धीरे से युक्तिपूर्वक उसे निकालना चाहिए। जिस शल्य के आहरण करने से प्राणों की हानि होने का डर हो और न निकालने से प्राण-रक्षा होती हो तो उस शल्य को न निकालना ही ठीक है। इसी प्रकार मर्म में प्रविष्ट उस शल्य को भी निकालने का साहस नहीं करना चाहिए जो सूजन, पाक और वेदना से रहित हो।

अथ हस्तप्राप्यं शल्यं हस्तेनाहरेत् । तदशक्यं यथायथं यन्त्रेण । तथाऽप्यशक्यं शस्त्रेण विशस्य ततो निर्लोहितं व्रणं कृत्वाऽग्निघृतप्रभृतिभिः स्वेदयित्वाऽवदह्य तर्पयित्वा सर्पिर्मधुभ्यां बद्ध्वाऽऽचारिकमादिशेत् । सिरास्नाय्ववलग्नं शलाकाग्रेणाभिमोच्यापहरेत् । हृदयेऽभिवर्तमानं शल्यं शीतजलादिभिरुद्वेजितस्यापहरेद्यथामार्गं दुराहरम् । अन्यतोऽप्यवबध्यमानं पाटयित्वोपहरेत् । अस्थिविवरप्रविष्टमस्थिविदष्टं वाऽवगृह्य पद्भ्यां पुरुषं यन्त्रेणापकर्षयेत् । अशक्यमेवं वा बलवद्भिः सुगृहीतस्य यन्त्रेण वा ग्राहयित्वा शल्यं वारङ्गं प्रतिभुज्य वा धनुर्गुणैरेकतो बद्ध्वाऽन्यतश्च पञ्चाङ्ग्या सुसंयतस्याश्वस्य वक्र-

१. चतुरस्रभेदेन ।

१. वृत्तसंस्थाना । २. ततश्छित्त्वाऽपहरेत् । ३. छेदनीयं पृथु मुखं च । ४. घृतमधुप्रभृतिभिः । ५. मोच्याहरेत् । ६. प्रणष्ट । ७. कर्षेत् ।

कटके बध्नीयात् । अथैनमेवं कशया ताडयेद्यथोन्नमयन् शिरोवेगेन शल्यमुद्धरति । दृढां वा वृक्षशाखामवनम्य तस्यां पूर्ववद्बद्ध्वोद्धरेत् । दुर्बलं वाऽऽरङ्गं वा कशाभिर्बद्ध्वा ।

निकालने योग्य शल्यों को निकालने की विधि—हाथ से पकड़ में आनेवाले शल्य को हाथ से ही निकाल देना चाहिए। जो हाथ की पकड़ में न आवे और जो दिखाई देता हो तो उसे सिंहमुख, अहिमुख आदि यन्त्रों से निकालना चाहिए। सारांश, जिसके लिए जो यन्त्र उपयुक्त हो उसी से निकालना चाहिए। इस से भी यदि अशक्य हो तो फिर शस्त्र से ऊपर की चमड़ी साफ कर और व्रण को रक्त से विरहित कर के अग्नि, घृत, शहद आदि से स्वेदित कर अवदह्य ( अग्निकर्म कर ) घृत और शहद से तर्पित कर के बांध देवे और रोगी को शस्त्रक्रिया के अन्त में पालन-योग्य आचार की आज्ञा देवे। सिरा और स्नायुगत शल्य को शलाका के अग्रभाग से ठीककर निकाल लेवे। हृदय में वर्तमान शल्य को शीतल जलादि से ढीलाकर यथामार्ग अर्थात् गुरूपदिष्ट मार्ग से निकाले क्यों कि इसका निकालना कठिन होता है। यह हृदय पर लगे साधारण शल्य का विषय है जो कि उक्तविधि से निकाला जासकता है। विपरीत इसके, हृदय में लगे हुए बाण आदि के निकालते ही प्राण-नाशकी शंका होती है। इसी लिए इसे दुराहर ( बड़ी कठिनाई से निकलने वाला ) कहा है। अन्य स्थानों से भी उस शल्य को निकालने का प्रयत्न करे जो हृदयगत शल्य की तरह दुराहर हो। शल्य यदि अस्थि में या अस्थि के पोल में प्रविष्ट हो गया हो तो आतुर को पगों से ग्रहण कर अर्थात् पगों को अस्थि पर दृढ रोपकर यन्त्र से शल्य को पकड़कर हाथों से खींच कर निकाल ले। यदि इस प्रयत्न से भी शल्य न निकले तो बलवानों कर के यन्त्र से शल्य को पकड़कर यन्त्र की मूठ को धनुष की मजबूत डोरी से बांध दे और उस डोरी को उस घोड़े के मुख से बांध दे जिसके चारों पग रस्सी से दृढ बंधे हुए हों फिर उस घोड़े को एक कोड़े से ताडन करे जिससे कि उछलकर घोड़ा अपने मुख को ऊपर को उठावेगा और घोड़े के मुख में बंधी उस धनुष की डोरी के झटका लगने से शल्य भी सहसा हड्डी से निकल बाहर आजायगा। अथवा वृक्ष की मजबूत शाखा को बलपूर्वक नीची कर के पूर्ववत् यन्त्र की मूठ में बँधी हुई धनुष की डोरी को शाखा से बांध देवे। इस के अनन्तर बलपूर्वक पकड़ी हुई शाखा को छोड़ देवे। छोड़ते ही झटका लगकर अस्थिगत शल्य बाहर निकल आवेगा। यदि दुर्बल ( हलका ) शल्य ( तीर आदि ) लगा हो तो उसे कशा से बांध खींचकर निकाल देवे।

श्वयथुग्रस्तवारङ्गमुत्पीड्य श्वयथुम् । आदेशोत्तुण्डितमश्ममुद्गरप्रहारेण विचाल्य यथामार्गमेव । कर्णवत्तु यन्त्रेण विमृदितकर्णं कृत्वा नाडीयन्त्रेण वा बहुमुखेन यथास्वमुपसंगृह्य शलाकायन्त्रेणानेन वा पूर्ववदाहरेत् । अनुलोममकर्णमनल्पव्रणमुखमयस्कान्तेन । पक्वाशयगतं विरेचनेन । वातविण्मूत्रगर्भसङ्गं प्रवाहणेन । दुष्टवातविषस्तन्यास्यविषाणादिचूषणेन । कण्ठस्रोतोगते शल्ये बिसासंसक्तं शल्यं सूत्रं कण्ठे प्रवेशयेत् । अथ तद्गृहीतं विज्ञाय शल्यं सममेव सूत्रं बिसं चाक्षिपेत् । बिसाभावे मृणालेष्वयमेव विधिः । जातुषे तु कण्ठसक्ते कण्ठे नाडीं प्रवेशयेत्तथा चाग्नितप्तां सूक्ष्ममुखीं शलाकाम् । अथ तां गृहीतशल्यां शीताभिरद्भिः परिषिच्य स्थिरीभूतामाहरेत् । अजातुषेऽप्येवमेव तप्तां जतुमधूच्छिष्टान्यतरप्रदिग्धां शलाकाम् । मत्स्यकण्टकमन्यद्वा तादृगस्थिशल्यं कण्ठेऽवलग्नं सूत्रेण सूत्रप्रोतेन वा वेष्टितयाऽङ्गुल्याऽपहरेत् । अथवा केशोन्दुकं दृढदीर्घसूत्रबद्धं द्रवोपहितं पाययेद्वामयेच्च । वमतश्च शल्यैकदेशसक्तं सूत्रं सहसैवाक्षिपेत् । मृदुना वा दन्तधवकूर्चेनावनाम्याभिहरेत् । प्रणतो वा प्रणुदेत् । बालोण्डे विलग्ने तद्वत्कण्टकम् । क्षतकण्ठश्च त्रिफलाचूर्णं मधुघृतसितोपेतमनुकण्ठयन् लिह्यात् ।

श्वयथुगत शल्य—यदि सूजन की जगह वारङ्ग ( लोहकील या शल्य ) प्रविष्ट हुआ हो तो सूजन को दबाकर उसे निकाल लेना चाहिए।

उत्तुण्डित शल्य—अर्थात् ऊपर की ओर उठे हुए दिखाई देनेवाले शल्य को अश्ममुद्गर ( पत्थर के मुद्गर ) से निर्घातन कर विचलित करके जिस मार्ग से प्रविष्ट हुआ है उसी मार्ग से नाडीयन्त्र द्वारा निकाल लेवे।

कर्णिकायुक्त शल्य—अर्थात् जिस शल्य में कर्ण ( किनारे ) हों तो यंत्र से किनारे मसलकर नाडीयन्त्र से निकाले। यदि शल्य बहुकर्णिक ( कई किनारोंवाला ) हो तो बहुमुख नाडीयन्त्र के मुखों में किनारों को फँसाकर इस शलाकाकार नाडीयन्त्र से पूर्ववत् किनारों को मृदित कर निकाल लेवे।

अनुलोम अकर्णादि शल्य—जो शल्य सीधा, किनारे से रहित, फटे हुए मुख के व्रणवाला हो तो उसे अयस्कान्त अर्थात् चुम्बक लौह द्वारा निकाले।

पक्वाशयगत शल्य—हो तो उसे विरेचन देकर निकालना चाहिए।

वातविण्मूत्रगर्भसङ्गशल्य—वात ( अपान वायु ), विष्ठा और मूत्र-गर्भसङ्ग शल्यका निर्हरण प्रवाहण ( कुन्थन कांखना आदि ) द्वारा करे।

दुष्टवातविषस्तन्य शल्य—यदि शरीर में दुष्टवात के रूप से, विषरूप से या स्तन्यरूप से शल्य हो तो उसका निर्हरण सिंगी या मुख से चूसकर करे।

कण्ठस्रोतोगत शल्य—यदि कण्ठस्रोतोगत शल्य हो तो बिस ( कमल-नालतन्तु ) के साथ सूत कण्ठ में डाले। जब जाने कि शल्य कमल-नालतन्तु तथा सूत में अटक गया है तब झटपट कमल-नालतन्तु सह सूत को खींच ले। इस विधि से शल्य बाहर आ जायगा। बिस के अभाव में मृणाल से भी यह क्रिया हो सकती है।

---

१. तु इ० पा०। २. यन्त्रेणान्येन।

१. स्तन्यान्यास्यविषाणचूषणेन। २. तु शुल्ये। ३. बिसं संसक्तं। ४ मृणालेऽप्ययमेव। ५. प्रतप्ताम्। ६. कण्ठलग्नम्। ७. कूर्चेनापहरेत्। ८. परतो वा। ९. बालोण्डुके।

लाख का शल्य—यदि कण्ठ में लाख का शल्य अटक जाय तो प्रथम कण्ठ में नाडीयन्त्रको प्रविष्ट करे। इस के अनन्तर सूक्ष्ममुखवाली अग्नि से तपाई हुई शलाका कण्ठ में डाले। यह जाननेपर कि शलाकाने शल्यको पकड़ लिया है, तब ठण्डे जल से शलाका का सिंचन कर स्थिर हुई उस शलाका को खींच कर शल्य निकाल ले। लाख के अतिरिक्त अन्य शल्यों के होनेपर भी इसी प्रकार तपाई हुई शलाकापर लाख, और मोम लगाकर, या इन में से किसी एक का लेपकर कण्ठ में डाल उस के द्वारा शल्य को निकाल ले।

मत्स्यकण्टकादि शल्य—यदि मछली का कांटा आदि अर्थात् वसा ही कोई अन्य अस्थिशल्य कण्ठ में अटक जाय तो सूत से लपेटी हुई या सूती कपड़े-फाहे से लपेटी हुई अंगुली द्वारा उस को निकाल डाले। अथवा बालों का गुच्छा बनाकर उसे सूत से लपेट द्रवपदार्थ-सहित पिला देवे और फिर वमन करावे। वमन करते हुए समय में शल्य के किसी भाग में अटके सूत को खींच लेवे। उस सूत के साथ अवश्य शल्य निकल आवेगा। अथवा नरम दतौन की कूंची द्वारा शल्य का हरण करे। अथवा इस नरम दतौन की कूंची द्वारा वमन की चेष्टा करे और वमन के द्वारा बाहर आए हुए बालों के गुच्छे में अटके हुए शल्य को निकाल लेवे जिस प्रकार पहले मत्स्यकण्टक के निकालने का विधान कहा है।

क्षतकण्ठ का उपाय—यदि कण्ठ में क्षत पड़ जाय अर्थात् कण्ठ छिल जाय तो त्रिफला (हरड़, बहेड़ा और आमला) का चूर्ण शहद, घृत और मिश्री मिला हुआ इस प्रकार चाटे कि वह कुछ समय कण्ठ में रहकर फिर निगला जावे।

अपां पूर्णं पुरुषमवाक्शिरसमवपीडयेद्धुनुयाद्वामयेच्च भस्मराशौ वा निखन्यादामुखात्। अन्यथा ह्युन्मार्गगाभिरद्भिराध्मानकासश्वासपीनसेन्द्रियोपघातज्वरादयः श्लेष्मविकारा मृत्युश्च। तत्र यथास्वं प्रतिकुर्यात्।

डूबनेपर पेट में पानी भरजाय तो—किसी मनुष्य के किसी कारणवश जल में डूबने से उसके पेट में पानी भरजाता है। उस के न निकालने से अनेक प्रकार के रोग एवं मृत्यु तक हो जाती है। इस लिए जिस के पेट में पानी भरगया है उस को सिर तथा मुख की ओरसे उलटा लटका कर उस की पीठ और पेट को दबावे तथा धूनन करे अर्थात् भली भांति हिलावे-हिलाकर वमन करावे। सारांश, इस प्रकार उल्टा लटका कर हिलाने से वमन होकर पेटका सब पानी मुख के द्वारा बाहर निकल जाता है। रोगी होश में आकर बच जाता है। अथवा गड्ढा खोदकर उस में सूखी राखभर उसमें कण्ठतक रोगी को पूर दे। तात्पर्य यह कि कण्ठ से ऊपर का मुखवाला भाग खुला रहने दे ताकि सुख से श्वासोच्छ्वास ले सके। इस विधिसे भी पेट में भरा हुआ पानी निकल कर वह राख में आ जाता है और रोगी बच जाता है।

जल में डूबनेवाले प्राणीका इस प्रकार उपचार नहीं किया जायगा तो उस के पेट में भरा हुआ जल उन्मार्गगामी होकर आध्मान, कास, श्वास, पीनस, इन्द्रियोपघात (इन्द्रियों के कर्म करने में अवरोध) और ज्वर आदि रोगों को उत्पन्न करता है। इतना ही नहीं, इस से नाना प्रकार के कफविकार पैदा होकर मृत्युतक हो जाती है। यदि इन रोगों की उत्पत्ति हो जाय तो उन उन रोगों का समुचित उपाय करना चाहिए।

वक्तव्य—जल में डूबनेवाले की चिकित्सा आधुनिक रीत्या इस प्रकार होती है—जल से बाहर निकालते ही उस के कपड़े (विशेषतः छाती और गले के) उतार लिए जाते हैं। इस के बाद उसे भूमिपर उल्टा लिटाकर कृत्रिम श्वास-क्रिया (Artificial respiration) की जाती है। यह आध घण्टे से लेकर घण्टों तक क्रिया की जाती है। उस के मुख को साफ किया जाता है। पास में गरम जल की बोतलें रखी जाती हैं। शरीर पर घर्षण किया जाता है। नाकके पास सूंघने के लिए तीव्र गन्धवाला अमोनिया रखा जाता है और कुचले के सत्त्व (Strychine) जैसे हृदयोत्तेजक ओषधिकी सुई लगाई जाती है। पुनः श्वास की प्रवृत्ति होनेपर उस को गरम कपड़ों में लपेटकर पीठके बल सुलाया जाता है। पूर्ण चेतना आनेपर उसको गरम पेय, मद्य आदि पिलाया जाता है। यदि फिर भी श्वासक्रिया बन्द हो जाती है तो लाबोर्डेकी (Labordes method) कृत्रिम श्वासक्रियाका प्रयोग किया जाता है। होश में आने पर न्यूमोनिया (श्वसनक ज्वर) आदि न हो जाय इसलिए उसे पथ्य से रक्खा जाता है। कृत्रिम श्वसनक्रिया की कई विधियां प्रचलित हैं जो कि जलनिमज्जन, पाशबद्धता, धूमोपहततादि से प्राणावरोध (Asphysia) की अवस्थाओं में प्रयुक्त की जाती हैं। इन सबमें शेफर की विधि (Schafers method) उत्तम एवं सरल मानी जाती है। जल में डूबे हुए के लिए सिल्वेस्टर की विधि अच्छी नहीं मानी जाती। ग्रन्थविस्तर-भय से हम विशेष लिखना नहीं चाहते। इच्छा हो तो पाठक श्रीयुत घाणेकर कृत सुश्रुतसंहिता का अनुवाद देखें।

ग्रासशल्यमम्बुना प्रवेशयेत् स्कन्धे वा मुष्टिनाऽभिहन्यात्। कण्ठस्थं श्लेष्माणमन्नलवं वा प्रधमनोत्काशनावकाशनैर्निर्वमेत्[1]। सूक्ष्ममक्षिशल्यं लेखनोपधमन[2]-बालजलवस्त्रजिह्वाभिरपनयेत्। तथा निर्भुज्य वर्त्म-वर्त्मगतमपनीय चोष्णाम्बुबाष्पस्वेदं समधुमधुककाथेन सर्पिषा च परिषेकं कुर्यात्। स्वयमपि च शल्यमश्रुक्षवथुकासोद्गारसूत्रपुरीषानिलैर्नयनादिभ्योऽङ्गावयवेभ्यः पतति। कीटे कर्णस्रोतःप्रविष्टे तोदो गौरवं भरभरायणं च भवति स्पन्दमाने चाभ्यधिकं वेदना। तत्र सलवणेनाम्बुना मधुसुक्तेन मद्येन वा सुखोष्णेन पूरणम्। निर्गते च कीटे तदुत्सर्जनम्। तत्रैव तु मृते पाककोथक्लेदा भवन्ति। तेषु कर्णस्रावोक्तं कुर्यात्प्रतिनाहोक्तं च। तोयपूर्णं कर्णं हस्तोन्मथितेन तैलाम्बुना पूरयेत् पार्श्वावनतं वा कृत्वा हस्तेनाहन्यान्नाड्या वा चूषेदिति[3]।

ग्रासशल्योपाय—यदि भोजन करते समय कण्ठ में ग्रास अटक जाय तो जल पीकर उसे भीतर पेट की ओर प्रविष्ट करे अथवा कन्धों पर मुष्टिप्रहार करे ताकि कण्ठ में अटका हुआ ग्रास पेट की ओर चला जाय। सुश्रुत में लिखा है कि रोगी को न जताते हुए कन्धे पर निश्शङ्क मुष्टिप्रहार करे अथवा उसे स्नेह, मद्य या जल पिलावे।

१. प्रधमनोत्कसनापकसनैर्निर्धमेत्। २. लेखनप्रधमनः। ३. वा चूषयेदिति।

कंठस्थ कफादि—कण्ठ में अटके हुए कफ तथा अन्न के अंश को प्रधमन, उत्कसन और अवकसन ( बाहर की ओर तथा भीतर की ओर ) करके निकाल देना चाहिए।

सूक्ष्माक्षिशल्य—आंख में सूचम शल्य के पड़ने पर उसे लेखन, उपधमन, बाल, भीगे हुए वस्त्र या जीभ से निकाले।

वर्त्मगत शल्य—हो तो वर्त्म को मोड़कर निकाल ले और शल्य निकालने के बाद उष्ण जल के बफारे से स्वेदित कर मुलेठी के कषाय में शहद मिलाकर तथा घृत से परिषेक करे।

शल्य का स्वयं निकलना—सूच्म शल्य कभी-कभी आंसू, छींक, खांसी, डकार, मूत्र, पुरीष, अपान वायु द्वारा एवं आंख आदि शरीर के अवयवों द्वारा स्वयं निकल जाता है।

कर्णस्रोत में कीट पड़ जाय तो—कान में टोंचने की सी पीड़ा, भारीपन तथा भनभनाहट का शब्द होता है। कीट के इधर-उधर स्पन्दन करने से अधिक वेदना होती है अतः नमक मिला उष्ण जल से या मुलेठीयुक्त सुखोष्ण मद्य से कान को पूरण करे अर्थात् कान में कदुष्ण नमकीन जल या उपर्युक्त मद्य डाले। इस प्रकार कीट के ऊपर आने पर उसे निकाल कर फेंक देना चाहिए। कीट के कान में ही मर जाने से पाक ( कान का पकना ), सड़ना तथा उसमें क्लेद ( पूय ) हो जाता है। ऐसी अवस्था में कर्णस्राव रोग में कही हुई चिकित्सा करनी चाहिए। अथवा प्रतिनाह में कही हुई चिकित्सा करनी चाहिए।

कान में जल भर जाय तो—हाथ से मथित जल और तेल कान में डाले अथवा एक पसवाड़े से झुककर हाथ से ताड़न करे या नाडीयन्त्र से चूसकर निकाल देना चाहिए।

भवन्ति चात्र—

जातुषं हेमरूप्यादिधातुजं च चिरस्थितम्।
ऊष्मणा प्रायशः शल्यं देहजेन विलीयते ॥
विषाणवेणुदार्वस्थिदन्तवालोपलानि तु।
शल्यानि न विशीर्यन्ते शरीरे मृन्मयानि च॥
विषाणवेण्वयस्तालदारुशल्यं चिरादपि।
प्रायो निर्भुज्यते तद्धि पचत्याशु पलासृजी ॥
शल्ये मांसावगाढे चेत्स देशो न विद्यते।
ततस्तन्मर्दनस्वेदशुद्धिकर्षणबृंहणैः ॥
तीक्ष्णोपनाहपानान्नघनशस्त्रपदाङ्कनैः।
पाचयित्वा हरेच्छल्यं पाटनैषणपीडनैः ॥
शल्यप्रदेशयन्त्राणामवेक्ष्य बहुरूपताम्।
तैस्तैरुपायैर्मतिमान् शल्यं विद्यात्तथाहरेत् ॥
व्रणे प्रसन्ने प्रान्तेपु नातिस्पर्शासहिष्णुषु।
अल्पे शोफे च तापे च निःशल्यमिति निर्दिशेत्॥
काय एव परं शल्यं निजदोषमलाविलः।
शल्यशल्यं शराद्यं तु विशेषात्तेन चिन्त्यते ॥

इति शल्याहरणविधिर्नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः॥

देहोष्मासे लीन होनेवाले शल्य—लाख, सुवर्ण, रूप्यादि धातुशल्य यदि शरीर में चिरकाल तक रह जावें तो वे शरीर की गरमी से प्रायः विलीन हो जाते हैं अर्थात् गल जाते हैं।

शरीर में विलीन न होनेवाले शल्य—मिट्टी, बांस, लकड़ी, सींग, अस्थि, दांत, बाल और पत्थर इनके शल्य शरीर की गरमी से देह में विलीन नहीं होते हैं इसी प्रकार मिट्टी की पक्की ठीकरी आदि का शल्य भी शरीर में चिरकाल तक रहकर भी विलीन नहीं होता।

विषाणादि शल्यों का शरीर में कार्य—श्रृंग, बांस, लोह, ताल, लकड़ीरूपी शल्य चिरकाल तक शरीर में बने रहते हैं, उस में लीन नहीं होते अपि तु अलग रहते हुए मांस और रक्त को पकाते हैं। सारांश, इन धातुओं का पाक कर के आप उनसे अलग हो जाते हैं।

मांसगत शल्य का निर्हरण—मांस में शल्य होने से वह स्थान नहीं पकता है अर्थात् पता नहीं लगता कि शल्य मांस में किस जगह है। इस लिए वैद्य को चाहिए कि वह शल्य की जगह मर्दन और स्वेदन करे, वमन-विरेचन देकर संशोधन करे। कर्षण और बृंहण करे। तीक्ष्ण द्रव्यों का उपनाह स्वेद देवे, तीक्ष्ण ही अन्न-पान करावे तथा शल्य के स्थान में शस्त्र से चिह्न करे। इस प्रकार पाचन कर पाटन, एषण और पीडन द्वारा शल्य को निकाल देवे।

शल्य की जगह एवं यन्त्रों के अनेक प्रकारों को देखते हुए उन के अनुरूप उन उन उपायों को कर के बुद्धिमान् वैद्य को चाहिए कि वह शल्य को भलीभांति जाने और निकाले।

निःशल्य व्रण की पहिचान—जो व्रण निर्मल हो, अंकुरित हो गया हो, बारंबार स्पर्श करने पर भी असहनीय न हो, जिस में सूजन और ताप अल्प हो गया हो तो जान लेना चाहिए कि व्रण निःशल्य है अर्थात् इस में अब शल्य नहीं है।

शरीर ही शल्य है—यद्यपि शल्यों में बाण आदि शल्य हैं परन्तु इस से भी परम चिन्तनीय शल्य काय अर्थात् शरीर है जब कि यह निज दोष तथा मलों से आविल ( मलिन एवं दूषित ) है। भावार्थ यह है कि समस्त धर्मों का आदि साधन शरीर ही है[1] अतः मनुष्य को चाहिए कि वह विशुद्ध आहार-विहारादि द्वारा शरीर का सर्वथा संरक्षण करता रहे।

इति वाग्भटाचार्यकृतावष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दी-व्याख्यायां शल्याहरणविधिर्नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः॥ ३७॥

# अथाष्टत्रिंशोऽध्यायः।

अथातः शस्त्रकर्मविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

शस्त्रकर्माध्याय—अब यहां से हम जिसमें शस्त्रकर्म-विधि बतलाई जायगी, उस 'शस्त्रकर्म-विधि, नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया।

द्विविधेऽपि हि व्याधावुपायापेक्षे निजआगन्तौ वा भेषजविषयातीते शस्त्रकर्म प्रयुज्यते। स चामयः प्रायेण

१. 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' इति महाकविकालिदासः।

श्वयथुपूर्वको भवति। अतः शोफावस्थस्यैव वातकफपित्तरक्तसंसर्गसन्निपातात्मकतामुपलक्ष्य पाकभयाद्यथास्वमुपवासलेपसेकासृङ्मोक्षकषायघृतपानशोधनानि प्रयुञ्जीत। तथाऽप्यनुपशाम्यति प्रविलयनम्। अविलीयमाने चोपनाहनम्।

शस्त्रप्रयोगकी आवश्यकता—निज (शारीर) और आगन्तुक ये दोनों प्रकार की व्याधिएं उपाय की अपेक्षा रखती हैं। नाना भेषजों (ओषधियों) से इन का उपचार किया जाता है परन्तु ओषधियों के प्रयुक्त करनेपर भी साध्य न होने से ओषधियों के अनन्तर शस्त्रकर्म का प्रयोग किया जाता है। इसी उद्देश को सामने रखकर शस्त्रकर्मविधि नामक अध्याय का वर्णन करना क्रमप्राप्त होने से किया जाता है।

रोग प्रायः शोथपूर्वक होता है। अतः सूजन की अवस्था में ही वात, कफ, पित्त, रक्त का संसर्ग, सन्निपातात्मकता इन सब का भली भांति विचार कर सूजन पक न जाय इस भय से उपवास, लेप, सेक, रक्तमोक्षण, कषाय और घृत का पान तथा वमन-विरेचनादि संशोधन का प्रयोग करना चाहिए। इन उपायों से भी कदाचित् उपशम न हो तो रक्त का विलयन करना चाहिए। विलयन भी न हो तो फिर उपनाह-संज्ञक स्वेद का प्रयोग करना चाहिए। इस लिए कि दोषों का भलीभांति से पाक हो जाय। एतदर्थ वैद्यको चाहिए कि वह शोथ के आम, पच्यमान तथा पक्कलक्षणों को भली भांति जान ले। इसी लिए आचार्य प्रतुस्त वर्णन करते हैं।

तत्र शोफस्याऽमलक्षणमल्पता चाल्पोष्मरुजत्वं त्वक्सवर्णता स्थैर्यं च। पच्यमानस्तु विवर्णो बस्तिरिवाततः संरम्भशूलरागदाहोषारुचितृष्णाज्वरारतिस्पर्शासहत्वानिद्रतासमन्वितो विष्यन्दयति सर्पिः शोषयति प्रदेहं सर्षपकल्कोपलिप्त इव चिमिचिमायते पिपीलिकाभिरिव संसर्प्यते पीड्यत इव पाणिना घट्यत इवाङ्गुल्या ताड्यत इव दण्डेन तुद्यत इव सूचीभिर्भिद्यत इव शक्तिभिश्छिद्यत इव शस्त्रेण दश्यत इव वृश्चिकैर्दह्यत इवाग्निक्षाराभ्यां मथ्यत इवोल्मुकेन। पक्के तु गतवेगत्वं प्रम्लानता त्वक्शिथिलता वलीप्रादुर्भावः पाण्डुता मध्योन्नतताङ्गुल्यवपीडितमुक्ते प्रत्युन्नमनं बस्ताविवोदकस्य पूयस्य संचरणं कण्डूः संरम्भशूलाद्युपशमश्च।

आमशोथके लक्षण—सूजन कच्ची रहने से शोथ की अल्पता, उष्णता और पीडा की भी अल्पता, त्वचा के समान वर्ण एवं स्थिरता ये लक्षण होते हैं।

पच्यमान शोथ के लक्षण—चमड़ी की विवर्णता, बस्ति की तरह फुलावट, अतिवेग-अतिपीडा-अतिललाई-अतिदाह-ओष-अरुचि-तृष्णा-ज्वर-बेकली-स्पर्शका न सहना-नींद का न लगना ये लक्षण होते हैं तथा शोथपर गाढे घीका पिघल जाना, लेपका जल्दी सूख जाना, सरसों के कल्क के लेप की तरह चिमचिमाहट, चींटी की तरह भीतर चलती हुई प्रतीति होना, हाथ की तरह दबाने कीसी पीड़ा, अंगुली के खोंचने कीसी, डण्डे से मारने कीसी, सुई से टोंचने कीसी, शक्ति से तोड़ने कीसी, शस्त्र से काटने कीसी, बिच्छू के डसने कीसी, अग्नि एवं क्षार से जलने कीसी तथा जलते हुए अंगारे (उल्मुक) से मथने कीसी पीडा होना ये सब लक्षण पच्यमान शोथ के होते हैं।

पक्क शोथ के लक्षण—शोथ की वृद्धि का वेग पूर्ववत् न रहना अर्थात् उस से अधिक सूजन का न होना, चमड़ी या व्रण का रंग मलिन हो जाना, चमड़ी का ढीला होना, वली (झुर्रियां) पड़ना, पीतता, मध्यभाग में उन्नतता, अंगुली से दबाकर छोड़ने से गहराई का पुनः भर जाना, बस्ति में के पानी की तरह पूय का संचार होना, खाज आना, वेग तथा पीडा का शमन हो जाना ये पक्क आम के लक्षण होते हैं।

शूलं नर्तेऽनिलाद्दाहः पित्ताच्छोफः कफोदयात्[2] ।
रागो रक्ताच्च पाकः स्यादतो दोषैः सशोणितैः ॥

शोथपाक में सर्वदोषता—प्रथम सूजन हो कर फिर पाक होता है। यह कार्य सब दोषों के मिलने से होता है अतः कहा है कि व्रणशोथ में विना वायु के शूल अर्थात् पीडा नहीं होती, विना पित्त के दाह (जलन) नहीं होता, कफ के उदय के बिना सूजन नहीं होती और रक्त के विना राग अर्थात् ललाई नहीं आती। इस से सिद्ध हुआ कि यह सब कुछ रक्त को साथ में लिए हुए वातादि तीनों दोषों से ही होता है। फिर भी शोथ में कफ का प्राधान्य होता है और इसी लिए कफ के प्राधान्यदर्शनार्थ उस के साथ उदय शब्द का ग्रहण किया गया है।

पाकेऽतिवृत्ते सुषिरस्तनुत्वग्दोषभक्षितः[3] ।
वलीभिराचितः श्यावः शीर्यमाणतनूरुहः ॥

व्रणपाक के बाद उपेक्षा का फल—व्रण के पक जाने के बाद यदि विलम्ब किया जाता है या उपेक्षा की जाती है तो व्रण की जगह पोली हो जाती है, पतली त्वचा को दोष (पूय) खा जाता है, ऊपरसे वली (झुर्रियां) पड़ती हैं, काला वर्ण होता और वहां के बाल सब झड़ जाते हैं। इस लिए वैद्य को चाहिए कि वह व्रण पकने के बाद उसे यों ही छोड़कर उपेक्षा न करे।

कफजेषु तु शोफेषु केषुचिद्गम्भीरत्वाद्रक्तमेव विपच्यते। ततश्चास्पष्टं पक्कलिङ्गं भवति। यत्र हि त्वक्सावर्ण्यं शीतशोफताऽल्परुजताऽश्मवच्च घनता न तत्र मोहमुपेयात्तं रक्तपाकमित्याचक्षते।

रक्तपाक और उस के लक्षण—कभी कभी देखा जाता है कि कफ से उत्पन्न हुए शोथों में गम्भीरता के कारण नीचे रहा हुआ रक्त ही पकता है अर्थात् व्रणशोथ का पाक नहीं होता। वहां पकने का चिह्न अस्पष्ट रहता है। रक्तपाक की पहिचान यह है कि जहां त्वचा के समान वर्ण हो, सूजन पर स्पर्श करने पर शीतता प्रतीत होती हो, अल्प पीडा हो और

१. उल्मुकं ज्वलदङ्गारे' इति हारावलिकोषः। २. 'शोफः कफादिति वक्तव्य उदयग्रहणं विशेषद्योतनार्थम्' इत्यरुणदत्तः। ३. 'दोषभक्षितः पूयवान्। दोषशब्देनेह पूय उच्यते, तेन भक्षितत्वात्सुषिरत्वं तनुत्वक्त्वम्, इत्यप्यरुणः।

वह जगह पत्थर के समान घन ( कड़ी ) हो तो वैद्य को मोह को प्राप्त नहीं होना चाहिए अर्थात् उसे पक्वशोथ न समझना चाहिए। इस लिए कि उसको रक्तपाक कहते हैं।

अथैनं सम्यक् पक्वमवधार्य भीरुवृद्धबालदुर्बलक्लीबक्षीणगर्भिणीविषार्दितशस्त्राक्षमेषु पाकोद्धतदोषेषु च पीडितेषु[1] सन्धिमर्माश्रितेष्वल्पेषु वा शोफेषु तीक्ष्णोष्णद्रव्यैर्दारणं कुर्वीत। इतरेषु पाटनम्। आमपाटने सिरास्नायुव्यापादनं शोणितातिप्रवृत्तिर्वेदनाभिवृद्धिरवदरणं क्षतविसर्पो वा स्यात्। भवन्ति चात्र—

तिष्ठन्नन्तः[2] पुनः पूयः सिरास्नाय्वसृगामिषम् ।
विवृद्धो दहति क्षिप्रं तृणोलपमिवानलः ॥
यच्छिनत्त्याममज्ञानाद्यश्च पक्वमुपेक्षते ।
श्वपचाविव विज्ञेयौ तावनिश्चितकारिणौ ॥
प्राक् शस्त्राद्भोजयेदिष्टं मद्यं तीक्ष्णं च पाययेत् ।
न मूर्च्छत्यन्नसंयोगान्मत्तः शस्त्रं न बुध्यते ॥
अन्यत्र मूढगर्भोदराश्मरीमुखरोगेभ्यः ।

व्रणशोथका दारण और पाटन—भली भांति यह जानकर कि व्रणशोथ पक गया है तो डरपोक, वृद्ध, बालक, दुर्बल, नपुंसक, क्षीण ( रसरक्तादिधातुक्षीण ), गर्भिणी, विष से पीडित और जो शस्त्र को न सह सकते हों, पाक के द्वारा समुद्धत दोषों से पीडित तथा सन्धिमर्माश्रित अल्पशोथों में वैद्य को चाहिए कि वह तीक्ष्ण और उष्ण द्रव्यों के लेपद्वारा शोथ का दारण करे अर्थात् सूजन में मुँह पैदा करे। यहां 'तीक्ष्णोष्ण द्रव्य व्रणप्रतिषेधोक्त—गूगल, अलसी, गोदन्त, स्वर्णक्षीरी (कंकुष्ठ), कबूतर की बीट, क्षार ओषधियां और क्षार पक्वशोथविदारणार्थ लेने चाहिए'। उपर्युक्त सब में दारण ( शोथ में तीक्ष्णोष्ण द्रव्यों से मुख करना ) चाहिए। इन के अतिरिक्त पाटनकर्म ( शस्त्र द्वारा चीरफाड़ ) करना चाहिए।

अपक्वशोथपाटन का निषेध—अपक्व सूजन में चीर-फाड़ नहीं करना चाहिए क्यों कि कच्ची सूजन की चीरफाड़ से सिरास्नायु कट जाते हैं अर्थात् सिरा-स्नायु के कटने से मरण का भय होता है। इतना ही नहीं, रक्त की अतिप्रवृत्ति, पीडा की वृद्धि, त्वचा का फटना तथा क्षत से विसर्प रोग का होना निश्चित होता है। इस के अतिरिक्त आमपाटन से भीतर पूय रहकर बढ़कर फिर सिरा, स्नायु, रक्त और मांस को इस प्रकार जला देता है जैसे कि अग्नि उलप ( तृण के गुल्म ) को जलाता है।

आमोच्छेदक तथा पक्वोपेक्षक की निन्दा—अज्ञान से जो अपक्व का पाटन करता है और जो पके हुए शोथ की उपेक्षा कर उस की चीरफाड़ नहीं करता है, इन दोनों अनिश्चितकारियों को चाण्डाल की तरह समझना चाहिए।

शस्त्रकर्म से प्रथम भोजनादि का निर्देश—वैद्य को चाहिए कि वह शस्त्रकर्म करने से पहले रोगी को इष्ट भोजन करावे और तेज मद्य पिलावे। इस लिए कि अन्न के संयोग से रोगी शस्त्रकर्म में मूर्च्छित नहीं होता और मद्य से मतवाला शस्त्रपात को कुछ भी नहीं समझता।

परन्तु यह शस्त्रपाटनक्रिया मूढगर्भ, उदर, अश्मरी और मुखरोग को छोड़कर करनी चाहिये।

अथोपहृतयन्त्रशस्त्रक्षाराग्निजाम्बवौष्ठपिचुप्लोत पत्रसूत्रचर्मपट्टमधुस्नेहकषायालेपकल्कसेकोदकुम्भी[1]शीतोष्णोदककटाहव्यजनादिव्रणोपयोगि सर्वोपकरणमास्तृतशयनीयमुपस्थित[2]स्नेहवलवदवलम्बकपुरुषमिष्टेऽहनि मुहूर्ते च दध्यक्षतान्नपानरुक्मरत्नार्चितविप्रं प्रणतेष्टदेवतं[3] भुक्तवन्तमातुरं प्राङ्मुखमुपवेश्य संवेश्य च यन्त्रयित्वा प्रत्यङ्मुखो वैद्यो मर्मसिरास्नायुसन्ध्यस्थिधमनीः परिहरन्ननुलोमं शस्त्रं निदध्यादापूयदर्शनात्सकृदेवाहरेच्छ्लक्ष्णमाशु च। महत्स्वपि च पाकेषु द्व्यङ्गुलं शस्त्रपदमुक्तं, द्व्यङ्गुलान्तरं त्र्यङ्गुलान्तरं वाऽभिसमीक्ष्य विवृते प्रदेशे वामप्रदेशिन्यान्वेषित्वा[4] नातिविवृते गम्भीरे मांसले चैषिण्या विपरीते करीरादिनालेनातिसंवृते सूकरवालेन।[5]

शस्त्रक्रिया की सामान्यविधि—वैद्य को चाहिये कि वह पहले यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, जाम्बवौष्ठ, पिचु ( रुई का फाया ), प्लोत ( पोंछने के लिये कपड़ा ), पत्र ( वृक्षों के पत्र ), सूत, चर्मपट्ट, शहद, घृत, तैलादिस्नेह, कषाय, लेप, कल्क, सेक, जल की घड़िया, ठण्डे और गरम पानी के कटाह ( कड़ाही ) और पंखा आदि व्रण के उपयोग में आनेवाले उपकरणों को अपने पास में रख ले। इनके अतिरिक्त बिछौना, सोने-बैठने के लिये खटिया, मन के अनुकूल सहायक पुरुष इन सब की व्यवस्था करके शुभ दिन या शुभ सुमुहूर्त में दधि-अक्षत-अन्न-पान-सुवर्ण-रत्नादि से ब्राह्मण की पूजा करनेवाले, इष्टदेवता को प्रणाम किए हुए, भोजन किए हुए रोगी को पूर्वाभिमुख भली-भांति बिठाकर या सुलाकर सुयन्त्रितकर ( शस्त्रकर्म की जगह से ऊपर की ओर बांधकर ) पश्चिम की ओर मुख करके बैठा हुआ वैद्य मर्म, सिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि और धमनी को बचाकर सीधा जब तक पूय के दर्शन हो शीघ्र ही एक वार शस्त्रपात करके शीघ्र ही निकाल लेवे।

शस्त्रपद का प्रमाण—बड़े पक्व शोथ में भी शस्त्रपद का प्रमाण दो अंगुल का कहा है। दो अंगुल या तीन अंगुलके अन्दर से बड़े व्रण में शस्त्रपद ( शस्त्र के चिह्न ) बाँयें हाथ की तर्जनी अंगुली से देखकर करने चाहिये। सारांश यह है कि विस्तृत क्षेत्रवाले व्रणशोथ में एक बारके शस्त्रपात से पूरा पूय न निकले तो दो-दो या तीन-तीन अंगुलके अन्तर से शस्त्र से छेद करके पूय को निकाल लेवे। यदि व्रण अतिविस्तृत न हो, किन्तु गम्भीर ( गहरा ) और मांसल ( अधिक मांसवाला ) हो तो

---

१. पिण्डितेषु इ० पा०। २. तिष्ठन् पक्वे इ० पा०। ३. व्रणप्रतिषेधोद्दिष्टैर्दारणद्रव्यैर्यथा—'गुग्गुल्वतसिगोदन्तस्वर्णक्षीरीकपोतविट्। क्षारौषधानि क्षाराश्च पक्वशोफविदारणम्॥' इति। ४. दारणं-क्षारादिना द्वारकरणं पाटनं-शस्त्रेण। इति हेमाद्रिः। ५. 'तृणोलपं—तृणगुल्मम्' इति हेमाद्रिः।

१. कुम्भ। २. माश्रित। ३. प्रणतेष्टदेवतं कृतमङ्गलाचरणं। ४. प्रदेशिन्यैषित्वा। ५. सूकरवालेन वा। ६. 'असंमोहस्तत्कालोचितकार्यकरणे। सम्यक्प्रवृत्तिः, इत्यरुणः।

पहले सलाई, अंगुली से अन्वेषण कर लेवे। इससे विपरीत में करीरादिनाल ( कमलनाल ) से तथा अति ढके हुए ( न दिखाई देनेवाले ) व्रण में शूकर के बाल से निरीक्षण कर ले अर्थात् व्रण की पोल कितनी गहरी है, यह देखकर फिर देश और आशय के अनुकूल छेद करे।

यतो गतां गतिं विद्यादुत्सङ्गो यत्र यत्र च ।
तत्र तत्र व्रणं कुर्यात्सुविभक्तं निराशयम् ॥
आयतं च विशालं च यथादोषो न तिष्ठति ।
शौर्यमाशुक्रिया तीक्ष्णं शस्त्रमस्वेदवेपथू ॥
असंमोहश्च वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि शस्यते ॥

शस्त्रपात के योग्य प्रदेश—जिस स्थान में देखने पर जहां तक नाडी ( शलाका ) की गति हो, वहीं तक व्रण करना चाहिये और जहां जहां ऊपर को उठा हुआ भाग हो वहां वहां सुविभक्त एवं निराशय अर्थात् जहां पूयादि दोष को स्थान न रहे इस प्रकार छेद या व्रण करना चाहिये। व्रण ऐसा दीर्घ और विस्तृत करना चाहिए कि जिससे वहां पर दोष ( पूय ) न रहने पावे।

प्रशंसनीय शस्त्रकर्म—शौर्य ( वीरता या धैर्य ), आशुक्रिया ( हाथों की चतुरता जिससे शीघ्र कार्य हो जाय ), जिसके शस्त्र तीक्ष्ण हों, शस्त्रक्रिया करते समय जिसको पसीना और कम्प न हो तथा असंमोह ( तत्काल उचित कार्य करने में प्रवृत्ति ) ये शस्त्रक्रिया करनेवाले वैद्य के उत्तम गुण हैं।

वक्तव्य—वैद्य के सद्गुणों में यहां शौर्य का उल्लेख पहले किया गया है। इसी से स्वेद तथा कम्प का अभाव सिद्ध हो रहा है। स्वेद और कम्प डरपोक के लक्षण हैं अतः वैद्य के लिए-अस्वेदवेपथू-विशेषण अनर्थक प्रतीत होता है। इस शंका का समाधान करते हुए टीकाकार अरुणदत्त कहते हैं—'यह ठीक है कि स्वेद और कम्प डरपोक के लक्षण हैं किन्तु किसी किसी को प्रकृतिवशात् या उष्णकाल के कारण स्वेद और कम्प होता है। इसीलिए तत्परिहारार्थ यह कहा गया है कि पसीने तथा कम्प की अवस्था में वैद्य शस्त्र-ग्रहण ही नहीं कर सकता।

तत्र भ्रूगण्डललाटाक्षिकूटौष्ठदन्तवेष्टमन्याकण्ठ-जत्रुकक्षाकुक्षि[1]वङ्क्षणेषु तिर्यक् छेद इष्टः। अन्यत्र तु सिरा-स्नायूपघातोऽतिवेदना चिराद् व्रणसंरोहो मांसस्कन्दी च तिर्यक्छेदाद्भवन्ति। ततः शस्त्रमवचार्य शीताभिर-द्भिरातुरमाश्वास्य समन्तात्प्रतिपीड्याङ्गुल्या व्रणमभिप्र-क्षाल्य[2] कषायेण व्रणात्प्लोतेनाम्भोऽपनीय वेदनारक्षो-घ्नैर्गुग्गुल्वगुरुसर्जरसवचागौरसर्षपहिङ्गुलवणनिम्बपत्रैः सघृतैर्व्रणं धूपयित्वा यथास्वमौषधेन मधुघृततिलकल्कैश्च दिग्धां वर्तिं प्रणिधाय कल्केन पूरयित्वा नातिभृष्टयव-सक्तुभिर्घृताक्तैर्भाजनान्तेऽम्भसा दक्षिणाङ्गुलीभिः सुमृ-दितैरवच्छाद्य घनां कवलिकां दत्त्वा सव्यदक्षिणान्य-तरपार्श्वे मृदुं[3]मनाविद्धमसंकुचितमृजुपट्टं निवेश्य बध्नीयात्।

वातश्लेष्मोद्भवांस्तत्र द्विस्त्रिर्वा वेष्टयेद्व्रणान्।
सकृदेव परिक्षिप्य पित्तरक्ताभिघातजान् ॥

भ्र्वादि में तिर्यक् छेदका निर्देश और अन्यत्र निषेध—भ्रू ( भौंहें ), कपोल, ललाट, अक्षिकूट (नेत्रगोलक), होठ, मसूड़े, ग्रीवा, कण्ठ, जत्रु, कांख, कुक्षि और वङ्क्षणसन्धि में शस्त्रक्रिया करनी हो तो वहां तिर्छा छेद करना ठीक होता है तथा इनके अतिरिक्त अन्य स्थानों में तिर्यक् छेद न करे क्यों कि अन्यत्र तिर्यक् छेद करने से सिरा और स्नायु कट जाने का भय होता है। इतना ही नहीं, अन्यत्र तिर्यक् छेदसे अति वेदना होती है, व्रण दीर्घ काल ( विलम्ब ) से भरता है तथा मांसस्कन्दी संज्ञक एक प्रकार की गांठ उत्पन्न होती है।

शस्त्रक्रिया के अनन्तर—शस्त्रक्रिया करके रोगी को शीतल जलसे आश्वासन देवे, व्रणके चारों ओर अङ्गुलीसे दबाकर कषायसे प्रक्षालन करे। व्रणपर के जल को कपडे से पोंछकर गूगल, अगर, राल, वच, पीली सरसों, हींग, नमक, नीमके पत्र इन सबको घृतमिश्रित करके व्रण को इनकी धूनी देकर जहां जो औषध उचित हों उन ओषधियों से तथा शहद, घृत और तिलके कल्क से बत्ती को लेप करके व्रण में रक्खे और फिर कल्क से व्रण की जगह को पूरित कर, थोड़े से भूने हुए घृत-मिश्रित जौ के सत्तू को बर्तन में जलके साथ दाहिने हाथ की अङ्गुलियों से भली भांति मर्दन कर उससे व्रण को ढक दे और फिर उसपर गाढी कवलिका ( कपड़े के टुकड़ों की बनाई हुई पाली या भग्नरोगाधिकार में कही हुई पलाश, गूलर आदि की छाल-पत्रों से बनाई हुई पाली ) देकर बांए या दाहिने पार्श्व से नरम, छिद्ररहित, विस्तृत तथा सरल ऐसे वस्त्रका पाटा बांध दे।

यदि व्रण वायु और कफसे उत्पन्न हुए हों तो दो या तीन बार कपड़े से वेष्टन करे। यदि व्रण पित्त, रक्त तथा अभिघातज ( चोट आदि लगने के कारण पैदा हुए ) हों तो उनपर एक ही कपड़ा लपेटना चाहिए। सारांश, वात और कफसे उत्पन्न व्रणोंपर इतना कपड़ा लपेटना चाहिए कि उसके दो या तीन पर्त आ जावें और यदि पित्त-रक्त-अभिघातज व्रण हो तो लपे-टने में कपड़े का एक ही पर्त रहे।

शस्त्रक्षतरुजायां तु प्रततायां यष्टीमधुकसर्पिषोष्णेन व्रणं सिञ्चेत्। उदकुम्भाच्चापो गृहीत्वा प्रोक्षन् परितो विकीर्य पर्णसर्षपादि[3]भिरस्य रक्षां कुर्याद्रक्षोभिभवनिषे-धार्थम्। तेभ्यश्च बलिमुपहरेत्। धारयेच्च शिरसा—

१. कद्याकुक्षि। २. व्रणमपि प्रक्षाल्य। ३. मृदु।

१. 'मांसस्कन्दी मांसरूढो ग्रन्थिः' इतीन्दुः। २. 'कवलिकां—बहुवस्त्रखण्डपुटनिर्वर्तिताम्, इत्यरुणः। 'वस्त्रखण्डमयीं पालीम्, इति तन्त्रान्तरे। 'कवलिका—व्रणकल्कौषधाच्छादनद्रव्यम्, सा चौषध-स्वरसनिःसरणनिवारणार्थं भग्नोक्तपलाशोदुम्बरादीनां त्वक्पत्रादि-कृता, इति डल्हनः। ३. याचकार्यपर्णशवर्यादिभिरस्य, प्रोक्षयन् विकीर्य पर्णशवर्यादिभिरस्य, इति मूलमुद्रितेन्दुटीकासम्मतौ पाठौ। 'यावकार्थपर्णसपर्यादिभिरस्य, इति हेमाद्रिसम्मतः पाठः। 'याय-कार्थपर्णसर्षपादिभिरस्य, विकीर्य पर्णसर्षपादिभिरस्य, इति टीकाका-रैरुद्धृतौ पाठौ।

लक्ष्मीं गुहामतिगुहां जटिलां ब्रह्मचारिणीम् ।
वचां छत्रामतिच्छत्रां दूर्वां सिद्धार्थकानपि ॥
गुग्गुल्वादिभिरेवं शयनासनादि द्विरह्नो धूपयेत् ।
तथा स्नेहोक्तं दिनचर्योक्तं चाचारमनुवर्तेत । विशेषतश्च दिवास्वप्नाद् व्रणे शोफकण्डूरागरुक्पूयवृद्धिः ।

शस्त्र के क्षत से पीडा हो तो—शस्त्र से किए हुए क्षत से यदि विशेष वेदना हो तो मुलेठी के साथ सिद्ध किए उष्ण घृत से व्रण का सिंचन करे अर्थात् सुहाता सुहाता यह घृत क्षतपर डाले। जलके घड़े में से जल लेकर उससे व्रण का प्रोक्षण करके उसके आजू-बाजू में पर्ण-सरसों आदि बिखेर कर उसकी रक्षा करे ता कि पिशितादि राक्षसों के सम्भवनीय उपद्रव का निषेध हो जाय। उनके लिए बलि भी देवे।

रक्षोभिभवनिषेधोपाय—व्रणरोगी को अथवा शस्त्रक्रिया किए हुए रोगी को पिशितादि राक्षसों से भय न हो-इन राक्षसी उपद्रवों से रक्षा हो इस लिए रोगी को चाहिए कि वह लक्ष्मी ( ऋद्धि, पद्मा, वृद्धि या शमी ), गुहा (पृश्निपर्णी), अतिगुहा ( शालिपर्णी ), जटिला ( जटामांसी ), ब्रह्मचारिणी ( ब्राह्मी ), बच, छत्रा और अतिच्छत्रा ( श्वेत कापोतिकाकन्द और शतावरी ), दूर्वा तथा पीली सरसों इन दस महौषधियों को मस्तक में धारण करे। गूगल आदि ( गूगल, अगर, राल, बच, पीली सरसों, हींग, सैन्धव लवण और नीमके पत्र घृत सहित ) का धूप दो दिन तक रोगी के शयन, आसनादि को देवे। इसके अतिरिक्त स्नेहविधि में वर्णन किया हुआ तथैव दिनचर्या में कथित दिवास्वाप-निषेधादि आचार का उपदेश करे क्यों कि दिन में सोने से व्रण में सूजन, खाज, ललाई, पीड़ा और पूय की विशेष वृद्धि होती है।

वक्तव्य—ऊपर कहा गया है कि रक्षोऽभिभवशमनार्थ आतुर को चाहिए कि वह अपने मस्तक पर लक्ष्मी, गुहा, गुहादि दस महौषधियों को धारण करे। इनमें से लक्ष्मी नाम यद्यपि ऋद्धि, वृद्धि, पद्मा और शमी के लिए है किन्तु अष्टाङ्गहृदय की सर्वाङ्गसुन्दरा टीका में अरुणदत्तने लक्ष्मी को पद्मा माना है परन्तु आयुर्वेदरसायनकार हेमाद्रि लक्ष्मी को शमी मानते हैं। हमारी संमति भी यहां शमी के पक्ष में है क्यों कि शमी राक्षसघ्नी है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी राक्षसों पर विजय पाने के लिए प्रथम शमीपूजन किया था। इसी प्रकार भगवान् धन्वन्तरि छत्रा और अतिच्छत्रा को श्वेतकापोतिकाकन्द मानते हैं परन्तु अरुणदत्त इन दोनों को क्रम से शतपुष्पा ( सौंफ ) और काकडासिंगी मानते हैं तथा हेमाद्रि दोनों को क्रम से छोटी और बड़ी सौफ मानते हैं तथा सुश्रुत के टीकाकार डल्लन इन्हें द्रोणपुष्पीद्वय मानते हैं। निघण्टुकार अतिछत्रा को शतावरी कहते हैं। सम्प्रति कापोतिका और श्वेतकापोतिका दुष्प्राप्य एवं अप्राप्य है। इस लिए छत्रा के अभाव में शतपुष्पा तथा अतिच्छत्राके अभाव में शतावरी का ग्रहण करना उपयुक्त प्रतीत होता है।

स्त्रीणां तु स्मृति-संस्पर्श-दर्शनैश्चलिते स्रुते ।
शुक्रे व्यवायजान् दोषानसंसर्गेऽप्यवाप्नुयात् ॥
( व्रणे श्वयथुरायासात्स च रागश्च जागरात् ।
तौ च रुक् च दिवास्वापात्ताश्च मृत्युश्च मैथुनात्॥ )

व्रणी के लिए स्त्रीविषयक निषेध—स्त्रियों का स्मरण, स्पर्श और दर्शन ये तीनों वीर्य को चलित एवं स्खलन करने वाले हैं अतः बिना मैथुन के भी ये (स्मरण, स्पर्श और दर्शन) मैथुनजन्य दोषों के करनेवाले हैं। इस लिए स्त्रीसंग तो दूर रहा, स्त्री का स्मरण, दर्शन एवं स्पर्श व्रणी को नहीं करना चाहिए। इसी लिए भगवान् धन्वन्तरिने कहा है कि श्रमसे व्रणमें शोथ हो जाता है, जागरण से शोथ और राग दोनों होते हैं, दिन में सोने से शोथ, राग और वेदना होती है परन्तु मैथुन करने से शोथ, राग और वेदना तो होती ही है किन्तु प्राणी की मृत्यु तक हो जाती है। इसलिए व्रणी को चाहिए कि वह मैथुन की तो भावना ही न करे और न स्त्री का स्मरण, स्पर्श तथा दर्शन ही करे।

भोजयेच्चैनं यथासात्म्यं समातीतशालिषष्टिकयवगोधूमान्यतमं मुद्गमसूराढकीसतीनयूषजाङ्गलरसोपेतं जीवन्तीसुनिषण्णतन्दुलीयकवास्तुकवार्ताकपटोलकारवेल्लकबालमूलकशाकयुक्तं दाडिमामलकसैन्धवसहितं सर्पिःस्निग्धं लघ्वल्पमुष्णोदकोत्तरं च। एवमस्य सम्यगशितं जरामुपैति।
अजीर्णादनिलादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत् ।
ततः शोफरुजापाकदाहानाहानवाप्नुयात् ॥

व्रणी के लिए देय भोजनादि—व्रणी को सात्म्य का विचार कर भोजन करावे। एक वर्ष के पुराने शालिषष्टिक ( चावल विशेष ), जौ और गेहूं इनमें से किसी एक अन्न को दे जो कि मूंग, मसूर, अरहर, मटर या चवला इनमें से किसी एक के जांगल प्राणियों के मांसरस-सहित यूष के साथ हो तथा जो जीवन्ती, चनपतिया, चौलाई, बथुवा, वृन्ताक, पटोल, करेला, कच्ची मूली आदि के शाकसहित जो कि अनारदाने, आमले, सेन्धा नमकसह घृत से स्निग्ध हो देवे। ऊपर से हलका और अल्प उष्णोदक पिलावे। इस प्रकार करने से उसका किया हुआ भोजन अच्छी तरह से पच जाता है। इस विधि के विपरीत अन्न-पानादि देने से किया हुआ भोजन न पचकर अजीर्ण हो जायगा और अजीर्ण के होने से वायु आदि का बलवान् प्रकोप होगा और फिर शोथ, पीडा, पाक, दाह और आनाह की प्राप्ति होगी।

नवधान्यमाषकलायकुलत्थनिष्पावशिम्बीशीताम्बु-

१. दिनचर्योक्तमाचारमनुवर्तेत। २. लक्ष्मीः सम्पत्तिशोभयोः। वृद्ध्यौषधे च पद्मायामृद्धिनामौषधेऽपि च। फलिन्यां शम्यां चैव इति मेदिनी। ३. छत्रातिच्छत्रके विद्याद्रक्षोघ्ने कन्दसम्भवे। जरामृत्युविनाशिन्यौ श्वेतकापोतिसंस्थिते॥ इति सुश्रुतचिकित्सास्थानीये त्रिंशत्तमेऽध्याये। छत्रा शतावरीति राजनिघण्टुः। ४. 'लक्ष्मीं—पद्मचारिणीम्, इत्यरुणः। 'लक्ष्मीं—शमीम्, इति हेमाद्रिः। ५. छत्रां—शतपुष्पाम्। 'अतिच्छत्रां—विषाणिकाम्, इत्यरुणदत्तः।

१. 'छत्रातिच्छत्रे—शतपुष्पाद्वयम्, इति हेमाद्रिः। 'छत्रातिच्छत्रे-द्रोणपुष्पीद्वयम्' इति डल्लनः। २. सुश्रुतपाठोऽयम्।

मद्येक्षुक्षीरपिष्टतिलविकृतिशुष्कशाकपिशितहरितकाम्ललवणकटुकक्षारानूपामिषाणि वर्जयेत् ।

वर्गोऽयं नवधान्यादिर्व्रणिनः सर्वदोषकृत् ।
मद्यं तीक्ष्णोष्णरूक्षाम्लमाशु व्यापादयेद् व्रणम् ॥
बालोशीरैश्च वीज्येत न चैनं परिघट्टयेत् ।
न तुदेन्न च कण्डूयेच्चेष्टमानश्च पालयेत् ॥
स्निग्धवृद्धद्विजातीनां कथाः शृण्वन्मनःप्रियाः ।
आशावान्व्याधिमोक्षाय क्षिप्रं व्रणमपोहति ॥

व्रणी के लिए नवधान्यादिनिषेध—नवीन धान्य, उड़द, मटर, कुलथी, सेम, शिम्बीधान्य, शीतल जल, मद्य, ईख, दूध, तन्दुलपिष्ट, तिल के बने पदार्थ, सूखे शाक और मांस, हरितक, अम्ल, लवण, कटुक, क्षार, अनूपदेश के जीवों के मांस ये सब वर्जित करने चाहिए क्योंकि यह नवधान्यादि वर्ग व्रणरोगियों के लिए समस्त दोषों का करनेवाला है। मद्य तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष और अम्ल है अतः व्रणी को मारनेवाला है अतः मद्य का सेवन न करे।

व्रणी के लिए हितोपदेश—व्रणरोगी को चाहिये कि वह व्रण पर बाल ( चमर ) तथा खस का पंखा करता रहे ताकि मक्षिकादि व्रण पर न बैठ सकें। व्रण को न दबावे, न नोचे, न खुजलावे अपितु सचेष्ट रहता हुआ व्रण का परिपालन करे। इतना ही नहीं, प्रियस्नेही, वृद्ध, ब्राह्मण आदि से मन को प्रिय लगनेवाली बातें सुने, धर्मग्रन्थों को सुने और यह आशा करे कि मेरा रोग शीघ्र ही दूर होगा। ऐसा करने से व्रण-व्याधि शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

पुनश्च तृतीयेऽहनि प्रक्षालनादि पूर्ववद् व्रणकर्म कुर्यात्। द्वितीयदिवसे मोक्षणादादौ विग्रथितो व्रणश्चिराद्रुदरोहत्युग्ररुजश्च भवति। न च विकेशिकामौषधं वाऽतिस्निग्धरूक्षमतिश्लथगाढमश्लक्ष्णं दुर्न्यस्तं च दद्यात्। अतिस्नेहात्क्लेदः। अतिरौक्ष्याच्छेदो वेदना च। अतिश्लथत्वादपरिशुद्धिः। गाढतया संरम्भः। अश्लक्ष्णत्वाद्दुर्न्यासाच्च व्रणवर्त्मोपघर्षणम्।

व्रण का पुनः प्रक्षालनादि—फिर तीसरे दिन पूर्ववत् प्रक्षालनादि कर्म करे किन्तु भूल कर भी दूसरे दिन व्रण का पाटा आदि न खोले क्योंकि दूसरे दिन पाटा खोलने से पहले से विग्रथित ( न भरा हुआ ) व्रण विलम्ब से भरता है और उसमें भयंकर वेदना होती है।

अतिस्निग्धादि विकेशिका और औषध का निषेध—न तो व्रण में सूक्ष्म सूत्रवर्ति अथवा न अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष, अतिश्लथ ( अतिढीला ), अतिगाढ़ा, अतिसूक्ष्म न पिसा हुआ और न दुर्न्यस्त ( अनुचित स्थान पर ) औषध देवे, क्योंकि अतिस्नेह से क्लेद ( पूयादि ) बढ़ता है, अतिरूक्ष से व्रण में छेद अत्यन्त वेदना होती है, अतिश्लथ से व्रण की सम्यक् शुद्धि नहीं होती, अतिगाढता से व्रण में क्षोभ होता है, अतिसूक्ष्म न होने और विचार कर उचित स्थान पर ओषधि के न देने से व्रण का मार्ग घिस जाता है अर्थात् उपघर्षण से भी पीडा ही बढ़ती है।

अवश्यं साशये व्रणे विकेशिकां दद्यात् ।
सपूतिमांसं सोत्सङ्गं सगतिं पूयगर्भिणम् ।
व्रणं शोधयते शीघ्रं स्थिता ह्यन्तर्विकेशिका ॥

पूतिमांसादि व्रण में विकेशिका की आवश्यकता—साशय ( अन्तर्विस्तीर्ण ) व्रण में अवश्य विकेशिका देनी चाहिये। जिसका मांस सड़कर दुर्गन्धित हो गया हो, जो ऊंचा उभरा हुआ हो, जो सगति ( पूयादिभक्षित-मांस के कारण खोखला हो गया ) हो और जिसमें पूय भरा हो तो ऐसे व्रण को अन्तर्विकेशिका ( सूत्रवर्ति ) शीघ्र ही शुद्ध कर देती है।

व्यम्लं तु पाटितं शोफं पाचनैः समुपाचरेत् ।
भोजनैरुपनाहैश्च नातिव्रणविरोधिभिः ॥

विदग्धव्रण-पाटनोपाय—यदि विदग्ध ( कच्चे ) शोथ को चीर डाला गया हो तो उसे पाचन, भोजन, उपनाह ( स्वेद विशेष ) द्वारा ठीक करना चाहिये। ध्यान रहे कि वे पाचन, भोजन तथा उपनाह व्रण के अतिविरोधी न हों।

यत्र सीव्यो व्रणस्तत्र चलास्थिशल्यपांशुतृणरोमशुष्करक्तादीन्यपोह्य विच्छिन्नं प्रविलम्बिमांसं सन्ध्यस्थीनि च यथास्थाने[1] सम्यक् स्थापयित्वा स्थिते रक्ते यथार्हं सूच्योपहितेन स्नायुसूत्रबालान्यतमेन सीव्येत्। शणाश्मन्तकमूर्वाऽतसीनां वा वल्कैः। सीवनविकल्पास्तु समासेन चत्वारः। तद्यथा—गोष्फणिका तुन्नसीवनी[2] वेल्लितकं ग्रन्थिबन्धनमिति। तेषां नामभिरेवाकृतिविभागः प्रहारवशाच्चोपयोगः।

सीव्य व्रण में आदि कर्तव्य—जो व्रण सीने के योग्य हो तो प्रथम उसमें से चलास्थि ( जो हड्डी टूटकर अलग हो गई हो ), शल्य ( विविध तृण, काष्ठ, पाषाणादि ), मिट्टी, तृण, बाल, शुष्क रक्त आदि को दूरकर, कटे हुए-लटके हुए मांस को तथैव सन्धिस्थान की अस्थियों को यदि खिसक गई हों तो यथास्थान अर्थात् जो मांस तथा अस्थि जिस स्थान की हो भली-भांति अपने स्थान पर जमाकर जब रक्त का चलना बन्द हो जाय तब यथार्ह ( जिस प्रकार के सीवन के योग्य हो उसी प्रकार से ) सूची में पिरोये हुए स्नायु, सूत्र और बाल इनमें से किसी एक से व्रण को सीवे। अथवा शण, अश्मन्तक, मूर्वा और अलसी की छाल में के तन्तुओं में से किसी एक से सीवे।

सीवन के चार प्रकार—यद्यपि सीवन के कई प्रकार के प्रकार हो सकते हैं किन्तु संक्षेप में कहा जाय तो सीने के चार प्रकार हैं। यथा—गोफणिका, तुन्नसीवनी, वेल्लितक और ग्रन्थिबन्धन। इनके नामों पर से ही सीने की आकृति जानी जा सकती है और इनका उपयोग प्रहार की महत्ता एवं लघुता के अनुसार किया जाता है।

न वाऽतिसन्निकृष्टां विप्रकृष्टामत्यल्पबहुग्राहिणीं वा सूचीं पातयेत्।

सीने के योग्य सूची—इस प्रकार की सूची ( सुई ) न हो

१. यथास्थानं। २. तुन्नसेवन्या इ० पा०।

जिससे अति समीप-समीप या अति दूर-दूर सिया जावे और सूची ऐसी भी न हो जो अत्यल्पग्राहिणी या बहुग्राहिणी हो अर्थात् जो सीवनस्थान में बहुत कम प्रविष्ट होती हो वा अत्यधिक। सारांश, सूची ऐसी हो जो यथायोग्य कार्य कर सके।

वक्तव्य--ऊपर सीने के चार प्रकार बताए हैं जसे कि गोफणिका, तुन्नसीवनी, वेल्लितक तथा ग्रन्थिबन्धन या ऋजु-ग्रन्थिबन्धन। इन प्रकारों का क्रमशः संक्षिप्त स्पष्टीकरण कर देना अनुचित न होगा।

गोफणिका— भारतीय कृषक (काश्तकार) लोग खेत में पक्षियों को उड़ाने के लिए गोफण का उपयोग करते हैं यह प्रायः सब जानते हैं। गोफण जिस प्रकार से सी हुई होती है। ठीक उसी प्रकारसे व्रण सिया जाता है। इसी लिए इस सीवन के प्रकार का नाम गोफणिका है। यह सीवनका प्रकार आधुनिक ब्लान्केट सूचर (Blanket Suture) से मिलता जुलता है। वेल्लितक की तरह इसमें भी सूत से अविच्छेद टांके लगाए जाते हैं परन्तु रचना भिन्न होती है। इसमें वैद्य प्रथम अपनी चिमटी से व्रणके ओष्ठों को पकड़ता है और फिर सुई को अपनी ओर से दूसरी ओर को निकालता है। यही पहला टांका होता है। इसके बाद सूत को सुई के साथ फिर अपनी तरफ लेकर पूर्ववत् दूसरी ओर को निकालता है परन्तु इस समय सुई सहायक के द्वारा पकड़े हुए सूत के ऊपर से निकल जाती है और इससे एक प्रकार का फन्दा बन जाता है। इस तरह समस्त व्रण का भाग सी दिया जाता है। अधिक विस्तृत व्रण को बन्द करने के लिए इसका उपयोग होता है।

तुन्नसीवनी— यह सीने का प्रकार आजकल के हालस्टेडस सबकुटीक्यूलर स्टिच (Halstead's Subcuticularstich) से मिलता जुलता है। फटे हुए कपड़े के किनारों को मिलाने के लिए जिस प्रकार रफू करनेवाला सुई और सूत्र से रफू करता है उसी प्रकार के टांके यहां लगाये जाते हैं। यह अविच्छेदसीवन विधि है। इससे व्रण के ओष्ठ इस प्रकार मिल जाते हैं कि व्रण वस्तु दिखाई तक नहीं देती है।

वेल्लितक—यह वृक्षपर चढ़नेवाली वेल के समान सीवन-विधान है। इसी लिए इसका अन्वर्थक नाम वेल्लितक है। इसमें व्रण की एक ओर से दूसरी ओर को एक ही सूत से अविच्छेद टांके लगाए जाते हैं। इसका उपयोग ताजे निर्दोष (Asaptic) व्रणों के सम्बन्धमें ही होता है। इसका सादृश्य आधुनिक ग्लोवर्स कण्टीन्युअस सूचर (Glover's Continuous suture) के साथ होता है।

ऋजुग्रन्थिबन्धन—चिमटी से व्रण के किनारों को पकड़ कर दोनों किनारों में से इसमें सुई के द्वारा सूत्र प्रविष्ट किया जाता है। बाद में सुई से सूत को अलग कर गांठ बांध दी जाती है। गांठ बांधने के बाद गांठ के साथ दोनों तरफ अन्दाज आधा अङ्गुल सूत छोड़ कर शेष भाग काट दिया जाता है। इस प्रकार व्रण के अनुसार अचित अन्तर से टांके लगाए जाते हैं। इसका उपयोग बाहिरी त्वचा के सीने में अधिक होता है तथा जहां विषमौष्ठ व्रणके कारण किनारे मिलाने में अधिक तनाव होता है वहां भी इसका उपयोग अच्छा होता है। यह सविच्छेद सीवन है और इसके टांके एक दूसरे से अलग रहते हैं। नवीन सुधरे हुए दफ्तरों में ऐसे सीवन को इण्टरप्टेड सूचर (Interrupted suture) कहते हैं।

**न वा[1]तिसन्निकृष्टां विप्रकृष्टामत्यल्पबहुग्राहिणीं वा सूचीं पातयेत्।**

सीनेके अयोग्य सूची— सुई ऐसी नहीं चलानी चाहिए जो बिल्कुल समीप समीप या दूर दूर पर चलाई जाय और न इस प्रकार ही चलाई जाय जो कि चमड़े में अत्यल्प या अतिगहरी प्रविष्ट होनेवाली हो। सारांश यह है कि सूची से न तो समीप समीप और न अति दूर दूर सीवन करे। इसके अतिरिक्त सूची ऐसी हो कि जो यथोचित प्रविष्ट होनेवाली हो न कि न्यूनाधिक।

**एवं सम्यक् स्यूतमवेक्ष्य मधुघृतयुक्तैरञ्जनमधुकनिम्बरोध्रप्रियङ्गुसल्लकीफलक्षौममषीचूर्णैरवकीर्य पूर्ववद्बन्धादीन् प्र[2]योजयेत्।**

सीवनके पश्चात्कर्म—इस प्रकार अच्छी तरह से सीवन कर्म सम्पन्न हो गया, यह देख कर वैद्यको चाहिए कि वह सुर्मा, मुलेठी, निम्बपत्र, लोध्र, प्रियंगु, सालईका फल, रेशमी वस्त्र की मषी (राख) इन सबके शहद और घृत से युक्त चूर्ण को सीए हुए व्रण पर बुरकाकर प्रथम कही हुई विधिके अनुसार पाटे (बन्धन) आदिकी योजना करे।

वक्तव्य—सीवन के गोष्फणिका, तुन्नसीवनी, वेल्लितक और ऋजुग्रन्थिबन्ध इन चारों प्रकारों के विषय में आधुनिक प्रचलित रीत्या ऊपर कुछ लिखा जा चुका है। उक्त चारों सीवनप्रकारों के विषयमें सुश्रुतके टीकाकार डल्हन का कहना है कि' गोफणके सीनेके आकार गोष्फणिकासीवन होता है। टेढ़े सीने को वेल्लितक कहते हैं। कपड़ा बुननेवाले तन्तुवाय जिस प्रकार फटे हुए कपड़े को सीकर रफू करते हैं, पता नहीं लगता कि यहां फटा था उसका नाम तुन्नसीवन है। ऋजु (सरल) ग्रन्थिके समान जिसमें बन्ध होता है उसे ऋजुग्रन्थिबन्ध कहते हैं।

इस अष्टाङ्गसंग्रह के टीकाकार इन्दु कहते हैं कि—'जो काकपदाकृति व्रण चारों ओर से सिया जाता है उसे गोष्फणिकासीवन कहते हैं। जो अति निकट के दो व्रणों को इस प्रकार सिया जाता है जैसे दीर्घकाल के फटे हुए वस्त्र को सीकर पूर्ववत् कर दिया जाता है, इसका नाम तुन्नसीवन है। व्रण के ओष्ठों को लपेटता हुआ सिया जाय उसे वेल्लितक कहते हैं। एक ही वार जिसमें सूतकी योजना की जाती है उसे ऋजुग्रन्थिबन्धन या रज्जुग्रन्थिबन्धनसीवन[3] कहते हैं। अस्तु।

**असीव्या वङ्क्षणवक्षःकक्षादिषु प्रचलेष्वल्पमांसेषु च वायुर्निर्वाहिणो[4]ऽन्तर्लोहितशल्या विषाग्निक्षारकृताश्च व्रणाः।**

१. न चाति। २. योजयेत्। ३. गोफणिकां गोफणाकाराम्। तुन्नसेवनीमिति यथा-वस्त्रं पाटितं तन्तुवायकाः सन्दधति तद्वत्तुन्नसेवन सीव्येत्। ऋजुग्रन्थिमिति ऋजुग्रन्थिः-सदृशो बन्धो यस्यां सा। वेल्लितकं वक्रम्। इति॥ ४. वायुनिर्वामिणो।

सीवन के अयोग्य व्रण—वङ्क्षण, वक्षःस्थल, कक्षा (कांख) आदि स्थानों में, जो प्रचलित अङ्ग हो, जहां अल्प मांस हो, जिनमें टांका लगाते ही वायु के संचार की शंका हो, जिनके अन्दर पूय, रक्त और शल्य हो और जो विष, अग्नि और क्षार के कारण उत्पन्न हुए हों, इन सब को नहीं सीना चाहिए।

वक्तव्य—उपर्युक्त व्रणों के सीवन का निषेध इस लिए किया गया है कि वङ्क्षण और वक्षःस्थल में सीने से मरण का भय रहता है क्योंकि ये मर्मों के समीप हैं। चलस्थान हिलता रहता है अतः वहां टांका लगाने में टूटने का भय रहता है। अल्पमांस में भी यह बात रहती है। जिनमें रक्त, पूय और शल्य होता है उनके सीने में वायु का सञ्चार अनिवार्य होता है और विष, क्षार तथा अग्नि से उत्पन्न व्रणों के सीकर बन्द कर देने से सारे शरीर में विषादि प्रकोप के फैलने का डर अवश्यंभावी होता है। मारुतनिर्वाही व्रणों में वायुजनक जीवाणुओं का प्रवेश होने से व्रण में वायु का प्रकोप होता है। उक्त जीवाणु वायु भी ( Anaerobes ) हैं तथा इनमें वेसिलस वेलची और विब्रियो सेप्टिक ( B. Welchii and Vibrio Septic ) प्रधान है ऐसा आधुनिक शस्त्र-वैद्यों का मत है। सारांश, प्राचीन एवं अर्वाचीन इन दोनों वैद्यक-पद्धतियों के अनुसार उपर्युक्त व्रणों में सीवन-कर्म का निषेध सिद्ध होता है।

सीव्यास्तु मेदःसमुत्था[1] भिन्नलिखिताः कफग्रन्थि-रल्पपालीकः[2] कर्णः सद्योव्रणाश्च। शिरोललाटाक्षि-कूटकर्णनासागण्डौष्ठकृकाटिकाबाहूदरस्फिक्पायुप्रजनन-मुष्कादिष्वचलेषु मांसवत्सु च प्रदेशेषु।

सीने के योग्य व्रण—जो मेद से उत्पन्न ग्रन्थि आदि जिनका भेदनकर लेखन किया गया हो, कफ की उत्पन्न हुई गांठ, पतली पाली ( लो ) वाला कान, तुरन्त चोट आदि लगने से हुआ व्रण तथा इनके अतिरिक्त सिर, ललाट, नेत्र-गोलक, कान, नाक, गाल, होंठ, कृकाटिका ( ग्रीवा के पीछे का भाग ), बाहु, उदर, स्फिक् ( नितम्बों के ऊपरिभाग ), गुद, योनि, मुष्क ( अण्डकोष ) इनके अचल (न हिलनेवाले) और अधिक मांसवाले स्थानों में सीवनकर्म करना चाहिए।

वक्तव्य—मेदोजनित व्रण हो तो उसे चीरकर चर्बी निकालकर फिर सीना चाहिए। सद्योव्रणादि को तुरन्त सी देना चाहिए। इस लिए कि उपेक्षा करने से वायु आदि दोष कुपित होकर कुछ काल के अनन्तर व्रण को भयंकर बना देते हैं।

कोशदामोत्सङ्गस्वस्तिकानुवेल्लितमुत्तोली[3]मण्डलस्थ-गिका[4]यमकखट्वाचीनविबन्धवितानगोष्फणाः पञ्चाङ्गी चेति पञ्चदश बन्धविशेषाः। तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः। तत्र कोशमङ्गुलिपर्वसु विदध्यात्। दाम सम्बाधेऽङ्गे। उत्सङ्गं विलम्बिनि। स्वस्तिकं सन्धिकूर्चभ्रूस्तनान्तरकक्षाक्षिकपोलकर्णेषु। अनुवेल्लितं शाखासु। मुत्तोलीं[1] ग्रीवामेढ्रयोः। मण्डलं वृत्तेऽङ्गे। स्थगिका[2]मङ्गुष्ठाङ्गुलिमेढ्राग्रमूत्रवृद्धिषु। यमकं यमलव्रणयोः। खट्वां हनुशङ्खगण्डेषु। चीनमपाङ्गयोः। विबन्धमुदरोरुपृष्ठे[3]। वितानं मूर्द्धादौ पृथुलेऽङ्गे। गोष्फणं नासौष्ठचिबुकसन्धिषु[4]। पञ्चाङ्गीं जत्रूर्ध्वमिति। यो वा यस्मिन्[5] प्रदेशे सुनिविष्टो भवति तं तस्मिन् कुर्वीत न तु व्रणस्योपरि ग्रन्थिर्बाधकरो[6] यथा स्यात्।

पञ्चदश व्रणबन्ध—व्रणों को बांधने के १५ प्रकार हैं। उनके क्रमशः नाम इस प्रकार हैं। यथा—( १ ) कोश, ( २ ) दाम, ( ३ ) उत्सङ्ग, ( ४ ) स्वस्तिक, ( ५ ) अनुवेल्लित, ( ६ ) मुत्तोली, (७) मण्डल, (८) स्थगिका, (९) यमक, (१०) खट्वा, ( ११ ) चीन, ( १२ ) विबन्ध, ( १३ ) वितान, ( १४ ) गोष्फण और ( १५ ) पञ्चाङ्गी। इनकी आकृतियां इनके नामों से ही जान लेनी चाहिए।

कोश आदि बन्धनों के योग्य स्थाननिर्देश—प्रथम कोशबन्धन-अङ्गुलियों के पेरुवों पर बांधा जाता है। दाम-सन्धि एवं साथल पर। उत्सङ्ग-लटकते हुए बाहु आदि पर। स्वस्तिक-सन्धि, कूर्च, भौंह, स्तनों के बीच में, कांख ( कूख ), आंख, गाल और कानों पर। अनुवेल्लित—हाथों और पांवों में। मुत्तोली—ग्रीवा तथा लिङ्ग पर। मण्डल—गोलाकार अवयवों में। स्थगिका—अंगुली, अंगूठा, लिङ्गके अग्रभाग, मूत्र या आन्त्रवृद्धि ( हार्निया Hernia ) में। यमक—पास-पास में होनेवाले दो व्रणों में। खट्वा—ठोडी, शंख (जबड़ों की सन्धि) और गालों में। चीन—नेत्रों के अपाङ्गों में। विबन्ध—उदर, ऊरु ( साथल ) के पीठ में। वितान—मस्तक आदि बड़े अंगों पर। गोफण—नासिका, होंठ, ठोडी और साथल के मूल में तथा पञ्चाङ्गी—जत्रु अर्थात् हँसली से ऊपर के सब भागों में बांधा जाता है।

इसक अतिरिक्त जो बन्ध जहां पर ठीक जमता हो उसे वहां बांध दिया जाय किन्तु व्रण के ऊपर गांठ न लगावे जिससे कि पीडा उत्पन्न हो जाय।

विशेष वक्तव्य—शल्यशास्त्र या शस्त्र क्रिया में बन्धन-कर्म ( Bandaging ) नितान्त आवश्यक अंग माना गया है क्योंकि शस्त्रक्रिया के अनन्तर प्रति दिन व्रणोपचार के पश्चात् तथा सन्धिविश्लेषण, अस्थिभङ्ग, आघात, मोच, चोट, रक्तस्राव आदि नाना घटनाओं के बाद विकृत अंग को बांधना ही पड़ता है। शारीरिक अंगों की रचना भिन्न भिन्न प्रकार की होने से बन्ध भी भिन्न भिन्न प्रकार के बांधने पड़ते हैं। केवल एक ही प्रकार के बन्धन से काम नहीं चलता। ये बन्ध प्रायः कपड़े के लम्बे पट्टे के आकार के होते हैं। छोटे बड़े, भिन्न भिन्न आकारवाले व्रणों के लिए उसी प्रकार के पट्टों या बन्धों की कल्पना करनी पड़ती है। इन पट्टों के बांधने के लिए अच्छे अभ्यासकी आवश्यकता होती है। केवल बन्धविधि के पढ़ लेने से काम नहीं चलता। इस विद्या के गुरुओं से प्रत्यक्ष कर्माभ्यास कर बन्ध-विधिकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

१. समुत्थिताः। २. पालिक। ३. मूतोली। ४. स्थविका। ५. कुद्यक्षि।

१. मूतोलीं। २. स्थविका। ३. पृष्ठेषु। ४. सन्धिषु। ५. यो यस्मिन्। ६. व्रणस्योपरि न चाबाधकरो।

यद्यपि प्राचीन विधि इसकी पुस्तमय पुरुषों के अंगों पर बंध लगाकर सीखने की है किन्तु इससे भी सरल विधि यह है कि अपने सहयोगी मित्रों के भिन्न भिन्न अंगों पर बन्धन बांधकर बन्धविधि अनुभूत कर ली जाय। तीन छात्र मिलकर इस कार्यको भली भांति कर सकते हैं। उदाहरणार्थ एक छात्र पुस्तक में की बन्धविधिको पढ़े और दूसरा छात्र तदनुसार तीसरे के शरीर पर बन्ध बांधने का अभ्यास करे। इस प्रकार पारी पारी से करने पर सब इस विषय में होशियार हो सकते हैं। पाश्चात्य शल्य-तन्त्र के बन्ध भी प्रायः इनसे मिलते जुलते होते हैं। यद्यपि लिखा है कि इनके नामों पर ही से इनकी आकृतियों को जान सकते हैं परन्तु कुछ नाम ऐसे हैं जिनके नाम से आकृति-बोध नहीं होता जैसे कि उत्सङ्ग, चीन, विबन्ध, दाम और यमक। इन नामों से वस्तुतः बन्ध की आकृति का बोध नहीं होता।

कोश और स्थगिका बन्ध—ये दोनों बन्ध कोश अर्थात् तलवार के म्यान के समान लम्बे होते हैं। अँगरेजी में इसको शीथ बेण्डेज ( Sheeath bandage ) कह सकते हैं। स्थगिका बन्ध की लम्बाई कोश से कुछ कम होती है। इन्दु ने स्थगिका को पान की डिब्बी कहा है। इस पान की डिब्बीके ढक्कन के समान यह बन्ध होता है। अँगरेजी में इसको स्टम्प बॅण्डेज ( Stump bandage ) कह सकते हैं।

स्वस्तिक बन्ध—यह स्वस्तिक के आकार का होता है। व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो इसका आकार हिन्दी के चार (४) या अंगरेजी के आठ (8) अंक के समान होता है। अंगरेजी के क्रास बॅण्डेज और स्पैका बॅण्डेज ( Cross or spica bandage ) इस स्वस्तिक बन्ध के ही प्रकार हैं।

दामबन्ध—इसका कोई आकार निश्चय नहीं हो सका और न पाश्चात्य बन्धों में ही इसका प्रतीक मिलता। हां, पीडा-निवारणार्थ जो कस कर बांधा जाता है, वही मालाकार कपड़े का पट्ट हो सकता है।

अनुवेल्लितबन्ध—इसका सादृश्य अँगरेजी स्पैरल बँण्डेज ( Spiral bandage ) के साथ मिलता है।

मुत्तोलि और मण्डलबन्ध—इनकी भी आकृति निश्चित नहीं होती है। हां, इनके लिए इतना चौड़ा वस्त्र लिया जाय जितना बन्धनका स्थान चौड़ा हो और एक के ऊपर दूसरा इस प्रकार लपेट लगाया जाय। इनके लिए भी पाश्चात्य बन्धों में कोई प्रतीक नहीं मिलता।

यमकबन्ध—इसका भी ऊपर की तरह ठीक निश्चय नहीं हुआ है।

खट्वाबन्ध—इसे चार पट्टों का बना बन्ध इन्दु कहता है। इसे अँगरेजी में फोरटेल्ड बॅण्डेज ( Four tailed bandage ) कह सकते हैं क्यों कि इसका उपयोग उसी के स्थान पर होता है।

चीनबन्ध—यह बन्ध छोटे वस्त्रपट्ट से लगाया जाता है परन्तु इसका भी कोई आकार निश्चय नहीं हो सकता। हां, इसका सादृश्य आधुनिक नेत्रबन्ध ( Bandage for eye ) के साथ होता है।

विबन्धबन्ध—इसके लगानेके स्थान तथा नाम से आधुनिक मेनीटेल्ड बॅण्डेज ( Many-tailed bindage ) के साथ यह मिलता-जुलता है।

वितानबन्ध—यह सिर पर शामियाने की तरह फैलाकर लपेटा जाता है। यह आधुनिक किफेलाइन बॅण्डेज ( Caphe. line bandage ) के साथ मिलता-जुलता है।

गोफणबन्ध—यह काश्तकारों की गोफण की तरह होता है। इसका सादृश्य आधुनिक स्लिङ्ग बॅण्डेज (Sling bandage) से मिलता है। टी बँण्डेज ( T. bandage ) के साथ भी यह मिलता-जुलता है क्योंकि इसका गुदभ्रंश के लिए भी उपयोग होता है।

पञ्चाङ्गीबन्ध—इन्दु के कथनानुसार इसमें कुल पांच पट्ट[1] होते हैं। परन्तु आधुनिक बन्धों में इसका भी कोई प्रतीक नहीं मिलता है।

उत्सङ्गबन्ध—इसका भी ठीक ठीक पता नहीं लगता। इसका उपयोग बाहु में करने के लिए कहा है। यह बन्ध आज कल का आर्म स्लिङ्ग बॅण्डेज ( Arm sling bandage ) ही प्रतीत होता है।

उपर्युक्त सारे बन्ध प्राचीन काल में किस प्रकार से बांधे जाते थे इसका विशद वर्णन आयुर्वेदीय साहित्य में नहीं मिलता है। आजकल इस विषय में पाश्चात्य दक्षतर बहुत आगे बढ़े हुए हैं अतः मनुष्य को चाहिए कि उनके इस कर्म को प्रत्यक्ष देखकर सीखे। आधुनिक डाक्टर इन बन्धों को किस प्रकार बांधते हैं, इसका विशद वर्णन श्रीयुत डा० घाणेकर जी ने अपने सुश्रुतके हिन्दी अनुवाद में किया है। पाठक सुश्रुतसूत्रस्थान के १८ वें अध्याय में देखें।

बन्धस्त्विष्टोऽनिले दुष्टे दृढभग्ने[2] व्रणेषु च।
तत्रान्त्ययोर्द्विधा बन्धः सव्यदक्षिणभेदतः॥
त्रिविधस्त्वेव सर्वत्र गाढश्लथसमत्वतः।
कफवाते घनो गाढः पित्तरक्ते तनुश्लथः॥
वातपित्ते समो बन्धः कफपित्तव्रणेषु च।

विना व्रण के भी बन्धन इष्ट—वायु के कुपित होने पर विना व्रण के बन्ध इष्ट है। इतना ही नहीं, दृढ भग्न एवं व्रण की अवस्था में भी बन्ध आवश्यक है ( इन्दुसंमत-पाठानुसार दुष्टे—सर्पदंशादि होने पर भी बन्धन आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि विषसंक्रामणसे रक्षार्थ बन्धन बांधना ही चाहिए। कहा भी है कि—'दंशस्योपरि बध्नीयादरिष्टां चतुरङ्गुले। न वहन्ति सिराश्चास्य विषं बन्धाभिपीडिताः॥' इति ) यहां दुष्ट वायु, दृढ भग्न तथा व्रणों की अवस्थामें बन्धन इष्ट बताया गया है परन्तु यह बन्धन अन्त्य के ( दृढ भग्न और व्रण ) इन दोनों के लिए सव्य-दक्षिण भेद से कहा गया है अर्थात् दृढ भग्न में बन्धन बांई ओर को तथा व्रणों में दाहिनी ओर को

१. स्थविकेव स्थगिका लम्बमानं ताम्बूलकरङ्कम् इति। २. खट्वा चतुर्वाहुपट्टकम् इति।

१. यस्मिन् पट्टे चत्वारो बाहवः, एका चोर्ध्वं पट्टिकेति।
२. दष्टे भग्ने व्रणेषु च इ० पा०।

बांधना चाहिए। सामान्यतया सब जगह बन्धन के गाढ, श्लथ और सम ऐसे तीन भेद बताए गए हैं और वे इस प्रकार हैं कि कफ-वात व्रणकी अवस्था में घन-गाढ़, पित्त-रक्त के व्रण में सूक्ष्म-ढीला, वात-पित्त के व्रण में और कफ-पित्त के व्रणों में भी समबन्धन (न गाढ़ा और न सूक्ष्म) बांधना चाहिए।

तथा स्फिक्कक्षावङ्क्षणोरुशिरःसु गाढं बध्नीयात्। शाखावदनकर्णकण्ठमेढ्रमुष्कपृष्ठपार्श्वोदरोरस्सु समम्। अक्ष्णोः सन्धिषु च शिथिलम्। वातश्लेष्मजे तु शिथिलस्थाने समं, समस्थाने गाढं, गाढस्थाने गाढतरम्। तथा शीतवसन्तयोस्त्र्यहात् पित्तरक्तजे तु गाढस्थाने समं, समस्थाने शिथिलं, तत्स्थाने नैव। तथा शरद्ग्रीष्मयोः सायं प्रातः स्यात्।

स्थानपरत्व-बन्धन—स्फिक् ( नितम्बों का उपरि भाग ), कांख, वङ्क्षण, साथल और मस्तक में गाढ बन्धन बांधना चाहिए। हाथ, पांव, मुख, कान, कण्ठ, लिङ्ग, अण्डकोष, पीठ, पसवाड़े, उदर और छाती में समबन्ध बांधना चाहिए। आंखों की सन्धियों में ढीला बन्धन बांधे। वातकफोत्पन्न विकारों में शिथिल के स्थान में सम, सम के स्थान में गाढ तथा गाढ के स्थान में गाढतर ( अतीव गाढ ) बन्ध बांधना चाहिए। यहां शिथिल, सम तथा गाढस्थानों से क्रमशः नेत्रादि, शाखादि तथा स्फिक् आदिका ग्रहण किया गया है।

ऋतुविशेषवशात्—बन्ध-शरद्-वसन्त ऋतु में प्रति तीसरे दिन बन्धन खोलना और बांधना चाहिए। इस ऋतु में पित्तरक्तज व्रण में गाढ़ की जगह सम, सम की जगह शिथिल तथा शिथिल की जगह बन्ध नहीं बांधना चाहिए। तथा शरद् और ग्रीष्म ऋतु में सायं-प्रातः बन्धनको खोलना और बांधना चाहिए।

अवध्यमानः पुनर्दंशमशकतृणकाष्ठपांशुशीतवातातपादिसंपर्काद्विविधोपद्रवोपद्रुतो दुष्टतामुपैति। स्नेहश्चात्र न चिरं तिष्ठति भेषजमचिराच्छुष्यति कृच्छ्रेण रोहति रूढे च वैवर्ण्यं भवति।

अवध्यमान व्रण के दोष—व्रण पर बन्ध न बांधने से डांस, मशक, तृण, काष्ठ, धूलि, शीत, वात, धूप आदि के संपर्क से नाना प्रकार के उपद्रव पैदा होकर व्रण दूषित हो जाता है और व्रण के दूषित होने से उस पर स्नेह ( घृततैलादि स्निग्ध पदार्थ ) चिरकाल तक नहीं ठहरेगा, औषधि शीघ्र ही सूख जायगी, व्रण बड़े कष्ट के साथ भरेगा, भरने पर भी त्वचा का वर्ण विगड़ जायगा किन्तु असली वर्ण की प्राप्ति नहीं होगी।

अपि च—

चूर्णितं मथितं भग्नं विश्लिष्टमथ पाटितम्। 
अस्थिस्नायुसिराच्छिन्नमस्थि बन्धेन रोहति॥
उत्थानशयनाद्यासु सर्वेहासु न पीड्यते।
उद्वृत्तौष्ठः समुत्सन्नो विषमः कठिनोऽतिरुक्॥
समो मृदुररुक् शीघ्रं व्रणः शुद्ध्यति रोहति।
स्थिराणामल्पमांसानां रौक्ष्यादनवरोहताम्॥
प्रच्छाद्यमौषधं पत्रैर्यथादोषं यथर्तु च।
अजीर्णतरुणाच्छिद्रैः समन्तात्सुनिवेशितैः॥
धौतैरकर्कशैः क्षीरिभूर्जार्जुनकदम्बजैः।

व्रणबन्धन के लाभ—जिस व्रण की हड्डी चूर चूर हो गई किंवा कुचल गई, टूट गई हो, किंवा फट गई हो, जोड़ उतर गया हो, सिरा-स्नायु कट गए हों ये सब व्रण भी बन्धन से तुरन्त ठीक हो जाते हैं। इतना ही नहीं, बन्धन से ठीक हुआ व्रण उठने, बैठने, सोने आदि की चेष्टा करने पर भी पीड़ा नहीं देता। चाहे व्रण के आजू बाजू के होठ ऊपर आए हुए हों, चाहे व्रण ऊपर उभरा हुआ हो, विषम-कठिन एवं अतिवेदना देनेवाला हो तो भी वह बन्धन से सम, मृदु, वेदना-रहित और शुद्ध होकर तुरन्त भर जाता है।

स्थिरादि व्रणों पर उपचार—जो व्रण स्थिर, अल्प मांसवाले, रूक्षता के कारण न भरनेवाले हों तो उन को औषध से ताजे-तरुण-छिद्ररहित-मुलायम-धोए हुए क्षीरी वृक्ष ( बड़, पीपल, गूलर, पाखर आदि ) के तथा भोजपत्र, अर्जुन और कदम्ब के पत्तों से अर्थात् व्रण पर औषध लगा उस पर चारों ओर उक्त वृक्षों के पत्तों को लपेट बन्ध बांध कर उपचार करे। ध्यान रहे कि ये पत्ते न तो जीर्ण हों और न अतरुण ( कच्चे ) ही हों।

कुष्ठिनामग्निदग्धानां पिटिकामधुमेहिनाम्।
कर्णिकाश्चोन्दुरविषे क्षारदग्धा विषान्विताः॥
मांसपाके न बद्धव्या गुदपाके च दारुणे।
शीर्यमाणाः सरुग्दाहाः शोफावस्था विसर्पिणः॥

कुष्ठादि में व्रणबन्धनिषेध—जो व्रण कुष्ठरोगी के या कुष्ठ रोग से संबन्ध रखनेवाले हों, अग्निदग्ध ( जलने के कारण ) से हुए हों, जो मधुमेह की पिटिकाएं हों, मूषक-विष के किनारे वाले व्रण हों, क्षारदग्ध के कारण व्रण हों, विषैले फोड़े हों, मांसपाक में, दारुणक नामक क्षुद्ररोग के संबन्धवाले, गुदपाक के, जिन में सड़न पैदा हो गई हो, जिन में वेदनासहित दाह हो, जिन में सूजन हो और जो विसर्पजन्य फैलने वाले व्रण हों तो इन व्रणों को नहीं बांधना चाहिए। इन पर पाटा बांधने से अधिक व्रणोपद्रव की संभावना होती है।

अरक्षया व्रणे यस्मिन्मक्षिका निक्षिपेत्कृमीन्।
ते भक्षयन्तः कुर्वन्ति रुजाशोफास्रसंस्रवान्॥

१. तत्र बन्धः सव्यदक्षिणभेदेन द्विविधः। कदाचिद्वामपार्श्वेन कदाचिद्दक्षिणेन। किं सर्वत्रैव दुष्टवातादावयं नियमः। अन्त्ययोरेव भग्ने व्रणे च। दुष्टवातादीनामनियमः। इतीन्दुः।

१. 'दारुणा कण्डुरा रूक्षा केशभूमिः प्रपाट्यते। कफमारुतकोपेन विद्याद्दारुणकं तु तत्॥' इति सुश्रुतः।

सुरसादिं प्रयुञ्जीत तत्र धावनपूरणे ।
सप्तपर्णकरञ्जार्कनिम्बराजादनत्वचः ॥
गोमूत्रकल्कितो लेपः सेकः क्षाराम्बुना हितः ।
प्रच्छाद्य मांसपेश्या वा व्रणं तानाशु निर्हरेत् ॥

मक्षिकादिदूषित व्रण की चिकित्सा—व्रणरोगी को चाहिए कि वह मक्खियों आदि से नित्य प्रति व्रण का रक्षण करता रहे क्योंकि व्रण की रक्षा न करने से व्रण पर मक्खियां कृमियों को लाकर पटकती हैं और फिर वे क्रिमि व्रण को खाती हुई उस में वेदना, सूजन, रक्तस्राव को पैदा करती हैं। यदि इस प्रकार मक्षिकादूषित व्रण हो जाय तो उस व्रण को सुरसादि गण (श्वेत और कृष्ण तुलसी, लाल मिरच, कृष्णार्जक, वायविडंग, मरुवा, मूषाकर्णी, कायफल, कसौन्दी, नकछिकनी बड़ी, कैथकी पत्ती, भारंगी, काम्रुका, मकोय, गोरखमुण्डी, कुचिला, भूतिक तृण और जटामांसी) से धोना चाहिए और पूरना चाहिए। इन के अतिरिक्त सातवन, करञ्ज, आक, नीम तथा चिरौंजी वृक्ष की छाल के कल्क का लेप करना और क्षारजल से सेक (तरेड़ा) देना चाहिए अथवा मांसपेशी से ढककर उन क्रिमियों का निर्हरण कर व्रण को ठीक करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि मांसपेशी से व्रण को ढकने से व्रण के क्रिमि मांस के लोभ से आप ही उस मांसपेशी में आ जाते हैं।

उत्पद्यमानासु च तासु तास्ववस्थासु दोषादीनवेद्य यथास्वमुपक्रमैरुपक्रमेत्। न चैनं त्वरमाणः सान्तर्दोषमुपसंरोहयेत्। स ह्यल्पेनाप्यपचारेणान्तरुत्सङ्गं कृत्वा भूयो विकुरुते। तस्मात्सुशुद्धं रोपयेत्। रूढेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन्विवर्जयेत्।

मासान् षट् सप्त वा नृणां विधिरेष प्रशस्यते ।
इतीदं व्रणमाश्रित्य दिङ्मात्रमुपदर्शितम् ।
उत्तरे विस्तरस्तस्य वक्ष्यते साधनं प्रति ॥

इत्यष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

अध्यायोपसंहार—व्रणरोग में जैसी जैसी अवस्था उत्पन्न हो उस उस अवस्था में वात-पित्तादि दोष, काल, रोगी के बलाबल आदि को देख कर यथायोग्य चिकित्सा करे। बिना विचार के जल्दी जल्दी में व्रण में दोष (पूय आदि) के रहते हुए उस की रोहणक्रिया न करे। इस लिए कि स्वल्प अपचार (थोड़ी सी भूल) के होने से पुनः व्रण भीतर से उभर कर अनेक विकारों का करनेवाला होता है। एतदर्थ शुद्ध व्रण की ही रोपणक्रिया करनी चाहिए। व्रण के भर जाने पर भी न पचने योग्य भोजन, व्यायाम, मैथुन आदि को वर्जित करे। मनुष्यों को चाहिए कि वे व्रण के भर जाने के बाद छः या सात मास तक इस विधि का पालन करे अर्थात् कम से कम छः-सात महीने अजीर्ण भोजन, व्यायाम और मैथुन आदि में प्रवृत्त न होवे। यह व्रण के विषय को लेकर केवल दिग्दर्शनमात्र कराया गया है किन्तु इसके साधनविषय में विस्तारपूर्वक उत्तरस्थान में कहेंगे।

इति वाग्भटाचार्यकृतावष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिका-हिन्दीव्याख्यायां शस्त्रकर्मविधिर्नामाष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

# अथैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः।

कुछ व्याधियें ऐसी हैं जिनमें केवल भेषज (वनौषधियों) से काम नहीं चलता अतः वहां शस्त्र का उपयोग किया जाता है। इसी बात को लेकर इस के पूर्वाध्यायों में पहले भेषज का और फिर शस्त्र का वर्णन किया गया। शस्त्र से भी जहां काम नहीं चलता वहां क्षार बड़ा उपयुक्त सिद्ध हुआ है अतः क्षारविषयक इस अध्याय का आरम्भ करते हुए आचार्य कहते हैं कि—

अथातः क्षारपाकविधिमध्यायं[1] व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

क्षारपाकाध्याय—अब हम यहां से जिसमें क्षारपाक (क्षार पाक-क्षार का पाक कर बनाना) और विधि (उक्त क्षार की रोगानुसार प्रयोगविधि) जिसमें वर्णन की जायगी, उस क्षारपाकविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेयादि महर्षियों ने किया।

क्षारो हि नानौषधसमवायनिर्वृत्तेः[3] सर्वरसाधिष्ठानं कटुकलवणरसभूयिष्ठस्तीक्ष्णो[4] दहनः पाचनोऽवदारणो[5] विलयनः शोधनो रोपणः कृम्यामभेदोविषापहः सर्वशस्त्रानुशस्त्राणां च वरिष्ठश्छेदनभेदनपाटनलेखनकरणाद्यतश्च संबाधावकाशजेषु दुःखावचारणीयशस्त्रेषु नासार्शोऽर्बुदादिषु शस्त्रेण चासिद्ध्यत्सु दुष्टव्रणेषु बहुशः प्रकोपिषु प्रयुज्यते।

क्षार की प्रशंसा—क्षार नाना प्रकार की ओषधियों के समूह से तयार होता है अतः सब रसों का अधिष्ठान है अर्थात् मधुराम्ललवणादि छहों रस क्षार में रहते हैं तथापि क्षार कटुक और लवणरसभूयिष्ठ है अर्थात् इसमें चरपरा और नमकीन रस अधिक रहता है। इसके अतिरिक्त क्षार तीक्ष्ण, दहन, पाचन, अवदारण, विलयन, शोधन और रोपण है, कृमि-आम-मेद और विष का नाशक है। इतना ही नहीं, क्षार संपूर्ण शस्त्रों एवं अनुशस्त्रों में वरिष्ठ है क्योंकि यह छेदन, भेदन, पाटन और लेखन नामक शस्त्रकर्मों को अकेला ही कर सकता है। इतना ही नहीं, जहां बड़े दुःख से शस्त्रावचारण हो सकता है फलतः नहीं हो सकता ऐसे संबाधाव-

१. क्षारकर्मविधि। २. 'क्षारशब्दः पाकविधिभ्यां सह संबध्यते' इति डल्हनः। ३. नामौषध। ४. स्तीक्ष्णोष्णः। ५. विदारणो।

काशज ( संकटमय स्थानों में होनेवाले ), कठिनाई से शस्त्र-क्रिया के योग्य तथा शस्त्र से भी न सिद्ध होनेवाले बहुत कुपित ऐसे दुष्ट व्रणों में तथा नासार्श, अर्बुदादि रोगों में इसका प्रयोग किया जाता है। इसीलिए समस्त शस्त्रों तथा अनुशस्त्रों से भी वरिष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ है।

स द्विविधो[2] बाह्यान्तःपरिमार्जनेन। तत्रार्शोऽर्बुदभगन्दरग्रन्थिदुष्टव्रणनाडीचर्मकीलवर्त्ममुखरोगकुष्ठकिलासतिलकालकादिपु बहिःपरिमार्जनेन। अन्तःप्रमार्जनेन तु गुल्मगरोदराग्निसादशूलानाहाश्मरीशर्करादिषु। स यथास्वमेवोपदेक्ष्यते।

क्षार के दो प्रकार और उनका उपयोग—क्षार के दो प्रकार हैं। एक बाह्यपरिमार्जन और दूसरा अन्तःपरिमार्जन। इनमें से पहले बाह्यपरिमार्जन का उपयोग अर्श, भगन्दर, ग्रन्थि, दुष्टव्रण, नाडी ( नासूर ), चर्मकील, वर्त्म, मुखरोग, कुष्ठ, किलास ( श्वेतकुष्ठ ), तिलकालक आदि रोगों में किया जाता है। और अन्तःपरिमार्जन का उपयोग गुल्म, गर ( कृत्रिम विष ), उदर, अग्निमान्द्य, ( मलसङ्ग—मलावरोध ), शूल, आनाह, अश्मरी ( पथरी ), शर्करा आदि रोगों में किया जाता है। इन सब रोगों में बाह्यपरिमार्जन तथा अन्तःपरिमार्जनका उपयोग किस प्रकार किया जाय यह यथास्व ( उन उन रोगों के वर्णन में ) बताया जायगा।

वक्तव्य—सुश्रुत ने क्षार की निरुक्ति देते हुए कहा है कि 'क्षरणात् क्षणनाद्वा क्षारः' क्षरणात् अर्थात् दुष्ट त्वचा, मांसादि के चालन या शातन करने के अथवा ( त्वचा-मांसादि का हिंसन ) करने के कारण इसे क्षार कहते हैं। हम अपनी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार 'क्षणु हिंसायाम्' इस धातु से उपर्युक्त अनेक रोगों का नाशक होने से भी इसे क्षार कह सकते हैं। ऊपर क्षार के लिए लिखा है कि यह पाचन, विलयन, शोधन, कृमि-आम-मेद-विषनाशक है। यहां पाचन से भावार्थ दोनों प्रकार के क्षारों से है जैसे कि व्रणशोथपाचन प्रतिसारणीय अर्थात् बाह्यपरिमार्जन क्षार है और अन्नाजीर्णादि का पाचन अन्तःपरिमार्जन या पानीय क्षार है। विलयन जैसे कि वातकफभूयिष्ठ शोथका, शोधन दुष्ट व्रण का तथा रोपण शुद्ध व्रण का जानना चाहिए। कृम्याममेदोविषापह इस वाक्य में कृमि बाह्य और भीतर की दोनों लेना चाहिए अतः क्षार भी अन्तः और बाह्यपरिमार्जन दोनों समझने चाहिए। आम से तात्पर्य अपक्व रस से है तथा मेद का नाशन पानीय क्षार से कहा है। अँगरेजी में क्षार को रासायनिक दृष्टि से अलकली (Alkali) और कार्य की दृष्टि से कास्टिक (Caustic) कहते हैं।

न तूभयोऽपि योज्यो भीरुदुर्बलक्षामवातपित्तार्दितज्वरातिसारपाण्डुशिरोहृदयरोगमेहाक्षिपाकतिमिरारोचकातुरकृतवमनविरेकर्तुमतीगर्भिण्युदुवृत्तफलयोनिसर्वाङ्गशूलविषमद्यपीतेषु। मर्मसिरास्नायुसन्धितरुणास्थिसेवनीधमनीगलनाभिनखान्तरमुष्कशेफःस्रोतःस्वल्पमांसेषु च देशेष्वक्ष्णोश्चान्यत्र वर्त्मरोगात्। तथातिशीतोष्णवर्षदुर्दिनप्रवातेषु च।

भीरु आदि को दोनों क्षारों का निषेध—भीरु ( डरपोक ), दुर्बल, क्षाम ( धातुओं से क्षीण ), वातपित्त से तथा अर्दित, ज्वर, अतीसार, पाण्डु, शिरोरोग, हृदयरोग, प्रमेह, अक्षिपाक ( नेत्राभिष्यन्द ), तिमिर तथा अरोचक से पीडित, वमन और विरेक ( विरेचन ) किया हुआ, ऋतुमती ( रजस्वला ), गर्भिणी, उदुवृत्तफलयोनि ( जिस स्त्री के उदावर्त रोग के कारण वायु से योनि में पीडा हो और जिसके फेन के समान रज की प्रवृत्ति बड़े कष्ट के साथ होती हो ऐसी स्त्री[1] ), जिसके सब शरीर में शूल ( वेदना ) हो, जिसने विषपान या मद्यपान किया हो, इन सब के लिए अन्तःपरिमार्जन तथा बहिःपरिमार्जन अर्थात् पानीय तथा प्रतिसारणीय इन दोनों क्षारों को नहीं देना चाहिए। इन के अतिरिक्त मर्म, सिरा, स्नायु, सन्धि, तरुणास्थि, सेवनी, धमनी, कण्ठ, नाभि, नखों में, अण्डकोष, लिङ्गेन्द्रिय, स्रोत, स्वल्प मांस की जगह, वर्त्मरोग के बिना नेत्रों के लिए भी क्षार का निषेध है ( किन्तु अष्टाङ्गसंग्रह के टीकाकार इन्दु इन मर्म, सिरा, स्नायु आदि में केवल बाह्यपरिमार्जन ( प्रतिसारणीय ) क्षार का ही निषेध मानते हैं। इस के अतिरिक्त शीतकाल, उष्णकाल, वर्षाकाल में दुर्दिन ( बादलों से ढके हुए दिन ) में तथा अति वायु के चलने में भी क्षार का सेवन नहीं करना चाहिए।

अथ बहिःपरिमार्जनस्त्रिविधो मध्यो मृदुस्तीक्ष्णश्च। तस्य पाकविधिः—शरदि शुचिरुपोषितः शुक्लवासा प्रशस्तेऽहनि प्रशस्तदेशजातं मध्यमवयसमनुपहतं महान्तं कालमुष्ककं सुरापललसुमनोऽक्षतादिभिश्चतुर्दिशं बलिं दत्त्वा (कृत्वा) प्रदक्षिणं चाभ्यर्च्यैनमधिवासयेत्।

दैवतेभ्यो नमस्तेभ्यो निवसन्तीह ये श्रिताः।
गन्तुमर्हन्त्यसंक्रुद्धास्त्यक्त्वेमं वा सर्पयम्॥
भेषजार्थं ग्रहीष्यामि सर्वप्राणभृतामिमम्।
वृक्षं न लोभान्न क्रोधाद् ब्राह्मणार्थे विशेषतः॥ इति।

तथापरेद्युस्तत्र यद्यद्भुतं वैकृतं वा किंचिन्न पश्येत्। ततो युगमात्रमारूढे सवितरि ब्राह्मणान्वाचयित्वा तं पादपं पूर्वाग्रमुत्तराग्रं वा पातयेत्। एवं च पारिभद्र-

१. संबाधावकाशजाःसंकटप्रदेशजाः। २. द्विधा। ३. मलसङ्गशूलानाह। ४. तत्र क्षरणात् क्षणनाद्वा क्षार इति। ५. 'पाचन इति द्विविधोऽपि क्षारः, अत्र व्रणशोथस्य प्रतिसारणीयः पाचन, अन्नाजीर्णस्य पानीयः। विलयनः शोफस्य वातकफभूयिष्ठस्य शोधनो दुष्टव्रणस्य, रोपणः शुद्धव्रणस्य' इत्यादि डल्हनः।

१. 'वेगोदावर्तनाद्योनिं प्रपीडयति मारुतः। सा फेनिलंरजः कृच्छ्रादुदावृत्तं विमुञ्चति। इयं व्यापदुदावृत्ता' इत्यष्टाङ्गहृदयम्। २. 'मर्मसिरादिषु तु संभवाद्बहिःपरिमार्जनस्यैव प्रतिषेधोऽन्यत्र वर्त्मरोगात्।' इतीन्दुः। ३. सुरापललसुमनो। ४. वासमद्यन्।

पलाशाश्वकर्णराजवृक्षमहावृक्षवृक्षकेन्द्रवृक्षवृषास्फोतसप्तच्छदनक्तमालतिल्वककदलीबिभीतकाश्वमारकपूतिकचित्रकार्ककाकजङ्घापामार्गाग्निमन्थान् वसन्तोपगृहीतांश्च यवान् स शूकनालांश्चतस्रश्च कोशातकी: सर्वान् समूलफलपत्रशाखान् खण्डशः कल्पयित्वा नातिशुष्कान् शिलातलस्थान्निवाते पृथङ्छिन्नचयीकृत्य मुष्ककनिचये च सुधाशर्करा: प्रक्षिप्य तिलकुन्तलैरादीपयेत् । दग्ध्वा च शान्तेऽग्नौ पृथक् सुधाशर्कराभस्म कृत्वेतरसर्वक्षारद्रोणमभ्यधिकमुष्ककं सलिलपलसहस्रेण गवादिमूत्रपलसहस्रेण चालोड्य महता वस्त्रेण परिस्रावयेद्यावदच्छो रक्तस्तीक्ष्णः पिच्छिलश्च जातस्तदा तं क्षारनिष्यन्दं गृहीत्वा भस्म विवर्जयेत् । ततः स्नेहपाकविधिना पचेत् । पच्यमाने तु तस्मिंस्ताः सुधाभस्मशर्कराः क्षीरपाकं[3] शंखनाभींश्चायसे पात्रेऽग्निवर्णान् कृत्वा तत्क्षाराच्छकुडवमात्रे निर्वाप्यं तेनैव च सुश्लक्ष्णं पिष्ट्वा प्रतिवापं दद्यात् । ततश्च सुतरां दर्व्याविघट्टयेत् । यदा च सबाष्पैर्बुद्बुदैः समुत्तिष्ठेत्सान्द्रतया च दर्वीप्रलेपी स्यात्तदैनमवतार्यायोघटे यवराशौ सुगुप्तं स्थापयेत् । एष मध्यमः क्षारः । मृदौ शर्करादीन्निर्वाप्यापन्नयेन्न तु पिष्ट्वा प्रक्षिपेत् । तीक्ष्णे तु दन्तीचित्रकलाङ्गलिकापूतीकप्रवालतालपत्रीबिडसर्जिकाकनकक्षीरीहिङ्गुवचातिविषाः श्लक्ष्णचूर्णीकृता दग्धाश्च शङ्खशुक्तीः पूर्ववत् प्रतिवापं दद्यात् । तांश्च व्याधिबलतः सप्तरात्रादूर्ध्वं प्रयुञ्जीत । क्षीणजले तु बलाधानार्थं पुनः क्षारजलमावपेत् । तत्र नातितीक्ष्णो नातिमृदुः श्वेतः श्लक्ष्णः शीघ्रः पिच्छिलः शिखरी सुखनिर्वाप्योऽल्परुग्नविष्यन्दी चेति दश क्षारस्य गुणाः । दशैव च दोषास्तद्यथा—अत्युष्णोऽतिशीतोऽतितीक्ष्णोऽतिमृदुरतितनुरतिघनोऽतिपिच्छिलो विसर्पी हीनौषधो हीनपाकश्चेति ।

बहिःपरिमार्जन क्षार के प्रकार और पाकविधि—बहिःपरिमार्जन क्षार के तीन प्रकार होते हैं यथा—(१) मध्य, (२) मृदु और (३) तीक्ष्ण। उस की पाकविधि—क्षारपाक करने वाले को चाहिए कि शरद् ऋतु में वह शुद्ध एवं उपवास से रहता हुआ शुभ्र वस्त्रों को धारण कर शुभ दिन में शुभ (श्रेष्ठ) स्थान में उत्पन्न, जो तोड़ा-मरोड़ा न गया हो ऐसे मध्यम वयवाले बड़े मोखे के वृक्ष को पहले निमन्त्रित कर उस के चारों ओर मद्य, मांस, पुष्प, अक्षत आदि से बलि प्रदान कर प्रदक्षिणा करे। इस प्रकार पूजा कर उस के नीचे बैठ प्रार्थना करे कि इस वृक्ष के आश्रय में रहनेवाले सब देवताओं को मैं नमस्कार करता हूं। मेरी पूजा को ग्रहण कर किसी प्रकार का क्रोध न करते हुए वे सब इस वृक्ष को छोड़ कर चले जावें क्यों कि मैं सब प्राणधारियों के औषध के लिए, विशेषतः ब्राह्मणार्थ इस वृक्ष को ले जाऊंगा न कि क्रोध करके अपने लोभ के लिए। इस प्रकार पहले दिन प्रार्थना करके और फिर दूसरे दिन उत्पातादि से रहित निर्मल आकाश हो तब युगमात्र (दो हाथ) सूर्य के आकाश में चढ़नेपर ब्राह्मण से स्वस्तिवाचन करवा कर उस मोखा वृक्ष को पूर्व की ओर से या उत्तर की ओर से गिरावे। इसी प्रकार निम्ब, पलाश, अश्वकर्णपलाश, अमलतास, महावृक्ष (महारुख या महानिम्ब), वृक्षकेन्द्र (इन्द्रवृक्ष-देवदारु), वृष (अडूसा), आस्फोता (जंगली पीलु या लाल आक), सप्तच्छद (सप्तपर्ण-सातवनसतौना), नक्तमाल (लताकरञ्ज-कंजा-सागरगोटी), तिल्वक (लोध्र), केली, बहेड़ा, अश्वमार (कनेर), पूतीक (पूतिकरंजवृक्ष), चित्रक, अर्क (श्वेत तथा रक्त पुष्प का आक), काकजंघा, ओंगा, अरणी इन सब का ग्रहण वसन्त ऋतु में करे। इसी प्रकार शूक तथा नालसहित जव तथा चारों प्रकार की कोशातकी (जंगली तोरई) जैसे कि बृहत्फला, अल्पफला, पीतपुष्पा और श्वेतपुष्पा लेवे। इन सब को मूल, फल, पत्र और शाखासहित लेकर टुकड़े टुकड़े करके पत्थर पर सुखावे। ये अतिशुष्क न हों ऐसे सबको एकत्रितकर निर्वातस्थान में तिल की सूखी नालसे प्रदीप्त करे परन्तु ध्यान रहे कि मोखावृक्ष के पंचाङ्ग का ढेर अलग तथा निम्ब पलाशादिवृक्षों के पंचांगों के ढेर अलग अलग जलावे। प्रदीप्त करने से पहले मोखा वृक्ष के ढेर में सुधा-शर्करा (चूने की कलीका चूर्ण कर) डाले और फिर जलावे। जलकर अग्नि के स्वांगशीत होने पर चूने की कली के भस्म को अलग कर लेवे और फिर प्रत्येक ढेर में से थोड़ा थोड़ा क्षार समभाग में लेवे और मोखा का क्षार अधिक प्रमाण में लेवे।[1] इस ग्रहण किए सब क्षारों का प्रमाण २५६ पलभार अर्थात् द्रोण भर कर के फिर इस को एक हजार पल जल और एक हजार पल गोमूत्रादि से आलोडितकर (घोलकर) फिर एक बड़े और मोटे कपड़े से छान लेवे। जबतक स्वच्छ, रक्त, तीक्ष्ण और पिच्छिल (चिपचिपा-चिकना) जल आता रहे उस को क्षार का निष्यन्द जानकर ग्रहण करे और नीचे रही हुई राख को फेंक दे। फिर स्वच्छ लोहे की कड़ाही में लिए क्षारजल का पाकविधि से पाक करे अर्थात् आंचपर रखकर कड़ाही में के क्षारजल को धीरे धीरे लोहे की दर्वी (कलछी) से चलाता जाय। सम्यक् पाक हो जानेपर अर्थात् दूध की रबड़ी के समान होनेपर उस में चूने की कली का भस्म डाल देवे। क्षीरपाक (सीप) और शंखनाभि के टुकड़े अग्नि में तपातपा कर अग्निवर्ण होनेपर उस क्षारवाले लोहपात्र में डाले या बुझावे। तात्पर्य यह है कि चूनेकी कली के स्वच्छ भस्म के साथ सीप और शंखनाभि तपाकर डाले और फिर कलछी से घोटे। इस प्रकार तबतक पकावे जब तक कि उस क्षार में बाफसहित बुद्बुदे न उठ आवें और क्षार गाढ़ा हो कर कलछी को

१. कृत्वेतरत् । २. द्रोणमधिक । ३. क्षोरबकंशंघ । ४. दर्व्याघघट्टयन् । ५. विपचेत् यावच्च । ६. स्वर्जिका । ७. क्षीणबले । ८. रुगनभिष्यन्दी इ० पा० ।

१. 'युगमात्रं हस्तद्वयमात्रमारूढे भगवत्यंशुमालिनि' इतीन्दुः ।
२. दग्ध्वा च शान्तेऽग्नौ प्रतिराशिस्तोकं स्तोकं गृह्णीयादितीन्दुः ।
३. क्षीरपाको जलशुक्तिरिति डल्हनः ।

न लिपटने लगे। पाक की यह अवस्था हो जानेपर कड़ाही चूल्हे से नीचे उतार ले और उस में के क्षार को लोहे के घड़े में भर जवों के ढेर(राशि) में सुरक्षित रहे इस प्रकार से रक्खे। यह मध्यम क्षार तयार हो गया।

मृदुक्षार की विधि—यही है कि केवल विपाचित क्षार में सुधाशर्करा, शंखनाभि, सीप आदि अग्नि पर तपाकर लाल कर क्षार में बुझा दिए जावें। बुझाने के बाद इन्हें फेंक दिये जावें किन्तु इन का प्रतिवाप न दिया जाय। इस से सुश्रुत के अप्रतीवापका भावार्थ भी यही है कि इन सुधाशर्करादि को तपाकर क्षार में बुझा दिया जाय और फिर फेंक दिए जावें किन्तु प्रतीवाप न दिया जावे। इस प्रकार से तयार हुआ क्षार ही मृदु या संव्यूहिम होता है।

तीक्ष्णक्षार की विधि—उपर्युक्त सुधाशर्करादि प्रतीवाप दिए हुए मध्यम क्षार में दन्ती, चित्रक, कलिहारी, पूतिकरञ्ज के पत्र, तालपत्री ( मुसली ), बिड लवण, सज्जीखार, कनकक्षीरी ( स्वर्णक्षीरी-कङ्कुष्ठ-आधुनिक उसारे रेवन ), हींग, वच और अतीस इन सबको सूक्ष्म पीस कर इन का प्रतीवाप दे और पूर्ववत् शंख तथा सीप के भस्म का भी प्रतीवाप देवे। यह तीक्ष्ण क्षार तयार हो गया समझें।

सब क्षारों के बर्तने में नियम—इन सब ( मध्य, मृदु और तीक्ष्ण ) क्षारों को सात दिन के अनन्तर काम में लावे। क्षार का बल कम हुआ जान पड़े तो बल लाने के लिए उस क्षार में और भी क्षारजल डाल देवे। पाठान्तर ( क्षीण जल ) से क्षार यदि कड़ा ( घनीभूत ) हो जाय तो उस में फिर क्षारविधि से स्रुत जल डाल दे।

क्षार के दस गुण—अतितीक्ष्णता रहित, अतिमृदुतारहित, श्वेत, सूक्ष्म, शीघ्र व्याप्त होनेवाला, पिच्छिल ( चिकना ), शिखरी ( ऊपरि भाग में पिटिकावत् बुद्बुदों वाला ), सुख निर्वाप्य ( कांजी, जल आदि में सुख से घुल जाने वाला ), अल्परुक् ( थोड़ा लगने वाला ) और अनभिष्यन्दी ( शुष्कावस्था में न चुहनेवाला ) ये क्षार के दस गुण हैं।

क्षार के दस दोष—अतिउष्ण, अतिशीत, अतितीक्ष्ण, अति मृदु, अतिसूक्ष्म, अतिगाढ़ा, अतिपिच्छिल, विसर्पी ( फैलने वाला ), हीनौषध ( न्यून ओषधियों वाला ) तथा हीनपाक ( सम्यक् न पकाया हुआ ) ऐसे ये क्षार के दस दोष हैं।

**तत्र क्षारकर्मण्युपहरेत्पिचुवर्तिशलाकादर्व्यञ्जलिकाघृतमधुसुक्ततुषोदकमस्तुक्षीरोदकशीतोपदेहशयनासनादीनि।**

क्षारविधि के उपकरण—**क्षारविधि करनेवाले वैद्य को चाहिए कि वह इस के उपकरणों को पहले सेही अपने पास में** रख ले जैसे कि पिचु ( रुई का फाया ), वर्ति ( बत्ती ), शलाका, दर्वी ( कलछी ), अंजलिका ( छोटी मूषा या कटोरी ), घृत, शहद, सुक्त, तुषोदक ( कांजी-विशेष ), मस्तु ( दही का विकार विशेष ), दूध, जल, शीतल लेप, शयन, आसन आदि आदि। भावार्थ यह है कि क्षारविधि में इन सब उपकरणों की यथासमय आवश्यकता होती है अतः वैद्य को चाहिए कि वह क्षारप्रयोग के पहले इन सब उपकरणों को अपने पास में रखने से कदापि न भूले।

**अथ क्षारार्हस्योपविष्टस्य संविष्टस्य वाप्तपरिचारकगृहीतस्य व्याधिं छित्त्वाऽवलिख्य प्रच्छाय वा पिचुप्लोतान्यतरावगुण्ठितया शलाकया क्षारं पातयेत्। ततो मात्राशतमुपेक्षेत।**

क्षारपातनविधि—वैद्य को चाहिए कि जिस पर क्षार का प्रयोग करना है अर्थात् जो क्षारप्रयोग करने के योग्य है तो ऐसे रोगी को कि जिसने अपने आप्तों एवं सेवकों को अपने पास बिठा दिए हैं ऐसे बैठे हुए या लेटे हुए रोगी के व्याधि को छेदन कर, लेखन कर या पछने लगाकर उसपर रुई के फाये या कपड़े से लपेटी हुई शलाका द्वारा क्षार डाले। क्षार डालने के बाद मात्राशत ( सौ तक गिनती करने ) तक ठहर जावे। सारांश, इतने समय में क्षार का कार्य व्रणपर भली भांति हो सकता है। अधिक समय तक व्रणपर क्षार के बने रहने से नाना उपद्रव एवं पीड़ा का भय होता है।

**वर्त्मरोगे तु निर्भुज्य वर्त्मनी पिचुना मधूच्छिष्टेन वा कृष्णभागं प्रच्छाद्य पद्मपत्रतनुः क्षारलेपः। घ्राणजेषु त्वर्शोऽर्बुदेष्वादित्याभिमुखस्योन्नमय्य नासिकामुपेक्षेत[1] च पञ्चाशन्मात्राः। तद्वच्छ्रोत्रजेषु। गुदार्शःसु पाणिना यन्त्रद्वारं पिधाय धारयेन्मात्राशतमेव। ततः प्रमार्जनेनप्रमृज्य क्षारं सम्यग्दग्धमवेक्ष्य निर्वापयेत्सर्पिर्मधुभ्यां सुक्ततुषोदकमस्तुक्षीरादिभिश्च। ततः परं शीतमधुरैः सघृतैः प्रदिह्यात्। अभिष्यन्दीनि भोज्यानि भोज्यानि क्लेदनाय च। स्थिरमूलत्वात्तु यदि क्षारदग्धं न विशीर्यते ततो धान्याम्लबीजमधुयष्टिकायुक्तैस्तिलैरालेपयेत्सुवर्णक्षीरीयुतैर्वा त्रिवृद्विडङ्गसारिवाद्भिर्वा। मालतीवृषाङ्कोटनिम्बास्फोतपटोलीकरवीरपत्रक्वाथो व्रणे प्रक्षालनम्[2]। एषामेव च कल्कक्वाथे सिद्धं सर्पिस्तैलं वा रोपणं वा नागपुष्पमञ्जिष्ठाचन्दनतिलपर्णिकासु वा। यथाव्याधिदोषं च व्रणमुपक्रमेत्। तिलाः समधुका[3] रोपणाश्चास्य पूजिताः।**

भिन्न भिन्न रोगानुसार क्षारोपयोग—**अब भिन्न भिन्न रोगानुसार कुछ रोगों में क्षार के उपयोग का वर्णन करते हैं। जैसे कि—**

वर्त्मरोग में—**नेत्र के वर्त्म रोग में क्षार-प्रयोग करना हो**

---

१. मृदौ तु सुधाशर्करा दीप्त्विर्वापयेदेव न तु पिष्ट्वा क्षिपेदन्यत इतीन्दुः। २. एष चैवाप्रतीवापः पक्वः संव्यूहिमो मृदुरिति। ३. 'कनकक्षीरी 'कङ्कुष्ठ' इति व्यवह्रियते' इति सुश्रुतस्य भानुमतीटीकायां चक्रदत्तः।

१. मुपेद्याश्च। २. क्वाथेन व्रणप्रक्षालनम्। ३. सयष्टिमधुका।

तो नेत्र को खोल, पलक को निर्भुज्य ( पलट कर-उथल कर ) रुईके फाये से या मोम से नेत्र के कृष्ण भाग को बन्द कर अर्थात् ढककर फिर वर्त्म के जिस स्थान पर क्षार लगाना हो वहां पद्मपत्रतनु (कमल के सूक्ष्म पत्र के समान) क्षार का लेप करे। और—

नासार्शादि में—अर्थात् नाक के मस्से तथा अर्बुदनाश के लिए क्षार लगाना हो तो आदित्याभिमुख ( सूर्य के सामने मुखकर ) रोगी के नाक को ऊपर की ओर उठाकर क्षार लगा वे। और पचास मात्रा की गिनती तक ठहर जाय। उपर्युक्त वर्त्म रोग में भी इतना ही ठहरना चाहिए।

कर्णगत रोगों में—ऊपर की विधि के अनुसार क्षारपातन करना चाहिए और ठहरना भी पचास मात्रा तक चाहिए।

गुदार्श रोग में—क्षार को गुदार्श में लगाकर यन्त्र के मुख को हाथ से ढंक कर सौ मात्रा की गिनती के समय तक ठहरना चाहिए। इस के बाद प्रमार्जन से परिमार्जन कर, वह स्थान क्षार से सम्यक् दग्ध हो गया है यह देखकर उसपर घी और शहद लगाकर निर्वापन करे अथवा सुक्त, तुषोदक, मस्तु, क्षीर आदि से निर्वापण करे। इस के अनन्तर शीतल और मधुर ऐसे द्रव्यों का घृत-सहित लेप कर देवे। सम्यक् क्लेदन के लिए माष ( उड़द ), दही, दूध आदि क्लेदकर पदार्थों से भोजन करावे ता कि व्रण में क्लेद पैदा हो कर क्षारदग्ध भाग आप ही आप उखड़ कर गिर जाय।

दृढमूल क्षारदग्धोपाय—यदि पहले कहे इन उपायों से दृढ-मूल होने से क्षारदग्ध का विशीर्ण न हो अर्थात् उखड़ कर वह आप से अलग न हो जाय तो उस पर धान्याम्ल-बीज (धान्याम्ल-कांजी के नीचे का जमा हुआ पदार्थ)[1], मुलेठी और तिलों का लेप करे अथवा सुवर्णक्षीरी ( कंकुष्ठ ), निशोत और बायविडंग, सारिवा ( अनन्तमूल ) के रस या काढे से पीस कर लेप कर दे।

क्षारदग्धपर प्रक्षालन—चमेली, अडूसा, अंकोल, निम्ब, आस्फोत ( लाल कचनार ), पटोल और कनेर इन के पत्रों के काढ़े से क्षारदग्ध का प्रक्षालन करना चाहिए।

क्षारदग्धव्रण का रोपण—उपर्युक्त ( चमेली, अडूसा, अंकोल, नीम, लाल कचनार, पटोल और कनेर इन सब के ) पत्रों के कल्क या क्वाथ से सिद्ध किया हुआ घृत या तेल क्षार-दग्ध व्रण के लिए बड़ा अच्छा रोपण है और इस तेल और घृत से क्षारदग्ध व्रण तुरन्त भर जाता है। अथवा नागपुष्प ( पुन्नाग-नागकेशर ), मजीठ, चन्दन और तिलपर्णी के कल्क या काढे के साथ सिद्ध किए हुए घृत या तेल से भी क्षारदग्ध व्रण का रोपण होता है।

यथाव्याधिदोष उपचार—क्षारदग्ध व्रण जिस व्याधिका हो, व्याधि जिस दोष से हो उस व्याधि एवं दोष के अनुसार व्रण की चिकित्सा करनी चाहिए।

रोपण में तिल, मुलेठी और मधु का वैशिष्ट्य—मुलेठी और शहद के साथ तिल रोपणकार्य में बड़े अच्छे सिद्ध हुए हैं।

तत्र पक्वजाम्बवसंकाशमवसन्नमीषद्यथास्वविकारोपशान्तौ च सम्यग्दग्धं भवति। तद्विपर्ययेण तोदकण्डूजाड्यादिश्च दुर्दग्धम्। तत्र पुनः पातयेत्। ऊषादाहरागशोफज्वरपाकविसर्पशिरोरोगवातपित्तकोपैरतिदग्धम्। अपि च। नेत्रेऽतियोगाद्वर्त्मनिर्भेदनेन्द्रियभ्रंशः। घ्राणे नासावंशतरुणास्थिदरणं संकोचो गन्धाज्ञानं च। तद्वच्छ्रोत्रादिष्वपि च यथास्वं व्यापत्। गुदे विण्मूत्ररोधोऽतीसारः पुंस्त्वोपघातो गुदविदरणाच्च मृत्युर्वा सर्वदा वा शोफतोदवेदनास्रावाः शकृन्मूत्रवातविधारणाशक्तिर्वा। तमतिप्रवृत्तमाशु पूर्वोक्तैरेव निर्वापणैः पुनः पुनर्निर्वापयेत्। अतश्च दाह्यमतिप्रमाणं न सकृदेव दहेदिति।

क्षारसम्यग्दग्धलक्षण—पके हुए जामुन के समान व्रण का काला पड़ना, व्रण का बैठ जाना, जिस का कुछ उपचार करते ही विकार की शान्ति ये क्षार के सम्यक् दग्ध के लक्षण हैं।

क्षारदुर्दग्धलक्षण—उपर्युक्त सम्यग्दग्ध के लक्षणों से विपरीत ल ण हों तथा साथ में तोद ( टोंचनेकीसी पीड़ा ), खाज और जाड्य ( भारीपन ) आदि ये क्षार से दुर्दग्ध के लक्षण हैं। इस की चिकित्सा यह है कि पुनः व्रण पर क्षारपातन करे अर्थात् क्षार का लेप करे।

क्षारातिदग्धलक्षण—ऊषा ( वेदनासहित दाह ), दाह, राग ( रक्तता ), सूजन, ज्वर, पकना, विसर्प ( यत्र तत्र व्रण ही व्रण होना ), सिर में पीड़ा, वात-पित्त से पीडा आदि क्षार से अतिदग्ध के लक्षण हैं। अब स्थानविशेष के अतिदग्ध-लक्षणों को कहते हैं।

नेत्र में क्षारातियोग—होने से पलकों का गिरना और इन्द्रियभ्रंश ( नेत्रेन्द्रिय का नष्ट होना ) ये लक्षण होते हैं।

घ्राण में क्षारातियोग—होने से नासा, वंश और तरुणास्थि का भ्रंश और संकोच तथा सुगन्धि-दुर्गन्धि का ज्ञान न रहना ये लक्षण होते हैं।

श्रोत्रादि में क्षारातियोग—होने से कान आदि इन्द्रियों का भ्रंश, सुनाई न देना आदि लक्षण हुआ करते हैं।

गुद में क्षारातियोग—होने से मल-मूत्र का रुकना, अतीसार, नपुंसकता, गुदा के फट जाने से मृत्यु भी हो सकती है तथा सदैव सूजन, टोंचने की सी पीड़ा, रक्तस्रावादि, मल-मूत्र और अपान वायु को धारण करने में असमर्थता ये लक्षण होते हैं। क्षार का अतियोग हो जाने पर वैद्य को चाहिए कि वह पूर्वोक्त निर्वापण कहे हैं, उनसे बारंबार निर्वापण करे। इस से यह सिद्ध हुआ कि एक ही बार में अतिप्रमाण में क्षारदग्ध का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

भवंति चात्र—

अम्लो हि शीतः स्पर्शेन क्षारस्तेनोपसंहितः ।

१. 'धान्याम्लबीजं-धान्याम्लतलस्थं द्रव्यम्, इति हेमाद्रिः।

यात्याशु स्वादुतां तस्मादम्लैर्निर्वापयेत्तराम् ॥
ज्वरातिसारतृण्मोहमूर्च्छाहृद्वेदनार्तिभिः ।
कक्षं दहत्यग्निरिव शरीरं क्षारविभ्रमः ॥
पाययेतातियोगेऽतस्तं शीघ्रं सघृतं दधि ।
सगुडं वा दधिसरं तैलं वा ससितोपलम् ॥
धात्रीफलकपित्थाम्लदाडिमस्वरसे घृतम् ।
द्विगुणे साधितं पानसेकैः क्षारातिरुग्घरम् ॥
दाडिमामलकाम्रातकपित्थकरमर्दकात् ।
आम्राच्च मातुलुङ्गाच्च रसं मृद्वग्निना पचेत् ॥
ततोऽतिवृत्तक्षाराय[1] दद्यान्मात्रां यथाबलम् ।
क्षारो निवर्तते तेन प्रसादं त्वक् च गच्छति ॥
शोणितातिप्रवृत्तौ तु बाह्यान्तः शिशिरो विधिः ॥

इत्यष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः।

क्षारप्रकोप के शमनोपाय—अम्लरस स्वभाव से ही स्पर्श से शीत है और अम्लरस से मिलकर क्षार शीघ्र ही मधुरता एवं मृदुता को प्राप्त हो जाता है अतः क्षार का शमन अम्ल रसों से करना चाहिए।

क्षारप्रकोपजन्य रोग और उनका शमोपाय—क्षार का प्रकोप बड़ा भयंकर होता है अर्थात् वह ज्वर, अतिसार, तृषा, मोह, मूर्च्छा और हृदयवेदनादि पीड़ाओं के साथ २ शरीर एवं कक्ष को अग्नि की तरह जलाता है—शरीर में भयंकर दाह पैदा करता है। इस लिए चाहिए कि क्षार के उपद्रवों की शान्ति के हित शीघ्र ही अतिप्रमाण में क्षाररोगी को घृत के साथ दही पिलावे अथवा दधिसर (दही के ऊपर का तोड़) गुड़ के साथ पिलावे। अथवा-मिश्रीसहित तैल पिलावे। अथवा-आमला, कैथ, खट्टे दाडिम (अनार) के दुगुने स्वरस के साथ सिद्ध किए हुए घृत का उपयोग पान और सेक दोनों में अर्थात् यह घृत पिलावे और इसका सेक भी क्षारदग्ध स्थान पर करे क्योंकि यह घृत क्षार से उत्पन्न हुई अति पीड़ा को हरनेवाला है। अथवा-अनार, आमला, आम्रातक (अंबाड़ा), कैथ, करौंदा, आम और बिजौरा इन के रस को अग्नि पर मन्द मन्द पकाकर फिर मात्रा बलाबल को देखकर क्षार से अतिदग्ध रोगी को देवे। इस से क्षार का प्रकोप दूर होता है और चमड़ी भी साफ होकर असली रंगतपर आजाती है।

क्षारातियोगजन्य रक्त की चिकित्सा—क्षार के अतियोग से व्रण से रक्त की प्रवृत्ति हो जानेपर बाहर और भीतर शीतल-विधि करे अर्थात् त्वचा पर बाहर शीतल ओषधियों का लेप करे और पेट में भी शीतल ओषधियों का सेवन करावे।

वक्तव्य—क्षारजन्य व्यापत्ति को मिटाने के लिए यहां अधिक मात्रा में अम्लरस के पान का विधान करते हुए कहा है कि—'अम्लरस शीतस्पर्श है अतः यह क्षार के साथ मिलने से क्षार तीक्ष्णभाव को छोड़ देता है, अपितु मधुरत्व को प्राप्त होता है, इसलिए क्षारदग्ध का निर्वापण अम्ल रसों द्वारा करना चाहिए। भगवान् धन्वन्तरिजी से इस विषय में सुश्रुत ने शंका की है कि 'भगवन् जब कि अम्लरस आग्नेय है तो क्षार भी अग्नितुल्य है। ऐसी अवस्था में आग्नेय अम्ल रस अग्नितुल्य क्षार को किस प्रकार प्रशान्त कर सकता है?' सुश्रुत की यह शंका 'वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः' इस सूत्र के अनुसार ठीक दिखाई देती है अर्थात् समान गुणवाले आग्नेय अम्ल और क्षार मिलकर वृद्धि में परिणत हो सकते हैं किन्तु पारस्परिक वैपरीत्य न होने से एक दूसरे को शान्त किस प्रकार कर सकते हैं? भगवान् ने इस शंका का समाधान करते हुए कहा है कि यों तो अम्लरस को छोड़कर शेष सब रस क्षार में समझ लेना चाहिए। इनमें से कटुक रस प्रधान है और लवण रस अप्रधान (अनुरस) है। तीक्ष्ण एवं लवणरसवाला क्षार जब अम्ल रस में मिलता है तब अपनी तीक्ष्णता को छोड़ देता है और मधुरता को प्राप्त हो जाता है। मधुरता के कारण शान्ति को प्राप्त हो जाता है जैसे कि जल के मिलते ही अग्नि शान्त हो जाता है।

भगवान् धन्वन्तरि क्षार में कटुक रस को प्रधान तथा लवण रस को अनुरस अर्थात् अप्रधान मानते हैं परन्तु सुश्रुत के टीकाकार डल्हन क्षार में लवण रस को प्रधान मानते हुए कटुक को अनुरस कहते हैं। अपनी इस बात की पुष्टि के लिए वे कहते हैं कि लोग भोजन के समय में अम्ल को मधुर करने के लिए लवण रस का ही प्रयोग करते हैं और यह भी कहते हैं कि क्षार का समावेश भी लवण वर्ग में किया गया है कि कटुवर्ग[4] में। सच तो यह है कि चरक, सुश्रुत और न वाग्भटकार के स्पष्ट उल्लेख करने पर भी डल्हन का यह कथन नितान्त शोचनीय है। सुश्रुत की तरह चरक और वाग्भट ने भी स्पष्ट कहा है कि क्षार 'कटुकलवणभूयिष्ठम्' अर्थात् कटुक और लवणरस प्रधान है। यहां क्षार के अनुरस का उल्लेख तक नहीं है। इससे सिद्ध है कि क्षार में पहला कटुक रस प्रधान और दूसरा लवण अप्रधान (अनुरस) है। यह बात अन्य भी कई प्रमाणों से सिद्ध होती है किन्तु विस्तार के भय से हम उन प्रमाणों की यहां भरमार करना अनुचित समझते हैं। बुद्धिमान् तो इशारे से समझ सकते हैं परन्तु यहां तो सब आचार्यों ने स्पष्ट बता दिया है। डल्हन के कटुक रस को क्षार का अनुरस मानने पर तो हमें शंका है कि

१. ततो निवृत्तक्षाराय इ. पा.।

१. 'रसेनाम्लेन तीक्ष्णेन वीर्योष्णेन च योजितः। आग्नेयेनाग्निना तुल्यः कथं क्षारः प्रशाम्यति ॥' इति। २. 'अम्लेन सह संयुक्तः सतीक्ष्णलवणो रसः। माधुर्यं भजतेऽत्यर्थं तीक्ष्णभावं विमुञ्चति ॥ माधुर्याच्छममाप्नोति वह्निरद्भिरिवाप्लुतः ॥' इति। ३. 'कटुकस्तत्र भूयिष्ठो लवणोऽनुरसस्तथा।' इति। ४. 'कटुकस्तत्र भूयिष्ठ इति-तत्र पञ्चरसे क्षारे कटुकोऽनुरसः, लवणस्तु भूयिष्ठ' इति योज्यं, केचित् कटुकमेव भूयिष्ठं मन्यन्ते; तन्न, यतो जना अम्लभक्षणे माधुर्यार्थं लवणमेव रसं प्रयुञ्जते, लवणवर्गे क्षारस्य पठितत्वाच्च कटुवर्गे चापठितत्वात्।' इत्यादिः।

आपने भगवान् धन्वन्तरि के कथित श्लोकार्ध को किस प्रकार तोड़ मरोड़कर कटुक रस को क्षार के अनुरस का स्थान प्रदान किया है? कुछ समझ नहीं पड़ता।

यद्यपि अम्ल और क्षार दोनों आग्नेय हैं किन्तु कार्य करने का तरीका इन दोनों का भिन्न भिन्न है। इसी प्रकार एलोपैथों ने भी इन दोनों को कार्य की दृष्टि से करोझिव (Corrosive) वर्ग में माना है। अम्ल से क्षार की निर्वापण-क्रिया है, इसको अँगरेजीवाले प्रायः रासायनिक निर्वीर्यकरण (Neutralisation) ही मानते हैं। परन्तु इसके सम्यक् ज्ञानार्थ परिभाषा दृष्टि से गहरे अध्ययन की आवश्यकता है। आयुर्वेदीय क्षारकर्म के लिए जो क्षार (Caustic) प्रयुक्त हुआ करते हैं उनमें प्रायः वनस्पतियों की राख, खनिज एवं प्राणिज पदार्थों का समावेश होता है। वनस्पतियों में या उनकी राख में अधिकांश सोडियम कार्बोनेट, पोटाशियम कार्बोनेट, कॅल्शियम ऑक्साइड, मैगनिशियम ऑक्साइड, सिलिका आदि द्रव्य रहते हैं। आयुर्वेद की पूर्वोक्त क्षारपाकविधि को अँगरेजो में लिक्सीविएशन (Lixiviation) तथा क्षारोदक को लाय (Lye) कहते हैं। क्षारोदक में हायड्रोक्साइड का प्रमाण कम रहने से ही इसे आयुर्वेद में मृदुक्षार कहा है। इस की शक्ति को तेज करने के लिए सुधा (Lime stone), क्षीरपाक (Oyster shell), शंख (Conch shell) आदि चूने के पदार्थ मिलाए जाते हैं। इनको अग्नि में जलाकर मिलाने का कारण यह है कि इन में जलाने के पूर्व कॅल्शियम कार्बोनेट रहता है परन्तु वही जलाने से कॅल्शियम ऑक्साईड और कार्बन डायोक्साईड के रूप में परिवर्तित हो जाता है। तीक्ष्ण तथा मध्यम क्षार में विशेष अन्तर नहीं है। इस लिए कि उसमें वनस्पतियों का ही प्रतीवाप दिया जाता है। क्षार तयार होने पर 'अयोघटे यवराशौ सुगुप्तं स्थापयेत्' लोहे के घड़े में भरकर यवधान्यराशि में बन्दकर रखने का उपदेश इस लिए है कि तद्गत रासायनिक पदार्थ उड़कर क्षार की शक्ति कम न हो जाय। आजकल के पाश्चात्य विशेषज्ञों ने भी क्षार को लोह-पात्र में ही रखना अच्छा समझा है। तयार होने के सात दिन बाद क्षार प्रयोग में लाया जाय इसका कारण यह है कि उक्त अवधि में कॅल्शियम कार्बोनेट का अवक्षेपण (Precipitation) भली भांति होकर क्षार की शक्ति अधिक बढ़ जाती है। अब रही क्षार के निर्वीर्यकरण (Neutralivzation) की बात सो आधुनिक विज्ञान से क्षार बेसिक (Basic) पदार्थ है जिस में हाइड्रोक्सिल नामक ऋण भाग (O.H. as a Negative Redcal) होता है और अम्ल एसिड (Acid) पदार्थ है जिसमें हाइड्रोजन नामक धनभाग (Has a Positive Radical) होता है। इन के परस्पर मिलने से दोनों के धन और ऋण भागों में अदल बदल होकर पानी तथा नमक (Salt) बन जाता है। परन्तु क्षार तथा अम्ल ये दोनों समान भाग में रहने चाहिए। न्यूनाधिक भागों में क्षार और अम्ल के रहने से जिसका भाग अधिक रहेगा वह अपना उपद्रव करेगा।

क्षारों का सेवन—आयुर्वेदीय साहित्य में क्षारावचरण की सर्वसाधारण विधि ही लिखी है। पानीयक्षार के विषय में केवल आन्तरिक उपयोग के निदश के अतिरिक्त विशेष नहीं लिखा है। प्रतिसारणीय क्षार का उपयोग द्रवावस्था में ही किया जाता है और पानीय क्षार का चूर्ण के रूप में।

बाह्य क्षार—अर्थात् प्रतिसारणीय क्षार में जल को शोषण करने की शक्ति होती है। इतना ही नहीं, प्रतिसारणीय क्षार अल्ब्यूमिन का घोल बनाता है और मेदका साबुन। इन शक्तियों के कारण क्षार का संयोग जिन शारीरिक सेलों के साथ होता है वे जल, अल्ब्यूमिन आदि पोषक द्रव्य नष्ट होने से नष्ट हो जाते हैं। शरीर में तिलकालक, मशक, सौम्यार्बुद, दुष्टव्रण, नाडी, चर्मकील, भगन्दर, अर्श, दुष्ट अर्बुद-क्यान्सर, एपियेलिओमा के सेल होते हैं। इन सब के नाशार्थ क्षारोपयोग होता है। कृमिदंशविष में क्षार इस लिए उपयोगी है कि कृमिविष प्रायः अम्ल होते हैं और वे क्षार से निर्वीर्य हो जाते हैं। पाश्चात्य वैद्य क्षारकर्म में प्रायः लायकर पोटाश, लायकर सोडा, लायकर अमोनिया, सिल्वर नायट्रेट और झिंक (जसद) का उपयोग करते हैं। आयुर्वेदिक मध्यम क्षार पाश्चात्य वैद्यक के वियेना पेस्ट (Vienna Paste) से मिलता-जुलता है।

आभ्यन्तरीय क्षार—अर्थात् पानीय क्षार का प्रभाव शरीर के पचनसंस्थान, रक्तसंस्थान तथा मूत्रसंस्थानपर विशेष पड़ता है। आमाशयपर—क्षार की क्रिया तीन प्रकार से होती है। यथा (१) भोजन से पहले क्षार के सेवन से (२) भोजन के बाद क्षार के सेवन से और (३) आमाशयिक श्लेष्मल कलापर। भोजन से पहले क्षार का सेवन आमाशयिक ग्रन्थियों (Gastric Glands) से पाचक रस के स्रावको कुछ समय तक रोक रखता है। इस से भोजन के बाद पाचक रस अधिक मात्रा से एवं बलसे परिस्रुत होता है। भोजन के बाद का सेवन किया हुआ क्षार पाचक रस के अम्लाधिक्य को नष्ट करता है तथा क्षार आमाशय की श्लेष्मला कलापर शामक (Sedative) प्रभाव डालता है। अँतड़ियों पर क्षार का विरेचक प्रभाव भी पड़ता है। इसी लिए अग्निमान्द्य, अरोचक, वमन, अजीर्ण आदि पेट के रोगों में तथा आध्मान, आनाह, गुल्म इत्यादि रोगों में क्षार से क्रमशः लाभ होता है। रक्तसंस्थानपर—पचन होने के बाद क्षार रक्त में मिलकर रक्त की क्षारीय प्रतिक्रिया (Alkaline Reaction) को बढ़ाता है और वातरक्त, गठिया आदि रोगों में लाभ करता है। मूत्रसंस्थानपर—क्षार का प्रभाव यह होता है कि क्षार प्रायः कार्बोनेट के रूप में उत्सर्गित होते हैं तथा उत्सर्ग के समय वृक्क में उत्तेजना पैदा कर मूत्र के प्रमाण को बढ़ाते हैं तथा मूत्र को क्षारीय बनाते हैं। मूत्र के क्षारीय होने से बस्ति में यूरिक एसिड (Uric Acid) का गिरना नहीं होता और गिरे हुए यूरिक एसिड का विद्रावण हो जाता है। इसी लिए क्षार मूत्रल माने जाते हैं और यूरिक एसिड के पथरी-शर्करादि रोगों में लाभ देता है। शरीर के भीतरी उपयोगके लिए पाश्चात्य वैद्य पोटासियम सायट्रेट, पोटासियम एसिटेट, पोटासियम बाय कार्बोनेट, पोटासियम कार्बोनेट, पोटासियम नायट्रेट (शोरा), सोडियम बाय काब नेट, सोडियम कार्बोनेट, लीथियम सायट्रेट, लीथियम कार्बोनेट इत्यादि क्षारों का प्रयोग करते हैं। आयुर्वेद में रसार्णवोक्त—'तिलापामार्गकदलीपलाशशिग्रुमोचकाः।

मूलार्द्रकचिञ्चाश्वत्थाः क्षारवृक्षाः प्रकीर्तिताः ।' अर्थात् तिल, अपामार्ग, कदली, पलाश, सहजना, मोचक, मूली, अदरक, इमली तथा पीपल इन क्षारवाले वृक्षों की राखकर बनाए हुए क्षार तथा यवक्षार, टंकणक्षार, सज्जीखार, पांचों नमक ये सब क्षार पान के लिए बर्ते जाते हैं।

इति वाग्भटाचार्यकृतावष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽर्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यायां क्षारविधिर्नामैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

# अथ चत्वारिंशोऽध्यायः।

वनौषधियों के अतिरिक्त क्षार की तरह अग्निकर्म भी अपना वैशिष्ट्य रखता है। इस लिए आचार्य कहते हैं कि—

अथातोऽग्निकर्मविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अग्निकर्माध्याय—अब हम यहां से जिस में अग्निकर्म का विधि भली भांति वर्णित है, उस 'अग्निकर्मविधि, नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसे कि पहले आत्रेय आदि महर्षियोंने किया।

अग्निः क्षारादपि गरीयानौषधशस्त्रक्षारैरसिद्धानां तद्दाहसिद्धेरपुनर्भवाच[1]।

अग्निकर्म की प्रशंसा—अग्निकर्म क्षारकर्म से भी श्रेष्ठ है, कारण यह है कि जो रोग ओषधि, शस्त्रकर्म तथा क्षारविधि से भी शमन नहीं होते उन का शमन अग्निकर्म से हो जाता है। इतना ही नहीं, पूर्वोक्त उपायों से शमन किए हुए रोग कदाचित् फिर भी हो सकते हैं परन्तु अग्निकर्म से शान्त हुआ रोग फिर नही हो सकता। यही अग्निकर्म का सब कर्मों की अपेक्षा बड़ा भारी वैशिष्ट्य है।

वक्तव्य—अँगरेजी में अग्निकर्म को कॉटरी ( Coutery ) कहते हैं। जिस में प्रत्यक्ष अग्निका उपयोग होता है, उसे ॲक्च्युअल कॉटरी ( Actual Coutery ) कहते हैं। इस के अतिरिक्त पाश्चात्य शल्य-शास्त्र में अग्निकर्म दो प्रकार के हैं, एक विद्युद्दहनकर्म ( Galvano Coutery ) और दूसरा पाक्विलिन का दहनकर्म ( Poquilin's ) इन में प्रथम में उष्णता विद्युत्प्रवाह द्वारा पैदा की जाती है। दूसरे में औजार को उत्तप्त करके कर्म करते समय उसपर वें झो लाईन ( Benzoline ) की बाफ धोंकनी से छोड़ते रहते हैं जिससे वह औजार तपा हुआ रहता है। पाश्चात्यों में अग्निकर्म की श्रेष्ठता में दो कारण माने गए हैं। प्रथम कारण यह कि जहां अग्निसंयोग कराया जाता है वहां के समस्त विकारी जन्तु नष्ट होकर वह स्थान विशुद्ध ( Sterile ) हो जाता है जिससे व्रण में आगे पाक का भय नहीं रहता। आयुर्वेदाचार्य तो इसे पहले ही से जानते थे। दूसरा श्रेष्ठता का कारण यह है कि इसमें रक्तस्राव नहीं होता। इस बातसे भी हमारे आचार्य भलीभांति अवगत थे।

तत्राग्निकर्म त्वचि मांसे सिरास्नायुसन्ध्यस्थिषु च प्रयुज्यते। तत्र मशतिलकालकचर्मकीलसरुक्स्तब्धप्रम्लानाङ्गाभिष्यन्दाधिमन्थशिरोभ्रूशंखललाटरुजादितेषु सूर्यकान्तपिप्पल्यजाशकृद्गोदन्तशरशलाकाभिस्त्वग्दाहो यथास्वमभिष्यन्दादिषु तु भ्रूशंखललाटदेशेषु। ग्रन्थ्यर्बुदार्शोभगन्दरगण्डगण्डमालाश्लीपदान्त्रवृद्धिदुष्टव्रणगतिनाड्यवगाढपूयलसीकेषु जाम्बवौष्ठसूचीशलाकाघृतगुडमधुमधुयष्टीतैलवसाहेमताम्रायोरूप्यकांस्यैर्मांसदाहः। सिरास्नायुसन्ध्यस्थिछेदशोणितातिप्रवृत्तिदन्तनाडीश्लिष्टवर्त्मोपपक्ष्मकलगणलिङ्गनाशासम्यग्व्यधेषु जाम्बवौष्ठशलाकासूचीमधूच्छिष्टमधुगुडस्नेहैः सिरादिदाहः[2]।

अग्निकर्म के योग्य अङ्ग—अग्निकर्म त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थि में प्रयुक्त करना चाहिए।

त्वचा में अग्निकर्म—मश ( मस्से ), तिलकालक ( तिल ), चर्मकील, सरुक्-सस्तब्ध-सप्रम्लान अङ्ग अर्थात् पीडा, सुप्ति और प्रम्लानतासह शरीर, अभिष्यन्द और अधिमन्थ ( नेत्र के रोगविशेष ), शिरोरोग, भ्रू ( भौंहें ), शंख ( कनपटी ) और ललाट में पीडा इन सब रोगों में सूर्यकान्त ( स्फटिक विशेष ), पीपल, बकरी की मेंगनी, गाय का दांत, शर तथा शलाका द्वारा त्वचा में अग्निकर्म ( दाग देना ) करना चाहिए। ध्यान रहे कि गिनाए हुए इन सब रोगों में सूर्यकान्त-अजाशकृत् आदि सभी दाहोपकरण उपयुक्त नहीं हो सकते अतः अभिष्यन्दादि भ्रू, शंख, ललाट प्रदेश में यथास्व अथात् सूर्यकान्तादि में से जो उपकरण जहां उपयुक्त प्रतीत हो वहां उस उस उपकरण से अग्निकर्म करना ( दागना ) चाहिए।

मांस में अग्निकर्म—ग्रन्थि, अर्बुद, अर्श, भगन्दर, गण्ड, गण्डमाला, श्लीपद, आन्त्रवृद्धि ( अण्डकोष की वृद्धि-आधुनिक हार्निया ), दुष्ट व्रणगति, नाडीव्रण ( नासूर ), पूय और लसीकाकी अवगाढता अर्थात् गाढापन इन रोगों की अवस्था में जाम्बवौष्ठ, सूची, शलाका, घृत, गुड, शहद, मुलेठी, तेल, चर्बी, स्वर्ण, ताम्र, लोह, रूपा और कांसा इन उपकरणों में से जो जहां ठीक हो उससे मांस में दाहकर्म करना चाहिए।

सिरा स्नायु आदि में अग्निकर्म—सिरा-स्नायु-सन्धि और अस्थि के छेद से रक्त की अति-प्रवृत्ति, दन्तनाडी से श्लिष्ट वर्त्म-उपपक्ष्म-लगण-लिङ्गनाशादि के असम्यक् व्यध होने से पीडा-अति-रक्तप्रवृत्ति की दशा में जाम्बवौष्ठ, सूची, शलाका, शहद, मोम, गुड और स्नेह ( घृत, तेल, वसा और मज्जा )

१. पुनर्भावाच इ० पा०।

१. 'अन्यथा अतप्तशस्त्रच्छेदने पाकभयं स्यात्' इति अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यात्, इति सुश्रुतसूत्रव्याख्याने डल्हनः। २. 'दाहः संकोचयेत्सिराः' 'कृष्णोन्नतव्रणता स्रावसन्निरोधश्च सिरास्नायुदग्धे' इति सुश्रुतः।

इनमें से किसी के द्वारा यथायोग्य अग्निकर्म सिरा आदि ( सिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धि ) पर करे।

वक्तव्य—उपर्युक्त जितने उपकरण गद्य में बताए हैं ये सब अग्नि में तपा करके काम में लाए जाते हैं। इनमें से शर ( बाण ) का उपयोग ग्रन्थि-विसर्प की चिकित्सा में होता है। पक्ष्मरोग में स्वर्णशलाका का उपयोग होता है। सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थिगत रोगों का शमन इनके ऊपर के मांस में ही अग्निकर्म करने से हो जाता है।

न तु दहेद्भिन्नकोष्ठमन्तःशोणितमनुद्धृतशल्यमनेकव्रणपीडितमुष्णे च काले तथा क्षारानर्हं च। आत्ययिके तु व्याधौ कृतोष्णप्रतीकारस्य पिच्छिलमन्नमशितोऽग्निकर्म कुर्यात्।

अग्निकर्म के अयोग्य प्राणी—भिन्न-कोष्ठ अर्थात् जिसने विरेचन आदि लिया हो अथवा अतिसार का रोगी हो, जो रक्तपित्तरोगी हो या जिसके शरीर में रक्त कुपित हुआ हो, जिसके शरीर में से शल्य न निकाला गया हो, अनेक फोड़े-फुंसियों से पीडित हो, यदि उष्णकाल हो और जो क्षारकर्म के योग्य नहीं हो, इन सबके लिए अग्निकर्म नहीं करना चाहिए। निषिद्ध ऋतु होते हुए भी यदि रोग अत्यधिक ( शीघ्र प्राणहारक ) हो तो उष्णता का समुचित उपचार करके पिच्छिलान्न भोजन किए हुए रोगी का अग्निकर्म करे। कहा भी है कि शीतकाल में शीतता का तथा उष्णकाल में उष्णता का उपचार करके प्राप्त क्रिया को करे किन्तु क्रियाकाल को व्यर्थ में न खोवे।

अथ दाहार्हमातुरं कृतस्वस्त्ययनमुपहृतसर्वोपकरणं प्राक्शिरासंविष्टमाप्तावलम्बितं कृत्वा वैद्यो निर्धूमप्रभूतस्थिरदीप्तखदिरबदराद्यङ्गारैरयोघटनप्रकारेण भस्त्रानिलाध्मातैर्व्यजनेन चोर्ध्वानिर्गच्छज्ज्वालतयापादितापाद्यमानभासुराग्निवर्णैर्जाम्बवौष्ठादिभिर्व्याधिप्रदेशवशाद्वलयार्धचन्द्रस्वस्तिकाष्टापदबिन्दुरेखाप्रतिसारणविकल्पेन मुहुर्मुहुर्हितोपहिताभिर्वाग्भिरद्भिश्चातुरमाश्वासयन् दहेदासम्यग्दाहलिङ्गोत्पत्तेः। उच्छूनसुषिरप्रलूनदन्तनाडीसजन्तुदुष्टव्रणेषु तु स्नेहमधूच्छिष्टमधुगुडैः पूरयित्वा दहेत्। सम्यग्दग्धे च मधुसर्पिषी दद्याच्छीतस्निग्धांश्च प्रदेहान्। सम्यग्दग्धलिङ्गं पुनः सशब्दं दहनं दुर्गन्धित्वं त्वक्संकोचश्च।

अग्निकर्मविधि—अग्निकर्म करने के योग्य हो तो उस रोगी को जिसने स्वस्तिवाचन ( मंगलाचरण ) कर लिया है, जिसके पास में अग्निकर्म के समस्त उपकरण धरे हुए हैं, पूर्व की ओर सिर करके जो लेटा या बैठा हुआ है, जिसे अपने आप्तों ( इष्ट मित्रों ) का सहारा है, वैद्य को चाहिए कि निर्धूम, पर्याप्त, स्थिर एवं प्रदीप्त खैर तथा बेर आदि के अंगारों से लोह घड़ने के वास्ते जैसे तपाते हैं, उसी प्रकार से धौंकनी से धमाए अथवा पंखा से पवन किए हुए, ऊपर को ज्वाला न जाने देते हुए समुचित तपाकर लाल अग्निवर्ण किए हुए जाम्बवौष्ठादि शस्त्रों से व्याधि के स्थानानुसार वलय ( गोल), अर्धचन्द्र के आकार, स्वस्तिक, अष्टापद, बिन्दु या रेखा प्रतिसारणविधि से, बारंबार हितोपहित की बातों से तथैव जल से रोगी को प्रसन्नकर सम्यक् दाह के चिह्न पैदा होने तक अग्निकर्म करे अर्थात् दाग दे परन्तु जो व्रण ऊपर को सूजन उठी हुई, पोला, छेदन किया हुआ, दांत के नासूरवाला या दुष्ट व्रण हो तो पहले उसे स्नेह ( तेल, घृत, चर्बी आदि ), मोम, शहद और गुड़ से पूरण करके फिर उस पर अग्निकर्म करे। सम्यक् दग्ध हो जाने पर उस पर शहद और घी लगाकर शीतल लेपों में से किसी एक लेप को करे। सम्यक् दग्ध के लक्षण ये होते हैं कि दाग देते समय चड़चड़ शब्द होता है, दुर्गन्ध आती है और चमड़ी सुकड़ जाती है।

त्वग्दग्धे कपोतवर्णत्वमल्पशोफरुजता शुष्कसंकुचितव्रणता च। मांसदग्धे कृष्णोन्नतव्रणत्वं स्थिते च रक्ते सलसीकास्रुतिः। सिरादग्धे कृष्णारुणकर्कशस्थिरव्रणता स्नाय्वादिदग्धे च। दुर्दग्धातिदग्धयोः प्रमाददग्धवल्लक्षणं चिकित्सितं च। प्रमाददग्धं पुनश्चतुर्विधं भवति। तुत्थं दुर्दग्धं सम्यग्दग्धमतिदग्धं च। तत्र यद्विवर्णमुष्यतेऽतिमात्रं तत्तुत्थम्। यत्रोत्तिष्ठन्ति स्फोटतीव्रोषादाहरुजश्चिराच्चोपशाम्यन्ति तद्दुर्दग्धम्। पक्वतालफलवर्णं समस्थितं पूर्वलक्षणयुक्तं च सम्यग्दग्धम्। अतिदग्धे तूग्ररुजता धूमायनं मांसप्रलम्बनं सिरादिव्यापदो गम्भीरव्रणता ज्वरदाहतृष्णमूर्च्छाछर्दयः शोणितातिप्रवृत्तिस्तन्निमित्ताश्चोपद्रवाः कृच्छ्रेण रोहणं रूढे च विवर्णतेति। स्नेहदाहस्तु कष्टतरो भवति स हि स्नेहस्य सूक्ष्ममार्गानुसारित्वाद्दूरमनुप्रविशतीति।

त्वग्दग्ध के लक्षण—अग्निकर्म करते हुए जहां त्वचा दग्ध होती है तब चमड़ी का वर्ण कबूतर के वर्ण का, अल्प सूजन, अल्प पीडा, व्रण शुष्क तथा संकुचित हो जाता है।

मांसदग्ध के लक्षण—कृष्णवर्ण लिए व्रण का ऊपर उभरना, रक्त के ठहरने से रक्तसहित लसिका का स्राव होने लगता है।

सिरादग्ध के लक्षण—व्रण का काला, लाल, कड़ा और स्थिर होना ये चिह्न होते हैं। ये ही लक्षण ( सिरावत् ) स्नायु, अस्थि और सन्धिदग्ध में होते हैं। सारांश, अग्निकर्म के लिए पहले उपर्युक्त अंग त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थि बताए हैं। उनमें अग्निकर्म करने से उपर्युक्त

१. 'अथास्य दाहः क्षारेण शरैर्लोहेन वा हितः' इति चरकः। २. रक्तत्वक्षि दहेत्पक्ष्म तप्तहेमशलाकया। पक्ष्मरोगे पुनर्नैवं कदाचिद्रोमसंभवः॥ इति चक्रदत्तः। ३. मांसे दग्धे हि शाम्यन्ति सिरास्नाय्वस्थिसन्धिजाः। इति ४. शीते शीतप्रतीकारमुष्णे चोष्णनिवारणम्। कृत्वा कुर्यात्क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत्॥ इति चरकः

१. तुच्छं इ० पा०

लक्षण हों तो समझ लेना चाहिए कि उक्त स्थानों में सम्यग्दग्ध हुआ है।

दुर्दग्ध और अतिदग्ध के लक्षण—दुर्दग्ध तथा अतिदग्ध के लक्षण प्रमाददग्ध के समान होते हैं और चिकित्सा भी इनकी प्रमाददग्ध की चिकित्सा की तरह होती है।

प्रमाददग्ध के चार प्रकार—प्रमाददग्ध चार प्रकार का होता है जैसे कि तुत्थ या तुच्छ दग्ध, दुर्दग्ध, सम्यग्दग्ध तथा अतिदग्ध।

तुत्थदग्ध के लक्षण—तुच्छ या तुत्थदग्ध में त्वचा का वर्ण विवर्ण हो जाता है और अत्यन्त दाह होता है।

दुर्दग्ध के लक्षण—दुर्दग्ध की अवस्था में फोड़े फुन्सियों का उठना, तीव्र चपक, दाह, पीडा तथा पीडा का विलम्ब से शान्त होना ये लक्षण होते हैं।

सम्यग्दग्ध के लक्षण—सम्यक्तया दाग देने पर व्रण पके ताल के फल के वर्ण का, समस्थित अर्थात् त्वचा के साथ मिला हुआ-बैठा हुआ होता है। इनके अतिरिक्त दाह करते समय चड़-चड़ शब्द, दुर्गन्धता, त्वचा का सुकड़ना ये पहले वर्णन किए हुए लक्षण होते हैं।

अतिदग्ध के लक्षण—अतिदग्ध होने पर उग्र पीडा होती है, धूमायन (धुंवां निकलने के समान अनुभव) होना या सामने अंधेरीसा आ जाना, मांस का लटक जाना, सिरा आदि (सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थि) में पीडा, व्रण की गम्भीरता, ज्वर, दाह, तृषा, मूर्च्छा, छर्दि, रक्त की अतिप्रवृत्ति और उससे होनेवाले उपद्रव, व्रणका कष्ट से भरना और भरने पर भी विवर्णता (चमड़ी का असली रंगत पर न आना) ये लक्षण प्रकट होते हैं।

स्नेहदाह की भयंकरता—स्नेह अर्थात् संतप्त घृत, तेल, चर्बी, मज्जा का दाह बड़ा कष्ट देनेवाला होता है क्योंकि स्नेह के सूक्ष्ममार्गानुसारी होने से वह शरीर के भागों में दूर-दूर तक प्रविष्ट हो जाता है।

वक्तव्य—सुश्रुतने प्लुष्ट, दुर्दग्ध, सम्यग्दग्ध और अतिदग्ध ऐसे अग्निदग्ध के चार प्रकार कहे हैं[1]। यहां वाग्भटका कहा हुआ तुच्छ या तुत्थ ही सुश्रुतोक्त प्लुष्ट है। पाश्चात्य शल्यशास्त्रवेत्ताओं ने अग्निदग्ध को छः अवस्थाओं में बांट दिया है। प्रथमावस्था—वह है जिसमें त्वचा रंग-बेरंग हो जाती है, लाल होती है परन्तु त्वचा नष्ट नहीं होती है। यह आयुर्वेदोक्त प्लुष्टदग्ध से मिलता-जुलता है। द्वितीयावस्था—इसमें त्वचा और ऊपर के पर्त (Cuticle) के बीच में लसिका संचित होकर फफोले पड़ जाते हैं। इसकी समता आयुर्वेदिक दुर्दग्ध के साथ हो सकती है। तृतीयावस्था—इसमें त्वचा का ऊपरवाला पर्त (Cuticle) तथा क्युटिसव्हेरा भाग (Cutisvera) भी कुछ नष्ट हो जाता है परन्तु स्पर्शाङ्कुर (Pappilae), स्वेदग्रन्थि, रोमकूप तथा तैलग्रन्थियें ये नष्ट नहीं होते हैं। यह हमारे सम्यग्दग्ध से मिलता-जुलता है। चतुर्थावस्था—इसमें सम्पूर्ण त्वचा और उपत्वचा (Subcutaneous tissiue) का भी कुछ भाग नष्ट होता है। पञ्चमावस्था—इसमें त्वचा, उपत्वचा तथा पेशियों का भी नाश होता है। इतना ही नहीं, इनके साथ-साथ सिरा और स्नायु भी नष्ट होते हैं। षष्ठावस्था—इसमें जला हुआ सम्पूर्ण अवयव सिरा-स्नायु-सन्ध्यस्थि के साथ नष्ट और विघटित (Disorganised) हो जाता है। इनमें की अन्तिम तीन अवस्थाओं का समावेश अतिदग्धावस्था में हो सकता है।

भवन्ति चात्र[1]।

तुच्छस्याग्निप्रतपनं[2] कार्यमुष्णं च भेषजम् ।
स्थाने रक्ते हिमैर्नोष्मा निष्क्रामति यतो बहिः ॥
वेदना वर्धते तेन रुधिरं च विदह्यते ।
उष्णं निष्क्रामयत्कुर्यादूष्माणं मन्दतां रुजः ॥
शीतामुष्णां च दुर्दग्धे क्रियां कृत्वा ततः पुनः ।
घृतलेपनसेकांस्तु[3] शीतानेवावचारयेत् ॥
सम्यग्दग्धे तवक्षीरीकृष्णचन्दनगैरिकैः ।
सामृतैः सघृतैर्लेपं कल्कैर्वानूपमांसजैः ॥
शान्तोष्मणि परं कुर्यात्पित्तविद्रधिसाधनम् ।
अतिदग्धे विशीर्णानि मांसान्युद्धृत्य शीतलाम् ॥
क्रियां कुर्यात्ततः पश्चाच्छालितण्डुलकण्डनैः ।
तिन्दुकित्वक्कषायैर्वा पिष्टैः साज्यैः प्रलेपयेत् ॥
गुडूच्याश्छादयेत्पत्रैरथवौपोदकैर्व्रणम् ॥
भेषजं चास्य कुर्वीत सर्वं पित्तविसर्पवत् ।
स्नेहदग्धे भृशतरं तत्र रूक्षं तु योजयेत् ।
शस्त्रक्षाराग्नयो यस्मान्मृत्योः परममायुधम् ॥
अप्रमत्तो भिषक् तस्मात्तान् सम्यगवचारयेत् ।
इति तन्त्रस्य हृदयं सूत्रस्थानं समाप्यते ॥
अत्रार्थाः सूत्रिताः सूक्ष्माः प्रतन्यन्ते हि सर्वतः ।

इत्यष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थानेऽग्निकर्मविधिर्नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४०॥

---

तुच्छदग्ध का शमोपाय—तुच्छदग्ध जिसमें केवल चटकासा लगता है, फाले नहीं आते हैं, उस जगह को फिर अग्नि से तपानी चाहिए और ओषधि भी उष्ण करनी चाहिए। जल आदि शीतोपचार नहीं करना चाहिए क्योंकि तुच्छ-दग्ध में रक्त जम जाता है। शीतल उपचार से रक्त जमने की अवस्था में उष्णता बाहर नहीं निकल सकती, इससे वेदना बढ़ती और रक्त का भी विदाह होता है। परन्तु उस स्थान को तपाने से तथा उष्ण उपचार करने से वह (उष्णोपचार) भीतर की गरमी को बाहर निकालता है और उष्णता से रक्त भी जमा हुआ न रहकर विलयन हो जाता अर्थात् पिघल जाता है अतः वेदना भी कम हो जाती है।

दुर्दग्ध का उपाय—दुर्दग्ध की अवस्था में पहले शीतल और

१. तत्र प्लुष्टं दुर्दग्धं सम्यग्दग्धमतिदग्धं चेति चतुर्विधमग्निदग्धमिति।

१. भवति चात्र। २. तुत्थस्याग्नि इ० पा०। ३. घृताक्ते। ४. प्लक्ष।

फिर उष्णोपचार करके अन्त में फिर घृत का आलेपन, घृत का सेक ( तरेड़ा ) आदि शीतोपचार ही करे।

सम्यक् दग्ध की चिकित्सा—सम्यक् दग्ध की अवस्था में व्रण पर तवक्षीर ( तवखीर या वंशलोचन ), प्लक्ष ( पिलखन-पाखर ) चन्दन और गेरू के चूर्ण ( कल्क ) को गुर्च के साथ मिला घी के साथ लेप करना चाहिए अथवा अनूपदेशोत्पन्न प्राणियों के मांस के कल्क को घृतसहित लेप करना चाहिए। दाह के या जलन के शान्त हो जाने पर पित्त की विद्रधि का उपचार करना चाहिए।

अतिदग्ध का उपचार—अतिदग्ध की अवस्था में लटकते हुए मांस को काटकर फेंक देना चाहिए और फिर शीतल क्रिया करके तदनन्तर शालिचावलों के कण्डन ( तुषों ) को तैन्दू की छाल के कषाय में पीसकर घृतसहित लेप करना चाहिए। इतना ही नहीं, उस लेप को गुर्च या उपोदकी ( पोई शाक ) के पत्तों से ढकना चाहिए। सारांश, लेपपर गुर्च और उपोदकी ( जल के समीप की खट्टी तिपतिया ) के पत्ते बांधना चाहिए। इसकी सब ओषधि पित्त के विसर्प की तरह करनी चाहिए।

स्नेहदग्ध की चिकित्सा—यदि स्नेह अर्थात् घृत, तेल आदि से जल जाय तो उसके लिए पर्याप्त रूक्ष भेषज की योजना करनी चाहिए।

वैद्य को हितोपदेश—आचार्य उपदेश करते हैं कि शस्त्र, क्षार और अग्नि ये तीनों मौत के परम आयुध ( बने बनाए तेज शस्त्र ) हैं। तात्पर्य यह कि भूल हो जाने से इन तीनों शस्त्रों में से किसी भी एक से रोगी तुरन्त मर सकता है। इस लिए वैद्य को चाहिए कि वह बड़ी होशियारी एवं शान्ति के साथ अप्रमत्त की तरह इनका प्रयोग किया करे।

वक्तव्य—ऊपर चारों प्रकार के अग्निदग्धों की चिकित्सा कही गई। आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सक दग्ध की चिकित्सा इस प्रकार से करते हैं। यथा दग्ध की प्रारम्भिक अवस्था में रोगी स्तब्ध एवं बेहोश होता है तब उष्णोपचार करने में लाभ समझते हुए उसे गरम स्थान में रखते हैं, गरम कपड़े से ढकते और उष्ण पेय आदि देते हैं। आवश्यकतानुसार रोगी को टंकणाम्ल ( Boric Acid ) के सुहाते हुए गरम घोल में रखते हैं। स्तब्धता आदि नष्ट होने पर दग्ध स्थान पर कषायरस अर्थात् Tannic Acid में कवलिका भिगोकर रखते हैं। कषायरस का प्रमाण शायद २.५% होता है। हरड के चूर्ण के घोल का भी उपयोग करते हैं। स्वच्छ उबला हुआ जल काम में लाना अच्छा समझते हैं। दग्ध सड़े गले मांस के हट जाने पर मोम मरहम के तौर पर पराफीन का उपयोग करते हैं। इससे रोपण तुरन्त होता है। योग इस प्रकार है—मृदु पैराफीन ७ भाग, ठोस ६ भाग, जैतून का तेल ५ भाग, युकालिप्टस तेल २ भाग, बीटा नैफ्थाल ¼ भाग। यह सब कुछ है परन्तु आजकल अग्निदग्ध के लिए सब से उत्तम चिकित्सा टैनिक अम्लद्वारा ही अच्छी मानी जाती है क्योंकि न पीडा होती है, न वारम्वार व्रणोपचार ही बदलना पड़ता और न दग्ध-स्थान का विष ही शरीर में फैलने पाता है।

उपसंहार—इस प्रकार इस तन्त्र ( अष्टाङ्गसंग्रह-शास्त्र ) के हृदयस्वरूप इस सूत्रस्थान को समाप्त किया जाता है। इस ( सूत्रस्थान ) में समस्त अर्थों का सूत्रण ( विषयों का संसूचन ) सूक्ष्मतया ( अतितीक्ष्ण बुद्धिवाले समझ सकें इस प्रकार से ) किया गया है। इस लिए कि ये ही सूचित किए गये सब विषय आगे इस शास्त्र में विस्तारपूर्वक कहेंगे।[1]

इति श्रीवाग्भटाचार्यकृतावष्टाङ्गसंग्रहे सूत्रस्थाने राजस्थानान्तर्गतमरुमण्डलमण्डनायमानजोधपुरीयपोकरणनिवासिमध्यप्रदेशीयनागपुरप्रवासिपुष्कर्णाभूसुरवंशावतंसश्रीमूलाम्बाजितमल्लसुनुगोवर्धनशर्मछाङ्गाणीकृतार्थप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यायामग्निकर्मविधिर्नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

## समाप्तमत्र प्रथमं सूत्रस्थानम् ।

१. अर्थाः सूत्रिताः—सूचिताः। किं भूताः ? सूक्ष्माः—तीक्ष्णतरमतिसमधिगम्याः। इत्यरुणदत्तः।

~~अवधेश कुमार सिंह~~

Gurukul Kangri

~~Gurukul Kangri~~

Gurukul Kangri

Awadhesh Kumar Singh

Ist year B.A.M.S

Gurukul Ayurvedic College

Hardwar